

जैनपरम्परा और यापनीयसंघ

प्रथम खण्ड

प्रो० (डॉ०) रतनचन्द्र जैन

जैनपरम्परा और यापनीयसंघ

प्रस्तुत ग्रन्थ में जैन संघों के इतिहास, साहित्य, सिद्धान्त और आचार की गवेषणा की गयी है।

वैदिक ग्रन्थ महाभारत के उत्तकोपाख्यान के अनुसार दिगम्बरजैनपरम्परा द्वापरयुग में (आज से लगभग ९ लाख वर्ष पूर्व) विद्यमान थी। विष्णुपुराण की स्वायंभुवमनु-कथा उक्त परम्परा का अस्तित्व प्रथम स्वायंभुव-मन्वन्तर में (आज से लगभग ढाई करोड़ वर्ष पहले) बतलाती है। बौद्ध पिटकसाहित्य में की गई निर्ग्रन्थों की चर्चाएँ प्रमाण देती हैं कि बुद्ध के समय (ईसा पूर्व छठी शती) में दिगम्बरजैनमत प्रचलित था। हड़प्पा की खुदाई में प्राप्त नग्न जिनप्रतिमा आज से पाँच हजार वर्ष पूर्व दिगम्बरजैनसंघ के अस्तित्व की सूचना देती है। लोहानीपुर (पटना, बिहार) में प्राप्त वैसी ही नग्न जिनप्रतिमा ३०० ई० पू० में दिगम्बरजैनसंघ का अस्तित्व सिद्ध करती है। अशोक के एक स्तम्भलेख में उल्लिखित 'निर्ग्रन्थ' शब्द भी ईसापूर्व तृतीय शती में उक्त परम्परा की मौजूदगी सूचित करता है।

श्वेताम्बरसंघ का जन्म अन्तिम अनुबद्ध केवली जम्बूस्वामी के निर्वाण के बाद (ईसापूर्व ४६५ में) निर्ग्रन्थसंघ के विभाजन से हुआ था। अर्धफालकसंघ ईसापूर्व चतुर्थ शती में द्वादशवर्षीय दुर्भिक्ष के फलस्वरूप अस्तित्व में आया था। आगे चलकर वह श्वेताम्बर और दिगम्बर संघों में विलीन हो गया। यापनीयसंघ की उत्पत्ति ईसा की ५वीं शताब्दी के प्रारम्भ में श्वेताम्बरसंघ से हुई थी, और वह ईसा की १५वीं शती में विलुप्त हो गया।

ईसा की पाँचवीं शती तक दिगम्बरजैनसंघ निर्ग्रन्थ-श्रमणसंघ के नाम से और श्वेताम्बरसंघ श्वेतपट-श्रमणसंघ के नाम से प्रसिद्ध था।

आचार्य कुन्दकुन्द ईसापूर्व प्रथम शताब्दी के उत्तरार्ध में उत्पन्न हुए थे और ईसोत्तर प्रथम शती के पूर्वार्ध तक विद्यमान रहे।

कसायपाहुड, षट्खण्डागम, भगवती-आराधना, मूलाचार, तत्त्वार्थसूत्र, तिलोयपण्णती आदि ग्रन्थों में सवस्त्र-मुक्ति, स्त्रीमुक्ति, परतीर्थिकमुक्ति, गृहस्थमुक्ति, केवलिभुक्ति आदि श्वेताम्बरीय एवं यापनीय मान्यताओं का निषेध है। अतः ये सभी दिगम्बरजैनपरम्परा के ग्रन्थ हैं।

जैनपरम्परा और यापनीयसंघ

जैनपरम्परा और यापनीयसंघ

(जैन संघों के इतिहास, साहित्य, सिद्धान्त और आचार की गवेषणा)

प्रथम खण्ड

दिगम्बर, श्वेताम्बर, यापनीय संघों का इतिहास

प्रो० (डॉ०) रतनचन्द्र जैन

पूर्व प्रोफेसर एवं अध्यक्ष : संस्कृतविभाग
शा० हमीदिया स्नातकोत्तर महाविद्यालय
भोपाल, म.प्र.

पूर्व रीडर : प्राकृत
तुलनात्मक भाषा एवं संस्कृति विभाग
बरकतउल्ला विश्वविद्यालय
भोपाल, म.प्र.

सर्वोदय जैन विद्यापीठ, आगरा (उ.प्र.)

ISBN 81 - 902788 - 0 - 0 (Set)

ISBN 81 - 902788 - 1 - 9 (Volume I)

सर्वोदय जैन विद्यापीठ ग्रन्थमाला : ग्रन्थाङ्क 1

जैनपरम्परा और यापनीयसंघ

प्रथम खण्ड

प्रो० (डॉ०) रतनचन्द्र जैन

प्रकाशक

सर्वोदय जैन विद्यापीठ

1/205, प्रोफेसर्स कॉलोनी

आगरा - 282002, उ०प्र०

लिप्यङ्कन : समता प्रेस, भोपाल

मुद्रक : दीप प्रिण्टर्स

70ए, रामा रोड, इंडस्ट्रियल एरिया, कीर्ति नगर, नई दिल्ली-110015

दूरभाष : 09871196002

प्रथम संस्करण : वी० नि० सं० 2535, ई० 2009

प्रतियाँ : 1000

मूल्य : 500 रुपये

सर्वाधिकार : प्रो० (डॉ०) रतनचन्द्र जैन

JAINA PARAMPARĀ AURA YĀPANĪYA SAṄGHA

Vol. I

By Prof. (Dr.) Ratana Chandra Jaina

Published by

Sarvodaya Jaina Vidyāpīṭha

1/205, Professors' Colony

AGRA — 282002, U.P.

First Edition : 1000

Price : Rs. 500

© : Prof. (Dr.) Ratana Chandra Jaina

समर्पण

ईसोत्तर २०वीं-२१वीं शती के अद्भुत, अद्वितीय,
अतिलोकप्रिय दिगम्बरजैन मुनि परमपूज्य
आचार्य श्री १०८ विद्यासागर जी महाराज को,
जिनकी

प्रगाढ़ आगमश्रद्धा, तलस्पर्शी आगमज्ञान एवं
आगमनिष्ठचर्या ने इस पंचमकाल में मुनिपद को
प्रामाणिकता और श्रद्धास्पदता प्रदान की है,
जिनके

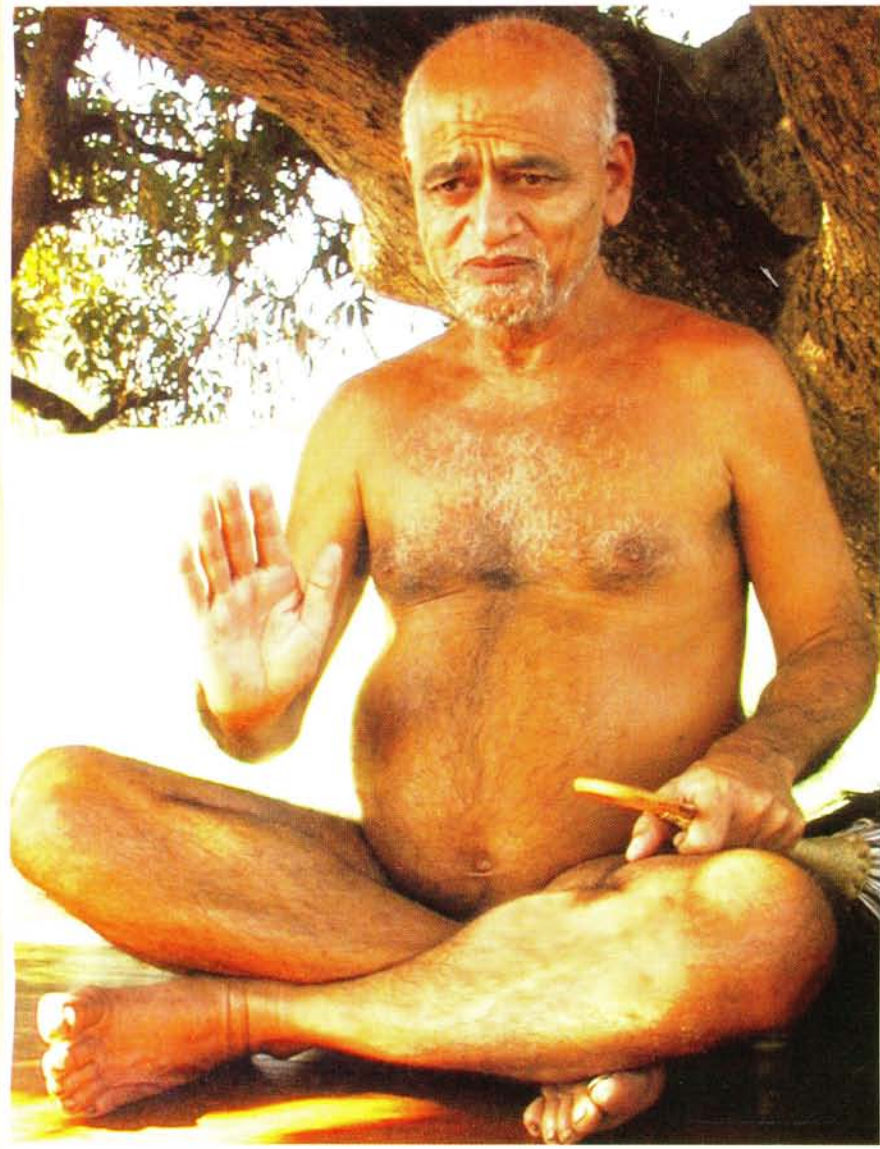
अलौकिक आकर्षण के वशीभूत हो अनगिनत
युवा-युवतियाँ भोगपथ का परित्याग कर
योगपथ के पथिक बन गये और निरन्तर बन रहे हैं,
जिनकी

वात्सल्यमयी दृष्टि, अर्त्तिहारिणी मुस्कान एवं
हित-मित-प्रिय वचन दर्शनार्थियों को
आनन्द के सागर में डुबा देते हैं,
जिनके

वात्सल्यप्रसाद का पात्र में भी बना हूँ तथा जिन्होंने
अनेक शुभ उत्तरदायित्व आशीर्वाद में प्रदान कर
मेरे जीवन के अन्तिम चरण को धर्मध्यान-केन्द्रित
बना दिया।

नमोऽस्तु।

गुरुचरणानुरागी
रतनचन्द्र जैन



परमपूज्य आचार्य श्री विद्यासागर जी महाराज

अन्तस्तत्त्व

□ प्रकाशकीय	पृष्ठांक
□ ग्रन्थकथा	तेईस
□ ग्रन्थसार	उनतीस
□ संकेताक्षर-विवरण	इक्यावन
	एक सौ इक्यासी

प्रथम खण्ड

दिगम्बर, श्वेताम्बर, यापनीय संघों का इतिहास

प्रथम अध्याय

काल्पनिक सामग्री से निर्मित तर्कप्रासाद

१. तीर्थकरों के सवस्त्र-तीर्थोपदेशक होने की कल्पना	३
२. बोटिक शिवभूति के दिगम्बरमत-प्रवर्तक होने की कल्पना	३
३. बोटिक शिवभूति के यापनीयमतप्रवर्तक होने की कल्पना	३
४. कुन्दकुन्द के दिगम्बरमतप्रवर्तक होने की कल्पना	४
५. कुन्दकुन्द के प्रथमतः यापनीय होने की कल्पना	४
६. कुन्दकुन्द के प्रथमतः भट्टारक होने की कल्पना	४
७. उत्तरभारतीय सचेलाचेल निर्ग्रन्थसंघ की कल्पना	५
८. सचेलाचेल निर्ग्रन्थसंघ के विभाजन से श्वेताम्बर-यापनीय- सम्प्रदायों के उद्भव की कल्पना	५
९. अचेल एवं सचेल जिनकल्पों के व्युच्छेद की कल्पना	६
१०. सामान्यपुरुषों के लिए तीर्थकरलिंग-ग्रहण के निषेध की कल्पना	६

११. अचेलत्व के मुख्य और औपचारिक भेदों की कल्पना	६
१२. सग्रन्थ में निर्ग्रन्थ की कल्पना	७
१३. मूलसंघ के यापनीयसंघ का पूर्वनाम होने की कल्पना	८
१४. कुन्दकुन्दसाहित्य में दार्शनिक विकास की कल्पना	९
१५. शिवमार में शिवकुमार की कल्पना	९
१६. अनेक दिगम्बरग्रन्थों के यापनीयग्रन्थ होने की कल्पना	१०
१७. गुणस्थान-सिद्धान्त के विकास की कल्पना	११
१८. सप्तभंगी के विकास की कल्पना	१२
१९. यापनीयों द्वारा अर्धमागधी-आगमों के शौरसेनीकरण की कल्पना	१२
२०. दिगम्बरग्रन्थों में यापनीयमत-विरुद्ध कथनों के प्रक्षेप की कल्पना	१३
२१. स्वाभीष्ट कल्पित-शब्दादि का आरोपण—	
१. कल्पित शब्द, २. कल्पित अर्थ, ३. कल्पित लक्षण	१३

द्वितीय अध्याय

काल्पनिक हेतुओं की कपोलकल्पितता का उद्घाटन

प्रथम प्रकरण—तीर्थंकरों का सवस्त्रतीर्थोपदेशकत्व प्रमाणविरुद्ध	१७
□ विरोधी प्रमाण	१८
द्वितीय प्रकरण—शिवभूति यापनीयमत-दिगम्बरमत-प्रवर्तक नहीं	२०
१. बोटिकमतोत्पत्तिकथा	२१
२. बोटिकमतोत्पत्तिकथा का विस्तार से वर्णन	२३
३. मुनि कल्याणविजय जी के मनगढन्त निष्कर्ष	२८
४. श्वेताम्बर शिवभूति द्वारा दिगम्बरमत का वरण	३२
५. शिवभूति के तर्क एवं मान्यताएँ दिगम्बरमतानुगामी	३५
५.१. सचेललिंग का सर्वथा निषेध	३५
५.१.१. उपधिग्रहण परिग्रह है	३६
५.१.२. उपधिपरिग्रह से मूर्च्छादि अनेक दोष अवश्यभावी	३७
५.२. जिनकल्प के नाम से एकमात्र अचेल जिनलिंग का समर्थन	३८

- ५.२.१. अचेल जिनकल्प से ही मोक्ष की प्राप्ति ३८
- ५.२.२. जिनेन्द्रगृहीत होने से अचेललिंग ही प्रामाणिक ३८
- ५.२.३. श्रुत में अचेलत्व का ही उपदेश ३९
- ५.३. श्वेताम्बरीय सचेल जिनकल्प का समर्थन नहीं ३९
- ५.४. सचेलकता के निषेध से स्त्रीमुक्ति का निषेध ४१
- ५.४.१. स्त्रीदीक्षा नहीं दी गई ४१
- ५.४.२. स्त्रीमुक्ति के लिए स्थान नहीं ४२
- ५.५. शिवभूति को श्वेताम्बरागम मान्य नहीं ४३
६. बोटिक और यापनीय परस्परविरुद्ध परम्पराएँ ४५
- ६.१. बोटिकमत और यापनीयमत में घोर वैषम्य ४५
- ६.२. श्वेताम्बरग्रन्थों में बोटिकों की निन्दा, यापनीयों की प्रशंसा ४५
- ६.३. प्राचीन श्वेताम्बरग्रन्थों में बोटिकों की 'दिगम्बर' संज्ञा ५०
- मालवणिया जी का मत युक्ति-प्रमाणविरुद्ध ५१
- ६.४. आधुनिक श्वेताम्बर विद्वानों का मत : बोटिक-दिगम्बर एक ५७
- ६.५. श्वेताम्बरसाहित्य में बोटिकों की 'यापनीय' संज्ञा नहीं ५९
७. कुन्दकुन्द के प्रथमतः यापनीयमतावलम्बी होने का मत असत्य ६०
८. कुन्दकुन्द बोटिक शिवभूति से पूर्ववर्ती ६२
९. कुन्दकुन्द श्रुतकेवली भद्रबाहु के परम्परा-शिष्य ६२
१०. कुन्दकुन्द के दिगम्बरमत-प्रवर्तक होने का मत कपोलकल्पित ६४
- दिगम्बरमत कुन्दकुन्द से पूर्ववर्ती ६४
- १०.१. पाँचवी शती ई० के पूर्व निर्ग्रन्थमहाश्रमणसंघ का अस्तित्व ६४
- १०.२. कुन्दकुन्द-प्ररूपित मार्ग जिनप्रणीत : आ० हस्तीमल जी ६६
- १०.३. आगमोक्त सरलमार्ग का निषेध अमनोवैज्ञानिक ६७
- १०.४. दक्षिण में दिगम्बरपरम्परा श्रुतकेवली भद्रबाहु से पूर्ववर्ती ६९
- १०.५. शिवभूति द्वारा जिनेन्द्रगृहीत अचेललिंग का अंगीकार ७३
- १०.६. श्वेताम्बरग्रन्थों में कुन्दकुन्द का उल्लेख नहीं ७४
- १०.७. दिगम्बरसंघ भद्रबाहु की परम्परा का संघ : डॉ० सागरमल जी ७४
११. बोटिकसंघ की दक्षिणयात्रा अप्रामाणिक ७५
१२. 'मूलसंघ' यापनीयसंघ का पूर्वनाम नहीं ७६
१३. 'यापनीयसंघ' दिगम्बरसंघ का पूर्वनाम नहीं ७६
१४. परस्परविरोधी धराशायी होती कहानियाँ ७७

तृतीय प्रकरण—उत्तरभारतीय सचेलाचेल निर्ग्रन्थसंघ कपोलकल्पित	८०
१. अचेल-सचेल दोनों लिंगों से मुक्ति के उपदेश की कल्पना	८०
२. उक्त कपोलकल्पना द्वारा अनेक प्रयोजनों की सिद्धि का प्रयास	८३
३. कपोलकल्पित होने के शास्त्रीय प्रमाण	८४
३.१. भगवान् महावीर का निर्ग्रन्थसंघ सर्वथा अचेलमार्गी	८४
३.२. महावीरप्रणीत जिनकल्प-स्थविरकल्प दोनों सर्वथा अचेल	८५
३.३. श्वेताम्बरमान्य जिनकल्प और स्थविरकल्प दोनों सचेल	८६
३.३.१. जिनकल्पी भी सचेल और अनग्न	८६
३.३.२. श्वेताम्बर-जिनकल्पिकों का नग्न रहना असंभव	९१
३.३.३. श्वेताम्बर-जिनकल्पिकों का नग्नत्व औचित्यविहीन	९२
३.३.४. वस्त्रलब्धिमान् जिनकल्पिक नाममात्र से अचेल	९२
३.४. आचारांगवर्णित अचेलत्व अव्यवहृत	९३
३.५. जिनकल्प के व्युच्छेद की घोषणा	९४
३.६. आर्य महागिरि का जिनकल्प दिगम्बरपरम्परा का जिनलिंग	९६
३.७. सचेल जिनकल्प कपोलकल्पित	९८
३.८. अचेलत्व की 'जिनकल्प' संज्ञा स्वकल्पित	९९
३.९. जिनकल्प-नामकरण के प्रयोजन	१०२
३.१०. जिनकल्प-नामकरण के प्रयोजन ही विच्छेद-घोषणा के प्रयोजन	१०४
३.११. अचेलत्व के आचरण का विच्छेद नहीं, परित्याग	१०६
□ निष्कर्ष	१०६
४. कपोलकल्पित होने के ऐतिहासिक प्रमाण	१०७
५. डॉक्टर सा० के मत में परिवर्तन—	१०९
□ महावीर के निर्ग्रन्थसंघ का सर्वथा अचेल होना मान्य	१०९
□ अचेल-निर्ग्रन्थसंघ से सचेल-श्वेताम्बरसंघ का उद्भव मान्य	१०९
□ श्वेताम्बरसंघ से यापनीयसंघ की उत्पत्ति स्वीकार्य	१०९
चतुर्थ प्रकरण—सचेलाचेल-संघ से श्वेताम्बर-यापनीयों के उद्भव की मान्यता कपोलकल्पित	११२
१. उक्त कपोलकल्पना का महत्त्वपूर्ण प्रयोजन	११२
२. कपोलकल्पितता के प्रमाण	११३

पञ्चम प्रकरण—सामान्य पुरुषों के लिए तीर्थंकरलिंग-निषेध मनगढ़न्त ११७

१. पंचमकाल में सचेललिंग को ही जिनोक्त, उचित और अनिवार्य ठहराने का प्रयास ११७
२. दिगम्बरमत को निह्वमत् (मिथ्यामत) सिद्ध करने की चेष्टा १२०
३. हीनसंहननधारियों को भी तीर्थंकरलिंग-ग्रहण का उपदेश :
इसके प्रमाण १२१
 - ३.१. महावीर का उपदेश पंचमकाल के जीवों के लिए भी १२१
 - ३.२. अचेलकधर्म का उपदेश तीर्थंकरों के लिए नहीं १२२
 - ३.३. आस्रव-बन्ध-संवर-निर्जरा के हेतु सबके लिए समान १२२
 - ३.४. पञ्चमकालीन प्रमत्त-अप्रमत्तसंयतों को भी नाग्न्यपरीषह १२४
 - ३.५. हीनसंहननधारी को भी नग्न होने पर ही शीतादिपरीषह संभव १२४
 - ३.६. आचारंग में अचेलत्व से संयम-शिष्टता की हानि अमान्य, ह्री-कुत्सा-भय-त्याग प्रशंसित १२५
 - ३.७. वैराग्यपरिणत ज्ञानी नग्नमुनि का लिंगोत्थान संभव नहीं १२७
 - ३.८. नपुंसक बनाये जाने की धारणा हास्यास्पद १२८
४. दिगम्बरपरम्परा में जिनलिंग आज भी प्रवर्तमान १३२
५. श्वेताम्बरों का दिगम्बरमत के प्रति आकर्षण १३३

षष्ठ प्रकरण—सग्रन्थ के लिए 'निर्ग्रन्थ' शब्द का प्रयोग इतिहासविरुद्ध १३८

१. दिगम्बरग्रन्थों में 'निर्ग्रन्थ' शब्द 'सर्वथा अचेल' का वाचक १३८
२. अभिलेखों में 'निर्ग्रन्थ' शब्द 'दिगम्बर जैन मुनि' का वाचक १४०
३. डॉ० सागरमल जी के मत में परिवर्तन—ईसापूर्व चतुर्थ शती से दिगम्बरसंघ ही 'निर्ग्रन्थसंघ' नाम से प्रसिद्ध १४४
४. ईसापूर्व चतुर्थ शती से श्वेताम्बरसंघ 'श्वेतपटसंघ' नाम से प्रसिद्ध १४५
५. सम्प्रदायों के नामकरण के आधार : लिंग, देवता एवं तत्त्व १४६
६. स्वसंघ के लिए 'श्वेतपटसंघ' नाम प्रचारित १४९
७. केवल दिगम्बरसंघ का 'निर्ग्रन्थसंघ' नाम श्वेताम्बरों को भी मान्य १५०

- | | |
|---|-----|
| ८. कल्पित सचेलाचेलसंघ की 'निर्ग्रन्थसंघ' नाम से प्रसिद्धि
अयुक्तियुक्त | १५१ |
| □ उपसंहार | १५२ |

तृतीय अध्याय

श्वेताम्बरसाहित्य में दिगम्बरमत की चर्चा

प्रथम प्रकरण—अचेलत्व के दिगम्बरमान्य स्वरूप का वर्णन १५५

- | | |
|--|-----|
| १. श्वेताम्बरसाहित्य में अचेलपरम्परा की स्मृतियों के अवशेष | १५५ |
| २. सभी तीर्थकरों के दिगम्बरमुद्रा से मोक्ष होने का कथन | १५६ |
| ३. एकवस्त्रसहित प्रब्रज्या की कथा वस्तुतः चेलोपसर्ग | १५७ |
| ४. तीर्थकरों के सर्वथा अचेल होने का कथन | १५९ |
| ५. आदि-अन्तिम तीर्थकरों द्वारा अचेलकधर्म का उपदेश | १६० |
| ६. आचारांगादि में अचेल का अर्थ अल्पचेल नहीं | १६२ |
| ७. आचारांग-स्थानांग में अचेलत्व की श्रेष्ठता का वर्णन | १६५ |
| ८. आचारांगानुसार द्रव्यपरिग्रह भी परिग्रह | १६७ |
| ९. परीषहजय एवं तप के लिए पूर्ण निर्वस्त्रता की अनुशंसा | १६८ |
| १०. दिगम्बरत्व उत्सर्गमार्ग, साम्बरत्व अपवादमार्ग | १६९ |

द्वितीय प्रकरण—उत्तरवर्ती साहित्य में दिगम्बरीय सिद्धान्तों का खण्डन १७१

- | | |
|---|-----|
| १. परिग्रह की परम्परागत परिभाषा का खण्डन | १७१ |
| २. जिनकल्प का नाम देकर अचेलत्व के विच्छेद की घोषणा। | १७३ |
| ३. सचेल के लिए 'अचेलक' शब्द का व्यवहार प्रसिद्ध
बतलाने का प्रयास | १७४ |
| ३.१. महावीर के तीर्थ में सचेलकधर्म का अस्तित्व नहीं | १७४ |
| ३.२. विपरीतार्थ-प्ररूपण द्वारा महावीर के तीर्थ में सचेलकधर्म
की सिद्धि का प्रयास | १७४ |
| ३.३. 'अचेल' शब्द का अशास्त्रप्रसिद्ध-अलोकप्रसिद्ध
अर्थप्ररूपण | १७८ |
| □ निरसन | १८० |

- ३.४. आगम में 'अचेलक' शब्द से 'अचेलक' अर्थ ही
अभीष्ट १८०
- ३.५. प्राकृत-संस्कृत-भाषा-असम्मत वचन आप्तवचन नहीं १८०
- ३.६. सचेल की 'अचेल' संज्ञा गुणाश्रित नहीं १८१
- ३.७. 'अचेलत्व' सचेल साधु का असाधारणधर्म नहीं १८१
- ३.८. विपरीतार्थ और अयथार्थ शब्द का प्रयोग निष्प्रयोजन १८२
- ३.९. सचेल के लिए अचेल-शब्द-व्यवहार शंका-विमोह-जनक १८२
- ३.१०. साधुओं के लिए महामूल्य-वस्त्रधारण का उपदेश असंभव १८२
- ३.११. 'नग्न' विशेषण के 'सर्वथा निर्वस्त्र' और 'अल्पवस्त्रयुक्त',
दो अर्थ असंभव १८४
- ३.१२. सर्वसङ्करत्व-दोष की उत्पत्ति १८५
- ३.१३. स्वमत को तीर्थकरोपदिष्ट सिद्ध करने हेतु
'अचेलक' शब्द का विपरीतार्थ-प्ररूपण १८५
४. लोक में भी सचेल के लिए 'नग्न' शब्द का व्यवहार अप्रसिद्ध १८७
- दोनों दृष्टान्त अप्रामाणिक १८७
- ४.१. रूढ़ार्थ द्वारा मूलमुख्यार्थ का निरसन १९०
- ४.२. नाग्न्यपरीषह के अयुक्तियुक्त होने का प्रसंग १९२
५. मलधारी हेमचन्द्रसूरि के मत की अयुक्तिमत्ता १९२
- उपचरित 'नग्न' शब्द 'दरिद्रादि' अर्थ का प्रतिपादक १९२
- ५.१. उपचार का अर्थ १९३
- ५.२. उपचार के नियम १९४
- ५.३. उपचरित शब्द का मुख्यार्थ 'असत्य', अत एव अग्राह्य १९५
- ५.४. उपचरित शब्द से उपचरित अर्थ ग्राह्य १९५
- ५.५. 'नग्न' शब्द के मुख्य और उपचरित अर्थ १९७
- ५.६. द्विविध नग्नत्व के आगमप्रमाण उपलब्ध नहीं १९८
- ५.७. लोकरूढ़ि एवं उपचार परस्परविरुद्ध १९९
६. अचेलत्व के संयमादिघातक होने का उद्घोष २०१
७. वस्त्रादि के संयमसाधक होने का प्रतिपादन २०२
८. तीर्थकर इसके अपवाद २०४
९. तीर्थकरों की बराबरी करने का निषेध २०४

१०. संयमसाधनभूत वस्त्रादि के मूर्च्छाहितुत्व का निषेध	२०५
११. कषायादि के हेतु होते हुए भी वस्त्रादि के ग्रन्थत्व का निषेध	२०६
१२. स्वर्ण और युवती के ग्रन्थत्व का निषेध	२०७
१३. परीषहजय के आगमप्रसिद्ध अर्थ का अपलाप	२०८
१४. 'यथाजातरूप' का हास्यास्पद अर्थप्ररूपण	२१०

तृतीय प्रकरण—वस्त्रादि संयम के साधक नहीं, घातक

१. वस्त्रादिग्रहण देहसुखसाधनार्थ	२१२
२. संयमध्यानादि की सिद्धि परीषहजय से	२१७
३. वस्त्रादिग्रहण इष्टराग-अनिष्टद्वेष का फल	२१९
४. वस्त्रपात्रादि-परिग्रह मूर्च्छा का फल	२२०
५. परीषह-पीड़ानिवारक वस्तुओं का उपभोग 'मूर्च्छा' का लक्षण	२२१
६. वस्त्रपात्रादि का संग मूर्च्छा का हेतु	२२४
७. वस्त्रपात्रादिसंग भय-कषायादि का हेतु	२२५
८. वस्त्रपरिभोग निर्जराविरोधी	२२६
९. मोक्षबाधक होने से ही तीर्थकरों द्वारा वस्त्रत्याग	२२७
१०. साधारण पुरुषों के लिए भी वस्त्रपात्रादि मोक्ष में बाधक	२२९
□ कर्मसिद्धान्त पक्षपातरहित	२२९
११. लौकिक वैद्य और आध्यात्मिक वैद्य में समानता नहीं	२३२
१२. सवस्त्रमुक्ति संभव होने पर निर्वस्त्रता केवल क्लेश का कारण	२३३

चतुर्थ अध्याय

जैनेतर साहित्य में दिगम्बरजैन मुनियों की चर्चा

प्रथम प्रकरण—वैदिकसाहित्य एवं संस्कृतसाहित्य में दिगम्बरजैन मुनि

१. ऋग्वेद में वातरशन मुनि, वृषभ, शिशुदेव	२४०
२. अथर्ववेद एवं ब्राह्मणग्रन्थों में यति और व्रात्य	२४८
३. तैत्तिरीयारण्यक में वातरशन श्रमण	२४९
४. निघण्टु (८०० ई० पू०) में श्रमण, दिगम्बर, वातवसन	२५०
५. महाभारत (५००-१०० ई० पू०) में नग्न क्षपणक	२५१
६. चाणक्यशतक (४०० ई० पू०) में नग्नक्षपणक	२५७

७. पंचतन्त्र (३०० ई०) में नग्नक, क्षपणक, दिगम्बर, धर्मवृद्धि	२५८
८. भासकृत 'अविमारक' (३०० ई०) में वस्त्रविहीन श्रमण	२६०
९. मत्स्यपुराण (३०० ई०) में निष्कच्छ, निर्ग्रन्थ, नग्न	२६१
१०. विष्णुपुराण (३००-४०० ई०) में नाभि, मेरुदेवी, ऋषभ, भरत, नग्न, दिगम्बर, बर्हिपिच्छधर, अनेकान्तवाद	२६२
१०.१. भगवान् ऋषभदेव प्रथम मनु स्वायंभुव के पाँचवें वंशज	२६२
१०.२. दिगम्बरजैनधर्म विष्णुपुराणकार के समय से अतिप्राचीन	२६६
११. मुद्राराक्षस नाटक (४००-५०० ई०) में क्षपणक, बीभत्सदर्शन	२६९
१२. वायुपुराण (५०० ई०) में नग्न, निर्ग्रन्थ	२७०
१३. वराहमिहिर-बृहत्संहिता (४९० ई०) में नग्न, दिगवासस्, निर्ग्रन्थ	२७१
१४. उत्तरभारत में 'जैन' नाम से दिगम्बर ही सर्वाधिक प्रसिद्ध	२७२
१५. भागवतपुराण (६०० ई०) में वातरशन श्रमण, गगन-परिधान	२७३
१६. ऋषभदेव का वैदिकधारा पर प्रभाव	२७५
१७. जाबालोपनिषद् में दिगम्बरजैन-मुनिधर्मवत् पारमहंस्यधर्म	२७७
१८. योग के आद्यप्रवर्तक भगवान् ऋषभदेव	२८१
१९. कादम्बरी-हर्षचरित (७ वीं शती ई०) में क्षपणक, आर्हत, नग्ननाटक, मयूरपिच्छधारी	२८२
२०. भर्तृहरि-वैराग्यशतक (७०० ई०) में पाणिपात्र-दिगम्बर	२८३
२१. (वैदिक) पद्ममहापुराण में निर्ग्रन्थ, क्षपण	२८३
२२. कूर्मपुराण (७०० ई०) में निर्ग्रन्थ	२८७
२३. ब्रह्माण्डपुराण में नग्न, निर्ग्रन्थ	२९०
२४. लिङ्गपुराण में नग्न ऋषभ	२९०
२५. न्यायकुसुमाञ्जलि (९८४ ई०) में निरावरण, दिगम्बर	२९२
२६. न्यायमञ्जरी (१००० ई०) में दिगम्बर	२९२
२७. प्रबोधचन्द्रोदय (१०६५ ई०) में विमुक्तवसन, क्षपणक, दिगम्बर	२९३
२८. 'क्षपणक' का अर्थ श्वेताम्बर-जिनकल्पी मुनि नहीं	२९५
२९. श्वेताम्बरसाधु 'श्वेतपट' या 'सिताम्बर' नाम से प्रसिद्ध	२९७
□ शिवमहापुराण में श्वेताम्बर साधु	२९७
३०. 'क्षपणक' शब्द यापनीयसाधु का भी वाचक नहीं	३००
३१. दिगम्बरजैन मुनि और आजीविक साधु में भेद	३०१

३२. आजीविकों का इतिहास	३०४
३३. आजीविक साधु की भी 'क्षपणक' संज्ञा संभव नहीं	३०८
३४. 'निर्ग्रन्थ' शब्द केवल दिगम्बरजैन साधुओं के लिए प्रसिद्ध	३०९
द्वितीय प्रकरण—बौद्धसाहित्य में दिगम्बरजैन मुनि	३१०
१. प्राचीन बौद्धसाहित्य में दिगम्बरजैन मुनियों का उल्लेख	३१०
१.१. अंगुत्तरनिकाय में निर्ग्रन्थों की नग्नता का द्योतन	३११
१.२. 'अपदान' ग्रन्थ में श्वेतवस्त्र मुनियों का उल्लेख	३१३
२. बुद्धकालीन छह अन्यतीर्थिकों में भगवान् महावीर	३१४
३. अजातशत्रु के एक मंत्री द्वारा निगण्ठनाटपुत्र की प्रशंसा	३१५
४. बुद्धेतर छह तीर्थिकों में निर्ग्रन्थ के आचार का निरूपण	३१५
५. तीर्थंकर महावीर की 'निर्ग्रन्थ' संज्ञा क्यों?	३१७
६. अन्यतीर्थिकवत् नग्न रहने का निषेध	३१७
७. नग्नता एवं कुशचीरादि-धारण करने का निषेध	३१८
८. 'एकशाटक' सम्प्रदाय निर्ग्रन्थसम्प्रदाय से भिन्न	३१९
□ 'उदानपालि' का प्रमाण	३१९
९. निर्ग्रन्थों के लिए भी 'अचेलक' शब्द का प्रयोग	३२४
१०. निर्ग्रन्थपुत्र सच्चक द्वारा वर्णित आजीविकों का आचार	३२५
११. अचेल काश्यप द्वारा वर्णित आजीविकों का आचार	३२८
१२. निर्ग्रन्थसम्प्रदाय के श्रावक की भी 'निर्ग्रन्थ' संज्ञा	३३०
□ चुल्लकालिंग-जातक	३३४
१३. 'ओदातवसन' का अर्थ श्वेतवस्त्रधारी	३३७
१४. 'दिव्यावदान' में निर्ग्रन्थ-श्रमण का नग्नरूप	३३८
१५. धम्मपद-अट्टकथा में निर्ग्रन्थ का नग्नरूप	३४०
१६. निर्ग्रन्थ में अवास्तविक आचरण का चित्रण	३४२
१७. बौद्धसाहित्य में वस्त्रधारी निर्ग्रन्थों का उल्लेख नहीं	३४५
१७.१. कुण्डलकेसित्थेरीवत्थु	३४६
१७.२. मुनि श्री नगराज जी के भ्रम का कारण	३४९
१८. आर्यशूरकृत 'जातकमाला' में निर्ग्रन्थश्रमण का नग्नरूप	३५१
१९. 'दिव्यावदान' के रचनाकाल में यापनीयों का उदय नहीं	३५२
२०. निर्णीतार्थ	३५३

पंचम अध्याय

पुरातत्त्व में दिगम्बर-परम्परा के प्रमाण

प्रथम प्रकरण—श्वेताम्बर-परम्परा में नग्न जिनप्रतिमाओं का निर्माण असंभव	३५९
१. शुभप्रभामण्डल से तीर्थकरों का नग्नत्व अदृश्य	३५९
२. प्राचीन श्वेताम्बर-जिनप्रतिमाएँ गुह्यांग-रचना-रहित	३६३
३. श्वेताम्बरमतानुसार नग्न जिनप्रतिमा जिनबिम्ब नहीं	३६८
४. मुनि कल्याणविजय जी : मथुरा की प्राचीन जिन प्रतिमाएँ अनग्न	३६९
५. मथुरा की प्राचीन जिनप्रतिमाएँ नग्न ही हैं	३७१
६. वे श्वेताम्बरपरम्परा की प्रतिमाएँ नहीं हैं	३७१
७. गर्भपरिवर्तन की घटना का उत्कीर्णन	३७३
□ डॉ० ज्योतिप्रसाद जैन का लेख : मथुरा की नैगमेश-मूर्तियाँ और कृष्णजन्म	३७३
८. कुछ जिनप्रतिमाओं का सम्बन्ध अर्धफालक-सम्प्रदाय से	३७७
९. छठी शती ई० के पूर्व श्वेताम्बरसंघ में अनग्न-अचेल जिनप्रतिमा की पूजा	३८६
९.१. छठी शती ई० के पूर्व भी सभी संघों के मन्दिर अलग-अलग थे	३८८
९.२. परस्परविरोधी-मान्यतावालों की एक ही मन्दिर में पूजा-उपासना असंभव	३९२
९.३. पूर्वकाल में श्वेताम्बरसंघ अनग्न-अचेल-जिनप्रतिमा का पूजक	३९२
द्वितीय प्रकरण—दिगम्बर-जिनप्रतिमाओं के निर्माण का इतिहास	३९४
१. मोहेन-जो-दड़ो की जिनप्रतिमाएँ	३९४
२. हड़प्पा-जिनप्रतिमा	३९८
□ हड़प्पा और जैनधर्म : श्री टी० एन० रामचन्द्रन्	३९९
३. कलिंग-जिनप्रतिमा	४०५

४. लोहानीपुर-जिनप्रतिमा	४०८
५. कांस्य-जिनप्रतिमा	४१०
६. मथुरा-जिनप्रतिमाएँ	४११
७. गुप्तकालीन जिनप्रतिमाएँ	४१२
८. बाहुबली की प्रतिमाएँ	४१२

तृतीय प्रकरण—श्वेताम्बर-सवस्त्र-जिनप्रतिमाओं के निर्माण का इतिहास

१. ईसा की छठी शताब्दी से	४१४
२. प्राचीन श्वेताम्बरपरम्परा में मूर्तिपूजा का अभाव	४१६
३. सभी प्राचीन नग्न जिनप्रतिमाएँ दिगम्बरीय	४३१
४. नग्न-जिनप्रतिमा-निर्माण एवं पूजन का प्रारम्भ दिगम्बर-परम्परा द्वारा	४३२
५. आ० हस्तीमल जी के मत के अप्रामाणिक अंश	४३२

चतुर्थ प्रकरण—अभिलेखों में निर्ग्रन्थों और मूलसंघ के उल्लेख विस्तृत सन्दर्भ

१. श्री टी० एन० रामचन्द्रन् के लेख का मूलपाठ : HARAPPA AND JAINISM	४३७
२. हड़प्पा-जिनप्रतिमा का चित्र	
३. लोहानीपुर-जिनप्रतिमा का चित्र	

षष्ठ अध्याय

दिगम्बर-श्वेताम्बर-भेद का इतिहास

प्रथम प्रकरण—संघभेद के साहित्यिक प्रमाण	४४५
१. यापनीयों से दिगम्बरों की उत्पत्ति का मत भारी छलवाद	४४५
२. 'दिगम्बर' शब्द 'निर्ग्रन्थ' का नामान्तर	४४६
३. जम्बूस्वामी के पश्चात् दिगम्बर-श्वेताम्बर-संघभेद	४४६
४. द्वादशवर्षीय दुर्भिक्ष से पुनः संघभेद	४५२
५. ६०० ई० के शिलालेख में दुर्भिक्ष का उल्लेख	४५२

६. बृहत्कथाकोश का भद्रबाहुकथानक (ई० ९३१)	४५३
□ अर्धफालकसंघ एवं काम्बलतीर्थ	४५३
७. देवसेनकृत 'भावसंग्रह' (प्राकृत) की भद्रबाहुकथा (९३३-९५५ ई०)	४५७
८. रत्ननन्दिकृत भद्रबाहुचरित (१६वीं शती ई०)	४५९
९. विसंगतियाँ	४६१
१०. विश्वसनीय अंश	४६२
११. श्वेताम्बरसाहित्य में भद्रबाहु-विवाद-कथा	४६५
द्वितीय प्रकरण—डॉ० सागरमल जी का अन्तिम मत इतिहास-सम्मत	४७०
१. अनेक दिशाओं में भटकी विचारयात्रा	४७०
२. आज का दिगम्बरसंघ भद्रबाहु-नीत अचेल निर्ग्रन्थसंघ का ही प्रतिनिधि	४७४
तृतीय प्रकरण—श्वेताम्बरसाहित्य का विकास	४८०
□ निर्णीतार्थ	४८१

सप्तम अध्याय

यापनीयसंघ का इतिहास

प्रथम प्रकरण—यापनीयसंघ का स्वरूप	४८५
१. सिद्धान्त और आचार	४८५
□ अचेलकता-सचेलकता दोनों के पक्षधर	४८८
२. बोटिक शिवभूति यापनीयमत का प्रवर्तक नहीं	४८८
३. श्वेताम्बरसंघ से यापनीयसंघ की उत्पत्ति	४८९
४. उत्तरभारत की सचेलाचेल-निर्ग्रन्थ-परम्परा काल्पनिक	४९१
५. दिगम्बरसंघ से यापनीयसंघ की उत्पत्ति नहीं	४९२
□ आचार्य हस्तीमल जी के मत की असमीचीनता	४९२
६. सिद्धान्तविपरीत वेशग्रहण का प्रयोजन	४९३
६.१. श्वेताम्बर-दिगम्बरों में सैद्धान्तिक मेल करना	४९४
६.२. सैद्धान्तिक मेल की कल्पना अयुक्तिसंगत	४९४
६.३. लोकमान्यता-राजमान्यता की प्राप्ति	४९६

७. 'यापनीय' नाम श्वेताम्बरसाहित्य से गृहीत	५००
८. बोटिक शिवभूति के गुरु श्वेताम्बर	५०३
९. उत्पत्तिस्थान : दक्षिण भारत	५०३
१०. उत्पत्तिकाल : पाँचवीं शती ई० का प्रथम चरण	५११
द्वितीय प्रकरण—खारवेल-अभिलेख की समीक्षा	५१७
१. 'यापज्ञापक' का अर्थ 'यापनीय आचार्य' नहीं	५१७
२. 'धर्मनिर्वाहक' भी नहीं, अपितु धर्मोपदेशक	५२१
३. 'यापजावकेहि' में चतुर्थी नहीं, तृतीया	५२१
४. तृतीयान्त के लिए 'वस्त्रादिदान' अर्थ संगत नहीं	५२२
५. खारवेल का श्वेताम्बरत्व भी सिद्ध नहीं	५२४
६. श्वेताम्बर सिद्ध करने का अन्य कपट-प्रयास	५२५
६.१. प्रथम लेख : राजा खारवेल और उसका वंश— लेखक : श्री० मुनि कल्याण-विजय जी	५२६
६.२. द्वितीय लेख : राजा खारवेल और उसका वंश— लेखक : बाबू कामताप्रसाद जी	५३१
६.३. उपर्युक्त लेख पर सम्पादकीय नोट—लेखक : पं० जुगलकिशोर मुख्तार, सम्पादक—'अनेकान्त'	५३८
६.४. थेरावली-विषयक विशेष सम्पादकीय नोट—लेखक : पं० जुगलकिशोर मुख्तार, सम्पादक—'अनेकान्त'	५३९
६.५. तृतीय लेख : राजा खारवेल और हिमवन्तथेरावली— लेखक : मुनि श्री कल्याणविजय जी	५४०
६.६. 'अनेकान्त' के सम्पादक को लिखित मुनि जिनविजय जी का पत्र और हिमवन्त-थेरावली के जाली होने की सूचना	५५२
६.७. 'अनेकान्त' में प्रकाशनार्थ प्रेषित उपर्युक्त पत्र चक्रवर्ती खारवेल और हिमवन्त-थेरावली— लेखक : श्री० काशीप्रसाद जी जायसवाल	५५४
तृतीय प्रकरण—यापनीयसंघ का पूर्व नाम 'मूलसंघ' नहीं	५५५
१. 'मूलसंघ' निर्ग्रन्थसंघ का नामान्तर	५५५

२. मुनि कल्याणविजय जी एवं डॉ० सागरमल जी का मत	५५६
३. यापनीयसंघ 'मूलसंघ' नहीं : इसके प्रमाण	५५८
४. क्राणूर या काणूर गण मूलसंघ का ही गण था	५६५
५. निर्ग्रन्थसंघ ही मूलसंघ : डॉ० सागरमल जी	५६९
६. दिगम्बरसंघ के ही मूलसंघ होने का एक स्पष्ट प्रमाण	५७२
७. निर्ग्रन्थ (दिगम्बर) संघ की प्राचीनता की स्वीकृति	५७३
चतुर्थ प्रकरण—यापनीय संघ की अन्य विशेषताएँ	५७४
१. मन्दिरनिर्माण एवं मूर्तिप्रतिष्ठा	५७४
२. यापनीयसाहित्य	५७४
३. श्वेताम्बरीय और यापनीय आगमग्रन्थों में पाठभेद	५७६
४. यापनीय-मान्य आगमों की भाषा शौरसेनी	५८१
५. यापनीयसंघ का लोप क्यों हुआ?	५८६
पञ्चम प्रकरण—यापनीयग्रन्थ के लक्षण	५८८
शब्दविशेष—सूची	५९१
प्रयुक्त ग्रन्थों एवं शोधपत्रिकाओं की सूची	६१९



श्रद्धेय बाबा सा० स्व० श्री रतनलाल जी पाटनी
(मेसर्स आर० के० मार्बल ग्रुप, मदनगंज-किशनगढ़)

दिगम्बर जैन समाज के नररत्न, बालब्रह्मचर्य के साथ शताधिकवर्षजीवी, देशव्रती बाबासाहब श्री रतनलाल जी पाटनी एवं उनके परिवारजनों ने धार्मिक एवं सामाजिक सेवाओं के क्षेत्र में उत्कृष्ट कीर्तिमान स्थापित किए हैं। ये तीर्थक्षेत्रों के निर्माण एवं जीर्णोद्धार, यात्रीनिवास, पाठशाला, अस्पताल आदि के निर्माण तथा साहित्यप्रकाशन में पर्याप्त आर्थिक सहयोग प्रदान करने में सदैव अग्रणी रहे हैं। इस अतिमहत्त्वपूर्ण ग्रन्थ के प्रकाशन का पुण्यार्जन भी इन्हीं के यशस्वी परिवार के उदारमना श्री अशोककुमार जी पाटनी ने किया है। एतदर्थ उन्हें अनेक साधुवाद।

प्रकाशक

प्रकाशकीय

जैनधर्म के प्रथम तीर्थंकर भगवान् ऋषभदेव से लेकर अन्तिम तीर्थंकर भगवान् महावीर तक चौबीसों तीर्थंकरों ने पूर्ण अपरिग्रह के प्रतीकभूत एकमात्र अचेललिंग (नग्नमुद्रा) से जीव के मुक्त होने का उपदेश दिया था। अतः ऋषभादि तीर्थंकरों के समान अन्तिम तीर्थंकर भगवान् महावीर का अनुयायी श्रमण-संघ भी केवल अचेल-लिंगधारी था। इस कारण निर्ग्रन्थसंघ कहलाता था। किन्तु अन्तिम अनुबद्ध केवली श्री जम्बूस्वामी के निर्वाण (वीरनिर्वाण सं० ६२ = ईसापूर्व ४६५) के पश्चात् ही भगवान् महावीर का अनुयायी निर्ग्रन्थसंघ दो भागों में विभक्त हो गया। शीतादि-परीषहों की पीड़ा सहने में असमर्थ कुछ निर्ग्रन्थ साधुओं ने दिग्म्बरवेश छोड़कर वस्त्र, पात्र, कम्बल आदि ग्रहण कर लिये और यह मान्यता प्रचलित की, कि मनुष्य को केवल सचेललिंग से मुक्ति प्राप्त हो सकती है, अचेललिंग मुक्ति में बाधक है। सचेलमुक्ति की मान्यता के तर्क से उक्त साधुओं ने स्त्रीमुक्ति, परतीर्थिकमुक्ति और गृहस्थमुक्ति की मान्यता का भी पोषण किया। अपनी सचेलमुक्ति की मान्यता को लोकप्रसिद्ध करने के लिए इस साधुवर्ग ने स्वयं को श्वेतपटसंघ या श्वेताम्बरसंघ नाम से प्रसिद्ध किया।

ईसापूर्व चौथी शताब्दी में अन्तिम श्रुतकेवली भद्रबाहु के समय एकान्त-अचेलमुक्ति-वादी मूल निर्ग्रन्थसंघ का पुनः विभाजन हुआ। इस बार १२ वर्ष के अकाल के कारण आहारप्राप्ति में होनेवाली कठिनाइयों के फलस्वरूप निर्ग्रन्थ (नग्न) साधुओं का एक वर्ग अर्धफालक (वस्त्र का आधा टुकड़ा) धारण करने लगा, जिससे वह अर्धफालकसंघ के नाम से प्रसिद्ध हुआ। अर्धफालक साधु रहते तो नग्न थे, किन्तु अपने बायें हाथ पर सामने की ओर आधा वस्त्र लटकाकर गुह्यांग को छिपाते थे। भिक्षा के लिए वे पात्र भी रखते थे। आगे चलकर यह संघ श्वेताम्बरसंघ में विलीन हो गया।

ईसा की पाँचवीं शती के प्रारंभ में श्वेताम्बर-श्रमणसंघ से यापनीयसंघ का आविर्भाव हुआ। यह दिग्म्बरों के समान अचेललिंग और श्वेताम्बरों के समान सचेललिंग, दोनों से मुक्ति मानता था। तथापि इसकी आस्था श्वेताम्बर-आगमों एवं श्वेताम्बरीय मान्यताओं में ही थी। अतः यह श्वेताम्बरों के समान स्त्रीमुक्ति, गृहस्थमुक्ति, परतीर्थिकमुक्ति, केवलिकवलाहार, भगवान् महावीर के गर्भपरिवर्तन आदि बातों में विश्वास करता था।

इस संघ की अचेल और सचेल, दोनों लिंगों से मुक्ति की मान्यता बड़ी अयुक्तिसंगत थी। जब वस्त्रधारण करते हुए मुक्ति हो सकती है, तब मोक्ष के लिए नग्न रहकर शीतादि-परीषहों का अनावश्यक कष्ट भोगने का क्या औचित्य? लोगों के इस प्रश्न का समाधान यापनीयमत में नहीं था। इसलिए यह मत अधिक दिनों तक जीवित नहीं रह सका और अपने जन्म के एक हजार वर्ष बाद ही अर्थात् १५०० ई० में कालकवलित हो गया।

कालान्तर में भगवान् महावीर के अनुयायी एकान्त-अचेलमुक्तिवादी निर्ग्रन्थसंघ से काष्ठासंघ, द्राविडसंघ, माथुरसंघ आदि संघों की उत्पत्ति हुई। इन संघों के साधु यद्यपि एकान्त-अचेलमुक्तिवादी थे, तथापि इन्होंने अपने सिद्धान्तों में कुछ ऐसा परिवर्तन कर लिया कि इन्हें जैनाभास घोषित कर दिया गया।

श्वेताम्बर आचार्यों, मुनियों एवं विद्वानों ने आरंभ से ही यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि भगवान् महावीर ने श्वेताम्बरमत (सवस्त्रतीर्थ) का ही उपदेश दिया है, दिगम्बरमत का नहीं। दिगम्बरमत छद्मस्थ-प्रणीत है। प्राचीन श्वेताम्बराचार्यों का कथन है कि बोटिक शिवभूति नामक एक साधारण पुरुष ने वीरनिर्वाण सं० ६०९ (ई० सन् ८२) में दिगम्बरमत चलाया था। आधुनिक श्वेताम्बर मुनि एवं विद्वान् मानते हैं कि दिगम्बरमत की नींव आचार्य कुन्दकुन्द ने विक्रम की छठी शताब्दी में डाली थी। वे कुन्दकुन्द को भी प्राचीन आचार्य न मानकर विक्रम की छठी शताब्दी में उत्पन्न बतलाते हैं। श्वेताम्बर आचार्यों एवं विद्वानों का कथन है कि चूँकि दिगम्बरमत छद्मस्थप्रणीत है, इसलिए उनके शास्त्र भी छद्मस्थों के द्वारा ही रचे गये हैं और उनकी रचना श्वेताम्बर-शास्त्रों को देखकर की गयी है। इसका सबूत वे यह देते हैं कि दिगम्बरग्रन्थों में श्वेताम्बरग्रन्थों की अनेक गाथाएँ ज्यों की त्यों मिलती हैं। दिगम्बराचार्यों द्वारा रचित कसायपाहुड, तत्त्वार्थसूत्र और सन्मतिसूत्र को तो उन्होंने श्वेताम्बरग्रन्थ ही घोषित कर दिया है।

इधर दिगम्बर विद्वान् पं० नाथूराम जी प्रेमी ने अपने ग्रन्थ 'जैनसाहित्य और इतिहास' में दिगम्बर-परम्परा के ग्रन्थ भगवती-आराधना, उसकी विजयोदया टीका, मूलाचार, और तत्त्वार्थसूत्र को यापनीयपरम्परा का ग्रन्थ माना है और दिगम्बरविदुषी डॉ० श्रीमती कुसुम पटोरिया ने भी 'यापनीय और उनका साहित्य' नामक ग्रन्थ में प्रेमी जी का अनुसरण करते हुए इन्हें यापनीयग्रन्थ बतलाया है। इनके साथ उन्होंने सन्मतिसूत्र, हरिवंशपुराण तथा बृहत्कथाकोश, इन दिगम्बरग्रन्थों को भी यापनीयग्रन्थ सिद्ध करने की चेष्टा की है। इन दोनों से प्रेरणा और मार्गदर्शन प्राप्त कर आधुनिक श्वेताम्बर

विद्वान् डॉ० सागरमल जी जैन ने 'जैनधर्म का यापनीय सम्प्रदाय' नामक एक बड़ा ग्रन्थ लिखा, जिसमें उन्होंने उपर्युक्त ग्रन्थों में से तत्त्वार्थसूत्र और सन्मतिसूत्र को छोड़कर शेष पाँच ग्रन्थों को तथा अपनी ओर से कसायपाहुड, षट्खण्डागम आदि ११ नये दिगम्बरग्रन्थों को उनमें जोड़कर कुल सोलह ग्रन्थों को यापनीयग्रन्थ सिद्ध करने का प्रयास किया है। तत्त्वार्थसूत्र और सन्मतिसूत्र को उन्होंने उस स्वकल्पित उत्तरभारतीय-सचेलाचेल-निर्ग्रन्थ-परम्परा का ग्रन्थ बतलाया है, जो उनकी कल्पनानुसार तीर्थंकर महावीर द्वारा प्रणीत थी तथा श्वेताम्बर और यापनीय संघों की मातृपरम्परा थी। इस प्रकार दिगम्बरजैनपरम्परा को उन्होंने साहित्य की दृष्टि से अत्यन्त दरिद्र ठहराने की भी चेष्टा की है।

इन ग्रन्थों को पढ़कर दिगम्बर जैन सन्तों एवं विद्वानों के हृदय व्यथित हो गये। डॉ० सागरमल जी के ग्रन्थ ने तो इस व्यथा को चरम सीमा पर पहुँचा दिया, क्योंकि उन्होंने तो दिगम्बरपरम्परा के अत्यन्त महत्त्वपूर्ण साहित्य के एक बहुत बड़े अंश को सर्वथा कपोलकल्पित हेतुओं एवं छलवाद के द्वारा यापनीयपरम्परा का साहित्य सिद्ध करने का कुप्रयास किया है। दिगम्बरजैनधर्म के इतिहास और साहित्य के साथ योजना-बद्ध ढंग से की गयी इस धोखाधड़ी ने इस युग के दिगम्बरजैन धर्म एवं संस्कृति के सातिशय प्रभावक, श्रुताराधक एवं श्रुताभ्यासी दिगम्बरजैनाचार्य परमपूज्य १०८ श्री विद्यासागर जी महाराज के हृदय को अनिर्वचनीय पीड़ा से भर दिया। उनके व्याकुल नेत्र एक ऐसे स्वाध्यायशील योग्य विद्वान् की आतुरता से खोज में लग गये, जो दिगम्बर जैनधर्म के इतिहास और साहित्य के साथ की गयी इस धोखाधड़ी को सर्वमान्य, अखण्ड्य प्रमाणों और युक्तियों के प्रकाश से बेपरदा कर सके, जगजाहिर कर दे, जिससे यह सत्य प्रकट हो जाय कि दिगम्बर-जैनमत तीर्थंकरोपदिष्ट है, अतएव उतना ही प्राचीन है, जितनी तीर्थंकरपरम्परा तथा जिन दिगम्बरग्रन्थों को श्वेताम्बरग्रन्थ या यापनीयग्रन्थ सिद्ध करने का प्रयास किया गया है, वे दिगम्बरग्रन्थ ही हैं, यापनीयग्रन्थ या श्वेताम्बरग्रन्थ नहीं।

पर्याप्त खोज-बीन के पश्चात् प० पू० आचार्यश्री ने प्रो० (डॉ०) रतनचन्द्र जी जैन, भोपाल को इस कार्य के लिए योग्य समझकर उन्हें ग्रन्थलेखन की प्रेरणा दी। इधर दिगम्बर जैन विद्वानों की प्रतिनिधि संस्था अखिल-भारतवर्षीय दिगम्बरजैन-शास्त्रपरिषद् ने भी इस आशय का प्रस्ताव पारित किया और प्रो० रतनचन्द्र जी भोपाल से उक्त उद्देश्य को पूरा करनेवाला ग्रंथ लिखने का आग्रह किया। ऐसे ग्रंथ का लेखन धर्मप्रभावना का कितना महान् कार्य है, यह प्रोफेसर साहब स्वयं भी अनुभव कर रहे थे।

दिगम्बरजैनसाहित्य के महान् ग्रंथों को हेत्वाभासों एवं छलवाद के द्वारा यापनीयग्रन्थ घोषित कर दार्शनिक क्षेत्र में मिथ्या प्रचार करने और दिगम्बरजैनधर्म का अवर्णवाद करने को कौन धर्मश्रद्धालु सहन कर सकता है? प्राचीन दिगम्बर जैन आचार्यों को मनगढ़ंत हेतुओं के द्वारा अर्वाचीन घोषित करना और दिगम्बरजैनधर्म को आचार्य कुंदकुंद के द्वारा विक्रम की छठी शताब्दी में प्रवर्तित बताना इत्यादि बातें किसी भी दिगम्बरजैन के हृदय को भारी आघात पहुँचाये बिना नहीं रह सकतीं। उपर्युक्त मिथ्यावादों एवं उनके पोषक मिथ्या हेतुओं (हेत्वाभासों) का सयुक्तिक, सप्रमाण निरसन प्रो० रतनचन्द्र जी ने इस ग्रन्थ में किया है। लेखक ने अदम्य उत्साह एवं प्रकृष्ट-धर्मश्रद्धा-पूर्वक दस वर्ष के लम्बे समय तक निरंतर अथक परिश्रम इस पुस्तक के लेखन में किया है। उन्होंने दिगम्बरजैन-परम्परा की अतिप्राचीनता सिद्ध करने के लिए दिगम्बरजैन, श्वेताम्बरजैन, वैदिक, बौद्ध और संस्कृत साहित्य के २८५ से अधिक ग्रंथों, अनेक शिलालेखों एवं पत्र-पत्रिकाओं का गहन अनुशीलन कर प्रभूत अकाट्य प्रमाणों का अन्वेषण किया है। ग्रन्थ के लगभग २६०० पृष्ठों के लेखन, अनेक अंशों के पुनर्लेखन, नये तथ्यों के संयोजन और अनावश्यक कथ्यों के वियोजन के अतिरिक्त कम्प्यूटरीकृत पृष्ठों के बहुशः लिपिसंशोधन में उनके द्वारा पर्याप्त श्रम किया गया है। प्रो० रतनचन्द्र जी ने इतिहास, कर्मसिद्धान्त, आचारशास्त्र, न्यायशास्त्र एवं दर्शनशास्त्र के समुद्रों में गहरे गोते लगाकर सत्य के रत्न खोज निकाले हैं, तभी दिगम्बरजैन धर्म के इतिहास और साहित्य के साथ की गयी धोखाधड़ी का पर्दाफाश करने में अत्यन्त सफल हुए हैं। इस महान् श्रम व समय-साध्य कठिन कार्य की पूर्णता दिगम्बर-जैनाचार्य पू० विद्यासागर जी महाराज एवं अनेक मुनिवरों के शुभाशीर्वाद तथा धर्मश्रद्धालु श्रावकों और विद्वज्जनों की शुभकामनाओं से ही संभव हुई है। जिस प्रकार प्रसवोपरंत सुंदरपुत्रोत्पत्ति होने पर माता का प्रसवपीड़ाजन्य कष्ट पुत्रजन्म की महती प्रसन्नता से दबकर विस्मृत हो जाता है, उसी प्रकार प्रोफेसर रतनचन्द्र जी के भी ग्रन्थलेखनजनित कष्ट को ग्रन्थ की पूर्णता से उत्पन्न हुए पारमार्थिक सुख ने भुला दिया है। वस्तुतः प्रोफेसर साहब ने प्रतिपक्षियों द्वारा प्रसूत अनेक कपोल-कल्पनाओं की कपोलकल्पितता का ऐतिहासिक तथ्यों के आधार पर सयुक्तिक उद्घाटन कर मूल दिगम्बर, निर्ग्रंथ धर्म की तीर्थकरोपदिष्टता एवं परमप्राचीनता स्थापित करते हुए तथा षट्खण्डागम, कसायपाहुड आदि १८ ग्रन्थों को दिगम्बराचार्य-रचित सिद्ध करते हुए महती धर्मप्रभावना का कार्य किया है। प्रो० रतनचन्द्र जी ने इतिहास, साहित्य एवं पुरातत्त्व के प्रामाणिक आधारों से दिगम्बरजैनधर्म को अतिप्राचीन सिद्ध किया है और श्वेताम्बर-सम्प्रदाय दिगम्बरजैन-संघ से तथा यापनीय-सम्प्रदाय श्वेताम्बरसंघ से टूटकर अस्तित्व में आए हैं, यह प्रतिपादित किया है। उन्होंने

सप्रमाण सिद्ध किया है कि कषायपाहुड, षट्खण्डागम, भगवती-आराधना, मूलाचार, तत्त्वार्थसूत्र, सन्मत्तिसूत्र आदि ग्रन्थ दिगम्बर-आम्नाय के हैं, और इन ग्रंथों के यापनीय अथवा श्वेताम्बर ग्रंथ होने के पक्ष में दिए गए तर्कों का बिन्दुवार पूर्णतः निरसन किया है। प्रोफेसर रतनचन्द्र जी को जैनसाहित्य की इस अद्वितीय महान् सेवा के लिए सम्पूर्ण देश का दिगम्बरजैन समाज तो अनेक साधुवाद देगा ही, साथ ही धरती से वर्तमान साधु समाज का एवं स्वर्ग से स्वर्गस्थ प्राचीन प्रभावक आचार्य भगवन्तों का भी मंगल आशीर्वाद प्राप्त होगा, जो उन्हें भविष्य में भी जैनसाहित्य की ऐसी ही मूल्यवान् सेवा करते रहने की ऊर्जा प्रदान करेगा। लेखक ने ग्रन्थ में विषय का व्यापक प्रस्तुतीकरण कर दिगम्बरजैनसाहित्य में ग्रन्थ को अमर बना दिया है और वैसे ही इस महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ ने इसके यशस्वी लेखक को भी अमर बना दिया है।

अनादिनिधिन, युक्तियुक्त, सर्वोदयी, लोककल्याणकारी दिगम्बरजैन धर्म एवं दर्शन का जैन कहलानेवाले अपनों के ही द्वारा किए गए एवं किए जा रहे अयुक्तिसंगत अवर्णवाद को देखकर जिनका श्रद्धालु कोमलहृदय उसके अहितकर परिणामों का अनुमान कर काँप गया और जो उन मिथ्या अवर्णवादों के सटीक निरसन के लिए एक उत्कृष्ट प्रामाणिक ग्रन्थ के उद्भव का सपना देख रहे थे, उन प० पू० आचार्य विद्यासागर जी महाराज को आज अपने सपने को साकार देखकर जो प्रसन्नता हो रही होगी वह अनिर्वचनीय है। स्व० पं० दरबारीलाल जी कोठिया के शब्दों में पू० आचार्यश्री में पायी जानेवाली दिगम्बरजैनशासन की प्रभावना की व्यग्रतापूर्ण उत्सुकता उनमें सातिशय प्रभावक पूर्वाचार्य स्वामी समन्तभद्र एवं स्वामी अकलंकदेव की छवि के दर्शन कराती है। उन्हीं वीतरागी संत के शुभाशीर्वाद से जैनसाहित्य की सेवा के लिए जन्मी संस्था श्री 'सर्वोदय जैन विद्यापीठ' इस महान् ग्रन्थ के प्रकाशन का सौभाग्य प्राप्त कर अत्यधिक हर्ष का अनुभव कर रही है।

आशा है जैनाजैन सुधी पाठकगण ग्रन्थ में वर्णित ऐतिहासिक एवं सैद्धान्तिक तथ्यों के आधार पर दिगम्बरजैनधर्म के प्राचीन व प्रामाणिक स्वरूप और उसके लोककल्याणकारी समीचीन पक्ष का परिचय प्राप्त कर अपनी धारणाओं को सम्यक् बनायेंगे तथा संतुष्ट होंगे।

लुहाड़िया सदन, जयपुर रोड
मदनगंज-किशनगढ़, (अजमेर) राजस्थान

मूलचन्द्र लुहाड़िया
निदेशक : सर्वोदय जैन विद्यापीठ

ग्रन्थकथा

ग्रन्थलेखन का निमित्त और प्रेरणास्रोत

कभी-कभी ऐसी अप्रत्याशित, अनभिमत घटनाएँ घट जाती हैं, जो न चाहते हुए भी मनुष्य को शुभ कार्य में लगा देती हैं। मेरे मित्र एवं अग्रजतुल्य, सुप्रसिद्ध श्वेताम्बर विद्वान् तथा पार्श्वनाथ विद्यापीठ वाराणसी के भूतपूर्व निदेशक डॉ० सागरमल जी जैन द्वारा जैनधर्म का यापनीय सम्प्रदाय ग्रन्थ का लिखा जाना ऐसी ही एक घटना है, जिसने मुझे अकस्मात् दिगम्बर, श्वेताम्बर, यापनीय, वैदिक (हिन्दू), बौद्ध एवं संस्कृत साहित्य तथा शिलालेखों और पुरातत्त्व के गहन अनुशीलन में लगा दिया और मेरी लेखनी से इतने शब्द पंक्तिबद्ध करा दिये, जिन्होंने प्रस्तुत ग्रन्थ का रूप धारण कर लिया।

प्राचीन श्वेताम्बराचार्य यह सिद्ध करने का प्रयत्न करते रहे हैं कि “सवस्त्रमुक्ति, स्त्रीमुक्ति और केवलिभुक्ति का विरोधी दिगम्बर-जैन-आम्नाय भगवान् महावीर द्वारा प्रणीत नहीं है। भगवान् महावीर ने तो यह उपदेश दिया था कि अचेल और सचेल दोनों लिंग मुक्ति के मार्ग हैं तथा स्त्री को भी मोक्ष के योग्य बतलाया था और यह भी कहा था कि केवली भगवान् साधारण मनुष्यों की तरह कवलाहार करते हैं। किन्तु वीरनिर्वाण संवत् ६०९ (ई० सन् ८२) में बोटिक शिवभूति नामक श्वेताम्बर साधु ने अपने गुरु आर्यकृष्ण से विद्रोह कर सचेलमुक्ति, स्त्रीमुक्ति एवं केवलि-कवलाहार का निषेध करनेवाला दिगम्बरजैनमत चला दिया।”

यह तो प्राचीन श्वेताम्बराचार्यों की कृपा थी कि उन्होंने दिगम्बरजैनमत को कम से कम इतना प्राचीन मान लिया, उसे और अर्वाचीन घोषित नहीं किया, किन्तु बीसवीं शताब्दी ई० के विख्यात श्वेताम्बरमुनि श्री कल्याणविजय जी ने सन् १९४१ ई० में लिखित श्रमण भगवान् महावीर नामक ग्रन्थ में अपने प्राचीन आचार्यों के उपर्युक्त मत को अमान्य करते हुए यह स्थापित करने की चेष्टा की है, कि दिगम्बरजैनमत का प्रचलन विक्रम की छठी शती (पाँचवीं सदी ई०) में दक्षिणभारत के विद्वान् कुन्दकुन्द ने किया था। उनके इस मत को प्रायः सभी श्वेताम्बर मुनियों एवं विद्वानों ने अपना लिया। आश्चर्य तो यह है कि दिगम्बरजैन विद्वान् प्रो० (डॉ०) हीरालाल जी जैन ने भी यह मान्यता स्वीकार कर ली। किन्तु उन्होंने आचार्य कुन्दकुन्द का स्थितिकाल

विक्रम की छठी शताब्दी न मानकर वीरनिर्वाण से लगभग ६५० वर्ष पश्चात् (ई० सन् १२३) अनुमानित किया है।^१

सुप्रसिद्ध दिगम्बरजैन विद्वान् पं० नाथूराम जी 'प्रेमी' ने ईसवी सन् १९३९ में अनेकान्त मासिक में लेख लिखकर एक नई बात सामने रखी कि दिगम्बर जैनों द्वारा मान्य प्रसिद्ध ग्रन्थ भगवती-आराधना तथा उसकी विजयोदया टीका दिगम्बराचार्यों की कृतियाँ नहीं हैं, अपितु उनकी रचना यापनीय-सम्प्रदाय के आचार्यों द्वारा की गई है। तत्पश्चात् जैन साहित्य और इतिहास के द्वितीय संस्करण (सन् १९५६) में उन्होंने मूलाचार और तत्त्वार्थसूत्र को भी यापनीयग्रन्थ घोषित कर दिया। यापनीयसम्प्रदाय जैनों का ही एक सम्प्रदाय था, जिसके साधु दिगम्बरजैन साधुओं के ही समान नग्न रहते थे, मयूरपिच्छी रखते थे और पाणितलभोजी थे, किन्तु उनकी प्रायः सभी मान्यताएँ श्वेताम्बरों के समान थीं। वे मानते थे कि वस्त्रधारण करने पर भी मुक्ति हो सकती है, स्त्री भी स्त्रीशरीर से मोक्ष प्राप्त कर सकती है तथा केवली भगवान् भी मनुष्यों के समान कवलाहार ग्रहण करते हैं। वे श्वेताम्बरों के समान अन्यलिंग (अन्यवेश) एवं गृहिलिंग (गृहस्थवेश) से भी मुक्ति स्वीकार करते थे। प्रेमी जी ने भगवती-आराधना आदि उक्त ग्रन्थों में यापनीयमत के इन सिद्धान्तों का उल्लेख होना बतलाया है।

प्रेमी जी द्वारा भगवती-आराधना को यापनीय ग्रन्थ घोषित किये जाने से मुनि श्री कल्याणविजय जी को एक नई उद्भावना करने का अवसर प्राप्त हुआ। उन्होंने यह उद्भावित किया कि बोटिक शिवभूति ने जिस अचेलमार्ग का प्रवर्तन किया था, वह वस्तुतः यापनीयमत था और भगवती-आराधना इसी मत का मूल (प्रथम) ग्रन्थ है। उन्होंने यह कथा भी गढ़ी कि इस मत के दक्षिण में पहुँचने पर दक्षिण-भारतीय कुन्दकुन्द भी इस मत के अनुयायी बने, किन्तु कुछ समय बाद ही वे इससे अलग हो गये और उन्होंने सर्वथा (निरपवाद) अचेलमार्गी दिगम्बरसम्प्रदाय का सूत्रपात किया। मुनि श्री कल्याणविजय जी ने अपना यह मत भगवती-आराधना के ही आधार पर प्रमाणित करने की चेष्टा की है।^२

प्रेमी जी से ही प्रेरणा प्राप्त कर दिगम्बर जैन विदुषी श्रीमती डॉ० कुसुम पटोरिया ने यापनीय और उनका साहित्य नामक ग्रन्थ लिखा, जिसमें उन्होंने उपर्युक्त ग्रन्थों

-
१. देखिए, सन् १९४४ में हिन्दू विश्वविद्यालय वाराणसी में सम्पन्न अखिलभारतवर्षीय प्राच्य सम्मेलन के १२ वें अधिवेशन में पठित प्रो० (डॉ०) हीरालाल जी जैन का शोधपत्र 'क्या दिगम्बर और श्वेताम्बर सम्प्रदायों के शासनों में कोई मौलिक भेद है?' ('दिगम्बर जैन सिद्धान्त दर्पण'/ अंश १/ पृष्ठ २३/ प्रकाशक-दिगम्बर जैन पंचायत बम्बई/ सम्पादक-पं० रामप्रसाद जी शास्त्री)।
 २. देखिए, 'श्रमण भगवान् महावीर'/ पृष्ठ २९६।

के अतिरिक्त सन्मत्तिसूत्र, हरिवंशपुराण तथा बृहत्कथाकोश, इन तीन दिगम्बरग्रन्थों को भी यापनीयसम्प्रदाय के खाते में डाल दिया। जब इस ग्रन्थ पर श्वेताम्बर विद्वान् माननीय डॉ० सागरमल जी की नजर पड़ी, तब इसने उन्हें और भी अनेक दिगम्बरग्रन्थों को यापनीयग्रन्थ सिद्ध करने के लिए उत्कण्ठित कर दिया। फलस्वरूप उन्होंने गहन बौद्धिक व्यायाम कर जैनधर्म का यापनीय सम्प्रदाय नामक बृहद् ग्रन्थ का प्रणयन किया और उसमें दिगम्बरजैन-परम्परा को आचार्य कुन्दकुन्द द्वारा विक्रम की छठी शती में प्रवर्तित सिद्ध करने का आनुवंशिक धर्म निभाते हुए सोलह दिगम्बरग्रन्थों को यापनीयग्रन्थ घोषित कर दिया, जो इस प्रकार हैं—कसायपाहुड, षट्खण्डागम, भगवती-आराधना, उसकी विजयोदयाटीका, मूलाचार, कसायपाहुडचूर्णिसूत्र, तिलोयपण्णत्ती, पद्मपुराण, वरांगचरित, हरिवंशपुराण, स्वयंभूकृत पउमचरित, बृहत्कथाकोश, बृहत्प्रभाचन्द्रकृत तत्त्वार्थसूत्र, छेदशास्त्र, पिण्डछेदशास्त्र एवं प्रतिक्रमणसूत्र। इसके अतिरिक्त मान्य विद्वान् ने तत्त्वार्थसूत्र को श्वेताम्बरग्रन्थ न बतलाते हुए भी उत्तरभारतीय-सचेलाचेल-निर्ग्रन्थपरम्परा में रचित कहकर तत्त्वार्थाधिगमभाष्य-गत मान्यताओं के आधार पर वस्त्रपात्रधारी-सम्प्रदाय का ग्रन्थ सिद्ध करने का उपक्रम किया है। इसी प्रकार सन्मत्तिसूत्रकार सिद्धसेन को भी इसी परम्परा का आचार्य बतलाया है।

कसायपाहुड आदि १६ दिगम्बरग्रन्थों को यापनीय-आचार्यों द्वारा रचित सिद्ध करने के लिए लेखक ने जिन हेतुओं का अवलम्बन किया है, उनमें से अनेक का तो अस्तित्व ही नहीं है और अनेक हेतु 'हेतु' जैसे दिखते हैं, किन्तु हेतु नहीं हैं, अपितु हेत्वाभास हैं। अतः जब लेखक की उक्त कृति दिगम्बर जैन मुनिवरों और विद्वज्जनों की दृष्टि में आयी, तब उसका अध्ययन कर उनके हृदय गहन पीड़ा से क्षुब्ध हो गये। उनकी अन्तरात्मा ने कहा कि इस ग्रन्थ में उड़ेले गये मिथ्यावाद के मिथ्यात्व का उद्घाटन किया जाना चाहिए। अन्यथा यथार्थ से अनभिज्ञ अध्येता इस मिथ्यावाद को ही यथार्थ समझ लेंगे और समझते रहेंगे, फलस्वरूप इसकी ही पुष्टि करेंगे, जैसा कि कुछ नवीन ग्रन्थों और पत्रिकाओं में देखा जा रहा है। ऐसा होने देना जिनशासन के अवर्णवाद का अनुमोदन होगा। अपरञ्च, धर्म का नाश, सत्क्रियाओं का विध्वंस तथा समीचीन सिद्धान्त का लोप होने पर मौन रहना सत्यमहाव्रत एवं सत्याणुव्रत का उल्लंघन है। इन अनिष्टों का प्रतीकार मुनि और श्रावक दोनों का धर्म है। इस भावना से प्रेरित होकर दिगम्बर जैन जगत् के वर्तमान मूर्धन्य आचार्य परमपूज्य विद्यासागर जी महाराज ने, जो उक्त ग्रन्थ को पढ़कर अत्यन्त व्यथित थे, मुझे एक ग्रन्थ लिखने के लिए प्रेरित किया, जिसमें उक्त ग्रन्थ के मिथ्यावाद को सप्रमाण अनावृत कर सत्य के दर्शन कराये जायँ। सराकोद्धारक पूज्य उपाध्याय ज्ञानसागर जी महाराज ने भी मुझे इस कार्य के लिए प्रोत्साहित किया। २ जून १९९८ को मेरठ

(उ० प्र०) में पूज्य उपाध्याय ज्ञानसागर जी महाराज के सान्निध्य एवं प्राचार्य पं० नरेन्द्रप्रकाश जी की अध्यक्षता में अखिल भारतवर्षीय दिगम्बर जैन शास्त्रपरिषद् का ७४वाँ अधिवेशन सम्पन्न हुआ। उसमें शास्त्रपरिषद् ने एक प्रस्ताव (क्रमांक ३) पारित कर मुझसे उपर्युक्त उद्देश्य को पूर्ण करनेवाला ग्रन्थ लिखने का आग्रह किया। मेरे मन में भी उक्त ग्रन्थ का प्रतिवाद लिखने की इच्छा मचला करती थी। अतः मैंने परमपूज्य आचार्य विद्यासागर जी एवं पूज्य उपाध्याय ज्ञानसागर जी के आदेशों एवं शास्त्रपरिषद् के आग्रह को सहर्ष शिरोधार्य कर लिया। इस विषय में विशेष बात यह है कि मेरा मन परमपूज्य आचार्य श्री विद्यासागर जी के प्रति सुदीर्घकाल से असीम श्रद्धा और भक्ति से अभिभूत है। इसलिए उनकी इच्छा और प्रेरणा ने मन को इस प्रकार छुआ कि ग्रन्थलेखन की इच्छा ने लौहसंकल्प का रूप धारण कर लिया।

सन्दर्भग्रन्थों की उपलब्धि का अतिशय

कार्य अत्यन्त कठिन था, क्योंकि इसे सम्पन्न करने के लिए विस्तृत, गहन एवं सूक्ष्म अध्ययन-चिन्तन-मनन की आवश्यकता थी। न केवल दिगम्बर, श्वेताम्बर और यापनीय साहित्य का व्यापक अध्ययन अपेक्षित था, अपितु वैदिक और बौद्ध साहित्य तथा अभिलेखों एवं पुरातत्त्व का अनुशीलन भी जरूरी था। क्योंकि यह कार्य न तो किन्हीं दार्शनिक तत्त्वों के स्वरूप, लक्षण, परिभाषाओं या भेदोपभेदों के वर्णन से सम्बद्ध था, न किसी इतिहास या चरित के लेखन से और न किसी ग्रन्थ की समीक्षा या विविध दर्शनों के तुलनात्मक अनुशीलन से, अपितु यह कार्य सत्य को झुठलानेवाले मिथ्या हेतुओं को मिथ्या सिद्ध करने के लिए अखण्ड्य प्रमाणों और युक्तियों की खोज से सम्बद्ध था, जो उपर्युक्त विभिन्न साहित्यों, अभिलेखों एवं पुरातत्त्व के विस्तृत-गहन-सूक्ष्म अध्ययन, अभीक्ष्ण चिन्तन-मनन एवं विज्ञों के साथ परामर्श से ही संभव था।

सत्य का अपलाप करने के लिए अधिक परिश्रम की आवश्यकता नहीं होती। एक हेत्वाभास के द्वारा भी बड़े से बड़े सिद्धान्त की सत्यता के विषय में सन्देह पैदा किया जा सकता है, किन्तु उस सन्देह को दूर करना, अर्थात् सत्य की सत्यता सिद्ध करना आसान काम नहीं है। इसके लिए अनेक अखण्ड्य युक्तियों और तटस्थ प्रमाणों का प्रस्तुतीकरण आवश्यक होता है, तब कहीं उसके विषय में उत्पन्न किये गये सन्देह का उन्मूलन संभव होता है। महासती सीता के सतीत्व के विषय में एक मामूली आदमी ने बड़ी आसानी से सन्देह उत्पन्न कर दिया था, किन्तु उसे मिटाने के लिए सीता जी को अग्निपरीक्षा जैसा सर्वस्वीकार्य प्रमाण देना पड़ा था। मुझे सौंपा गया कार्य इसी प्रकृति का था। यापनीयपक्षधर विद्वानों ने दिगम्बरपरम्परा को अर्वाचीन

तथा दिगम्बरग्रन्थों को यापनीयग्रन्थ सिद्ध करने के लिए जिन तथ्यों की सत्यता का अपलाप किया है, उनकी सत्यता सिद्ध करने के लिए जैन-जैनेतर साहित्य, अभिलेखों तथा पुरातत्त्व से सर्वस्वीकार्य, अखण्ड्य प्रमाणों एवं युक्तियों का अन्वेषण करना ही इस कार्य में अपेक्षित था। अतः यह दुष्कर था। तथापि जिनशासन एवं परमपूज्य आचार्य श्री विद्यासागर जी के प्रति मेरी असीम भक्ति ने मुझे ऐसा साहस प्रदान किया कि मैं इसे सम्पन्न करने के लिए कृतसंकल्प हो गया।

मैंने पं० नाथूरामजी प्रेमी के जैनसाहित्य और इतिहास, श्रीमती डॉ० कुसुम पटोरिया के यापनीय और उनका साहित्य, डॉ० सागरमल जी के जैनधर्म का यापनीय सम्प्रदाय, मुनि श्री कल्याणविजय जी के श्रमण भगवान् महावीर, आचार्य हस्तीमल जी-कृत जैनधर्म का मौलिक इतिहास (भाग १, २, ३ एवं ४), मुनि श्री नगराज जी-कृत आगम और त्रिपिटक : एक अनुशीलन (खण्ड १, २), पं० सुखलाल जी संघवी-विवेचित तत्त्वार्थसूत्र (विवेचनसहित), पं० दलसुख जी मालवणिया की न्यायावतार-वार्तिकवृत्ति की प्रस्तावना, मुनि श्री विजयानन्द-सूरीश्वर 'आत्माराम'-कृत, तत्त्वनिर्णय-प्रासाद, मुनि श्री सागरानन्दसूरीश्वर-कृत तत्त्वार्थकर्तृ-तन्मतनिर्णय, उपाध्याय मुनि श्री आत्माराम जी-कृत तत्त्वार्थसूत्र-जैनागम-समन्वय इत्यादि ग्रन्थों एवं प्रो० (डॉ०) हीरालाल जी जैन के विभिन्न लेखों, पं० दलसुख जी मालवणिया के लेख 'क्या बोटिक दिगम्बर हैं?' (जैन विद्या के आयाम : ग्रन्थाङ्क २), प्रो० एम० ए० ढाकी के लेख 'The Date of Kundakundācārya' (Aspects of Jainology, Vol. III) तथा डॉ० के० आर० चन्द्र के लेख 'षट्प्राभृत के रचनाकार और उसका रचनाकाल' (श्रमण / अक्टूबर-दिसम्बर १९९७) का गहन एवं सूक्ष्म अध्ययन किया और उनका प्रत्युत्तर लिखने हेतु आवश्यक साहित्य जुटाने के प्रयत्न में लग गया। और इसे जिनशासन तथा परमपूज्य आचार्य श्री विद्यासागर जी महाराज के आशीर्वाद का ही चमत्कार कहना चाहिए कि मुझे आवश्यक साहित्य अप्रत्याशितरूप से यथाशीघ्र मिलता गया। मिलने का प्रसंग अतिरोचक है। जैनधर्म का यापनीय सम्प्रदाय ग्रन्थ का अध्ययन करते समय मैंने देखा कि उसमें षट्खण्डागम को, मानुषियों में संयतगुणस्थान के प्रतिपादक सत्प्ररूपणा-सूत्र क्र. ९३ के आधार पर, स्त्रीमुक्तिसमर्थक यापनीयग्रन्थ सिद्ध करने का प्रयत्न किया गया है। 'मानुषियों में संयतगुणस्थान-प्रतिपादक संजद (संयत) शब्द मूलतः उक्त सूत्र में है या नहीं, कहीं वह लिपिकार की भूल से तो उल्लिखित नहीं हो गया है?'— इस विषय पर आज से लगभग ६४ वर्ष पूर्व (सन् १९४३-४४ में) दिगम्बरजैन विद्वानों के बीच गम्भीर शास्त्रार्थ हुआ था। उसके बाद भी यह विषय कई वर्षों तक जैन पत्र-पत्रिकाओं में चर्चा का विषय बना रहा। इसकी धुँधली स्मृति मेरे मस्तिष्क में विद्यमान थी। एक दिन मैं जैनजगत् के सुप्रसिद्ध विद्वान् एवं स्वतंत्रतासेनानी माननीय

पं० वंशीधर जी व्याकरणाचार्य, बीना (म.प्र.) के अभिनन्दनग्रन्थ (सरस्वती-वरदपुत्र पं० बंशीधर व्याकरणाचार्य अभिनन्दनग्रन्थ) का अवलोकन कर रहा था। उसमें पण्डित जी के एक पुराने लेख 'षट्खण्डागम में 'संज्ञद' पद पर विमर्श' पर मेरी दृष्टि गयी। मैं उसे तुरन्त पढ़ने लगा। उसमें सुविख्यात जैन विद्वान् प्रो० (डॉ०) हीरालाल जी जैन के एक विवादास्पद शोध-आलेख 'क्या दिगम्बर और श्वेताम्बर सम्प्रदायों के शासनों में कोई मौलिक भेद है?' का उल्लेख किया गया था, जिसमें प्रोफेसर सा० ने यह प्रतिपादित किया था कि श्वेताम्बर-आगमों के समान दिगम्बर-आम्नाय के प्राचीन ग्रन्थों में भी सवस्त्रमुक्ति, स्त्रीमुक्ति और केवलिभुक्ति मान्य थीं। इस आलेख पर दिगम्बरजैन विद्वानों में तीखी प्रतिक्रिया हुई थी और लम्बे समय तक उसके पक्ष-विपक्ष में वाद-विवाद चलता रहा था। उक्त आलेख के विरोध में विद्वानों ने जो मत प्रकट किये थे, उनका संग्रह दिगम्बर जैन सिद्धान्त दर्पण नाम से तीन भागों में प्रकाशित हुआ था। ये तीनों भाग व्याकरणाचार्य जी के पास भेजे गये थे, ऐसा उनके उक्त लेख में उल्लेख था। यह पढ़ कर मेरे मन में आशा की ज्योति जगी। मन ने कहा उक्त तीन संग्रहों में अवश्य ही मेरे प्रयोजन की सामग्री तथा सामग्री को उपलब्ध करानेवाले सूत्र हस्तगत हो सकते हैं। मन को यह विश्वास भी हुआ कि ये तीनों संग्रह अभी भी व्याकरणाचार्य जी के पुस्तकालय में मौजूद हो सकते हैं।

व्याकरणाचार्य जी के परिवार से मैं सुपरिचित था। उनके ज्येष्ठ सुपुत्र श्री विभवकुमार जी कोठिया अब घर के मुखिया हैं। उन्हीं के साथ व्याकरणाचार्य जी के भतीजे सुप्रसिद्ध जैन विद्वान् न्यायाचार्य डॉ० दरबारीलाल जी कोठिया भी रहते थे। मैं तुरन्त बीना दौड़ा गया और माननीय न्यायाचार्य जी एवं श्री विभवकुमार जी को अपना प्रयोजन बतलाते हुए व्याकरणाचार्य जी के पुस्तकालय से कुछ आवश्यक ग्रन्थ ढूँढ़ने और उन्हें साथ ले जाने की अनुमति माँगी। दोनों महानुभावों ने सहर्ष अनुमति दे दी। मैं उनके पुस्तकालय में जाकर छानबीन करने लगा। चार-पाँच पुस्तकें उठाने के बाद मैं हर्ष से उछल पड़ा। जिन दिगम्बर जैन सिद्धान्त दर्पण नामक तीन ग्रन्थों को मैं चाहता था, वे वहाँ एक साथ मौजूद थे। मैंने उन्हें उठा लिया और पन्ने पलटकर उत्सुकता से देखने लगा। ज्यों-ज्यों पन्ने पलटता जाता था, मेरा हर्ष संयम खोता जाता था। जो सामग्री मुझे आवश्यक थी, उसमें से बहुत सी उनमें उपलब्ध थी। उनमें दिगम्बरजैन, श्वेताम्बरजैन, वैदिक (हिन्दू) एवं बौद्ध साहित्य के उन सन्दर्भों का उल्लेख था, जिनसे दिगम्बरपरम्परा पर प्रकाश पड़ता है और प्रो० (डॉ०) हीरालाल जी जैन ने षट्खण्डागम में जो सवस्त्रमुक्ति, स्त्रीमुक्ति एवं केवलिभुक्ति का विधान बतलाया है, वह मिथ्या सिद्ध होता है। उन्हें मैंने सम्हाल कर रख लिया और पुनः एक-एक ग्रन्थ उठाकर देखने लगा। देखते-देखते मुझे अन्य अनेक उपयोगी ग्रन्थ भी प्राप्त

हुए, जिनमें सिद्धान्तसमीक्षा के तीन भाग एवं अनेकान्त मासिक के अनेक पुराने अंक प्रमुख थे। सिद्धान्तसमीक्षा में वेदवैषम्य को लेकर प्रो० (डॉ०) हीरालाल जी एवं सिद्धान्ताचार्य पं० फूलचन्द्र जी शास्त्री आदि विद्वानों के बीच हुए वादों का संग्रह है। तथा 'अनेकान्त' के अंकों में भगवती-आराधना, मूलाचार, तत्त्वार्थसूत्र आदि ग्रन्थों पर शोधत्मक लेख तथा यापनीयसम्प्रदाय के विषय में विशेष ज्ञातव्य उपलब्ध हैं।

आवश्यक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ मिल जाने से मैं बहुत प्रसन्न था और पं० वंशीधर जी व्याकरणाचार्य की श्रुतभक्ति एवं उनके सुपुत्र विभवकुमार जी की पितृभक्ति देखकर गद्गद था। व्याकरणाचार्य जी ने छोटे से छोटे ग्रन्थ को भी जीवनपर्यन्त कितना सहेज कर रखा और उनके पुत्र ने पिता के स्वर्गारोहण के पश्चात् उन्हें इधर से उधर नहीं होने दिया, अपितु पिता के समान ही विनयपूर्वक सम्हाल कर रखा, यह श्रुतभक्ति और पितृभक्ति का अपूर्व उदाहरण है।

उक्त ग्रन्थों के बिना प्रस्तुत ग्रन्थ का लिखा जाना नितान्त दुष्कर होता। इनकी उपलब्धि से मेरे साध्य की सिद्धि का मार्ग प्रशस्त हुआ। इस कारण मैं आदरणीय व्याकरणाचार्य जी एवं उनके सुपुत्र श्री विभवकुमार जी तथा डॉ० दरबारीलाल जी कोठिया के प्रति अपनी असीम कृतज्ञता व्यक्त करता हूँ।

उपलब्ध साहित्य का अध्ययन कर सर्वप्रथम मैंने उन श्वेताम्बरीय ग्रन्थों की सूची बनाई, जिनमें दिग्म्बरपरम्परा की प्राचीनता सिद्ध करनेवाले और षट्खण्डागम में स्त्रीमुक्ति आदि के विधान की मान्यता को मिथ्या साबित करनेवाले उल्लेख विद्यमान हैं। सौभाग्य से मैं वाराणसी के प्रसिद्ध श्वेताम्बर-शोध-संस्थान पार्श्वनाथ विद्यापीठ में निर्मित हो रहे जैन विश्वकोश के सम्पादकमण्डल का सदस्य था। इस प्रसंग में मुझे शीघ्र वाराणसी जाने का अवसर प्राप्त हुआ। वहाँ मैंने दस दिन रहकर श्वेताम्बर-साहित्य से उपर्युक्त सन्दर्भ ढूँढ़े और उनकी छाया-प्रतिलिपि करवाकर ले आया। कुछ समय बाद पुनः वहाँ जाने का अवसर आया और पुनः कुछ नये सन्दर्भ ढूँढ़कर उनकी छाया-प्रतिलिपि हस्तगत की। इस प्रकार दोनों बार के प्रयास में कम से कम एक हजार पृष्ठों का संग्रह मेरे पास हो गया।

विस्मयोत्पादक रोचक संयोग

यहाँ एक महत्त्वपूर्ण विस्मयोत्पादक, रोचक संयोग का उल्लेख करना आवश्यक है। उपर्युक्त 'जैनधर्म का यापनीय सम्प्रदाय' ग्रन्थ के लेखक माननीय डॉ० सागरमल जी जैन मेरे अग्रजतुल्य एवं अच्छे मित्र हैं। सन् १९७२ में जब मैं रीवा (म.प्र.) से स्थानान्तरित होकर शासकीय हमीदिया स्नातकोत्तर महाविद्यालय, भोपाल के संस्कृत विभाग में आया, तब डॉक्टर सागरमल जी वहाँ दर्शनविभाग के अध्यक्ष थे। उन्होंने

साधर्मी बन्धु के नाते समुचित वात्सल्यभाव दर्शाया और मेरी अनेक प्रकार से सहायता की। शीघ्र ही हम अच्छे मित्र बन गये। वे मुझसे आयु में ज्येष्ठ हैं, अतः मैं उनका अग्रजवत् सम्मान करने लगा। उनके साथ में कई बार अखिल भारतीय प्राच्य सम्मेलनों और अन्य विद्वत्संगोष्ठियों में गया और हम लोग एक ही कमरे में साथ-साथ ठहरे। उन्होंने पी-एच० डी० उपाधि के लिए मेरे शोधप्रबन्ध की रूपरेखा बनवाई और यथोचित मार्गदर्शन किया। उपाधि उपलब्ध हो जाने पर मेरा शोधप्रबन्ध 'जैनदर्शन में निश्चय और व्यवहार नय : एक अनुशीलन' भी उन्होंने पार्श्वनाथ विद्यापीठ, वाराणसी से प्रकाशित कराया और अपने प्रधान-सम्पादकत्व में निर्मित होनेवाले जैनविश्वकोश के एक विभाग का सम्पादक भी मुझे नियुक्त कराया। दैवयोग से उनके उक्त विवादास्पद ग्रन्थ 'जैनधर्म का यापनीय सम्प्रदाय' को लेकर उन्हीं से असहमति व्यक्त करने और उसमें प्रतिपादित मतों को अयुक्तिमत् और अप्रामाणिक सिद्ध करने का मौका उपस्थित हो गया। यह आश्चर्यजनक और रोचक बात थी।

डॉक्टर सा० के साथ मेरी घनिष्टता से मेरे साथी भी अवगत थे। अतः जब उन्हें पता चला कि डॉक्टर सा० द्वारा लिखित ग्रन्थ के प्रतिवाद का कार्य मुझे सौंपा गया है, तब उन्हें बड़ा आश्चर्य हुआ। उनके मन शंका से ग्रस्त हो गये कि डॉक्टर सा० के साथ इतनी घनिष्टता होने के कारण मैं उनके दिग्गम्बरत्व-विरोधी प्रतिपादनों का दृढ़ता और साहस से प्रतिवाद नहीं कर पाऊँगा। मित्रता भंग होने के भय से डर-डर कर लुंज-पुंज भाषा और दबे-दबे स्वर में ही कुछ प्रतिकूल बातें करने की हिम्मत कर सकूँगा। अतः उन्होंने प्रचार शुरू कर दिया कि उक्त ग्रन्थ के प्रतिवाद का कार्य उपयुक्त व्यक्ति को नहीं सौंपा गया। फलस्वरूप मुझे अनेक व्यक्तियों के समक्ष सफाई देनी पड़ी कि हमारी मैत्री किसी स्वार्थ पर नहीं, अपितु सत्यप्रियता के समानशील पर आश्रित है। अतः मैं सत्य का ही उद्घाटन करूँगा, और यदि कर सका, तो डॉक्टर सा० भी उसका अभिनन्दन करेंगे, इसका मुझे पूर्ण विश्वास है। इससे हमारी मैत्री पुष्ट ही होगी, क्षीण नहीं।

जब मान्य डॉ० सागरमल जी को यह बात ज्ञात हुई कि मुझे उनके ग्रन्थ के प्रतिवाद का कार्य सौंपा गया है, तब उन्हें कोई आश्चर्य नहीं हुआ, बल्कि प्रसन्नता हुई। वस्तुतः उन्होंने एक बार मुझसे कहा भी था कि "मैं चाहता हूँ कि कोई दिग्गम्बर विद्वान् उनके ग्रन्थ का प्रत्युत्तर लिखे।" अतः उन्होंने मुझे प्रत्युत्तरलेखन का कार्य सौंपे जाने का स्वागत किया और जब मैंने पार्श्वनाथ विद्यापीठ में और भी कई आवश्यक ग्रन्थों के अवलोकन की इच्छा प्रकट की, तब उन्होंने मुझे उसकी विशेष सुविधाएँ उपलब्ध करायीं।

आभार

डॉ० सागरमल जी-कृत 'जैनधर्म का यापनीय सम्प्रदाय', 'गुणस्थानसिद्धान्त : एक विश्लेषण' और 'जैनधर्म की ऐतिहासिक विकासयात्रा' ग्रन्थ तथा उनके अभिनन्दन-ग्रन्थ (डॉ० सागरमल जैन अभिनन्दन ग्रन्थ) में संकलित उनके लेख पढ़कर मुझे इतिहास, पुरातत्त्व और सिद्धान्त-सम्बन्धी अनेक जानकारियाँ प्राप्त हुई हैं। श्वेताम्बरसाहित्य में दिगम्बरजैन-परम्परा की उत्पत्ति के विषय में प्राचीन और अर्वाचीन मान्यताएँ क्या हैं, 'अचेल', 'निर्ग्रन्थ', 'नाग्न्य' आदि शब्दों की क्या-क्या व्याख्याएँ की गई हैं, दिगम्बराचार्य-कृत ग्रन्थों को श्वेताम्बर अथवा यापनीय-आचार्यों द्वारा रचित मानने के श्वेताम्बरमान्य आधार (हेतु) क्या हैं, इत्यादि बातों का बोध उक्त ग्रन्थों के अनुशीलन से हुआ है। तथा इन बातों की युक्तिमत्ता और प्रामाणिकता के परीक्षण के लिए मुझे दिगम्बर-जैन, श्वेताम्बरजैन, वैदिक (हिन्दू) और बौद्ध सम्प्रदायों के विपुल साहित्य, पुरातत्त्व-विषयक ग्रन्थ एवं अभिलेखों को पढ़ने का अवसर मिला है। इसके अतिरिक्त उनका उपर्युक्त विवादास्पद ग्रन्थ मेरे लिए विश्व के परमयशस्वी, बहुश्रुत, वीतराग, निर्ग्रन्थमुनि, परमपूज्य आचार्य श्री विद्यासागर जी के प्रचुर विश्वास, वात्सल्य, आशीर्वाद एवं सान्निध्य की प्राप्ति में निमित्त बना है तथा प्रस्तुत ग्रन्थ को लिखकर मैं दिगम्बरजैन-परम्परा के इतिहास एवं साहित्य के विषय में मान्य श्वेताम्बर मुनियों एवं विद्वानों ने जो भ्रान्तियाँ उत्पन्न की हैं, उनका सप्रमाण-सयुक्तिक निराकरण करने का प्रयत्न कर सका हूँ। एतदर्थ मैं माननीय डॉ० सागरमल जी का आभारी हूँ।

पूज्य मुनि श्री समयसागर जी, पूज्य मुनि श्री योगसागर जी एवं पूज्य मुनि श्री क्षमासागर जी को जब यह ज्ञात हुआ कि मैं परमपूज्य आचार्य श्री विद्यासागर जी की प्रेरणा से प्रस्तुत ग्रन्थ लिख रहा हूँ, तब वे बहुत प्रसन्न हुए और ग्रन्थ की अत्यन्त आवश्यकता बतलाते हुए उन्होंने मेरी सफलता के लिए आशीष प्रदान किया। पूज्य मुनि श्री सुधासागर जी ने भी जयपुर-प्रवास (जनवरी, २००० ई०) के समय इस कार्य की सिद्धि हेतु मुझे प्रचुर आशीर्वाद दिया और आश्वस्त किया कि मुझे ग्रन्थलेखन हेतु जिन ग्रन्थों की आवश्यकता हो, उन्हें बतलाऊँ, वे तुरन्त मेरे पास भिजवा देंगे। और उन्होंने मेरे निवेदन पर हरिवंशपुराण और जयध्वलाटीका-सहित कसायपाहुड के पाँच भाग मेरे पास शीघ्र भिजवा दिये। भोजपुर-चातुर्मास (सन् १९९९ ई०) के अवसर पर पूज्य मुनि श्री प्रमाणसागर जी ने अपने आशीर्वाद के साथ मुझे भगवती-आराधना की विजयोदयाटीका भी उपलब्ध करायी, जो अत्यन्त आवश्यक थी और दुर्लभ थी। उनसे अनेक जिज्ञासाओं का समाधान भी मैं समय-समय पर प्राप्त करता रहा। उन्होंने कुण्डलपुर में आचार्य श्री विद्यासागर जी एवं मुनि श्री अभयसागर जी के साथ प्रस्तुत ग्रन्थ के कुछ अध्याय भी सुने और सराहे हैं। उनकी परार्तध्यानहारिणी,

वात्सल्यमयी, मृदु प्रकृति ने मुझे बहुत सम्बल प्रदान किया है। इस हेतु मैं इन सभी गुरुओं के प्रति अपनी कृतज्ञता एवं भक्ति निवेदित करता हूँ।

और पूज्य मुनि श्री अभयसागर जी के विषय में क्या कहूँ! वे तो एक चेतन-विश्वविद्यालय हैं। जैन-जैनतर धर्म, दर्शन, साहित्य, इतिहास, पुरातत्त्व, शिल्प, सभी से उनका गहन परिचय है। किस विषय पर कौनसा ग्रन्थ, किसने लिखा है, कब, कौन व्यक्ति उसे उपलब्ध करा सकता है, इसकी सारी जानकारी उन्हें होती है। शोधप्रविधि के वे मर्मज्ञ हैं। स्वयं अध्ययनरत रहते हैं और दूसरों के अध्ययन और शोध का मार्ग प्रशस्त करते हैं। वे अनुसन्धित्सुओं को शोधविषय भी सुझाते हैं और शोधनिर्देशकों का परिचय भी देते हैं, साथ ही शोधविषय से सम्बन्धित दुर्लभ से दुर्लभ ग्रन्थ जहाँ से भी संभव होता है, मँगाकर उपलब्ध कराते हैं। वे स्वभाव से मृदु और परोपकारी हैं। मेरे कार्य में उन्होंने अनिर्वचनीय साहाय्य किया है। मुझे दिगम्बरजैन, श्वेताम्बरजैन, वैदिक और बौद्ध मतों के ऐसे ग्रन्थों की आवश्यकता थी, जो बाजार में अनुपलब्ध थे, वे किसी व्यक्ति के पास या पुस्तकालय में ही प्राप्त हो सकते थे, किन्तु मुझे उस व्यक्ति या पुस्तकालय का पता लगाना सम्भव नहीं था। यदि पता लग भी जाता, तो उसे प्राप्त करना दुष्कर था, क्योंकि वृद्धावस्था, मधुमेहग्रस्त देह और समयाभाव के कारण भोपाल से बाहर की यात्रा करना तथा वहाँ जाकर ठहरना, भोजन आदि की अनुकूल व्यवस्था बनाना मेरे लिए टेढ़ी खीर थी। फिर वहाँ जाने पर पुस्तक का स्वामी छायाप्रतिलिपि कराने तक की अवधि के लिए भी पुस्तक देने के लिए राजी हो जाय, इसकी गारण्टी नहीं थी। एक-दो परिचितों के पास किसी पुस्तक के होने की संभावना दिखी, तो उन्हें पत्र लिखा, किन्तु उनका पत्रोत्तर पाने योग्य मेरे पुण्य का उदय नहीं हुआ।

सन् २००० के अक्टूबर मास में, जब मैं आचार्यश्री को प्रस्तुत ग्रन्थ के आरंभिक अध्याय सुनाने के लिए सर्वोदयतीर्थ अमरकंटक (शहडोल, म.प्र.) गया, तब पूज्य अभयसागर जी महाराज के पास कुछ ऐसे ग्रन्थ दिखाई दिये, जिनकी मुझे तलाश थी। मैं उन्हें ललचाई नजरों से देखने लगा। मुनिश्री मेरे मनोभाव को ताड़ गये। उन्होंने तुरन्त कहा-“यदि आपको इनकी जरूरत हो तो ले जाइये।” अन्धा क्या चाहे? दो आँखें। मैंने तुरन्त हाथ पसार दिये और मुनिश्री ने वे ग्रन्थ मेरे हाथों पर रखते हुए कहा-“आपको और भी जिन ग्रन्थों की आवश्यकता हो, उसकी सूची मुझे दे दीजिए।” मुझे जिन ग्रन्थों की उस समय आवश्यकता थी, उनके नाम लिखकर दे दिए। कुछ समय बाद वे ग्रन्थ मेरे घर पहुँच गये। फिर फरवरी २००१ में कुण्डलपुर के ऐतिहासिक पंचकल्याणक एवं गजरथ महोत्सव में पहुँचने पर मुनिश्री ने दिगम्बर-श्वेताम्बर-साहित्य से भरे हुए दो कार्टून मेरे कमरे पर पहुँचवा दिये, जो लिखे जा रहे ग्रन्थ के लिए

बहुत उपयोगी थे। उसके बाद मैं समय-समय पर दुर्लभ ग्रन्थों के नाम मुनिश्री के पास भेजता रहा और वे भारत का कोना-कोना छनवाकर श्वेताम्बर और बौद्ध पुस्तकालयों से दुर्लभ ग्रन्थों की छायाप्रतिलिपि करवाकर और उनकी जिल्द बँधवाकर मेरे पास भिजवाते रहे। मुनिश्री स्वयं भी मेरे ग्रन्थ के विषय से सम्बन्धित नये-नये ग्रन्थ की तलाश करते-रहते थे और उसे मँगाकर मेरे पास भिजवा देते थे। और इसे आचार्य श्री विद्यासागर जी के आशीर्वाद का चमत्कार ही कहना चाहिए कि जिस समय, जिस अध्याय का लेखन चल रहा होता था, उस समय उसके लिए अत्यन्त आवश्यक ग्रन्थ मेरे पास अचानक पहुँच जाता था।

पूज्य मुनि श्री अभयसागर जी ने जिन दुर्लभ श्वेताम्बरग्रन्थों की छायाप्रतिलिपियाँ भगीरथ-प्रयत्न से उपलब्ध कर मेरे पास भिजवाईं, उनके नाम इस प्रकार हैं— 'तत्त्वनिर्णयप्रासाद', 'पट्टावलीपराग', 'श्रमण भगवान् महावीर', 'तत्त्वार्थकर्तृतन्मतनिर्णय', 'तत्त्वार्थसूत्र-जैनागम-समन्वय', तत्त्वार्थाधिगमसूत्र पर सिद्धसेनगणी एवं हरिभद्रसूरि की टीकाएँ, दिग्म्बरग्रन्थों में 'बृहत्कथाकोश', 'तत्त्वार्थसूत्र के बीजों की खोज', 'दर्शनसार', 'महावीर का अचेलक धर्म', 'स्वामी समन्तभद्र' आदि की छायाप्रतिलिपियाँ तथा 'पुरातन-जैनवाक्य-सूची' (मूलरूप में), प्रसिद्ध श्वेताम्बरकोश 'अभिधान राजेन्द्रकोष' के सात भाग, श्वेताम्बराचार्य श्री हस्तीमल जी-कृत 'जैनधर्म का मौलिक इतिहास' के चार भाग, मुनि श्री नगराज जी-कृत 'आगम और त्रिपिटक : एक अनुशीलन' के तीन खण्ड तथा 'धम्मपद-अट्टकथा', 'दिव्यावदान' आदि बौद्धग्रन्थ। इन ग्रन्थों से वे प्रमाण उपलब्ध हुए हैं, जिनसे दिग्म्बरजैन-परम्परा की प्राचीनता सिद्ध होती है तथा भगवती-आराधना, तत्त्वार्थसूत्र आदि दिग्म्बरग्रन्थों का यापनीय या श्वेताम्बर परम्परा का ग्रन्थ होना असिद्ध होता है। इन प्रमाणों के अभाव में प्रस्तुत ग्रन्थ में वह प्रामाणिकता न आ पाती, जो आ गयी है। पूज्य मुनिश्री ने अमरकंटक, कुण्डलपुर, जबलपुर, विदिशा, भोपाल तथा नेमावर में परमपूज्य आचार्य श्री विद्यासागर जी के साथ चार-चार घंटे बैठकर कई दिनों तक प्रस्तुत ग्रन्थ की पाण्डुलिपि का श्रवण और अनुमोदन किया है। अनेकत्र अपने महत्त्वपूर्ण सुझावों से ग्रन्थ के दोषों का निवारण और गुणों का आरोपण कर ग्रन्थ को सँवारा और निखारा है। आवरण के मुखपृष्ठ की रूपरेखा के निर्माण में भी आपने अपना बहुमूल्य योगदान किया है। इस महान् उपकार के लिए मैं पूज्य मुनि श्री अभयसागर जी के प्रति अपनी हार्दिक कृतज्ञता और भक्ति की अभिव्यक्ति करता हूँ।

पूजनीया आर्यिका श्री अनन्तमति जी, आर्यिका श्री आदर्शमति जी एवं आर्यिका श्री पूर्णमति जी एवं उनके संघ की समस्त आर्यिका माताओं का भी आशीर्वाद ग्रन्थ की निर्विघ्न पूर्णता हेतु मुझे प्राप्त हुआ है। उनके प्रति सादर वन्दना निवेदित करता

हूँ। आदरणीय ब्र. बाबा शान्तिलाल जी, माननीय पं० मूलचन्द्र जी लुहाड़िया तथा पं० रतनलाल जी बैनाड़ा ने भी आचार्यश्री के सान्निध्य में कुण्डलपुर में मेरे ग्रन्थ के कुछ अंश सुने हैं और सराहना कर मेरा उत्साहवर्धन किया है, जिससे मैं इस कठिन कार्य को दत्तचित्त होकर पूर्ण करने में सफल हुआ हूँ। मैं इन सबका आभारी हूँ।

अखिल भारतवर्षीय दिगम्बर जैन शास्त्रपरिषद् के तत्कालीन अध्यक्ष आदरणीय प्राचार्य पं० नरेन्द्रप्रकाश जी जैन ग्रन्थ के शीघ्र-परिसमापन हेतु मुझे निरन्तर प्रेरित करते रहे हैं। शास्त्रपरिषद् के तत्कालीन महामन्त्री डॉ० जयकुमार जी जैन ने सहयोग का वचन देकर मुझे आश्वस्त किया। मेरे निवेदन पर डॉ० जयकुमार जी ने कोलकाता-वासी श्री शान्तिलाल जी बाकलीवाल के द्वारा षट्खण्डागम के सभी भाग मुझे उपलब्ध कराये तथा शास्त्रपरिषद् के तत्कालीन कार्याध्यक्ष डॉ० श्रेयांसकुमार जी जैन ने मेरे ग्रन्थलेखन के मार्ग को यथाशक्ति प्रशस्त करने का आश्वासन प्रदान कर मुझे निश्चित किया। इसके लिए मैं इन मित्रों के प्रति आभार प्रकट करता हूँ।

और प्राकृत-अपभ्रंश के सुप्रसिद्ध मूर्धन्य विद्वान् प्रो० (डॉ०) राजाराम जी जैन ने तो दि० ३०/८/२००१ को आरा (बिहार) से पत्र लिखकर निम्नलिखित शब्दों के रसायन द्वारा मेरे उत्साह का अनिर्वचनीय पोषण किया है—

“मेरे प्रिय भाई,

उस दिन भोपाल में यदि आपसे न मिलता, तो शायद मैं बड़ी भारी भूल करता। वस्तुतः आपके यहाँ आकर ही मैंने आपकी कर्मठ, एकान्त साधना को देखा। एक बीहड़ विषय के चैलेंज को स्वीकार कर उसका सार्थक एवं सटीक उत्तर देने के लिए अपनी साधना हेतु गुफागृह में निवास करनेवाले विद्वानों की मैं पूजा करता हूँ। आपकी साधना की समग्रता तथा एकाग्रता के निर्माण में आपकी शान्तस्वभावी भामती-स्वरूपा धर्मपत्नी एवं पुत्र-पुत्रवधू और बालगोपालों का योगदान भी कम नहीं है। मुझे पूर्ण विश्वास है कि आपका Project work तीव्रगति से अग्रसर हो रहा है। उसे शीघ्र ही लिखकर प्रकाशित कराइये। आपके लिए अपभ्रंश भाषा की प्राचीनता-सम्बन्धी सामग्री शीघ्र ही प्रेषित करूँगा।

सादर नम्र

राजाराम जैन”

और मान्य प्रोफेसर सा० ने उक्त सामग्री भी शीघ्र प्रेषित कर दी, जो कुन्दकुन्द-साहित्य की प्राचीनता पर प्रश्नचिह्न लगानेवालों को उत्तर देने में अत्यन्त सहायक हुई है। मैं अपने अग्रजतुल्य प्रोफेसर सा० का अत्यन्त कृतज्ञ हूँ।

ग्रन्थ उपलब्ध कराने में बुक्स वर्ल्ड, भोपाल (म.प्र.) के स्वामी भाई श्री अनेकान्त जैन का योगदान भी अत्यन्त सराहनीय रहा है। वे इस बात से प्रसन्न थे कि मैं आचार्यश्री की आज्ञा से एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ लिख रहा हूँ। अतः उन्होंने स्वयं ही आग्रह किया कि मुझे सन्दर्भ हेतु जिन ग्रन्थों की आवश्यकता हो, मैं निःसंकोच कहूँ, वे माँगाकर देंगे। और मेरे बतलाने पर उन्होंने वैदिक और बौद्ध साहित्य के अनेक ग्रन्थ बाहर से बुलवाकर मेरे पास भिजवा दिये, जिनमें 'महाभारत' के सभी भाग, लगभग सभी हिन्दू पुराण, अशोक के शिलालेख, 'पालि-हिन्दी-शब्दकोश', 'पाइअ-सद्-महण्णवो', 'सर एम० मोनियर विलियम्स की संस्कृत-इंग्लिश डिक्शनरी' आदि महत्त्वपूर्ण हैं। अनेकान्त जी के इस सहयोग के बिना भी प्रस्तुत ग्रन्थ का प्रामाणिक बनना असम्भव था। अतः मैं उनका भी आभारी हूँ।

मेरे मित्र श्रीयुत श्रीपाल जी 'दिवा' जिनशासन की प्रभावना से सम्बन्धित मेरे कार्यों में सदा सहयोग करते रहते हैं। उन्होंने ग्रन्थ का महत्त्व समझकर इसके शीघ्र प्रणयन के लिये हार्दिक शुभकामनाओं और बाह्य व्यवस्थाओं के द्वारा मेरा मार्ग सुविधामय बनाने का प्रयत्न किया है। उनके प्रति भी आभार व्यक्त करता हूँ।

प्राचीन जैन पाण्डुलिपियों और ग्रन्थों के संग्रह-संरक्षण में संलग्न 'अनेकान्त ज्ञान-मन्दिर बीना, म.प्र.' के अधिष्ठाता ब्रह्मचारी सन्दीप जी, ब्र० राकेश जी भाग्योदयतीर्थ सागर, डॉ० भागचन्द्र जी 'भागेन्दु' दमोह, डॉ० भागचन्द्र जी 'भास्कर' नागपुर, डॉ० शीतलचन्द्र जी जयपुर, डॉ० फूलचन्द्र जी 'प्रेमी' वाराणसी, डॉ० अरुणकुमार जी शास्त्री ब्यावर, डॉ० नरेन्द्रकुमार जी गाजियाबाद (उ.प्र.), डॉ० विजयकुमार जी (सम्पादक- 'श्रुतसंवर्धिनी') लखनऊ, डॉ० कपूरचन्द्र जी खतौली, माननीय श्री अशोक जी पाटनी किशनगढ़, श्री महावीरप्रसाद जी माचिसवाले दिल्ली एवं डॉ० श्रीमती अपर्णा चानोदिया भोपाल ने भी विभिन्न ग्रन्थों की प्राप्ति में सहयोग देकर मेरे मार्ग को प्रशस्त किया है। विभिन्न सज्जनों से ग्रन्थ हस्तगत कर मुझ तक पहुँचाने में श्री निकुंजभाई संघवी अहमदाबाद, श्री अभिनन्दन साँधेलीय पाटन (म.प्र.), सेठ राजेन्द्रकुमार जी जैन विदिशा, श्री जयकुमार 'निशान्त' टीकमगढ़ (म.प्र.), श्री कमलेश जैन 'भाईजान', श्री सतीशकुमार जैन 'नेता' एवं श्री कमलेश 'कक्का' जबलपुर, श्री अनिलकुमार जैन नागपुर (महाराष्ट्र) तथा डॉ० जिनेन्द्रकुमार जी जैन सागर ने भी विशेष सहयोग किया है। एतदर्थ मैं इन सब सहयोगियों का ऋणी हूँ।

भोपालवासी ब्र० श्री शान्तिलाल जी जैन एवं सुश्री डॉ० निशा जैन ने मेरे ग्रन्थ के कम्प्यूटर-मुद्रित अध्यायों को ग्रीष्मकाल (२००६ ई०) में गुना (म.प्र.) में तथा चातुर्मास (२००६ ई०) में आरोन (म.प्र.) में स्थित पूज्य मुनि श्री अभयसागर जी के पास अवलोकनार्थ ले जाने एवं वापस लाने तथा मुनिश्री के आवश्यक परामर्श

मुझ तक पहुँचाने की महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है। इस हेतु इन दोनों हितैषियों के प्रति आभार प्रकट करता हूँ।

प० पू० आचार्य श्री विद्यासागर जी की प्रेरणा से संस्थापित प्रतिभामण्डल की मुंबई-वासिनी, ब्रह्मचारिणी बहन तेजल ने मेरे आग्रह पर एक श्वेताम्बरकथा गुजराती से हिन्दी में अनुवादित कर उपलब्ध करायी, जो अत्यन्त आवश्यक थी। मैं उनका भी हृदय से आभारी हूँ।

ग्रन्थलेखन के पश्चात् आवश्यक था इसका गुण-दोषावलोकन। मेरा कोई प्रतिपादन दिगम्बरजैन-सिद्धान्त के विरुद्ध तो नहीं है, इस पर किसी सुविज्ञ का दृष्टिपात अत्यन्त आवश्यक था। वर्तमान में ऐसे सर्वमान्य सुविज्ञ एक ही हैं—गुरुवर आचार्य श्री विद्यासागर जी। वे एक ऐसे गुरु के शिष्य हैं, जिन्होंने पं० भूरा मल (शान्तिकुमार) शास्त्री के रूप में स्याद्वाद महाविद्यालय, वाराणसी में जैनसिद्धान्त एवं संस्कृत-प्राकृत-अपभ्रंश का गहन अध्ययन किया था और अपनी जन्मजात अद्भुत काव्यप्रतिभा से संस्कृत में जयोदय जैसे महाकाव्य की रचना कर संस्कृत महाकाव्यों की प्रसिद्ध बृहत्त्रयी (किरातार्जुनीय, शिशुपालवध और नैषधीयचरित) को बृहच्चतुष्टयी संज्ञा से विभूषित करने का कीर्तिमान स्थापित किया है तथा जिनकी कृतियों पर तीन दर्जन से भी अधिक शोधकर्ता पी-एच० डी०, डी० लिट्० तथा विद्यावारिधि आदि की उपाधियाँ प्राप्त कर चुके हैं। ऐसे यशस्वी दिगम्बरजैनाचार्य परमपूज्य ज्ञानसागर जी महाराज से आचार्य श्री विद्यासागर जी ने चारों अनुयोगों एवं संस्कृत, प्राकृत तथा अपभ्रंश की विधिवत् शिक्षा प्राप्त कर स्वकीय चिन्तन-मनन द्वारा जिनागम की गहराइयों में चिर अवगाहन किया है। उन्होंने भी संस्कृत और हिन्दी में कई शतकों एवं मूकमाटी जैसे उत्कृष्ट महाकाव्य की सृष्टि की है। उनकी कृतियाँ भी तीन दर्जन से अधिक शोधकर्ताओं को पी-एच० डी० एवं डी० लिट्० इत्यादि उपाधियों से विभूषित कराने का साधन बन चुकी हैं। आचार्यश्री का अध्ययन पाण्डित्यप्रधान नहीं, अपितु गवेषणात्मक है। एक शोधार्थी की सूक्ष्मदृष्टि से वे स्वाध्याय करते हैं और आगम के अनावृत, अनुन्मीलित तथ्यों को प्रकाशित करते हैं। उनकी प्रवचनशैली इस तथ्य का अनुभव कराती है।

आचार्य श्री विद्यासागर जी ने वर्तमान युग में मुनिपद को जो अनिर्वचनीय पूज्यता, श्रद्धास्पदता और प्रामाणिकता प्रदान की है, उसकी चर्चा एक अद्भुत कथा की तरह भारतीय इतिहास में युगों तक होती रहेगी। बाल, युवा, वृद्ध सभी को उनके अभूतपूर्व व्यक्तित्व ने सम्मोहित किया है।

ऐसे सुविज्ञ, सर्वप्रिय और सर्वपूज्य गुरुवर से ही मैंने प्रस्तुत ग्रन्थ के गुणदोषावलोकन की प्रार्थना की और गुरुवर ने भी वात्सल्यभावपूर्वक स्वीकृति प्रदान कर दी। मेरे

हर्ष का पारावार न रहा। मैं लगभग ७०० पृष्ठ लेकर अक्टूबर २००० में चातुर्मास के समय सर्वोदयतीर्थ, अमरकंटक (म.प्र.) पहुँच गया। वहाँ आचार्यश्री ने षडावश्यकों के अतिरिक्त अन्य कार्य छोड़कर दिवसकाल में प्रतिदिन, चार-चार घण्टे, पन्द्रह दिन तक, वे ७०० पृष्ठ सुने और बहुत प्रसन्न हुए। अनेक जगह त्रुटियाँ भी बतलाई और उनका शोधन कराया, कई स्थानों पर नयी युक्तियों और प्रमाणों का समावेश कराया। इस प्रकार उक्त सात सौ पृष्ठ आचार्यश्री द्वारा संशोधित एवं प्रमाणित कर दिये गये। तब मेरे उत्साह का ठिकाना न रहा। आत्मविश्वास में वृद्धि हुई और घर आकर आगे लिखने में जुट गया। फिर ई० सन् २००१ में कुण्डलपुर (दमोह, म.प्र.) के ऐतिहासिक पंचकल्यणक-गजरथ-महोत्सव में गया और वहाँ आचार्यश्री ने अत्यधिक व्यस्त रहते हुए भी सात दिन तक दो-दो घंटे नये अध्यायों की वाचना सुनी। तत्पश्चात् सन् २००१ में ही दयोदयतीर्थ, तिलवाराघाट (जबलपुर, म.प्र.) के चातुर्मास में एक सप्ताह तक दो-दो घंटे, तथा मार्च २००२ में, दो दिन विदिशा (म.प्र.) में, पश्चात् भोपाल (म.प्र.) में सात दिन तक, चार-चार घंटे एकाग्रता से ग्रन्थ के उत्तर अध्यायों का श्रवण किया। उसके बाद जुलाई २००२ में सिद्धोदय तीर्थ, नेमावर (म.प्र.) में भी कुछ पृष्ठ मैंने आचार्यश्री को सुनाये। कुछ उत्तर अध्यायों का श्रवण पूज्य आचार्यश्री ने अप्रैल २००३ में पुनः कुण्डलपुर में किया। शेष अध्यायों की वाचना नवम्बर २००३ में अमरकंटक में, जनवरी २००४ में बिलासपुर (छत्तीसगढ़) में तथा मार्च २००४ में दि० जैन अतिशय क्षेत्र, रामटेक (नागपुर, महाराष्ट्र) में सम्पन्न हुई। इन सभी वाचनाओं में आचार्यश्री ने अनेक त्रुटियों का परिमार्जन कराया और नये तर्क एवं प्रमाणों से ग्रन्थ को सुसज्जित कराकर उसे सर्वथा निर्दोष और पूर्णतः युक्तिमत् एवं प्रामाणिक बना दिया। इसे जैनपरम्परा और थापनीयसंघ नाम भी उन्हीं के द्वारा प्रदान किया गया है, जो ग्रन्थ के विषय को भली भाँति द्योतित करता है।

कई-कई दिन तक घंटों बैठकर एकाग्रतापूर्वक ग्रन्थ को सुनने से जो शारीरिक और मानसिक श्रान्ति होती थी, उसकी आचार्यश्री ने कोई परवाह नहीं की। अन्य दर्शनार्थियों को समय न दे पाने से वे क्या सोचते होंगे, इस पर भी उन्होंने कोई ध्यान नहीं दिया। स्वयं के स्वाध्याय और संघ के अध्यापन को भी कुछ समय के लिए निरस्त या विलम्बित कर देने का असन्तोष उनके मन में नहीं व्यापा, क्योंकि उनके अन्तस् में भी यह लगन थी कि दिगम्बर-परम्परा के इतिहास और साहित्य के विषय में भ्रान्ति उत्पन्न करने का जो कुप्रयास किया गया है, उसका निराकरण शीघ्र हो। इस प्रसंग में आचार्यश्री के एक अन्य विशिष्ट गुण पर मेरा ध्यान गया। वह यह कि जिस समय, जिस व्यक्ति को वे चर्चा के लिए समय दे देते हैं, उसका वे दृढ़ता से पालन करते हैं। उस समय वे किसी अन्य व्यक्ति को उसमें विक्षेप

की अनुमति नहीं देते, चाहे वह राजनीतिक या सामाजिक दृष्टि से कितना ही प्रभावशाली क्यों न हो! एक घटना उदाहरणीय है। भोपाल में आचार्यश्री ने मुझे अपराह्न में दो से चार बजे तक का समय ग्रन्थवाचना के लिए दिया था। वाचना चल रही थी। उस समय एक केन्द्रीय मंत्रीमहोदया आचार्यश्री के दर्शनार्थ आयीं। मन्दिर-कमेटी के अध्यक्ष ने दो बार बीच में आकर मंत्रीमहोदया को भीतर ले आने की अनुमति माँगी। किन्तु आचार्यश्री ने दोनों बार मना कर दिया। जब मेरा समय पूरा हुआ, तभी उन्हें बुलाने की अनुमति दी। इस तरह आचार्यश्री ने मेरे ग्रन्थ को बड़ी निष्ठा और एकाग्रता से सुना।

इसे मैं अपना अहोभाग्य, अपने पूर्वकृत पुण्यों के उदय का प्रकर्ष मानता हूँ कि इस ग्रन्थलेखन के निमित्त से मुझ जैसे नगण्य श्रावक को वर्तमान युग के परम-महिमावान्, परमवीतरागी, दिगम्बरमुनि, परमपूज्य आचार्य श्री विद्यासागर जी का इतना नैकट्य प्राप्त हुआ, उनके चरणों में कई दिनों तक कई-कई घंटे बैठने और चर्चा करने का दुर्लभ अवसर सुलभ हुआ, उनका प्रगाढ़ वात्सल्य, और आशीर्वाद प्राप्त करने की दीर्घ काललब्धि मेरे जीवन में आयी। यह मेरी वर्तमान मानवपर्याय की दुर्लभतम उपलब्धि है। इस हेतु मैं परमपूज्य आचार्य विद्यासागर जी के प्रति प्रगाढ़ श्रद्धा एवं भक्ति से नतमस्तक हूँ। उनके प्रति मैं अपनी असीम निष्ठा एवं कृतज्ञता ज्ञापित करता हूँ।

जैसा कि मैंने पूर्व में लिखा है, प्रत्येक वाचना में पूज्य मुनि श्री अभयसागर जी भी बैठते थे तथा कुण्डलपुर में पूज्य मुनि श्री प्रमाणसागर जी ने भी वाचना का श्रवण किया था। इन दोनों गुरुओं के परामर्शों ने भी ग्रन्थ को निर्दोष और गुणवन्त बनाने में महत्त्वपूर्ण योगदान किया है। इनके अतिरिक्त भोपाल में मुझे पूज्य मुनि श्री नमिसागर जी के सम्पर्क में आने का अवसर प्राप्त हुआ। युवा होते हुए भी उनका अध्ययन और चिन्तन-मनन देखकर मैं उनसे बहुत प्रभावित हुआ। उन्होंने मेरे ग्रन्थ के कतिपय अंशों को सुना, तो उन्हें एक-दो त्रुटियों का अनुभव हुआ। दो-तीन वर्षों बाद जब वे कर्नाटक में विहार कर रहे थे, तो वहाँ से उन्होंने सन्देश द्वारा उन त्रुटियों की ओर मेरा ध्यान आकृष्ट किया, और प्रमाण भिजवाये। प्रमाणों को देखकर मुझे अपनी त्रुटियों का बोध हुआ और मैंने उनका तुरन्त परिहार किया। इस प्रकार मुनि श्री नमिसागर जी की कृपा से भी मेरे ग्रन्थ की त्रुटियों का परिहार हुआ है। एतदर्थ इस मुनित्रयी के प्रति मैं अपनी भक्ति एवं आभार की अभिव्यक्ति करता हूँ।

जब ग्रन्थ लिखा जा चुका था और लिपिसंशोधन चल रहा था, तब अचानक डॉ० एम० डी० वसन्तराज द्वारा लिखित पुस्तक गुरुपरम्परा से प्राप्त दिगम्बर जैन आगम :

एक इतिहास हस्तगत हुई। उसे पढ़ते समय मेरी दृष्टि इस बात पर गई कि उन्होंने भी भगवती-आराधना के यापनीयग्रन्थ होने की मान्यता को गलत बतलाया है। इससे मेरे मत की पुष्टि होती है, अतः मैंने डॉ० वसन्तराज जी के वचन भी उक्त प्रकरण में उद्धृत किये हैं। मैं उनका भी आभारी हूँ।

श्री माइल्ल धवल ने जिनागम को जानने के लिए प्रमाण और नयों को नेत्रयुगल की उपमा दी है। मेरे विचार से प्राकृत और संस्कृत भी जिनागम के अधिगम के लिए नेत्रयुगल हैं। मैं धन्य हूँ कि मेरे पूज्य पिता पं० बालचन्द्र जी जैन प्रतिष्ठाचार्य एवं पूजनीया माता अमोलप्रभा जी जैन ने मुझे ये दोनों नेत्र उपलब्ध कराये हैं। इस हेतु उन्होंने मुझे घर में ही प्राथमिक शिक्षा देकर सीधे पूज्य गणेशप्रसाद जी वर्णी द्वारा स्थापित दिगम्बर जैन संस्कृत महाविद्यालय सागर (म.प्र.) में प्रवेश दिलाया, जहाँ मुझे अत्यन्त श्रेष्ठ गुरुओं से प्राकृत, संस्कृत और जैनधर्म की शिक्षा प्राप्त हुई, और ऐसा जीवनदर्शन मिला, जिसने मेरी प्रवृत्ति को साहित्य-मन्थन कर सत्य के अन्वेषण की ओर उन्मुख कर दिया। इन संस्कृत-प्राकृतरूपी नेत्रों ने ही मुझे परमपूज्य आचार्य श्री विद्यासागर जी जैसे महान् सन्त के द्वारा प्रस्तुत ग्रन्थ-लेखन का कार्य सौंपे जाने योग्य बनाया है, जिससे मैं बहुत सम्मानित हुआ हूँ। इस अहोभाग्य के योग्य बनाने में मेरे पूज्य पिता जी एवं पूजनीया माता जी की ही पुण्यप्रेरित दूरदृष्टि का हाथ है। अतः मैं उनके प्रति अपनी अपार कृतज्ञता और भक्ति निवेदित करता हूँ।

मेरी पूजनीया बड़ी बहनों—स्व० श्रीमती शान्ति जैन एवं स्व० श्रीमती कंचन जैन, पूज्य बड़े भाई पं० कोमलचन्द्र जी जैन एवं प्रिय अनुजद्वय श्री शीलचन्द्र तथा श्री शिखरचन्द्र ने भी मेरे उन्नतिपथ को प्रशस्त करने का विभिन्न प्रकार से यत्न किया है। प्रिय अनुज शीलचन्द्र ने तो अन्य अनेक प्रकार से भी ग्रन्थलेखन में सहयोग किया है। उन्होंने कतिपय ग्रन्थों से आवश्यक सन्दर्भ ढूँढ़कर प्रस्तुत किये, लिपिसंशोधन किया, 'अन्तस्तत्त्व' तैयार किया तथा शब्दसूची भी निर्मित की। इस तरह मेरे कार्यभार को काफी हलका कर दिया। एतदर्थ मैं अपने बड़ों को प्रणाम करता हूँ और छोटों को आशीर्वाद देता हूँ।

मेरी सरलहृदया, धैर्यधना, धर्मानुरागिणी, धर्मपत्नी श्रीमती चमेलीदेवी जैन ने इस ग्रन्थ के लेखन में महान् सहयोग किया है। मेरे परिश्रम को देखते हुए उन्होंने मुझे स्वस्थ रखने का अधिक से अधिक ध्यान रखा है। मेरी व्यस्तता का ख्याल कर आहार-जल, औषधि आदि को समय पर ग्रहण कराने का उत्तरदायित्व उन्होंने स्वयं सँभाला है। इसके अतिरिक्त मेरे साथ बैठकर विभिन्न ग्रन्थों से आवश्यक पाठ ढूँढ़कर मुझे बताने का कार्य भी वे करती रही हैं। सम्पूर्ण ग्रन्थ की बची-खुची लिपिगत

त्रुटियों का अन्वेषण भी उन्होंने ही किया है। पुस्तकालय और अध्ययनकक्ष को व्यवस्थित करना उनका ही दैनिक कार्य है। इस तरह ग्रन्थलेखन में उन्होंने मेरा बहुत हाथ बँटाया है। अग्रजतुल्य प्रो० राजाराम जी ने प्रसिद्ध नैयायिक वाचस्पति मिश्र की पत्नी भामती से उनकी तुलना की है, इसे मैं स्वीकार करता हूँ। जिनशासन के अवर्णवाद के प्रतिकार में सहभागिनी बनकर मेरी धर्मपत्नी ने जो धर्म अर्जित किया है, उससे वह स्त्रीपर्याय से छुटकारा पा लेंगी, ऐसा मेरा विश्वास है।

मेरे बड़े पुत्र-पुत्रवधू चिरंजीव अनिमेष और सौ० संगीता तथा छोटे पुत्र-पुत्रवधू चि० अनुपम एवं सौ० अर्चना ग्रन्थ के शीघ्र समापन और प्रकाशन के लिए बहुत उत्सुक थे। इस हेतु उन्होंने मेरे अध्ययन और लेखन को अधिकाधिक निर्बाध एवं सुविधामय बनाने के लिए हर सम्भव प्रयत्न किया है। उन्होंने मेरे लिए आधुनिक सुविधाओं से सम्पन्न एक अध्ययनकक्ष बनवाया, जिसमें बैठकर मैं व्यवस्थितरूप से अध्ययन-लेखन कर सका हूँ, जिससे मेरे समय और श्रम की काफी बचत हुई है, स्वास्थ्य भी अनुकूल बना रहा। लेखनसामग्री भी वे समय से पहले ही उपस्थित करते रहे हैं। बड़े पुत्र चि० अनिमेष ने दिल्ली से अनेक आवश्यक ग्रन्थ खरीदकर भेजने का भी काम किया है। इस तरह पुत्रों और पुत्र वधुओं ने भी जिनशासन के अवर्णवाद के प्रतिकार में हाथ बँटाकर पुण्य अर्जित किया है, जो निश्चय ही उनके अभ्युदय और निःश्रेयस् का हेतु बनेगा। उनके लिए मेरे हृदय में अगणित आशीर्वाद फल-फूल रहे हैं।

श्री पार्श्वनाथ विद्यापीठ वाराणसी में रहकर मैंने कई दिनों तक ग्रन्थों का अध्ययन किया है। वहाँ के अधिकारियों और कर्मचारियों ने मेरे साथ अत्यन्त सौहार्दपूर्ण व्यवहार किया, मुझे आवास और आहार की अनुकूल व्यवस्था उपलब्ध करायी। वहाँ के व्याख्याता डॉ० श्रीप्रकाश जी पाण्डेय एवं पुस्तकालय प्रभारी श्री विजयकुमार जी, श्री ओमप्रकाश जी एवं श्री राकेश जी ने भी बड़े आदरपूर्वक मुझे ग्रन्थ उपलब्ध कराये तथा आवश्यक अंशों की छायाप्रतिलिपि करके दी। इस सौजन्य के लिए मैं उक्त विद्यापीठ एवं इन सब बन्धुओं के प्रति आभार प्रकट करता हूँ।

भोपालवासी श्री अशोककुमार जी जैन वनक्षेत्रपाल तथा मेरे सम्बन्धी श्री पद्मचन्द्रजी जैन ने भी लिपि संशोधन में मेरी सहायता की है। श्री विकास गोधा ने ग्रन्थ के आवरणपृष्ठगत शिल्प एवं ग्रन्थमुद्रण-सम्बन्धी अनेक उपयोगी सुझाव दिये हैं। मैं इन सब सज्जनों का कृतज्ञ हूँ। मेरे मित्र इंजीनियर श्री धरमचन्द्र जी वाझल्य समय-समय पर एक्युप्रेसरचिकित्सा द्वारा मुझे नीरोग बनाते हुए ग्रन्थलेखन में मेरा सहयोग करते रहे हैं। मैं उनके प्रति भी आभार व्यक्त करता हूँ।

इस ग्रन्थ का प्रकाशन माननीय श्री अशोक जी पाटनी, आर० के० मार्बल्स, किशनगढ़ (राज०) के उदार आर्थिक सहयोग से सर्वोदय जैन विद्यापीठ, आगरा (उ.प्र.) ने किया है। इस हेतु श्री पाटनी जी एवं विद्यापीठ के न्यासीगण साधुवाद के पात्र हैं। परमपूज्य आचार्य श्री विद्यासागर जी के आशीर्वाद से लिखा गया यह ग्रन्थ इस संस्था से प्रकाशित होनेवाली प्रथम कृति है। यह विद्यापीठ का सौभाग्य है। आशा है प्रस्तुत ग्रन्थ का प्रकाशन विद्यापीठ की कीर्ति में चार चाँद लगायेगा।

ग्रन्थ का लिप्यङ्कन (कम्पोजिंग) श्री श्रीपाल जी 'दिवा', भोपाल के समता प्रेस में श्री कैलाशचन्द्र राजपूत के द्वारा यत्नपूर्वक, उत्तमरीति से किया गया है। मैं इन दोनों बन्धुओं का भी हृदय से धन्यवाद करता हूँ।

ग्रन्थ के आवरण पृष्ठ की रूपरेखाएँ श्री संजय जैन 'मैक्स' इन्दौर एवं जयपुर प्रिंटर्स जयपुर के स्वामी श्री प्रमोदकुमार जैन ने निर्मित कराकर विचार हेतु उपलब्ध करायीं, तथा हड़प्पा-जिनप्रतिमा के चित्र की उपलब्धि श्री अजितप्रसाद जैन एवं श्री जे० के० जैन दिल्ली के द्वारा तथा लोहानीपुर-जिनप्रतिमा के चित्र की प्राप्ति श्री रतनलाल जी पटना (बिहार) के प्रयत्न से हुई है। इन मित्रों के प्रति आभार प्रकट करता हूँ। श्री राजेश जैन, राजकुमार स्टूडियो, गंजीपुरा, जबलपुर ने प० पू० आचार्य श्री विद्यासागर जी का भव्य छायाचित्र ग्रन्थ में प्रकाशनार्थ उपलब्ध कराया, इस हेतु मैं उनका भी आभारी हूँ।

ग्रन्थ का मुद्रण दीप प्रिण्टर्स नयी दिल्ली के स्वामी श्री मनोहरलाल जी जैन ने बड़ी रुचि और निष्ठा से किया है। उन्होंने लिप्यङ्कन-पद्धति के कई दोषों का परिमार्जन भी किया है। आवरणपृष्ठ को अन्तिम रूप भी उनके ही द्वारा दिया गया है। इस मनोहर कार्य के लिए मैं उनके प्रति भी आभार प्रकट करता हूँ।

मैं सन् १९९८ से 'मेरे तो गिरधर गोपाल, दूसरा न कोई' की भावना से ग्रन्थलेखन में जुटा रहा हूँ। इन दस वर्षों में मैंने सिर भी ऊपर नहीं उठाया। नौद उतनी ही ली है, जितनी स्वस्थ रहने के लिए जरूरी थी। कभी-कभी उसमें भी कटौती कर दी। मित्रों और सम्बन्धियों से नाता-सा टूट गया। विद्वत्संगोष्ठियों में प्रायः जाना बन्द कर दिया। इसी बीच पूज्य गुरुवर आचार्य श्री विद्यासागर जी एवं अन्य गुरुओं और मित्रों की कृपा से जिनभाषित (मासिक) के सम्पादन का उत्तरदायित्व भी इन कन्धों पर आ गया, जिसके प्रथम अंक का लोकार्पण दि० जैन सिद्धक्षेत्र कुण्डलपुर (दमोह, म.प्र.) में बड़े बाबा भगवान् ऋषभदेव की १५०० वर्ष प्राचीन प्रतिमा के प्रथम महामस्तकाभिषेक एवं पंचकल्याणक-गजरथ महोत्सव के ऐतिहासिक अवसर पर परमपूज्य आचार्य श्री विद्यासागर जी एवं उनके विशाल श्रीसंघ की मंगल सन्निधि एवं शुभाशीर्वाद

की छायातले दि० २६ फरवरी २००१ को हुआ था। फिर परमपूज्य आचार्यश्री ने दो चातुर्मासों (सन् २००२ एवं २००३) में प्रतिभामण्डल की ब्रह्मचारिणी बहनों को सर्वार्थसिद्धि एवं स्नातकोत्तर स्तर के संस्कृत-अध्यापन का पुण्यास्पद एवं सुखद कार्य भी सौंप दिया। इन नवीन उत्तरदायित्वों ने ग्रन्थलेखन के लिए उपलब्ध काल का बँटवारा कर लिया, जिससे उसका (काल का) तन दुबला हो गया और उसकी गति द्रुत से विलम्बित हो गयी। इससे ग्रन्थ के पूर्ण होने में अधिक समय लग गया।

इस ग्रन्थ में मैंने दिगम्बरजैन, श्वेताम्बरजैन, वैदिक (हिन्दू) एवं बौद्ध साहित्यों, संस्कृत साहित्य के गद्य-पद्य-नाट्य काव्यों, अभिलेखों (शिलालेखों-ताम्रपत्रलेखों) तथा पुरातत्त्व (प्राचीन जिनप्रतिमाओं) से प्रमाण देकर यह सिद्ध किया है कि ऐतिहासिक दृष्टि से दिगम्बरजैन-परम्परा उतनी ही प्राचीन है जितनी सिन्धुसभ्यता, अर्थात् ईसा से लगभग २४०० वर्ष पुरानी, तथा कसायपाहुड, षट्खण्डागम, भगवती-आराधना, मूलाचार, तत्त्वार्थसूत्र आदि जिन ग्रन्थों को यापनीय-परम्परा या श्वेताम्बर-परम्परा का सिद्ध करने की चेष्टा की गई है, वे सब दिगम्बर आचार्यों के द्वारा ही रचे गये हैं। **जैनपरम्परा और यापनीयसंघ** नामक इस ग्रन्थ में २५ अध्याय हैं, जिनमें कतिपय अध्याय बहुत बड़े हैं। साथ में ग्रन्थकथा, ग्रन्थसार, अन्तस्तत्त्व (विषयवर्णनक्रम), संकेताक्षर-विवरण, प्रयुक्त ग्रन्थों की सूची तथा शब्दविशेष-सूची भी संलग्न हैं। अतएव विशाल होने के कारण इसे तीन खण्डों में प्रकाशित किया गया है।

ग्रन्थ-अनुक्रम

यद्यपि षट्खण्डागम (ईसापूर्व प्रथम शती-पूर्वार्ध) की रचना कसायपाहुड (ईसापूर्व द्वितीय शती-उत्तरार्ध) के बाद हुई है, तथापि उसमें प्रसंगवश कुछ ऐसे महत्त्वपूर्ण विषयों की चर्चा की गई है, जिनकी जानकारी अन्य विवेच्य ग्रन्थों के विषय को समझने के लिए भी पाठकों को प्राथमिकरूप से आवश्यक है। इसलिए षट्खण्डागम का क्रम कसायपाहुड से पहले रखा गया है। इसी प्रकार भगवती-आराधना और उसकी विजयोदया-टीका के कर्ता अपराजितसूरि का परस्पर सम्बन्ध होने से अपराजितसूरि से सम्बन्धित अध्याय भगवती-आराधना के पश्चात् रखा गया है।

पादटिप्पणपद्धति

प्रत्येक अध्याय में पादटिप्पणियों की संख्या स्वतन्त्ररूप से अर्थात् १ से आरंभ कर अध्याय के अन्त तक क्रमशः दी गयी है। यदि कोई टिप्पणी बड़ी होने के कारण उसी पृष्ठ पर समाप्त नहीं हो सकी, तो उसका शेषांश अगले पृष्ठ पर रखा गया है। इसी प्रकार किसी पादटिप्पणी का सूत्रकांक पूर्व पृष्ठ की अन्तिम पंक्ति या उससे पहले की पंक्ति पर आया है, जिसके कारण पादटिप्पणी का उसी पृष्ठ

पर रखा जाना संभव नहीं हुआ, वह पादटिप्पणी उत्तर पृष्ठ पर रखी गयी है। इसके अतिरिक्त यदि किसी पृष्ठ पर एक ही ग्रन्थ के एक ही पृष्ठ की एक से अधिक पादटिप्पणियाँ हैं, तो उन सब पर एक ही (समान) पादटिप्पणी-संख्या दी गयी है। सम्पूर्ण ग्रन्थ का दो-तीन बार कम्प्यूटर-मुद्रण हो जाने के बाद किसी-किसी अध्याय में क्वचित् नयी पादटिप्पणियाँ जोड़ने की आवश्यकता पड़ी है, वहाँ आगे की क्रमांक-व्यवस्था को भंग न करते हुए पूर्वटिप्पणी-क्रमांक के ही उपभेद कर नये टिप्पणी-क्रमांक बना दिये गये हैं, जैसे पूर्वटिप्पणी-क्रमांक यदि ९ है, तो नये टिप्पणी-क्रमांक ९.१, ९.२, ९.३ इत्यादि बनाये गये हैं।

उपसंहार

दस वर्षों तक लगातार ग्रन्थ लिखते रहने और लगभग २६०० पृष्ठों का पाँच-पाँच, छह-छह बार, कुछ अध्यायों का तो दस-दस बार लिपिसंशोधन करते रहने तथा बीच-बीच में कतिपय पुराने अंशों को हटाने और नये अंशों को जोड़ते रहने के व्यायाम से श्रम तो बहुत हुआ, लेकिन श्रान्ति नहीं हुई। जिनशासन के अवर्णवाद के प्रतीकार में डूबा त्रियोग मेरे लिए धर्मध्यान बन गया और उससे जो आनन्द की अनुभूति हुई, उसने मेरे स्वास्थ्य के लिए औषध का काम किया। इसके अतिरिक्त पाण्डुलिपि का वाचन सुनते समय परमपूज्य आचार्य श्री विद्यासागर जी एवं पूज्य मुनि श्री अभयसागर जी ने जिस परमसन्तोष की अभिव्यक्ति की, उसने रसायन बनकर मेरे तन-मन में अपूर्व बल और स्फूर्ति का संचार किया। इस प्रकार प्रस्तुत ग्रन्थ का लेखन मेरे लिए दैहिक और आध्यात्मिक दोनों दृष्टियों से लाभप्रद सिद्ध हुआ है। यह सुनकर आश्चर्य होगा कि ग्रन्थलेखन की इस दस वर्ष की अवधि में शरीर के किसी भी अंग में एक क्षण के लिए भी पीड़ा की अनुभूति नहीं हुयी। ग्रन्थ अपने उद्देश्य में कहाँ तक सफल रहा है, इसका निर्णय जैन साहित्य और इतिहास के मर्मज्ञ मनीषियों की दृष्टि करेगी। जो दोष दृष्टि में लाये जायेंगे, उनका निराकरण आगामी संस्करण में करने का प्रयास करूँगा।

ए/२, शाहपुरा

भोपाल—४६२०३९, म. प्र.

वीरशासन-जयन्ती

श्रावणकृष्णा १, वि. सं. २०६६

दिनांक ०८. ०७. २००९

गुरुचरण-चञ्चरीक

रतनचन्द्र जैन

ग्रन्थसार

जैसा कि पूर्व में ज्ञापित किया गया है, मान्य श्वेताम्बर मुनियों एवं विद्वानों ने यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि "दिगम्बरजैनमत तीर्थंकर प्रणीत नहीं है, अपितु छद्मस्थप्रणीत है। वह बहुत प्राचीन भी नहीं है, श्वेताम्बरमत की अपेक्षा बहुत बाद का है। दिगम्बरपरम्परा में बहुमान्य आचार्य कुन्दकुन्द भी बहुत पुराने नहीं है, वे विक्रम की छठी शताब्दी में हुए थे और दिगम्बरजैन-सम्प्रदाय जिन धर्मग्रन्थों को अपना मानता है, उनमें से षट्खण्डागम आदि १८ प्रमुख ग्रन्थ उसके नहीं है, अपितु तत्त्वार्थसूत्र एवं सन्मतिसूत्र श्वेताम्बराचार्यों द्वारा रचित हैं, शेष १६ यापनीय-आचार्यों की कृतियाँ हैं। कसायपाहुड को श्वेताम्बरमुनि श्री हेमचन्द्र विजय जी ने श्वेताम्बरग्रन्थ बतलाया है, जब कि डॉ० सागरमल जी जैन ने यापनीयग्रन्थ। इसी प्रकार तत्त्वार्थसूत्र के विषय में डॉ० सागरमल जी का मत है कि वह न श्वेताम्बरग्रन्थ है, न यापनीयग्रन्थ, बल्कि इन दोनों की मातृपरम्परा में अर्थात् उत्तरभारतीय-सचेलाचेल-निर्ग्रन्थ-परम्परा में निर्मित हुआ है।"

मान्य श्वेताम्बर मुनियों और विद्वानों के ये सभी मत प्रमाणसिद्ध नहीं है, अत एव काल्पनिक हैं और इन्हें सत्य सिद्ध करने के लिए उन्होंने जो तर्क या हेतु प्रस्तुत किये हैं, वे भी सभी काल्पनिक हैं। इस प्रकार उपर्युक्त साध्यभूत काल्पनिक मतों का साधक उनका तर्कप्रासाद काल्पनिक सामग्री से निर्मित है। आकाशकुसुम को सत्य सिद्ध करनेवाली हेतुसामग्री भी आकाशकुसुमवत् काल्पनिक ही हो सकती है।

प्रस्तुत ग्रन्थ में मैंने इन समस्त काल्पनिक हेतुओं की कपोलकल्पितता का प्रमाणों और युक्तियों के द्वारा उद्घाटन कर सिद्ध किया है कि दिगम्बरजैनमत तीर्थंकरप्रणीत है और उतना ही प्राचीन है, जितनी प्राचीन तीर्थंकर-परम्परा है। वैदिकपरम्परा के महाकाव्य एवं इतिहासग्रन्थ 'महाभारत' (५००-१०० ई० पू०) के अनुसार वह द्वापरयुगीन (आज से लगभग ८,६४,००० वर्ष पुराना), विष्णुपुराण के अनुसार प्रथम-स्वायंभुव-मन्वन्तर-कालीन (आज से लगभग ढाई करोड़ वर्ष प्राचीन) और ऐतिहासिक दृष्टि से सिन्धुसभ्यता-जितना (ईसापूर्व २५०० वर्ष) प्राचीन है। वह ऋग्वेद, गौतमबुद्ध और ईसा से पूर्ववर्ती है। आचार्य कुन्दकुन्द भी ईसापूर्व प्रथम शताब्दी के उत्तरार्ध में उत्पन्न हुए थे और ईसोत्तर प्रथम शताब्दी के पूर्वार्ध तक विद्यमान रहे। तथा षट्खण्डागम

आदि अठारह धर्मग्रन्थ, जिन्हें श्वेताम्बर मुनियों एवं विद्वानों ने श्वेताम्बर और यापनीय आचार्यों द्वारा प्रणीत बतलाया है, वे सब दिगम्बरजैन आचार्यों की कृतियाँ हैं। मैंने ग्रन्थ को तीन खण्डों और पच्चीस अध्यायों में विभाजित किया है। उनमें अपने शोधोद्भूत निष्कर्षों का प्रस्तुतीकरण इस प्रकार किया है—

प्रथम खण्ड

दिगम्बर, श्वेताम्बर, यापनीय संघों का इतिहास

अध्याय १—काल्पनिक सामग्री से निर्मित तर्कप्रासाद

इस अध्याय में उन कपोलकल्पनाओं का वर्णन किया गया है, जिनकी सृष्टि मान्य श्वेताम्बर मुनियों एवं विद्वानों ने अपने पूर्वोक्त काल्पनिक मतों को सिद्ध करने के लिए हेतुरूप में की है। वे इस प्रकार हैं—

१. तीर्थंकरों के सवस्त्र-तीर्थोपदेशक होने की कल्पना। २. बोटिक शिवभूति के दिगम्बरमत-प्रवर्तक होने की कल्पना। ३. बोटिक शिवभूति के यापनीयमत-प्रवर्तक होने की कल्पना। ४. कुन्दकुन्द के दिगम्बरमत-प्रवर्तक होने की कल्पना। ५. कुन्दकुन्द के प्रथमतः यापनीय होने की कल्पना। ६. कुन्दकुन्द के प्रथमतः भट्टारक होने की कल्पना। ७. उत्तरभारतीय सचेलाचेल निर्ग्रन्थसंघ की कल्पना। ८. सचेलाचेल निर्ग्रन्थसंघ के विभाजन से श्वेताम्बर-यापनीय सम्प्रदायों के उद्भव की कल्पना। ९. अचेल एवं सचेल जिनकल्पों के व्युच्छेद की कल्पना। १०. सामान्यपुरुषों के लिए तीर्थंकरलिंग-ग्रहण के निषेध की कल्पना। ११. अचेलत्व के मुख्य और औपचारिक भेदों की कल्पना। १२. सग्रन्थ में निर्ग्रन्थ की कल्पना। १३. मूलसंघ के यापनीयसंघ का पूर्वनाम होने की कल्पना। १४. कुन्दकुन्द-साहित्य में दार्शनिक विकास की कल्पना। १५. शिवमार में शिवकुमार की कल्पना। १६. अनेक दिगम्बरग्रन्थों के यापनीयग्रन्थ होने की कल्पना। १७. गुणस्थानसिद्धान्त के विकास की कल्पना। १८. सप्तभंगी के विकास की कल्पना। १९. यापनीयों द्वारा अर्धमागधी-आगमों के शौरसेनीकरण की कल्पना। २०. दिगम्बरग्रन्थों में यापनीयमत-विरुद्ध कथनों के प्रक्षेप की कल्पना। २१. स्वाभीष्ट कल्पित-शब्दादि का आरोपण।

यहाँ क्रमांक १६ पर जिन दिगम्बरग्रन्थों के यापनीयग्रन्थ होने की कल्पना का उल्लेख किया गया है, उनके नाम इस प्रकार हैं—१. कसायपाहुड, २. कसायपाहुड-चूर्णिसूत्र, ३. षट्खण्डागम, ४. भगवती-आराधना, ५. भगवती-आराधना की विजयोदया टीका, ६. मूलाचार, ७. तिलोयपण्णत्ती, ८. रविषेणकृत पद्मपुराण, ९. वराङ्गचरित, १०. हरिवंशपुराण, ११. स्वयम्भूकृत पउमचरित, १२. बृहत्कथाकोश, १३. छेदपिण्ड, १४. छेदशास्त्र, १५. प्रतिक्रमण-ग्रन्थत्रयी, १६. बृहत्प्रभाचन्द्रकृत तत्त्वार्थसूत्र।

१. गृध्रपिच्छाचार्यकृत दिगम्बरग्रन्थ तत्त्वार्थसूत्र को, जिसे पं० नाथूराम जी प्रेमी ने यापनीयग्रन्थ माना है और श्वेताम्बर-परम्परा श्वेताम्बरग्रन्थ मानती है, उसे डॉ० सागरमल जी ने उत्तरभारतीय-सचेलाचेल-निर्ग्रन्थपरम्परा अर्थात् श्वेताम्बर-यापनीय-मातृपरम्परा का ग्रन्थ घोषित किया है। २. आचार्य सिद्धसेनकृत सन्मत्तिसूत्र भी दिगम्बरग्रन्थ है। उसे श्वेताम्बर अपनी परम्परा का ग्रन्थ मानते हैं, किन्तु डॉ० सागरमल जी ने उसे भी उत्तरभारतीय-सचेलाचेल-निर्ग्रन्थपरम्परा में रचित बतलाया है। इसके विपरीत डॉ० ए० एन० उपाध्ये और उनका अनुसरण करनेवाली श्रीमती डॉ० कुसुम पटोरिया ने उसकी यापनीयग्रन्थ के रूप में पहचान की है।

इस प्रकार १६ दिगम्बर ग्रन्थों को यापनीय परम्परा का और २ ग्रन्थों को यापनीय-परम्परा का भी, श्वेताम्बरपरम्परा का भी तथा श्वेताम्बरों और यापनीयों की कपोलकल्पित मातृ-परम्परा का भी बतलाया गया है। श्वेताम्बरमुनि श्री हेमचन्द्रविजय जी ने कसायपाहुड और उसके चूर्णिसूत्रों को श्वेताम्बरग्रन्थ सिद्ध करने का प्रयत्न किया है।

अध्याय २—काल्पनिक हेतुओं की कपोलकल्पितता का उद्घाटन

प्रथम-अध्यायोक्त काल्पनिक हेतुओं में से १९वें और २०वें हेतुओं की कपोल-कल्पितता का उद्घाटन वहीं पर कर दिया गया है। छठे हेतु की कपोलकल्पितता का उद्घाटन आठवें अध्याय में, ११वें हेतु की कपोलकल्पितता का तीसरे अध्याय में, १३वें हेतु की कपोलकल्पितता का सातवें अध्याय में और १४, १५, १७ एवं १८ क्रमांकगत हेतुओं की कपोलकल्पितता का उद्घाटन दसवें अध्याय में किया गया है। १६वें और २१वें हेतुओं की कपोलकल्पितता ११वें अध्याय से लेकर २५वें अध्याय तक पन्द्रह अध्यायों में उद्घाटित की गयी है। इस द्वितीय अध्याय में क्रमांक १ से लेकर १० तक के एवं क्रमांक १२ के हेतुओं की कपोलकल्पितता का अनावरण किया गया है, जो इस प्रकार है—

१. श्री जिनभद्रगणी क्षमाश्रमण (७वीं शती ई०) ने विशेषावश्यकभाष्य में घोषणा की है कि तीर्थकरों ने निर्वस्त्रतीर्थ (दिगम्बरवेश से मुक्ति होने) का नहीं, अपितु सवस्त्रतीर्थ (सवस्त्रवेश से मुक्ति होने) का उपदेश दिया है। इस हेतु के द्वारा उन्होंने यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि यतः दिगम्बरमत निर्वस्त्रतीर्थ का समर्थक है, अतः वह तीर्थकरप्रणीत नहीं है, अपितु तीर्थकरोपदेश से विपरीत मत का प्रतिपादक होने से निह्ववमत (मिथ्यामत) है। किन्तु निम्नलिखित प्रमाणों से सिद्ध होता है कि यह हेतु प्रमाणसिद्ध नहीं है, अतः कपोलकल्पित है—

क—श्वेताम्बरग्रन्थ उत्तराध्ययनसूत्र (२३/२९) में कहा गया है कि भगवान् महावीर ने अचेलकधर्म का उपदेश दिया था और भगवान् पार्श्वनाथ ने अचेल-सचेल दोनों

धर्मों का। श्री हरिभद्रसूरि ने भी 'पञ्चाशक' (श्लोक १२) में प्ररूपित किया है कि तीर्थंकर ऋषभदेव और महावीर दोनों का धर्म अचेलक था। इन प्रमाणों से श्री जिनभद्रगणी की उपर्युक्त घोषणा अप्रामाणिक अर्थात् स्वकल्पित सिद्ध हो जाती है। (अध्याय २/ प्र.१)।

ख—हड़प्पा से प्राप्त सिन्धुसभ्यतायुगीन (ई० पू० २४०० वर्ष प्राचीन) जिनप्रतिमा और लोहानीपुर (पटना, बिहार) में उपलब्ध वैसी ही ३०० वर्ष ई० पू० की तीर्थंकरमूर्ति सर्वथा नग्न हैं। मथुरा के कंकालीटीका में मिली कुषाणकालीन (प्रथम शती ई० की) जिनप्रतिमाएँ भी पूर्णतः नग्न (किसी भी प्रकार के वस्त्र से रहित) हैं। यह भी इस बात का प्रमाण है कि तीर्थंकरों ने सवस्त्रतीर्थ का नहीं, अपितु निर्वस्त्रतीर्थ का उपदेश दिया था। अतः जिनभद्रगणी जी का कथन स्वकल्पित है। (अध्याय २/ प्र.१)।

ग—ऋग्वेद (१५०० ई० पू०) में वातरशन (वायुरूपी वस्त्रधारी अर्थात् नग्न) मुनियों एवं शिश्नदेवों (नग्नदेवों) के नाम से निर्ग्रन्थ मुनियों का वर्णन है। सम्पूर्ण बौद्ध साहित्य में, चाहे वह ईसापूर्वकालीन हो या ईसोत्तरकालीन, निर्ग्रन्थ-सम्प्रदाय के साधुओं को नग्नवेशधारी बतलाया गया है। 'महाभारत' (ई० पू० ५००-ई० पू० १००) में निर्ग्रन्थ साधुओं को 'नग्नक्षपणक' शब्द से अभिहित किया गया है। वैदिक पुराणों में 'निर्ग्रन्थ' और 'दिगम्बर' शब्द नग्न जैन मुनियों के लिए प्रयुक्त हुए हैं। सम्पूर्ण संस्कृत साहित्य में जहाँ भी 'क्षपणक', 'निर्ग्रन्थ' आदि शब्दों से जैन मुनियों का उल्लेख हुआ है, उन्हें नग्नवेष में ही चित्रित किया गया है। ये प्रमाण भी सिद्ध करते हैं कि श्री जिनभद्रगणी जी की उपर्युक्त घोषणा मनःकल्पित है। (अध्याय २/ प्र.१)।

२. छठी-सातवीं शती ई० के श्वेताम्बराचार्यों ने दिगम्बरमत को 'बोटिकमत' शब्द से अभिहित करते हुए यह कथा गढ़ी है कि दिगम्बरमत का प्रवर्तन वीरनिर्वाण सं० ६०९ (ई० सन् ८२) में बोटिक शिवभूति नाम के एक मौजमस्ती करते हुए नगर में घूमने-फिरनेवाले राजसेवक ने श्वेताम्बरसाधु बनने के बाद किया था। यह 'बोटिकमतोत्पत्तिकथा' आवश्यकनिर्युक्ति (छठी शती ई०), आवश्यकमूलभाष्य (छठी शती ई०), विशेषावश्यकभाष्य (७वीं शती ई०), प्रवचनपरीक्षा (१६वीं शती ई०) आदि श्वेताम्बरग्रन्थों में मिलती है। इस मनगढ़न्त कथा के हेतु द्वारा श्वेताम्बरचार्यों ने यह सिद्ध करने की चेष्ट की है दिगम्बरजैनमत तीर्थंकरप्रणीत नहीं है, अपितु एक अत्यन्त साधारण छद्मस्थ पुरुष द्वारा चलाया गया है, तथा वह प्राचीन नहीं, बल्कि श्वेताम्बरमत के बहुत बाद पैदा हुआ है।

श्वेताम्बरमुनि श्री कल्याणविजय जी दिगम्बरजैनमत को इतना प्राचीन (प्रथम शताब्दी ई० का) भी सिद्ध नहीं होने देना चाहते थे, इसलिए उन्होंने अपने ग्रन्थ 'श्रमण

भगवान् महावीर' (ई० सन् १९४१) में यह कथा बुनी कि बोटिक शिवभूति ने दिगम्बरमत नहीं चलाया था, अपितु यापनीयमत चलाया था। दिगम्बरजैनमत की स्थापना दक्षिण भारत के आचार्य कुन्दकुन्द ने विक्रम की छठी शती में की थी। श्वेताम्बर विद्वान् पं० दलसुख मालवणिया एवं डॉ० सागरमल जी जैन ने इस मत का अनुसरण करते हुए इसे पुष्ट करने के लिए नये हेतुओं की कल्पना की है। इस कपोलकल्पना के द्वारा मुनि कल्याणविजय जी ने यह साबित करने की कोशिश की है कि दिगम्बरजैनमत बहुत पुराना नहीं है, बल्कि विक्रम की छठी शताब्दी में प्रचलित हुआ है। (अध्याय २/प्र.२/शी.३)।

उपर्युक्त दोनों हेतुओं की कपोलकल्पितता निम्नलिखित प्रमाणों से स्पष्ट हो जाती है—

क—बोटिकमतोत्पत्तिकथा से स्पष्ट है कि बोटिक शिवभूति ने कोई नया मत नहीं चलाया था, अपितु जिनेन्द्रप्रणीत मत को ही अंगीकार किया था। वह श्वेताम्बरसाधु बन गया था, किन्तु स्थविरकल्पी श्वेताम्बरसाधुओं का परिग्रही वेश उसे अच्छा नहीं लगा। इसीलिए जब उसके गुरु आर्यकृष्ण परिग्रहरहित अचेलक जिनकल्प का वर्णन करते हैं तब वह उनसे कहता है—

“स एव जिनकल्पः किं न क्रियते?— नन्वहमेव तं करोमि, परलोकार्थिना स एव निष्परिग्रहो जिनकल्पः कर्तव्यः। किं पुनरनेन कषायभयमूर्च्छादिदोषनिधिना परिग्रहानर्थेन? अत एव श्रुते निष्परिग्रहत्वमुक्तम्। अचेलकाश्च जिनेन्द्राः, अतोऽचेलतैव सुन्दरेति। --- गुरुणा --- प्रज्ञाप्यमानोऽपि--- न स्वाग्रहाद् निवृत्तौऽसौ, किन्तु चीवराणि परित्यज्य निर्गतः।” (हेमचन्द्रसूरि-वृत्ति / विशेषावश्यकभाष्य / गा.२५५१-५२)।

अनुवाद—“वही परिग्रहरहित अचेल जिनकल्प (साध्वाचार) अंगीकार क्यों नहीं किया जाता है? --- मैं उसे अंगीकार करूँगा। मोक्षार्थी को वही निष्परिग्रह जिनकल्प धारण करना चाहिए। यह परिग्रह तो कषाय, भय, मूर्च्छा आदि दोषों का कारण है। अतः इस अनर्थ के कारणभूत परिग्रह से क्या लाभ? इसीलिए श्रुत में परिग्रह के त्याग का उपदेश दिया गया है। जिनेन्द्र भी अचेलक थे, अतः अचेलता ही सुन्दर (हितकर) है। गुरु के द्वारा---समझाये जाने पर भी---उसने अपनी हठ नहीं छोड़ी और वस्त्र त्यागकर (दिगम्बरवेश धारण कर) चला गया।”

शिवभूति के इन वचनों से स्पष्ट है कि उसने श्रुत में (जिनेन्द्र द्वारा) उपदिष्ट और तीर्थंकरों द्वारा अंगीकृत अचेलकधर्म को ही अपनाया था, स्वयं किसी नये धर्म का प्रवर्तन नहीं किया था। अतः सिद्ध है कि 'आवश्यकनिर्युक्ति' आदि में जिसे बोटिकमत (दिगम्बरमत) कहा गया है, वह उतना ही प्राचीन है, जितना श्रुत या तीर्थंकरपरम्परा।

फलस्वरूप यह स्वतः सिद्ध हो जाता है कि दिगम्बरजैनमत को बोटिक शिवभूति द्वारा प्रवर्तित निह्वमत्त बतलाया जाना एक महान् कपोलकल्पना है। (अध्याय २/प्र.२/शी. ५, ६ एवं १०.५)।

ख—श्वेताम्बरग्रन्थों से बोटिकों और यापनीयों में महान् भेद सिद्ध होता है। विशेषावश्यकभाष्य और उसकी मलधारी-हेमचन्द्रसूरिकृत वृत्ति में बोटिकों को सिद्धान्तों (मत) की दृष्टि से भी भिन्न, वेश (लिंग) की दृष्टि से भी भिन्न और आचरण (चर्या) की दृष्टि से भी भिन्न कहकर सर्वविसंवादी (तीर्थंकरोपदेश से सर्वथा विपरीत मत रखनेवाला), मिथ्यादृष्टि कहा गया है—“भिन्नमयलिंगचरिया मिच्छद्विद्वि त्ति बोडियाऽभिमया।” (विशे. भा./गा. २६२०)। “--- देशविसंवादिनः सप्त निह्ववाः। --- सर्वविसंवादिनः--- अष्टमान् बोटिक निह्ववान्---।” (हेम. वृत्ति/पातनिका/विशे.भा./गा. २५५०)। किन्तु यापनीय सर्वविसंवादी तो क्या देशविसंवादी भी नहीं थे, क्योंकि वे सभी श्वेताम्बर आगमों को प्रमाण मानते थे और निर्वस्त्रमुक्ति के साथ सवस्त्रमुक्ति, स्त्रीमुक्ति, गृहस्थमुक्ति अन्यतीर्थकमुक्ति, केवलभुक्ति आदि समस्त श्वेताम्बरीय सिद्धान्तों के अनुगामी थे। श्वेताम्बराचार्य हरिभद्रसूरि (८वीं शताब्दी ई०) के समय में यापनीय भी विद्यमान थे, अतः वे बोटिकों (दिगम्बरों) और यापनीयों दोनों से सुपरिचित थे। उन्होंने दोनों को एक नहीं माना, अपितु उनमें महान् भेद प्रतिपादित किया है। उन्होंने बोटिकों को सर्वविसंवादी निह्वव (मिथ्यादृष्टि) कहा है—“भणिताश्च देशविसंवादिनो निह्ववाः, साम्प्रतमनेनैव प्रस्तावेन प्रभूतविसंवादिनो बोटिका भण्यन्ते।” (हरिभद्रीयवृत्ति/पातनिका/आवश्यकनिर्युक्ति/भा.१/आवश्यकमूलभाष्य/गा. १४५/पृ. २१५)। किन्तु यापनीय-मत को (हरिभद्रसूरि ने) प्रमाणरूप स्वीकार किया है। उन्होंने ललितविस्तरा में स्त्रीमुक्ति के समर्थन में यापनीयतन्त्र नाम के यापनीयग्रन्थ से एक उद्धरण प्रमाणरूप में प्रस्तुत किया है। यथा—“(स्त्रीमुक्तौ यापनीयतन्त्रप्रमाणम्) यथोक्तं यापनीयतन्त्रे ‘णो खलु इत्थी अजीवो---।’” (पृ. ४०१-४०२)।

जिस यापनीयसम्प्रदाय के ग्रन्थ को हरिभद्रसूरि प्रमाण मानते हों, उसे वे प्रभूतविसंवादी कैसे कह सकते हैं? उसे तो वे देशविसंवादी भी नहीं कह सकते, अन्यथा उस सम्प्रदाय का ग्रन्थ उनके लिए प्रमाणभूत नहीं हो सकता। हरिभद्रसूरि के अनुसार तीर्थंकरप्रवचन से संवाद रखने के कारण ही उन्होंने यापनीयसम्प्रदाय के ग्रन्थ को प्रमाणरूप में प्रस्तुत किया है। यह बोटिकमत के यापनीयमत न होने का अकाट्य प्रमाण है। इससे सिद्ध है कि मुनि कल्याणविजय जी आदि का बोटिक शिवभूति को यापनीयमत का प्रवर्तक कहना एक महान् कपोलकल्पना है। (अध्याय २)।

ग—यापनीयसंघ का प्राचीनतम उल्लेख पाँचवीं शती ई० (४७०-४९० ई०) के कदम्बवंशी राजा मृगेशवर्मा के हल्सी-ताम्रपत्र-लेख में हुआ है। इससे पूर्व किसी भी

ग्रन्थ या शिलालेख में यापनीयसंघ का नाम दृष्टिगोचर नहीं होता, जब कि निर्ग्रन्थ और श्वेतवस्त्र (श्वेतपट) सम्प्रदायों के नाम उपलब्ध होते हैं। इससे सिद्ध होता है कि यापनीयसम्प्रदाय की उत्पत्ति ईसा की पाँचवीं शती के प्रारंभ में हुई थी। (अध्याय ७/प्र.१/शी.१०)। डॉ० सागरमल जी भी यही मानते हैं। पं० नाथूराम जी प्रेमी ने तत्त्वार्थभाष्य को यापनीकृति माना है। इसका खण्डन करते हुए डॉक्टर सा० लिखते हैं—“भाष्य तो यापनीयपरम्परा के पूर्व का है। भाष्य तीसरी-चौथी शती का है और यापनीयसम्प्रदाय चौथी-पाँचवीं शती के पश्चात् ही कभी अस्तित्व में आया है।” (जै. ध. या. स. / पृ. ३५७)। बोटिक शिवभूति के अस्तित्वकाल और यापनीयमत के उत्पत्तिकाल में यह ३०० वर्ष का अन्तराल सिद्ध करता है कि शिवभूति को यापनीयमत का प्रवर्तक बतलाना कपोलकल्पना के अतिरिक्त कुछ नहीं है।

३. डॉ० सागरमल जी का कथन है कि “भगवान् महावीर ने सचेल और अचेल उभयविध धर्म का उपदेश दिया था, अतः उनकी अनुगामिनी उत्तरभारतीय निर्ग्रन्थपरम्परा सचेलाचेल थी। ईसा की पाँचवीं शताब्दी के आरंभ में उसके विभाजन से श्वेताम्बर और यापनीय सम्प्रदायों की उत्पत्ति हुई। अतः उत्तरभारतीय-सचेलाचेल-निर्ग्रन्थपरम्परा श्वेताम्बर और यापनीय संघों की मातृपरम्परा थी।” इस हेतु के द्वारा डॉक्टर सा ने यह सिद्ध करने का प्रयास किया है कि पूर्वोक्त (अध्याय १ में वर्णित) १८ दिगम्बरजैन ग्रन्थों में से जो ग्रन्थ ईसा की पाँचवीं शताब्दी में या उसके बाद रचा गया है, वह यापनीयपरम्परा का ग्रन्थ है और जिसकी रचना उसके पूर्व हुई है, वह उत्तरभारतीय-सचेलाचेल निर्ग्रन्थ-परम्परा का है, दिगम्बरपरम्परा का कोई भी नहीं है। (अध्याय २/प्र.३/शी.१, २)। इस आधार पर उन्होंने तत्त्वार्थसूत्र और सिद्धसेनकृत सन्मत्तिसूत्र को उत्तरभारतीय-सचेलाचेल निर्ग्रन्थ-परम्परा का ग्रन्थ घोषित किया है और शेष को यापनीयग्रन्थ। पहले उन्होंने कसायपाहुड, उसके चूर्णिसूत्रों और षट्खण्डागम को भी उत्तरभारतीय-सचेलाचेल निर्ग्रन्थ-परम्परा का ग्रन्थ बतलाया था, किन्तु बाद में उन्होंने इस कपोलकल्पना की सृष्टि की, कि तत्त्वार्थसूत्र में गुणस्थानसिद्धान्त उपलब्ध नहीं होता, जब कि कसायपाहुड, षट्खण्डागम, भगवती-आराधना, मूलाचार आदि में होता है, अतः गुणस्थानसिद्धान्त का क्रमशः विकास हुआ है। इस कारण कसायपाहुड आदि ग्रन्थ तत्त्वार्थसूत्र (उनके अनुसार तीसरी-चौथी शती ई०) के बाद रचे गये हैं। इस कपोलकल्पना के आधार पर डॉ० सागरमल जी ने कसायपाहुड, उसके चूर्णिसूत्रों तथा षट्खण्डागम को यापनीयपरम्परा का ग्रन्थ मान लिया। (अध्याय १०/प्र.५/शी.१)। किन्तु उत्तरभारतीय-सचेलाचेल-निर्ग्रन्थपरम्परा का कभी अस्तित्व ही नहीं था, यह डॉ० सागरमल जी द्वारा कपोलकल्पित है। यह निम्नलिखित प्रमाणों से सिद्ध है—

क—उत्तराध्ययनसूत्र (२३/२९) एवं हरिभद्रसूरिकृत पञ्चाशक (श्लोक १२) में कहा गया है कि भगवान् महावीर ने अचेलक धर्म का ही उपदेश दिया था, सचेल-अचेल का नहीं। कल्पनिर्युक्ति में साधुओं के दस स्थितिकल्पों (अनिवार्य आचारों) में आचेलक्य (नगन्त्व) पहला स्थितिकल्प बतलाया गया है। तथा तत्त्वार्थसूत्र में भी साधु के बाईस परीषहों में नाग्न्यपरीषह निर्दिष्ट है, जो साधु के लिए अचेललिंग धारण करने के उपदेश का सूचक है। इन प्रमाणों से निश्चित होता है कि भगवान् महावीर का अनुयायी निर्ग्रन्थसंघ सर्वथा अचेल था, सचेलाचेल नहीं। (अध्याय २/प्र.३/शी.३)।

ख—श्वेताम्बरग्रन्थ विशेषावश्यकभाष्य में साधुओं के लिए दो प्रकार के आचारों का वर्णन है : जिनकल्प और स्थविरकल्प। इनमें जिनकल्प को अचेल और स्थविरकल्प को सचेल कहा गया है, किन्तु यह सत्य नहीं है। जिनकल्प भी सचेल ही था, जैसा कि प्रवचनपरीक्षा में कहा गया है—

“--- एवमुक्तप्रकारेण जिनकल्पिकाः स्थविरकल्पिकाश्चेत्युभयेऽपि प्रागुक्तगुण-हेतवे वस्त्रणि विभ्रति। अन्यथा प्रवचनखिंसादयः स्त्रीजनस्यात्मनश्च मोहोदयादयो बहवो दोषाः स्युः।” (प्रव.परी./वृत्ति/१/२/३१/पृ.९५)।

अनुवाद—“---इस प्रकार जिनकल्पिक और स्थविरकल्पिक, दोनों पूर्वोक्त गुणों (लोकमर्यादा का पालन, लज्जा तथा ब्रह्मचर्य की रक्षा, शीतातपदंशमशकजन्य पीड़ाओं के निरोध द्वारा सदध्यान की प्राप्ति, जैनसंघ की निन्दा का परिहार, स्त्रियों में काम-विकारोत्पत्ति का निवारण एवं जीवहिंसा की निवृत्ति) की सिद्धि के लिए वस्त्र धारण करते हैं। अन्यथा जैनसंघ की निन्दा, स्त्रियों तथा स्वयं में कामविकार की उत्पत्ति आदि अनेक दोष उत्पन्न हो सकते हैं।” (अध्याय २/प्र.३/शी.३.३.१)।

विशेषावश्यकभाष्य के कर्ता का कथन है कि इस सचेल जिनकल्प का भी जम्बूस्वामी के निर्वाण (वीरनिर्वाण सं० ६२) के बाद व्युच्छेद हो गया। (अध्याय २/प्र.३/शी.३.५)। इस प्रकार श्वेताम्बरमत में आरम्भ से ही एकमात्र स्थविरकल्पिकों का अर्थात् सचेलसाधुसंघ का अस्तित्व रहा है और दिगम्बरमत में एकमात्र अचेल साधुसंघ का। यापनीयसंघ की उत्पत्ति (पाँचवीं शती ई०) के पूर्व तक कोई भी ऐसा जैनसंघ नहीं था, जिसमें सचेल और अचेल दोनों प्रकार के साधुओं का अस्तित्व हो। अतः डॉ० सागरमल जी का यह कथन सर्वथा कपोलकल्पित है कि उत्तरभारत का मूल निर्ग्रन्थसंघ सचेलाचेल था और वह ईसा की पाँचवीं शताब्दी के प्रारंभ तक विद्यमान रहा तथा इसी समय उसके विभाजन से श्वेताम्बर और यापनीय संघों की उत्पत्ति हुई। तात्पर्य यह कि श्वेताम्बरों और यापनीयों की समान मातृपरम्परा का अस्तित्व

कपोलकल्पित है, अतः उपर्युक्त १८ दिगम्बरग्रन्थों में से दो ग्रन्थों को डॉ० सागरमल जी ने जो श्वेताम्बर-यापनीय-मातृपरम्परा अर्थात् उत्तरभारतीय-सचेलाचेल-निर्ग्रन्थसंघ के आचार्यों द्वारा रचित बतलाया है, वह अप्रामाणिक है, बन्ध्यापुत्र और आकाशकुसुम के समान कपोलकल्पित है।

ऐतिहासिक प्रमाणों से भी उत्तरभारतीय-सचेलाचेल-निर्ग्रन्थपरम्परा का अस्तित्व मिथ्या सिद्ध होता है। यथा—

क—पाँचवीं शती ई० के देवगिरि एवं हल्सी के अभिलेखों में श्वेतपटमहाश्रमणसंघ, निर्ग्रन्थमहाश्रमणसंघ, यापनीयसंघ एवं कूर्चकसंघ का उल्लेख है, किन्तु पाँचवीं शती ई० या उससे पूर्व के किसी भी अभिलेख या ग्रन्थ में 'उत्तरभारतीय-निर्ग्रन्थसंघ' या 'उत्तरभारतीय-सचेलाचेल-निर्ग्रन्थसंघ' का उल्लेख नहीं है।

ख—उपर्युक्त अभिलेखों में निर्ग्रन्थ शब्द श्वेताम्बरों, यापनीयों और कूर्चकों के प्रतिपक्षी दिगम्बरों के लिए प्रयुक्त है। इससे सिद्ध होता है कि परम्परा से दिगम्बरजैन मुनि ही लोक में निर्ग्रन्थ शब्द से अभिहित होते थे। इसलिए दिगम्बरजैन मुनियों से भिन्न सचेलाचेल-सम्प्रदाय के मुनियों के लिए 'निर्ग्रन्थ' शब्द का प्रयोग हो ही नहीं सकता था, क्योंकि इससे साम्प्रदायिक भिन्नता की पहचान असंभव हो जाती। यापनीय-सम्प्रदाय के साधु भी अचेल और सचेल दोनों लिंग धारण करते थे, किन्तु उन्होंने उपर्युक्त कारण से अपने सम्प्रदाय को 'निर्ग्रन्थ' शब्द से प्रसिद्ध नहीं किया। कथित सचेलाचेल-सम्प्रदाय 'निर्ग्रन्थ' नाम से प्रसिद्ध था, इसका कोई अभिलेखीय या साहित्यिक प्रमाण भी उपलब्ध नहीं है। इससे भी उक्त सम्प्रदाय का अस्तित्व प्रामाणिक सिद्ध नहीं होता।

ग—डॉ० सागरमल जी का कथन है कि उक्त सचेलाचेल-सम्प्रदाय पाँचवीं शताब्दी ई० के आरम्भ में श्वेताम्बर और यापनीय सम्प्रदायों में विभक्त हो गया था। किन्तु अशोककालीन अथवा ईसापूर्व प्रथम शताब्दी ई० के बौद्ध ग्रन्थ अपदान में सेतवत्थ नाम से श्वेताम्बर साधुओं का उल्लेख है, जो इस बात का प्रमाण है कि श्वेताम्बरसम्प्रदाय की उत्पत्ति ईसापूर्वकाल में ही हो गयी थी। इससे यह बात मिथ्या सिद्ध हो जाती है कि उत्तरभारतीय सचेलाचेल-निर्ग्रन्थसंघ पाँचवीं शताब्दी ई० के आरंभ में श्वेताम्बर और यापनीय संघों में विभक्त हो गया था। विभक्त भी नहीं हुआ और विद्यमान भी नहीं है, यह इस बात का सबूत है कि उसका अस्तित्व ही नहीं था।

घ—कथित सचेलाचेल-सम्प्रदाय में साधु को सचेल और अचेल दो लिंगों में से किसी को भी ग्रहण करने की स्वतंत्रता थी। इसलिए वह श्वेताम्बरों के भी अनुकूल था और यापनीयों के भी। अतः उसमें विभाजित होने योग्य परिस्थितियाँ ही नहीं थीं।

इस कारण उसके श्वेताम्बर और यापनीय सम्प्रदायों में विभाजित होने की मान्यता युक्तिसंगत नहीं है। वह विभाजित भी नहीं हुआ और मौजूद भी नहीं है, यह उसके काल्पनिक होने का प्रमाण है।

ड—जब किसी पूर्व संघ से नया संघ जन्म लेता है, तब नये संघ का ही नया नामकरण होता है, पूर्वसंघ अपने पूर्वनाम से ही नये संघ के साथ विद्यमान रहता है। जैसे निर्ग्रन्थसंघ से श्वेताम्बरसंघ की उत्पत्ति हुई, तो श्वेताम्बरसंघ का ही 'श्वेताम्बर-संघ' यह नया नाम रखा गया, निर्ग्रन्थसंघ अपने 'निर्ग्रन्थसंघ' नाम से ही श्वेताम्बर-संघ के साथ विद्यमान रहा, जैसा कि श्री विजयशिवमृगेशवर्मा के देवगिरि अभिलेख से ज्ञात होता है। अतः यदि उत्तरभारतीय-सचेलाचेल-निर्ग्रन्थसंघ से श्वेताम्बर और यापनीय संघों की उत्पत्ति हुयी होती, तो वह उसी नाम से इन नये संघों के साथ विद्यमान दिखायी देता। किन्तु किसी भी अभिलेख या ग्रन्थ में इन नये संघों के साथ उसका नाम दिखाई नहीं देता। इससे सिद्ध होता है, कि वह कपोलकल्पित है।

४. 'जो पुरुष उसी भव में तीर्थकर होनेवाला है, उसे छोड़कर शेष पुरुष तीर्थकरलिंग (नाग्न्यलिंग) ग्रहण करने के अधिकारी नहीं हैं,' जिनभद्रगणी जी ने विशेषावश्यकभाष्य में इसे जिनवचन बतलाया है। इसे जिनवचन कहकर उन्होंने यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि दिगम्बरमत में मुनि के लिए तीर्थकरलिंग का विधान किया गया है, अतः वह निह्वमत है। (अध्याय २/प्र.५/शी.१,२)। किन्तु यह वचन जिनवचन के प्रतिकूल है। इसके प्रमाण नीचे द्रष्टव्य हैं—

क—उत्तराध्ययनसूत्र (२३/१९) और श्री हरिभद्रसूरिकृत पञ्चाशक (श्लोक १२) में कहा गया है कि भगवान् पार्श्वनाथ ने सचेलाचेल धर्म का उपदेश दिया था और भगवान् महावीर ने अचेलक धर्म का। ये उपदेश सामान्य (उसी भव से तीर्थकर न होनेवाले) पुरुषों के लिए ही दिये गये हैं, क्योंकि उसी भव से तीर्थकर होनेवालों के लिए उपदेश नहीं दिया जाता, वे स्वयंबुद्ध होते हैं। यह बात विशेषावश्यकभाष्य (गा. २५८८-८९) के वृत्तिकार मलधारी श्री हेमचन्द्रसूरि ने स्वयं कही है। (अध्याय २/प्र.५/शी.१)। तथा भगवान् पार्श्वनाथ का सचेलाचेललिंग का उपदेश तीर्थकरों के लिए हो ही नहीं सकता, क्योंकि जिनभद्रगणी जी ने स्वयं तीर्थकरों का लिंग अचेललिंग बतलाया है, और उसी का सामान्य पुरुषों के लिए निषेध किया है। अतः जिसप्रकार भगवान् पार्श्वनाथ का सचेलाचेललिंग का उपदेश सामान्य पुरुषों के लिए ही है, वैसे ही भगवान् महावीर का अचेललिंग का उपदेश भी सामान्य पुरुषों के लिए ही है। यह प्रमाण श्री जिनभद्रगणी जी के इस कथन को कपोलकल्पित सिद्ध कर देता है कि जिनेन्द्रदेव ने सामान्य पुरुषों के लिए तीर्थकर लिंग का निषेध किया है।

ख—पञ्चमकाल में भगवान् महावीर का ही तीर्थ चल रहा है। उन्होंने अचेलतीर्थ का प्रवर्तन किया था। इससे सिद्ध है कि पंचमकालीन सामान्य पुरुष अचेललिंग ग्रहण के अधिकारी हैं।

ग—जिनभद्रगणी जी ने विशेषावश्यकभाष्य (गा.२५९३) में जम्बूस्वामी के निर्वाण के पश्चात् (अर्थात् पंचमकाल में) उपशमकश्रेणी और क्षपकश्रेणी का व्युच्छेद बतलाया है, इनके पूर्व के प्रमत्तसंयत और अप्रमत्तसंयत गुणस्थानों का नहीं। अर्थात् उनके अनुसार अन्तिम तीन हीन संहननवाले पुरुष अप्रमत्तसंयत-गुणस्थान-प्राप्ति के योग्य होते हैं। (श्री सिद्धसेनगणी और श्री हरिभद्रसूरि ने चौथे अर्धनाराचसंहनन को भी उत्तमसंहनन बतलाया है। देखिये, तत्त्वार्थभाष्यवृत्ति/९/२७ तथा तत्त्वार्थटीका/९/२७)। तत्त्वार्थसूत्रकार ने बादरसाम्पराये सर्वे (त.सू.—दि. एवं श्वे./९/१२) सूत्र के द्वारा नौवें गुणस्थान तक नागन्यपरीषह का सद्भाव बतलाया है। इससे सिद्ध है कि नागन्यलिंग के अंगीकार की योग्यता पंचमकाल में अर्धनाराच आदि हीनसंहननधारियों में भी होती है।

घ—कर्मसिद्धान्त एक विज्ञान है। वह भौतिक नियमों की तरह नियमों का उल्लंघन नहीं करता, स्वार्थप्रेरित चेतन-प्राणी के समान पक्षपात नहीं करता। ऐसा नहीं हो सकता कि तीर्थकरों में वस्त्रपात्रादि-परिग्रहगत रागद्वेष न होने पर ही संवर और निर्जरा होती हो तथा सामान्य पुरुषों में वस्त्रपात्रादि-परिग्रहगत रागद्वेष होने पर भी संवर-निर्जरा संभव हो। यदि रागादिभावों में चुम्बक और लोहे के समान कर्मों के आकर्षण की शक्ति है, तो रागादिभाव चाहे (उसी भव में होनेवाले) तीर्थकर में रहें या सामान्य पुरुष में, कर्मों का आकृष्ट होना अनिवार्य है। तथा वीतरागभाव के सद्भाव में यदि कर्मों के संवर और निर्जरा का नियम है, तो वीतरागभाव का सद्भाव चाहे तीर्थकर में रहे या सामान्यपुरुष में, कर्मों का संवर और निर्जरा हुए बिना नहीं रह सकती। यदि ऐसा न हो, तो 'मिथ्यादर्शनाविरतिप्रमादकषाययोगा बन्धहेतवः' (त.सू./८/१) और 'सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः' (त.सू./१/१) ये तीर्थकरवचन झूठे हो जायेंगे। कर्मों के आस्रव-बन्ध और संवर-निर्जरा-मोक्ष का सम्बन्ध आत्मपरिणामों से है। और आत्मपरिणामों का सम्बन्ध बाह्य परिग्रह के ग्रहण और त्याग से है। ऐसा नहीं हो सकता कि तीर्थकरों में कर्मों के संवर-निर्जरा-मोक्ष-योग्य परिणामों की उत्पत्ति वस्त्रादि समस्त परिग्रह के त्याग से ही होती हो और सामान्य पुरुषों में वस्त्रादिपरिग्रह से युक्त रहने पर भी संभव हो। यह संभव नहीं है, इसलिए सिद्ध है कि जैसे कर्मक्षय के लिए नागन्यलिंग का ग्रहण तीर्थकरों के लिए आवश्यक है, वैसे ही सामान्य पुरुषों के लिए भी है। अतः जिनभद्रगणी जी ने जो सामान्य पुरुषों के लिए तीर्थकरलिंग (नागन्यलिंग) का निषेध बतलाया है, वह स्वकल्पित है, आगमोक्त नहीं। वस्तुतः तीर्थकरलिंग मुनिलिंग ही है। (अध्याय २/प्र.५/शी.३)।

५. श्वेताम्बर-आगमों में श्वेताम्बर (सवस्त्र) साधुओं के लिए निर्ग्रन्थ शब्द का और आर्यिकाओं के लिए निर्ग्रन्थी शब्द का प्रयोग किया गया है। यह निर्ग्रन्थ शब्द के साम्प्रदायिक, ऐतिहासिक और लोकप्रसिद्ध अर्थ के विरुद्ध है। निर्ग्रन्थ शब्द का अर्थ नग्न दिगम्बरजैन साधु है। अचेलकधर्म का उपदेश देनेवाले अचेल तीर्थंकर महावीर वस्त्रपात्रादि बाह्य ग्रन्थ एवं मिथ्यात्वकषायादि आम्यन्तर ग्रन्थ (परिग्रह) के त्यागी होने से निर्ग्रन्थ कहलाते थे। इसलिए उनके अनुयायी अचेल मुनियों का संघ निर्ग्रन्थसंघ के नाम से प्रसिद्ध हुआ। ईसापूर्व शताब्दियों में रचित प्राचीन बौद्ध पिटकसाहित्य में भगवान् महावीर का उल्लेख निगंठनाटपुत्र (निर्ग्रन्थज्ञातपुत्र) के नाम से हुआ है और उनके अनुयायी नग्न साधुओं को निगंठ (निर्ग्रन्थ), अचेल और अहिरिक (अह्नीक = निर्लज्ज) शब्दों से अभिहित किया गया है। सम्राट् अशोक के देहली-टोपरा-सप्तम स्तंभलेख (२४२ ई० पू०) में निर्ग्रन्थों का एक सम्प्रदाय के रूप में उल्लेख है और ५वीं शताब्दी ई० के कदम्बवंशीय राजा श्रीविजयशिवमृगेश वर्मा के देवगिरि-ताम्रपात्रलेख (क्र. ९८) में श्वेतपटमहाश्रमणसंघ और निर्ग्रन्थमहाश्रमणसंघ को कालवंग ग्राम विभक्त कर दान में दिये जाने का वर्णन है। इससे सिद्ध है कि बुद्ध के समय से लेकर ईसा की पाँचवीं शताब्दी तक दिगम्बरजैनसंघ लोक में निर्ग्रन्थश्रमणसंघ के नाम से प्रसिद्ध था और श्वेताम्बरजैनसंघ अपने उदयकाल (अन्तिम अनुबद्धकेवली जम्बूस्वामी के निर्वाणानन्तर, वीरनिर्वाण सं० ६२ = ४६५ ई० पू०) से लेकर ईसा की पाँचवीं शती तक श्वेतपटश्रमणसंघ, श्वेतवस्त्र, सिताम्बर, श्वेताम्बर आदि नामों से प्रसिद्धि को प्राप्त था। श्वेताम्बरसंघ अपने को लोक में निर्ग्रन्थसंघ के नाम से प्रसिद्ध नहीं कर सका, इसका कारण यही था कि यह नाम तीर्थंकर महावीर के समय से ही दिगम्बरजैनसंघ के लिए लोकविश्रुत हो चुका था। फलस्वरूप श्वेताम्बरसंघ को लोक में अपनी पहचान श्वेतपटश्रमणसंघ, सिताम्बरसंघ, श्वेतवस्त्रसंघ, श्वेताम्बरसंघ आदि नामों से बनानी पड़ी। इन प्रमाणों से सिद्ध होता है कि साम्प्रदायिक, ऐतिहासिक और लोकप्रसिद्धि की दृष्टियों से निर्ग्रन्थ शब्द का अर्थ दिगम्बरजैन मुनि ही है।

वस्तुतः श्वेताम्बरसंघ की उत्पत्ति के पूर्व निर्ग्रन्थसंघ के सभी साधु अचेल होते थे, अतः 'निर्ग्रन्थ' शब्द 'जैनसाधु' का पर्यायवाची बन गया था। इसलिए जब निर्ग्रन्थसंघ के कुछ साधुओं ने वस्त्रपात्र धारण कर श्वेताम्बरसंघ बना लिया, तब भी उन्होंने जैनसाधु के रूप में अपनी पहचान कराने हेतु अपने लिए 'निर्ग्रन्थ' शब्द का प्रयोग प्रचलित रखा। किन्तु यह प्रयोग उनके शास्त्रों तक ही सीमित रहा। इस नाम से वे अपने संघ को लोक-प्रसिद्ध नहीं कर सके, क्योंकि यह नाम पहले से ही अचेल (दिगम्बर) जैनश्रमणों के लिए प्रसिद्ध था, साथ ही यह श्वेताम्बरों की साम्प्रदायिक विशिष्टता के विज्ञापन में भी बाधक था। इसलिए उन्होंने अपने संघ को श्वेतपट-श्रमणसंघ नाम से प्रसिद्ध किया।

अध्याय ३—श्वेताम्बरसाहित्य में दिगम्बरमत की चर्चा

श्वेताम्बरसाहित्य में ऐसे अनेक उल्लेख मिलते हैं, जिनसे दिगम्बरजैनमत की प्राचीनता और श्वेताम्बरमत से पूर्ववर्तिता सिद्ध होती है। उदाहरणार्थ—

१. विशेषावश्यकभाष्य, बृहत्कल्पसूत्र के लघुभाष्य आदि श्वेताम्बरग्रन्थों में तीर्थकरों को सर्वथा अचेल वर्णित किया गया है। (अध्याय ३/प्र.१/शी.४)। यद्यपि आवश्यकनिर्युक्ति, विशेषावश्यकभाष्य आदि के अनुसार सभी तीर्थकर एक वस्त्र लेकर प्रव्रजित होते हैं, तथापि वह वस्त्र कुछ समय बाद च्युत हो जाता है और तीर्थकर अन्ततः अचेल अवस्था में ही मुक्त होते हैं। सचेलमुक्ति की मान्यता श्वेताम्बरमत का विशिष्ट सिद्धान्त है। उसके अनुसार तीर्थकर भी सचेल होने पर मुक्त हो सकते हैं। जब सामान्य स्त्री-पुरुष सचेल होते हुए मुक्त हो सकते हैं, तब तीर्थकर जैसी सातिशय आत्मा सचेल होते हुए मुक्त न हो, यह तो सोचा भी नहीं जा सकता। अतः श्वेताम्बरमत में तीर्थकरों को अचेल मानना आवश्यक नहीं था। फिर भी माना गया है। यह इस बात का प्रमाण है कि श्वेताम्बरसंघ पहले उसी निर्ग्रन्थमहाश्रमणसंघ का अभिन्न अंग था जिसमें तीर्थकर सर्वथा अचेलमुद्राधारी माने गये हैं। तीर्थकरों की यह नग्न-मुद्रा लोकप्रसिद्ध थी, वैदिकपरम्परा और बौद्धपरम्परा में भी प्रसिद्ध थी। अतः श्वेताम्बर इसे अमान्य नहीं कर सकते थे। इस कारण उन्हें तीर्थकरों को सर्वथा अचेल ही स्वीकार करना पड़ा, यद्यपि प्रव्रजित होते समय उन्हें कुछ समय के लिए देवदूष्यधारी मान ही लिया। अतः श्वेताम्बरसाहित्य में तीर्थकरों के अचेलत्व की स्वीकृति श्वेताम्बरपरम्परा पर दिगम्बरपरम्परा के प्रभाव को स्पष्टतः परिलक्षित करती है। यह दिगम्बरपरम्परा के पूर्वभाव का स्पष्ट प्रमाण है।

२. उत्तराध्ययनसूत्र आदि श्वेताम्बरग्रन्थों में प्रथम और अन्तिम तीर्थकरों को केवल अचेलकधर्म का उपदेशक तथा शेष २२ तीर्थकरों को अचेल और सचेल दोनों धर्मों का उपदेशक बतलाया गया है। (देखिये, अध्याय ३/प्र.१/शी.५)। दशवैकालिकसूत्र (६/१९-२०) के अनुसार श्वेताम्बरमत साधु के वस्त्र, पात्र, कम्बल आदि धारण करने को परिग्रह नहीं मानता, अपितु संयम और लज्जा की रक्षा का साधन मानता है। (देखिये, अध्याय ३/प्र.१/शी.८)। इस प्रकार जब उसे सचेलमुक्ति मान्य है, तब तीर्थकरों को अचेलकधर्म का उपदेशक बतलाना आवश्यक नहीं था। सभी तीर्थकरों को मात्र सचेलधर्म का ही उपदेशक प्ररूपित करना युक्तिसंगत था। किन्तु अचेलकधर्म का उपदेशक बतलाया गया है। इसका कारण भी यही है कि भगवान् ऋषभदेव से लेकर महावीर पर्यन्त चौबीसों तीर्थकर अचेलकधर्म के ही उपदेशक के रूप में लोकप्रसिद्ध थे। उनके अनुयायी मुनि भी निर्ग्रन्थ नाम से जाने जाते थे और निर्ग्रन्थ शब्द जैनसम्प्रदाय के अतिरिक्त वैदिक और बौद्ध सम्प्रदायों में भी नग्न जैनमुनियों के लिए ही प्रसिद्ध

था। (देखिये, अध्याय २/प्र.६ तथा अध्याय ४)। इतने बड़े सत्य का अपलाप मुश्किल था। इसीलिए श्वेताम्बराचार्यों को अपने साहित्य में इस सत्य का उल्लेख करना पड़ा, यद्यपि उत्तरवर्ती ग्रन्थकारों एवं टीकाकारों ने अचेलकधर्म को सचेलधर्म सिद्ध करने का अस्वाभाविक प्रयास किया है। श्वेताम्बरसाहित्य में तीर्थंकरों को अचेलक-धर्म का उपदेशक प्ररूपित किया जाना इस बात का ज्वलन्त प्रमाण है कि अचेलकधर्म अर्थात् दिगम्बरधर्म की परम्परा श्वेताम्बर-साहित्य के रचनाकाल से पूर्ववर्ती है।

३. आचारांग और स्थानांग में अचेलत्व को सचेलत्व से श्रेष्ठ बतलाया गया है। स्थानांग में कहा गया है— क—अचेलक की प्रतिलेखना अल्प होती है, ख—अचेलक का लाघव प्रशस्त होता है, ग—अचेलकवेश विश्वास के योग्य होता है, घ—अचेलक का तप अनुज्ञात (जिन-अनुमत) होता है, ङ—अचेलक के विपुल इन्द्रियनिग्रह होता है। (देखिये, अध्याय ३/प्र.१/शी.७)। आचारांग का कथन है कि अचेल भिक्षु को अनेक प्रकार के परीषह होते हैं, इन्हें भलीभाँति सहन कर वह कर्मों के भार से मुक्त हो जाता है। (देखिये, अध्याय ३/प्र.१/शी.६)। टीकाकार शीलांकाचार्य ने आचारांगोक्त अचेल शब्द का अल्पचेल अर्थ किया है, किन्तु आचारांग में अल्पचेल को 'अचेल' नहीं कहा गया है, अपितु सर्वथा चेलरहित को ही 'अचेल' शब्द से अभिहित किया गया है। (देखिये, अध्याय ३/प्र.१/शी.६)। सचेलमुक्ति माननेवाले श्वेताम्बरमत के ग्रन्थों में अचेलत्व को श्रेष्ठ प्रतिपादित किया जाना श्वेताम्बराचार्यों के प्राचीन दिगम्बरीय संस्कारों की अभिव्यक्ति का सूचक है।

४. आचारांग में द्रव्यपरिग्रह को भी परिग्रह बतलाते हुए कहा गया है—“लोक में जितने भी परिग्रहवाले मुनि हैं, उनका परिग्रह थोड़ा हो या बहुत, सूक्ष्म हो या स्थूल, चेतन हो या अचेतन, वे सब इन परिग्रहवाले गृहस्थों में ही अन्तर्भूत होते हैं। यह परिग्रह इनके लिए महाभय का कारण है। संसार की दशा जानकर इसे छोड़ो। जिसके पास यह परिग्रह नहीं होता, उसे महाभय नहीं होता।” (देखिये, अध्याय ३/प्र.१/शी.८)। परिग्रह की यह परिभाषा दशवैकालिकसूत्र (६/१९-२०) में वर्णित उस परिभाषा के विपरीत है, जिसमें वस्त्र, पात्र, कम्बल आदि बाह्य द्रव्यों को परिग्रह न कहकर केवल मूर्च्छा को परिग्रह कहा गया है। बाह्य द्रव्यों के परिग्रह को भी परिग्रह माननेवाली आचारांग-गत यह परिभाषा सर्वथा दिगम्बरमतानुरूप है। यह श्वेताम्बर बन्धुओं के अन्तःकरण पर पड़े हुए प्राचीन दिगम्बरीय संस्कारों के प्रकट होने का प्रमाण है, जिससे सूचित होता है कि दिगम्बरमत श्वेताम्बरमत से पूर्ववर्ती है।

५. स्थानांग में उपदेश है कि केवल तीन परिस्थितियों में वस्त्र धारण करना चाहिए। वे तीन परिस्थितियाँ हैं : ह्रीप्रत्यय (लज्जा का अनुभव), जुगुप्साप्रत्यय (लोकनिन्दा

का भय), तथा परीषहप्रत्यय (शीतादि की पीड़ा सहने में असमर्थता)—“तिंहि ठाणेहि वत्थं धारेज्जा। तं जहा हिरिवत्तियं, दुगुंछावत्तियं, परीषहवत्तियं।” (स्था.सू./३/३/३४७/१५०)। यदि उक्त तीन परिस्थितियाँ न हों तो साधु को नग्न ही रहना चाहिए। आचारांग में भी ऐसा ही कहा गया है। (देखिये, अध्याय ३/प्र.१/शी.६)। इस प्रकार श्वेताम्बर-आगमों में भी दिगम्बरत्व का ही मुख्यतः विधान किया गया है। वस्त्रधारण की अनुमति तो कारणाश्रित होने से आपवादिक है।

वस्तुतः दिगम्बरत्व या अचेलत्व की अवधारणा के बिना जैनमत की अवधारणा साकार नहीं होती। दिगम्बरत्व ही जैनमत का प्राण है। श्वेताम्बरदृष्टि में भी जैन नाम के साथ दिगम्बरत्व की अवधारणा रची-पची है, इसीलिए सम्पूर्ण श्वेताम्बर-साहित्य में किसी न किसी रूप में अचेलत्व को स्वीकार किया गया है, अचेलत्व की चर्चा की गयी है, अचेलत्व की नयी-नयी व्याख्याएँ कर सचेलों पर अचेलत्व घटाया गया है, अचेलत्व को जिनकल्प नाम देकर उसे व्युच्छिन्न घोषित किया गया है। तात्पर्य यह कि श्वेताम्बरपरम्परा अचेलत्व को आचरण से बहिष्कृत करके भी उसकी अवधारणा से पीछा नहीं छोड़ा पायी। यह इस बात का ज्वलन्त प्रमाण है कि श्वेताम्बरपरम्परा दिगम्बरपरम्परा से उद्भूत हुई है, इसीलिए उसके साहित्य में दिगम्बरदृष्टि का रंग बिखरा हुआ दिखायी देता है।

६. जहाँ श्वेताम्बरीय आचारांग और स्थानांगसूत्र में अचेलत्व की श्रेष्ठता का प्रतिपादन कर तथा उत्तराध्ययन आदि में प्रथम और अन्तिम तीर्थंकरों को अचेलकधर्म का उपदेशक बतलाकर दिगम्बरजैनमत की पूर्ववर्तिता सूचित की गयी है, वहीं दशवैकालिकसूत्र आदि कतिपय ग्रन्थों में दिगम्बरमान्य सिद्धान्तों का खण्डन कर दिगम्बर-मत का पूर्ववर्तित्व दर्शाया गया है। यथा—

क—श्वेताम्बरमान्यतानुसार वीरनिर्वाण के लगभग ७५ वर्ष बाद (४५२ ई० पू०) हुए आचार्य शय्यम्भव ने अपने दशवैकालिकसूत्र में लिखा है—

जं पि वत्थं व पायं वा कंबलं पायपुंछणं।
तं पि संजमलज्जट्टा धारंति परिहरंति अ॥ ६/१९॥

न सो परिग्गहो वुत्तो णायपुत्तेण ताइणा।
मुच्छा परिग्गहो वुत्तो इअ वुत्तो महेसिणा॥ ६/२०॥

अनुवाद—‘साधु जो भी वस्त्र, पात्र, कम्बल और पादप्रौञ्चन (रजोहरण) धारण करता है और उपभोग करता है, उसका प्रयोजन संयम और लज्जा का पालन है। संयम-लज्जा-पालक वस्त्रपात्रादि के रखने को भगवान् महावीर ने परिग्रह नहीं कहा है, अपितु उनमें मूर्च्छा करने को परिग्रह कहा है।’

इन गाथाओं में आचार्य शय्यम्भव ने परिग्रहविषयक एक मान्यता का खण्डन कर दूसरी मान्यता की स्थापना की है, इससे सिद्ध है कि उनके समय में वस्त्र-पात्र-कम्बल आदि रखने को परिग्रह माननेवाली दिगम्बरीय विचारधारा प्रचलित थी। यह दिगम्बरजैनमत के पूर्ववर्तित्व का प्रमाण है।

ख—विशेषावश्यकभाष्य आदि ग्रन्थों में अचेलकधर्म को जिनकल्प का नाम देकर यह घोषित किया गया है कि वह (अन्तिम अनुबद्ध केवली) जम्बूस्वामी के निर्वाण के बाद व्युच्छिन्न हो गया। यह इस बात का प्रमाण है कि अचेलकपरम्परा अर्थात् दिगम्बरपरम्परा जम्बूस्वामी के पूर्व विद्यमान थी।

ग—उत्तराध्ययनसूत्र आदि ग्रन्थों में कहा गया है कि प्रथम और अन्तिम तीर्थकरों ने अचेलकधर्म का उपदेश दिया था और शेष बाईस तीर्थकरों ने अचेल और सचेल दोनों धर्मों का। जिनभद्रगणि-क्षमाश्रमण आदि श्वेताम्बराचार्यों ने इन शब्दों की व्याख्या करते हुए कहा है कि सामान्य साधुओं के प्रसंग में अचेलक शब्द श्वेत-जीर्ण-वस्त्रधारी सचेल अर्थ का तथा सचेल शब्द बहुमूल्य-पंचवर्ण-वस्त्रधारी सचेल अर्थ का वाचक है। (अध्याय ३/प्र.२/शी. ३.२ तथा १४)। यह व्याख्या प्राकृत-संस्कृत भाषाओं तथा लोकभाषा के विरुद्ध है, अतः अप्रामाणिक है। इस कपोलकल्पित व्याख्या के द्वारा इन आचार्यों ने अचेलकधर्म अर्थात् दिगम्बरजैनपरम्परा के अस्तित्व को मिथ्या सिद्ध करने की कोशिश की है, किन्तु इसी कोशिश से सिद्ध होता है कि श्वेताम्बरसाहित्य उक्त परम्परा से सुपरिचित है। यह उसके पूर्वभाव का सबूत है।

घ—विशेषावश्यकभाष्य में अचेलत्व को संयमादि का घातक और वस्त्रधारण को संयमसाधक बतलाया गया है और इसलिए वस्त्रपात्रादि के मूर्च्छाहेतु होने का भी निषेध किया गया है। (अध्याय ३/प्र.२/शी. ६,७,१०)। इन दिगम्बर-मान्यताओं का खण्डन श्वेताम्बरसाहित्य के दिगम्बरमत से अभिज्ञ होने का प्रमाण है।

ड.—विशेषावश्यकभाष्य में सामान्य मुनियों के लिए तीर्थकरलिंग अर्थात् नग्नमुद्रा ग्रहण करने का निषेध किया गया है। (अध्याय ३/प्र.२/शी. ९)। इससे सिद्ध होता है कि श्वेताम्बरसाहित्य तीर्थकरलिंग धारण करनेवाले दिगम्बरमुनियों की परम्परा से परिचित है। यह दिगम्बरपरम्परा के पूर्ववर्तित्व को सिद्ध करता है।

च—दिगम्बरमतानुसार नाग्न्यलिंग धारणकर कामविकार को जीतना नाग्न्यपरीषहजय या अचेलपरीषहजय है। विशेषावश्यकभाष्य में इसका खण्डन कर अनेषणीय वस्त्र धारण न कर एषणीय वस्त्र धारण करने को अचेलपरीषहजय कहा गया है। (अध्याय ३/प्र.२/शी. १३)। इस प्रकार अचेलपरीषहजय की दिगम्बरमान्य परिभाषा का खण्डन सिद्ध करता है कि श्वेताम्बरसाहित्य दिगम्बरमत से सुपरिचित है, अतः उसकी परम्परा बहुत पुरानी है।

इस तरह श्वेताम्बरजैनसाहित्य में दिगम्बरजैनमान्यताओं के सकारात्मक और नकारात्मक दोनों रूपों में उल्लेख मिलते हैं, जिनसे सिद्ध होता है कि दिगम्बरजैन-परम्परा श्वेताम्बरसाहित्य (आचारांग, स्थानांग, दशवैकालिक, उत्तराध्ययन आदि) के रचनाकाल से पूर्ववर्ती है।

७. दशवैकालिकसूत्र एवं विशेषावश्यकभाष्य में वस्त्रपात्रकम्बल आदि उपधि को संयम का साधन माना गया है, अत एव उसे मूर्च्छा का अहेतु मानकर परिग्रह की परिभाषा से अलग कर दिया गया है। किन्तु वस्त्रपात्रादि संयम के साधन नहीं हैं, अपितु असंयम के हेतु हैं तथा ध्यान, निर्जरा एवं मोक्ष में बाधक हैं, यह निम्नलिखित कारणों से सिद्ध होता है—

क—वस्त्रादि का ग्रहण शीतादि-परीषहपीड़ा से बचने के लिए अर्थात् देहसुख की प्राप्ति के लिए किया जाता है। देहसुख की इच्छा राग है और राग असंयम है। वस्त्रादि के परिभोग से उनमें जीवों की उत्पत्ति होती है, जिनकी शरीर से रगड़ होने पर एवं वस्त्रों के धोने-सुखाने आदि से हिंसा होती है। इस तरह वस्त्रपरिभोग असंयम का हेतु है।

ख—वस्त्रादिपरिग्रह चोरों से भय उत्पन्न करता है, सुरक्षा की चिन्ता पैदा करता है, याचना एवं धोने-सुखाने आदि की आकुलता उत्पन्न करता है। इन अपध्यानों का हेतु होने से वस्त्रादिपरिग्रह ध्यान-अध्ययन में बाधक है।

ग—वस्त्र धारण करने से शीत, उष्ण, दंशमशक आदि परीषह नहीं हो पाते, जिससे परीषहजय का अवसर न मिल पाने से निर्जरा में बाधा उत्पन्न होती है। परीषह-पीड़ानिवारक वस्तुओं का उपभोग मूर्च्छा का लक्षण है, क्योंकि वह शारीरिक दुःखनिवृत्ति एवं देह-सुखप्राप्ति की इच्छा से प्रेरित होता है।

घ—वस्त्रादि परिग्रह संयम में बाधक होने से ही मोक्ष में बाधक है। इसीलिए तीर्थकरों ने उसका त्याग किया था। तीर्थकरों के लिए मोक्ष में बाधक होने से सिद्ध है कि सामान्य साधुओं के लिए भी वस्त्रादिपरिग्रह मोक्ष में बाधक है, इसलिए उनके द्वारा भी वह त्याज्य है।

इस तरह वस्त्रादिपरिग्रह के मोक्ष में बाधक होने से सिद्ध है कि उत्तराध्ययन आदि में तीर्थकरों द्वारा जिस अचेलकधर्म के उपदेश दिये जाने का उल्लेख है, वह अपने नामार्थ के अनुरूप अचेलक ही है, सचेल नहीं। और इसलिए अचेलक धर्म की परम्परा अर्थात् दिगम्बरजैन परम्परा, इस का उल्लेख करनेवाले आचारांगसूत्र, स्थानांग-सूत्र, दशवैकालिकसूत्र, उत्तराध्ययनसूत्र आदि श्वेताम्बर-साहित्य से पूर्ववर्ती है।

अध्याय ४—जैनेतर साहित्य में दिगम्बर जैन मुनियों की चर्चा

जैनेतर साहित्य अर्थात् वैदिक, बौद्ध एवं संस्कृत साहित्य में उपलब्ध प्रमाणों से भी दिगम्बरजैनमत की प्राचीनता सिद्ध होती है। वैदिक साहित्य से तात्पर्य वेदों के अनुयायी सम्प्रदाय के साहित्य से है। वर्तमान में इस सम्प्रदाय का नाम हिन्दूसम्प्रदाय है, जो इसका परम्परागत अथवा मौलिक नाम नहीं है। 'हिन्दू' शब्द सिन्धु नदी एवं उसके आस-पास के प्रदेश के लिए भारत में आनेवाले ईरानियों के मुख से निकला अस्वाभाविक शब्द है, क्योंकि वे 'स' का उच्चारण 'ह' करते थे। हिन्दूसम्प्रदाय का परम्परागत, मौलिक नाम वेदानुयायी होने के कारण वैदिकसम्प्रदाय है। वैदिक पुराणों और संस्कृतसाहित्य में जैनों, बौद्धों और चार्वाकों को वेदबाह्य और अवैदिक नामों से अभिहित किया गया है। इससे सिद्ध है कि वेदानुयायी सम्प्रदाय अपने को वैदिक शब्द से अभिहित करता था। इसके अनुसार प्रस्तुत ग्रन्थ में वेद, ब्राह्मण, आरण्यक, उपनिषद् आदि के अतिरिक्त वेदों को प्रमाण माननेवाले रामायण, महाभारत, पुराण आदि धार्मिक ग्रन्थ वैदिक साहित्य में परिगणित किये गये हैं तथा संस्कृत में लिखित गद्य, पद्य नाट्य आदि काव्यात्मक साहित्य संस्कृतसाहित्य के अन्तर्गत रखा गया है।

वैदिकसाहित्य एवं संस्कृतसाहित्य में ऋग्वेद से लेकर ११वीं शताब्दी ई० तक के बीस से अधिक ग्रन्थों में दिगम्बरजैन मुनियों का उल्लेख किया गया है। एक पुराण में श्वेताम्बरमुनियों की भी चर्चा है। जिन ग्रन्थों में ये उल्लेख हैं, उनके रचनाकाल तथा जिन ऐतिहासिक या पौराणिक मानव-पात्रों के साथ दिगम्बरजैन मुनियों का वर्णन किया गया है, उनके स्थितिकाल से दिगम्बरजैनमत की प्राचीनता का निश्चय किया जा सकता है।

दिगम्बरमत के ग्रन्थों में बतलाया गया है कि दिगम्बरजैन मुनि यथाजातरूपधर (जन्म के समय जैसा रूप होता है, वैसे सर्वांगनिर्वस्त्र नग्नरूप को धारण करनेवाले) होते हैं, उनके हाथ में मयूरपिच्छी होती है, तथा जब कोई उनकी वन्दना करता है, तब वे उसे धर्मवृद्धि हो यह आशीर्वाद देते हैं। इसी प्रकार श्वेताम्बरग्रन्थों में श्वेताम्बर-मुनि को वस्त्र, पात्र, मुखवस्त्रिका, रजोहरण, कम्बल आदि अनेक उपकरणों का धारी तथा धर्मलाभ का आशीर्वाद देनेवाला वर्णित किया गया है। वैदिकसाहित्य एवं संस्कृतसाहित्य में दिगम्बर और श्वेताम्बर मुनि इसी रूप में चित्रित किये गये हैं। दोनों साहित्यों को मिश्रित कर कालक्रमानुसार उदाहरण नीचे दिये जा रहे हैं—

ऋग्वेद (१०/१३६/२-३) में 'मुनयो वातरशनाः पिशंगा वसते मला' आदि शब्दों से दिगम्बरजैन मुनियों की चर्चा की गयी है। वातरशन का अर्थ है वायुरूपी कटिक्वस्त्रधारी अर्थात् नग्न। ऋग्वेद में शिश्रदेव शब्द से नग्न देवों (तीर्थकरों) का कथन किया गया है।

अथर्ववेद एवं ब्राह्मणग्रन्थों में यति एवं त्रात्य शब्द दिगम्बरजैन मुनियों का अस्तित्व द्योतित करते हैं।

तैत्तिरीयारण्यक में भी वातरशन श्रमण नाम से दिगम्बरजैन मुनियों का अभिधान हुआ है।

८०० ईसापूर्व के महर्षि यास्क-विरचित निघण्टु में दिगम्बरजैन मुनियों को दिगम्बर एवं वातवसन (वायुरूपी-वस्त्रधारी) शब्द से अभिहित किया गया है। महाभारत (५०० ई० पू०—१०० ई० पू०) में उत्तक ऋषि के कुण्डलों का अपहरण करने के लिए तक्षक नाग द्वारा नग्नक्षपणक (दिगम्बरजैन साधु) का रूप धारण किये जाने का वर्णन है। यह घटना हिन्दूकालगणना के अनुसार द्वापरयुग की अर्थात् आज से आठ लाख चौंसठ हजार वर्ष पूर्व की है। इससे दिगम्बरजैन-परम्परा की अतिप्राचीनता प्रकट होती है। तथा ईसापूर्व-रचित महाभारत ग्रन्थ में नग्नक्षपणक का उल्लेख होने से भी दिगम्बरजैनमत का ईसापूर्ववर्ती होना सिद्ध है।

नग्नक्षपणक या क्षपणक शब्द समस्त दिगम्बरजैन ग्रन्थों, श्वेताम्बरजैन ग्रन्थों, वैदिक ग्रन्थों एवं संस्कृत गद्य-पद्य-नाट्य साहित्य में दिगम्बर जैन मुनि के लिए ही प्रयुक्त हुआ है। श्वेताम्बराचार्य श्री विजयानन्द सूरीश्वर 'आत्माराम' जी ने अपने तत्त्वनिर्णयप्रासाद ग्रन्थ में नग्नक्षपणक शब्द को श्वेताम्बर-जिनकल्पी साधु का वाचक और मुनि श्री कल्याणविजय जी ने क्षपणक (क्षमण > क्षपण > क्षपणक) शब्द को यापनीयसाधु का पर्यायवाची माना है, ये दोनों मान्यताएँ अप्रामाणिक हैं। (देखिये, अध्याय ४ / प्रकरण १ / शीर्षक २८ एवं ३० तथा अध्याय ४ / प्रकरण २ / शीर्षक १९)।

चाणक्यशतक (४०० ई० पू०) में "नग्नक्षपणके देशे रजकः किं करिष्यति" इन शब्दों में दिगम्बरजैन मुनि का उल्लेख किया गया है। पञ्चतन्त्र (३०० ई०) के अपरीक्षितकारक की मणिभद्रश्रेष्ठिकथा में दिगम्बरजैन मुनियों का वर्णन है, जो उनके लिए प्रयुक्त नग्नक, क्षपणक और दिगम्बर शब्दों से तथा उनके द्वारा दिये गये धर्मवृद्धि के आशीर्वाद से सूचित होता है। भासकृत नाटक अविमारक में 'जदि वत्थं अवणेमि समणओ होमि' (यदि मैं वस्त्र उतार दूँ, तो श्रमण बन जाऊँगा) इस वाक्य द्वारा दिगम्बरजैन मुनि की चर्चा की गयी है। मत्स्यपुराण (३०० ई०) में दिगम्बरजैन साधु के लिए निष्कच्छ, निर्ग्रन्थ और नग्न शब्दों का प्रयोग हुआ है।

विष्णुपुराण ३००-४०० ई० की रचना है। उसमें देवासुर-संग्राम के पूर्व असुरों को दिगम्बरजैनधर्म में दीक्षित किये जाने का वर्णन है। वैदिक पद्मपुराण के अनुसार छठे मन्वन्तर में उत्पन्न राजा वेन ने दिगम्बरजैनधर्म स्वीकार किया था। एक मन्वन्तर

४३ लाख, बीस हजार वर्षों का होता है। इस समय सातवाँ मन्वन्तर चल रहा है। इससे सिद्ध होता है कि दिगम्बरजैन-परम्परा लाखों वर्ष पुरानी है।

मुद्राराक्षस नामक नाटक (४००-५०० ई०) में दिगम्बर जैन साधु को क्षपणक और बीभत्सदर्शन (नग्न होने के कारण कुरूप) शब्दों से अभिहित किया गया है। वायुपुराण (५०० ई०) में दिगम्बरजैन मुनि नग्न एवं निर्ग्रन्थ शब्दों से, वराहमिहिर-बृहत्संहिता (४९० ई०) में नग्न, दिग्वासस् और निर्ग्रन्थ नामों से तथा भागवतपुराण (६०० ई०) में वातरश्मि श्रमण एवं गगनपरिधान संज्ञाओं से वर्णित हैं। संस्कृत के सुप्रसिद्ध गद्यकवि बाणभट्ट (७वीं शती ई०) ने कादम्बरी और हर्षचरित नामक गद्यग्रन्थों में क्षपणक, आर्हत, नग्ननाटक और मयूरपिच्छधारी शब्दों से दिगम्बरजैन मुनियों का वर्णन किया है। कूर्मपुराण (७०० ई०) एवं ब्रह्माण्डपुराण में उनके लिए निर्ग्रन्थ और नग्न शब्द प्रयुक्त हुए हैं। लिंगपुराण में भगवान् ऋषभदेव को नग्न निरूपित किया गया है। न्यायकुसुमाञ्जलि नामक न्यायग्रन्थ में उदयनाचार्य (९८४ ई०) ने निरावरण और दिगम्बर शब्द प्रयुक्त कर, न्यायमञ्जरी नामक न्याय ग्रन्थ में जयन्तभट्ट (१००० ई०) ने दिगम्बर कहकर और कृष्णमिश्र ने प्रबोधचन्द्रोदय (१०६५ ई०) नामक नाटक में विमुक्तवसन, क्षपणक तथा दिगम्बर अभिधानों से दिगम्बरजैन साधुओं की चर्चा की है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि वैदिकयुग से लेकर ईसा की ११वीं शताब्दी तक के वैदिक एवं संस्कृत साहित्य में दिगम्बरजैन मुनियों के उल्लेख मिलते हैं। अतः दिगम्बरजैन-परम्परा वैदिककाल (कम से कम १५०० ई० पू०) से पूर्ववर्ती है। महाभारत और वैदिक पद्यपुराण के आख्यानों के अनुसार तो दिगम्बरजैन-परम्परा द्वारपरयुग (आज से आठ लाख चौंसठ हजार वर्ष पूर्व) तथा छठे मन्वन्तर (आज से लाखों वर्ष पूर्व) में विद्यमान थी।

श्वेताम्बराचार्य श्री विजयानन्द सूरीश्वर 'आत्माराम' जी (ई० सन् १९२० के लगभग) ने महाभारत में उल्लिखित नग्नक्षपणक को श्वेताम्बरपरम्परा का जिनकल्पिक साधु माना है। (तत्त्वनिर्णयप्रासाद/पृ. ५१४)। किन्तु यह सर्वथा असमीचीन है। सम्पूर्ण दिगम्बरीय, श्वेताम्बरीय, वैदिक एवं संस्कृत साहित्य तथा शब्दकोषों में क्षपणक शब्द दिगम्बरजैन मुनि के लिए ही प्रयुक्त हुआ है। (देखिये, अध्याय ४/प्र. १/शी. ५)।

श्वेताम्बरमुनि श्री कल्याणविजय जी ने क्षपणक शब्द को यापनीयसाधु का वाचक बतलाया है। यह भी सर्वथा मिथ्या है। किसी भी सम्प्रदाय के साहित्य में या किसी भी संस्कृत या प्राकृत के शब्दकोश में 'क्षपणक' शब्द का अर्थ 'यापनीय साधु' नहीं बतलाया गया है। इसके अतिरिक्त भारतीय साहित्य में 'क्षपणक' शब्द का प्रयोग यापनीयों

की उत्पत्ति के बहुत पहले से मिलता है। 'महाभारत' की रचना ई० पू० ४०० से ई० पू० १०० के बीच हुई थी। इसमें नग्नक्षपणक का उल्लेख है, जब कि यापनीयसम्प्रदाय की उत्पत्ति ईसा की पाँचवीं शताब्दी के प्रारंभ में हुई थी। (देखिये, अध्याय ७ / प्र. १ / शी. १०)। आजिविकसाधु की भी क्षपणक संज्ञा संभव नहीं है। (देखिये, अध्याय ४ / प्र. १ / शी. ३३)।

बौद्ध पिटकसाहित्य में ईसापूर्व छठी शती के बुद्धवचनों का संकलन है, जो ईसापूर्व प्रथम शताब्दी में लिपिबद्ध हो चुका था। उसके अन्तर्गत सुत्तपिटक के अंगुत्तर-निकाय नामक ग्रन्थ में निर्ग्रन्थों (दिगम्बरजैन मुनियों) को अहिरिका (अहीक=निर्लज्ज) कहा गया है, जिससे उनका नग्न रहना सूचित होता है। अंगुत्तरनिकाय में ही उन्हें अचेल शब्द से भी अभिहित किया गया है। प्रथम शती ई० के बौद्धग्रन्थ दिव्यावदान में निर्ग्रन्थों को नग्न विचरण करनेवाला वर्णित किया गया है। धम्मपद-अट्टकथा (४-५वीं शती ई०) की विसाखावत्थु-कथा में भी निर्ग्रन्थों को नग्नवेशधारी ही बतलाया गया है तथा आर्यशूर (चौथी शती ई०) ने संस्कृत में रचित जातकमाला में निर्ग्रन्थों को वस्त्रधारण करने के कष्ट से मुक्त कहा है।

किन्तु, मुनि श्री कल्याणविजय जी ने इन बौद्धग्रन्थों में उपलब्ध नग्न निर्ग्रन्थों के उल्लेखों को यापनीय साधुओं का उल्लेख माना है, जो अत्यन्त अप्रामाणिक है। निर्ग्रन्थ और यापनीय भिन्न सम्प्रदायों के नाम हैं, यह पाँचवी शती ई० के कदम्बवंशी राजा मृगेशवर्मा के हल्सी ताम्रपत्रलेख (क्र० ९९) से स्पष्ट है। (देखिये, अध्याय ४ / प्र. २ / शी. १९)। तथा यापनीयसम्प्रदाय का उदय ईसा की पाँचवीं शताब्दी के प्रारम्भ में हुआ था, जब कि दिव्यावदान ईसा की प्रथम शताब्दी का ग्रन्थ है। तथा उन्होंने (मुनि श्री कल्याणविजय जी ने) श्वेताम्बरसम्प्रदाय की प्राचीनता प्रमाणित करने के लिए बौद्धग्रन्थ अंगुत्तरनिकाय में वर्णित 'निगण्ठा एकसाटका' इत्यादि वाक्य में आये एकसाटक (एकशाटक) शब्द को निर्ग्रन्थ का विशेषण मानकर एकवस्त्रधारी श्वेताम्बर-साधु का बोधक मान लिया है, जो उनकी महान् भ्रान्ति है। और दिगम्बर जैन विद्वान् कामताप्रसाद जी जैन ने यह समझ लिया है कि वह निर्ग्रन्थसम्प्रदाय के क्षुल्लक नामक उत्कृष्ट श्रावक का वाचक है। यह भी भ्रान्तिपूर्ण धारणा है। 'एकसाटक' शब्द 'निर्ग्रन्थ' का विशेषण नहीं है, अपितु निर्ग्रन्थों से भिन्न एकसाटक (एक वस्त्रधारी) नाम से प्रसिद्ध सम्प्रदाय-विशेष के साधुओं का बोधक स्वतंत्र शब्द है। यह सुत्तपिटक-खुदकनिकाय के उदानपालि नामक प्राचीन ग्रन्थ से सिद्ध है। (देखिये, अध्याय ४ / प्र. २ / शी. ८)।

इसी प्रकार मज्झिमनिकायपालि (१. मूलपण्णासक) के महासच्चकसुत्त में निर्ग्रन्थपुत्र सच्चक ('सच्चको निगण्ठपुत्तो'), अचेलक और पाणितलभोजी आजीविक

साधुओं के आचारगत दोषों का वर्णन करता है। निर्ग्रन्थपुत्र सच्चक निर्ग्रन्थ-सम्प्रदाय के (निर्ग्रन्थों के अनुयायी) श्रावक का गृहस्थ पुत्र था। किन्तु मुनि श्री कल्याणविजय जी ने उसके साथ 'निर्ग्रन्थ' शब्द जुड़ा होने से उसे निर्ग्रन्थ-साधु मान लिया और निर्णय दे दिया कि 'सच्चक' श्वेताम्बर जैन साधु था, क्योंकि यदि वह दिगम्बरजैन साधु होता, तो अचेलत्व और पणितलभोजित्व का उपहास नहीं करता। मुनि जी का यह निर्णय समीचीन नहीं है, क्योंकि सच्चक निर्ग्रन्थ साधु नहीं था, अपितु निर्ग्रन्थ सम्प्रदाय का श्रावक था, यह उसके निर्ग्रन्थपुत्र विशेषण से ही स्पष्ट है। दूसरे, उसने आजिविक साधुओं के अचेलकत्व और पाणितलभोजित्व की निन्दा नहीं की, अपितु स्वेच्छाचार एवं भोजन करते समय हाथ चाटने आदि अशोभनीय प्रवृत्तियों की निन्दा की है। इसके अतिरिक्त दीघनिकायपालि (भाग १) के महासीहनादसुत्त में अचेल काश्यप अचेल (नग्न निर्ग्रन्थ) साधु होते हुए भी आजिविक साधुओं के उक्त आचार की निन्दा करते हैं। इससे अचेल काश्यप का सचेल श्वेताम्बर साधु होना सिद्ध नहीं होता। (देखिये, अध्याय ४/ प्र. २/ शी. ९, १०, ११)। तथा मुनि कल्याणविजय जी का यह कथन भी समीचीन नहीं है कि बौद्धसाहित्य में कहीं भी जैनश्रावकों को 'निगण्ठ' शब्द से अभिहित नहीं किया गया है। निगण्ठपुत्त शब्द सच्चक के निर्ग्रन्थसम्प्रदाय के श्रावकपुत्र होने का ही सूचक है, क्योंकि मुनियों के पुत्र नहीं होते। जातक अट्टकथा (तृतीयभाग) की चूलकालिङ्ग-जातकवर्णना में भी निर्ग्रन्थ-सम्प्रदाय के श्रावक को निर्ग्रन्थ शब्द से एवं श्राविका को निर्ग्रन्थी शब्द से अभिहित किया गया है। (देखिये, अध्याय ४/ प्र. २/ शी. १२)।

श्वेताम्बरमुनि श्री नगराज जी ने धम्मपद-अट्टकथा की निगंठवत्थु एवं कुण्डलकेसित्थेरीवत्थु में तथा धेरीगाथा-अट्टकथा की भद्दाकुण्डलकेसा-धेरीगाथावर्णना में वस्त्रधारी निर्ग्रन्थों की चर्चा होने की बात कही है, किन्तु यह सत्य नहीं है। इन तीनों कथाओं में 'निगण्ठ' शब्द के साथ 'वस्त्रधारी' विशेषण नहीं है। धम्मपद-अट्टकथा की निगंठवत्थु अट्टकथा में तो स्पष्ट शब्दों में कहा गया है कि ये निर्ग्रन्थ ह्रीकौपीनाङ्ग (लज्जाजनक गोपनीय अंग) को प्रच्छादित नहीं करते। (देखिये, अध्याय ४/ प्र. २/ शी. १६, १७)।

इस प्रकार बौद्धसाहित्य में श्वेताम्बरमुनियों को कहीं भी 'निर्ग्रन्थ' शब्द से अभिहित नहीं किया गया है। सुत्तपिटक-खुद्दकनिकाय के ही अशोककालीन (अथवा ईसापूर्व प्रथम शताब्दी में रचित) अपदान नामक ग्रन्थ में श्वेताम्बर साधुओं के लिए सेतवत्थ (श्वेतवस्त्र) संज्ञा प्रयुक्त की गयी है। (अध्याय ४/ प्र. २/ शी. १, २)। वैदिक पुराणों में भी उनके लिए 'निर्ग्रन्थ' शब्द का प्रयोग नहीं हुआ है। श्वेताम्बरसाधु का वर्णन केवल शिवमहापुराण में मिलता है। उसमें उन्हें 'निर्ग्रन्थ' शब्द से अभिहित

न कर म्लानवस्त्र, तुण्डवस्त्र (मुखवस्त्रिका), गुम्फपात्र, और मार्जनी (रजोहरण) धारण करनेवाला तथा 'धर्मलाभ' का आशीर्वाद देनेवाला, इन विशेषणों से वर्णित किया गया है। (अध्याय ४/प्र.१/शी. २९)।

ईसापूर्व छठी शती के त्रिपिटक-संगृहीत बुद्धवचनों में निर्ग्रन्थों को अह्नीक, अचेल और नग्न विशेषणों से अभिहित किया गया है, इससे सिद्ध है कि दिगम्बरजैन-परम्परा ईसापूर्व छठी शती से पूर्ववर्ती है।

अध्याय ५—पुरातत्त्व में दिगम्बर-परम्परा के प्रमाण

सिन्धुघाटी के उत्खनन में मोहेन-जो-दंडो और हड़प्पा से ई० पू० २४०० वर्ष पहले की सभ्यता के जो अवशेष प्राप्त हुए हैं, उनमें हड़प्पा से एक मस्तकविहीन कायोत्सर्ग-ध्यानमुद्रा में नग्न मूर्ति भी उपलब्ध हुई है। पुरातत्त्वविदों का मत है कि वह जैन तीर्थंकर या दिगम्बरजैन साधु की प्रतिमा है। लोहानीपुर (पटना, बिहार) में भी बिलकुल ऐसी ही मौर्यकालीन (ई० पू० तृतीय शताब्दी की) नग्न जिनप्रतिमा प्राप्त हुई है। दोनों प्रतिमाओं में आश्चर्यजनक साम्य है। इससे इस बात की पुष्टि होती है कि हड़प्पा से प्राप्त उक्त प्रतिमा जिनप्रतिमा ही है। ये प्राचीन नग्न जिनप्रतिमाएँ इस बात का सबूत हैं कि दिगम्बरजैन-परम्परा ईसापूर्व २४०० वर्ष तथा ईसापूर्व ३०० वर्ष से भी पुरानी है।

श्वेताम्बर-परम्परा में नग्न जिनप्रतिमाओं का निर्माण कभी नहीं हुआ, क्योंकि श्वेताम्बर नग्नत्व को अश्लील एवं लोकमर्यादा के विरुद्ध मानते हैं। इसलिए उन्होंने यह कल्पना की है कि तीर्थंकरों का नग्न शरीर दिव्य शुभप्रभा-मण्डल से ढँक जाता है, फलस्वरूप वे नग्न दिखाई नहीं देते। श्वेताम्बरग्रन्थ प्रवचनपरीक्षा के अनुसार गिरनारतीर्थ के स्वामित्व को लेकर हुए विवाद (संभवतः छठी शती ई०) के पूर्व तक जिनप्रतिमाएँ भी ऐसी ही बनायी जाती थीं, जिनमें जिनेन्द्र न तो सवस्त्र दिखाई देते थे, न नग्न। अर्थात् प्रतिमाओं में गुह्यांगों-वाला भाग सपाट रखा जाता था। जिन तीर्थंकर-प्रतिमाओं में गुह्यांग दिखाई देते हों, वे श्वेताम्बर-मतानुसार जिनसदृश न होने से जिनबिम्ब नहीं कहला सकती थीं, फलस्वरूप वे उनके लिए पूज्य नहीं हो सकती थीं। इस कारण जब ईसापूर्व द्वितीय-तृतीय शती में श्वेताम्बरमतानुयायी सम्राट् सम्प्रति ने सर्वप्रथम श्वेताम्बर जिन-प्रतिमाओं और मन्दिरों का सम्पूर्ण भारत में निर्माण कराया, तब अनग्न और निर्वस्त्र जिनप्रतिमाएँ ही बनवायीं। (अ.५/प्र.१/शी. १, २, ३)। यद्यपि डॉ० यू० पी० शाह एवं स्थानकवासी-सम्प्रदाय के श्वेताम्बराचार्य श्री हस्तीमल जी का कथन है कि ऐसी एक भी जिनप्रतिमा आज तक किसी मन्दिर में या उत्खनन में उपलब्ध नहीं हुई। इस तथ्य के आधार पर आचार्य श्री हस्तीमल जी ने अपना यह मन्तव्य व्यक्त किया

है कि वस्तुतः प्राचीनकाल में श्वेताम्बरसम्प्रदाय में मूर्ति-पूजा प्रचलित ही नहीं थी, इसलिए छठी शताब्दी ई० के पूर्व तक श्वेताम्बर-सम्प्रदाय में न तो किसी जिनप्रतिमा का निर्माण हुआ और न कोई जिनमन्दिर बनवाया गया। (अ. ५ / प्र. ३ / शी. २)।

प्रत्यक्षप्रमाण से उपर्युक्त कथन सत्य प्रतीत होता है। प्रवचनपरीक्षा ग्रन्थ में श्वेताम्बरमुनि उपाध्याय धर्मसागर जी ने लिखा है कि गिरनारविवाद के पश्चात् जिनप्रतिमाओं के स्वामित्व के विषय में आगे कोई विवाद न हो, इस विचार से श्वेताम्बरों ने अपने द्वारा बनवायी जानेवाली प्रतिमाओं के पादमूल में पल्लवचिह्न (वस्त्रपट्टिका का आकार) बनवाना शुरू कर दिया, तथा दिग्म्बर स्वनिर्मापित प्रतिमाओं में लिंगादि-गुह्यांगों की रचना कराने लगे। (अध्याय ५ / प्र. १ / शी. २)। ऐसी जो श्वेताम्बर-जिन-प्रतिमाएँ उपलब्ध हुई हैं, वे छठी शती ई० के बाद ही निर्मित हुई हैं। मथुरा के कंकालीटीले में उपलब्ध कुषाणकालीन (प्रथम शताब्दी ई० की) नग्न तीर्थंकर मूर्तियाँ श्वेताम्बरों द्वारा प्रतिष्ठापित नहीं हैं, अपितु जिन तीर्थंकर-मूर्तियों के पादपीठ या आयागपट्ट पर अर्धफालकधारी साधु की मूर्ति उत्कीर्ण है, वे अर्धफालक-सम्प्रदाय द्वारा प्रतिष्ठापित की गयी थीं। इस सम्प्रदाय को नग्न जिनमूर्तियों के दर्शन-पूजन से परहेज नहीं था। अन्य नग्न जिनप्रतिमाएँ दिग्म्बरों द्वारा प्रतिष्ठापित हुई थीं। (अध्याय ५ / प्र. १ / शी. ६, ७, ८)।

ईसा की छठी शताब्दी के पहले की कोई भी गुह्यांगाकार-रहित अथवा पल्लव-चिह्नयुक्त जिनप्रतिमा उपलब्ध न होने से पं० नाथूराम जी प्रेमी, डॉ० यू० पी० शाह, डॉ० सागरमल जी जैन आदि विद्वानों का मत है कि ईसा की छठी सदी के पूर्व तक दिग्म्बरों और श्वेताम्बरों के मन्दिर और प्रतिमाएँ अलग-अलग नहीं थीं, वे एक ही मन्दिर में एक ही नग्न जिनप्रतिमा की पूजा-उपासना करते थे। (अध्याय ५ / प्र. १ / शी. २ एवं ९.१)।

यह मत प्रमाणविरुद्ध है। छठी शती ई० के पूर्व भी निर्ग्रन्थों, यापनीयों और कूर्चकों के मन्दिर अलग-अलग थे और उनका स्वामित्व अलग-अलग था, यह शिलालेखों से प्रमाणित है। (अध्याय ५ / प्र. १ / शी. ९.१)। अतः यदि श्वेताम्बरसंघ भी मूर्तिपूजक था, तो ईसा की छठी शती के पूर्व उसके भी स्वतन्त्र मन्दिर रहे होंगे।

उक्त मत मानवस्वभाव के विरुद्ध होने से अयुक्तियुक्त भी है। जिन संघों के साधुओं का सवस्त्रमुक्ति, स्त्रीमुक्ति, केवलिभुक्ति आदि की मान्यताओं के विषय में गंभीर मतभेद होने के कारण साथ-साथ रहना दूभर हो गया था, जिनमें एक साधुसंघ मल्लिनाथ को स्त्री मानता था और दूसरा पुरुष, जो एक-दूसरे के आगमों को स्वकल्पित बतलाते थे और एक-दूसरे के मत को मिथ्यामत, उनका किसी एक मन्दिर में प्रतिदिन पूजा-उपासना करना संभव नहीं था। क्योंकि धार्मिक विरोधियों का धार्मिक स्थल और

धार्मिक क्रियाओं में दैनिक सान्निध्य धार्मिक मतभेदों की याद दिलाता है और उन्हें प्रकट होने का अवसर देता है, जिससे विवाद और कलह अवश्यभावी है। तथा सामूहिक मन्दिर और उसे दान में मिली सम्पत्ति स्वामित्व के संघर्ष को जन्म देती है, जो हिंसात्मक प्रवृत्तियों में परिणत हो जाता है। इसलिए विभक्त हुए विरोधी सम्प्रदाय ऐसे अवसरों को टालते हैं, अर्थात् अपने पूजा-उपासना के स्थान भी अलग कर लेते हैं। दिगम्बरों और श्वेताम्बरों के सामने ऐसी कोई मजबूरी भी नहीं थी, कि इतने गंभीर मतभेद के बाद भी एक ही मन्दिर में अपनी मान्यताओं के विरुद्ध निर्मित जिनप्रतिमा को जिनबिम्ब मानकर पूजते रहते। (अध्याय ५ / प्र. १ / शी. ९.२)।

उक्त मत सिद्धान्त-विरुद्ध भी है। जो श्वेताम्बरसंघ नग्न जिनप्रतिमा को जिनबिम्ब ही न मानता हो, उसके द्वारा उसकी पूजा किया जाना असंभव है।

वस्तुतः मन्दिर तो उसी दिन अलग-अलग हो गये होंगे, जिस दिन भिन्न विचाराधारा को लेकर साधुओं का एक वर्ग निर्ग्रन्थसंघ से अलग हुआ था। जहाँ पुरुषतीर्थंकर और स्त्रीतीर्थंकर के मतभेद एवं उपासनापद्धति की भिन्नता के कारण मन्दिर ही मतभेद का कारण बन गया हो, वहाँ सम्प्रदायभेद हो जाने पर भी मन्दिर अलग न हो, यह संभव नहीं है। यदि ईसा की छठी सदी के पहले की श्वेताम्बर-सिद्धान्तानुसार बनी जिनप्रतिमा उपलब्ध नहीं हुई, तो श्वेताम्बराचार्य हस्तीमल जी का यही निष्कर्ष युक्तिसंगत प्रतीत होता है कि उस समय तक श्वेताम्बरसम्प्रदाय में मूर्तिपूजा प्रचलित नहीं हुई थी, किन्तु यह अटकल कदापि युक्तिसंगत नहीं है कि उस समय तक श्वेताम्बरों और दिगम्बरों के मंदिर अलग-अलग नहीं थे और वे एक ही मन्दिर में नग्न जिनप्रतिमा की पूजा-उपासना करते थे।

अभिप्राय यह कि हड़प्पा और लोहानीपुर से उपलब्ध नग्न जिनप्रतिमाओं और मथुरा के कंकालीटीले से प्राप्त कुछ नग्न तीर्थंकरमूर्तियों से सिद्ध होता है कि दिगम्बरजैन-परम्परा ईसा से कम से कम ढाई हजार वर्ष पुरानी है।

अभिलेखों से भी दिगम्बरजैन-परम्परा की प्राचीनता सिद्ध होती है। सम्राट् अशोक (ईसापूर्व तृतीय शती) के सातवें देहली-टोपरा-स्तम्भलेख में सभी धार्मिक सम्प्रदायों तथा ब्राह्मणों, आजीविकों और निर्ग्रन्थों के कल्याणकारी कार्यों की देख-रेख के लिए धर्ममहामात्य नियुक्त किये जाने का उल्लेख है। पाँचवीं शती ई० के कदम्बवंशी राजा श्रीविजयशिवमृगेशवर्मा के देवगिरि-ताम्रपत्रलेख (क्र. ९८) में लिखित है कि उसने कालवंग नामक ग्राम का एकभाग जिनालय के लिये, दूसरा भाग श्वेतपटमहाश्रमणसंघ के लिए तथा तीसराभाग निर्ग्रन्थमहाश्रमणसंघ के लिए दान किया था। राजा मृगेशवर्मा (४७०-४९० ई०) के हल्सी-ताम्रपत्र-लेख (क्र.९९) में यापनीयों और कूर्चकों के

साथ निर्ग्रन्थों को भूमिदान का वर्णन है। (देखिये, अध्याय २/प्र. ६/शी. २)। इस तरह अभिलेख भी इस तथ्य के प्रमाण हैं कि निर्ग्रन्थश्रमणसंघ अर्थात् दिगम्बरजैन-परम्परा सम्राट् अशोक के काल (ईसापूर्व तृतीय शताब्दी) से पूर्ववर्ती है।

अध्याय ६—दिगम्बर-श्वेताम्बर-भेद का इतिहास

प्रायः सभी दिगम्बरजैनों की यह धारणा है कि दिगम्बर-श्वेताम्बर-भेद ईसापूर्व चौथी शताब्दी में श्रुतकेवली भद्रबाहु के समय में द्वादशवर्षीय दुर्भिक्ष के फलस्वरूप हुआ था। किन्तु यह धारणा संशोधनीय है। श्रुतकेवली भद्रबाहु के समय में दिगम्बर-श्वेताम्बर-भेद नहीं हुआ था, अपितु दिगम्बर-अर्धफालक-भेद हुआ था। दिगम्बर-श्वेताम्बर-भेद तो जम्बूस्वामी के निर्वाण (वीर नि० सं० ६२ = ४६५ ई० पू०) के पश्चात् ही हो गया था। इसका प्रमाण यह है कि उनके निर्वाण के पश्चात् ही दोनों सम्प्रदायों की गुरु-शिष्य-परम्परा अलग-अलग हो गयी थी। दिगम्बर-परम्परा में जम्बूस्वामी के बाद क्रमशः विष्णु, नन्दिमित्र, अपराजित, गोवर्धन और भद्रबाहु इन पाँच श्रुतकेवलियों के नाम मिलते हैं, जब कि श्वेताम्बरपरम्परा में प्रभव, शय्यम्भव, यशोभद्र, सम्भूतिविजय और भद्रबाहु के नाम हैं। गुरु-शिष्यपरम्परा में यह भेद स्पष्टतः संघ-भेद का सूचक है। (अ. ६/प्र. १/शी. ३)।

निर्ग्रन्थसंघ से पहली बार तो श्वेताम्बरसंघ की उत्पत्ति शीतादिपरीषहों की पीड़ा सहने में असमर्थ साधुओं के अचेलत्व को छोड़कर वस्त्रपात्र-कम्बल आदि ग्रहण कर लेने से हुई थी, किन्तु दूसरी बार उससे (निर्ग्रन्थसंघ से) अर्धफालकसंघ का जन्म द्वादशवर्षीय दुर्भिक्ष के कारण आहारप्राप्ति में उत्पन्न कठिनाइयों के फलस्वरूप हुआ था। अर्धफालक साधु नग्न रहते थे, किन्तु वायें हाथ पर सामने की ओर आधा वस्त्र लटकाकर गुह्यांग छिपाते थे। इस कारण वे अर्धफालक नाम से प्रसिद्ध हुए। भिक्षा लाने के लिए वे पात्र भी रखते थे। उनका अस्तित्व ईसा की प्रथम शताब्दी तक बना रहा। बाद में वे श्वेताम्बर सम्प्रदाय में विलीन हो गये। (अ. ६/प्र. १/शी. १०)। मथुरा के कंकालीटीले में उपलब्ध अनेक नग्न जिनप्रतिमाएँ इसी सम्प्रदाय के द्वारा बनवायी गयी थीं।

डॉ० सागरमल जी ने एक बहुत ऊँची, बहुलक्ष्यसाधक, ऐतिहासिक कल्पना की है। उन्होंने कल्पित किया है कि निर्ग्रन्थसंघ दो थे : उत्तरभारतीय और दक्षिणभारतीय। उत्तरभारतीय निर्ग्रन्थसंघ सचेलाचेल था और महावीर द्वारा प्रणीत था तथा दक्षिण भारतीय निर्ग्रन्थसंघ अचेल था और उसकी नींव विक्रम की छठी सदी में दक्षिणभारत के *आचार्य कुन्दकुन्द ने डाली थी। ईसा की पाँचवीं शती के प्रारम्भ में उत्तरभारतीय-सचेलाचेल-निर्ग्रन्थसंघ का विभाजन हुआ, जिससे सचेलाचेल के पक्षधर श्वेताम्बरसंघ*

की तथा अचेलता के पक्षधर यापनीयसंघ की उत्पत्ति हुई। अर्थात् भगवान् महावीर-प्रणीत निर्ग्रन्थसंघ के विभाजन से दिगम्बर-श्वेताम्बर-संघभेद नहीं हुआ, अपितु श्वेताम्बर-यापनीय-संघभेद हुआ। इस कल्पना से डॉक्टर सा० ने निम्नलिखित लक्ष्य साधने की चेष्टा की है—

१. श्वेताम्बरमत को सर्वज्ञ-महावीर-प्रणीत सम्यक् मत और दिगम्बरजैनमत को छद्मस्थप्रणीत निह्वमत (मिथ्यामत) सिद्ध करना।

२. महावीर के तीर्थ को सचेलाचेल सिद्ध करना।

३. श्वेताम्बरों और यापनीयों को ही महावीर की परम्परा का उत्तराधिकारी ठहराना।

४. और इस प्रकार जो ग्रन्थ श्वेताम्बरों का नहीं है और स्पष्टतः यापनीयों का भी नहीं है, किन्तु जिसकी कुछ विषयवस्तु श्वेताम्बरग्रन्थों की विषयवस्तु से मिलती-जुलती है, उसे यदि वह यापनीयसम्प्रदाय की उत्पत्ति के पूर्व रचा गया है, तो उत्तरभारतीय-सचेलाचेल-निर्ग्रन्थसंघ के आचार्यों द्वारा रचित सिद्ध करना और यदि उसके बाद रचा गया है, तो उस संघ के उत्तराधिकारी यापनीयसंघ के आचार्य द्वारा रचित बतलाना और इस तरह उसके दिगम्बरग्रन्थ होने का अपलाप करना। (अध्याय २ / प्र. ३ / शी. १)।

डॉक्टर सा० का उपर्युक्त मत सर्वथा कपोलकल्पित है। उत्तरभारत में तो क्या, भारत के किसी भी कोने में, कभी भी, सचेलाचेल-निर्ग्रन्थसंघ का अस्तित्व नहीं था। इसके निम्नलिखित प्रमाण हैं—

१. भगवान् महावीर ने सचेलाचेल धर्म का नहीं, अपितु अचेलकधर्म का उपदेश दिया था, यह श्वेताम्बरीय उत्तराध्ययनसूत्र की 'अचेलगो य जो धम्मो' (२३ / २९) इस गाथा से ही सिद्ध है। अचेलकधर्म का उपदेश देने से यह भी सिद्ध है कि तीर्थंकर महावीर ने अचेलक साधु को ही निर्ग्रन्थ शब्द से अभिहित किया है, अतः उनके द्वारा प्रणीत निर्ग्रन्थसंघ अचेल ही था, सचेलाचेल नहीं। (अध्याय २ / प्र. ३ / शी. ३)।

२. समस्त दिगम्बरजैन साहित्य, सम्पूर्ण वैदिक (हिन्दू) साहित्य, सकल बौद्ध-साहित्य, संस्कृतसाहित्य और निर्ग्रन्थसंघ या मूलसंघ का उल्लेख करनेवाले सभी शिलालेखों एवं ताम्रपत्रों में तीर्थंकर महावीर और उनके अनुयायी दिगम्बर साधुओं को ही निर्ग्रन्थ शब्द से सम्बोधित किया गया है। इससे भी प्रमाणित है कि महावीर का अनुयायी निर्ग्रन्थसंघ अचेल ही था।

३. श्वेताम्बरग्रन्थ विशेषावश्यकभाष्य में साध्वाचार के दो भेद माने गये हैं—जिनकल्प और स्थविरकल्प। इनमें जिनकल्प को अचेल और स्थविरकल्प को सचेला

कहा गया है, किन्तु वास्तव में दोनों सचेत हैं। (अध्याय २/प्र. ३/शी. ३.३)। जम्बूस्वामी के निर्वाण के बाद उनमें से कटिवस्त्ररहित-प्रच्छादकसहित-सचेत जिनकल्प का भी आचरण असंभव मान लिया गया, जिससे केवल कटिवस्त्र-प्रच्छादकसहित-सचेत स्थविरकल्प को धारण करनेवाले साधु ही शेष रह गये। (अध्याय २/प्र. ३/शी. ३.५)।

इस प्रकार डॉ० सागरमल जी ने ईसा की पाँचवीं शताब्दी के प्रथम चरण में जिस उत्तरभारतीय-सचेलाचेल-निर्ग्रन्थसंघ के विभाजन से श्वेताम्बर और यापनीय संघों की उत्पत्ति बतलायी है, उसका अस्तित्व ही नहीं था। अतः डॉक्टर सा० का यह मत अप्रामाणिक है कि उत्तरभारतीय-सचेलाचेल-निर्ग्रन्थसंघ के विभाजन से श्वेताम्बर और यापनीय संघों का उद्भव हुआ था। जम्बूस्वामी पर्यन्त दिगम्बर और श्वेताम्बर संघों की गुरु-शिष्यपरम्परा का अभिन्न होना और तत्पश्चात् भिन्न हो जाना इस बात का ज्वलन्त प्रमाण है कि भगवान् महावीर-प्रणीत अचेल-निर्ग्रन्थसंघ के विभाजन से ही दिगम्बर-श्वेताम्बर संघ अस्तित्व में आये।

अध्याय ७—यापनीयसंघ का इतिहास

१. यापनीयसंघ का सर्वप्रथम उल्लेख पाँचवीं शती ई० (४७०-४९० ई०) के कदम्बवंशी राजा मृगेशवर्मा के हत्सी-ताम्रपत्रलेख में हुआ है। तत्पश्चात् ८वीं शती ई० के श्वेताम्बराचार्य श्री हरिभद्रसूरि ने अपने ललितविस्तरा ग्रन्थ में यापनीयतन्त्र नामक यापनीयग्रन्थ का उल्लेख किया है। हरिषेण (९३१ ई०) के बृहत्कथाकोश में, देवसेनसूरि (९३३ ई०) के दर्शनसार में, इन्द्रनन्दी (११वीं शती ई०) के नीतिसार में षड्दर्शनसमुच्चय की गुणरत्नसूरिकृत टीका (१४वीं शती ई०) में, दंसणपाहुड पर श्रुतसागरसूरि (१५वीं शती ई०) द्वारा रचित व्याख्या में तथा रत्ननन्दी (१६वीं शती ई०) के भद्रबाहुचरित में यापनीयसंघ का वर्णन मिलता है। इस प्रकार ईसा की पाँचवीं शताब्दी के उत्तरार्ध से पूर्व यापनीयसंघ का उल्लेख न तो किसी ग्रन्थ में उपलब्ध होता है, न किसी शिलालेख में। इससे अनुमान होता है कि उसका उदय ईसा की पाँचवीं सदी के प्रारम्भ में हुआ था। वह ईसा की १५वीं शती तक विद्यमान रहा, पश्चात् उसका लोप हो गया। इसका केन्द्र दक्षिण भारत था।

२. यापनीयसम्प्रदाय अचेल और सचेत दोनों लिंगों से मुक्ति मानता था, अतः यापनीय साधु दिगम्बरसाधुओं के समान नग्न भी होते थे और श्वेताम्बरमुनियों के समान सवस्त्र भी। नग्न साधु दिगम्बरमुनियों के समान मयूरपिच्छी भी रखते थे और पाणितल में भोजन करते थे। वे नग्न जिनप्रतिमाएँ भी प्रतिष्ठित कराते थे और उनकी पूजा करते थे। इसके अतिरिक्त उनकी समस्त मान्यताएँ श्वेताम्बरों के समान थीं। वे श्वेताम्बर-आगमों को ही मानते थे। अतः उनमें वर्णित सवस्त्रमुक्ति, स्त्रीमुक्ति, गृहस्थमुक्ति,

परतीर्थिकमुक्ति, केवलि-कवलाहार और महावीर का गर्भपरिवर्तन आदि बातों में विश्वास करते थे। यापनीयसाधु श्वेताम्बरसाधुओं के ही समान शिष्यों को 'धर्मलाभ' का आशीर्वाद देते थे। श्वेताम्बर-आगमों को प्रमाण मानने से उनके रचयिता आचार्य ही यापनीयों के पूर्वाचार्य थे। यापनीय गोप्य भी कहलाते थे। दिगम्बराचार्यों ने यापनीयों को पाँच जैनाभासों में परिगणित किया है। (अध्याय ७/प्र.१/शी.१)।

३. यापनीयों ने श्वेताम्बर-आगमों को ही अपना लिया था, इसलिए उन्हें मौलिक ग्रन्थों के निर्माण की आवश्यकता नहीं हुई। उन्होंने वही ग्रन्थ रचे हैं, जो दिगम्बरपरम्परा के स्त्रीमुक्तिनिषेध आदि सिद्धान्तों के खण्डन और अपने मत की पुष्टि के लिए आवश्यक थे। श्री हरिभद्रसूरि ने 'ललितविस्तरा' में एक यापनीयतन्त्र नामक ग्रन्थ का उल्लेख किया है, जो अनुपलब्ध है। वर्तमान में केवल यापनीय-आचार्य पाल्यकीर्ति शाकटायन के तीन ग्रन्थ उपलब्ध हैं-स्त्रीनिर्वाणप्रकरण, केवलिभुक्तिप्रकरण एवं शाकटायन-व्याकरण। उनका एक साहित्य-विषयक ग्रन्थ भी था।

४. दिगम्बर जैन विद्वान् पं० नाथूराम जी प्रेमी ने भगवती-आराधना, उसकी विजयोदया टीका, मूलाचार और तत्त्वार्थसूत्र, इन दिगम्बरजैन-ग्रन्थों को यापनीय-आचार्यों द्वारा रचित बतलाया है और श्वेताम्बर विद्वान् डॉ० सागरमल जी जैन ने तो दिगम्बराचार्यों द्वारा रचित कसायपाहुड, षट्खण्डागम, भगवती-आराधना आदि सोलह ग्रन्थों को यापनीयों के खाते में तथा तत्त्वार्थसूत्र एवं सन्मत्तिसूत्र को श्वेताम्बर-यापनीयों की कपोलकल्पित मातृपरम्परा (उत्तरभारतीय-सचेलाचेल-निर्ग्रन्थपरम्परा) के खाते में डाल दिया है। इनमें से एक भी ग्रन्थ यापनीय-परम्परा अथवा श्वेताम्बर-यापनीयों की कपोलकल्पित मातृपरम्परा का नहीं है, यह उनमें वर्णित यापनीयमत-विरुद्ध अथवा श्वेताम्बर-यापनीय-मातृपरम्परा-विरुद्ध सिद्धान्तों से प्रमाणित है। (अध्याय ११-२५)।

५. हरिषेण के बृहत्कथाकोश और रत्ननन्दी के भद्रबाहुचरित में यापनीयसंघ की उत्पत्ति श्वेताम्बरसंघ से बतलायी गयी है, यह शतप्रतिशत सत्य है। इसकी पुष्टि श्वेताम्बरों और यापनीयों के सिद्धान्तों, आगमों एवं आचार्यपरम्परा की अभिन्नता से होती है। (अध्याय ७ / प्र.१/शी.५)।

६. मुनि कल्याणविजय जी, डॉ० हीरालाल जैन एवं पं० दलसुख मालवाणिया ने यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि श्वेताम्बरसाधु बोटिक शिवभूति ने वीर-निर्वाण सं० ६०९ (ई० सन् ८२) में यापनीयसंघ की स्थापना की थी। डॉ० सागरमल जी ने बोटिक शिवभूति द्वारा यापनीयसंघ की स्थापना ईसा की पाँचवीं सदी के प्रारंभ में सिद्ध करने की चेष्टा की है। किन्तु यह सर्वथा मिथ्या है। आवश्यक-मूलभाष्य, विशेषावश्यकभाष्य, आवश्यकनिर्युक्ति, प्रवचनपरीक्षा आदि श्वेताम्बरग्रन्थों में बोटिक

शिवभूति को दिगम्बरजैन-सम्प्रदाय का संस्थापक बतलाया गया है। किन्तु यथार्थ यह है कि शिवभूति न तो यापनीयमत का प्रवर्तक था, न ही दिगम्बरजैनमत का संस्थापक, उसने तो श्वेताम्बरमत छोड़कर जिनेन्द्रप्रणीत परम्परागत दिगम्बरमत का वरण किया था। यह उसके ही वचनों से सिद्ध है। वह अपने गुरु के सचेल-स्थविरकल्प-समर्थक तर्कों का विरोध करते हुए कहता है—“परलोकार्थी (मोक्षार्थी) को अचेल जिनकल्प ही ग्रहण करना चाहिए, कषाय, भय, मूर्च्छादि दोषों के कारणभूत सपरिग्रह सचेल स्थविरकल्प से क्या लाभ? यह अनर्थकर है, इसीलिए श्रुत में परिग्रहरहित (अचेल) जिनकल्प का उपदेश दिया गया है। जिनेन्द्र भी अचेल होते हैं। अतः अचेलता ही सुन्दर (हितकर) है।” इन्हीं श्रुतवचनों एवं जिनेन्द्रदेव के अचेलत्व का अनुसरण करते हुए शिवभूति ने नागन्यालिंग ग्रहण किया था। इससे सिद्ध है कि उसने किसी नये मत का प्रवर्तन नहीं किया था, अपितु जिनप्रणीत परम्परागत दिगम्बरमत को ही अंगीकार किया था। (अध्याय २/प्र.२/शी.५)।

७. श्वेताम्बराचार्य हस्तीमल जी की मान्यता है कि यापनीयसंघ की उत्पत्ति दिगम्बरसंघ से हुई थी, क्योंकि अभिलेखों में दोनों के गण-गच्छ समान मिलते हैं, जैसे-मूलसंघ, श्रीमूल-मूलसंघ, कनकोत्पलसंभूतसंघ, पुनागवृक्षमूलसंघ, कुन्दकुन्दान्वय, कण्डूरगण, क्राणूरगण आदि। (अध्याय ७/प्र.१/शी.५)।

किन्तु, इनमें से केवल ‘पुनागवृक्षमूलगण’, जिसे आचार्य हस्तीमल जी ने ‘गण’ न कहकर ‘संघ’ कहा है, दिगम्बरपरम्परा और यापनीयपरम्परा में समान था, शेष नहीं। शेष में से श्रीमूल-मूलसंघ, कनकोत्पलसंभूतसंघ और कण्डूरगण केवल यापनीयपरम्परा में थे और मूलसंघ, कुन्दकुन्दान्वय एवं क्राणूरगण केवल दिगम्बर-परम्परा में। (अध्याय ७/प्र.३/शी.३,४)। अतः केवल एक ‘पुनागवृक्षमूलगण’ नाम की समानता इस निर्णय का युक्तियुक्त हेतु नहीं है कि यापनीयसंघ की उत्पत्ति दिगम्बरसंघ से हुई थी। समानता को देखा जाय, तो यापनीयसंघ की सैद्धान्तिक और सांस्कृतिक समानता दिगम्बरसंघ की अपेक्षा श्वेताम्बरसंघ से अधिक थी। जैसे सिद्धान्त और संस्कृति की अधिक समानता के कारण श्वेताम्बरजैन सम्प्रदाय की उत्पत्ति, निर्ग्रन्थ (दिगम्बर) सम्प्रदाय से ही सिद्ध होती है, बौद्धसम्प्रदाय से नहीं, जैसे उक्त समानता के कारण स्थानकवासी श्वेताम्बर-सम्प्रदाय का उद्भव मूर्तिपूजक श्वेताम्बरसम्प्रदाय से ही सिद्ध होता है, दिगम्बरजैन-सम्प्रदाय से नहीं, वैसे ही सवस्त्रमुक्ति, स्त्रीमुक्ति, गृहस्थमुक्ति, परतीर्थिकमुक्ति, केवलिभुक्ति आदि सिद्धान्तों एवं ‘धर्मलाभ’ कहकर आशीर्वाद देने आदि-रूप संस्कृति की अत्यन्त समानता के कारण यापनीयसम्प्रदाय का जन्म श्वेताम्बरसम्प्रदाय से ही सिद्ध होता है, दिगम्बरसम्प्रदाय से नहीं। (अध्याय ७/प्र.१/शी.५)। यापनीयसम्प्रदाय ने ‘यापनीय’ नाम भी श्वेताम्बर-आगमों से ग्रहण किया था। (अध्याय ७/प्र.१/शी.७)।

८. यापनीयसंघ एक ऐसा संघ था, जिसके साधु मानते थे कि मुक्ति के लिए नग्न रहना आवश्यक नहीं है, फिर भी नग्न रहते थे। इसका क्या प्रयोजन था? कुछ विद्वानों की धारणा है कि इसका प्रयोजन दिगम्बर और श्वेताम्बर सम्प्रदायों को एक-दूसरे के आचार-विचार अपनाकर एक होने की प्रेरणा देना था। किन्तु, यापनीय-सम्प्रदाय का प्रणेता इतना मूढ़ नहीं रहा होगा कि वह दिगम्बरों और श्वेताम्बरों को इस हद तक मूर्ख मान ले कि वे अपनी आस्था-विरुद्ध मान्यताओं को स्वीकार कर एक हो जायेंगे। अतः विद्वानों की उपर्युक्त धारणा अयुक्तियुक्त है। वस्तुतः नग्न वेशधारण करने का प्रयोजन था अपने अस्तित्व की रक्षा के लिए लोकमान्यता और राजमान्यता की प्राप्ति, क्योंकि दक्षिण में यही वेश राजमान्य और लोकमान्य था। (अध्याय ७/प्र.२/शी.६)।

९. ईसापूर्व द्वितीय शती के सम्राट् खारवेल के हाथी गुम्फाभिलेख में यापज्वकेहि (यापज्ञापकेभ्यः) पद का प्रयोग हुआ है। प्रसिद्ध इतिहासकार श्री काशीप्रसाद जायसवाल ने पहले उसका अर्थ 'यापनीय-आचार्य के लिए' किया था, जिससे द्वितीय शती ई० पू० में यापनीयसंघ के अस्तित्व का प्रसंग आता था। किन्तु श्वेताम्बरमुनि श्री पुण्यविजय जी ने उसका अर्थ 'धर्म का निर्वाह करनेवालों के लिए' बतलाया, जिसे माननीय जायसवाल जी ने स्वीकार कर लिया। किन्तु वह अर्थ भी समीचीन नहीं है। वस्तुतः उक्त पद का समीचीन अर्थ 'धर्मोपदेशकों के लिए' है। (अध्याय ७/प्र. २/शी. २)।

१०. यापज्वकेहि इस पद को 'यापज्ञापकेभ्यः' (धर्मनिर्वाहकों के लिए) इस प्रकार चतुर्थ्यन्त मानकर तथा चिनवतानि वाससितानि शब्दों को रेशमी और श्वेत वस्त्र का वाचक मानकर मुनि श्री पुण्यविजय जी ने यह अर्थ ग्रहण किया है कि सम्राट् खारवेल ने श्वेताम्बरसाधुओं को वस्त्रदान किया था, अतः वह श्वेताम्बर था। किन्तु 'यापज्वकेहि' पद चतुर्थ्यन्त नहीं, अपितु तृतीयान्त है, इसलिए उससे उपर्युक्त अर्थ प्रतिपादित नहीं होता। अतः 'यापज्ञापक' शब्द से श्वेताम्बरसाधु अर्थ नहीं लिया जा सकता, फलस्वरूप खारवेल को श्वेताम्बर नहीं माना जा सकता। (अध्याय ७/प्र.२/शी. ३, ४, ५)।

११. हिमवन्त थेरावली नाम की एक झूठी थेरावली रची गयी, जिसमें सम्राट् खारवेल को चेदिवंश की जगह चेटवंश में उत्पन्न बतलाकर श्वेताम्बर सिद्ध करने का प्रयास हुआ। इसके समर्थन और विरोध में क्रमशः मुनि कल्याणविजय जी और बाबू कामताप्रसाद जी के तीन लेख 'अनेकान्त' में प्रकाशित हुए। 'हिमवन्त-थेरावली' की खोजबीन की गयी और यह पाया गया कि उसमें खारवेलवाला अंश झूठा है। इसकी सूचना मुनि जिनविजय जी ने 'अनेकान्त' के सम्पादक पं० जुगलकिशोर जी

मुख्तार को पटना से दिनांक १२/४/१९३० ई० को दी थी। (अध्याय ७/प्र. २/शी. ५, ६)।

१२. मुनि कल्याणविजय जी ने दिगम्बरजैन-परम्परा को अर्वाचीन सिद्ध करने के लिए यह कथा गढ़ी है कि उसकी स्थापना आचार्य कुन्दकुन्द ने विक्रम की छठी शताब्दी में दक्षिण भारत में की थी। किन्तु ३७० ई० एवं ४२५ ई० की नोणमंगल-ताम्रपट्टिकाओं (क्र ९० एवं ९४) में दिगम्बर-जैनसंघ (निर्ग्रन्थसंघ) के दूसरे नाम मूलसंघ का उल्लेख होने से उनकी यह कथा मनगढ़न्त सिद्ध हो जाती है। इसलिए उन्होंने इसकी मनगढ़न्तता को छिपाने के लिए एक दूसरी कथा गढ़ी है कि 'मूलसंघ' दिगम्बरसंघ का नाम नहीं था, अपितु बोटिक शिवभूति ने अपने द्वारा प्रवर्तित सचेलाचेल-सम्प्रदाय का उत्तरभारत में 'मूलसंघ' नाम रखा था, जो दक्षिण में जाने पर 'यापनीय' नाम से प्रसिद्ध हुआ।

यह कथा मनगढ़न्त इसलिए है कि बोटिक शिवभूति ने सचेलाचेल-सम्प्रदाय का प्रवर्तन किया ही नहीं था, जिसका दक्षिण में जाने पर 'यापनीयसंघ' नाम पड़ता। 'विशेषावश्यकभाष्य', 'प्रवचनपरीक्षा' आदि ग्रन्थों में शिवभूति को सर्वथा अचेल बोटिकसम्प्रदाय का प्रवर्तक कहा गया है और बोटिकसम्प्रदाय को दिगम्बरजैन-सम्प्रदाय कहा है। अतः यदि शिवभूति ने अपने सम्प्रदाय को उत्तरभारत में मूलसंघ नाम दिया था, तो दिगम्बरजैन संघ का ही 'मूलसंघ' नाम था, यह सिद्ध होता है। वस्तुतः उसने दिगम्बरजैन-सम्प्रदाय का भी प्रवर्तन नहीं किया था, अपितु उसे अंगीकार किया था, यह पूर्व में सिद्ध किया जा चुका है।

दूसरे, मूलसंघ उसे कहा जाता है, जिससे कोई नया संघ उत्पन्न हो। यापनीयसंघ से कोई नया संघ उत्पन्न नहीं हुआ, इसलिए उसका मूलसंघ नाम युक्तिसंगत नहीं है।

शिलालेखों में 'श्रीमूलसंघदपो (पु) न्नागवृक्षमूलगण' तथा 'श्रीमूलसंघान्वयक्राणूरगण' इन उल्लेखों को देखकर डॉ० सागरभल जी ने माना है कि ये गण यापनीयों के थे तथा मूलसंघ के साथ उनका उल्लेख हुआ है, इससे सिद्ध है कि 'मूलसंघ' यापनीयसंघ का ही नाम था, किन्तु यह डॉक्टर सा० की एकान्त-दृष्टि का परिणाम है। वस्तुतः 'पुन्नागवृक्षमूलगण' यापनीयसंघ और मूलसंघ दोनों में था। इसी प्रकार नन्दिसंघ भी दोनों में था। इनमें भेद प्रदर्शित करने के लिए यापनीयसंघ के पुन्नागवृक्ष-मूलगण एवं नन्दिसंघ के साथ 'यापनीय' शब्द का प्रयोग किया गया है तथा मूलसंघ के पुन्नागवृक्षमूलगण एवं नन्दिसंघ के साथ 'मूलसंघ' का। तथा यापनीयसंघ में 'क्राणूरगण' नहीं था, अपितु 'कण्डूरगण' था। क्राणूरगण केवल दिगम्बरसंघ में था।

अतः उक्त गणों के साथ 'मूलसंघ' का उल्लेख होने से यह सिद्ध नहीं होता कि वह यापनीयसंघ का नाम था। (अध्याय ७/प्र.३/शी.३,४)। निर्ग्रन्थसंघ (दिगम्बरसंघ) ही मूलसंघ था। इसका एक स्पष्ट प्रमाण 'षड्दर्शनसमुच्चय' की गुणरत्नकृत टीका में मिलता है—“दिगम्बराः पुनर्नाग्न्यलिङ्गाः पाणिपात्राश्च। ते चतुर्धा काष्ठासङ्घ-मूलसङ्घ-माधुरसङ्घगोप्यसङ्घभेदात्।” इसमें दिगम्बरों के संघ को ही 'मूलसंघ' कहा गया है। (अध्याय ७/प्र.३/शी.५,६)।

१३. अपने जन्मकाल (पाँचवीं शती ई०) से एक हजार वर्ष (१५०० ई०) के भीतर ही यापनीयसंघ का लोप ही गया। इसके कारण थे—सैद्धान्तिक असंगतता और साधुओं की गृहस्थवत् लौकिक प्रवृत्तियाँ। अचेल और सचेल दोनों लिंगों से मुक्ति का यापनीय-सिद्धान्त लोगों के गले नहीं उतरा। जब वस्त्रधारण करते हुए भी मुक्ति हो सकती है, तब नग्न होने की क्या आवश्यकता? लोगों के इस प्रश्न का समाधान न हो सकने से उनका यापनीयसंघ से मोहभंग हो गया। यही उसके विलोप का मुख्य कारण था। दिगम्बरसंघ केवल अचेललिंग से मुक्ति मानता है और श्वेताम्बरसंघ केवल सचेललिंग से, अतः उनमें उक्त असंगतता न होने से वे लोप से बच गये।

द्वितीय खण्ड

कुन्दकुन्द का समय

षट्खण्डागम एवं कसायपाहुड की कर्तृपरम्परा

अध्याय ८—कुन्दकुन्द के प्रथमतः भट्टारक होने की कथा मनगढ़न्त

कुन्दकुन्द ने स्वयं को अन्तिम श्रुतकेवली भद्रबाहु का परम्परा-शिष्य तो कहा है, किन्तु अपने साक्षाद् गुरु का किसी भी ग्रन्थ में उल्लेख नहीं किया। मुनि कल्याण-विजय जी ने इसका कारण यह बतलाया है कि 'कुन्दकुन्द आरम्भ में बोटिक शिवभूति द्वारा स्थापित यापनीयसंघ में दीक्षित हुए थे। वे शिवभूति के साक्षात् शिष्य नहीं थे, अपितु परम्पराशिष्य थे। किन्तु आगे चलकर उन्हें उस संघ की चैत्यवास, भूमिग्रामादिदान-ग्रहण एवं आपवादिक-सवस्त्रमुक्ति, स्त्रीमुक्ति आदि की मान्यताएँ अच्छी नहीं लगीं। इसलिए वे उससे अलग हो गये और यतः उनके गुरु इन धर्मविरुद्ध प्रवृत्तियों के समर्थक थे, अतः उन्होंने उन्हें अपना गुरु मानना छोड़ दिया। इसी कारण उन्होंने अपने ग्रन्थों में उनके नाम का उल्लेख नहीं किया।' मुनि जी का यह मत सर्वथा कपोलकल्पित है, यह निम्नलिखित तथ्यों से सिद्ध होता है—

१. प्रस्तुत ग्रन्थ के द्वितीय अध्याय (प्र.२/शी.१-६) में सिद्ध किया गया है कि बोटिक शिवभूति यापनीयसंघ का संस्थापक था ही नहीं, उसने तो दिगम्बरमत का वरण किया था। अतः आचार्य कुन्दकुन्द के उसके साक्षात् या परम्परा-शिष्य होने का प्रश्न ही नहीं उठता।

२. कुन्दकुन्द आरंभ में यापनीय थे, इसका उल्लेख न तो कुन्दकुन्द ने स्वयं अपने किसी ग्रन्थ में किया है, न किसी अन्य ग्रन्थ या शिलालेख में मिलता है। अतः सिद्ध है कि यह मुनि श्री कल्याणविजय जी द्वारा की गयी कपोलकल्पना है।

३. प्रस्तुत ग्रन्थ के दशम अध्याय में इस बात की सप्रमाण सिद्धि की गयी है कि आचार्य कुन्दकुन्द ईसापूर्वोत्तर प्रथम शताब्दी (ईसापूर्व प्रथम शताब्दी तथा ईसोत्तर प्रथम शताब्दी) में हुए थे तथा सप्तम अध्याय में यह सिद्ध किया गया है कि यापनीयमत की उत्पत्ति ईसा की पाँचवीं शताब्दी के प्रारंभ में हुयी थी। इससे भी सिद्ध होता है कि कुन्दकुन्द को यापनीयसंघ में दीक्षित मानना कपोलकल्पना मात्र है।

४. कुन्दकुन्द ने बोधपाहुड (गाथा ६१-६२) में अपने को श्रुतकेवली भद्रबाहु का परम्पराशिष्य बतलाया है, न कि बोटिक शिवभूति का। उनके इस कथन में अविश्वास और मुनि कल्याणविजय जी के वचन में विश्वास करने का कोई आधार नहीं है।

श्वेताम्बराचार्य श्री हस्तीमल जी ने मुनि श्री कल्याणविजय जी की कल्पना से मिलती-जुलती दूसरी कल्पना की है। उनका कथन है कि कुन्दकुन्द सर्वप्रथम वीरनिर्वाण सं० १००० (विक्रम सं० ५३० = ई० सन् ४७३) में अपने दादा गुरु माघनन्दी द्वारा स्थापित भट्टारकपरम्परा में भट्टारकपद पर दीक्षित हुए थे। माघनन्दी के शिष्य भट्टारक जिनचन्द्र कुन्दकुन्द के गुरु थे। (देखिये, अध्याय १०/प्र.३/शी.१ तथा अध्याय ८/प्र.२/शी.१)। आचार्य जी का तर्क है कि “दि इण्डियन ऐण्टिक्वेरी (Vol. XX) में प्रकाशित नन्दिसंघ की पट्टावली इतिहास के विद्वानों द्वारा कालक्रमानुसार तैयार की गई भट्टारकपरम्परा के प्रमुख संघ नन्दिसंघ की पट्टावली है। यह वस्तुतः भट्टारकपरम्परा की मूल पट्टावली है। इसमें सभी आचार्यों के लिए सात बार पट्टाधीश विशेषण और दो बार भट्टारक विशेषण का प्रयोग किया गया है। इस पट्टावली में आचार्य कुन्दकुन्द को भट्टारक-परम्परा का पाँचवाँ पट्टाधीश बतलाया गया है।” (देखिये, अध्याय ८/प्र.२/शी.१)।

आचार्य श्री हस्तीमल जी ने ‘जैनधर्म का मौलिक इतिहास’ (भाग ३/पृ.१२६-१४३) में भट्टारकपरम्परा के विकास के तीन रूप बतलाये हैं। यथा—

१. वीर नि० सं० ६०९ (ई० सन् ८२) के लगभग हुए संघभेद के थोड़े समय पश्चात् ही श्वेताम्बर, दिगम्बर और यापनीय, तीनों संघों के कुछ श्रमणों ने चैत्यों

में रहना प्रारंभ कर दिया था। कुछ समय बाद वे भूमिदान और द्रव्यदान लेने लगे, तब भट्टारक-परम्परा शुरू हो गयी। भट्टारकपरम्परा का यह प्रथम स्वरूप था। इसका अस्तित्व वीर नि० सं० ६४० से ८८० (ई० सन् ११३ से ३५३) तक रहा।

२. वीरनिर्वाण की नौवीं शताब्दी के अन्तिम चरण में भट्टारकों के पीठ स्थापित होने लगे और उन्होंने राजाओं को प्रभावित कर राज्याश्रय प्राप्त करना भी शुरू कर दिया। मंत्र-तंत्र, ज्योतिष और औषधि आदि के प्रयोग से जनमानस को भी अपने अधीन किया जाने लगा। यह भट्टारक-परम्परा का द्वितीय स्वरूप था, जो ईसा की ग्यारहवीं शताब्दी तक विद्यमान रहा।

३. बारहवीं शती ई० में दिगम्बरसम्प्रदाय के भट्टारक न केवल वस्त्र धारण करने लगे, अपितु प्रचुर परिग्रह एवं मठों के स्वामी बनकर राजसी ठाठबाट से जीवन व्यतीत करने लगे, साथ ही श्रावकों के धार्मिक शासक बने गये। यह भट्टारकपरम्परा का तीसरा और अन्तिम रूप था।

आचार्य हस्तीमल जी ने भट्टारकपरम्परा के इन तीन रूपों में से आचार्य कुन्दकुन्द को दूसरे रूप के अन्तर्गत पाँचवाँ पट्टाधीश माना है। उनका कथन है कि जब कुन्दकुन्द को धर्म के तीर्थकरप्रणीत वास्तविक स्वरूप का ज्ञान हुआ, तब उन्हें अपने तथा अपने गुरु के भट्टारकीय भ्रष्टाचरण के प्रति अश्रद्धा हो गयी और वे भट्टारकसम्प्रदाय से अलग हो गये। अलग होकर उन्होंने तीर्थकरप्रणीत वास्तविकधर्म का पुनरुत्थान किया। इस तरह भट्टारकीय भ्रष्टाचरण से दूषित अपने गुरु जिनचन्द्र के प्रति अश्रद्धा हो जाने से ही कुन्दकुन्द ने अपने ग्रन्थों में उनके नाम का स्मरण नहीं किया। (देखिये, अध्याय ८ / प्र.२ / शी.१)।

निरसन—आचार्य श्री हस्तीमल जी की ये सारी मान्यताएँ असमीचीन हैं। इसका स्पष्टीकरण नीचे किया जा रहा है—

१. आचार्य जी ने भट्टारकपरम्परा के विकास के जो तीन रूप बतलाये हैं, वे अप्रामाणिक हैं। कुछ मुनियों में चैत्यवास, भूमिग्रामादिदान-ग्रहण, मंत्रतंत्र-ज्योतिष-औषधि के प्रयोग द्वारा ख्यातिलाभ-जीविकोपार्जन आदि की प्रवृत्तियाँ सदा रही हैं। कुन्दकुन्द ने इन्हें अनादिकालीन कहा है (भावपाहुड/गा.१४) और इनका आश्रय लेनेवाले मुनियों को आगम में पासत्थ (पार्श्वस्थ), कुसील (कुशील), संसत्त (संसक्त), ओसण्ण (अवसन्न) और जहाछंद या मिगचरित्त (यथाछन्द या मृगचरित्र) मुनि के नाम से अभिहित किया गया है। (देखिये, अध्याय ८ / प्र.४ / शी.३)। इसलिए जैनपरम्परा के मुनियों में इन प्रवृत्तियों का विकास वीरनिर्वाण के ६०९ वर्ष बाद मानना प्रामाणिक नहीं है। अनादिकालीन होने से इन्हें विकसित नहीं माना जा सकता। और यदि विकसित

भी माना जाय, तो इन्हें भट्टारकपरम्परा के विकास का प्रथम या द्वितीय रूप नहीं कहा जा सकता, अपितु पासत्थादि-मुनिचरित्र का ही विकास कहा जा सकता है, क्योंकि पिच्छी-कमण्डलु के साथ नागन्यलिंग 'मुनि' संज्ञा का ही हेतु है। उपर्युक्त प्रवृत्तियोंवाले मुनिलिंगधारियों का सम्प्रदाय भ्रष्टमुनि-सम्प्रदाय तो कहला सकता है, किन्तु भट्टारक-सम्प्रदाय नहीं, जिस प्रकार वह श्रावकसम्प्रदाय नहीं कहला सकता।

एक बात ध्यान में रखने की है कि भट्टारकसम्प्रदाय में भ्रष्टमुनि-प्रवृत्तियाँ नहीं होतीं, जब कि पासत्थादि-मुनियों में होती हैं। भट्टारक वस्त्रधारी होने से गृहस्थों की श्रेणी में आते हैं, अतः मठ आदि में नियतवास, मन्दिर के प्रबन्ध के लिए भूमिग्रामादिदान का ग्रहण, उनका उपयोग एवं प्रबन्ध तथा मन्दिर-तीर्थ आदि की व्यवस्था इत्यादि प्रवृत्तियाँ भट्टारक पद के विरुद्ध नहीं हैं, जब कि मुनिपद के विरुद्ध हैं। अतः इन गृहस्थ-प्रवृत्तियों को अपनाने के कारण मुनि तो आचारभ्रष्ट हो जाते हैं, किन्तु भट्टारक नहीं। इसलिए पासत्थादि मुनियों के सम्प्रदाय को भट्टारकसम्प्रदाय नहीं कहा जा सकता। जो भी दिगम्बरमुनि चैत्यवास, भूमिग्रामादिदान-ग्रहण जैसी गृहस्थ-प्रवृत्तियाँ अपनाता है, वह पासत्थादि-मुनि ही कहला सकता है, भट्टारक नहीं। भट्टारक पासत्थादिमुनियों जैसा भ्रष्ट नहीं होता, क्योंकि जिनलिंगधारी न होने से उसकी गृहस्थ-प्रवृत्तियाँ मुनिधर्म-विरुद्ध नहीं होतीं। इसलिए पासत्थादि-मुनियों का सम्प्रदाय भट्टारकसम्प्रदाय था, यह कहना सर्वथा अयुक्तिसंगत है।

२. दिगम्बरजैन-परम्परा में सम्प्रदाय-विशेषार्थक भट्टारक नाम उन पुरुषों के लिए प्रयुक्त हुआ है, जो दिगम्बरमुनिलिंग धारण न करते हुए भी पिच्छी-कमण्डलु-सहित एक नया अजिनोक्त-सवस्त्रसाधुलिंग धारण कर श्रावकों के धर्मगुरु बनने लगे थे। इसलिए पासत्थादिमुनि-चरित्र और भट्टारकचरित्र में महान् अन्तर है। पासत्थादिमुनि 'मुनि' होते हुए भी गृहस्थकर्म अपनाते हैं और भट्टारक गृहस्थ होते हुए भी (यद्यपि वे विवाहित नहीं होते) मुनिकर्म (धर्मगुरु का कर्म) करने लगते हैं। इसलिए मंदिर-मठ में नियतवास, भूमिग्रामादिदान-ग्रहण, उनका प्रबन्ध और उपयोग, मन्दिर-मठ आदि की व्यवस्था, ये गृहस्थकर्म भट्टारकचरित्र की विशेषताएँ नहीं हैं, अपितु गृहस्थ होते हुए भी और सिंहासन, पालकी, छत्र, चँवर आदि राजसी ठाठ-बाट का उपभोग करते हुए भी, पिच्छी-कमण्डलु-सहित एक अजिनोक्त-सवस्त्रसाधु-लिंग धारणकर नये प्रकार के जैनसाधु जैसी अपनी छवि दर्शाना तथा श्रावकों के धर्मगुरुपद पर आसीन होना भट्टारकचरित्र की विशेषताएँ हैं। मुनि-एलक-क्षुल्लक न होते हुए भी, अर्थात् सवस्त्र गृहस्थावस्था में रहते हुए भी भट्टारकों का पिच्छी-कमण्डलु रखना तथा धर्मगुरु के पद पर आसीन होना, ये दोनों प्रवृत्तियाँ आगमविरुद्ध हैं। इस प्रकार पासत्थादि मुनिचरित्र में गृहस्थकर्म का प्रवेश आगमविरुद्ध है और भट्टारकचरित्र में मुनिकर्म पर अधिकार आगमविरुद्ध

है। फलस्वरूप ये दोनों चरित्र परस्पर विपरीत हैं। इससे सिद्ध हैं कि आचार्य श्री हस्तीमल जी ने वीरनिर्वाण के ६०९ वर्ष बाद तथा वीरनिर्वाण की नौवीं शताब्दी के अन्तिम चरण में कतिपय दिगम्बरमुनियों में दिखायी देनेवाली चैत्यवासादि जिन प्रवृत्तियों को भट्टारकीय प्रवृत्तियाँ कहा है, वे भट्टारकीय प्रवृत्तियाँ नहीं थीं, अपितु पासत्थादिमुनि-प्रवृत्तियाँ थीं।

भट्टारकीय प्रवृत्तियों का विकास ईसा की १२वीं शती में हुआ था, जब कुछ पासत्थादि-मुनियों ने मुनिलिंग त्यागकर पिच्छी-कमण्डलु के साथ एक ऐसा सवस्त्रलिंग धारण कर लिया था, जो मुनि, एलक, श्रुल्लक एवं सामान्य श्रावकों के लिंग से भिन्न था और जिससे वे दिगम्बरपरम्परा में एक नये प्रकार के जैनसाधु-सदृश दिखते थे तथा जिसकी सहायता से वे श्रावकों के नये प्रकार के धर्मगुरु, धर्माधिकारी अथवा धर्मशासक बन गये थे। (देखिये, अध्याय ८/ प्र.४ / शी.३)।

यतः भट्टारकीय प्रवृत्तियों का विकास सर्वप्रथम ईसा की १२वीं शताब्दी में हुआ था और प्रस्तुत ग्रन्थ के दशम अध्याय में सिद्ध किया गया है कि आचार्य कुन्दकुन्द ईसापूर्वोत्तर प्रथम शताब्दी (ईसापूर्व प्रथम शताब्दी एवं ईसोत्तर प्रथम शताब्दी) में हुए थे, अतः सिद्ध है कि आचार्य माघनन्दी का भट्टारकसम्प्रदाय का संस्थापक होना तथा कुन्दकुन्द के गुरु जिनचन्द्र एवं कुन्दकुन्द का भट्टारकसम्प्रदाय में दीक्षित होना उसी प्रकार असंभव है, जिस प्रकार बन्ध्या स्त्री के पुत्र उत्पन्न होना।

३. नन्दी आदि संघ मूलतः मुनियों के संघ थे। आगे चलकर इन संघों के जो मुनि भट्टारक बने, वे भी अपना सम्बन्ध इसी संघ से जोड़ते रहे। इसलिए 'दि इण्डियन ऐण्टिक्वेरी' (Vol. XX) में प्रकाशित नन्दिसंघ की पट्टावलि में मुनियों और भट्टारकों, दोनों के नाम वर्णित हैं। प्रथम शुभचन्द्रकृत नन्दिसंघ की गुर्वावलि (१४वीं शती ई०) में भद्रबाहु-द्वितीय, गुप्तिगुप्त (अर्हद्वलि), माघनन्दी, जिनचन्द्र, कुन्दकुन्द, उमास्वाति आदि के लिए महामुनि, मुनिचक्रवर्ती, सत्संयमी, जातरूपधर आदि विशेषणों के प्रयोग से स्पष्ट कर दिया गया है कि ये आचार्य २८ मूलगुणों का निरतिचार पालन करनेवाले मुनि थे, अजिनोक्त-सवस्त्र-साधुलिंगी भट्टारक नहीं। अतः आचार्य हस्तीमल जी का 'दि इण्डियन ऐण्टिक्वेरी' (Vol. XX) में प्रकाशित नन्दिसंघ की सम्पूर्ण पट्टावली को भट्टारक-पट्टावली मानकर माघनन्दी, जिनचन्द्र, कुन्दकुन्द आदि को भट्टारक मान लेना अप्रामाणिक है।

४. 'दि इण्डियन ऐण्टिक्वेरी' (Vol. XX एवं Vol. XXI) में प्रकाशित नन्दिसंघ की पट्टावलियाँ जिन मूल हस्तलिखित प्रतियों पर आधारित हैं, उनमें न तो 'पट्टाधीश' शब्द का प्रयोग है, न 'भट्टारक' शब्द का। उनमें 'पट्ट' 'पट्टस्थ' और 'आचार्य' शब्दों

का प्रयोग है। 'पट्ट' शब्द का अर्थ है प्रमुख या प्रधान। अतः वह 'आचार्य' का पर्यायवाची है। उक्त पट्टावलियों के अँगरेजी अनुवाद में प्रो० ए० एफ० रूडाल्फ हार्नले ने 'पट्ट' एवं 'पट्टस्थ' शब्दों का अनुवाद Pontiff किया है, जिसका अर्थ 'धर्मगुरु' (आचार्य) होता है, पट्टाधीश नहीं। किन्तु 'तीर्थंकर महावीर और उनकी आचार्य परम्परा' (भाग ४/पृ.४४१-४४३) के लेखक डॉ० नेमिचन्द्र जी शास्त्री ने 'दि इण्डियन ऐण्टिक्वेरी' (Vol. XX) में प्रकाशित पट्टावली के स्वकृत हिन्दी-अनुवाद में Pontiff का अनुवाद 'पट्टाधीश' कर दिया है। इसे आचार्य हस्तीमल जी ने पट्टावली का मूलपाठ मान लिया है, जो उनका भ्रम है। यदि उन्होंने मूलपाठ देखा होता, तो यह भ्रम न होता।

पट्टावली के मूलपाठ में किसी आचार्य को 'भट्टारक' शब्द से भी अभिहित नहीं किया गया है। आचार्य हस्तीमल जी को इस शब्द के प्रयोग का भी भ्रम हुआ है। इन भ्रमों के आधार पर उन्होंने यह मान लिया कि उक्त पट्टावली में आचार्यों के लिए सात बार 'पट्टाधीश' विशेषण और दो बार 'भट्टारक' विशेषण का प्रयोग हुआ है, अतः वह भट्टारकपरम्परा की पट्टावली है। यतः आचार्य श्री हस्तीमल जी की यह मान्यता भ्रमजन्य है, अतः सिद्ध है कि उक्त पट्टावली केवल भट्टारकपरम्परा की नहीं, अपितु मुनि-परम्परा और भट्टारकपरम्परा दोनों की है। फलस्वरूप आचार्य माघनन्दी, जिनचन्द्र और कुन्दकुन्द भट्टारक परम्परा के पट्टाधीश नहीं थे, अपितु मुनिपरम्परा के आचार्य थे।

चूँकि आचार्य कुन्दकुन्द के शुरू में भट्टारकपरम्परा में दीक्षित होने की मान्यता अप्रामाणिक है, अतः यह मान्यता भी अप्रामाणिक है कि उन्हें अपने भट्टारकगुरु जिनचन्द्र में उनके भट्टारकीय आचरण के कारण अश्रद्धा हो गयी थी, इसलिए उन्होंने अपने ग्रन्थों में उनके नाम का उल्लेख नहीं किया। नामोल्लेख न करने के कारण पर नवम अध्याय में प्रकाश डाला गया है।

अध्याय ९—गुरुनाम तथा कुन्दकुन्दनाम-अनुल्लेख का कारण

हम देखते हैं कि षट्खण्डागम के कर्त्ता पुष्पदन्त और भूतबलि, कसायपाहुड के कर्त्ता गुणधर, तत्त्वार्थसूत्रकार गृध्रपृच्छ, आचार्य समन्तभद्र, पूज्यपादस्वामी आदि अन्य दिगम्बराचार्यों ने भी अपने ग्रन्थों में स्वगुरुओं के नाम का स्मरण नहीं किया है। यहाँ तक कि अपने भी नाम की चर्चा नहीं की। पाणिनि ने अष्टाध्यायी में, पतञ्जलि ने योगदर्शन में और वाल्मीकि ने रामायण में अपने गुरु के नाम का निर्देश नहीं किया। इससे स्पष्ट है कि प्राचीनकाल में प्रायः निःस्पृह ग्रन्थकारों के द्वारा अपने ग्रन्थों में स्वयं के तथा स्वगुरु के नाम का उल्लेख करने की परम्परा नहीं थी। इसका

कारण था ख्याति की आकांक्षा का अभाव। अतः आचार्य कुन्दकुन्द के द्वारा अपने गुरुनाम का उल्लेख न किये जाने का भी यही कारण है।

कुन्दकुन्द ने जो बोधपाहुड (गा. ६१-६२) में श्रुतकेवली भद्रबाहु को अपना गमकगुरु (परम्परागुरु) कहकर उनका जयकार किया है, उसका विशेष प्रयोजन है। वह है अपने ग्रन्थों में किये गये प्ररूपण की प्रामाणिकता ज्ञापित करना अर्थात् यह प्रकट करना कि वह स्वकल्पित नहीं है, अपितु श्रुतकेवली द्वारा वर्णित सर्वज्ञ के उपदेश पर आश्रित है, जैसा कि उनके निम्नलिखित वचन से स्पष्ट होता है—“**वोच्छामि समयपाहुडमिणमो सुयकेवलीभणियं।**” (समयसार/गा.१)।

इसी प्रकार अनेक दिगम्बर-ग्रन्थकारों ने अपने ग्रन्थों में कुन्दकुन्द के नाम का स्मरण नहीं किया है। विभिन्न विद्वानों ने इसके भी अलग-अलग कारण बतलाये हैं, जो असंगत हैं।

१. आचार्य हस्तीमल जी ने कहा है कि धवलाकार वीरसेन स्वामी और उनके शिष्य-प्रशिष्य जिनसेन, गुणभद्र, हरिवंशपुराणकार जिनसेन आदि भट्टारकसम्प्रदाय के थे तथा कुन्दकुन्द भट्टारक-सम्प्रदाय में दीक्षित होकर उससे अलग हो गये थे, इसलिए वीरसेन, जिनसेन, गुणभद्र आदि ने अपने ग्रन्थों में कुन्दकुन्द के नाम का उल्लेख नहीं किया। (देखिये, अध्याय ८/प्र.२/शीर्षक १/उपान्त्य अनुच्छेद)।

आचार्य हस्तीमल जी का यह कथन निम्नलिखित कारणों से समीचीन नहीं है—

क—वीरसेन स्वामी सेनसंघी थे और सेनसंघ की पट्टावली में उन्हें किसी भी स्थान के भट्टारकपीठ पर आसीन नहीं बतलाया गया है।

ख—वीरसेन स्वामी ८वीं शताब्दी ई० में हुए थे और १२वीं शताब्दी ई० के पूर्व भट्टारकसम्प्रदाय का उदय नहीं हुआ था। अतः उनका भट्टारकसम्प्रदाय का भट्टारक होना असंभव है।

ग—आदिपुराणकार आचार्य जिनसेन ने 'पार्श्वाम्युदय' (४/७१) में वीरसेन स्वामी, उनके शिष्य विनयसेन तथा स्वयं को मुनि, गरीयान् मुनि और मुनीश्वर विशेषणों से विशेषित किया है। तथा प्रवचनसार की तात्पर्यवृत्ति के कर्ता जयसेन ने, जो सेनगण (संघ) के ही थे, अपने गुरु एक अन्य वीरसेन को जातरूपधर और निग्रन्थपदवीधारी बतलाया है। (जयसेनप्रशस्ति/प्र.सा./पृ.३४५)। दर्शनसार के रचयिता देवसेन ने जिनसेन के शिष्य गुणभद्र के लिए महातपस्वी, पक्षोपवासी, भावलिङ्गी मुनि इन शब्दों का प्रयोग किया है। (गा. ३०-३१)।

ये तीन हेतु इस बात के प्रमाण हैं कि वीरसेन, जिनसेन आदि आचार्य भट्टारकपीठ पर आसीन अजिनोक्त-सवस्त्रसाधुलिंगी भट्टारक नहीं थे। उनके साथ जुड़ी 'भट्टारक' उपाधि उन्हें उनकी विद्वता के अभिनन्दनार्थ प्रदान की गयी थी। (आदिपुराण/१/५५-५६)। अतः आचार्य हस्तीमल जी का यह कथन अप्रामाणिक है कि धवलाकार वीरसेन, आदिपुराणकार जिनसेन आदि भट्टारकसम्प्रदाय के भट्टारक थे और आचार्य कुन्दकुन्द भट्टारकसम्प्रदाय से अलग हो गये थे, इसलिए उन्होंने अपने ग्रन्थों में कुन्दकुन्द के नाम का उल्लेख नहीं किया।

२. प्रो० एम० ए० ढाकी ने ग्रन्थकारों द्वारा कुन्दकुन्द के नाम का उल्लेख न किये जाने का एक अन्य ही कारण बतलाया है। उनका कथन है कि दसवीं शताब्दी ई० (आचार्य अमृतचन्द्र के समय) के पूर्व तक न तो किसी दिगम्बर आचार्य ने अपने ग्रन्थ में कुन्दकुन्द के नाम का उल्लेख किया है, न ही उनके ग्रन्थों पर टीका लिखी गयी। इससे सिद्ध होता है कि वे आचार्य अमृतचन्द्र के सौ-दो-सौ वर्ष पूर्व ही हुए थे। (देखिये, अध्याय ९/शी. २.२)।

अर्थात् प्रो० ढाकी के अनुसार कुन्दकुन्द वीरसेन स्वामी आदि से अर्वाचीन थे, इसलिए उन्होंने कुन्दकुन्द के नाम का उल्लेख नहीं किया। किन्तु आचार्य कुन्दकुन्द ईसापूर्वोत्तर प्रथम शताब्दी में हुए थे, इसका सप्रमाण प्रतिपादन दशम अध्याय में किया गया है। उन प्रमाणों पर दृष्टि डालने से सिद्ध हो जाता है कि कुन्दकुन्द के नाम-अनुल्लेख का ढाकी जी द्वारा बतलाया गया कारण सर्वथा मिथ्या है।

३. पं० नाथूराम जी प्रेमी का मत है कि कुन्दकुन्द एक खास आम्नाय या सम्प्रदाय के प्रवर्तक थे। उन्होंने जैनधर्म को वेदान्त के साँचे में ढाला था। जान पड़ता है कि जिनसेन आदि के समय तक उनका मत सर्वमान्य नहीं हुआ था, इसीलिए उनके प्रति उनमें कोई आदरभाव नहीं था। यही कारण है कि उन्होंने कुन्दकुन्द के नाम का उल्लेख नहीं किया। (देखिये, अध्याय ९/शी.२.३)।

इस पर आपत्ति करते हुए प्रो० ढाकी प्रश्न करते हैं कि यदि कुन्दकुन्द की नई विचारधारा से अन्य आचार्य सहमत नहीं थे, तो उन्होंने उसका प्रतिवाद क्यों नहीं किया और असहमत होते हुए भी उनके ग्रन्थों का अनुसरण क्यों किया जाता रहा? (देखिये, अध्याय ९/पा. टि.१२)।

प्रो० ढाकी का यह प्रश्न उचित है। प्रश्न में प्रकट किया गया तथ्य प्रेमी जी की इस धारणा को मिथ्या सिद्ध कर देता है कि जिनसेन आदि के समय तक आचार्य कुन्दकुन्द का मत सर्वमान्य नहीं हुआ था। कुन्दकुन्द सर्वमान्य आचार्य थे और उनके सिद्धान्तों का अनुसरण, उनकी गाथाओं का प्रमाणरूप में उद्धरण तथा उनके ग्रन्थों

का उल्लेख प्रथम शती ई० की भगवती-आराधना, मूलाचार आदि से लेकर ८वीं शती ई० के वीरसेन स्वामी की धवला और जयधवला टीकाओं तक में किया गया है। (देखिये, अध्याय १०/प्र.१/शी.२ से १०)। अतः यह मत अप्रामाणिक सिद्ध हो जाता है कि वीरसेन, जिनसेन आदि आचार्यों ने कुन्दकुन्द के नाम का उल्लेख इसलिए नहीं किया कि वे कुन्दकुन्द के मत से असहमत थे।

४. वीरसेन स्वामी आदि दिगम्बर-ग्रन्थकारों के द्वारा कुन्दकुन्द का नामोल्लेख न किये जाने का एक ही कारण है, वह है उनके नाम से अनभिज्ञ होना। जैसे तत्त्वार्थसूत्र में उसके कर्ता गृध्रपिच्छ के नाम का उल्लेख न होने से और यह प्रसिद्ध न होने से कि उसके कर्ता गृध्रपिच्छ हैं, टीकाकार पूज्यपाद स्वामी (५वीं शती ई०) और भट्ट अकलंकदेव (७वीं शती ई०) भी उनसे अपरिचित रहे, जिसके फलस्वरूप वे अपनी टीकाओं में तत्त्वार्थसूत्रकार के रूप में उनका नाम निर्दिष्ट नहीं कर सके, वैसे ही समयसारादि ग्रन्थों में कुन्दकुन्द के नाम का उल्लेख न होने से तथा यह प्रसिद्ध न होने से कि उन ग्रन्थों के रचयिता कुन्दकुन्द हैं, दसवीं शताब्दी ई० के टीकाकार आचार्य अमृतचन्द्र भी इस तथ्य से अनभिज्ञ रहे कि समयसारादि महान् ग्रन्थों के कर्ता वही आचार्य कुन्दकुन्द हैं, जिनसे कुन्दकुन्दान्वय नाम का विशाल अन्वय प्रसूत हुआ।

जिस प्रकार बहुत समय बाद ८वीं शती ई० में धवलाटीका के कर्ता वीरसेन स्वामी ने किसी प्राचीन लिखित स्रोत से यह ज्ञात होने पर कि तत्त्वार्थसूत्र के कर्ता आचार्य गृध्रपिच्छ हैं, धवलाटीका में इसका उल्लेख किया है, उसी प्रकार १२वीं शती ई० में किसी प्राचीन ग्रन्थादि से यह जानकारी होने पर कि समयसार आदि ग्रन्थों के निर्माता वही महान् कुन्दकुन्द हैं, जिनके नाम से कुन्दकुन्दान्वय प्रवाहित हुआ है, आचार्य जयसेन ने अपनी टीकाओं में उन ग्रन्थों के निर्माता के रूप में कुन्दकुन्द के नाम की चर्चा की है। (देखिये, अध्याय ९/शी. २.४)।

अध्याय १०—आचार्य कुन्दकुन्द का समय

१. आचार्य कुन्दकुन्द भगवान् महावीर के अनुयायी निर्ग्रन्थसंघ के आचार्य थे। यह निर्ग्रन्थसंघ ही वर्तमान में 'मूलसंघ' और 'दिगम्बरजैन-संघ' के नाम से प्रसिद्ध है। मूलसंघ में ही नन्दिसंघ का जन्म हुआ था। अतः पट्टावलियों और शिलालेखों में आचार्य कुन्दकुन्द को मूलसंघ का और मूलसंघ में उत्पन्न नन्दिसंघ का आचार्य कहा गया है। (अध्याय ८/प्र.३/शी. १ एवं ३)।

२. ई० सन् १८८५ में राजपूताना की यात्रा के समय श्री सेसिल बेण्डल (Mr. Cecil Bendall) को जयपुर के पण्डित श्री चिमनलाल जी ने मूलसंघ के नन्दी-

आम्नाय (संघ), सरस्वतीगच्छ, बलात्कारगण की दो पट्टावलियाँ प्रदान की थीं। श्री बेण्डल ने वे प्रो० (डॉ०) ए० एफ० रूडाल्फ हार्नले (A. F. Rudolf Hoernle) को सौंप दीं। प्रो० हार्नले ने उन्हें 'ए' और 'बी' नाम दिया तथा उनके अनुसार पट्टधरों की एक तालिका तैयार की और उसे The Indian Antiquary : A Journal of Oriental Research, Vol. XX, October 1891 में प्रकाशित किया। इस तालिका में आचार्य कुन्दकुन्द को पाँचवें क्रम पर दर्शाया गया है, यथा—१. भद्रबाहु द्वितीय, २. गुप्तिगुप्त, ३. माघनन्दी प्रथम, ४. जिनचन्द्र प्रथम, ५. कुन्दकुन्द। इसमें बतलाया गया है कि कुन्दकुन्द का जन्म ईसा से ५२ वर्ष पूर्व हुआ था और ईसा से ८ वर्ष पहले ४४ वर्ष की आयु में वे आचार्यपद पर प्रतिष्ठित हुए थे तथा ५२ वर्ष, १० मास एवं १० दिन तक आचार्य-पद पर आसीन रहे। उसके ५ दिन बाद स्वर्ग सिधार गये। इस प्रकार उनका जीवनकाल ९५ वर्ष, १० मास और १५ दिन था। (अध्याय ८/प्र.२/शी. १, २, ३, ४)।

इस विवरण के अनुसार कुन्दकुन्द का स्थितिकाल ईसापूर्व प्रथम शताब्दी के उत्तरार्ध से लेकर ईसोत्तर प्रथम शताब्दी के पूर्वार्ध तक था, जिसे प्रस्तुत ग्रन्थ में ईसापूर्वोत्तर प्रथम शताब्दी शब्द से अभिहित किया गया है। इस काल के प्रामाणिक होने की पुष्टि साहित्यिक और अभिलेखीय प्रमाणों से होती है। उदाहरणार्थ, ईसा की प्रथम शती के उत्तरार्ध में रचित भगवती-आराधना और मूलाचार में कुन्दकुन्द के ग्रन्थों से गाथाएँ ग्रहण की गयी हैं, प्रथम-द्वितीय शती ई० में रचित तत्त्वार्थसूत्र के अनेक सूत्र कुन्दकुन्द के ग्रन्थों के आधार पर रचे गये हैं। द्वितीय शती ई० की तिलोचपण्णती में कुन्दकुन्द-साहित्य की बहुत सी गाथाएँ समाविष्ट हैं। मर्करा के खजाने से प्राप्त शकसंवत् ३८८ (ई० सन् ४६६) के ताम्रपत्रलेख में कुन्दकुन्दान्वय और उसके छह गुरु-शिष्यों के नाम का उल्लेख है, जिससे कुन्दकुन्दान्वय बहुत पूर्ववर्ती सिद्ध होता है। (अध्याय १०/प्र.१/शी. ११)।

३. श्वेताम्बराचार्य श्री हस्तीमल जी ने दि इण्डियन ऐण्टिक्वेरी में प्रकाशित पूर्वोक्त नन्दिसंघ की पट्टावली को भट्टारक-सम्प्रदाय की पट्टावली मानकर यह सिद्ध करने का प्रयास किया है कि आचार्य कुन्दकुन्द पहले भट्टारक-सम्प्रदाय में दीक्षित हुए थे, पश्चात् उससे विद्रोहकर अलग हो गये और विलुप्तप्राय दिगम्बरपरम्परा का पुनरुद्धार-पुनःसंस्थापन किया। (अध्याय ८/प्र.२/शी.१)। आचार्य जी ने माना है कि उक्त पट्टावली इतिहास के विद्वानों द्वारा कालक्रमानुसार तैयार की गयी है एवं भट्टारक-परम्परा के उद्भव, प्रसार तथा उत्कर्षकाल के विषय में युक्तिसंगत एवं सर्वजनसमाधानकारी निर्णय पर पहुँचानेवाली है। (अध्याय ८/प्र.२/शी.१)। किन्तु, विडम्बना यह है कि अपनी ही इस मान्यता के विरुद्ध आचार्य हस्तीमल जी पट्टावली में दर्शाये गये आचार्य कुन्दकुन्द के पट्टारोहणकाल को उचित नहीं मानते। उनके अनुसार

कुन्दकुन्द का पट्टारोहणकाल वीर-निर्वाण सं० १००० अर्थात् विक्रम संवत् ५३० (४७३ ई०) के लगभग है। ऐसा मानने पर वह इण्डियन ऐण्टिक्वेरी-पट्टावली में बतलाये गये पट्टारोहणकाल वि० सं० ४९ से ४८१ वर्ष आगे चला जाता है। इस स्थिति में कुन्दकुन्द के पूर्ववर्ती और उत्तरवर्ती सभी पट्टधरों का पट्टारोहणकाल ४८१ वर्ष आगे बढ़ जाता है, क्योंकि पट्टावली में दर्शायी गयी पट्टपरम्परा निर्धारित पट्टकालावधि के अन्तराल के साथ एक-दूसरे पट्टधर से जुड़ी हुई है। किन्तु ४८१ वर्ष आगे बढ़े हुए काल में उन पट्टधरों का अस्तित्व ही नहीं था और उनके पट्टपीठ भी समाप्त हो गये थे, यह उसी इण्डियन ऐण्टिक्वेरी-पट्टावली से सिद्ध है। तथा चित्तौड़पट्ट और नागौरपट्ट के ३९ पट्टधरों का पट्टारोहणकाल विक्रमसंवत् १५८६ (१५२९ ई०) से लेकर वि० सं० १९४० (१८८३ ई०) तक है। इन सबका पट्टारोहणकाल ४८१ वर्ष आगे बढ़ जाने पर इनका अभी (ई० सन् २००८ में) जन्म लेना ही घटित नहीं होता। (अध्याय ८ / प्र.३ / शी.६)। इससे सभी पट्टधरों का अस्तित्व मिथ्या हो जाता है। उक्त (इण्डियन ऐण्टिक्वेरी की) पट्टावली में वर्णित पट्टधरों का अस्तित्व एवं पट्टारोहणकाल युक्तिसंगत एवं सत्य तभी सिद्ध हो सकता है, जब आचार्य कुन्दकुन्द का पट्टारोहणकाल वही माना जाय, जो उसमें वर्णित है। अन्य पट्टावलियों और शिलालेखों से इण्डियन ऐण्टिक्वेरी-पट्टावली में उल्लिखित पट्टधरों के अस्तित्व की पुष्टि होती है। (अध्याय ८ / प्र.३ / शी.६)। अतः आचार्य कुन्दकुन्द का पट्टारोहणकाल वही मानना अनिवार्य है, जो इण्डियन ऐण्टिक्वेरी-पट्टावली में निर्दिष्ट है।

४. इण्डियन ऐण्टिक्वेरी-पट्टावली की आधारभूत पट्टावलियों में मुनिसंघ के आचार्य को एवं भट्टारकपीठ के प्रमुख को 'पट्ट' एवं 'पट्टस्थ' (पट्टधर) शब्दों से अभिहित किया गया है। प्रो० हार्नले ने उनका अँगरेजी-अनुवाद Pontiff किया है, जिसका अर्थ है 'धर्मगुरु', किन्तु 'तीर्थंकर महावीर और उनकी आचार्यपरम्परा' के लेखक डॉ० नेमिचन्द्र जी शास्त्री, ज्योतिषाचार्य ने प्रो० हार्नले द्वारा अँगरेजी में प्रस्तुत पट्टावली के स्वकृत हिन्दी-अनुवाद में Pontiff के स्थान में पट्टाधीश शब्द का प्रयोग कर दिया है। इस 'पट्टाधीश' शब्द को आचार्य हस्तीमल जी ने पट्टावली के मूलपाठ में प्रयुक्त मानकर 'अधीश' शब्द के प्रयोग से यह मान लिया है कि वह भट्टारकसम्प्रदाय की पट्टावली है। उन्होंने यह तर्क भी दिया है कि उक्त पट्टावली में जिन पट्टधरों के नाम उल्लिखित हैं, उन्हें भट्टारक-परम्परा के बलात्कारगण ('भट्टारकसम्प्रदाय' / पृष्ठ ९३) की पट्टावली में और अनेक शिलालेखों में भट्टारक कहा गया है। (अध्याय ८ / प्र.२ / शी.१)।

आचार्य श्री हस्तीमल जी ने मूल में भूल की है। 'दि इण्डियन ऐण्टिक्वेरी' में प्रकाशित तालिकाबद्ध पट्टावली की आधारभूत पट्टावलियों में न तो 'पट्टाधीश' शब्द

का प्रयोग है, न किसी पट्टधर को 'भट्टारक' शब्द से अभिहित किया गया है। इसलिए आचार्य हस्तीमल जी ने इन शब्दों का प्रयोग मानकर इण्डियन ऐण्टिक्वेरीवाली पट्टावली को जो भट्टारकपरम्परा की पट्टावली मान लिया है, वह उनका महान् भ्रम है। इस पट्टावली के प्रथम और द्वितीय क्रमांक पर उल्लिखित भद्रबाहु-द्वितीय और गुप्तिगुप्त को आचार्य हस्तीमल जी ने भट्टारक नहीं माना, तथा छठे क्रमांक पर निर्दिष्ट उमास्वामी को वे भट्टारक मान नहीं सकते, इससे सिद्ध है कि वह भट्टारक-सम्प्रदाय की पट्टावली नहीं है।

कुन्दकुन्दान्वय में सरस्वतीगच्छ और बलात्कारगण का विकास कुन्दकुन्द के अस्तित्वकाल (ईसापूर्वोत्तर प्रथम शताब्दी) से लगभग नौ सौ वर्षों बाद तथा नन्दिसंघ का उदय ग्यारह सौ वर्षों के पश्चात् हुआ था, अतः वे नन्दिसंघ के नहीं थे। इसलिए नन्दिसंघ की पट्टावली को भट्टारकपट्टावली मान लेने पर भी कुन्दकुन्द भट्टारक सिद्ध नहीं होते। इसी प्रकार बलात्कारगण की पट्टावली में भी आचार्य कुन्दकुन्द का नाम निर्दिष्ट होने पर यह सिद्ध नहीं होता कि वे भट्टारकसम्प्रदाय के थे। (अध्याय ८ / प्र.३ / शी.१)।

'दि इण्डियन ऐण्टिक्वेरी' में छपी पट्टावली वस्तुतः कुन्दकुन्दान्वय की पट्टावली है। उसमें दिगम्बराचार्यों के भी नाम हैं और अजिनोक्त-सवस्त्रसाधुलिंगी भट्टारकों के भी। इसलिए भी उसे केवल नन्दिसंघ के भट्टारकसम्प्रदाय की पट्टावली मान लेना महाभ्रान्ति है। (अध्याय ८ / प्र.३ / शी.२)।

५. ग्रन्थों और शिलालेखों में 'भटार', 'भट्टार' और 'भट्टारक' शब्द तीन अर्थों में प्रयुक्त हुए हैं—१. पूज्य, २. विद्वान् एवं ३. दिगम्बरपरम्परा में नवोदित अजिनोक्त-सवस्त्रसाधुलिंगी धर्मगुरु। दिगम्बरपरम्परा में इन नवोदित सवस्त्र मिथ्या धर्मगुरुओं का सम्प्रदाय ही भट्टारकसम्प्रदाय या भट्टारकपरम्परा के नाम से प्रसिद्ध हुआ है। (अध्याय ८ / प्र.४ / शी.१ एवं २)। विभिन्न ग्रन्थों एवं पत्रिकाओं में प्रकाशित लेखों में इन धर्माधिकारी भट्टारकों के असाधारणधर्म (लक्षण) इस प्रकार बतलाये गये हैं—१. भट्टारकदीक्षाविधि द्वारा भट्टारकपद पर प्रतिष्ठापन, २. अजिनोक्त-सवस्त्रसाधुलिंग-ग्रहण, ३. धर्मगुरु एवं पण्डिताचार्य के अधिकारों का आरोपण, ४. दक्षिणा-चढ़ावा-भेंट-शुल्क आदि से अर्थोपार्जन और ५. राजोचित वैभव एवं प्रभुता का स्वामित्व तथा ऐश्वर्यमय निरंकुश जीवनशैली। (अध्याय ८ / प्र.४ / शी.४)। ऐसे लक्षणोंवाले धर्मगुरु भट्टारक ही सम्प्रदायगत भट्टारक हैं। जो दिगम्बरमुनि मठ-मन्दिरों में नियतवास करते थे और राजाओं से भूमि-ग्राम आदि का दान ग्रहण कर मठ-मन्दिरों की व्यवस्था एवं जीवननिर्वाह करते थे, उनका सम्प्रदाय भट्टारकसम्प्रदाय नहीं कहलाता था (अध्याय ८ / प्र.४ / शी.५)। वे पासत्य,

कुसील, संसत्त, ओसण्ण और जहाछंद नामों से अभिहित होते थे। आचार्य कुन्दकुन्द ने उनका अस्तित्व अनादिकाल से बतलाया है। (अध्याय ८/प्र.४/शी.३)। अतः उन्हें भट्टारकपरम्परा की मनगढ़न्त प्रथम या द्वितीय विकसित अवस्थाओं से जोड़ना अप्रामाणिक है। ऐसा करने से तो भट्टारकपरम्परा अनादिकालीन अथवा भगवान् महावीर से पुरानी सिद्ध होगी।

उपर्युक्त लक्षणोंवाले अजिनोक्त-सवस्त्रसाधुलिंगी, धर्मगुरु, भट्टारकों के सम्प्रदाय का जन्म ईसा की १२ वीं शताब्दी में हुआ था। (अध्याय ८/प्र.४/शी.३)। इससे पूर्ववर्ती मठ-मन्दिर-नियतवासी पासत्थादि नग्न मुनियों को जो बीसवीं शताब्दी ई० के ग्रन्थकारों ने 'भट्टारक' शब्द से अभिहित किया है, वह मठ-मन्दिर में नियतवास, भूमिग्रामादिदान-ग्रहण एवं उनके प्रबन्ध आदि के साधर्म्य की अपेक्षा से किया है। किन्तु यह युक्तिसंगत नहीं है। मठ-मन्दिर में नियतवास, भूमिग्रामादिदान-ग्रहण एवं उनके प्रबन्ध आदि की प्रवृत्तियाँ भट्टारकीय प्रवृत्तियाँ नहीं हैं। ये गृहस्थप्रवृत्तियाँ हैं और भट्टारक वस्त्रादि-परिग्रहधारी होने के कारण गृहस्थ होते हैं। अतः ये गृहस्थ प्रवृत्तियाँ भट्टारकों की 'गृहस्थ' संज्ञा का हेतु हैं, 'भट्टारक' संज्ञा का नहीं। भट्टारक गृहस्थावस्था में रहते हुए भी जो मुनिकर्म (धर्मगुरु का कार्य) करते हैं, वह उनकी 'भट्टारक' संज्ञा का हेतु है। पासत्थादि मुनि गृहस्थावस्था में नहीं होते, अतः उनका मुनिकर्म 'भट्टारक' संज्ञा का हेतु नहीं हो सकता। वह 'मुनि' संज्ञा का ही हेतु होता है। और मुनि-अवस्था में रहते हुए वे जो गृहस्थ कर्म करते हैं, वह 'पासत्थादि' संज्ञाओं का हेतु होता है, 'भट्टारक' संज्ञा का नहीं, क्योंकि 'भट्टारक' संज्ञा का हेतु तो गृहस्थावस्था में रहते हुए किया जानेवाला मुनिकर्म है। इसलिए जब पासत्थादि मुनियों की प्रवृत्तियाँ भट्टारकीय प्रवृत्तियों से बिलकुल उलटी हैं, तब पासत्थादि मुनियों को भट्टारक कहना युक्तिसंगत कैसे हो सकता है? कदापि नहीं हो सकता।

आचार्य कुन्दकुन्द ईसापूर्वोत्तर प्रथम शताब्दी में हुए थे और भट्टारकसम्प्रदाय का उदय ईसा की १२ वीं शताब्दी में हुआ था, अतः आचार्य हस्तीमल जी का यह कथन कि आचार्य कुन्दकुन्द प्रथमतः भट्टारकसम्प्रदाय में दीक्षित हुए थे, सर्वथा अप्रामाणिक है।

यह सत्य है कि आचार्य कुन्दकुन्द के समय में जैनश्रमणाभासों का बाहुल्य था, किन्तु आरंभ में वे स्वयं श्रमणाभास (पासत्थ या कुसील मुनि) थे, इसे सिद्ध करनेवाला कोई प्रमाण उपलब्ध नहीं है। उन्होंने दिगम्बरजैन मुनियों के परमार्थस्वरूप को ऊपर उठाने (मुनियों और श्रावकों की दृष्टि एवं आचरण में बैठाने) के लिए क्रान्तिकारी प्रयत्न किया था। किन्तु इससे यह सिद्ध नहीं होता कि उन्होंने श्रमणाभास-संघ में दीक्षा लेने के बाद अपने श्रमणाभासगुरु जिनचन्द्र एवं श्रमणाभासधर्म से विद्रोह

करके ऐसा किया था। मूलसंघ में दीक्षित होकर वे ऐसा क्यों नहीं कर सकते थे? इसके विरुद्ध कोई प्रमाण न होने से सिद्ध है कि उन्होंने ऐसा ही किया था। (अध्याय ८/प्र.४/शी.६)।

६. आचार्य हस्तीमल जी अपने इस मत पर भी अधिक दिन तक टिक नहीं सके कि आचार्य कुन्दकुन्द वि० सं० ५३० (ई० सन् ४७३) में भट्टारकपद पर प्रतिष्ठित हुए थे। आगे चलकर उन्हें एक अत्यन्त अप्रसिद्ध एवं अर्वाचीन महिपाल नामक पण्डित के द्वारा वि० सं० १९४० (ई० सन् १८८३) में रचित प्रतिष्ठापाठ नामक पुस्तक प्राप्त हुई, जिसमें लिखा हुआ था कि आचार्य कुन्दकुन्द विक्रम संवत् ७७० (ई० सन् ७१३) में वाराणगर में उत्पन्न हुए थे।

आचार्य श्री हस्तीमल जी ने इस बात पर आँखें मीच कर विश्वास कर लिया और हरिवंशपुराण में वर्णित पट्टावली के आधार पर उन्होंने जो कुन्दकुन्द का काल विक्रम सं० ५३० निर्णित किया था, उसे अप्रामाणिक घोषित करते देर नहीं लगी, क्योंकि ऐसा करने से कुन्दकुन्द और भी अर्वाचीन सिद्ध होते थे, जो उनके लिए अभिप्रेत था। अब उनके अनुसार कुन्दकुन्द का स्थितिकाल ईसा की आठवीं शताब्दी हो गया।

आचार्य जी का यह संशोधित मत भी सर्वथा अप्रामाणिक है। इण्डियन ऐण्टिक्वेरी-गत पट्टावली में कुन्दकुन्द का जो समय बतलाया गया है, उसकी प्रामाणिकता की पुष्टि साहित्यिक और अभिलेखीय प्रमाणों से हो चुकी है। अतः कुन्दकुन्द का अस्तित्व आठवीं शती ई० में बतलाया जाना प्रमाणविरुद्ध है।

वस्तुतः राजस्थान के वारा नामक नगर में एक अन्य पद्मनन्दी नामक आचार्य (ई० सन् ९७७-१०४३) हुए हैं, जिन्होंने जंबुदीवपण्णत्ती नामक ग्रन्थ की रचना की थी। आचार्य कुन्दकुन्द का भी एक नाम पद्मनन्दी था। इस नामसाम्य के कारण ज्ञानप्रबोध नामक पद्मबद्ध ग्रन्थ के किसी अज्ञात कर्ता ने तथा प्रतिष्ठापाठ के रचयिता पं० महिपाल ने उक्त जंबुदीवपण्णत्ती के कर्ता पद्मनन्दी को कुन्दकुन्दाचार्य मान लिया है। (अध्याय १०/प्र.३/शी.२)।

७. आचार्य हस्तीमल जी ने कुन्दकुन्द के गुरु जिनचन्द्र के भट्टारकसम्प्रदाय के पीठाधीश होने की कल्पना की है, तो क्षुल्लक जिनेन्द्र वर्णी ने यह कल्पित किया है कि वे श्वेताम्बरमत के संस्थापक थे, बाद में दिगम्बर हो गये थे। वे लिखते हैं—

“माघनन्दी के पश्चात् कुन्दकुन्द के गुरु आचार्य जिनचन्द्र का नाम आता है।--- श्वेताम्बरसंघ के आदिप्रवर्तक का नाम भी जिनचन्द्र कहा गया है। ---इस विषय में यहाँ विचारकों के समक्ष एक क्लिष्ट कल्पना प्रस्तुत करता हूँ, जिसकी

युक्तता अथवा अयुक्तता के विषय में मुझे कुछ भी आग्रह नहीं है। बहुत संभव है कि ये दोनों एक ही व्यक्ति हों। भद्रबाहु-प्रथम के काल में मूलसंघ का जो भाग दक्षिण की ओर न जाकर उज्जैनी में रुक गया था, उसने परिस्थिति से बाध्य होकर अर्धफलकसंघ का रूप धारण कर लिया था, जो वि० सं० १३६ तक उसी रूप में विचरण करता रहा। --- हो सकता है कि वि० सं० १३६ में इस संघ के आचार्य शान्त्याचार्य हों और उनके शिष्य जिनचन्द्र हों। शान्त्याचार्य ने जब संघ से प्रायश्चित्तपूर्वक अपना स्थितीकरण करने की बात कही, तो इन्होंने कुछ षड्यन्त्र करके उन्हें मरवा दिया और बेधड़क होकर अपना शैथिल्य-प्लोषण करने के लिए सांगोपांग श्वेताम्बरसंघ की नींव डाल दी। यद्यपि उस समय वासना से प्रेरित होकर इन्होंने यह घोर अनर्थ कर डाला, तथापि ब्रह्महत्या का यह महापातक इनके अन्तष्करण को भीतर ही भीतर जलाने लगा। बहुत प्रयत्न करने पर भी जब वह शान्त नहीं हुआ, तो ये दिगम्बरसंघ की शरण में आये, क्योंकि अपनी ज्ञानगरिमा तथा तपश्चरण के कारण उस समय आचार्य माघनन्दी का तेज दिशाओं-विदिशाओं में व्याप्त हो रहा था। गुरु के चरणों में लोटकर आत्मग्लानि से प्रेरित हो, आपने अपने दुष्कृत्य की घोर भर्त्सना की और खुले हृदय से आलोचना करके उनसे प्रायश्चित्त देने के लिए प्रार्थना की। मित्र-शत्रु-समचित्त, परमोपकारी गुरु ने उनके हृदय को शुद्ध हुआ देखकर उन्हें समुचित प्रायश्चित्त दिया और उन्हें पुनः दीक्षा देकर अपने संघ में सम्मिलित कर लिया। ५-६ वर्ष पर्यन्त उग्र तपश्चरण करके जिनचन्द्र ने अपनी समस्त कालिमाएँ धो डालीं और जिनेन्द्र के समीचीन शासन में चन्द्र की भाँति उद्योत फैलाने लगे। सकल संघ के साथ अपने गुरु के भी वे विश्वासपात्र बन गये, बिल्कुल उसी प्रकार जिस प्रकार कि ब्राह्मण इन्द्रभूति भगवान् महावीर के। गुरुप्रवर माघनन्दी ने स्वयं अपने हाथों से वी० नि० ६१४ में उन्हें संघ के पट्ट पर आसीन कर दिया और उनकी छत्रछाया में सकलसंघ ज्ञान तथा चारित्र में उन्नत होने लगा। इस घटना के ८-९ वर्ष पश्चात् वी० नि० ६२३ (ई० सन् ९६) में कुन्दकुन्द ने उनसे दीक्षा धारण की।

“दिगम्बरसंघ के आचार्य बन जाने के कारण अवश्य ही इनके ऊपर श्वेताम्बरसंघ की ओर से कुछ आपत्तियाँ आयी होंगी, जिन्हें इन्होंने समता से सहन किया। परन्तु शिष्य होने के नाते कुन्दकुन्द उन्हें सहन न कर सके और आचार्यपद पर प्रतिष्ठत होते ही श्वेताम्बरसंघ के इस अनीतिपूर्ण दुर्व्यवहार को रोकने तथा अपने संघ की रक्षा करने के लिए उन्होंने उसके साथ मुँह-दर-मुँह होकर शास्त्रार्थ किया। कुन्दकुन्द के तप तथा तेज के समक्ष वह संघ टिक न सका और लज्जा तथा भयवश उसे अपनी प्रवृत्तियाँ रोक लेनी पड़ीं।” (जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश/ भाग १/ परिशिष्ट ४/ जिनचन्द्र/ पृष्ठ ४९०)।

क्षुल्लक जिनेन्द्र वर्णी जी ने स्वयं इसे अपनी एक क्लिष्ट (संगत प्रतीत न होनेवाली) कल्पना कहा है। निश्चितरूप से यह एक अयुक्तियुक्त कल्पना है। यह निम्नलिखित हेतुओं से सिद्ध होता है—

क—शान्त्याचार्य के शिष्य जिनचन्द्र थे और उन्होंने शान्त्याचार्य का वध कर श्वेताम्बरसंघ की स्थापना की थी, यह भावसंग्रह (प्राकृत) के कर्ता दिगम्बर आचार्य देवसेन (९३३-९५५ ई०) की कल्पना है। श्वेताम्बरमत में श्वेताम्बरसम्प्रदाय का प्रवर्तक किसी जिनचन्द्र को नहीं माना गया है। अन्तिम अनुबद्ध केवली जम्बूस्वामी के निर्वाण के पश्चात् दिगम्बरों और श्वेताम्बरों की आचार्यपरम्परा भिन्न-भिन्न हो जाती है। जहाँ दिगम्बरपरम्परा में अन्तिम अनुबद्ध केवली जम्बूस्वामी के बाद प्रथम श्रुतकेवली विष्णु का नाम है, वहाँ श्वेताम्बरपरम्परा में आचार्य प्रभव का उल्लेख है। (श्री देवेन्द्र मुनि शास्त्री : जैन आगम साहित्य : मनन और मीमांसा / पृष्ठ ५६२)। इससे सिद्ध होता है कि आचार्य प्रभव श्वेताम्बरसंघ के संस्थापक थे। किन्तु अन्तिम श्रुतकेवली भद्रबाहु (वीर नि० सं० १६२) के समकालीन आचार्य स्थूलभद्र को श्वेताम्बरपरम्परा में अत्यन्त महत्त्व दिया गया है और श्वेताम्बर विद्वान् डॉ० सागरमल जी ने लिखा है कि “दक्षिण का अचेल निर्ग्रन्थसंघ भद्रबाहु की परम्परा से और उत्तर का सचेल निर्ग्रन्थसंघ स्थूलभद्र की परम्परा से विकसित हुआ।” (जैनधर्म की ऐतिहासिक विकासयात्रा / पृ.२९)। इस श्वेताम्बरीय मान्यता से क्षुल्लक जिनेन्द्र वर्णी जी की यह कल्पना निरस्त हो जाती है कि कुन्दकुन्द के गुरु जिनचन्द्र पूर्व में श्वेताम्बरसंघ के संस्थापक थे।

ख—श्वेताम्बरसंघ के संस्थापक आचार्य स्थूलभद्र अन्तिम श्रुतकेवली भद्रबाहु के समकालीन होने से ईसा पूर्व चौथी शताब्दी (वीर नि० सं० १६२ = ई० सन् ३६५) में हुए थे, जब कि आचार्य देवसेन ने शान्त्याचार्य का वधकर जिनचन्द्र द्वारा श्वेताम्बरसंघ स्थापित किये जाने की घटना वि० सं० १३६ (ई० सन् ७९) में घटी बतलायी है। इस कालवैषम्य से भी क्षुल्लक जिनेन्द्र वर्णी की कल्पना अयुक्तियुक्त सिद्ध होती है।

ग—दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनों परम्पराओं का साहित्य इस बात का उल्लेख करता है कि अन्तिम अनुबद्ध केवली जम्बूस्वामी के निर्वाण (वीर नि० सं० ६२ = ईसा पूर्व ४६५) के पश्चात् दोनों संघों की आचार्यपरम्परा भिन्न-भिन्न हो गयी थी। यह इस तथ्य का ज्वलन्त प्रमाण है कि श्वेताम्बरसंघ का उदय ईसापूर्व ४६५ में हो गया था। श्रुतकेवली भद्रबाहु के समय (ईसापूर्व चौथी शताब्दी) में द्वादशवर्षीय दुर्भिक्ष के फलस्वरूप निर्ग्रन्थसंघ का जो दूसरा विभाजन हुआ था, उससे श्वेताम्बरसंघ नहीं, अपितु अर्धफालकसंघ अस्तित्व में आया था, जो आगे चलकर ईसा की द्वितीय शताब्दी में श्वेताम्बरसंघ में विलीन हो गया। इस आगमप्रमाण से भी क्षुल्लक जिनेन्द्र वर्णी जी की कल्पना अत्यन्त अप्रामाणिक सिद्ध होती है।

घ—यह मान्यता भी अप्रामाणिक है कि अर्धफालकसंघ वि० सं० १३६ (ई० सन् ७९) में श्वेताम्बरसम्प्रदाय के रूप में परिवर्तित हो गया था, क्योंकि मथुरा के कंकालीटीले की खुदाई में जो जिनप्रतिमाएँ उपलब्ध हुई हैं, वे प्रथम शताब्दी ई० की हैं, उनमें से कुछ अर्धफालक सम्प्रदाय के साधुओं द्वारा प्रतिष्ठापित की गयी थीं। इससे सिद्ध होता है कि अर्धफालकसम्प्रदाय ईसा की प्रथम शती तक श्वेताम्बरसंघ में विलीन नहीं हुआ था। इस प्रमाण से भी क्षुल्लक जिनेन्द्र वर्णी की यह मान्यता निरस्त हो जाती है कि जिनचन्द्र ने वि० सं० १३६ (ई० सन् ७९) में श्वेताम्बरसंघ की स्थापना की थी।

ङ—क्षुल्लक जिनेन्द्र वर्णी ने भावसंग्रह (प्राकृत) के अनुसार जिनचन्द्र को वि० सं० १३६ (ई० सन् ७९) में श्वेताम्बरसंघ का संस्थापक माना है और कुछ वर्षों बाद उनके दिगम्बरसंघ में लौटने और ई० सन् ९६ में उनके द्वारा कुन्दकुन्द को दीक्षा दिये जाने की कल्पना की है। किन्तु दि इण्डियन ऐण्टिक्वेरी की नन्दिसंघीय पट्टावली में बतलाया गया है कि कुन्दकुन्द का जन्म ईसा से ५२ वर्ष पूर्व हुआ था और ईसा से ८ वर्ष पूर्व ४४ वर्ष की आयु में उन्होंने मुनिदीक्षा ग्रहण की थी। इस प्रमाण के अनुसार कुन्दकुन्द की मुनिदीक्षा क्षुल्लक जिनेन्द्र वर्णी जी के कल्पित समय से १०४ वर्ष पहले ही हो गयी थी, अतः क्षुल्लक जी का मत प्रमाणविरुद्ध है।

च—आचार्य जिनचन्द्र कुन्दकुन्द के गुरु थे और 'दि इण्डियन ऐण्टिक्वेरी' में प्रकाशित पट्टावली में उनका पट्टारोहणकाल कुन्दकुन्द के पट्टारोहणकाल (वि० सं० ४९ = ईसापूर्व ८) से ९ वर्ष पूर्व (वि० सं० ४० = ईसापूर्व १७ में) बतलाया गया है। इस प्रमाण से सिद्ध होता है कि क्षुल्लक जिनेन्द्रवर्णी ने वि० सं० १३६ अर्थात् ई० सन् ७९ में जिस जिनचन्द्र को शान्त्याचार्य का वध कर श्वेताम्बरसंघ का संस्थापक तथा ई० सन् ९६ में कुन्दकुन्द का दीक्षागुरु माना है, वह उनका दीक्षागुरु हो ही नहीं सकता। सच तो यह है कि उसका अस्तित्व ही नहीं था, क्योंकि भद्रबाहुचरित के कर्ता रत्ननन्दी ने शान्त्याचार्य के स्थान में स्थूलाचार्य के वध की बात कही है, और किसी जिनचन्द्र को वधकर्ता न बतलाकर सभी विरोधी मुनियों को वधकर्ता बतलाया है। (अध्याय ६/प्र.१/शी.८)। इसके अतिरिक्त वि० सं० १३६ में श्वेताम्बरमत की उत्पत्ति हुई ही नहीं थी, वह जम्बूस्वामी के निर्वाण के पश्चात् अर्थात् ईसापूर्व ४६५ में ही हो गयी थी तथा अर्धफालकसम्प्रदाय का भी श्वेताम्बरीकरण वि० सं० १३६ अर्थात् ७९ ई० में न होकर उसके सौ-पचास वर्ष बाद हुआ था।

८. आचार्य जयसेन ने पंचास्तिकाय और प्रवचनसार की टीका में लिखा है कि आचार्य कुन्दकुन्द ने शिवकुमार महाराज के प्रतिबोधनार्थ इन ग्रन्थों की रचना की

थी। इस आधार पर डॉ० के० बी० पाठक ने अनुमान लगाया है कि विक्रम की छठी शती (५ वीं शती ई०) के कदम्बवंशीय राजा श्रीविजय-शिवमृगेशवर्मा के लिए उक्त ग्रन्थ रचे गये थे, अतः कुन्दकुन्द विक्रम की छठी शती (पाँचवीं शताब्दी ई०) में हुए थे। किन्तु, आचार्य जयसेन ने प्रवचनसार की तात्पर्यवृत्ति में प्रथम प्रस्तावनावाक्य के द्वारा शिवकुमार का जो वर्णन किया है, उससे स्पष्ट है कि वे राजा नहीं थे, अपितु कोई अराजवंशीय पुरुष थे। अतः 'डॉ० पाठक का मत निरस्त हो जाता है। (अध्याय १० / प्र. २ / शी. १)।

९. मुनि श्री कल्याणविजय जी ने कुन्दकुन्द को दिगम्बरजैनमत का प्रवर्तक माना है और डॉ० के० बी० पाठक को प्रमाण मानते हुए, यह भी माना है कि राजा श्रीविजय-शिवमृगेशवर्मा कुन्दकुन्द के शिष्य थे, इसलिए कुन्दकुन्द विक्रम की छठी शती में हुए थे। किन्तु उक्त राजा के देवगिरि-ताम्रपत्रलेख (४७०-४९० ई०) में श्वेतपटमहाश्रमण-संघ और निर्ग्रन्थमहाश्रमणसंघ को ग्रामदान किये जाने का उल्लेख है, जिससे स्पष्ट है कि दिगम्बरजैन-परम्परा (निर्ग्रन्थमहाश्रमणसंघ) उक्त राजा के पहले से चली आ रही थी। अतः मुनि जी की कुन्दकुन्द के दिगम्बरजैनमत-प्रवर्तक होने की मान्यता से सिद्ध होता है कि कुन्दकुन्द भी राजा श्रीविजय-शिवमृगेशवर्मा से बहुत पहले हुए थे। तथा, यदि कुन्दकुन्द इस राजा के गुरु होते, तो यह राजा ताम्रपत्रलेख में उनके नाम का उल्लेख अवश्य करता। किन्तु, नहीं किया, इससे स्पष्ट होता है कि कुन्दकुन्द श्रीविजय-शिवमृगेशवर्मा के गुरु नहीं थे। इन दो हेतुओं से भी कुन्दकुन्द के विक्रम की छठी शती में होने का मत निरस्त हो जाता है। मुनि कल्याणविजय जी ने विक्रम की छठी शती के समर्थन में और भी अनेक हेतु प्रस्तुत किये हैं, वे भी निरस्त हो जाते हैं। यथा—

९.१. हेतु—नियमसार में वि० सं० ५१२ में रचित 'लोकविभाग' नामक ग्रन्थ का उल्लेख है।

निरसन—नियमसार में 'लोकविभागे' (एकवचनान्त) पद नहीं है, अपितु 'लोक-विभागेसु' ('लोकविभागों में'—'बहुवचनान्त') पद है। अतः यह किसी स्वतन्त्र ग्रन्थ का नाम नहीं है, अपितु लोकानुयोग-विषयक-प्रकरणसमूह का वाचक है।

९.२. हेतु—समयसार में तृतीय शती ई० के विष्णुकर्तृत्ववाद का उल्लेख है।

निरसन—विष्णुकर्तृत्ववाद ऋग्वेदकालीन है।

९.३. हेतु—षट्प्राभृतों में परवर्ती चैत्यादि एवं शिथिलाचारी मुनियों का वर्णन है।

निरसन—चैत्यगृह-प्रतिमादि ईसापूर्वकालीन हैं और 'पासथ' आदि शिथिलाचारी मुनियों का अस्तित्व अनादि से है।

१.४. हेतु—जिस मर्करा-ताम्रपत्र में कुन्दकुन्दान्वय का उल्लेख है, उसमें ७वीं सदी ई० में प्रचलित हुए 'भटार' शब्द का प्रयोग है।

निरसन—आदरसूचक 'भटार' शब्द का प्रचलन प्राचीन है।

१.५. हेतु—कोई भी पट्टावली वीर नि० सं० के अनुसार रचित नहीं है।

निरसन—'तिलोपण्णत्ती' आदि में वीर-निर्वाणानुसार ही कालगणना है। (अध्याय १० / प्र.२ / शी. ६)।

१०. पं० दलसुख मालवणिया मानते हैं कि कुन्दकुन्द 'तत्त्वार्थसूत्र' की रचना के बाद अर्थात् तीसरी-चौथी शताब्दी ई० के पश्चात् हुए थे। इस मत के समर्थन में उनके द्वारा उपस्थित किये गये सभी हेतु असत्य हैं। यथा—

१०.१. हेतु—उमास्वाति के 'तत्त्वार्थ' में वर्णित जैनदर्शन की अपेक्षा आचार्य कुन्दकुन्द के ग्रन्थों में प्रतिपादित जैनदर्शन का रूप विकसित है। उदाहरणार्थ उन्होंने ब्रह्माद्वैत और विज्ञानाद्वैत का अनुकरण कर जैनदर्शन को अद्वैतवाद के निकट लाकर खड़ा कर दिया है।

निरसन—ब्रह्माद्वैतवाद में ब्रह्मरूप एक ही द्रव्य का अस्तित्व मान्य है, उसकी संख्या भी एक ही मानी गयी है, और उसमें द्रव्य और गुण का भेद भी नहीं माना गया है। इस तरह वह एकान्त अद्वैतवाद है। कुन्दकुन्द ने छह द्रव्यों का प्रतिपादन किया है, उनमें भी जीवद्रव्य की संख्या अनन्त और पुद्गल की अनन्तानन्त बतलायी है, साथ ही प्रत्येक द्रव्य में लक्षणभेद की दृष्टि से द्रव्य और गुण का भेद भी बतलाया है और सत्ता की दृष्टि से उनमें अभेद भी स्वीकार किया है। इस प्रकार कुन्दकुन्द ने द्वैत और अद्वैत दोनों का प्रतिपादन किया है, जो वस्तुतः द्वैताद्वैतरूप द्वैत ही है। अतः कुन्दकुन्द द्वारा प्रतिपादित जैनदर्शन ब्रह्माद्वैतवाद के निकट तो क्या, इतना अधिक दूर है जितना धरती से आकाश। (अध्याय १० / प्र. ४ / शी. २)।

१०.२. हेतु—पंचास्तिकाय की 'सस्सदमध उच्छेदं' इत्यादि गाथा (३७) से ज्ञात होता है कि आचार्य कुन्दकुन्द न केवल पुराने 'शाश्वतवाद' और 'उच्छेदवाद' से, बल्कि नवीन 'विज्ञानाद्वैत' और 'शून्यवाद' से भी परिचित थे।

निरसन—उक्त गाथा में वर्णित 'शाश्वत'-'उच्छेद', 'शून्य'-'विज्ञान' आदि परस्पर-विरोधी वाद नहीं हैं, अपितु जीव द्रव्य के परस्परविरुद्ध धर्मयुगल हैं।

१०.३. हेतु—कुन्दकुन्द ने समयसार (गाथा ३२१-३२३) में विष्णु के जगत्कर्तृत्व की मान्यता और आत्मा के जगत्कर्तृत्व की मान्यता, दोनों को व्यवहारनय की अपेक्षा

समानरूप से सत्य बतलाया है। यह तत्त्वार्थसूत्र की अपेक्षा कुन्दकुन्द के ग्रन्थों में पाये जानेवाले जैनदर्शन के विकसित रूप का दूसरा उदाहरण है।

निरसन—समयसार की उक्त गाथाओं की यह व्याख्या कुन्दकुन्द के मत के सर्वथा प्रतिकूल है। उन्होंने तो उन गाथाओं में यह कहा है कि जगत्कर्तृत्व-सम्बन्धी उक्त दोनों मान्यताएँ मिथ्या हैं।

१०.४. हेतु—कुन्दकुन्द ने शुभ, अशुभ और शुद्ध की अवधारणाएँ सांख्यकारिका से ग्रहण की हैं।

निरसन—कुन्दकुन्द ने स्वयं कहा है कि 'मैंने श्रुतकेवली के उपदेश को ही समयसार में वर्णित किया है'—“**वोच्छामि समयपाहुडमिणामो सुयकेवलीभणियं**” (स.सा./गा.१)। अतः सांख्यकारिका से ग्रहण करने की धारणा कपोलकल्पित है।

१०.५. हेतु—कुन्दकुन्द ने सांख्यमत का अनुकरण कर आत्मा को कर्ता और अकर्ता कहा है।

निरसन—इस मान्यता का कोई प्रमाण नहीं है। कुन्दकुन्द का समस्त तत्त्व-निरूपण श्रुतकेवली के उपदेश पर आधारित है

१०.६. हेतु—कुन्दकुन्द ने सांख्यदर्शन से प्रभावित होकर आत्मा के अकर्तृत्व का समर्थन और कर्मों के लिए 'प्रकृति' शब्द का प्रयोग किया है।

निरसन—सांख्यदर्शन पुरुष (आत्मा) को सर्वथा अकर्ता और प्रकृति को सर्वथा कर्त्री मानता है। किन्तु कुन्दकुन्द ने इन दोनों के सर्वथा अकर्तृत्व और सर्वथा कर्तृत्व का निषेध किया है। इससे यह सिद्ध नहीं होता कि कुन्दकुन्द ने सांख्यदर्शन से प्रभावित होकर 'पुरुष' के सर्वथा अकर्तृत्व का समर्थन किया है। तथा 'कर्मों' के लिए 'प्रकृति' शब्द का प्रयोग कुन्दकुन्द से पूर्ववर्ती षट्खण्डागम में मिलता है, तब यह कथन भी मिथ्या सिद्ध हो जाता है कि कुन्दकुन्द ने सांख्यदर्शन से 'प्रकृति' शब्द ग्रहण किया है।

१०.७. हेतु—तत्त्वार्थसूत्र की अपेक्षा कुन्दकुन्द-साहित्य में प्रतिपाद्य विषय की विविधता और व्याख्या-दृष्टान्तादि-कृत विस्तार है। यह तत्त्वार्थसूत्र की अपेक्षा कुन्दकुन्द-साहित्य के अर्वाचीन होने का लक्षण है।

निरसन—किसी ग्रन्थ के संक्षेप और विस्तार का कारण प्रयोजनभेद और कर्तागत रुचिभेद है, काल की पूर्वापरता नहीं। यदि ग्रन्थ के लघुरूप को प्राचीनता का और विस्तृतरूप को अर्वाचीनता का लक्षण माना जाय, तो सभी श्वेताम्बर-‘अंग’ और ‘उपांग’

तत्त्वार्थसूत्र से अर्वाचीन सिद्ध होंगे, क्योंकि वे 'तत्त्वार्थसूत्र' से कई गुना विस्तृत हैं, तथा उनमें विषय का वैविध्य और नवीनता भी है, अर्थात् उनमें उन विषयों का वर्णन है, जो तत्त्वार्थसूत्र में नहीं हैं। इसके अतिरिक्त तत्त्वार्थसूत्र में व्याख्या-दृष्टान्तादिगत विस्तार को छोड़कर ऐसा विषयवैविध्य या विषयविस्तार तथा विशेषीकरण-विभेदीकरण आदि भी विद्यमान हैं, जो कुन्दकुन्दसाहित्य में दृष्टिगोचर नहीं होते। (अध्याय १०/ प्र. ४)।

इस प्रकार मान्य मालवणिया जी ने तत्त्वार्थसूत्र की अपेक्षा कुन्दकुन्दसाहित्य में जैनदर्शन के रूप को विकसित मान कर, कुन्दकुन्द को तत्त्वार्थसूत्रकार से अर्वाचीन अर्थात् तीसरी-चौथी शताब्दी ई० के बाद का साबित करने के लिए जो हेतु प्रस्तुत किये हैं, वे सभी मिथ्या सिद्ध हो जाते हैं। अतः यह निर्णय अबाधित उठरता है कि आचार्य कुन्दकुन्द ईसापूर्वोत्तर प्रथम शताब्दी में हुए थे।

११. किसी भी श्वेताम्बर-आगम में गुणस्थान-सिद्धान्त का प्रतिपादन नहीं है। समवायांग में १४ गुणस्थानों के नाम वर्णित हैं, किन्तु वे प्रक्षिप्त हैं। भगवतीसूत्र, प्रज्ञापनासूत्र आदि में गुणस्थानों के नाम-जैसे १३ शब्द उपलब्ध होते हैं, किन्तु उनका गुणस्थान-सिद्धान्त से कोई सम्बन्ध नहीं है। डॉ० सागरमल जी ने तत्त्वार्थसूत्र को स्वकल्पित उत्तरभारतीय-सचेलाचेल-निर्ग्रन्थ-परम्परा (पाँचवीं शती ई० से पूर्ववर्ती) में रचित मानकर उसमें भी गुणस्थान-सिद्धान्त का अभाव बतलाया है। और चूँकि षट्खण्डागम, कुन्दकुन्दसाहित्य, भगवती-आराधना, मूलाचार आदि में गुणस्थानों के आधार पर विस्तार से निरूपण किया गया है, अतः डॉक्टर सा० का मत है कि गुणस्थानसिद्धान्त तत्त्वार्थसूत्र की रचना के बाद विकसित हुआ है। इसलिए समयसार, नियमसार, भगवती-आराधना आदि की रचना तत्त्वार्थसूत्र (श्वेताम्बरमतानुसार तीसरी-चौथी शती ई०) के बहुत बाद, छठी शती ई० के उत्तरार्ध में अथवा उसके भी बाद हुई है (अध्याय १०/ प्र. ५ / शी. १)। अर्थात् कुन्दकुन्द छठी या सातवीं शती ई० के आचार्य हैं। डॉक्टर सा० ने तत्त्वार्थसूत्र में गुणस्थानसिद्धान्त के अभाव का हेतु यह बतलाया है कि उसमें न तो 'गुणस्थान' शब्द का प्रयोग हुआ है, न ही चौदह गुणस्थानों के नाम एक साथ बतलाये गये हैं। गुणश्रेणिनिर्जरासूत्र में जो गुणस्थानों के नाम आये हैं, उन्हें डॉक्टर सा० ने गुणस्थान न कहकर आध्यात्मिक विकास की अवस्था कहा है।

डॉक्टर सा० की यह मान्यता प्रत्यक्ष प्रमाण का सरासर अपलाप है। यह निम्नलिखित प्रमाणों से सिद्ध है—

क—तत्त्वार्थसूत्र में गुणस्थानों का उल्लेख न केवल गुणश्रेणिनिर्जरासूत्र में है, अपितु परीषहों, ध्यानभेदों, आहारकशरीर और पञ्चचारित्रप्रकारों के वर्णन-प्रसंग में भी है।

ख—तत्त्वार्थसूत्र में नौ गुणस्थानों का कथन शब्दतः है, और पाँच का अर्थतः। इस प्रकार उसमें चौदहों गुणस्थानों का वर्णन है।

ग—तत्त्वार्थसूत्र के गुणश्रेणिनिर्जरासूत्र में उपशमक और क्षपक श्रेणियों का उल्लेख तथा अनन्तवियोजक एवं दर्शनमोहक्षपक संज्ञाओं का प्रयोग तत्त्वार्थसूत्रकार के गुणस्थान-सिद्धान्त-विषयक गहन और सूक्ष्म ज्ञान का परिचायक है।

घ—तत्त्वार्थसूत्र का सम्पूर्ण विषयप्रतिपादन गुणस्थान-केन्द्रित है और उसकी गुणस्थान-केन्द्रितता सर्वमान्य है।

ङ—तत्त्वार्थसूत्र में जिस कर्मव्यवस्था का प्ररूपण है, उससे चतुर्दश-गुणस्थान-व्यवस्था स्वतः सिद्ध होती है। अतः गुणस्थान-व्यवस्था उतनी ही प्राचीन है, जितनी तत्त्वार्थसूत्र में वर्णित कर्मव्यवस्था।

च—तत्त्वार्थसूत्र में उल्लिखित सम्यग्दृष्टि, देशविरत, प्रमत्तसंयत, अप्रमत्तसंयत आदि अवस्थाएँ लक्षणतः गुणस्थान हैं। उन्हें केवल इसलिए गुणस्थान न मानना कि उनके साथ 'गुणस्थान' शब्द का प्रयोग नहीं हुआ है, वैसी ही कथा है, जैसे कोई हाथी को साक्षात् खड़ा हुआ देखकर भी उसे इसलिए हाथी न माने कि उसके ऊपर 'हाथी' शब्द नहीं लिखा है।

छ—'तत्त्वार्थ' के गुणश्रेणिनिर्जरासूत्र में उल्लिखित 'सम्यग्दृष्टि', 'श्रावक', 'विरत' आदि अवस्थाएँ गुणस्थान ही हैं, उनके लिए 'आध्यात्मिक विकास की अवस्थाएँ' शब्द का प्रयोग आगमोक्त नहीं है, स्वकल्पित है। इस शब्द का प्रयोग तो तत्त्वार्थसूत्रकार ने भी नहीं किया।

ज—श्वेताम्बर-आगमों में न तो गुणस्थानों की मान्यता है, न गुणश्रेणिनिर्जरा के स्थानों की। 'समवायांग' और 'आचारांगनिर्युक्ति' में इनका प्रवेश षट्खण्डागम से हुआ है। तत्त्वार्थसूत्र में भी वहीं से आये हैं। इस प्रकार गुणस्थानसिद्धान्त तत्त्वार्थसूत्र से पूर्ववर्ती है। फलस्वरूप उसके विकसित होने की मान्यता अप्रामाणिक है। अतः यह मत भी प्रमाणविरुद्ध है कि कुन्दकुन्द तत्त्वार्थसूत्र की रचना के बाद छठी-सातवीं शती ई० में हुए थे। इस प्रकार आचार्य कुन्दकुन्द ईसा-पूर्वोत्तर प्रथम शती में हुए थे, यह मत अक्षुण्ण रहता है।

१२. डॉ० सागरमल जी का दूसरा तर्क यह है कि तत्त्वार्थसूत्र तथा उसके उमास्वातिकृत भाष्य में नयप्रमाण-सप्तभंगी का भी उल्लेख नहीं है, जब कि कुन्दकुन्द के पंचास्तिकाय में उसका स्पष्ट शब्दों में वर्णन है। इससे सिद्ध होता है कि तत्त्वार्थसूत्र के रचनाकाल तक सप्तभंगी का भी विकास नहीं हुआ था, अतः तत्त्वार्थसूत्र कुन्दकुन्द

से पूर्व की रचना है। इसलिए कुन्दकुन्द तत्त्वार्थसूत्रकार के बाद विक्रम की छठी शती में हुए थे।

डॉ० सागरमल जी की यह धारणा भी मिथ्या है। सप्तभंगी की चर्चा तत्त्वार्थसूत्र से बहुत पहले के ग्रन्थों में उपलब्ध होती है। श्वेताम्बर-आगम भगवतीसूत्र (व्याख्या-प्रज्ञप्ति) में सातों भंगों का उल्लेख है तथा बादरायण व्यास (५०० ई० पू० — २०० ई० पू०) ने ब्रह्मसूत्र में सप्तभंगी की आलोचना की है। अतः पंचास्तिकाय में उसका वर्णन होने से कुन्दकुन्द तत्त्वार्थसूत्रकार से उत्तरवर्ती सिद्ध नहीं होते।

१३. प्रो० एम० ए० ढाकी ने अप्रामाणिक हेतुओं के द्वारा आचार्य कुन्दकुन्द का स्थितिकाल ८वीं शताब्दी ई० सिद्ध करने का प्रयत्न किया है। उनके द्वारा प्रस्तुत हेतुओं का निरसन नीचे किया जा रहा है—

१३.१. हेतु—आठवीं शती ई० से पूर्ववर्ती ग्रन्थों में कुन्दकुन्द का उल्लेख नहीं है।

निरसन—प्रथम शती ई० की 'भगवती-आराधना' और 'मूलाचार' में कुन्दकुन्द के ग्रन्थों की गाथाएँ उपलब्ध होती हैं। प्रथम-द्वितीय शती ई० में रचित 'तत्त्वार्थसूत्र' के अनेक सूत्रों की रचना कुन्दकुन्द के ग्रन्थों के आधार पर की गयी है। द्वितीय शती ई० की 'तिलोयपण्णत्ती' में भी कुन्दकुन्द की दर्जनों गाथाएँ आत्मसात् की गयी हैं। पाँचवीं शती ई० में हुए पूज्यपादस्वामी ने 'सर्वार्थसिद्धिटीका' में कुन्दकुन्द के ग्रन्थों की कई गाथाएँ उद्धृत की हैं और 'इष्टोपदेश' तथा 'समाधितन्त्र' में अनेक गाथाओं का संस्कृत श्लोकों में परिवर्तन किया है। छठी शती ई० के 'परमात्मप्रकाश' एवं ७वीं शती ई० के 'वरांगचरित' में भी उनकी गाथाओं को क्रमशः अपभ्रंश-दोहों एवं संस्कृत श्लोकों में ढाला गया है। ये आठवीं शती ई० से पूर्व के ग्रन्थों में कुन्दकुन्द के उल्लेख के बहुसंख्यक एवं अकाट्य प्रमाण हैं।

१३.२. हेतु—जिस मर्करा-ताम्रपत्रलेख (क्र० ९५) को शकसंवत् ३८८ (ई० सन् ४६६) का माना गया है और जिसमें कुन्दकुन्दान्वय का उल्लेख है, वह जाली है और उसमें उल्लिखित संवत् शकसंवत् नहीं है।

निरसन—मर्करा-ताम्रपत्रलेख के अनुसार जिन कोङ्गणि-महाधिराज अविनीत ने कुन्दकुन्दान्वय के चन्द्रणंदिभटार को तलवननगर के जिनालय के लिए बदणेगुप्पे ग्राम अपने मन्त्री के हाथ से दान कराया था, वे महाधिराज अविनीत और चन्द्रणंदिभटार शकसंवत् ३८८ (४६६ ई०) में ही विद्यमान हो सकते हैं, उसके बाद नहीं, यह ४२५ ई० के नोणमंगल-ताम्रपत्र-लेख (क्र० ९४) से प्रमाणित है, क्योंकि उसमें भी उन

दोनों का उल्लेख है। अतः उक्त संवत् शकसंवत् ही है। यह सत्य है कि राजा अकालवर्ष-पृथुवीवल्लभ कृष्ण तृतीय (९३७-९६८ ई०) के काल में मर्करा-ताम्रपत्रों का पुनर्लेखन कराया गया और उनमें ग्रामदान का वृत्तान्त तो पूर्ववत् ही पूर्वोल्लिखित शकसंवत् ३८८ के साथ पुनः लिखवाया गया, किन्तु कोङ्कणि-महाधिराज अविनीत के मन्त्री के स्थान में अकालवर्ष-पृथुवीवल्लभ के मन्त्री का उल्लेख कर दिया गया, यह अनेक युक्तियों से सिद्ध होता है। (अध्याय १०/प्र.१/शी.११)। अतः वह अंशतः कृत्रिम है, पूर्णतः नहीं। इसलिए कुन्दकुन्दान्वय का शकसंवत् ३८८ (ई० सन् ४६६) और उससे पूर्व में तथा कुन्दकुन्द का ईसापूर्वोत्तर प्रथम शताब्दी में विद्यमान होना असिद्ध नहीं होता।

१३.३. हेतु—आचार्य कुन्दकुन्द ने ८ वीं शती ई० के राजा शिवमार के लिए प्रवचनसार की रचना की थी।

निरसन—आचार्य जयसेन ने शिवमार के लिए नहीं, शिवकुमार के लिए प्रवचनसार और पंचास्तिकाय के रचे जाने का कथन किया है और वे राजा नहीं थे, बल्कि अराजवंशीय सामान्य पुरुष थे।

१३.४. हेतु—आचार्य जयसेन ने पंचास्तिकाय की तात्पर्यवृत्ति में कुमारनन्दिसिद्धान्तदेव को कुन्दकुन्द का गुरु कहा है। वे ८वीं शती ई० में हुए थे, यह शकसंवत् ७३० (ई० ८०८) के वदनोगुप्ते-ताम्रपट्ट-दानपत्र से सिद्ध है।

निरसन—उक्त दानपत्र में 'कुमारणन्दिभटार' और 'एलवाचार्यगुरु' नाम उल्लिखित हैं। 'कुमारनन्दिसिद्धान्तदेव' और 'कुमारणन्दिभटार' तथा 'एलाचार्य' और 'एलवाचार्यगुरु' इन नामों में बहुत अन्तर है। इनके एकत्व की पुष्टि करनेवाला कोई प्रमाण उपलब्ध नहीं है। अतः कुन्दकुन्द को ८वीं शती ई० में विद्यमान मानना अप्रामाणिक है।

१३.५. हेतु—कुन्दकुन्द ने लिंगप्राभृत (लिंगपाहुड) में मुनियों की जिन शिथिलाचारी प्रवृत्तियों पर प्रहार किया है, वे छठी शती ई० के बाद की घटनाएँ हैं।

निरसन—कुन्दकुन्द ने उन्हें अनादि से प्रवृत्त कहा है।

१३.६. हेतु—छठी शती ई० में रचित षट्खण्डागम पर कुन्दकुन्द ने टीका लिखी है।

निरसन—षट्खण्डागम ईसापूर्व प्रथम शताब्दी के पूर्वार्ध की रचना है।

१३.७. हेतु—कुन्दकुन्द ने छठी शती ई० में रचित यापनीयग्रन्थ 'मूलाचार' का अनुकरण कर 'समयसार' में 'प्रतिक्रमणादि को विषकुम्भ' कहनेवाली गाथा (३०६)

रची है। उसमें जो कुन्दकुन्द के ग्रन्थों की गाथाएँ मिलती हैं, वे उस समय प्रक्षिप्त की गयी हैं, जब वह यापनीयों के माध्यम से दिगम्बरों के पास आया। उसमें छठी शती ई० के आरंभ में रचित श्वेताम्बर-निर्युक्तियों की गाथाएँ मिलती हैं, इसलिए वह (मूलाचार) छठी शती ई० के उत्तरार्ध में रचा गया है।

निरसन—मूलाचार दिगम्बरग्रन्थ है, क्योंकि उसमें यापनीयमत-विरुद्ध सिद्धान्तों का प्रतिपादन है। इसलिए वह यापनीयों के माध्यम से दिगम्बरों के पास आया है, इस कल्पना के लिए स्थान नहीं है। अतएव उसमें कुन्दकुन्द के ग्रन्थों की गाथाएँ प्रक्षिप्त किये जाने की कल्पना निराधार है। मूलाचार के कर्ता ने स्वयं उन्हें कुन्दकुन्द के ग्रन्थों से ग्रहण किया है। उसमें छठी शती के आरंभ में रचित श्वेताम्बर-निर्युक्तियों की गाथाएँ नहीं हैं, बल्कि उसकी गाथाएँ श्वेताम्बर-निर्युक्तियों में हैं, अतः उसे छठी शती ई० में रचित मानना निराधार है। वह ईसा की प्रथम शती के उत्तरार्ध की कृति है।

१३.८. हेतु—कुन्दकुन्द के ग्रन्थों में छठी शती ई० के श्वेताम्बर-प्रकीर्णक ग्रन्थों की गाथाएँ हैं।

निरसन—इसके विपरीत श्वेताम्बर-प्रकीर्णक ग्रन्थों में कुन्दकुन्द के ग्रन्थों की गाथाएँ हैं, क्योंकि कुन्दकुन्द ईसापूर्वोत्तर प्रथम शताब्दी में हुए थे।

१३.९. हेतु—छठी शती ई० के सिद्धसेन दिवाकर और मल्लवादी ने निश्चयनय का प्रयोग गहराई और विस्तार से नहीं किया, कुन्दकुन्द ने किया है, अतः वे उत्तरवर्ती हैं।

निरसन—श्वेताम्बरपरम्परा में द्रव्यानुयाग और चरणानुयाग का अध्यात्मपक्ष सुरक्षित नहीं रहा, इसलिए उसमें निश्चयनय के गहन और विस्तृत प्रयोग के लिए अवसर ही नहीं था। होता, तो वे भी वैसा ही करते।

१३.१०. हेतु—कुन्दकुन्द ने आत्मा के शुद्धस्वरूप के प्रतिपादन में ८वीं शती ई० के वेदान्तिक गौडपाद का अनुसरण किया है।

निरसन—कुन्दकुन्द ने स्वयं कहा है कि उन्होंने श्रुतकेवली के उपदेश के आधार पर अपने ग्रन्थों की रचना की है।

१३.११. हेतु—'समय' शब्द बहुत पहले से 'मत' (स्वमत-परमत) के अर्थ में प्रसिद्ध था, कुन्दकुन्द ने उसे 'आत्मा' के अर्थ में प्रचलित कर दिया, जो नवीन होने के कारण कुन्दकुन्द को अर्वाचीन सिद्ध करता है।

निरसन—‘आत्मा’ के अर्थ में भी ‘समय’ शब्द का प्रयोग परम्परागत है।

१३.१२. हेतु—कुन्दकुन्द ने उपयोग के शुभ और अशुभ भेदों के अतिरिक्त तीसरे ‘शुद्ध’ भेद को भी जन्म दिया है। यह ८ वीं शती ई० से पहले अज्ञात था।

निरसन—आठवीं शती के पहले से लेकर ईसा की प्रथम शती तक के ग्रन्थों में भी शुद्धोपयोग का उल्लेख मिलता है। भगवती-आराधना, मूलाचार, सर्वार्थसिद्धि आदि ग्रन्थ इसके प्रमाण हैं।

१३.१३. हेतु—कुन्दकुन्द स्याद्वाद और सप्तभंगी से परिचित हैं, जब कि उमास्वाति और सिद्धसेन अपरिचित हैं।

निरसन—उमास्वाति ने ‘तत्त्वार्थ’ के अनेक सूत्रों की रचना कुन्दकुन्द के ग्रन्थों के आधार पर की है। अतः वे स्याद्वाद और सप्तभंगी से परिचित भले न हों, कुन्दकुन्द से हैं।

१३.१४. हेतु—आत्मा के बहिरात्मादि तीन भेदों को पूज्यपाद देवन्दी ने उपनिषदों से ग्रहण किया है और देवन्दी से कुन्दकुन्द ने। देवन्दी ७ वीं शती ई० में हुए थे, अतः कुन्दकुन्द उनसे उत्तरवर्ती हैं।

निरसन—कुन्दकुन्द ने अपने ग्रन्थों में सम्पूर्ण तत्त्वनिरूपण श्रुतकेवली भद्रबाहु के उपदेश के आधार पर किया है, अतः बहिरात्मादि भेदों को उपनिषदों से ग्रहण करने का प्रश्न ही नहीं उठता। तथा पूज्यपाद स्वामी ने ‘सर्वार्थसिद्धि’ में कुन्दकुन्द के ग्रन्थों की गाथाएँ उद्धृत की हैं और अनेक गाथाओं को अपने ‘समाधिशतक’ एवं ‘इष्टोपदेश’ में संस्कृत श्लोकों में ढाला है। अतः वे कुन्दकुन्द से परवर्ती हैं। तथा पूज्यपाद देवन्दी ५ वीं शती ई० में हुए थे, ७ वीं में नहीं।

१४. श्वेताम्बर विद्वान् डॉ० आर० के० चन्द्र का कथन है कि कुन्दकुन्द के ‘षट्प्राभृत’ में अपभ्रंशभाषा का प्रयोग है, इसलिए उसका रचनाकाल अपभ्रंशयुग (पाँचवीं-छठी शताब्दी ई०) में चला जाता है।

डॉ० चन्द्र का अपभ्रंश-प्रयोग को ईसा की पाँचवीं-छठी शताब्दी से सम्बद्ध करना समीचीन नहीं है। इतिहासकार श्री चिमनलाल जैचंद शाह का मत है कि ईसापूर्व द्वितीय शताब्दी के खारवेल-हाथीगुम्फाभिलेख में अपभ्रंश के प्रयोग मिलते हैं। प्रथम शताब्दी ई० में हुए महाकवि कालिदास के ‘विक्रमोर्वशीय’ नाटक में अपभ्रंश के पद्य मिलते हैं, जिन्हें प्राकृतभाषाविद् जर्मन विद्वान् डॉ० रिचार्ड पिशल ने मौलिक बतलाया है। ईसापूर्व तृतीय शताब्दी के अशोक के शिलालेखों में तो हिन्दी के प्रयोग भी मिलते हैं, और स्वयं डॉ० आर० के० चन्द्र ने ईसापूर्व पाँचवीं शती की कृति माने जानेवाले

‘दशवैकालिकसूत्र’ में हिन्दी शब्दों के प्रयोग के उदाहरण प्रस्तुत किये हैं। (अध्याय १०/प्र.७)। अतः ‘षट्प्राभृत’ में अपभ्रंश-प्रयोग उपलब्ध होने से यह सिद्ध नहीं होता कि कुन्दकुन्द ईसा की पाँचवी-छठी शताब्दी में हुए थे। अपभ्रंशप्रयोग से उनका ईसापूर्वोत्तर प्रथम शताब्दी में विद्यमान होना बाधित नहीं होता।

१५. प्रो० हीरालाल जी जैन ने (जो दिगम्बर जैन थे) एक चौंकानेवाले कपोल-कल्पित इतिहास के आधार पर आचार्य कुन्दकुन्द का समय वीरनिर्वाण के ६५० वर्ष बाद अर्थात् ईसा की द्वितीय शताब्दी (ईसापूर्व ६५०-५२७=१२३ ई०) में बतलाया है। उन्होंने अपने ‘जैन इतिहास का एकः विलुप्त अध्याय’ नामक शोधपत्र में, जो ‘अखिल भारतीय प्राच्यसम्मेलन के १२वें अधिवेशन’ (ई० सन् १९४४) में पढ़ा था, केवल नामसाम्य के आधार पर भगवती-आराधना के कर्ता दिगम्बर शिवार्य, तुषमाष-घोषक दिगम्बरमुनि शिवभूति, श्वेताम्बर-कल्पसूत्र की स्थविरावली में उल्लिखित शिवभूति तथा बोटिकसम्प्रदाय के संस्थापक शिवभूति, इन चारों को एक ही व्यक्ति बतलाया है। इसी प्रकार दिगम्बर भद्रबाहु-द्वितीय एवं दिगम्बर समन्तभद्र तथा श्वेताम्बर भद्रबाहु-द्वितीय एवं श्वेताम्बर सामन्तभद्र को भी एक ही व्यक्ति सिद्ध करने की चेष्टा की है। और मजे की बात यह है कि इस अभिन्नता के द्वारा श्वेताम्बरपरम्परा के शिवभूति एवं भद्रबाहु-द्वितीय आदि का दिगम्बरीकरण न कर, दिगम्बर शिवार्य (शिवभूति), दिगम्बर भद्रबाहु-द्वितीय और दिगम्बर समन्तभद्र का श्वेताम्बरीकरण किया है। क्योंकि प्रोफेसर सा० की मान्यता है कि उस समय दिगम्बरमत की उत्पत्ति ही नहीं हुई थी, उसका प्रवर्तन तो द्वितीय शताब्दी ई० में कुन्दकुन्द ने किया था। इस प्रकार वे शिवभूति और भद्रबाहु-द्वितीय को श्वेताम्बर और बोटिक दोनों मानते हैं, दिगम्बर किसी को भी नहीं मानते। यहाँ ध्यान देने योग्य है कि प्रोफेसर हीरालाल जी ने भी बोटिक-सम्प्रदाय को यापनीयसम्प्रदाय का पूर्वरूप माना है। प्रोफेसर सा० आगे बतलाते हैं कि श्वेताम्बर-बोटिक शिवभूति के शिष्य बने श्वेताम्बर भद्रबाहु-द्वितीय तथा श्वेताम्बर-बोटिक भद्रबाहु-द्वितीय के शिष्य हुए कुन्दकुन्द। शिवभूति के दूसरे शिष्य घोषनन्दी हुए और उनके शिष्य हुए उमास्वाति।

इस प्रकार प्रोफेसर सा० ने कुन्दकुन्द को आरम्भ में श्वेताम्बर और बोटिक दोनों माना है। किन्तु वे कहते हैं कि आगे चलकर कुन्दकुन्द ने सवस्त्रमुक्ति और स्त्रीमुक्ति का सर्वथा निषेध कर दिया और इस प्रकार दिगम्बरमत का प्रवर्तन किया। किन्तु उनके इस कठोरमार्ग के प्रवर्तन से असहमत तथा शिवभूति के आपवादिक सवस्त्रमुक्ति और स्त्रीमुक्ति के समर्थक मुनियों ने उमास्वाति के नेतृत्व में पृथक् यापनीयसंघ बना लिया। (अध्याय १०/प्र.८/शी.१)।

निरसन—प्रोफेसर सा० की यह उद्भावना सर्वथा असंगत है। उपर्युक्त चारों शिवभूति एक ही व्यक्ति नहीं हो सकते, क्योंकि उनके सम्प्रदाय, मान्यताएँ, स्थितिकाल और चरित्र अलग-अलग हैं। कल्पसूत्र की स्थविरावली में उल्लिखित शिवभूति श्वेताम्बर-परम्परा के हैं। पाँचवीं शती ई० में जब देवर्द्धिगणि-क्षमाश्रमण कल्पसूत्र को पुस्तकारूढ़ कर रहे थे, तब भी उन्होंने उक्त शिवभूति को श्वेताम्बर-स्थविरावली में स्थान दिया है। इससे सिद्ध है कि वे पाँचवीं शताब्दी ई० तक श्वेताम्बराचार्य ही माने जाते थे और श्वेताम्बरों के लिए पूज्य थे, जब कि बोटिक-सम्प्रदाय-प्रवर्तक शिवभूति श्वेताम्बरसाहित्य के अनुसार प्रथम शताब्दी ई० में ही श्वेताम्बरसंघ छोड़कर बोटिक (दिगम्बर) मत का प्रवर्तक बन गया था। तथा इसके चरित्र का जो चित्रण श्वेताम्बरसाहित्य में किया गया है, वह अत्यन्त हीन है। विशेषावश्यकभाष्य आदि श्वेताम्बरग्रन्थों में उसे घोर मिथ्यादृष्टि, प्रभूतर-विसंवादी और परलिंगी कहा गया है। क्या इस शिवभूति का कल्पसूत्र की स्थविरावली में, मान्य श्वेताम्बराचार्य के रूप में उल्लेख हो सकता है? कदापि नहीं। अतः सिद्ध है कि कल्पसूत्र की स्थविरावली में निर्दिष्ट आर्य शिवभूति, बोटिक शिवभूति से सर्वथा भिन्न हैं।

इसके अतिरिक्त 'विशेषावश्यकभाष्य' में बोटिक शिवभूति के गुरु का नाम आर्यकृष्ण बतलाया गया है, किन्तु कल्पसूत्र की स्थविरावली में शिवभूति को पहले नमस्कार किया गया है और कृष्ण (कण्ह) को 'शिवभूति', 'कोसिय' तथा 'दुज्जत' के बाद। इससे सिद्ध है कि स्थविरावली-गत शिवभूति के गुरु आर्यकृष्ण नहीं हैं, अतः दोनों शिवभूति भिन्न-भिन्न हैं। 'भगवती-आराधना' के कर्ता शिवार्य ने भी अपने तीन गुरुओं के नाम का उल्लेख किया है : जिननन्दिगणी, सर्वगुप्तगणी और मित्रनन्दी। इनमें भी आर्यकृष्ण का नाम नहीं है। अतः शिवार्य भी उक्त दोनों शिवभूतियों से भिन्न सिद्ध होते हैं। फिर शिवार्य ने अपने को पाणितलभोजी कहा है और भगवती-आराधना में सवस्त्रमुक्ति, स्त्रीमुक्ति, गृहस्थमुक्ति, परतीर्थिकमुक्ति एवं केवलभुक्ति आदि श्वेताम्बरीय मान्यताओं का निषेध किया है। ये भी इस बात के सबूत हैं कि शिवार्य कल्पसूत्र-स्थविरावली के शिवभूति से भिन्न हैं।

प्रो० हीरालाल जी ने कहा है कि शिवभूति के उत्तराधिकारी भद्रबाहु-द्वितीय हुए, किन्तु विशेषावश्यकभाष्य में बतलाया गया है कि शिवभूति की गुरु शिष्य-परम्परा कौण्डिन्य और कोट्टवीर नामक शिष्यों से चली। यहाँ भद्रबाहु के नाम का एक अक्षर भी नहीं है। यह साहित्यिक प्रमाण साक्षी है कि प्रोफेसर सा० का यह कथन भी कपोलकल्पित है। और जब यह असत्य सिद्ध हो जाता है कि भद्रबाहु-द्वितीय शिवभूति के शिष्य थे, तब प्रो० हीरालाल जी की बतलायी हुई सारी गुरुशिष्य-परम्परा बनावटी साबित हो जाती है। अतः यह उद्भावना भी मनगढ़न्त सिद्ध हो जाती

है कि कुन्दकुन्द भद्रबाहु-द्वितीय के शिष्य थे और उन्होंने आगे चलकर दिगम्बरमत चलाया। इसके फलस्वरूप यह कथन भी असंगत ठहरता है कि वे ईसा की द्वितीय शताब्दी में हुए थे।

एक व्यक्ति एक ही समय में श्वेताम्बर (अचेलमुक्ति का निषेधक), बोटिक (प्रो० हीरालाल जी की मान्यतानुसार अपवादरूप से सचेलमुक्ति का समर्थक) तथा दिगम्बर (सचेलमुक्ति का निषेधक), तीनों नहीं हो सकता। एक व्यक्ति एक ही समय में छद्मस्थ और केवलज्ञानी दोनों नहीं हो सकता। और एक व्यक्ति ईसापूर्व प्रथम शताब्दी से लेकर ईसोत्तर पाँचवीं शताब्दी तक जीवित नहीं रह सकता। किन्तु प्रो० हीरालाल जी ने इन अनहोनियों को होनी बनाने का अद्भुत कौशल दिखलाया है। कल्पसूत्र की स्थविरावली में उल्लिखित जिन शिवभूति को उन्होंने प्रथम शती ई० से पाँचवीं शती ई० तक श्वेताम्बर माना है, उन्हीं को प्रथम शती ई० में बोटिक भी मान लिया है, और उन्हीं को उसी शती में दिगम्बर भी मान लिया है, क्योंकि दिगम्बर कुन्दकुन्द ने उनकी प्रशंसा की है। और आचार्य कुन्दकुन्द ने इन शिवभूति को केवलज्ञान प्राप्त करनेवाला बतलाया है (भावपाहुड/गा.५३), किन्तु स्थविरावली-निर्दिष्ट शिवभूति तथा भगवती-आराधना के कर्ता शिवभूति केवलज्ञानी नहीं थे। फिर भी प्रोफेसर सा० ने इन सबको एक ही व्यक्ति मान लिया है। इस प्रकार एक ही व्यक्ति को एक ही समय में छद्मस्थ और केवली, दोनों बना दिया है। तथा 'दि इण्डियन ऐण्टिक्वेरी' में प्रकाशित नन्दिसंघीय पट्टावली के अनुसार दिगम्बर-भद्रबाहु-द्वितीय ई० पू० ५३ में आचार्य पद पर आसीन हुए थे, जब कि श्वेताम्बर-भद्रबाहु-द्वितीय का अस्तित्वकाल पाँचवीं-छठी शताब्दी ई० है। इनको भी एक ही व्यक्ति मानकर एक मनुष्य को पञ्चमकाल में पाँच सौ वर्षों तक जीवित रहनेवाला सिद्ध कर दिया है। ऐसी घोर विसंगतियों से परिपूर्ण कपोलकल्पनाओं के द्वारा प्रोफेसर सा० ने कुन्दकुन्द को दिगम्बरमत का प्रवर्तक और द्वितीय शताब्दी ई० में उत्पन्न सिद्ध करने की चेष्टा की है। अतः उनका मत सर्वथा अप्रामाणिक और अग्राह्य है। (अध्याय १० / प्र. ८ / शी. २.७)।

प्रो० हीरालाल जी जैन के शिवभूति, शिवार्य और शिवकुमार के एकत्वविषयक मत का खण्डन पं० परमानन्द जी जैन शास्त्री ने तथा श्वेताम्बर-भद्रबाहु-द्वितीय एवं स्वामी समन्तभद्र की अभेदविषयक मान्यता का निरसन न्यायाचार्य पं० दरबारीलाल जी जैन कौटिया ने अपने लेखों में अन्य अनेक प्रमाणों के द्वारा किया है। उक्त लेख प्रस्तुत ग्रन्थ में उद्धृत किये गये हैं। (अध्याय १० / प्र. ८ / शी. २.९ एवं २.१०)।

१६. ब्र० भूरामल जी ने कुन्दकुन्द को श्रुतकेवली भद्रबाहु का और पं० जुगलकिशोर जी मुख्तार ने भद्रबाहु-द्वितीय का प्रत्यक्ष शिष्य मानकर उनका समकालीन माना है,

जो अनेक कारणों से संगत नहीं है। पूर्वोद्धृत प्रमाणों से यही सिद्ध होता है कि आचार्य कुन्दकुन्द ईसापूर्वोत्तर प्रथम शताब्दी में हुए थे।

अध्याय ११—षट्खण्डागम

डॉ० सागरमल जी ने षट्खण्डागम को यापनीयग्रन्थ सिद्ध करने के लिए जो हेतु प्रस्तुत किये हैं, वे यापनीयग्रन्थ के लक्षण (असाधारणधर्म) नहीं हैं, अतः उनसे वह यापनीयग्रन्थ सिद्ध नहीं होता। उनका प्रदर्शन और निरसन नीचे किया जा रहा है।

१. हेतु—षट्खण्डागम के उपदेशक आचार्य धरसेन का नाम दिगम्बरपट्टावलियों में नहीं मिलता। यह सूचित करता है कि धरसेन दिगम्बरपरम्परा से भिन्न किसी अन्य परम्परा के आचार्य थे।

निरसन—षट्खण्डागम के उपदेशक आचार्य धरसेन तथा कर्ताद्वय आचार्य पुष्पदन्त एवं भूतबलि के नाम दिगम्बरपट्टावली और दिगम्बरसाहित्य में अनेकत्र उपलब्ध हैं। दिगम्बरजैन-साहित्य में षट्खण्डागम के कर्ताओं के रूप में उनका उल्लेख है और षट्खण्डागम की रचना का इतिहास दिगम्बरजैनसाहित्य में वर्णित है। शौरसेनी प्राकृत में लिखित षट्खण्डागम की ताड़पत्रीय प्रतियाँ मूडबिद्री (कर्नाटक) के दिगम्बरमठ में उपलब्ध हुई हैं। दिगम्बराचार्यों ने उस पर टीकाएँ लिखी हैं। दिगम्बरजैन-परम्परा के तत्त्वार्थसूत्र, सर्वार्थसिद्धि और तत्त्वार्थराजवार्तिक में उसका अनुसरण किया गया है। गोम्मटसार जैसा महान् ग्रन्थ षट्खण्डागम के ही आधार पर रचा गया है।

किन्तु श्वेताम्बर और यापनीय सम्प्रदायों की स्थविरावलियों और साहित्य में न तो षट्खण्डागम के उपदेशक एवं कर्ताओं (धरसेन, पुष्पदन्त और भूतबलि) के नाम का उल्लेख है, न षट्खण्डागम का, न षट्खण्डागम की रचना के इतिहास का कोई विवरण है, न ही अर्धमागधी-प्राकृत में षट्खण्डागम की कोई प्रति उपलब्ध है।

२. हेतु—नन्दिसंघ की प्राकृतपट्टावली यापनीयसंघ की पट्टावली है। उसमें धरसेन के नाम का उल्लेख है। इससे सिद्ध होता है कि वे यापनीयसंघ से सम्बद्ध रहे हैं।

निरसन—‘दि इण्डियन ऐण्टिक्वेरी’ में प्रकाशित नन्दिसंघ की प्राकृतपट्टावली दिगम्बरपट्टावली ही है, क्योंकि उसमें नन्दिसंघ के साथ ‘मूलसंघ’ का उल्लेख है। यथा—“श्रीमूलसङ्घप्रवरे नन्द्याम्नाये मनोहरे” (श्लोक २ / The Indian Antiquary, vol. XX, p.344)। प्रथम शुभचन्द्रकृत नन्दिसंघ की गुर्वावली में भी कहा गया है कि मूलसंघ में नन्दिसंघ उत्पन्न हुआ—“श्रीमूलसङ्घेऽजनि नन्दिसङ्घः।” (श्लोक २)।

मूलसंघीय नन्दिसंघ से भिन्नता दर्शाने के लिए यापनीय-नन्दिसंघ के साथ सर्वत्र 'यापनीय' शब्द का प्रयोग किया गया है, जैसे—“यापनीयनन्दिसंघपुनागवृक्षमूलगणे ---।” (कड़ब-लेख/क्र. १२४/अध्याय ११/प्र.३/शी.३)। आचार्य धरसेन का उल्लेख मूलसंघीय नन्दिसंघ की प्राकृत-पट्टावली में है। इससे सिद्ध है कि वे यापनीयसंघ से नहीं, अपितु मूलसंघ से सम्बद्ध थे।

३. हेतु—धरसेन ने अपने पुष्पदन्त और भूतबलि शिष्यों के लिए जोणिपाहुड ग्रन्थ की रचना की थी। इस ग्रन्थ का सर्वाधिक उल्लेख श्वेताम्बरसाहित्य में है और यह शौरसेनी में लिखित है, इसलिए सम्भावना है कि इसके उपदेशक धरसेन उत्तरभारत की अविभक्त सचेलाचेल निर्ग्रन्थपरम्परा अर्थात् श्वेताम्बरों और यापनीयों की समान मातृपरम्परा से सम्बद्ध रहे होंगे।

निरसन—इस परम्परा का अस्तित्व ही नहीं था तथा डॉ० सागरमल जी ने स्वयं षट्खण्डागम में गुणस्थानसिद्धान्त का प्ररूपण होने से इसके उपदेशक आचार्य धरसेन को ईसा की पाँचवीं शताब्दी में उत्पन्न मानकर अपने उक्त मत को कपोलकल्पित सिद्ध कर दिया है। तथा धरसेन के ५वीं शती ई० में उत्पन्न होने का मत भी अप्रामाणिक है, क्योंकि आचार्य कुन्दकुन्द ने षट्खण्डागम पर परिकर्म नामक टीका लिखी थी और वे ईसापूर्वोत्तर प्रथम शताब्दी में हुए थे, इससे सिद्ध है कि आचार्य धरसेन ईसापूर्व प्रथम शताब्दी के पूर्वार्ध में विद्यमान थे और मूलसंघ अर्थात् निर्ग्रन्थ-महाश्रमणसंघ के आचार्य थे।

४. हेतु—धरसेन ने पुष्पदन्त और भूतबलि को महाकर्मप्रकृति-प्राभृत का उपदेश दिया था, जिसके आधार पर उन्होंने षट्खण्डागम की रचना की थी। महाकर्मप्रकृतिप्राभृत उत्तरभारत की अविभक्त-सचेलाचेल-निर्ग्रन्थ-परम्परा में निर्मित हुआ था, अतः धरसेन इसी परम्परा के आचार्य सिद्ध होते हैं।

निरसन—इस परम्परा का अस्तित्व ही नहीं था, अतः धरसेन का इस परम्परा का आचार्य होना असंभव है।

५. हेतु—षट्खण्डागम की अनेक गाथाएँ श्वेताम्बरग्रन्थों की गाथाओं से समानता रखती हैं। यह साम्य तभी हो सकता है, जब दोनों किसी समान पूर्वपरम्परा से सम्बद्ध हों। वह समान पूर्वपरम्परा उत्तरभारत की सचेलाचेल-निर्ग्रन्थ-परम्परा थी, जिससे श्वेताम्बरों और यापनीयों की उत्पत्ति हुई थी। इससे सिद्ध होता है कि षट्खण्डागम यापनीयपरम्परा का ग्रन्थ है।

निरसन—तथाकथित उत्तरभारत की सचेलाचेल-निर्ग्रन्थ-परम्परा का अस्तित्व ही नहीं था, अतः उससे श्वेताम्बर और यापनीयों की उत्पत्ति असंभव थी। भगवान् महावीर

के समय से एकमात्र एकान्त-अचेल-निर्ग्रन्थपरम्परा चली आ रही थी। उसके विभाजन से दिगम्बर और श्वेताम्बर परम्पराओं का उद्भव हुआ था। अतः जो गाथाएँ दिगम्बरग्रन्थ षट्खण्डागम और तत्समकालीन प्रज्ञापनासूत्र में समान हैं, वे दोनों परम्पराओं को अपनी मूल एकान्त-अचेल-निर्ग्रन्थपरम्परा से प्राप्त हुई हैं। और जो समान गाथाएँ प्रज्ञापना-सूत्र में नहीं हैं, अपितु दिगम्बरग्रन्थ षट्खण्डागम और श्वेताम्बरग्रन्थ आवश्यकनिर्युक्ति, विशेषावश्यकभाष्य आदि में हैं, वे निश्चित ही षट्खण्डागम से इन ग्रन्थों में पहुँची हैं, क्योंकि षट्खण्डागम का रचनाकाल ईसापूर्व प्रथम शताब्दी का पूर्वार्ध है, जब कि आवश्यकनिर्युक्ति एवं विशेषावश्यकभाष्य का क्रमशः ५०५ ई० एवं ६०३ ई० है। अतः षट्खण्डागम को यापनीयपरम्परा का ग्रन्थ सिद्ध करनेवाला उपर्युक्त हेतु निरस्त हो जाता है। तथा डॉक्टर सा० ने स्वयं ही पूर्व में उसे उत्तरभारतीय-सचेलाचेल-निर्ग्रन्थपरम्परा का ग्रन्थ कहा है, इससे उनके ही वचनों से उनका यह उत्तरमत निरस्त हो जाता है।

६. हेतु—धरसेन के महाकर्मप्रकृतिप्राभृत के उपदेश के आधार पर पुष्पदन्त और भूतबलि ने षट्खण्डागम की रचना की थी। अतः धरसेन श्वेताम्बर-यापनीय-मातृपरम्परा के आचार्य थे और पुष्पदन्त तथा भूतबलि यापनीयपरम्परा के।

निरसन—पुष्पदन्त और भूतबलि, धरसेन के साक्षात् शिष्य थे, अतः समकालीन थे। अब यदि धरसेन उत्तरभारतीय-सचेलाचेल-निर्ग्रन्थसंघ के आचार्य थे, तो सिद्ध होता है कि उस समय उसका विभाजन नहीं हुआ था, और विभाजन नहीं हुआ था, तो (डॉ० सागरमल जी के मतानुसार) उस समय यापनीयसंघ की उत्पत्ति नहीं हुई थी, तब पुष्पदन्त और भूतबलि यापनीयपरम्परा के कैसे हो सकते हैं? यह असंभव है। दूसरे, उत्तरभारतीय सचेलाचेल निर्ग्रन्थसंघ का अस्तित्व ही नहीं था, अतः धरसेन को उक्त संघ से सम्बद्ध बतलाना भी मिथ्या है।

७. हेतु—षट्खण्डागम की रचना से सम्बन्धित आचार्य धरसेन, पुष्पदन्त और भूतबलि वस्तुतः कल्पसूत्र की स्थविरावली में उल्लिखित वज्रसेन, पुसगिरि और भूतदिन्न ही हैं। अतः षट्खण्डागम की रचना श्वेताम्बर-यापनीय-मातृपरम्परा के आचार्यों ने की है।

निरसन—यदि षट्खण्डागम के कर्ता वज्रसेन, पुसगिरि और भूतदिन्न होते, तो षट्खण्डागम में इन्हीं का उल्लेख होता। मूल ताड़पत्र प्रति में वज्रसेन की जगह 'धरसेन' और 'पुसगिरि' की जगह 'पुष्पदन्त' ये बिलकुल भिन्न नाम तथा भूतदिन्न के स्थान में 'भूतबलि' यह आधा भिन्न नाम हो जाने का कोई कारण नहीं है। यतः षट्खण्डागम की मूल ताड़पत्र प्रति में 'धरसेन' 'पुष्पदन्त' और 'भूतबलि' नाम ही हैं और इनका

उल्लेख कल्पसूत्र की स्थविरावली में नहीं हैं, अतः षट्खण्डागम की रचना श्वेताम्बर-यापनीय-मातृपरम्परा के आचार्यों ने की है, यह मत अप्रामाणिक है। इसके अतिरिक्त उक्त परम्परा कपोलकल्पित है तथा डॉक्टर सागरमल जी ने ही षट्खण्डागम में गुणस्थानसिद्धान्त का प्रतिपादन होने से उसे ईसा की पाँचवीं शती का ग्रन्थ मानकर उपर्युक्त परम्परा में उसके रचे जाने का मत निरस्त कर दिया है, और इस प्रकार स्वयं ही स्वीकार कर लिया है कि उनकी कल्पनाएँ कितनी बेसिरपैर की हैं। उनका गुणस्थानविकासवाद भी कपोलकल्पित है, अतः इस आधार पर षट्खण्डागम को ईसा की पाँचवीं शताब्दी में रचित मानना भी अप्रामाणिक है। आचार्य कुन्दकुन्द ईसापूर्वोत्तर प्रथम शताब्दी में हुए थे और उन्होंने षट्खण्डागम पर 'परिकर्म' नामक टीका लिखी थी, यह इसका प्रमाण है कि षट्खण्डागम ईसापूर्व प्रथम शती के पूर्वार्ध का ग्रन्थ है और मूलसंघ के आचार्यों द्वारा रचा गया है।

८. हेतु—षट्खण्डागम में मणुसिणी (मनुष्यस्त्री) में संयत-गुणस्थान बतलाये गये हैं। मणुसिणी का अर्थ केवल द्रव्यस्त्री है। उसे जो भावस्त्री का भी बाचक माना गया है, वह गलत है। इससे सिद्ध होता है कि ग्रन्थ स्त्रीमुक्ति-समर्थक परम्परा का है। यापनीय भी स्त्रीमुक्ति समर्थक थे, अतः इसके कर्ता यापनीय ही होंगे।

निरसन—षट्खण्डागम को यापनीयपरम्परा का या तथाकथित श्वेताम्बर-यापनीय-मातृपरम्परा का ग्रन्थ सिद्ध करने के लिए प्रस्तुत किये गये उपर्युक्त सभी हेतु निरस्त हो जाते हैं, जिससे सिद्ध है कि वह न तो यापनीयपरम्परा का ग्रन्थ है, न श्वेताम्बर-यापनीय-मातृपरम्परा का, अपितु दिगम्बरजैनपरम्परा का है। षट्खण्डागम में ऐसे अनेक सिद्धान्त हैं, जो यापनीयमत के विरुद्ध हैं, जिनका निरूपण आगे किया जा रहा है, उनसे भी यही सिद्ध होता है कि वह दिगम्बरजैनाचार्यों की कृति है। और दिगम्बरजैन-कर्मसिद्धान्त की भाषा में उस मनुष्य को भी भाववेद या भावलिंग की अपेक्षा 'स्त्री', 'मनुष्यिनी' या 'मानुषी' कहा गया है, जो द्रव्य (शरीर) से तो पुरुष होता है, किन्तु जिसमें पुरुषवेदनोकषाय का उदय न होकर स्त्रीवेदनोकषाय का उदय होता है। दिगम्बरमत में उसे भी मुक्ति का पात्र माना गया है, इसलिए उसमें चौदहों गुणस्थानों का होना बतलाया गया है। भट्ट अकलंकदेव के निम्नलिखित वचन इसमें प्रमाण हैं—

“मानुषीषु पर्याप्तिकासु चतुर्दशापि गुणस्थानानि सन्ति भावलिंगापेक्षया, न द्रव्य-लिङ्गापेक्षया। द्रव्यलिङ्गापेक्षया तु पञ्चाद्यानि।” (तत्त्वार्थराजवार्तिक/९/७/११/पृ.६०५)।

अनुवाद—“पर्याप्तिका मानुषियों में चौदहों गुणस्थान होते हैं, किन्तु भावलिंग की अपेक्षा, न कि द्रव्यलिंग की अपेक्षा। द्रव्यलिंग की अपेक्षा तो आदि के पाँच ही होते हैं।”

इस वक्तव्य में भट्ट अकलंकदेव ने स्त्रीवेदनोकषाय के उदय से युक्त द्रव्यपुरुष को 'मानुषी' शब्द से अभिहित किया है। अतः दिगम्बर-जैन-कर्मसिद्धान्त की भाषा के अनुसार षट्खण्डागम में भावमनुष्यिनी में ही संयतगुणस्थान बतलाये गये हैं, द्रव्य-मनुष्यिनी में नहीं। इसलिए उसमें द्रव्यस्त्री की मुक्ति का प्रतिपादन मानना प्रमाणसंगत एवं न्यायसंगत नहीं है।

इस प्रकार षट्खण्डागम को यापनीयपरम्परा या उसकी मातृपरम्परा का ग्रन्थ सिद्ध करने के लिए प्रस्तुत किये गये उपर्युक्त सभी हेतु निरस्त हो जाते हैं। इतना ही नहीं, षट्खण्डागम में ऐसे अनेक सिद्धान्त उपलब्ध होते हैं, जो यापनीयमत के विरुद्ध हैं, अत एव इस बात के सबूत हैं कि वह दिगम्बरजैन परम्परा के अतिरिक्त यापनीयपरम्परा या अन्य किसी परम्परा का ग्रन्थ हो ही नहीं सकता। वे इस प्रकार हैं—

१. षट्खण्डागम की रचना यापनीय-सम्प्रदाय की उत्पत्ति से लगभग चार सौ वर्ष पूर्व हो चुकी थी। षट्खण्डागम ईसापूर्व प्रथम शताब्दी के पूर्वार्ध में रचा गया था और यापनीयसम्प्रदाय का जन्म ईसोत्तर पञ्चम शती के प्रारंभ में हुआ था।

२. षट्खण्डागम का गुणस्थानसिद्धान्त यापनीयसिद्धान्तों के सर्वथा विरुद्ध है। इससे निम्नलिखित यापनीय-मान्यताओं का निषेध होता है—मिथ्यादृष्टि की मुक्ति, परतीर्थिक मुक्ति, गृहस्थमुक्ति, शुभाशुभ क्रियाओं में प्रवृत्त लोगों की मुक्ति, सम्यग्दृष्टि की स्त्रीपर्याय में उत्पत्ति तथा स्त्री को तीर्थकरपद की प्राप्ति।

३. षट्खण्डागम में तीर्थकरप्रकृति-बन्धक सोलहकारणों की स्वीकृति यापनीय-मान्यता के विरुद्ध है, क्योंकि यापनीय श्वेताम्बर-आगमों को प्रमाण मानते थे, इसलिए उनके मत में बीस कारणों की मान्यता थी।

४. षट्खण्डागम में सवस्त्र स्थविरकल्प की अस्वीकृति यापनीयमत की अस्वीकृति है।

५. षट्खण्डागम में सोलह कल्पों ('कल्प' नामक स्वर्गों) की मान्यता यापनीय-मान्यता के विपरीत है। यापनीयमत में बारह कल्प माने गये हैं।

६. षट्खण्डागम में नौ 'अनुदिश' नामक स्वर्गों का उल्लेख यापनीयमत के विरुद्ध है। यापनीयमत में इनका अस्तित्व स्वीकार नहीं किया गया है।

७. षट्खण्डागम में भाववेदत्रय और वेदवैषम्य स्वीकार किये गये हैं, यापनीयमत में इनका निषेध है।

८. षट्खण्डागम में मणुसिणी शब्द का प्रयोग द्रव्यस्त्री और भावस्त्री, दोनों अर्थों में किया गया है। तदनुसार आदि के पाँच गुणस्थानों के प्रसंग में वह द्रव्यस्त्री और भावस्त्री दोनों का वाचक है, किन्तु शेष गुणस्थानों के प्रसंग में केवल भावस्त्री का। यापनीय-सम्प्रदाय के स्त्रीनिर्वाणप्रकरण में 'मनुष्यिनी' या 'मानुषी' शब्द का प्रयोग केवल द्रव्यस्त्री के अर्थ में किया गया है।

इस प्रकार यापनीयत्व-समर्थक हेतुओं की अनुपलब्धि एवं यापनीयत्व-विरोधी तथा दिगम्बरत्व-समर्थक हेतुओं की उपलब्धि से सिद्ध है कि षट्खण्डागम, न तो यापनीय सम्प्रदाय का ग्रन्थ है, न श्वेताम्बरसम्प्रदाय का और न दोनों की तथाकथित मातृपरम्परा का, अपितु एकान्त-अचेलमुक्तिवादी दिगम्बरजैन-परम्परा का ग्रन्थ है।

अध्याय १२—कसायपाहुड

श्वेताम्बर विद्वान् डॉ० सागरमल जी ने कसायपाहुड को पहले यापनीयपरम्परा का ग्रन्थ माना था, पश्चात् स्वकल्पित उत्तरभारतीय-सचेलाचेल-निर्ग्रन्थपरम्परा का ग्रन्थ मान लिया। उनके अनुसार यह परम्परा ईसा की पाँचवीं शताब्दी के प्रथम चरण तक विद्यमान थी। इसी समय इसके विभाजन से श्वेताम्बर और यापनीय संघ उत्पन्न हुए और यह परम्परा समाप्त हो गई। श्वेताम्बर और यापनीय संघों की जननी होने से इसे उन्होंने श्वेताम्बर-यापनीय-मातृपरम्परा नाम दिया है। किन्तु आगे चलकर जब उन्होंने यह उद्घावना की, कि गुणस्थान-सिद्धान्त तत्त्वार्थसूत्र की रचना के बाद (उनके अनुसार ईसा की तीसरी-चौथी शताब्दी के बाद) विकसित हुआ है, तब उन्होंने उपर्युक्त मत बदल दिया, क्योंकि कसायपाहुड में गुणस्थानों के अनुसार जीव का रूपाण किया गया है। इस आधार पर उन्होंने यह मान लिया कि कसायपाहुड की रचना ईसा की पाँचवीं-छठी शताब्दी में हुई थी। और चूँकि उस समय आचार्य गुणधर, आर्यमंक्षु और नागहस्ती का अस्तित्व नहीं था, इसलिए डॉक्टर सा० ने यह घोषित कर दिया कि इनमें से कोई भी कसायपाहुड का कर्ता नहीं हैं। फिर कर्ता कौन है, इसका निर्णय वे अन्त तक नहीं कर सके। तथापि इस पर उन्होंने यापनीयसम्प्रदाय की छाप लगा दी और इसके यापनीयग्रन्थ होने का मुख्य हेतु यह बतलाया कि इसमें स्त्री, पुरुष और नपुंसकों के अपगतवेदी होकर चतुर्दशगुणस्थान तक पहुँचने की बात कही गयी है, जो उसके स्त्रीमुक्तिसमर्थक होने का प्रमाण है। इस आधार पर वे इस ग्रन्थ को श्वेताम्बरपरम्परा का नहीं मान सकते थे, क्योंकि उनकी मान्यता है कि 'सभी श्वेताम्बरग्रन्थ अर्धमागधी प्राकृत में लिखे गये हैं।' किन्तु कसायपाहुड यापनीयपरम्परा का नहीं, अपितु दिगम्बरपरम्परा का ग्रन्थ है, यह निम्नलिखित तथ्यों से सिद्ध होता है—

१. यापनीयमत में स्त्रीवेद, पुरुषवेद और नपुंसकवेद ये तीन पृथक्-पृथक् भाववेद स्वीकार नहीं किये गये हैं, एक वेदसामान्य ही स्वीकार किया गया है, जो स्त्री में स्त्रीवेद के रूप में, पुरुष में पुरुषवेद के रूप में और नपुंसक में नपुंसकवेद के रूप में परिणत हो जाता है। किन्तु, कसायपाहुड में तीनों भाववेदों का पृथक्-पृथक् अस्तित्व माना गया है, अतः सिद्ध होता है कि वह यापनीयग्रन्थ नहीं, अपितु दिगम्बरग्रन्थ है।

२. श्वेताम्बर-आगमों में गुणस्थान-सिद्धान्त का अभाव है। यापनीयसम्प्रदाय श्वेताम्बर-आगमों को ही मानता था, अतः उसमें भी गुणस्थान-सिद्धान्त की मान्यता नहीं थी। इन दोनों सम्प्रदायों में वह मान्य हो भी नहीं सकता था, क्योंकि इनमें सवस्त्रमुक्ति, स्त्रीमुक्ति, गृहस्थमुक्ति, परतीर्थिकमुक्ति और केवलिभुक्ति मानी गयी है और गुणस्थानसिद्धान्त इन सबके विरुद्ध है। कसायपाहुड में गुणस्थान-सिद्धान्त का प्रतिपादन है, यह उसके यापनीयग्रन्थ न होने और दिगम्बरग्रन्थ होने का ज्वलन्त प्रमाण है।

३. अपगतवेदत्व गुणस्थानसिद्धान्त का ही अंग है और गुणस्थानसिद्धान्त दिगम्बरों का सिद्धान्त है, श्वेताम्बरों और यापनीयों का नहीं, अतः नौवें गुणस्थान के सवेदभाग से ऊपर जीव के अपगतवेद (भाववेदरहित) हो जाने का मत भी दिगम्बरमत है, श्वेताम्बरमत या यापनीयमत नहीं। अतः कसायपाहुड में अपगतवेदत्व की स्वीकृति से भी सिद्ध है कि वह दिगम्बरपरम्परा का ग्रन्थ है, अन्य किसी परम्परा का नहीं।

नौवें गुणस्थान के सवेदभाग से ऊपर जीव के पुरुषवेद (पुरुषवेदनोकषाय), स्त्रीवेद (स्त्रीवेदनोकषाय) एवं नपुंसकवेद (नपुंसकवेदनोकषाय) के अपगत (उपशम या क्षय) हो जाने का मत एक विशिष्ट दिगम्बर-सिद्धान्त पर आधारित है। आगम का कथन है कि कर्मभूमि के गर्भज, संज्ञी-असंज्ञी, तिर्यचों और मनुष्यों में कोई-कोई तिर्यच और मनुष्य द्रव्य (शरीर) से पुरुष, स्त्री या नपुंसक होते हुए भी भाव से इसके विपरीत हो सकता है। अर्थात् जो शरीर से पुरुष है, उसमें पुरुषवेदनोकषाय का उदय न होकर स्त्रीवेदनोकषाय या नपुंसक-वेदनोकषाय का भी उदय हो सकता है, जिससे उसका भाव से स्त्री या नपुंसक होना भी संभव है। तथा जो शरीर से स्त्री या नपुंसक है, उसमें इससे विपरीत भाववेद का उदय होना संभव है। इसे वेदवैषम्य कहते हैं। अतः जो द्रव्य (शरीर) से पुरुष, किन्तु भाव से स्त्री या नपुंसक है, वह जीव भी मोक्ष प्राप्त कर सकता है, इसलिए नौवें गुणस्थान के सवेदभाग से ऊपर उसका भावस्त्रीवेद (स्त्रीवेदनोकषाय) या भावनपुंसकवेद (नपुंसकवेद नोकषाय) अपगत (उपशान्त या क्षीण) हो जाता है। इस प्रकार दिगम्बरजैनमत के अनुसार द्रव्यपुरुष ही अपगतवेद होता है, द्रव्यस्त्री और द्रव्यनपुंसक नहीं, क्योंकि वे पाँचवें गुणस्थान से ही ऊपर नहीं उठते, तब उनके नौवें गुणस्थान तक पहुँचने का प्रश्न ही नहीं उठता। जो कर्मभूमिज मनुष्य द्रव्य से पुरुष, किन्तु भाव से स्त्री है, उसे भी आगम में मनुष्यिनी या मानुषी अथवा

भावस्त्री या भावमानुषी शब्द से अभिहित किया गया है। इस प्रकार 'कसायपाहुड' में द्रव्यपुरुष की ही मुक्ति का कथन है, द्रव्यस्त्री या द्रव्यनपुंसक की मुक्ति का नहीं। अतः वह दिगम्बरपरम्परा का ही ग्रन्थ है, यापनीयपरम्परा का नहीं। (अध्याय १२/ प्र. ३/ शी. १२ तथा अध्याय ११/ प्र. ४/ शी. १०)।

४. श्वेताम्बर और यापनीय परम्पराओं में कोई भी ग्रन्थ शौरसेनी प्राकृत में नहीं रचा गया। श्वेताम्बरग्रन्थों की भाषा अर्धमागधी और महाराष्ट्री प्राकृत हैं तथा यापनीयपरम्परा का प्राकृतभाषा में निबद्ध कोई ग्रन्थ उपलब्ध नहीं है। उसके जो 'स्त्रीनिर्वाणप्रकरण' आदि तीन-चार ग्रन्थ उपलब्ध हैं, वे सभी संस्कृत में हैं। कुछ विद्वानों ने शौरसेनी में रचित 'भगवती-आराधना', 'मूलाचार' आदि ग्रन्थों को यापनीयपरम्परा का ग्रन्थ बतलाया है, किन्तु वे सब दिगम्बरग्रन्थ हैं। 'कसायपाहुड' शौरसेनी में है, यह भी उसके दिगम्बरग्रन्थ होने का एक प्रमाण है।

५. कसायपाहुड की रचना ईसापूर्व द्वितीय शती के उत्तरार्ध में हुई थी, जब कि यापनीयसम्प्रदाय का उद्भव ईसोत्तर पंचम शती के प्रारम्भ में हुआ था। इस कारण भी कसायपाहुड यापनीयग्रन्थ नहीं हो सकता। डॉ० सागरमल जी ने जिस गुणस्थान-विकासवाद के आधार पर कसायपाहुड को छठी शती ई० की कृति माना है, वह सर्वथा कपोलकल्पित है, प्रमाणसिद्ध तथ्य नहीं। गुणस्थानसिद्धान्त जिनोपदिष्ट है, विकसित नहीं।

६. कसायपाहुड के कर्ता गुणधर और चूर्णिसूत्रकार यतिवृषभ के नाम श्वेताम्बर-यापनीय-स्थविरावलियों में नहीं मिलते।

७. श्वेताम्बर-यापनीय-साहित्य में गुणधर तथा उनके द्वारा कसायपाहुड की रचना, आर्यमंशु और नागहस्ती द्वारा आचार्यपरम्परा से उसके ज्ञान की प्राप्ति, तथा इन दोनों के चरणकमलों में बैठकर यतिवृषभ द्वारा कसायपाहुड के अर्थश्रवण एवं चूर्णिसूत्र लिखे जाने का कोई विवरण नहीं है, जब कि दिगम्बरसाहित्य में है।

८. दिगम्बरसाहित्य में अर्हद्वलि द्वारा गुणधर के नाम से एक गुणधरसंघ बनाये जाने का भी उल्लेख है।

९. जिन आर्यमंशु और नागहस्ती को आचार्यपरम्परा से कसायपाहुड की गाथाएँ प्राप्त होने का कथन जयधवलाकार ने किया है, वे श्वेताम्बर-स्थविरावलियों में निर्दिष्ट आर्यमंगु और नागहस्ती से भिन्न थे।

१०. यह ग्रन्थ, परम्परा से दिगम्बरजैन आम्नाय में ही प्राचीन दिगम्बर-आगम के रूप में मान्य और प्रचलित है, श्वेताम्बर और यापनीय सम्प्रदायों में नहीं।

११. दिगम्बर-शास्त्रभण्डारों में ही यह आज तक सुरक्षित चला आ रहा है, श्वेताम्बर और यापनीय भण्डारों में इसका कभी अस्तित्व नहीं रहा।

१२. दिगम्बराचार्यों ने ही इस पर चूर्णिसूत्र और टीकाएँ लिखी हैं, श्वेताम्बर और यापनीय आचार्यों ने नहीं।

ये वे अन्तरंग और बहिरंग प्रमाण हैं, जो कसायपाहुड को दिगम्बरपरम्परा के अतिरिक्त और किसी भी परम्परा का ग्रन्थ सिद्ध नहीं करते।

श्वेताम्बर मुनि श्री हेमचन्द्रविजय जी ने कसायपाहुड और उसके चूर्णिसूत्रों को श्वेताम्बरीय ग्रन्थ सिद्ध करने का प्रयत्न किया था। उसका सप्रमाण खण्डन सिद्धान्ताचार्य पं० फूलचन्द्र जी शास्त्री ने एक लेख में किया था। उसे प्रस्तुत अध्याय में उद्धृत किया गया है। (अध्याय १२/प्र.४)।

तृतीय खण्ड

भगवती-आराधना आदि सोलह ग्रन्थों की कर्तृपरम्परा

अध्याय १३—भगवती-आराधना

भगवती-आराधना दिगम्बरपरम्परा का ग्रन्थ है। उसमें प्रतिपादित सिद्धान्तों से यापनीयों की आपवादिक सवस्त्रमुक्ति, स्त्रीमुक्ति, गृहस्थमुक्ति, परतीर्थिकमुक्ति, केवलिभुक्ति आदि मान्यताओं का निषेध होता है। तथापि दिगम्बर विद्वान् पं० नाथूराम जी प्रेमी ने उसे यापनीयपरम्परा का ग्रन्थ बतलाया है। उनसे प्रभावित होकर और उनकी प्रेरणा पाकर श्वेताम्बर मुनि श्री कल्याणविजय जी, दिगम्बर विद्वान् प्रो० हीरालाल जी जैन, श्रीमती डॉ० कुसुम पटोरिया एवं श्वेताम्बर विद्वान् डॉ० सागरमल जी जैन ने भी आँख मींचकर उसे यापनीय ग्रन्थ मान लिया है। यापनीयग्रन्थ होने के पक्ष में जो हेतु पं० नाथूराम जी प्रेमी ने उपस्थित किये हैं, उन्हीं की इन सब विद्वानों ने पुनरावृत्ति की है। किन्तु, वे हेतु नहीं, हेत्वाभास हैं। उनका निरसन करनेवाले तथ्य नीचे प्रस्तुत हैं।

१. हेतु—भगवती-आराधना की गाथा ७९-८३ में मुनि के उत्सर्ग-अपवादमार्ग का विधान है, जिसके अनुसार मुनि वस्त्र धारण कर सकता है।

निरसन—यह प्रेमी जी की महाभ्रान्ति है। उक्त गाथाओं में मुनि के लिए अपवादमार्ग का विधान नहीं है, अपितु मुनि के अचेललिंग को उत्सर्गलिंग और श्रावक के सचेल-लिंग को अपवादलिंग संज्ञा दी गयी है। भगवती-आराधना में अपवादलिंग को १.सपरिग्रह और मुनिनिन्दा का कारणभूत, २.गृहस्थभाव का सूचक एवं ३.मुक्ति के लिए त्याज्य

बतलाया गया है तथा श्राविका के लिंग को भी अपवादलिंग कहा गया है। इससे स्पष्ट है कि भगवती-आराधनाकार शिवार्य ने श्रावक-श्राविका के सचेललिंग को ही अपवादलिंग नाम दिया है, मुनि के लिंग को नहीं। अतः भगवती-आराधना में अपवादमार्ग के रूप में मुनि को वस्त्रधारण की अनुमति दी गयी है, यह धारणा महाभ्रान्ति है। (अध्याय १३/प्र.१/शी.१)।

भगवती-आराधना के कर्त्ता शिवार्य ने 'आचेलक्य' (नाग्न्य) को मुनि का अनिवार्य प्रथम धर्म बतलाया है और कहा है कि केवल वस्त्र त्यागने से जीव संयत (मुनि) नहीं होता, इसलिए आचेलक्य में समस्त परिग्रह का त्याग गर्भित है। इस कथन से मुनि के लिए अपवादलिंग के विधान का भ्रम पूर्णतः निरस्त हो जाता है।

२. हेतु—शिवार्य तथा उनके गुरुओं के नाम दिगम्बरपट्टावलियों या गुर्वावलियों में नहीं मिलते। अतः वे यापनीय होंगे, इसलिए उनके शिष्य शिवार्य भी यापनीय होंगे।

निरसन—वट्टकेर, यतिवृषभ, समन्तभद्र, स्वामिकुमार, जोइंदुदेव जैसे दिगम्बराचार्यों के नाम भी दिगम्बर-पट्टावलियों में नहीं मिलते, फिर भी वे यापनीय नहीं थे। इसलिए दिगम्बर-पट्टावलियों में नाम न होना यापनीय होने का हेतु नहीं है।

३. हेतु—यापनीय-आचार्य अपराजितसूरि द्वारा भगवती-आराधना की टीका की गई है, अतः वह यापनीयग्रन्थ है।

निरसन—अपराजितसूरि ने अपनी विजयोदयाटीका में सवस्त्रमुक्ति, स्त्रीमुक्ति, गृहस्थमुक्ति, परतीर्थिकमुक्ति और केवलभुक्ति का निषेध करनेवाले सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया है, जिससे सिद्ध है कि वे यापनीय-आचार्य नहीं थे, अपितु दिगम्बराचार्य थे। अतः जिस भगवती-आराधना की उन्होंने टीका की है, वह भी दिगम्बरग्रन्थ है। (अध्याय १३/प्र.२/शी.४)।

४. हेतु—भगवती-आराधना की अनेक गाथाएँ श्वेताम्बरग्रन्थों की गाथाओं से मिलती हैं। श्वेताम्बरग्रन्थों की गाथाएँ यापनीय-आचार्य ही ग्रहण कर सकता है, अतः भगवती-आराधना यापनीयग्रन्थ है।

निरसन—भगवती-आराधना की जो गाथाएँ श्वेताम्बरग्रन्थों की गाथाओं से साम्य रखती हैं, वे उसमें श्वेताम्बरग्रन्थों से नहीं आयी हैं, बल्कि दिगम्बर-श्वेताम्बर-भेद के पूर्व जो अविभक्त अचेल-निर्ग्रन्थ-परम्परा थी, उससे आयी हैं। अतः भगवती-आराधना यापनीयग्रन्थ नहीं है।

५. हेतु—यापनीय-आचार्य शाकटायन ने शिवार्य के गुरु सर्वगुप्त का उल्लेख किया है। अतः सर्वगुप्त और शिवार्य, दोनों यापनीय थे।

निरसन—शिवार्य के गुरु सर्वगुप्त और शाकटायन द्वारा उल्लिखित सर्वगुप्त में एकत्व सिद्ध करनेवाला प्रमाण उपलब्ध नहीं है। स्वयं पं० नाथूराम जी प्रेमी ने अपने एक पूर्व लेख में लिखा है कि 'आर्य शिव (शिवार्य) के सर्वगुप्त नामक गुरु का नाम श्रवणबेलगोल के १०५वें नम्बर के शिलालेख में (दिगम्बरपरम्परा के आचार्यों के साथ) मिलता है।' तथा शिवार्य ने भगवती-आराधना में यापनीयमत-विरुद्ध दिगम्बरीय सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया है। इन कारणों से उनका और उनके गुरु सर्वगुप्त का यापनीय होना संभव नहीं। (अध्याय १३/प्र.२/शी.२)।

६. हेतु—शिवार्य ने अपने लिए 'पाणितलभोजी' विशेषण का प्रयोग किया है। यह उनके यापनीय होने का सूचक है।

निरसन—दिगम्बरजैन साधु भी पाणितल में भोजन करते हैं। अतः 'पाणितल-भोजित्व' यापनीय साधुओं का असाधारणधर्म नहीं है।

७. हेतु—श्वेताम्बरसाहित्य में प्रसिद्ध मेतार्य मुनि की कथा भगवती-आराधना में मिलती है। श्वेताम्बरसाहित्य की कथा यापनीयग्रन्थ में ही आ सकती है।

निरसन—मेतार्य मुनि की कथा हरिषेणकृत बृहत्कथाकोश में भी मिलती है, जो दिगम्बरग्रन्थ है।

८. हेतु—भगवती-आराधना में क्षपक के लिए चार मुनियों द्वारा आहार लाये जाने का विधान दिगम्बरमत के विरुद्ध है।

निरसन—विरुद्ध नहीं है। प्राचीनकाल में वनों में विचरण करनेवाले दिगम्बरजैन मुनिसंघ में संस्तरारूढ़ क्षपक के लिए इसके अलावा कोई दूसरी व्यवस्था ही नहीं सकती थी। (अध्याय १३/प्र.२/शी.९)।

९. हेतु—अवमौदर्य-कष्ट को साम्यभाव से सहते हुए भद्रबाहु के समाधिमरण की कथा भगवती-आराधना को छोड़कर दिगम्बरसम्प्रदाय के अन्य ग्रन्थों में नहीं मिलती। अतः भगवती-आराधना दिगम्बरसम्प्रदाय का ग्रन्थ नहीं है, यापनीयसम्प्रदाय का है।

निरसन—उक्त कथा हरिषेणकृत बृहत्कथाकोश में मिलती है, जो दिगम्बरसम्प्रदाय का ग्रन्थ है। (अध्याय १३/प्र.२/शी.१४)।

१०. हेतु—भगवती-आराधना में 'आचार', 'जीतशास्त्र' आदि श्वेताम्बरग्रन्थों का उल्लेख है।

निरसन—ये श्वेताम्बरग्रन्थों के नाम नहीं, अपितु क्षपक के 'चरण' (आचरण) और 'करण' (आवश्यक क्रियाओं) के वाचक शब्द हैं। (अध्याय १३/प्र.२/शी.१५)।

११. हेतु—भगवती-आराधना में वर्णित मृत मुनि के शवसंस्कार की विजहना-विधि (शव को वन में छोड़ देना) दिगम्बरमत के प्रतिकूल है।

निरसन—वह दिगम्बरमत के सर्वथा अनुकूल है। प्राचीन काल में वनों में विहार करनेवाले आरम्भ-परिग्रह एवं हिंसादि पापों के त्यागी दिगम्बरजैन मुनियों के लिए इसके अलावा कोई उपाय ही नहीं था। (अध्याय १३/प्र.२/शी.१३)।

१२. हेतु—भगवती-आराधना की 'देसामासियसुत्तं' गाथा १११७ में आये तालपलंब-सुत्तम्मि पद में बृहत्कल्प (श्वेताम्बरग्रन्थ) के सूत्र का उल्लेख होना उसे यापनीयपरम्परा का ग्रन्थ सिद्ध करता है।

निरसन—तालपलंबसुत्त (तालप्रलम्बसूत्र) शब्द देशामर्शक (उपलक्षक = एकदेश के कथन द्वारा सर्व का बोध करानेवाले) शब्द का दृष्टान्त है। शिवार्य का कथन है कि जैसे 'तालप्रलम्ब' (ताड़वृक्ष की जटा) इस सूत्रात्मक (उपलक्षक) शब्द में 'ताल' शब्द केवल ताड़वृक्ष का बोधक नहीं है, अपितु सभी प्रकार की वनस्पतियों का उपलक्षक है, वैसे ही 'आचेलक्य' इस सूत्रात्मक शब्द में 'चेल' शब्द मात्र वस्त्र का वाचक नहीं है, बल्कि सभी प्रकार के परिग्रह का उपलक्षक है। इस प्रकार 'तालपलंबसुत्तम्मि' पद में 'सुत्त' शब्द से किसी अन्य सूत्र का उल्लेख नहीं किया गया है, अपितु 'तालपलंब' शब्द को ही देशामर्शक होने के कारण 'सूत्र' शब्द से अभिहित किया गया है। अतः भगवती-आराधना की उक्त गाथा में 'बृहत्कल्पसूत्र' के किसी सूत्र का उल्लेख नहीं है। दिगम्बराचार्य वीरसेन स्वामी ने भी धवलाटीका (ष.खं./पु.१/१,१,१/पृ.९) के 'ण तालपलंबसुत्तं व देसामासियसुत्तादो' इस वाक्य में तालपलंबसुत्त शब्द दृष्टान्त के रूप में प्रयुक्त किया है। अतः जैसे 'तालपलंबसुत्त' शब्द के प्रयोग से धवलाटीका यापनीयग्रन्थ सिद्ध नहीं होती, वैसे ही भगवती-आराधना भी यापनीयग्रन्थ सिद्ध नहीं होती।

१३. हेतु—भगवती-आराधना की 'आराधणापुरस्सर' गाथा (७५२) की विजयोदया-टीका में श्वेताम्बरग्रन्थ 'अनुयोगद्वारसूत्र' का उल्लेख है, अतः भगवती-आराधना यापनीयग्रन्थ है।

निरसन—वहाँ, 'अनुयोगद्वारसूत्र' शब्द नहीं है, अपितु 'अनुयोगद्वार' शब्द है, जो सत् संख्या, क्षेत्र आदि निरूपणद्वारों का वाचक है।

१४. हेतु—भगवती-आराधना की 'उत्तरगुणउज्जमणे' गाथा (११८) की विजयोदया टीका में 'पंचवदाणि जदीणं' इत्यादि आवश्यकसूत्र (श्वेताम्बरग्रन्थ) की गाथा उद्धृत की गयी है। अतः भगवती-आराधना यापनीयग्रन्थ है।

निरसन—टीका में श्वेताम्बरग्रन्थ का उल्लेख होने से मूलग्रन्थ यापनीयग्रन्थ सिद्ध नहीं होता।

१५. हेतु—भगवती-आराधना की 'अंगसुदे बहुविधे' गाथा (४९९) की टीका में श्रुत के 'आचारांगादि' भेदों का वर्णन किया गया है। ये नाम श्वेताम्बरपरम्परा के आगमों के हैं।

निरसन—श्रुतभेदों के ये नाम दिगम्बरपरम्परा में भी प्रसिद्ध हैं।

डॉ० सागरमल जी ने अपने ग्रन्थ 'जैनधर्म का यापनीय सम्प्रदाय' में उपर्युक्त हेतुओं के साथ निम्नलिखित दो हेतु और जोड़े हैं—

१६. हेतु—'शिवार्य' जैसे आर्यान्त तथा 'जिननन्दी' जैसे नन्द्यन्त नाम यापनीय-सम्प्रदाय में ही मिलते हैं।

निरसन—दिगम्बरसम्प्रदाय में भी मिलते हैं, जैसे-'सुधर्म' नाम के द्वितीय केवली का नाम 'लोहार्य' (लोहाचार्य) भी था। चार आचारांगधारियों में भी एक 'लोहार्य' नाम के आचारांगधारी थे। माघनन्दी, पद्मनन्दी (कुन्दकुन्द), देवनन्दी (पूज्यपादस्वामी) आदि नन्द्यन्त नाम भी अनेक मिलते हैं। (अध्याय १३/प्र.२/शी.३)।

१७. हेतु—भगवती-आराधना में श्वेताम्बर-प्रकीर्णक ग्रन्थों की अनेक गाथाएँ हैं, जो उसके यापनीयग्रन्थ होने का प्रमाण हैं।

निरसन—भगवती-आराधना का रचनाकाल ईसवी प्रथम शताब्दी का उत्तरार्ध है और श्वेताम्बर-प्रकीर्णक ग्रन्थों की रचना ११वीं शताब्दी ई० में हुई थी। अतः श्वेताम्बर-प्रकीर्णक ग्रन्थों में ही भगवती-आराधना की गाथाओं का पहुँचना सिद्ध होता है। इसलिए वह यापनीयग्रन्थ नहीं है। (अध्याय १३ / प्र.२/शी.७.२)।

इस प्रकार भगवती-आराधना के यापनीयग्रन्थ होने के पक्ष में प्रस्तुत किये गये सभी हेतु मिथ्या सिद्ध होते हैं। दूसरी ओर उसमें उसे दिगम्बरजैन-परम्परा का ग्रन्थ सिद्ध करनेवाले अनेक प्रमाण उपलब्ध हैं। यथा—

१. उसमें आपवादिक सवस्त्रमुक्ति, स्त्रीमुक्ति, गृहस्थमुक्ति, परतीर्थिकमुक्ति एवं केवलभुक्ति का निषेध किया गया है।

क—आचेलक्य को मुनि का प्रथम अनिवार्य धर्म बतलाया गया है और वस्त्रपात्रादि समस्त परिग्रह के त्याग को 'आचेलक्य' कहा गया है।

ख—वस्त्रपात्रादि समस्त परिग्रह के त्याग से ही संयत-गुणस्थान की प्राप्ति बतलायी गयी है, जिससे सवस्त्रमुक्ति का निषेध होता है।

ग—श्रावक के लिंग को अपवादलिंग नाम देते हुए कहा गया है कि वस्त्रादिपरिग्रह का त्याग करने पर ही वह मुक्ति का पात्र होता है। इस तरह सवस्त्रमुक्ति, गृहस्थमुक्ति एवं परतीर्थिकमुक्ति का निषेध किया गया है।

घ—वस्त्रादि समस्त परिग्रह के त्याग को संयत-गुणस्थान की प्राप्ति का उपाय तथा पुरुषशरीर को ही संयम का साधन प्ररूपित कर स्त्रीमुक्ति का निषेध किया गया है।

ङ—केवली भगवान् के वर्णन प्रसंग में केवल उनके विहार का वर्णन है, आहार-नीहार का नहीं। (भ.आ./गा.२०९४-२११६)।

२. वस्त्रपात्रादि को भी परिग्रह कहा गया है, जो यापनीयमत के विरुद्ध है, क्योंकि यापनीयमत में सवस्त्र-अपवादलिंगधारी स्थविरकल्पी साधुओं, गृहस्थों, परतीर्थिकों और स्त्रियों को भी मुक्ति का पात्र माना गया है।

३. वेदत्रय और वेदवैषम्य स्वीकार किये गये हैं, जो यापनीयों को अमान्य हैं।

४. बन्ध और मोक्ष की सम्पूर्ण व्यवस्था गुणस्थानाश्रित बतलायी गयी है। यह यापनीयमत में स्वीकृत गृहस्थमुक्ति, परतीर्थिकमुक्ति एवं द्रव्य-स्त्रीमुक्ति के विरुद्ध है।

५. मुनि के लिए दिगम्बरमत में मान्य मूलगुणों और उत्तरगुणों का विधान किया गया है।

६. लुञ्चन के द्वारा ही केशत्याग का नियम निर्धारित किया गया है। यापनीयमान्य श्वेताम्बर-आगमों में छूरे या कैंची से भी मुण्डन की अनुमति दी गयी है।

७. आहार में मद्य, मांस और मधु के ग्रहण का सर्वथा निषेध किया गया है, जब कि यापनीयमान्य श्वेताम्बर-आगमों में वे अपवादरूप से ग्राह्य माने गये हैं।

८. भगवती-आराधना में मुनियों के लिए अभिग्रह का विधान किया गया है। यापनीयमान्य श्वेताम्बर-आगमों में इसका अभाव है।

९. भगवती-आराधना में कुन्दकुन्द का अनुसरण किया गया है।

१०. इसकी सभी टीकाएँ दिगम्बरों द्वारा ही लिखी गयी हैं।

११. भगवती-आराधना को दिगम्बराचार्यों ने प्रमाणरूप में स्वीकार किया है और उसके कर्ता शिवार्य के प्रति आदरभाव व्यक्त किया है।

१२. भगवती-आराधना की रचना यापनीयसंघ की उत्पत्ति से चार सौ वर्ष पहले हो चुकी थी।

□ एक दीर्घकालीन मिथ्या धारणा का निराकरण— भगवती-आराधना के अध्याय में प्रसंगवश एक दीर्घकालीन मिथ्या धारणा का निराकरण किया गया है। प्रायः सभी विद्वानों, मुनियों एवं आर्यिकाओं की धारणा है कि भगवती-आराधना में भक्तप्रत्याख्यान (सल्लेखना में संस्तरारूढ़ होने) के समय आर्यिकाओं और श्राविकाओं के लिए भी मुनि के समान नाग्न्यलिंग ग्रहण करने का विधान किया गया है। किन्तु यह धारणा भ्रान्तिपूर्ण है। उक्त अवसर पर उनके लिए स्त्रियों का उत्सर्गलिंग ग्राह्य बतलाया गया है, जो कि एक साड़ीरूप अल्पपरिग्रहात्मक प्ररूपित किया गया है। आर्यिकाओं का नित्यलिंग भी यही एकसाड़ीरूप उत्सर्गलिंग होता है और भक्तप्रत्याख्यानकाल में भी यही निर्धारित किया गया है। किन्तु श्राविकाओं के लिए योग्यता और परिस्थिति के अनुसार बहुवस्त्रात्मक अपवादलिंग का भी विधान है और आर्यिकावत् एकवस्त्रात्मक उत्सर्गलिंग का भी। इस प्रकार भक्तप्रत्याख्यानकाल में उनके लिए नाग्न्यलिंग का विधान कदापि नहीं है। (अध्याय १३ / प्र.३)।

अध्याय १४—अपराजितसूरि दिगम्बराचार्य

पं० नाथूराम जी प्रेमी ने भगवती-आराधना की विजयोदयाटीका के कर्त्ता अपराजित सूरि को भी यापनीयसंघी माना है। श्रीमती डॉ० कुसुम पटोरिया ने उनका अनुसरण किया है, साथ ही अपराजितसूरि को यापनीय-आचार्य सिद्ध करने के लिये कुछ नये हेतु भी जोड़े हैं। डॉ० सागरमल जी ने इन दोनों के पदचिह्नों पर चलते हुए हेतुओं में कुछ और वृद्धि की है। किन्तु ये सभी हेतु असत्य हैं। उनका निरसन करनेवाले प्रमाण इस प्रकार हैं—

१. हेतु—(प्रेमी जी)—अपराजितसूरि ने श्वेताम्बर-आगमों से उद्धरण देकर स्पष्ट किया है कि उनमें भी अचेलता को ही मुनि का लिंग बतलाया गया है, मात्र विशेष परिस्थितियों में वस्त्रग्रहण की अनुमति दी गयी है। इससे पं० नाथूराम जी प्रेमी ने यह निष्कर्ष निकाला है कि अपराजितसूरि श्वेताम्बर-आगमों को प्रमाण मानते हैं, इसलिए यापनीय-सम्प्रदाय के हैं।

निरसन—यदि अपराजितसूरि श्वेताम्बर-आगमों को प्रमाण मानते, तो उनमें जो सचेललिंग से मुक्ति का विधान किया गया है, उसका निषेध न करते। किन्तु उन्होंने स्पष्ट शब्दों में कहा है—

क—“मुक्त्यर्थी च यतिर्न चेलं गृह्णाति मुक्तेरनुपायत्वात्”= मुक्ति का इच्छुक मुनि वस्त्रग्रहण नहीं करता, क्योंकि वह मुक्ति का उपाय नहीं है। (वि.टी./भ.आ./गा. 'जिणपडिरूवं' ८४)।

ख—“सकलपरिग्रहत्यागो मुक्तेर्मार्गो मया तु पातकेन वस्त्र-पात्रादिकः परिग्रहः परीषहभीरुणा गृहीत इत्यन्तःसन्तापो निन्दा” = सकल परिग्रह का त्याग मुक्ति का मार्ग है, किन्तु मुझ पापी ने परीषहों के डर से वस्त्रपात्रादि परिग्रह ग्रहण किया है, इस प्रकार मन में पश्चात्ताप करने को निन्दा कहते हैं। (वि.टी./ भ.आ./ गा. 'अववादियलिंग' ८६)।

ग—“नैव संयतो भवतीति वस्त्रमात्रत्यागेन शेषपरिग्रहसमन्वितः” = मात्र वस्त्रत्याग करने से मनुष्य संयत (मुनि) नहीं होता, शेष परिग्रह का भी त्याग आवश्यक है। (वि.टी./ भ.आ./ गा. 'ण य होदि संजदो' १११८)।

इन वचनों के द्वारा अपराजितसूरि ने श्वेताम्बर-आगमों में अनुमत वस्त्रमुक्ति को उच्च स्वर में अमान्य किया है। इतना ही नहीं, उन्होंने भगवती-आराधना की 'आचेलक्कुद्देसिय' गाथा (४२३) की टीका में अचेलत्व को ही एकमात्र जिनोपदिष्ट मोक्षमार्ग सिद्ध करने के लिए श्वेताम्बरमान्य सचेलत्व पर जबरदस्त प्रहार किया है। उसमें ऐसे अठारह दोष बतलाये हैं, जो मोक्षविरोधी हैं। श्वेताम्बरग्रन्थों में सचेलत्व को मोक्षमार्ग सिद्ध करने के लिए जो-जो तर्क दिये गये हैं, उनमें से एक-एक को लेकर अपराजितसूरि ने उन्हें मोक्ष-विरोधी सिद्ध किया है। विशेषावश्यकभाष्य में सचेल-लिंग को मोक्ष का मार्ग कहा गया है, अपराजितसूरि ने उसे मोक्ष का अनुपाय सिद्ध किया है। विशेषावश्यकभाष्य में वस्त्रपात्रादि-परिग्रह को संयमोपकारी बतलाया गया है, अपराजितसूरि ने उसे संयम की शुद्धि में बाधक सिद्ध किया है। विशेषावश्यकभाष्य में वस्त्रपात्रादि परिग्रह के मूर्च्छाहेतुत्व का निषेध किया गया है, अपराजितसूरि ने उसे मूर्च्छा का हेतु प्रतिपादित किया है। विशेषावश्यकभाष्य में वस्त्रपात्रादि के कषायहेतुत्व को स्वीकार करते हुए भी उन्हें अग्रन्थ कहा गया है, अपराजितसूरि कहते हैं कि शरीर को वस्त्र से परिवेष्टित रखनेवाला यदि अपने को निर्ग्रन्थ कहे, तो अन्यमतावलम्बी भी निर्ग्रन्थ सिद्ध होंगे। विशेषावश्यकभाष्यकार कहते हैं कि नग्न रहने पर स्त्रियों के दर्शन से यदि लिंगोत्थान हो जाता है, तो वह लोगों की दृष्टि में आ जाने से लज्जा का कारण बन जाता है, अपराजितसूरि का कथन है कि वस्त्रधारण करने से मुनि को अपने कामविकार को छिपाने का अवसर मिल जाता है, जिससे वह निर्भय होकर मानसिक कामसेवन करता है। इसके विपरीत नग्न मुनि को इन्द्रियनिग्रह में उसी प्रकार अत्यन्त सावधान रहता पड़ता है, जैसे सर्पों से भरे वन में यात्रा करते हुए विद्यामन्त्रादि से रहित मनुष्य को। विशेषावश्यकभाष्य में कहा गया है कि तीर्थकरों का अचेललिंग शिष्यों के लिए अनुकरणीय नहीं है, क्योंकि वे उसके योग्य नहीं होते। अपराजितसूरि कहते हैं कि तीर्थकर मोक्ष के अभिलाषी थे और मोक्ष के उपाय को जानते थे, इसलिए उन्होंने जिस लिंग को धारण किया था, वही समस्त मोक्षार्थियों के लिए धारण करने

योग्य है। जैसे मेरु आदि पर्वतों पर विराजमान जिनप्रतिमाएँ अचेल होती हैं और तीर्थंकरों के मार्ग के अनुयायी गणधर अचेल होते हैं, वैसे ही उनके शिष्य भी उन्हीं की तरह अचेल होते हैं। (अध्याय १४/प्र.२/शी.२.५)।

अपराजितसूरि ने आचारांग के वचनों को भी सदोष और अयुक्तिमत् बतलाया है। 'आचेलक्कुद्देसिय' गाथा (४२३) की टीका में आचारांग का एक उद्धरण देकर शंका उठायी है कि सूत्र (आगम) में पात्र की प्रतिष्ठापना बतलायी गयी है, अतः संयम के लिए पात्र का ग्रहण किया जाना सिद्ध होता है। अपराजितसूरि ने इसका निरसन किया है। वे कहते हैं—“नहीं, अचेलता का अर्थ है परिग्रह का त्याग और पात्र परिग्रह है, अतः उसका भी त्याग सिद्ध ही है।” (वि.टी./भ.आ./गा.४२३/पृ. ३२५)।

इसी प्रकार सूरि जी ने भावना (आचारांगसूत्र के २४वें अध्ययन) का एक उद्धरण दिया है, जिसमें कहा गया है कि भगवान् महावीर ने एक वर्ष तक देवदूष्य वस्त्र धारण किया, उसके बाद अचेलक हो गये। उद्धरण देकर इस मत का भी निरसन किया है। वे कहते हैं—“भावना में जो यह कहा गया है कि भगवान् महावीर एक वर्ष तक वस्त्रधारी रहे, उसके बाद अचेलक हो गये, वह युक्तिसंगत नहीं है, क्योंकि इस विषय में अनेक मतभेद हैं।” (वि.टी./भ.आ./गा. ४२३/पृ. ३२५)।

अपराजितसूरि के इन वचनों से सिद्ध है कि उन्हें श्वेताम्बर-आगमों का प्रामाण्य स्वीकार्य नहीं है। अतः 'वे श्वेताम्बर-आगमों को प्रमाण मानते थे,' इससे बड़ा मिथ्या कथन और कोई हो ही नहीं सकता।

अपराजितसूरि ने यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि श्वेताम्बर-आगमों में भी मुनि के लिए अचेलता का ही विधान है। अतः उनमें भिक्षु के लिए जो चेलधारण करने की अनुमति दी गयी है, उसके बारे में उनका कथन है कि वह कारणविशेष के होने पर ही दी गयी है, अर्थात् यदि नग्न रहने में लज्जा का अनुभव होता हो या पुरुषचिह्न विकृत हो अथवा शीतादिपरीषह असह्य हों, तो भिक्षु वस्त्र धारण कर सकता है। किन्तु, इन कारणों से धारण किये गये वस्त्रपात्रादि को उन्होंने परिग्रह ही माना है और उसे अन्ततः परित्याज्य बतलाया है। इसलिए श्वेताम्बरों ने जो यह मान लिया है कि आचारांगादि में कारणविशेष से वस्त्रपात्रादि-ग्रहण की अनुमति होने से वे त्याज्य नहीं हैं, उसका अपराजितसूरि ने निषेध किया है और उन्हें त्याज्य प्ररूपित किया है तथा इसी को (कारणविशेष से ग्रहण किये जानेवाले और मोक्ष के लिए त्याज्य माने जानेवाले वस्त्रपात्रादि के ग्रहण को) उन्होंने कारणसापेक्ष-वस्त्रपात्रादि-ग्रहण कहा है। यथा—

“पात्रप्रतिष्ठापना सूत्रेणोक्तेति संयमार्थं पात्रग्रहणं सिध्यतीति मन्यसे, नैव। अचेलता नाम परिग्रहत्यागः, पात्रं च परिग्रह इति तस्यापि त्यागः सिद्ध एवेति। तस्मात्कारणसापेक्षं वस्त्रपात्रग्रहणम्। यदुपकरणं गृह्यते कारणमपेक्ष्य तस्य ग्रहण-विधिः गृहीतस्य च परिहरणमवश्यं वक्तव्यम्। तस्माद्द्वस्त्रं पात्रं चार्थाधिकारमपेक्ष्य सूत्रेषु बहुषु यदुक्तं तत्कारणमपेक्ष्य निर्दिष्टमिति ग्राह्यम्।” (वि.टी./भ.आ./गा.४२३/पृ. ३२५)।

अनुवाद—“यदि आप यह मानते हैं कि सूत्र के द्वारा पात्र की प्रतिष्ठापना कही गयी है, अतः संयम के लिए पात्रग्रहण सिद्ध होता है, तो यह अनुचित है। अचेलता का अर्थ है परिग्रह का त्याग और पात्र परिग्रह है, इसलिए उसका भी त्याग सिद्ध ही है। इसलिए वस्त्रपात्र का ग्रहण कारणसापेक्ष है। कारण-विशेष से जो उपकरण ग्रहण किया जाता है, उसके ग्रहण की विधि और ग्रहण किये गये उपकरण का त्याग अवश्य बतलाना चाहिए। इस तरह बहुत से सूत्रों (श्वेताम्बर-आगमों) में जो वस्त्र-पात्र का कथन किया गया है, वह कारणविशेष की अपेक्षा किया गया है।”

श्वेताम्बर-आगमों में मुनि के लिए अचेलता का ही उपदेश है, इसकी पुष्टि के लिए अपराजितसूरि ने श्वेताम्बरीय उत्तराध्ययन के परीषहसूत्रों को उद्धृत करते हुए कहा है—

“इह चाचेलताप्रसाधनपरं शीतदंशमशकतृणस्पर्शपरीषहसहनवचनं परीषहसूत्रेषु। न हि सचेलं शीतादयो बाधन्ते। इमानि च सूत्राणि अचेलतां दर्शयन्ति---।” (वि.टी./भ.आ./गा. ४२३/पृ. ३२६)।

अनुवाद—“परीषहसूत्रों (उत्तराध्ययन) में जो शीत, डॉस-मच्छर, तृणस्पर्श आदि परीषहों के सहने का कथन है, वह सिद्ध करता है कि मुनि को अचेल रहने का ही उपदेश दिया गया है, क्योंकि सचेल को शीतादि की बाधाएँ नहीं होतीं। ये सूत्र भी अचेलता का ही समर्थन करते हैं---।”

श्वेताम्बर-आगमों के वचन उद्धृत कर इन व्याख्याओं के द्वारा उनमें ऐकान्तिक अचेलकधर्म के उपदेश की सिद्धि कोई यापनीय-आचार्य नहीं कर सकता, एक कट्टर दिगम्बराचार्य ही कर सकता है। और जो आचार्य, सचेलसाधु को संयत न माने और ‘मुक्ति का इच्छुक यति चेल ग्रहण नहीं करता, क्योंकि वह मुक्ति का उपाय नहीं है’ ऐसी श्रद्धा रखे, क्या वह श्वेताम्बर-आगमों को प्रमाण माननेवाला कहा जा सकता है? कदापि नहीं। अतः सिद्ध है कि पं० नाथूराम जी प्रेमी ने अपराजितसूरि को जो श्वेताम्बर-आगमों को प्रमाण माननेवाला कहकर यापनीय घोषित किया है, वह बिलकुल मिथ्या है। अपराजितसूरि एक पक्के दिगम्बराचार्य थे।

२. हेतु—(प्रेमी जी)—अपराजितसूरि ने मुनि के लिए सचेल अपवादलिंग स्वीकार किया है, यह उनके यापनीय होने का लक्षण है।

निरसन—अपराजितसूरि ने श्वेताम्बर-आगमों में मुनि के लिए परिस्थितिविशेष में दी गई वस्त्रपात्रादिग्रहण की अनुमति को कारणसापेक्ष कहकर मुक्ति के लिए वस्त्र-पात्रादि को परित्याज्य बतलाया है और कहा है कि वस्त्र-पात्रधारी संयत नहीं होता, अचेल ही मुक्ति का पात्र होता है। इससे सिद्ध है कि उन्हें सचेल अपवादलिंग स्वीकार्य नहीं था।

३. हेतु—(प्रेमी जी)—अपराजितसूरि के यापनीय होने का सबसे स्पष्ट प्रमाण यह है कि उन्होंने श्वेताम्बरग्रन्थ दशवैकालिकसूत्र पर टीका लिखी थी और उसका भी नाम विजयोदया था।

निरसन—दिगम्बरपरम्परा में भी दशवैकालिकसूत्र था। भगवती-आराधना की विजयोदयाटीका में व्यक्त किये गये विचारों से सिद्ध है कि अपराजितसूरि पक्के दिगम्बर थे, अतः उन्होंने दिगम्बरीय दशवैकालिकसूत्र पर ही टीका लिखी होगी। वर्तमान में श्वेताम्बर-दिगम्बर-यापनीय किसी भी सम्प्रदाय के साहित्य में उक्त ग्रन्थ उपलब्ध नहीं है। (अध्याय १४/प्र.२/शी.५)।

४. हेतु—(प्रेमी जी)—अपराजितसूरि ने विजयोदयाटीका में अपने को चन्द्रनन्दी महाप्रकृत्याचार्य का प्रशिष्य कहा है। गङ्गवंशी पृथुवीकोङ्गणि महाराज के शक सं० ६९८ (वि० सं० ८३३) के दानपत्र में श्रीमूल-मूलगणाभिनन्दित नन्दिसंघ (यापनीय नन्दिसंघ) के चन्द्रनन्दी आचार्य का उल्लेख है। अपराजितसूरि इन्हीं के प्रशिष्य रहे होंगे। अतः वे यापनीय थे।

निरसन—अपराजितसूरि ने अपनी विजयोदयाटीका में यापनीयमत-विरोधी सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया है, इससे सिद्ध है कि वे दिगम्बराचार्य थे। अतः जिन चन्द्रनन्दी के वे प्रशिष्य थे, उन्हें यापनीयसम्प्रदाय का चन्द्रनन्दी मानना प्रमाणबाधित है।

५. हेतु—(श्रीमती पटोरिया)—अरहन्त-अवर्णवाद के अवसर पर दिगम्बरग्रन्थों में केवलि-कवलाहार का उदाहरण दिया जाता है, वह विजयोदयाटीका में नहीं है। इस अनुल्लेख से वे यापनीय प्रतीत होते हैं।

निरसन—“प्रमत्तसंयतस्य परीषहाकुलस्य भक्ष्यपानादिषु कांक्षा सम्भवति” अर्थात् प्रमत्तसंयत-गुणस्थान में ही मुनि को क्षुधापरीषह और भक्तपान की आकांक्षा होती है। (वि. टी./ भा. आ./ गा. ‘सम्पत्तादीचारा’ ४३)। इस कथन से अपराजितसूरि ने केवलि-कवलाहार का निषेध किया है, इससे सिद्ध है कि वे दिगम्बराचार्य थे।

६. हेतु—(डॉ० सागरमल जी)—यापनीय-क्राणूरुगण के जटासिंहनन्दी द्वारा रचित वरांगचरित से विजयोदयाटीका में कुछ श्लोक उद्धृत किये गये हैं, इससे सिद्ध होता है कि अपराजितसूरि भी यापनीय थे।

निरसन—क्राणूरुगण दिगम्बरसंघ का गण था, यापनीयसंघ में कण्डूरुगण था। अतः जटासिंहनन्दी दिगम्बर ही थे, इसलिए अपराजितसूरि भी दिगम्बर ही थे।

७. हेतु—(डॉ० सागरमल जी)—विजयोदयाटीका में रात्रिभोजन-त्याग को छठा व्रत कहा जाना यही प्रमाणित करता है कि वह यापनीय-कृति है।

निरसन—विजयोदयाटीका दिगम्बराचार्यकृत है तथा सर्वार्थसिद्धि, तत्त्वार्थराज-वार्तिक आदि दिगम्बर-परम्परा के अन्य ग्रन्थों में भी रात्रिभोजनत्याग को छठे व्रत के रूप में वर्णित किया गया है। अतः विजयोदयाटीका यापनीयकृति नहीं है।

८. हेतु—(डॉ० सागरमल जी)—विजयोदयाटीका में श्वेताम्बरसाहित्य में वर्णित अथालन्दसंयम, जिनकल्प, परिहारसंयम, विजहना आदि का उल्लेख है, जिससे अपराजितसूरि के यापनीय होने की पुष्टि होती है।

निरसन—विजयोदयाटीका में दिगम्बरमान्य अथालन्दसंयमादि का वर्णन है, श्वेताम्बर-मान्य का नहीं, अतः अपराजितसूरि दिगम्बर ही हैं। (अध्याय १४/प्र.२/शी.८)।

९. हेतु—(डॉ० सागरमल जी)—विजयोदया में वर्णित भिक्षुप्रतिमाओं का उल्लेख किसी दिगम्बरग्रन्थ में नहीं है।

निरसन—अपराजितसूरि ने भगवती-आराधना (गा. 'सदि आउगे सदि' २५१) में वर्णित भिक्षुप्रतिमाओं की टीका मात्र की है, उनका अपनी तरफ से उल्लेख नहीं किया। तथा भगवती-आराधना दिगम्बरग्रन्थ ही है। अतः अपराजितसूरि यापनीय सिद्ध नहीं होते।

१०. हेतु—(डॉ० सागरमल जी)—विजयोदयाटीका में मुनि का सात घरों से भिक्षा लाने का वर्णन दिगम्बरमतानुकूल नहीं है।

निरसन—यदि एक घर में जाने पर भिक्षा प्राप्त न हो, तो दूसरे घर में जाना और दूसरे में प्राप्त न हो, तो तीसरे में जाना, इस प्रकार छह घरों में भिक्षा प्राप्त न होने पर सातवें घर में जाना, उससे आगे न जाना, ऐसे वृत्तिपरिसंख्यान तप का वर्णन विजयोदयाटीका में किया गया है। यह दिगम्बरमत के अनुकूल ही है।

११. हेतु—(डॉ० सागरमल जी)—विजयोदयाटीका में सद्बुद्ध, सम्यक्त्व, हास्य, पुरुषवेद, शुभनाम, शुभगोत्र एवं शुभ-आयु को पुण्यप्रकृति कहा गया है। यह कथन

दिगम्बर और श्वेताम्बर साहित्यों में उपलब्ध नहीं है, केवल तत्त्वार्थाधिगमभाष्य में है, जिसकी आलोचना सिद्धसेनगणी ने की है। इससे फलित होता है कि अपराजितसूरि यापनीय थे।

निरसन—उक्त प्रकृतियों को धवला और जयधवला टीकाओं में पुण्यप्रकृति सिद्ध किया गया है, जो दिगम्बरग्रन्थ हैं। अतः विजयोदयाटीका में उन्हें पुण्यप्रकृति कहे जाने से अपराजितसूरि यापनीय सिद्ध नहीं होते। तथा जैसे तत्त्वार्थाधिगमभाष्य-कार उमास्वाति उन्हें पुण्यप्रकृति कहने से यापनीय नहीं कहला सकते, वैसे ही अपराजितसूरि भी नहीं कहला सकते। (अध्याय १४ / प्र.२ / शी.११)।

१२. हेतु—(श्रीमती पटोरिया)—विजयोदयाटीका में शुक्लध्यान के प्रथमभेद 'पृथक्त्व-वितर्क-सवीचार' ध्यान का अधिकारी 'उपशान्तमोह' नामक ग्यारहवें गुणस्थानवर्ती को माना गया है, यह अपराजितसूरि के यापनीयमतावलम्बी होने का लक्षण है।

निरसन—प्रथम तो यापनीयमत में गुणस्थान-सिद्धान्त मान्य ही नहीं है, दूसरे दिगम्बराचार्य वीरसेनस्वामी ने भी उपशान्तमोह-गुणस्थान में ही प्रथम शुक्लध्यान होना माना है। (धवला/ष.खं./पु.१३/५,४,२६/पृ.७४,७८)। अतः इस मान्यता से यह सिद्ध नहीं होता कि अपराजितसूरि यापनीय थे।

इस प्रकार अपराजितसूरि को यापनीय-आचार्य सिद्ध करने के लिए प्रस्तुत किये गये सभी हेतु निरस्त हो जाते हैं। अब वे हेतु सामने रखे जा रहे हैं, जिनसे साबित होता है कि अपराजितसूरि पक्के दिगम्बर थे—

१. उन्होंने विजयोदयाटीका में ऐसे सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया है, जिनसे आपवादिक सवस्त्रमुक्ति, स्त्रीमुक्ति, गृहस्थमुक्ति, अन्यलिंगमुक्ति और केवलभुक्ति इन यापनीय-मान्यताओं का निषेध होता है।

२. टीका में कहा गया है कि सचेल अपवादलिंग मोक्ष का उपाय नहीं है। वह परिग्रहधारी गृहस्थों का लिंग है, अतः उसका अंगीकार मुनियों को निन्दा का पात्र बनाता है।

३. इसमें प्रतिपादित अपरिग्रहमहाव्रत का लक्षण यापनीय-मान्यताओं का विरोधी है।

४. इसमें विधान किया गया है कि अचेल को ही महाव्रत प्रदान किये जाने चाहिए।

५. इसमें अचेल को ही निर्ग्रन्थ कहा गया है।

६. तीर्थकरों का अचेललिंग ही मोक्ष का एकमात्र मार्ग तथा सभी मोक्षार्थियों के लिए नियम से ग्राह्य बतलाया गया है। यह यापनीयमत की सवस्त्रमुक्ति, स्त्रीमुक्ति, गृहस्थमुक्ति और अन्यलिंगमुक्ति की मान्यताओं के विरुद्ध है।

७. पुरुषशरीर को ही संयम का साधन कहा गया है, जो यापनीयों की स्त्रीमुक्ति की मान्यता का विरोधी है।

८. वस्त्रादिपरिग्रह से युक्त मनुष्य को संयतगुणस्थान की प्राप्ति के अयोग्य निरूपित किया गया है। यह भी सवस्त्रमुक्ति आदि यापनीय-मान्यताओं के प्रतिकूल है।

९. क्षुधापरीषह और भोजन की आर्काक्षा प्रमत्तसंयत-गुणस्थान तक ही बतलायी गयी है। इससे यापनीयों की केवलभुक्ति की मान्यता का निषेध होता है।

१०. बन्ध और मोक्ष की सम्पूर्ण व्यवस्था गुणस्थान-केन्द्रित दर्शायी गयी है, जो यापनीयों की मोक्ष-व्यवस्था के विरुद्ध है।

११. साधुओं के मूलगुणों और उत्तरगुणों का वर्णन दिगम्बर-परम्परा के अनुरूप है।

१२. वेदत्रय और वेदवैषम्य स्वीकार किये गये हैं, जो यापनीयों को अस्वीकार्य हैं।

१३. साधु के लिए केशलुञ्च अनिवार्य बतलाया गया है। यापनीयमान्य श्वेताम्बर-कल्पसूत्र में छुरे-कैंची से भी मुण्डन कराने की छूट है।

१४. साधु के लिए आहार में मांस, मधु और मद्य के ग्रहण का कठोरतापूर्वक निषेध है। यापनीयमान्य श्वेताम्बर-आगमों में उन्हें अपवादरूप से ग्रहण करने की अनुमति दी गई है।

१५. विजयोदया में कालद्रव्य का अस्तित्व माना गया है। यह मान्यता यापनीयमान्य श्वेताम्बर-आगमों के विपरीत है।

१६. विजयोदया में वर्णित चार अनुयोगों के नाम दिगम्बरपरम्परा के अनुरूप एवं श्वेताम्बरपरम्परा के विरुद्ध हैं।

अध्याय १५—मूलाचार

मूलाचार को भी यापनीयसम्प्रदाय का ग्रन्थ माननेवाले पहले विद्वान् पं० नाथूराम जी प्रेमी हैं। फिर श्रीमती डॉ० पटोरिया ने उनकी बात आँख मीचकर मान ली। इन दोनों के विचारों से तो डॉ० सागरमल जी को अच्छा मसाला मिल गया और उन्होंने प्रेमी जी के ही हेतुओं को बढ़ा-चढ़ाकर मूलाचार के यापनीयग्रन्थ होने की जोरदार

वकालत की है, एक-दो नये हेतु भी ईजाद किये हैं। यहाँ सर्वप्रथम पं० नाथूराम जी प्रेमी द्वारा प्रस्तुत हेतुओं का प्रदर्शन एवं उनका निरसन करनेवाले प्रमाण उपस्थित किये जा रहे हैं—

१. हेतु—मूलाचार में मुनियों के लिए विरत और आर्यिकाओं के लिए विरती शब्द का प्रयोग किया गया है। इसका अर्थ यह हुआ कि ग्रन्थकर्ता मुनियों और आर्यिकाओं को एक ही श्रेणी में रखते हैं। यह मूलाचार के यापनीयपरम्परा का ग्रन्थ होने का लक्षण है।

निरसन—आचार्य कुन्दकुन्द ने भी मुनियों को श्रमण और आर्यिकाओं को श्रमणी शब्द से अभिहित किया है, और मूलाचार के टीकाकार आचार्य वसुनन्दी ने भी मुनियों के लिए संयत और आर्यिका के लिए संयती विशेषणों का प्रयोग किया है। ये 'श्रमणी' और 'संयती' शब्द 'विरती' के पर्यायवाची हैं। पर इससे यह सिद्ध नहीं होता कि ये दोनों आचार्य मुनियों और आर्यिकाओं को एक ही श्रेणी में रखते हैं, क्योंकि ये दोनों दिगम्बर हैं। अतः 'विरत' और 'विरती' शब्दों से अभिहित करना मुनियों और आर्यिकाओं को एक ही श्रेणी में रखने का प्रमाण नहीं है। (अध्याय १५/प्र.२/शी.१)। इसके अतिरिक्त मूलाचार में स्पष्ट शब्दों में कहा गया है कि सोलहवें स्वर्ग से ऊपर निर्ग्रन्थलिंगधारी ही जन्म ले सकता है। यह स्त्रीमुक्तिनिषेध का दो-टूक प्रमाण है। अतः मूलाचार को यापनीयपरम्परा का ग्रन्थ मानना प्रमाणविरुद्ध है। (अध्याय १५/प्र.१/शी.३)।

२. हेतु—चौथे सामाचार अधिकार (मूलाचार/गा. १८७) में कहा गया है कि अभी तक कहा हुआ यह सामाचार आर्यिकाओं के लिए भी यथायोग्य जानना। इसका अर्थ यह हुआ कि ग्रन्थकर्ता मुनियों और आर्यिकाओं को एक ही श्रेणी में रखते हैं।

निरसन—यथायोग्य शब्द के प्रयोग से स्पष्ट है कि ग्रन्थकार सामाचार के पालन में मुनि और आर्यिका की योग्यता को समान नहीं मानते। इसलिए सामाचार भी समानरूप से नहीं, अपितु योग्यतानुसार पालनीय बतलाया है। २८ मूलगुणों के पालन में भी उन्होंने समानता की अपेक्षा नहीं की है, क्योंकि आर्यिकाओं के लिए आचेलक्यादि संभव नहीं हैं। तथा उन्होंने सोलहवें स्वर्ग से ऊपर स्त्री के उपपाद का निषेध किया है। इससे सिद्ध है कि ग्रन्थकार मुनियों और आर्यिकाओं को एक ही श्रेणी में नहीं रखते। (अध्याय १५/प्र. २/शी. २)।

३. हेतु—१९६वीं गाथा में कहा है कि इस प्रकार की चर्या जो मुनि और आर्यिकाएँ करती हैं, वे जगत्पूजा, कीर्ति और सुख प्राप्त करके सिद्ध होती हैं। यह स्त्रीशरीर से मुक्ति का प्रतिपादन है।

निरसन—उक्त गाथा में स्त्री के परम्परया मुक्त होने का अर्थात् स्त्रीशरीर से देवगति और देवगति से मनुष्यपर्याय में पुरुषशरीर पाकर मुक्त होने का कथन है, क्योंकि मूलाचार के कर्ता आचार्य वट्टकेर ने स्त्री के सोलहवें स्वर्ग से ऊपर उपपाद का निषेध किया है। (अध्याय १५/प्र.२/शी.३)।

४. हेतु—१८४ वीं गाथा में कहा गया है कि आर्यिकाओं का गणधर गम्भीर, दुर्धर्ष, अल्पकौतूहल, चिरप्रव्रजित और गृहीतार्थ होना चाहिए। इससे जान पड़ता है कि आर्यिकाएँ मुनिसंघ के ही अन्तर्गत हैं और उनका गणधर मुनि ही होता है।

निरसन—आर्यिकाओं के मुनिसंघ के अन्तर्गत होने से स्त्री का तद्भवमोक्ष सिद्ध नहीं होता।

५. हेतु—मूलाचार और भगवती-आराधना की पचासों गाथाएँ समान हैं। मूलाचार की अनेक गाथाएँ श्वेताम्बरग्रन्थों की गाथाओं से समानता रखती हैं। यह मूलाचार के यापनीयग्रन्थ होने का प्रमाण है।

निरसन—भगवती-आराधना दिगम्बरग्रन्थ है, अतः मूलाचार और भगवती-आराधना में गाथागत समानता से मूलाचार दिगम्बरग्रन्थ ही सिद्ध होता है। तथा जिन श्वेताम्बरग्रन्थों की गाथाओं का मूलाचारगत गाथाओं से साम्य है, वे मूलाचार से ही उनमें पहुँची हैं, क्योंकि मूलाचार की रचना उन श्वेताम्बरग्रन्थों से पूर्व हुई है। (अध्याय १५/प्र.२/शी.६)।

६. हेतु—मूलाचार की 'सेज्जोगासणिसेज्जा' गाथा (३९१) में कहा गया है कि वैयावृत्य करनेवाला मुनि रुग्णमुनि का आहार, औषधि आदि से उपकार करे। यह दिगम्बरपरम्परा के विरुद्ध है।

निरसन—यह दिगम्बरपरम्परा के विरुद्ध नहीं है, इसका स्पष्टीकरण भगवती-आराधना के अध्याय में किया जा चुका है। (अध्याय १५/प्र.२/शी.७)।

७. हेतु—मूलाचार की 'बावीसं तित्थयरा' (५३५) एवं 'सपडिक्कमणो धम्मो' (६२८) ये गाथाएँ भी दिगम्बरमत के विरुद्ध हैं।

निरसन—ये गाथाएँ भी दिगम्बरमत के विरुद्ध नहीं हैं। (अध्याय १५/प्र.२/शी.७)।

८. हेतु—मूलाचार की ३८७ वीं गाथा में आचार-जीत-कल्प ग्रन्थों का उल्लेख है, जो यापनीय और श्वेताम्बर परम्परा के हैं।

निरसन—मूलाचार की उक्त गाथा में ये ग्रन्थों के नाम नहीं हैं, अपितु मुनि

के आचार एवं जीत तथा कल्प नामक प्रायश्चित्तों के नाम हैं। (अध्याय १५/प्र.२/शी. ८)।

९. हेतु—मूलाचार (गा. २७७-७८-७९) में अस्वाध्यायकाल में पठनीय आराधना-निर्युक्ति, मरणविभक्ति आदि छह श्वेताम्बरग्रन्थों का उल्लेख है।

निरसन—अस्वाध्यायकाल में पठनीय ये सभी ग्रन्थ दिगम्बरग्रन्थ हैं, क्योंकि मूलाचार में सवस्त्रमुक्ति, स्त्रीमुक्ति आदि यापनीय-मान्यताओं का निषेध करनेवाले सिद्धान्तों का प्रतिपादन है, अतः उसमें अस्वाध्याय-काल में दिगम्बरग्रन्थों को ही पढ़ने का उपदेश दिया जा सकता है। (अध्याय १५/प्र.२/शी.९)।

१०. हेतु—मूलाचार में श्वेताम्बरग्रन्थ आवश्यकनिर्युक्ति की लगभग ८० गाथाएँ मिलती हैं। इससे सूचित होता है कि उसकी रचना आवश्यकनिर्युक्ति के आधार पर हुई है।

निरसन—मूलाचार का रचनाकाल ईसा की प्रथम शताब्दी का उत्तरार्ध है और आवश्यकनिर्युक्ति की रचना छठी शती ई० (वि० सं० ५६२) में हुई थी। अतः मूलाचार की रचना आवश्यकनिर्युक्ति के आधार पर नहीं हो सकती। वस्तुतः वे गाथाएँ मूलाचार से आवश्यकनिर्युक्ति में पहुँची हैं।

११. हेतु—मूलाचार कुन्दकुन्दकृत तो है ही नहीं, उनकी विचारपरम्परा का भी नहीं हैं।

निरसन—निम्नलिखित प्रमाण इसे कुन्दकुन्द की परम्परा का सिद्ध करते हैं—

क—कुन्दकुन्द ने अपने ग्रन्थों में सवस्त्रमुक्ति, स्त्रीमुक्ति, गृहस्थमुक्ति और अन्यतीर्थिक-मुक्ति का घोर विरोध किया है। इन चारों की मुक्ति का विरोध मूलाचार में भी किया गया है।

ख—कुन्दकुन्द ने मुनि के जिन २८ मूलगुणों का उल्लेख किया है, उनका मूलाचार में भी ज्यों का त्यों वर्णन मिलता है।

ग—कुन्दकुन्द के ग्रन्थों की अनेक गाथाएँ मूलाचार में मिलती हैं।

घ—कुन्दकुन्द की निरूपणशैली का प्रभाव भी मूलाचार के कर्ता पर दृष्टिगोचर होता है। (अध्याय १५/प्र. २/शी.११)।

१२. हेतु—डॉ० सागरमल जी का कथन है कि मूलाचार में स्त्रीदीक्षा का विधान है, जब कि कुन्दकुन्द ने स्त्रीप्रव्रज्या का निषेध किया है। अतः वह कुन्दकुन्द की परम्परा का ग्रन्थ न होकर यापनीयपरम्परा का ग्रन्थ है।

निरसन—मूलाचार में स्त्रियों के लिए सवस्त्र औपचारिक दीक्षा का विधान है। कुन्दकुन्द ने भी उनके लिए सवस्त्र दीक्षा देय बतलायी है। निर्वाणयोग्य पारमार्थिक नाग्यदीक्षा का निषेध कुन्दकुन्द और वट्टकेर दोनों ने किया है, क्योंकि स्त्रियों का निर्वाण संभव नहीं है। अतः मूलाचार कुन्दकुन्द की ही परम्परा का ग्रन्थ है।

इस तरह वे सभी हेतु निरस्त हो जाते हैं, जो पं० नाथूराम जी प्रेमी आदि विद्वानों ने मूलाचार को यापनीयपरम्परा का ग्रन्थ सिद्ध करने के लिए उपस्थित किये हैं। अब वे प्रमाण दर्शनीय हैं, जिनसे सिद्ध होता है कि मूलाचार दिगम्बरपरम्परा का ही ग्रन्थ है। वे इस प्रकार हैं—

१. जिस समय मूलाचार की रचना हुई थी, उस समय यापनीय-सम्प्रदाय का जन्म ही नहीं हुआ था। मूलाचार का रचनाकाल ईसा की प्रथम शती का उत्तरार्ध है, जब कि यापनीय-सम्प्रदाय का उदय पाँचवीं शती ई० के प्रारंभ में हुआ था।

२. मूलाचार में आपवादिक सवस्त्रमुक्ति, स्त्रीमुक्ति, गृहस्थमुक्ति और अन्यलिंगिमुक्ति का निषेध किया गया है, जब कि ये यापनीयपरम्परा के आधारभूत सिद्धान्त हैं।

३. मूलाचार में मुनि के २८ मूलगुणों और अनेक उत्तरगुणों का विधान है। यापनीयमत में ये दोनों प्रकार के गुण मान्य नहीं हैं।

४. मूलाचार में समस्त बाह्य और आभ्यन्तर परिग्रह को परिग्रह कहा गया है। यापनीयमत स्थविरकल्पियों (सवस्त्रमुनियों), स्त्रियों, गृहस्थों और अन्यलिंगियों की मुक्ति मानने से, न बाह्यपरिग्रह को परिग्रह मानता है, न आभ्यन्तर परिग्रह को।

५. मूलाचार में माना गया है कि मोक्षमार्गरूप रत्नत्रय का विकास गुणस्थानक्रम से होता है और पूर्णता चौदहवें गुणस्थान में होती है। यापनीयपरम्परा ऐसा नहीं मानती, क्योंकि उसमें मिथ्यादृष्टिगुणस्थान में स्थित अन्यलिंगी साधु भी मुक्ति का पात्र माना गया है।

६. मूलाचार में कल्प नामक स्वर्गों की संख्या सोलह बतलायी गयी है और नौ अनुदिश नामक स्वर्ग भी माने गये हैं, जब कि यापनीयमत के अनुसार कल्प बारह हैं और अनुदिश नामक स्वर्गों का अस्तित्व नहीं है।

७. मूलाचार में वेदत्रय स्वीकार किया गया है, जो यापनीयों को स्वीकार्य नहीं है।

८. मूलाचार में आचार्य कुन्दकुन्द के ग्रन्थों से अनेक गाथाएँ ग्रहण की गयी हैं, मुनि के २८ मूलगुणों का भी प्रवचनसार से अनुकरण किया गया है, सवस्त्रमुक्ति एवं स्त्रीमुक्ति के निषेध तथा स्त्री की औपचारिक दीक्षा के प्रतिपादन के आधार

भी कुन्दकुन्द के ही ग्रन्थ हैं। मूलाचार में कुन्दकुन्द की निरूपणशैली भी अपनायी गयी है।

९. मूलाचार को पूज्यपाद, यतिवृषभ और वीरसेन जैसे दिगम्बराचार्यों ने प्रमाण माना है, जब कि वे यापनीयों को जैनाभास और उनके द्वारा प्रतिष्ठित जिनप्रतिमाओं को भी अपूज्य मानते थे।

१०. मूलाचार पर दिगम्बर आचार्यों और पण्डितों ने ही टीकाएँ एवं भाषा-वचनिका लिखी हैं, किसी श्वेताम्बर या यापनीय आचार्य ने नहीं।

अध्याय १६—तत्त्वार्थसूत्र

दिगम्बरग्रन्थ तत्त्वार्थसूत्र को पं० सुखलाल जी संघवी आदि श्वेताम्बर विद्वानों ने श्वेताम्बरग्रन्थ सिद्ध करने का प्रयत्न किया है। किन्तु डॉ० सागरमल जी तत्त्वार्थसूत्र के कर्ता को, न तो दिगम्बर मानते हैं, न श्वेताम्बर, न यापनीय। वे उन्हें उस स्वबुद्धि-कल्पित उत्तरभारतीय-सचेलाचेल-निर्ग्रन्थ-परम्परा का मानते हैं, जिससे, उनके अनुसार, श्वेताम्बर और यापनीय सम्प्रदायों का जन्म हुआ था। दूसरी ओर पं० नाथूराम जी प्रेमी ने तत्त्वार्थसूत्र को यापनीय-परम्परा का ग्रन्थ बतलाया है।

पं० सुखलाल जी संघवी ने तत्त्वार्थसूत्र को श्वेताम्बर-ग्रन्थ सिद्ध करने के लिए जो हेतु विन्यस्त किये हैं, वे सब हेत्वाभास हैं। उनका निरसन करनेवाले प्रमाण नीचे द्रष्टव्य हैं—

क—सूत्रकार-भाष्यकार में सम्प्रदायभेद

१. हेतु—तत्त्वार्थसूत्र और उस पर लिखे गये भाष्य, दोनों के कर्ता उमास्वाति हैं। चूँकि भाष्य में मुनियों के लिए वस्त्रपात्रादि को संयम का साधन बतलाया गया है, इससे सिद्ध होता है कि सूत्रकार श्वेताम्बराचार्य थे।

निरसन—सूत्रकार और भाष्यकार भिन्न-भिन्न सम्प्रदायों के व्यक्ति थे। सूत्रकार दिगम्बर थे, भाष्यकार श्वेताम्बर। यह निम्नलिखित प्रमाणों से सिद्ध होता है—

१. सूत्रकार ने नाग्न्यलिंगरूप सुलिंगधारी (नाग्न्य-परीषहजयी) सम्यग्दृष्टि (जिनोपदेश-श्रद्धालु) को ही मुक्ति का पात्र बतलाया है (सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः—त.सू. १/१), जब कि भाष्यकार अन्यलिंगरूप कुलिंगधारी को भी मुक्ति का पात्र मानते हैं। (तत्त्वार्थाधिगमभाष्य / १०/७ / पृ.४४८)।

२. सूत्रकार ने शीतादिपरीषहजय एवं नाग्न्यपरीषहजय को संवर-निर्जरा का हेतु कह कर सवस्त्रमुक्ति एवं गृहस्थमुक्ति का निषेध किया है, किन्तु भाष्यकार ने इनका प्रतिपादन किया है।

३. सूत्रकार ने “बादरसाम्पराये सर्वे” (त.सू./९/१२) सूत्र द्वारा छठे, सातवें, आठवें और नौवें गुणस्थानों में संभाव्य परीषहों का कथन किया है, और उनमें सभी परीषह बतलाये हैं। अतः उनके अनुसार इन गुणस्थानों में नाग्न्य-परीषह भी संभव है। इससे फलित होता है कि स्त्री छठे से लेकर नौवें तक किसी भी गुणस्थान में नहीं पहुँच सकती, क्योंकि उसके लिए वस्त्रत्याग असंभव होने से नाग्न्यपरीषह नहीं हो सकता। यह इस बात का सूचक है कि तत्त्वार्थसूत्रकार को स्त्रीमुक्ति मान्य नहीं है।

सूत्रकार ने ‘शुक्ले चाद्ये पूर्वविदः’ (त.सू./९/३७) सूत्र में आदि के दो शुक्ल-ध्यानों के लिए चतुर्दश पूर्वों का ज्ञान आवश्यक बतलाया है। वह श्वेताम्बरमतानुसार भी स्त्रियों को संभव नहीं है, जिससे निर्जरा भी असंभव है। इस तरह सूत्रकार ने स्त्रीमुक्ति का निषेध किया है। (अध्याय १६/प्र.१/शी.१.४)। किन्तु, भाष्यकार का कथन है कि स्त्री मुक्त भी हो सकती है और तीर्थकरपद भी पा सकती है।

४. सूत्रकार ने मूर्च्छा को परिग्रह कहा है और मूर्च्छा का अर्थ है परद्रव्य की इच्छा और उसमें ममत्व। सूत्रकार ने संवर-निर्जरा के लिए शीत, उष्ण, दंश-मशक, नाग्न्य आदि परिषहों पर विजय आवश्यक बतलायी है, अतः परीषहों से डरकर उनसे बचने के लिए जो वस्त्रादि पदार्थों की इच्छा होती है और उन्हें ग्रहण किया जाता है वह सूत्रकार के अनुसार परिग्रह है। इसके विपरीत भाष्यकार मानते हैं कि साधु के द्वारा गृहीत वस्त्र आदि संयम के उपकरण हैं, परिग्रह नहीं। (अध्याय १६/प्र.१/शी.१.५)।

५. सूत्रकार ने दिगम्बरग्रन्थ षट्खण्डागम के अनुसार तीर्थकरप्रकृति के बन्ध-हेतुओं की संख्या सोलह बतलायी है, जबकि श्वेताम्बर-आगम ‘ज्ञाताधर्मकथांग’ में बीस हेतु बताये गये हैं। अतः सूत्रकार दिगम्बरपरम्परा के हैं। किन्तु, भाष्यकार सवस्त्र-मुक्ति आदि के समर्थक होने से श्वेताम्बर हैं।

६. तत्त्वार्थसूत्र में केवली को क्षुधादि-परीषह होने का वर्णन तो है, किन्तु वे कवलाहार ग्रहण करते हैं, यह नहीं कहा गया है, जैसे षष्ठादि गुणस्थानों में पुरुषवेद का उदय होने पर भी यह उपेदेश नहीं है कि मुनि कामसेवन करते हैं। उन्हें संयत ही कहा गया है। तथा आर्त्तध्यान की उत्पत्ति प्रमत्तसंयत गुणस्थान तक ही बतलायी गयी है, जिसका तात्पर्य यह है कि तेरहवें गुणस्थानवाले केवली को क्षुधादिजन्य वेदना

नहीं होती। इसके अतिरिक्त केवलज्ञान हो जाने पर क्षयोपशमजन्य भावेन्द्रियों का अभाव होने जाने से केवली को द्रव्येन्द्रियजन्य पीड़ा हो भी नहीं सकती है और घातिकर्म-चतुष्टय का क्षय हो जाने से केवली अनन्त आनन्द का अनुभव करते हैं, अतः उन्हें क्षुधादि की पीड़ा का अनुभव संभव ही नहीं है। फिर मोहनीयकर्म के उदय का अभाव हो जाने से असातावेदनीय का उदय असाता की अनुभूति कराने में समर्थ नहीं रहता। इसके अलावा कवलाहार ग्रहण न करने से केवली की अकालमृत्यु नहीं हो सकती, क्योंकि सूत्रकार ने चरमोत्तमदेहधारी को 'अनपवर्त्यायु' कहा है। आगम में नोकर्माहार की अपेक्षा सयोगकेवली को आहारक कहा गया है, कवलाहार की अपेक्षा नहीं। नोकर्माहार से ही उनका शरीर आयुपर्यन्त स्थित रहता है। चरमोत्तमदेहधारी का अनपवर्त्यायु होना नोकर्माहार से ही संभव है, कवलाहार से नहीं, क्योंकि कवलाहार के लिए इच्छा और प्रयत्न आवश्यक होते हैं, जिनका केवली में मोहनीयकर्म का क्षय हो जाने से अभाव हो जाता है। इस प्रकार तत्त्वार्थसूत्रकार केवलिभुक्ति के निषेधक हैं, जबकि भाष्यकार समर्थक हैं। इससे तथा उपर्युक्त प्रमाणों से सिद्ध है कि दोनों के सम्प्रदाय भिन्न-भिन्न हैं। अर्थात् 'तत्त्वार्थसूत्र' दिगम्बराचार्य की कृति है और 'तत्त्वार्थाधिगमभाष्य' श्वेताम्बराचार्य की।

ख—सूत्र और भाष्य में विसंगतियाँ

इस सिद्धान्तभेद के अतिरिक्त सूत्र और भाष्य में जो विसंगतियाँ हैं, उनसे भी सिद्ध होता है कि सूत्रकार और भाष्यकार भिन्न-भिन्न सम्प्रदायों से तात्लुक रखते हैं। वे विसंगतियाँ इस प्रकार हैं—

१. दिगम्बर-तत्त्वार्थसूत्र में 'भवप्रत्ययोऽवधिर्देवनारकाणाम्' (१/२१) तथा "क्षयोपशमनिमित्तः षड्विकल्पः शेषाणाम्" (१/२२), इन दो सूत्रों में अवधिज्ञान के दो भेद बतलाये गये हैं : भवप्रत्यय, जो देव और नारकियों के होता है तथा क्षयोपशम-निमित्त, जो शेष जीवों अर्थात् मनुष्य और तिर्यचों के होता है। इन सूत्रों के पूर्व 'द्विविधोऽवधिः' (अवधिज्ञान के दो भेद हैं) यह प्रस्तावनात्मक सूत्र होना चाहिए था। यह सूत्र श्वेताम्बर-तत्त्वार्थसूत्र (१/२१) में है और उसके भाष्य में स्पष्ट किया गया है कि वे दो भेद हैं : भवप्रत्यय और क्षयोपशमनिमित्त—'भवप्रत्ययः क्षयोपशम-निमित्तश्च' (१/२१)। अगले सूत्र में भवप्रत्यय अवधि के स्वामियों का वर्णन किया गया है—'भवप्रत्ययोऽवधिर्देवनारकाणाम्' (१/२२)। यह सूत्र वैसा ही है, जैसा दिगम्बर-तत्त्वार्थसूत्र में है। इसके बाद क्षयोपशमनिमित्त अवधि के स्वामियों का वर्णन करने के लिए "क्षयोपशमनिमित्तः षड्विकल्पः शेषाणाम्" ऐसा सूत्र होना चाहिए था, किन्तु "यथोक्त-निमित्तः षड्विकल्पः शेषाणाम्" (१/२३) यह सूत्र है। यहाँ यथोक्तनिमित्तः

पद बिलकुल असंगत है, क्योंकि 'द्विविधोऽवधिः' (१/२१) सूत्र के भाष्य में अवधिज्ञान का दूसरा भेद 'क्षयोपशमनिमित्त' बतलाया है, 'यथोक्तनिमित्त' नहीं। दिगम्बर-तत्त्वार्थसूत्र में "क्षयोपशमनिमित्तः षड्विकल्पः शेषणाम्" (१/२२) ही है। इससे सिद्ध होता है कि सूत्र में क्षयोपशमनिमित्तः के स्थान में यथोक्तनिमित्तः पहले ही किया जा चुका था, भाष्य उसके बाद लिखा गया। इसीलिए सूत्र के अर्थ को युक्तिसंगत बनाने के लिए भाष्यकार को लिखना पड़ा कि यहाँ 'यथोक्तनिमित्त' का अर्थ 'क्षयोपशमनिमित्त' है—'यथोक्तनिमित्तः क्षयोपशमनिमित्त इत्यर्थः' (१/२३)। यदि सूत्रकार ही भाष्यकार होते तो वे सूत्र में ही 'क्षयोपशमनिमित्त' शब्द का प्रयोग करते, जिससे भाष्य में स्पष्टीकरण की आवश्यकता न रहती। यह इस बात का ज्वलन्त प्रमाण है कि सूत्रकार और भाष्यकार भिन्न-भिन्न व्यक्ति हैं।

२. 'इन्द्रियकषायाद्गतक्रियाः पञ्चचतुः पञ्चपञ्चविंशतिसङ्ख्याः पूर्वस्य भेदाः' (त. सू./६/५), इस सूत्र के दिगम्बरमान्य और श्वेताम्बरमान्य पाठों में तथा सिद्धसेन-गणी और हरिभद्रसूरी की टीकाओं में उद्धृतपाठों में इन्द्रिय शब्द पहले और अव्रत शब्द तीसरे स्थान पर है। किन्तु भाष्य में पहले अव्रत की व्याख्या की गयी है, उसके बाद कषाय की, फिर इन्द्रिय की। यह सूत्रक्रमोल्लंघन नाम की असंगति है। इससे सिद्ध होता है कि सूत्रकार और भाष्यकार भिन्न-भिन्न व्यक्ति हैं। यदि भाष्य स्वोपज्ञ होता, तो इस क्रमोल्लंघन की विसंगति का प्रसंग न आता।

३. "इन्द्र-सामानिक-त्रायस्त्रिंश-पारिषद्यात्परिक्ष-लोकपालानीक-प्रकीर्णकाभियोग्य-किल्बिशिकाश्चैकशः" (त. सू./श्वे./४/४), इस सूत्र में प्रत्येक देवनिकाय में देवों के दश भेद बतलाये गये हैं। भाष्यकार भी पहले दश भेद ही कहते हैं। किन्तु, जब भेदों का वर्णन करते हैं, तब अनीकाधिपति भेद अतिरिक्त बतलाते हैं, जिससे ग्यारह भेद हो जाते हैं। इससे भी सूत्रकार और भाष्यकार की भिन्नता प्रकट होती है।

४. "सारस्वत्यादित्य-वह्नयरुण-गर्दतोय-तुषिताव्याबाध-मरुतोऽरिष्टाश्च" (त. सू./वि.स./४/२६), इस सूत्र में लौकान्तिक देवों के नौ भेद वर्णित किये गये हैं, किन्तु इस सूत्र और पूर्वसूत्र (४/२५) के भाष्य में नामनिर्देश न करते हुए आठ ही भेद होने की सूचना दी है—"एते सारस्वतादयोऽष्टविधा देवा---" (४/२६)।

५. तत्त्वार्थसूत्र में सम्यग्दर्शनी से सम्यग्दृष्टि को भिन्न नहीं माना गया है, भाष्य (१/८) में माना गया है।

६. तत्त्वार्थसूत्र (१/१३) में मति, स्मृति और संज्ञा आदि मतिज्ञान के पर्यायवाची नाम बतलाये गये हैं, किन्तु भाष्य में इन्हें स्वतन्त्र ज्ञान माना गया है।

७. भाष्यकार ने दसवें अध्याय के 'क्षेत्रकालगति' इत्यादि सूत्र की व्याख्या करते हुए शब्दादयश्च त्रयः कहकर शब्द, समभिरूढ और एवंभूत, इन तीन को मूल नय मान लिया है, जब कि वे ही प्रथम अध्याय में उस सूत्रपाठ को स्वीकार करते हैं, जिसमें मूल नयों में केवल एक शब्दनय स्वीकार किया गया है। यह परस्परविरुद्ध है और सूत्रकार के मत से भी भिन्नता प्रदर्शित करता है।

८. "औपपादिकचरमोत्तमदेहासंख्येयवर्षायुषोऽनपवर्त्यायुषः" (त.सू./२/५३), इस दिगम्बरमान्य सूत्रपाठ में चरमोत्तमदेह पद है। श्वेताम्बरमान्य सूत्रपाठ में इसके स्थान पर चरमदेहोत्तमपुरुष पाठ मिलता है। तत्त्वार्थभाष्यकार ने प्रारंभ में इस पद को मानकर ही उसकी व्याख्या की है। किन्तु बाद में वे 'उत्तमपुरुष' पद का त्याग कर देते हैं और मात्र चरमदेह पद को स्वीकार कर उसका उपसंहार करते हैं। इससे विदित होता है कि तत्त्वार्थभाष्यकार को इस सूत्र के कुछ हेरफेर के साथ दो पाठ मिले होंगे, जिनमें से एक पाठ को उन्होंने मुख्य मानकर उसका प्रथम व्याख्यान किया। किन्तु उसको स्वीकार करने पर जो आपत्ति आती है, उसे देखकर उपसंहार के समय उन्होंने दूसरे पाठ को स्वीकार कर लिया। स्पष्ट है कि इससे तत्त्वार्थभाष्यकार ही तत्त्वार्थसूत्रकार हैं, यह मान्यता मिथ्या सिद्ध होती है।

९. "शरीरवाङ्मनःप्राणापानाः पुद्गलानाम्" (त.सू./श्वे./५/१९) के भाष्य में कहा गया है—“प्राणापानौ च नामकर्मणि व्याख्यातौ” अर्थात् नामकर्म के प्रकरण में प्राण और अपान का व्याख्यान किया जा चुका है। किन्तु नामकर्म का प्रकरण आठवें अध्याय में है। अतः व्याख्यातौ यह भूतकालीन क्रिया असंगत है, व्याख्यास्येते होना चाहिए था। इससे यही सिद्ध होता है कि भाष्यकार ने सूत्रों की रचना नहीं की है।

१०. "रत्नशर्कराबालुका" (त.सू./श्वे./३/१) इत्यादि सूत्र में आये घनाम्बुवाता-काशप्रतिष्ठाः पद का अर्थ करते हुए भाष्यकार ने लिखा है "अम्बुवाताकाशप्रतिष्ठा इति सिद्धे घनग्रहणं क्रियते तेनायमर्थः प्रतीयते ---।" अर्थात् अम्बुवाताकाशप्रतिष्ठाः ऐसा सिद्ध होने पर जो घन शब्द का ग्रहण किया गया है, उससे ऐसा प्रतीत होता है---। यहाँ प्रतीयते शब्द निश्चयात्मक नहीं है, सन्देहात्मक है।--- यदि भाष्यकार ही सूत्रकार होते, तो अपने ही द्वारा प्रयुक्त घन शब्द के अर्थ के विषय में उनके मन में अनिश्चयात्मकता न रहती। इसलिए वे प्रतीयते क्रिया का प्रयोग न कर ज्ञाप्यते जैसी क्रिया का प्रयोग करते।

११. "औदारिक-वैक्रियाहारक-तैजस-कर्मणानि शरीराणि" (त.सू./श्वे./२/३७), इस सूत्र में औदारिक आदि पाँच शरीरों के नाम गिनाये गये हैं। इसके भाष्य में भी पाँच शरीरों के केवल नाम ही बतलाये गये हैं, उनकी व्याख्या नहीं की गयी है। व्याख्या इसी अध्याय के "शुभं विशुद्धमव्याघाति चाहारकं चतुर्दशपूर्वधरस्यैव"

(त.सू./श्वे./२/४९) के भाष्य में की गई है, जो अप्रासंगिक है। इससे सूत्रकार और भाष्यकार का भिन्न होना सूचित होता है।

१२. “कायवाङ्मनःकर्म योगः” (६/१) तथा “हिंसानृतस्तेयाब्रह्मपरिग्रहेभ्यो विरतिर्व्रतम्” (७/१), तत्त्वार्थसूत्र के इन सूत्रों में महाव्रतों को शुभाश्रव का हेतु बतलाया गया है। भाष्य में भी इस बात की पुष्टि की गयी है। तथा संवरहेतुओं का वर्णन करनेवाले “स गुप्तिसमितिधर्मानुप्रेक्षापरीषहजयचारित्रैः” (९/२) सूत्र में महाव्रतों को शामिल न करके भी यह द्योतित किया गया है कि महाव्रत शुभाश्रव के हेतु हैं, संवर के नहीं। किन्तु भाष्यकार ने “अनित्याशरणसंसारिकत्वा” इत्यादि सूत्र (९/७) के भाष्य में महाव्रतों को संवर का हेतु बतलाया है। इससे भी सूत्रकार और भाष्यकार के भिन्न होने की पुष्टि होती है।

१३. तत्त्वार्थसूत्र के श्वेताम्बरमान्य पाठ में “कालश्चेत्येके” (५/३८) सूत्र से ध्वनित होता है कि सूत्रकार स्वयं कालद्रव्य को नहीं मानते। किन्तु भाष्यकार ने लोक को कहीं षड्द्रव्यात्मक माना है—‘सर्वं षट्त्वं षड्द्रव्यावरोधादिति’ (त.सू./श्वे./१/३५) और कहीं पञ्चास्तिकायों का समूह—“पञ्चास्तिकायसमुदायो लोकः” (त.सू./श्वे./३/६)। सूत्रकार और भाष्यकार के इस मतवैषम्य से सिद्ध है कि वे भिन्न-भिन्न व्यक्ति हैं।

१४. तत्त्वार्थसूत्रकार ने बादरसम्पराये सर्वे (त.सू./श्वे./९/१२) सूत्र का कथन कर छठे, सातवें, आठवें और नौवें गुणस्थानों के परीषहों का ज्ञापन किया है, किन्तु भाष्यकार ने उक्त सूत्र को केवल नौवें गुणस्थान में होनेवाले परीषहों का प्रतिपादक माना है। यह मतभेद दोनों के भिन्न व्यक्ति होने का सूचक है।

१५. “सकषायत्वाञ्जीवः कर्मणो योग्यान् पुद्गलानादत्ते स बन्धः” (त.सू./८/२) इस सूत्र में कर्मयोग्यान् इस अल्पाक्षरात्मक समस्त पद का प्रयोग न कर कर्मणो योग्यान् इस बहुक्षरात्मक असमस्त पद का प्रयोग क्यों किया गया? इसका समाधान सर्वार्थसिद्धिकार ने किया है, भाष्यकार ने नहीं किया। (अध्याय १६/प्र.१/शी. ३/३.१)। इससे सिद्ध होता है कि सूत्रों की रचना उन्होंने नहीं की। यदि सूत्ररचना उन्होंने की होती, तो कर्मणो योग्यान् प्रयोग का रहस्य उन्हें ज्ञात होता और उसका स्पष्टीकरण वे भाष्य में अवश्य करते।

ग—श्वेताम्बर भी भाष्यकार से अपरिचित

१. विक्रम की १३वीं शती के बाद हुए श्वेताम्बरमुनि श्री रत्नसिंहसूरि ने तत्त्वार्थाधिगमसूत्र पर टिप्पण लिखे हैं। उनमें उन्होंने भाष्यकार का नाम न देकर उसके

लिए स कश्चित् (वह कोई) शब्दों का प्रयोग किया है, जब कि सूत्रकार का नाम उमास्वाति कई स्थानों पर दिया है। इससे ध्वनित होता है कि टिप्पणकार को भाष्यकार का नाम मालूम नहीं था और वे उसे सूत्रकार से भिन्न समझते थे।

२. तत्त्वार्थाधिगमसूत्र की रत्नसिंहसूरिकृत टिप्पणों से युक्त प्रति में भाष्यमान्य तत्त्वार्थसूत्र की अपेक्षा कुछ अधिक सूत्र हैं, जिनमें से कुछ सूत्र तत्त्वार्थसूत्र के दिगम्बर-मान्य पाठ में मिलते हैं। इससे ज्ञात होता है कि उपर्युक्त अधिक सूत्रोंवाला सूत्रपाठ भाष्यमान्य सूत्रपाठ के पहले से ही अस्तित्व में रहा होगा, जो सिद्धसेनगणी आदि टीकाकारों की दृष्टि में नहीं आया। इसलिए उन्होंने उमास्वाति को ही सूत्रकार और भाष्यकार दोनों मान लिया।

घ—भाष्य से पूर्व भी तत्त्वार्थसूत्र पर टीकाएँ

१. तत्त्वार्थाधिगभाष्य में उपलब्ध उल्लेखों से सिद्ध होता है कि उसके पूर्व भी तत्त्वार्थसूत्र पर टीकाएँ लिखी गयी थीं। (अध्याय १६/प्र.१/शी.३.४)। यह तथ्य इस बात को असिद्ध कर देता है कि भाष्यकार ही सूत्रकार थे।

२. तत्त्वार्थसूत्र के काल में जितने भी सूत्रग्रन्थ रचे गये हैं, उनमें से किसी पर भी उसके रचयिता ने कोई भाष्य या वृत्ति नहीं रची। पातञ्जलसूत्र, वैशेषिकसूत्र, वेदान्तसूत्र आदि इसके उदाहरण हैं। इससे स्पष्ट होता है कि तत्त्वार्थसूत्रकार ने भी अपने ग्रन्थ पर कोई भाष्य नहीं रचा। (अध्याय १६/प्र.१/शी.५)।

३. तत्त्वार्थाधिगमभाष्य की प्रारंभिक कारिकाओं के अन्तर्गत २३वीं कारिका में जिनवचनरूपी महोदधि की महत्ता बतलाते हुए उसे दुर्गमग्रन्थभाष्यपार कहा गया है। टीकाकार श्री देवगुप्तसूरि ने इस पद का अर्थ इस प्रकार किया है—“उस जिनवचनरूपी महोदधि के ग्रन्थों और उन ग्रन्थों के अर्थ को बतलानेवाले जो उनके भाष्य हैं, उनका पार पाना कठिन है।” यहाँ तत्त्वार्थभाष्यकार ने आगमग्रन्थों के साथ उनके भाष्यों का भी उल्लेख किया है, अतः स्पष्ट है कि तत्त्वार्थाधिगमभाष्य की रचना भाष्यों के बाद में हुई है। भाष्यों का रचनाकाल विक्रम की ७वीं शती है। अतः तत्त्वार्थभाष्य सातवीं शती के पहले की रचना नहीं हो सकता। (अध्याय १६/प्र.१/शी.५)।

ये बहुसंख्यक प्रमाण इस निर्णय में कोई सन्देह नहीं रहने देते कि तत्त्वार्थसूत्र के कर्ता और उसके भाष्यकार एक व्यक्ति नहीं, अपितु भिन्न-भिन्न व्यक्ति हैं।

ङ—एकत्वसमर्थक हेतुओं का निरसन

श्वेताम्बर मनीषी पं० सुखलाल जी संघवी ने सूत्रकार और भाष्यकार को अभिन्न व्यक्ति सिद्ध करने के लिए जो हेतु विन्यस्त किये हैं, वे सब हेत्वाभास हैं। उनका निरसन करनेवाले प्रमाण आगे प्रस्तुत हैं—

१. हेतु—सिद्धसेनगणी ने 'तत्त्वार्थाधिगमभाष्य' की वृत्ति में सूत्रकार और भाष्यकार को अभिन्न बतलाया है।

निरसन—इस विषय में सिद्धसेनगणी की स्थिति संशयापन्न रही है, क्योंकि कहीं वे तत्त्वार्थसूत्रकार और तत्त्वार्थभाष्यकार को एक व्यक्ति मान लेते हैं और कहीं दो। (अध्याय १६/प्र. १/शी. ४.१)। तथा विक्रम की तेरहवीं शती के बाद हुए श्वेताम्बर मुनि श्री रत्नसिंहसूरि ने तत्त्वार्थसूत्रकार को उमास्वाति नाम से अभिहित किया है और भाष्यकार के नाम से अनभिज्ञता प्रकट की है। ये इस बात के सबूत हैं कि सूत्रकार और भाष्यकार एक व्यक्ति नहीं हैं।

२. हेतु—प्रारम्भिक कारिकाओं में और कुछ स्थानों पर भाष्य में भी वक्ष्यामि, वक्ष्यामः आदि उत्तमपुरुष की क्रिया का निर्देश है, और इस निर्देश में की गयी प्रतिज्ञा के अनुसार ही बाद में सूत्र में कथन किया गया है। इससे सिद्ध होता है कि सूत्रकार और भाष्यकार एक ही व्यक्ति हैं।

निरसन—यह तो व्याख्या की शैली है। व्याख्याकार कहीं उत्तमपुरुष की क्रिया का प्रयोग कर व्याख्या करता है, जिससे ऐसा लगता है, जैसे मूलग्रन्थकार स्वयं अपने कथन की व्याख्या कर रहा हो, और कहीं मूलग्रन्थकार के साथ अन्यपुरुष की क्रिया जोड़कर व्याख्या करता है, जिससे यह स्पष्ट हो जाता है कि व्याख्याकार मूलग्रन्थकार के शब्दों की व्याख्या कर रहा है। प्रथम प्रकार की व्याख्याशैली के उदाहरण अनेक टीकाकारों की टीका में मिलते हैं, जैसे पूज्यपाद स्वामी सर्वार्थसिद्धि टीका में कहते हैं—“तस्य स्वरूपमनवद्यमुत्तरत्र वक्ष्यामः” = उस मोक्ष का निर्दोष स्वरूप आगे (दशम अध्याय के द्वितीय सूत्र में) कहेंगे। (स. सि. / अध्याय १ / मंगलाचरण / पृ. २)। यहाँ टीकाकार पूज्यपाद स्वामी ने अपने साथ उत्तमपुरुष की क्रिया का प्रयोग कर इस प्रकार कथन किया है, जैसे वे स्वयं सूत्रकार हों, जब कि वे सूत्रकार नहीं हैं। अतः 'तत्त्वार्थाधिगमसूत्र' के भाष्यकार ने यदि अपने साथ उत्तमपुरुष की क्रिया का प्रयोग कर व्याख्या की है, तो इससे यह सिद्ध नहीं होता कि वे स्वयं सूत्रकार हैं।

३. हेतु—भाष्य में किसी भी स्थल पर सूत्र का अर्थ करने में शब्दों की खींचतान नहीं हुई, कहीं सूत्र का अर्थ करने में सन्देह या विकल्प नहीं किया गया, न सूत्र की किसी दूसरी व्याख्या को मन में रखकर सूत्र का अर्थ किया गया और न कहीं सूत्र के पाठभेद का ही अवलम्बन लिया गया है। इसलिए सूत्रकार ही भाष्यकार हैं।

निरसन—प्रथम तो सूत्रों का अर्थ करने में शब्दों की खींचतान न होना, सन्देह या विकल्प न होना आदि बातें किसी व्याख्या के सूत्रकारकृत होने का प्रमाण नहीं हो सकतीं, क्योंकि पातञ्जलसूत्र के व्यासकृत भाष्य में भी उक्त बातें पायी जाती

हैं, किन्तु वह सूत्रकारकृत नहीं है। दूसरे, तत्त्वार्थसूत्र के उक्त भाष्य में भाष्यकार ने कोई छोटी-मोटी खींचतान नहीं की है, कोई मामूली सन्देह या विकल्प पैदा नहीं किये हैं, उन्होंने इतनी गम्भीर सैद्धान्तिक विपरीतताएँ और प्ररूपणशैली में इतनी ज्यादा विसंगतियाँ उत्पन्न की हैं कि उनके द्वारा वे अपने को सूत्रकार से बिल्कुल विरुद्ध दिशा में खींचकर ले गये हैं और सिद्ध कर दिया है कि वे सूत्रकार से सर्वथा भिन्न व्यक्ति हैं। (अध्याय १६/प्र.१/शी. २ एवं ४.३)।

च—भाष्य सर्वार्थसिद्धि से उत्तरकालीन

श्वेताम्बर विद्वानों तथा दिगम्बर विद्वान् पं० नाथूराम जी प्रेमी का कथन है कि सर्वार्थसिद्धिटीका और तत्त्वार्थाधिगमभाष्य में अनेकत्र वाक्यगत साम्य है, जिससे सिद्ध होता है कि सर्वार्थसिद्धि में भाष्य का अनुकरण किया गया है, अतः भाष्य की रचना सर्वार्थसिद्धि से पूर्व हुई है। किन्तु यह मत समीचीन नहीं है। निम्नलिखित प्रमाण सिद्ध करते हैं कि सर्वार्थसिद्धि भाष्य से पूर्ववर्ती है, अतः भाष्य में ही सर्वार्थसिद्धि का अनुकरण हुआ है—

१. तत्त्वार्थाधिगमभाष्य के अन्त में दिये हुए ३२ श्लोक तत्त्वार्थराजवार्तिक, जयधवला-टीका एवं तत्त्वार्थसार में उपलब्ध होते हैं, किन्तु सर्वार्थसिद्धि में नहीं। तथा कालद्रव्य के परत्वापरत्वरूप उपकार का भाष्यकार द्वारा उल्लिखित प्रशंसाकृत भेद तत्त्वार्थराजवार्तिक में ग्रहण किया गया है, किन्तु सर्वार्थसिद्धि में नहीं। इसी प्रकार भाष्य-मान्य सूत्रपाठ और भाष्य में जो विसंगतियाँ हैं, न तो उनकी चर्चा सर्वार्थसिद्धि में की गयी है, न ही भाष्य में साधु के वस्त्रपात्रादि उपभोग का जो समर्थन किया गया है, उसका खण्डन सर्वार्थसिद्धि में मिलता है, जब कि तत्त्वार्थराजवार्तिक में ये दोनों बातें उपलब्ध होती हैं। इन तथ्यों से सिद्ध होता है कि सर्वार्थसिद्धिकार के समक्ष तत्त्वार्थाधिगमभाष्य उपस्थित नहीं था अर्थात् उस समय तक उसकी रचना नहीं हुई थी।

२. दूसरी ओर उपकरणरूप द्रव्येन्द्रिय के बाह्य और आभ्यन्तर भेद, प्रतरादिभेद से नारकियों की अवगाहना, अन्तरद्वीपों की १९६ संख्या, लौकान्तिक देवों के नौ के स्थान में आठ भेद तथा केवलज्ञानोपयोग और केवलदर्शनोपयोग के युगपत् होने का मत, ये सिद्धान्त भाष्य में सर्वार्थसिद्धि से आये हैं। (अध्याय १६/प्र.२/शी.३) “श्रुतं मत्तिपूर्वं द्व्यनेकद्वादशभेदम्” (त.सू./१/२०) के भाष्य में द्रव्येष्वसर्वपर्यायेषु यह पाठ भी सर्वार्थसिद्धि (१/२६) से ग्रहण किया गया है। ये तथ्य भी सिद्ध करते हैं कि भाष्य सर्वार्थसिद्धि के पश्चात् रचा गया है। अतः सर्वार्थसिद्धि के पूर्व निर्मित तत्त्वार्थसूत्र का कर्ता और सर्वार्थसिद्धि के पश्चात् प्रणीत तत्त्वार्थाधिगमभाष्य का कर्ता, दोनों एक ही व्यक्ति नहीं हो सकते, इसलिए दोनों भिन्न-भिन्न व्यक्ति हैं।

प० सुखलाल जी संघवी ने तत्त्वार्थाधिगमभाष्य को सर्वार्थसिद्धि से प्राचीन सिद्ध करने के लिए तीन हेतु प्रस्तुत किये हैं, जो सत्य नहीं हैं। यथा—

१. हेतु—सर्वार्थसिद्धि में सम्यक्, दर्शन, ज्ञान, चारित्र आदि शब्दों का व्याकरणिक विश्लेषण भाष्य की अपेक्षा विस्तार से किया गया है तथा दार्शनिक विवेचन भी अधिक है। अतः सर्वार्थसिद्धि की निरूपणशैली भाष्य से अर्वाचीन है, जो उसके परवर्ती होने का लक्षण है।

निरसन—भाष्य में ऐसे अनेक तत्त्व उपलब्ध होते हैं, जिनसे सिद्ध होता है कि उसकी शैली में सर्वार्थसिद्धि की अपेक्षा अधिक नवीनता है। उदाहरणार्थ—

□ सर्वार्थसिद्धि में मंगलाचरण, सम्बन्धकारिकाएँ आदि नहीं हैं। 'मोक्षमार्गस्य नेतारं' इत्यादि मंगलाचरण सूत्रकारकृत है। (अध्याय १६/प्र.२/शी.६.१/१)। किन्तु भाष्य में सम्बन्ध-कारिकाओं के नाम से बाईस श्लोकोंवाला मंगलाचरण निबद्ध है। इतना ही नहीं उसके पश्चात् नौ श्लोकों में ग्रन्थरचना के प्रयोजन आदि वर्णित हैं।

□ सर्वार्थसिद्धि के अन्त में उपसंहाररूप में किसी विषय का वर्णन नहीं है, जब कि भाष्य में ३२ श्लोकात्मक विस्तृत उपसंहार है।

□ सर्वार्थसिद्धि में प्रत्येक अध्याय के अन्त में भी श्लोकबद्ध उपसंहार नहीं है, भाष्य में है।

□ सर्वार्थसिद्धि में आलंकारिक प्रयोग अल्प हुए हैं, भाष्य में इनकी बहुलता दृष्टिगोचर होती है।

□ सर्वार्थसिद्धि में पर्यायशब्दों का प्रयोग भी अत्यल्प है, भाष्य में प्रचुर है।

□ सर्वार्थसिद्धि में नयवाद शब्द का प्रयोग नहीं है, भाष्य में अनेकत्र है।

२. हेतु—भाष्य में अर्थ का विस्तार नहीं है, सर्वार्थसिद्धि में है। अतः सर्वार्थसिद्धि भाष्य के बाद रची गयी है।

निरसन—भाष्य में अन्य प्रकार से सर्वार्थसिद्धि की अपेक्षा अधिक विस्तार उपलब्ध होता है। (अध्याय १६/प्र.२/शी.६.२)।

३. हेतु—भाष्य में साम्प्रदायिक अभिनिवेश का तत्त्व दिखाई नहीं देता, सर्वार्थसिद्धि में दिखाई देता है। इससे स्पष्ट होता है कि अचेलकत्व, स्त्रीमुक्ति, केवलिकवलाहार, कालतत्त्व जैसे विषयों पर तीव्र मतभेद हो जाने के बाद ही सर्वार्थसिद्धि लिखी गयी है, जो उसके भाष्य से अर्वाचीन होने का प्रमाण है। (अध्याय १६/प्र.२/शी.६.४)।

निरसन—दिगम्बर-श्वेताम्बर-सम्प्रदायभेद तो जम्बूस्वामी के निर्वाण (४६५ ई० पू०) के बाद ही हो गया था, जब दोनों सम्प्रदायों की आचार्य-परम्परा अलग-अलग हो गयी थी। इस भेद का उल्लेख ईसापूर्वकालीन बौद्धसाहित्य में निर्ग्रन्थ और श्वेतवस्त्र नामों से हुआ है। अतः सिद्ध है कि सर्वार्थसिद्धि की तो क्या, तत्त्वार्थसूत्र की भी रचना दिगम्बर-श्वेताम्बर-सम्प्रदाय-भेद के बाद हुई है, तब तत्त्वार्थाधिगमभाष्य की रचना उक्त भेद के पूर्व हुई हो, यह तो संभव ही नहीं है। तत्त्वार्थसूत्र स्वयं दिगम्बरजैन-सिद्धान्तों का प्रतिपादक ग्रन्थ है, यह पूर्व में दर्शाया जा चुका है। इस प्रकार सर्वार्थसिद्धि और भाष्य दोनों ही सम्प्रदायभेद के बाद की कृतियाँ हैं, अतः सम्प्रदायभेद के आधार पर यह सिद्ध नहीं होता कि सर्वार्थसिद्धि भाष्य से उत्तरकालीन है।

□ डॉ० सागरमल जी ने पृष्ठसंख्या या पंक्तिसंख्या की न्यूनाधिकता के आधार पर अर्थ का विस्तार या अविस्तार माना है। वे लिखते हैं—“सर्वार्थसिद्धि के प्रथम अध्याय के ८वें सूत्र की व्याख्या में लगभग सत्तर पृष्ठों में गुणस्थान और मार्गणास्थान की चर्चा की गई है, जब कि तत्त्वार्थभाष्य में गुणस्थानसिद्धान्त का पूर्णतः अभाव है। उसमें प्रथम अध्याय के आठवें सूत्र की व्याख्या केवल दो पृष्ठों में समाप्त हो गई है। (जै. ध. या. स./पृ. ३०३)।

निरसन—उक्त बात लिखते समय डॉक्टर सा० भूल गये कि दसवें अध्याय के ‘क्षेत्रकालगतिलिङ्ग’ इत्यादि सूत्र (१०/७) की व्याख्या, जहाँ सर्वार्थसिद्धि में २५ पंक्तियों में की गयी है, वहाँ भाष्य में १४१ पंक्तियों का प्रयोग हुआ है। और ऐसे ३० सूत्र हैं, जिनकी व्याख्या सर्वार्थसिद्धि की अपेक्षा भाष्य में दुगुनी, चौगुनी, पचगुनी, और छहगुनी पंक्तियों में की गयी है, प्रथम अध्याय के ८वें सूत्र के भाष्य में बहुत कम पंक्तियाँ प्रयुक्त हुई हैं, इसका कारण यह है कि भाष्यकार ने व्याख्या की ही नहीं है। अनेक सूत्रों में ऐसा हुआ है। जहाँ व्याख्या ही नहीं की गयी है, वहाँ व्याख्यागत विस्तार और अविस्तार का निर्णय किया ही नहीं जा सकता। जहाँ व्याख्या है, वहाँ भाष्य में अनेकत्र सर्वार्थसिद्धि की अपेक्षा अधिक पंक्तियों का प्रयोग हुआ है, अतः इस दृष्टि से भी भाष्य ही अर्वाचीन सिद्ध होता है। (अध्याय १६/प्र.२/शी. ६)।

डॉक्टर सा० का यह कथन भी मिथ्या है कि भाष्य में गुणस्थानसिद्धान्त का पूर्णतः अभाव है। तत्त्वार्थसूत्र में जहाँ जिन गुणस्थानों का उल्लेख हुआ है, वहाँ भाष्य में भी उन गुणस्थानों के नाम वर्णित हैं। अतः गुणस्थानविकासवाद की मिथ्या धारणा के आधार पर भी सर्वार्थसिद्धि को तत्त्वार्थाधिगमभाष्य की अपेक्षा अर्वाचीन नहीं कहा जा सकता।

□ सर्वार्थसिद्धि का रचनाकाल ४५० ई० निर्धारित किया गया है और तत्त्वार्थाधिगमभाष्य की रचना पाँचवीं शती ई० के उत्तरार्ध में वलभीवाचना के समय श्वेताम्बर-परम्परा में तत्त्वार्थसूत्र के लिपिबद्ध किये जाने के पश्चात् हुई है। और उसमें विशेषावश्यकभाष्य-मान्य लोकरूढ़-नाग्न्य या उपचरित-नाग्न्य का उल्लेख न होने से उसका रचनाकाल छठी शती ई० का पूर्वार्ध सिद्ध होता है। (अध्याय १६/प्र.२/शी.७)। इस प्रकार तत्त्वार्थसूत्र, सर्वार्थसिद्धि एवं तत्त्वार्थाधिगमभाष्य के रचनाकाल की पूर्वापरता से भी सिद्ध है कि सूत्रकार और भाष्यकार भिन्न-भिन्न व्यक्ति हैं।

□ तत्त्वार्थसूत्र के कर्ता का नाम गृध्रपिच्छाचार्य है और तत्त्वार्थाधिगमभाष्यकार का नाम उमास्वाति है। दिगम्बराचार्यों ने भ्रम से उमास्वाति को तत्त्वार्थसूत्र का कर्ता मान लिया और १६वीं शती ई० के श्रुतसागरसूरि ने 'तत्त्वार्थवृत्ति' में उमास्वाति के स्थान में 'उमास्वामी' शब्द का प्रयोग कर दिया। तब से उमास्वामी तत्त्वार्थसूत्र के कर्ता कहलाने लगे। (अध्याय १६/प्र.२/शी.८)।

छ—सभी सूत्र दिगम्बरमत-सम्मत

श्वेताम्बर विद्वानों का कथन है कि तत्त्वार्थसूत्र के निम्नलिखित सूत्र दिगम्बरमत के विरुद्ध और श्वेताम्बरमत के अविरुद्ध हैं—

१. दशाष्टपञ्चद्वादशविकल्पाः कल्पोपपन्नपर्यान्ताः (४/३)।
२. एकादश जिने (९/११)।
३. मूर्च्छा परिग्रहः (७/१७)।
४. पुलाकबकुशकुशीलनिर्ग्रन्थस्नातका निर्ग्रन्थाः (९/४६)।
५. कालश्चेत्येके। (तत्त्वार्थाधिगमभाष्य-मान्य पाठ ५/३८)।

यतः ये सूत्र दिगम्बरमत के विरुद्ध और श्वेताम्बरमत के अविरुद्ध हैं, अतः तत्त्वार्थसूत्र दिगम्बरपरम्परा का ग्रन्थ न होकर श्वेताम्बरपरम्परा का है। (जै.ध.या.स./पृ. ३११-३१६)।

निरसन—यह कथन सत्य नहीं है। उक्त सभी सूत्र दिगम्बरमत-सम्मत हैं। “मूर्च्छा परिग्रहः” और “एकादश जिने” सूत्रों के दिगम्बरमत-सम्मत होने की सिद्धि पूर्व में की जा चुकी है। दिगम्बरमत में कल्पसंज्ञक स्वर्गों की संख्या बारह भी मानी गयी है और सोलह भी। इसलिए “दशाष्टपञ्चद्वादशविकल्पाः कल्पोपपन्नपर्यान्ताः” (४/३) यह सूत्र दिगम्बरमतानुकूल है। पुलाक, बकुश आदि मुनियों का स्वरूप भी दिगम्बर मान्यताओं के विरुद्ध नहीं है। तथा “कालश्चेत्येके” (कुछ लोग काल को भी द्रव्य

मानते हैं) यह सूत्र तत्त्वार्थसूत्र का मौलिक सूत्र नहीं है। तत्त्वार्थसूत्र में “वर्तना परिणामः क्रिया परत्वापरत्वे च कालस्य” (त. सू. / श्वे. ५ / २२) तथा “सोऽनन्तसमयः” (त. सू. / श्वे. / ५ / ३९) इन सूत्रों के द्वारा कालद्रव्य के उपकार तथा अनन्तसमय रूप पर्यायें बतलायी गयी हैं, जिससे सिद्ध है कि तत्त्वार्थसूत्रकार को कालद्रव्य की स्वतंत्र सत्ता मान्य है। अतः “कालश्च” (त. सू. / दि. / ५ / ३९) सूत्र ही तत्त्वार्थसूत्र का मौलिक सूत्र है। (अध्याय १६/प्र.३/शी. १-३)।

ज—केवली का दर्शनज्ञानयोगपद्य दिगम्बरमान्य

पं० सुखलाल जी संघवी का एक तर्क यह है कि तत्त्वार्थाधिगमभाष्य (१/३१) में केवली भगवान् के दर्शनोपयोग और ज्ञानोपयोग का युगपत् होना माना गया है, जो दिगम्बरग्रन्थों में दिखाई नहीं देता। इसलिए तत्त्वार्थसूत्र दिगम्बरग्रन्थ नहीं है।

निरसन—सर्वार्थसिद्धि (२/९) तथा कुन्दकुन्दाचार्यकृत नियमसार (गा.१६०) में स्पष्ट शब्दों में उपर्युक्त योगपद्य स्वीकार किया गया है। वह श्वेताम्बर-आगमों में मान्य नहीं है, अतः भाष्यकार ने सर्वार्थसिद्धि से ही उसे ग्रहण किया है। (अध्याय १६/प्र.३/शी.४)।

इस प्रकार तत्त्वार्थसूत्र को दिगम्बरपरम्परा का ग्रन्थ असिद्ध करने के लिए माननीय संघवी जी एवं डॉ० सागरमल जी ने जितने भी तर्क उपस्थित किये हैं, वे सब निरस्त हो जाते हैं, और सिद्ध होता है कि वह दिगम्बरपरम्परा का ही ग्रन्थ है।

झ—तत्त्वार्थसूत्र की रचना के आधार दिगम्बरग्रन्थ

श्वेताम्बर मुनियों एवं विद्वानों का कथन है कि तत्त्वार्थसूत्र की रचना श्वेताम्बर-आगमों के आधार पर हुई है, अतः वह श्वेताम्बरग्रन्थ है।

निरसन—श्वेताम्बरमुनि उपाध्याय श्री आत्माराम जी ने तत्त्वार्थसूत्र-जैनागमसमन्वय नामक ग्रन्थ में श्वेताम्बर-आगमों से उन कथनों को उद्धृत किया है, जिनके आधार पर उनके अनुसार तत्त्वार्थ के सूत्रों की रचना हुई है। किन्तु तत्त्वार्थ के अधिकांश सूत्रों की उनके साथ न तो शब्दगत समानता है, न अर्थगत और न रचनागत। ये समानताएँ दिगम्बरग्रन्थों के सूत्रों और गाथाओं के साथ हैं। इस कारण तत्त्वार्थ के सूत्रों की रचना के आधार दिगम्बरग्रन्थ हैं, इसलिए वह दिगम्बरपरम्परा का ग्रन्थ है। (अध्याय १६/प्र.४)।

ञ—तत्त्वार्थसूत्र का रचनाकाल : द्वितीय शती ई० का पूर्वार्ध

पं० सुखलाल जी संघवी ने ‘सर्वार्थसिद्धि’ का रचनाकाल विक्रम की पाँचवीं-छठी शताब्दी स्वीकार कर तत्त्वार्थसूत्रकार उमास्वाति के समय की उत्तरसीमा उससे

दो सौ वर्ष पहले अर्थात् विक्रम की तीसरी-चौथी शताब्दी निश्चित की है। (त.सू./वि.स./प्रस्ता./पृ.७-८)।

किन्तु, आचार्य कुन्दकुन्द ने अपने ग्रन्थों की रचना ईसापूर्व प्रथम शती के अन्तिम चरण तथा ईसोत्तर प्रथम शती के प्रथम चरण में की थी, और प्रथम शती ई० के तृतीय चरण में भगवती-आराधना एवं चतुर्थ चरण में मूलाचार की रचना हुई थी, जिनमें कुन्दकुन्द के ग्रन्थों से अनेक गाथाएँ ग्रहण की गई हैं। तत्त्वार्थसूत्रकार उमास्वाति 'दि इण्डियन ऐण्टिक्वेरी' में प्रकाशित नन्दिसंघ की पट्टावली में तथा श्रवणबेलगोल के शिलालेखों में आचार्य कुन्दकुन्द के शिष्य बतलाये गये हैं और उन्होंने तत्त्वार्थसूत्र की रचना आचार्य कुन्दकुन्द के ग्रन्थों, भगवती-आराधना तथा मूलाचार के आधार पर की है, जिससे उनका स्थितिकाल ईसा की द्वितीय शताब्दी का पूर्वार्ध फलित होता है। (अध्याय १०/प्र.१/शी.४)।

□ त.सू. के उ. भा. सचेला. निर्ग्रन्थ सम्प्र. का ग्रन्थ न होने के प्रमाण

डॉ० सागरमल जी ने एक नई उद्घावना यह की है कि तत्त्वार्थसूत्र और उसके भाष्य के कर्ता उमास्वाति न दिग्म्बर थे, न श्वेताम्बर, न यापनीय, अपितु वे सवस्त्रमुक्ति, स्त्रीमुक्ति, केवलिभुक्ति आदि की मान्यताओंवाले उस उत्तरभारतीय-सचेलाचेल-निर्ग्रन्थ-सम्प्रदाय के आचार्य थे, जो उक्त तीनों सम्प्रदायों से पूर्ववर्ती था और ईसा की पाँचवीं शताब्दी के प्रारंभ में जिसके विभाजन से श्वेताम्बर और यापनीय सम्प्रदायों की उत्पत्ति हुई थी। इसलिए ईसा की तीसरी-चौथी शताब्दी में रचित तत्त्वार्थसूत्र और उसका भाष्य उत्तरभारतीय-सचेलाचेल-निर्ग्रन्थ-सम्प्रदाय की कृतियाँ हैं।

निरसन

१. उत्तरभारतीय - सचेलाचेल - निर्ग्रन्थ - सम्प्रदाय का अस्तित्व ही नहीं था, यह द्वितीय अध्याय के तृतीय प्रकरण में सिद्ध किया गया है। अतः जिस सम्प्रदाय का अस्तित्व ही नहीं था, उमास्वाति उस सम्प्रदाय के आचार्य नहीं हो सकते। इससे सिद्ध है कि तत्त्वार्थसूत्र का श्वेताम्बरमान्य पाठ और उसका भाष्य उक्त सम्प्रदाय की कृतियाँ नहीं हैं।

२. ईसापूर्व छठी शताब्दी के बुद्धवचनसंग्रहभूत बौद्धग्रन्थ अंगुत्तरनिकाय में, प्रथमशताब्दी ई० के बौद्धग्रन्थ दिव्यावदान में तथा ईसापूर्व तृतीय शताब्दी के सम्राट् अशोक के देहली (टोपरा) के सप्तम स्तम्भलेख में निर्ग्रन्थ शब्द से दिग्म्बर जैन मुनियों का उल्लेख हुआ है। इसी प्रकार अशोककालीन या ईसापूर्व प्रथम शताब्दी के बौद्धग्रन्थ अपदान में सेतवत्थ (श्वेतवस्त्र=श्वेतपट) शब्द से श्वेताम्बरजैन साधुओं की चर्चा की गई है। (देखिये, अध्याय ४/प्र.२/शी.१, १.२ तथा १४)। इन ऐतिहासिक

प्रमाणों से सिद्ध होता है कि दिगम्बर और श्वेताम्बर सम्प्रदायों का अस्तित्व ईसापूर्व-काल में भी था, अतः तत्त्वार्थसूत्र के श्वेताम्बरमान्य पाठ एवं उसके भाष्य के कर्ता उमास्वाति श्वेताम्बर ही थे।

□ तत्त्वार्थसूत्र के यापनीयग्रन्थ न होने के प्रमाण

दिगम्बर विद्वान् पं० नाथूराम जी प्रेमी ने माना है कि तत्त्वार्थसूत्र और भाष्य दोनों के कर्ता उमास्वाति हैं। और ऐसा मानते हुए उन्होंने यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि तत्त्वार्थसूत्र यापनीयपरम्परा का ग्रन्थ है। किन्तु इसके समर्थन में उन्होंने जो हेतु प्रदर्शित किये हैं, वे यथार्थ से परे हैं। अतः उनसे यह सिद्ध नहीं होता कि तत्त्वार्थसूत्र यापनीयग्रन्थ है। यथा—

१. हेतु—श्वेताम्बर-तत्त्वार्थसूत्र के अष्टम अध्याय के अन्तिमसूत्र में पुरुषवेद, हास्य, रति और सम्यक्त्वमोहनीय को पुण्यप्रकृति बतलाया गया है, अतः तत्त्वार्थसूत्र यापनीयग्रन्थ है। (अध्याय १६/प्र.६)।

निरसन—पक्के दिगम्बराचार्य अपराजितसूरि ने भी दिगम्बरग्रन्थ भगवती-आराधना की 'अणुकंपासुद्धवओगो' गाथा (१८२८) की विजयोदयाटीका में तथा दिगम्बराचार्य वीरसेन स्वामी ने धवला तथा जयधवला टीकाओं में उपर्युक्त चार को पुण्य प्रकृति कहा है। अतः जैसे ये यापनीयग्रन्थ सिद्ध नहीं होते, वैसे ही तत्त्वार्थसूत्र भी सिद्ध नहीं होता। (अध्याय १४/प्र.२/शी.११)।

२. हेतु—भाष्य (७/३) में पाँच व्रतों की जो पाँच-पाँच भावनाएँ बतलायी गयी हैं, उनमें अचौर्यव्रत की भावनाएँ भगवती-आराधना के अनुसार हैं, सर्वार्थसिद्धि के अनुसार नहीं। इससे भी मालूम होता है कि भाष्यकार और भगवती-आराधना के कर्ता, दोनों यापनीय हैं।

निरसन—भगवती-आराधना दिगम्बरग्रन्थ है, यह सिद्ध किया जा चुका है। अतः भाष्यकार ने अचौर्यव्रत की भावनाएँ वहाँ से ग्रहण की हैं, इस कारण वे यापनीय सिद्ध नहीं हो सकते। अन्य हेतुओं से भाष्यकार भले ही यापनीय सिद्ध होते हों, तत्त्वार्थसूत्रकार यापनीय सिद्ध नहीं होते।

३. हेतु—भगवती-आराधना और मूलाचार के अनुसार ही तत्त्वार्थसूत्र में द्वादश अनुप्रेक्षाओं का वर्णन है और उक्त दोनों ग्रन्थ यापनीयपरम्परा के हैं, इसलिए तत्त्वार्थसूत्र भी उसी परम्परा का है।

निरसन—पूर्व में सिद्ध किया जा चुका है कि उक्त दोनों ग्रन्थ दिगम्बरपरम्परा के हैं, अतः उपर्युक्त हेतु से तत्त्वार्थसूत्र दिगम्बर-परम्परा का ही ग्रन्थ सिद्ध होता है।

४. हेतु—‘आर्या म्लेच्छाश्च’ (त.सू./श्वे./३/१५) सूत्र के भाष्य में अन्तरद्वीपों के नाम वहाँ के मनुष्यों के नाम पर पड़े हुए बतलाये गये हैं। भगवती-आराधना की विजयोदयाटीका में भी ऐसा ही कहा गया है। चूँकि अपराजितसूरि यापनीय हैं, अतः उपर्युक्त मतसाम्य से भाष्यकार, जो कि सूत्रकार भी हैं, यापनीय सिद्ध होते हैं।

निरसन—अपराजित सूरि पक्के दिगम्बराचार्य थे, यह पूर्व में अनेक प्रमाणों से सिद्ध किया जा चुका है। अतः उक्त मतसाम्य से भाष्यकार यापनीय सिद्ध नहीं होते। फलस्वरूप भाष्यकार को ही सूत्रकार मानने पर भी यह सिद्ध नहीं होता कि तत्त्वार्थसूत्र यापनीयग्रन्थ है।

इस तरह तत्त्वार्थसूत्र को श्वेताम्बर-सम्प्रदाय, यापनीय-सम्प्रदाय और उत्तरभारतीय-सचेलाचेल-निर्ग्रन्थ-सम्प्रदाय का ग्रन्थ सिद्ध करने के लिए प्रस्तुत किये गये समस्त हेतुओं के निरस्त हो जाने तथा उसमें सवस्त्रमुक्ति, स्त्रीमुक्ति, गृहस्थमुक्ति, परतीर्थिकमुक्ति और केवलभुक्ति की मान्यताओं का निषेध होने से सिद्ध होता है कि वह न श्वेताम्बरसम्प्रदाय का ग्रन्थ है, न यापनीयसम्प्रदाय का और न कपोलकल्पित उत्तरभारतीय-सचेलाचेल-निर्ग्रन्थसम्प्रदाय का, अपितु दिगम्बरसम्प्रदाय का है।

अध्याय १७—तिलोयपण्णत्ती

डॉ० सागरमल जी ने आचार्य यतिवृषभकृत तिलोयपण्णत्ती का अध्ययन किये बिना ही उसे यापनीयग्रन्थ घोषित कर दिया है। वे लिखते हैं—“यतिवृषभ के चूर्णिसूत्रों में न तो स्त्रीमुक्ति का निषेध है और न केवलभुक्ति का, अतः उन्हें यापनीयपरम्परा से सम्बद्ध मानने में कोई बाधा नहीं आती।” (जै. ध. या. स./पृ. ११५)।

किन्तु, यतिवृषभकृत तिलोयपण्णत्ती में तो स्पष्ट शब्दों में स्त्रीमुक्ति और केवलभुक्ति का निषेध है। यथा—

चउविह-उवसग्गेहिं णिच्चविमुक्को कसायपरिहीणो।

छुह - पहुदि - परिसहेहिं परिचत्तो रायदोसेहिं ॥ १/५९ ॥

एदेहिं अण्णेहिं विरच्चिद-चरणारविंद-जुगपुज्जो।

दिट्ठ - सयलट्ठ - सारो महावीरो अत्थकत्तारो ॥ १/६४ ॥

इन गाथाओं में भगवान् महावीर को स्पष्टतः क्षुधा आदि बाईस परीषहों से रहित बतलाया गया है, जो डंके की चोट पर केवलभुक्ति का निषेध है।

इसी प्रकार तिलोयपण्णत्ती की निम्नलिखित गाथाओं में देशत्रतियों (श्रावकों) और स्त्रियों का गमन अच्युत स्वर्ग (सोलहवें कल्प) तक, अभव्य जिनलिंगधारियों का नौवें त्रैवेयकपर्यन्त तथा निर्ग्रन्थों का सर्वार्थसिद्धि तक बतलाया गया है—

सोहम्मादी-अच्चुदपरियंतं जंति देसवदजुत्ता ।
 चउविहदाणपयट्ठा अकसाया पंचगुरुभत्ता ॥ ८/५८१ ॥

सम्मत्तणाणअज्जवलज्जासीलादिएहि परिपुण्णा ।
 जायंते इत्थीआ जा अच्चुद-कप्प-परियंतं ॥ ८/५८२ ॥

जिणालिंघधारिणो जे उक्किट्ठुतवस्समेण संपुण्णा ।
 ते जायंति अभव्वा उवरिम-गेवज्ज-परियंतं ॥ ८/५८३ ॥

परदो अच्चण-वद-तव-दंसण-णाण-चरणसंपुण्णा ।
 णिगंथा जायंते भव्वा सव्वट्ठुसिद्धिपरियंतं ॥ ८/५८४ ॥

ये सवस्त्रमुक्ति, स्त्रीमुक्ति और गृहस्थमुक्ति के निषेध की स्पष्ट घोषणाएँ हैं। इन यापनीयमत-विरुद्ध सिद्धान्तों के प्रतिपादन से सिद्ध हो जाता है कि तिलोयपण्णती के कर्ता आचार्य यतिवृषभ को यापनीयपरम्परा से सम्बद्ध मानना सत्य का कितना बड़ा अपलाप है! उक्त यापनीयमत-विरुद्ध सिद्धान्त दिगम्बरजैन सिद्धान्त हैं। तिलोयपण्णती में उनकी उपलब्धि प्रमाणित करती है कि वह दिगम्बरपरम्परा का ग्रन्थ है।

अध्याय १८—सन्मतिसूत्रकार सिद्धसेन दिगम्बराचार्य

आचार्य सिद्धसेनकृत सन्मतिसूत्र (सम्मइसुत्तं) प्राचीनकाल से दिगम्बरग्रन्थ के रूप में प्रसिद्ध है, किन्तु कुछ आधुनिक श्वेताम्बर विद्वानों ने उसे श्वेताम्बरग्रन्थ तथा कुछ नवीन दिगम्बर-शोधकर्ताओं ने यापनीयग्रन्थ सिद्ध करने का प्रयत्न किया है। डॉ० सागरमल जी ने उसे स्वकल्पित उत्तरभारतीय-सचेलाचेल-निर्ग्रन्थपरम्परा का ग्रन्थ बतलाया है। माननीय पं० जुगलकिशोर जी मुख्तार ने गहन अनुसन्धान करके प्रबल युक्तियों और प्रमाणों के द्वारा सिद्ध किया है कि वह दिगम्बर-ग्रन्थ ही है। उनका यह अनुसन्धानात्मक लेख उनके पुरातन-जैनवाक्य-सूची नामक ग्रन्थ की प्रस्तावना का अंग है, जो पृष्ठ ११९ से १६८ तक सन्मतिसूत्र और सिद्धसेन शीर्षक से मुद्रित है। उनके शोध-निष्कर्ष नीचे प्रस्तुत किये जा रहे हैं—

१. कल्याणमन्दिरस्तोत्र, २. द्वात्रिंशद्द्वात्रिंशिका (स्तुतिग्रन्थ) ३. सन्मतिसूत्र और ४. न्यायावतार, इन चार कृतियों को श्वेताम्बर विद्वान् एक ही सिद्धसेन की कृतियाँ मानते हैं और यतः कुछ द्वात्रिंशिकाओं में श्वेताम्बरीय सिद्धान्तों का प्रतिपादन है, इसलिए कल्याणमन्दिरस्तोत्र एवं सन्मतिसूत्र को भी श्वेताम्बरग्रन्थ कहते हैं।

क—पं० जुगलकिशोर जी मुख्तार का कथन है कि वर्तमान कल्याणमन्दिर स्तोत्र के अन्तिम पद्य में सूचित किये गये कुमुदचन्द्र नाम के अनुसार दिगम्बर जैन उसे कुमुदचन्द्राचार्यकृत दिगम्बरजैन कृति मानते हैं। यह युक्तिसंगत है, क्योंकि उसमें

‘प्राग्भारसम्भृत-नभांसि रजांसि रोषात्’ इत्यादि तीन पद्य ऐसे हैं, जो पार्श्वनाथ को दैत्यकृत उपसर्ग से युक्त प्रकट करते हैं, जो दिगम्बरमान्यता के अनुकूल और श्वेताम्बरमान्यता के प्रतिकूल हैं। कारण यह है कि श्वेताम्बरीय आचारांगनिर्युक्ति में वर्द्धमान को छोड़कर शेष २३ तीर्थकरों के तपःकर्म को निरुपसर्ग वर्णित किया गया है। इससे उपलब्ध कल्याणमन्दिरस्तोत्र दिगम्बरकृति सिद्ध होता है। (अध्याय १८/प्र.१/शी.३)।

ख—मुख्तार जी ने न्यायावतार के कर्ता सिद्धसेन को श्वेताम्बर माना है, क्योंकि उनकी दिगम्बर-सम्प्रदाय में मान्यता नहीं है और ‘न्यायावतार’ पर किसी दिगम्बर की टीका भी नहीं मिलती, जब कि उस पर श्वेताम्बरों के अनेक टीका-टिप्पण उपलब्ध होते हैं। (अध्याय १८/प्र.१/शी.१०)।

ग—सन्मत्तिसूत्र के कर्ता सिद्धसेन को मुख्तार जी ने निम्नलिखित हेतुओं के आधार पर दिगम्बर-जैनाचार्य सिद्ध किया है—

१. सन्मत्तिसूत्रकार सिद्धसेन ने श्वेताम्बर-आगमों की उपयोगद्वय-विषयक-क्रमवाद (केवली के दर्शनोपयोग और ज्ञानोपयोग के क्रमशः होने) की मान्यता का सन्मत्तिसूत्र में जोरदार खण्डन किया है और उपयोग-अभेदवाद या एकोपयोगवाद (केवली के उपयोग में दर्शनोपयोग और ज्ञानोपयोग का भेद न होने) की सिद्धि की है, जो दिगम्बरमान्य यौगपद्यवाद (केवली के दर्शनोपयोग और ज्ञानोपयोग के क्रमशः न होकर एक साथ होने की मान्यता) के निकट है।

२. श्वेताम्बराचार्यों ने सन्मत्तिसूत्रकार सिद्धसेन की अभेदवादी मान्यता की कटु आलोचना की है और उनके प्रति अनादरभाव प्रकट किया है, जब कि दिगम्बरसाहित्य में सर्वत्र उनका सम्मानपूर्वक स्मरण किया गया है।

३. दिगम्बरसम्प्रदाय में सन्मत्तिसूत्रकार सिद्धसेन को सेनगण (संघ) का आचार्य माना गया है और सेनगण की पट्टावली में उनका उल्लेख है।

४. हरिवंशपुराणकार दिगम्बराचार्य जिनसेन ने पुराण के अन्त में अपनी गुर्वावली में सन्मत्तिसूत्रकार सिद्धसेन के नाम का उल्लेख किया है और आरंभ में उनकी सूक्तियों को भगवान् वृषभदेव की सूक्तियों के तुल्य बतलाया है।

५. आदिपुराणकार जिनसेन ने सन्मत्तिसूत्रकार सिद्धसेन को अपने से उत्कृष्ट कवि निरूपित करते हुए मिथ्यावादियों के मतों का निरसन करनेवाला कहा है।

६. वीरसेन स्वामी ने ‘धवला’ में और उनके शिष्य जिनसेन ने ‘जयधवला’ में सिद्धसेन के सन्मत्तिसूत्र को अपना मान्य ग्रन्थ कहा है।

७. 'नियमसार' की तात्पर्यवृत्ति में पद्मप्रभमलधारिदेव ने उक्त सिद्धसेन की वन्दना करते हुए उन्हें सिद्धान्त का ज्ञाता और प्रतिपादन-कौशल-रूप उच्चश्री का स्वामी सूचित किया है। इसके अतिरिक्त प्रतापकीर्ति ने आचार्यपूजा के प्रारंभ में दी हुई गुर्वावली में तथा मुनि कनकामर ने करकंडुचरिड में सन्मतिसूत्रकार सिद्धसेन की अत्यन्त प्रशंसा की है।

८. पद्मपुराणकार रविषेण ने सन्मतिसूत्र के कर्ता सिद्धसेन को इन्द्रगुरु का शिष्य, अर्हन्मुनि का गुरु और रविषेण के गुरु लक्ष्मणसेन का दादा गुरु अर्थात् अपना परदादागुरु कहा है।

९. दिगम्बर-सेनगण की पट्टावली में भी उक्त सिद्धसेन के विषय में उज्जयिनी के महाकाल-मन्दिर में लिंगस्फोटनादि-सम्बन्धी घटना का उल्लेख मिलता है।

१०. इन हेतुओं में एक हेतु मैं भी जोड़ देना चाहता हूँ, वह यह कि दिगम्बराचार्य जटासिंहनन्दी ने 'वरांगचरित' में सन्मतिसूत्र की अनेक गाथाओं को संस्कृत पद्यों में रूपान्तरित किया है।

ये हेतु सन्मतिसूत्रकार सिद्धसेन को दिगम्बराचार्य सिद्ध करनेवाले दृढ़ प्रमाण हैं। (अध्याय १८ / प्र.१)।

घ—द्वात्रिंशद्द्वात्रिंशिका ३२-३२ पद्यों की ३२ कृतियों का संग्रह है, जिनमें से २१ उपलब्ध हैं।

१. इनमें से पहली, दूसरी और पाँचवीं द्वात्रिंशिकाओं में युगपद्वाद (केवली के दर्शनोपयोग और ज्ञानोपयोग के युगपद् होने का मत) स्वीकार किया गया है। अतः इनके कर्ता उपयोग-अभेदवादी सन्मतिसूत्रकार सिद्धसेन नहीं हो सकते। (अध्याय १८ / प्र.१ / शी.५.२)। ये किसी अन्य दिगम्बर सिद्धसेन की कृतियाँ हैं।

२. उन्नीसवीं निश्चयद्द्वात्रिंशिका एकोपयोगवाद-विरोधी और युगपद्वादी है, अतः एकोपयोगवादी सन्मतिसूत्रकार सिद्धसेन की कृति नहीं है। इसके अतिरिक्त इसमें मति-ज्ञान और श्रुतज्ञान तथा अवधिज्ञान एवं मनःपर्ययज्ञान में अभेद माना गया है। दर्शन-ज्ञान-चारित्र को पृथक्-पृथक् मोक्षमार्ग स्वीकार किया गया है तथा धर्म, अधर्म और आकाश द्रव्यों का अस्तित्व भी अमान्य किया गया है। ये मान्यताएँ भी सन्मतिसूत्रकार सिद्धसेन की मान्यताओं के विरुद्ध हैं। अतः इस 'निश्चयद्द्वात्रिंशिका' के कर्ता कोई और सिद्धसेन हैं। (अध्याय १८ / प्र.१ / शी. ५.३ से ५.८)।

उक्त 'निश्चयद्द्वात्रिंशिका' के अंत में उसके कर्ता सिद्धसेन को द्वेष्य-श्वेतपट विशेषण दिया गया है, जिसका अर्थ है द्वेषयोग्य (शत्रु माने जाने योग्य) श्वेताम्बर।

यह विशेषण उनकी जैनसिद्धान्तविरोधी मान्यताओं के कारण उनके ही सम्प्रदाय के किसी असहिष्णु विद्वान् के द्वारा दिया गया जान पड़ता है, अतः यह १९वीं द्वात्रिंशिका किसी श्वेताम्बर सिद्धसेन की है।

३. इक्कीसवीं द्वात्रिंशिका भी किसी श्वेताम्बर सिद्धसेन द्वारा रचित है। (अध्याय १८/प्र.१/शी.४)। उपसंहार करते हुए मुख्तार जी लिखते हैं कि प्रथमादि पाँच द्वात्रिंशिकाओं को (उपयोग-युगपद्वादी) दिगम्बर सिद्धसेन की, १९वीं तथा २१वीं द्वात्रिंशिकाओं को श्वेताम्बर सिद्धसेन की और शेष द्वात्रिंशिकाओं को दोनों में से किसी भी सम्प्रदाय के सिद्धसेन की अथवा दोनों ही सम्प्रदायों के सिद्धसेनों की अलग-अलग कृति कहा जा सकता है। (अध्याय १८/प्र.१/शी.१०)।

ङ—डॉ० सागरमल जी का कथन है कि पंचम द्वात्रिंशिका (३६) में यशोदा के साथ भगवान् महावीर के विवाह का उल्लेख है, जिससे सिद्ध होता है कि सिद्धसेन श्वेताम्बर थे। (जै.ध.या.स./पृ.२२८)। किन्तु 'पञ्चम द्वात्रिंशिका' में उपयोग-युगपद्वाद का प्रतिपादन है, जो सन्मतिसूत्रकार के उपयोग-अभेदवाद के विरुद्ध है। अतः वह उनकी कृति नहीं है। इसलिए उसमें महावीर के विवाह का उल्लेख होने से यह सिद्ध नहीं होता कि सन्मतिसूत्रकार सिद्धसेन श्वेताम्बर थे। (अध्याय १८/प्र.२)।

डॉ० सागरमल जी ने और भी अनेक हेत्वाभासों के द्वारा पं० जुगलकिशोर जी मुख्तार के निर्णयों का विरोध किया है। उनका निरसन अष्टादश अध्याय के द्वितीय प्रकरण में द्रष्टव्य है।

च—सन्मतिसूत्रकार सिद्धसेन का समय—सिद्धसेन ने सन्मतिसूत्र में छठी शती ई० (वि० सं० ५६२) के निर्युक्तिकार भद्रबाहु-द्वितीय द्वारा पुरस्कृत उपयोग-क्रमवाद का खण्डन किया है और सिद्धसेन के उपयोग-अभेदवाद का खण्डन ७वीं शती ई० (विक्रम की ७वीं शताब्दी के उत्तरार्ध) के भट्ट अकलंकदेव ने 'तत्त्वार्थराजवार्तिक' में और इसी समय के जिनभद्रगणि-क्षमाश्रमण ने 'विशेषावश्यकभाष्य' (वि० सं० ६६६) में किया है। अतः सन्मतिसूत्रकार का समय ईसा की छठी और सातवीं सदी का मध्य है (अध्याय १८/प्र.१/शी.६,७)। पूज्यपाद देवनन्दी ने जैनेन्द्रव्याकरण में जिन सिद्धसेन का उल्लेख किया है, वे सन्मतिसूत्रकार सिद्धसेन नहीं हैं, अपितु तीसरी और नौवीं द्वात्रिंशिका के कर्ता सिद्धसेन हैं। वे पूज्यपाद देवनन्दी से पहले हुए हैं। किन्तु उनसे पहले उपयोगद्वय के क्रमवाद तथा अभेदवाद के कोई पुरस्कर्ता नहीं हुए हैं, हुए होते तो पूज्यपाद अपनी सर्वार्थसिद्धि में सनातन से चले आये युगपद्वाद का प्रतिपादनमात्र करके ही न रह जाते, बल्कि उसके विरोधी वाद अथवा वादों का खण्डन जरूर करते। (अध्याय १८/प्र.१/शी.७.१)।

□ सन्मतिसूत्रकार सिद्धसेन के यापनीयत्व का निरसन

डॉ० ए० एन० उपाध्ये और उनका अनुसरण करनेवाली श्रीमती डॉ० कुसुम पटोरिया ने सन्मतिसूत्रकार सिद्धसेन को यापनीयपरम्परा का सिद्ध करने का प्रयत्न किया है। किन्तु उनके द्वारा प्रस्तुत सभी हेतु हेतुत्वाभास हैं, अतः यह सिद्ध नहीं होता कि वे यापनीयपरम्परा के थे। उनके द्वारा प्रस्तुत हेतु और उनका निरसन अष्टादश अध्याय के सप्तम प्रकरण में दर्शनीय है।

□ उत्तरभारतीय-सचेलाचेल-निर्ग्रन्थसंघ के आचार्य होने का निरसन

डॉ० सागरमल जी ने सन्मतिसूत्रकार सिद्धसेन को न श्वेताम्बर माना है, न यापनीय, अपितु स्वकल्पित उत्तरभारतीय-सचेलाचेल-निर्ग्रन्थसंघ का आचार्य बतलाया है। किन्तु द्वितीय अध्याय के तृतीय प्रकरण में सिद्ध किया गया है कि इस संघ या परम्परा का अस्तित्व ही नहीं था। इसलिए सन्मतिसूत्रकार एक अस्तित्वहीन परम्परा के आचार्य नहीं हो सकते।

अध्याय ११—रविषेणकृत पद्मपुराण

आचार्य रविषेणकृत पद्मपुराण (पद्मचरित) को मूलतः श्रीमती डॉ० कुसुम पटोरिया ने और उनसे प्रेरणा पाकर डॉ० सागरमल जी ने यापनीयसम्प्रदाय का ग्रन्थ घोषित किया है। श्रीमती पटोरिया द्वारा प्रस्तुत हेतु एवं उनका निरसन नीचे द्रष्टव्य हैं—

१. हेतु—रविषेण ने अपनी गुरुपरम्परा में 'इन्द्र' का उल्लेख किया है। यापनीय-आचार्य पाल्यकीर्ति शाकटायन ने भी अपने शाकटायनसूत्र-पाठ में 'इन्द्र' के मत की चर्चा की है। इससे सिद्ध होता है कि इन्द्र यापनीय हैं, अतः उनके प्रशिष्य रविषेण भी यापनीय हैं।

निरसन—पद्मपुराण में यापनीयमत-विरोधी सिद्धान्तों के प्रतिपादन से सिद्ध है कि वह यापनीयग्रन्थ नहीं है। अतः उसके कर्ता रविषेण भी यापनीय नहीं हैं। इसलिए उनके इन्द्र, दिवाकरयति आदि गुरुओं का भी यापनीय होना असंभव है।

२. हेतु—रविषेण ने रामकथा की परम्परागतता पर प्रकाश डालते हुए सुधर्मा के बाद श्वेताम्बरपरम्परा के प्रभवस्वामी को उसका प्राप्त होना बतलाया है। यह उनके यापनीय होने का लक्षण है।

निरसन—रविषेण ने पद्मपुराण की रचना श्वेताम्बर विमलसूरि के 'पउमचरिय' के आधार पर की है। उन्होंने 'पउमचरिय' का दिगम्बरीकरण किया है, किन्तु वे

आरम्भ में प्रभवस्वामी के स्थान में जम्बूस्वामी का नाम रखना भूल गये। यह भूल उन्होंने पद्मपुराण (भाग ३) के अन्त में सुधार ली है। अतः उनके यापनीय होने की संभावना निरस्त हो जाती है।

३. हेतु—रविषेण ने दिगम्बरपरम्परा में प्रचलित गुणभद्रवाली कथा न अपनाकर श्वेताम्बर विमलसूरि-प्रणीत कथा अपनायी है। इससे उनके यापनीय होने की पुष्टि होती है।

निरसन—रविषेण ने पद्मपुराण में यापनीयमत-विरोधी सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया है, यह इस बात का अखण्ड्य प्रमाण है कि वे यापनीयपरम्परा के नहीं, बल्कि दिगम्बरपरम्परा के हैं। उन्होंने श्वेताम्बर विमलसूरि-प्रणीत कथा का दिगम्बरीकरण किया है, यह उनके दिगम्बर होने का स्पष्ट प्रमाण है।

४. हेतु—रविषेण की कथा को यापनीय स्वयम्भू द्वारा अपनाया जाना भी रविषेण को यापनीय मानने का एक महत्त्वपूर्ण कारण है।

निरसन—‘पउमचरिउ’ के कर्ता स्वयम्भू यापनीय नहीं, दिगम्बर थे, इसके प्रमाण द्वाविंश अध्याय में अवलोकनीय हैं।

५. हेतु—रविषेण के पद्मपुराण में कई उल्लेख दिगम्बर-परम्परा के विपरीत हैं, जैसे गन्धर्वदेवों को मद्यपी तथा यक्ष-राक्षसादि को कवलाहारी मानना। इससे भी उनके यापनीय होने का विश्वास होता है।

निरसन—ये मान्यताएँ यापनीयमत की हैं, यह तो तभी कहा जा सकता है, जब किसी यापनीयग्रन्थ में उपलब्ध हों। यापनीयपरम्परा के तीन ही ग्रन्थ उपलब्ध हैं—‘स्त्रीनिर्वाणप्रकरण’, ‘केवलिभुक्तिप्रकरण’ एवं ‘शाकटायन-व्याकरण’। इनमें उपर्युक्त मान्यताएँ उपलब्ध नहीं हैं। और पद्मपुराण यापनीयग्रन्थ नहीं है, यह उसमें प्रतिपादित यापनीयमत-विरुद्ध सिद्धान्तों से सिद्ध है। अतः उपर्युक्त मान्यताएँ दिगम्बरमत के विरुद्ध अवश्य हैं, पर वे यापनीयमत की हैं, यह सिद्ध नहीं होता। अतः यही निर्णीत होता है कि हरिषेण ने दिगम्बर होते हुए भी लोक-मान्यताओं और इतर सम्प्रदायों की मान्यताओं से प्रभावित होकर उनका समावेश पद्मपुराण में कर दिया है।

इस तरह पद्मपुराण को यापनीयग्रन्थ सिद्ध करने के लिए प्रस्तुत किये गये उपर्युक्त पाँचों हेतु मिथ्या हैं। इसके विपरीत निम्नलिखित हेतु सिद्ध करते हैं कि हरिषेणकृत पद्मपुराण दिगम्बरग्रन्थ है—

१. पद्मपुराण में एकमात्र दिगम्बरलिंग को ही मुनिलिंग बतलाया गया है, वस्त्र-पात्रादिधारी साधुओं को कुलिंगी कहकर यापनीयमान्य सवस्त्र अपवादलिंग अस्वीकार किया गया है।

२. वस्त्रमात्र-परिग्रहधारी गृहत्यागी पुरुष को 'क्षुल्लक' संज्ञा दी गयी है और इस तरह स्पष्ट किया गया है कि ऐसा पुरुष 'मुनि' संज्ञा का पात्र नहीं है।

३. यापनीयों को मान्य गृहस्थमुक्ति, परतीर्थिकमुक्ति और स्त्रीमुक्ति का स्पष्ट शब्दों में निषेध किया गया है।

४. सोलह कल्प स्वीकार किये गये हैं, चार अनुयोगों के नाम दिगम्बरमतनुसार वर्णित हैं, आहारदान की विधि दिगम्बर-परम्परानुसार बतलायी गयी हैं, दाता के यहाँ पंचाश्चर्य किये जाने का कथन है, जो दिगम्बरपरम्परा का अनुसरण है।

ये समस्त तथ्य यापनीयमत के विरुद्ध हैं। ये इस बात के अकाट्य प्रमाण हैं कि रविषेणकृत पद्मपुराण दिगम्बरग्रन्थ है, यापनीयग्रन्थ नहीं।

अध्याय २०—वराङ्गचरित

डॉ० सागरमल जी ने जटासिंहनन्दि-कृत 'वराङ्गचरित' को भी यापनीयसम्प्रदाय के खाते में डाल दिया है और निम्नलिखित हेतुओं से इसकी पुष्टि करने का प्रयत्न किया है, जो सभी निरस्त हो जाते हैं—

१. हेतु—वराङ्गचरित (२३/२९) में वस्त्रान्नदानं श्रवणार्थिकाभ्यः इन शब्दों से कहा गया है कि राजा वराङ्ग ने श्रावकों (श्रवणों) और आर्थिकाओं को वस्त्र और आहार का दान किया। यहाँ प्रूफ की अशुद्धि से 'श्रमण' शब्द के स्थान में 'श्रवण' छप गया है, ऐसी कल्पना कर डॉ० सागरमल जी ने कहा है कि इस श्लोक में श्रमणों को वस्त्रदान का कथन है, जिससे सिद्ध है कि यह ग्रन्थ साधुओं के सवस्त्र अपवादलिंग को मान्यता देता है, अतः यापनीय-सम्प्रदाय का है।

निरसन—श्रवणार्थिकाभ्यः में प्रूफ की अशुद्धि नहीं है, अपितु 'श्रवण' शब्द का ही प्रयोग हुआ है, जिसका अर्थ है श्रावक। उक्त श्लोक में जिनालय के निर्माण आदि में सहयोग करनेवाले श्रावकों को वस्त्रान्नदान का कथन किया गया है, श्रमणों को नहीं। अतः इसे यापनीयग्रन्थ सिद्ध करने के लिए प्रस्तुत किया गया हेतु मिथ्या है।

२. हेतु—वराङ्गचरित (२९/९३-९४) में राजा वराङ्ग की वराङ्गियों (वराङ्ग्यः=सुन्दर रानियों) की आर्थिकादीक्षा का वर्णन करते हुए कहा गया है कि वराङ्गियों ने सुन्दर आभूषण त्याग दिये और श्वेत-शुभ वस्त्र धारणकर जिनेन्द्रमार्ग में अभिरत हो गयीं। यहाँ रानियों के वाचक वराङ्ग्यः पद को राजा वराङ्ग का वाचक मानकर डॉ० सागरमल जी ने तर्क दिया है कि 'वराङ्गचरित' में राजा वराङ्ग मुनिदीक्षा ग्रहण करते समय श्वेत वस्त्र धारण करते हैं। यापनीयपरम्परा में मुनिदीक्षा ग्रहण करनेवाले राजा आदि के

लिए सवस्त्र अपवादलिंग का विधान है। अतः सिद्ध है कि वरांगचरित यापनीयपरम्परा का ग्रन्थ है।

निरसन—वरांगियों के कथन को राजा वरांग का कथन मान लेना डॉ० सागरमल जी के संस्कृतभाषा से अनभिज्ञ होने का परिणाम है। अतः वरांगचरित को यापनीयग्रन्थ मानने का यह हेतु मिथ्या है।

३. हेतु—हरिवंशपुराण के कर्ता जिनसेन यापनीय-आचार्य थे। उन्होंने जटासिंहनन्दी का आदरपूर्वक उल्लेख किया है, अतः वे भी यापनीय रहे होंगे।

निरसन—हरिवंशपुराण के कर्ता आचार्य जिनसेन यापनीय नहीं, अपितु दिगम्बर थे, यह एकविंश (२१वें) अध्याय में सिद्ध किया गया है। अतः जटासिंहनन्दी को यापनीय सिद्ध करने के लिए प्रस्तुत यह हेतु असत्य है।

४. हेतु—कन्नड़ कवि जन्न ने जटासिंहनन्दी को काणूरुगण का बताया है। यह यापनीयपरम्परा का गण था। अतः जटासिंहनन्दी यापनीय थे।

निरसन—काणूरुगण यापनीयपरम्परा का नहीं, अपितु दिगम्बरपरम्परा का गण था। (देखिये, अध्याय ७/प्र.३/शी.४)।

५. हेतु—कोप्पल में जटासिंहनन्दी के चरणचिह्न हैं। संभवतः यहाँ उनका समाधिमरण हुआ होगा। कोप्पल यापनीयों का मुख्यपीठ था। अतः जटासिंहनन्दी के यापनीय होने की प्रबल संभावना है।

निरसन—इस (२० वें) अध्याय के प्रथम प्रकरण में सिद्ध किया गया है कि वरांगचरित में यापनीयमत-विरुद्ध सिद्धान्तों का प्रतिपादन है। इससे सिद्ध है कि जटासिंहनन्दी दिगम्बर थे। अतः उपर्युक्त हेतु हेत्वाभास है।

६. हेतु—यापनीयपरम्परा में मुनि के लिए 'यति' शब्द का प्रयोग अधिक प्रचलित रहा है। वरांगचरित में भी 'यति' शब्द का व्यवहार प्रचुरता से हुआ है। इससे ज्ञात होता है कि यह यापनीयसम्प्रदाय का ग्रन्थ है।

निरसन—'यति' शब्द का प्रयोग दिगम्बरपरम्परा में भी मुनियों के लिए बहुशः हुआ है। अतः उपर्युक्त हेतु हेत्वाभास है।

७. हेतु—जटासिंहनन्दी ने वरांगचरित में प्रकीर्णक आदि श्वेताम्बरग्रन्थों का अनुसरण किया है। यह उनके यापनीयसम्प्रदाय से सम्बद्ध होने का सूचक है।

निरसन—श्वेताम्बरग्रन्थों का नहीं, अपितु दिगम्बरग्रन्थों का अनुसरण किया है। (देखिये, अध्याय २०/प्र.२/शी.६)। अतः उक्त हेतु असत्य है।

८. हेतु—वरांगचरित में श्वेताम्बराचार्य विमलसूरि के 'पउमचरियं' का अनुकरण किया गया है। यह वरांगचरित के यापनीयग्रन्थ होने का प्रमाण है।

निरसन—वरांगचरित में ईसा की पाँचवीं शती में हुए श्वेताम्बराचार्य विमलसूरि के पउमचरियं का नहीं, अपितु ईसापूर्वोत्तर प्रथम शती में हुए आचार्य कुन्दकुन्द का अनुसरण किया गया है। (देखिये, अध्याय २०/प्र.२/शी.७)।

९. हेतु—कल्पों की संख्या बारह मानी गयी है, जो श्वेताम्बरों और यापनीयों की मान्यता है।

निरसन—दिगम्बरपरम्परा में भी कल्पों की संख्या बारह और सोलह दोनों मानी गयी है। (देखिये, अध्याय १७/प्र.१/शी.८)। अतः उपर्युक्त हेतु साधारणानैकान्तिक हेत्वाभास है।

१०. हेतु—वरांगचरित में जन्मना वर्णव्यवस्था का निषेधकर कर्मणा वर्णव्यवस्था मानी गयी है, जब कि दिगम्बरपरम्परा में जन्मना वर्णव्यवस्था मान्य है। इससे जटासिंहनन्दी यापनीय सिद्ध होते हैं।

निरसन—दिगम्बरपरम्परा में भी कर्मणा वर्णव्यवस्था मानी गयी है, जन्मना नहीं। अतः जटासिंहनन्दी को यापनीय सिद्ध करने के लिए प्रस्तुत किया गया उपर्युक्त हेतु असत्य है। (देखिये, अध्याय २०/प्र.२/शी.९)।

इन समस्त हेतुओं के निरसन के बाद वे प्रमाण उपस्थित किये जा रहे हैं, जिनसे सिद्ध होता है कि वरांगचरित दिगम्बरपरम्परा का ही ग्रन्थ है—

१. वरांगचरित में केवलिभुक्ति, वैकल्पिक सवस्त्रमुक्ति, स्त्रीमुक्ति एवं अन्यलिङ्गिमुक्ति का निषेध किया गया है, जो यापनीयमत के आधारभूत सिद्धान्त हैं।

२. वरांगचरित में महावीर के विवाह की मान्यता भी अस्वीकार की गई है, जब कि यापनीयमान्य श्वेताम्बर-आगमों में महावीर के विवाह होने की बात कही गई है।

३. वरांगचरित में जो पाँच महाव्रतों की भावनाएँ वर्णित हैं, वे दिगम्बर-आगमों का अनुसरण करती हैं और यापनीयमान्य श्वेताम्बर-तत्त्वार्थाधिगमभाष्य में वर्णित भावनाओं से भिन्न हैं।

४. वरांगचरित में मुनि के लिए बाह्य और आभ्यन्तर दोनों प्रकार के परिग्रह का त्याग आवश्यक बतलाया गया है। यह सिद्धान्त यापनीयों द्वारा मान्य वैकल्पिक सवस्त्रमुक्ति के विरुद्ध है।

५. वरांगचरित में स्वतंत्र काल द्रव्य की सत्ता स्वीकार की गई है, जब कि यापनीय-मान्य श्वेताम्बर-आगम उसे अमान्य करते हैं।

६. वरांगचरित में चौदह गुणस्थानों का कथन है। यह सिद्धान्त यापनीयों की गृहस्थमुक्ति एवं अन्यलिंगमुक्ति की मान्यताओं के विरुद्ध है।

७. वरांगचरित में दिगम्बरमत के अनुरूप प्रथमानुयोग शब्द का प्रयोग किया गया है। यापनीयमान्य श्वेताम्बरसाहित्य में उसके स्थान पर धर्मकथानुयोग शब्द प्रयुक्त हुआ है।

८. वरांगचरित में वेदत्रय की स्वीकृति है, जब कि यापनीयमत केवल एक ही वेदसामान्य मानता है।

अध्याय २१—हरिवंशपुराण

श्रीमती डॉ० कुसुम पटोरिया एवं डॉ० सागरमल जी ने पुन्नाटसंघीय आचार्य जिनसेन के हरिवंशपुराण पर भी यापनीयसम्प्रदाय की मुद्रा अंकित कर दी है और निम्नलिखित हेतुओं से इसकी पुष्टि का प्रत्यक्ष किया है, जो सब निरस्त हो जाते हैं—

१. हेतु—बृहत्कथाकोशकार हरिषेण पुन्नाटसंघी थे। उन्होंने कथाकोश में स्त्री-मुक्ति और गृहस्थमुक्ति का स्पष्ट उल्लेख किया है, अतः उन्हें यापनीय होना चाहिए। हरिवंशपुराण के कर्ता जिनसेन भी पुन्नाटसंघी थे, अतः इन्हें भी यापनीय ही होना चाहिए।

निरसन—जिनसेन और हरिषेण दोनों ने क्रमशः अपने हरिवंशपुराण एवं बृहत्कथाकोश में स्त्रीमुक्ति, सवस्त्रमुक्ति, गृहस्थमुक्ति आदि यापनीयसिद्धान्तों का निषेध किया है, अतः दोनों यापनीय नहीं थे, अपितु दिगम्बर थे। अतः उनका पुन्नाटसंघ भी दिगम्बरों का ही संघ था, यापनीयों का नहीं। (देखिये, अध्याय २१/प्र. १ तथा अध्याय २३/शी. १-३)।

२. हेतु—हरिवंशपुराण के कथनानुसार राजा सिद्धार्थ के भगिनीपति राजा जितशत्रु कुमार महावीर के साथ अपनी कन्या यशोदा का विवाह करना चाहते थे। इससे भी हरिवंशपुराणकार का यापनीय होना सिद्ध होता है।

निरसन—हरिवंशपुराणकार ने राजा जितशत्रु के मन की इच्छा सूचित कर अपनी ओर से कहा है—“परन्तु कुमार महावीर तप के लिए चले गये और केवलज्ञान प्राप्त कर जगत् के कल्याण के लिए पृथ्वी पर विहार करने लगे।” (हरिवंशपुराण ६६/८-

९)। इस कथन से स्पष्ट है कि हरिवंशपुराण के कर्ता जिनसेन भगवान् महावीर के विवाह की मान्यता के विरोधी हैं, अतः वे यापनीय नहीं हैं।

३. हेतु—हरिवंशपुराण में सग्रन्थमुक्ति और अन्यलिङ्गमुक्ति के भी निर्देश प्राप्त होते हैं।

निरसन—यह कथन सर्वथा मिथ्या है। प्रमाण के लिए प्रस्तुत ग्रन्थ के २१वें अध्याय में प्रथम प्रकरण के शीर्षक १ से ४ दर्शनीय हैं।

४. हेतु—हरिवंशपुराणकार ने ग्रन्थ के आरंभ में समन्तभद्र, देवन्दी आदि दिगम्बराचार्यों के साथ सिद्धसेन आदि श्वेताम्बर तथा इन्द्र (नन्दी), वज्रसूरि, रविषेण, वराङ्ग आदि यापनीय आचार्यों का आदरपूर्वक उल्लेख किया है। इससे यही सिद्ध होता है कि हरिवंशपुराण के कर्ता जिनसेन उदार यापनीयपरम्परा से सम्बद्ध रहे होंगे।

निरसन—इनमें से न तो सिद्धसेन श्वेताम्बर थे, न ही वराङ्गचरित के कर्ता जटासिंहनन्दी तथा इन्द्र, वज्रसूरि, रविषेण आदि यापनीय थे। ये सभी दिगम्बर थे। यह प्रस्तुत ग्रन्थ के अध्याय क्र. १८, १९ एवं २० में सिद्ध किया गया है। अतः हरिवंशपुराणकार को यापनीय सिद्ध करने के लिए प्रयुक्त किया उपर्युक्त हेतु असत्य है।

५. हेतु—हरिवंशपुराण में आर्यिकाओं का स्पष्टरूप से उल्लेख मिलता है। आर्यिकासंघ की व्यवस्था भी यापनीय है।

निरसन—दिगम्बरपरम्परा में भी आर्यिकासंघ की व्यवस्था है। (देखिये, अध्याय २१/प्र.२/क्र.५)।

६. हेतु—हरिवंशपुराण में श्वेताम्बरपरम्परा में उपलब्ध अंगप्रविष्ट और अंगबाह्य श्रुत के भेदों का उल्लेख है। श्वेताम्बरों के अतिरिक्त यापनीय ही इन ग्रन्थों को प्रमाण मानते थे। अतः हरिवंशपुराणकार यापनीय सिद्ध होते हैं।

निरसन—श्रुत के ये भेद दिगम्बरपरम्परा में भी प्रमाण माने गये हैं। हरिवंश-पुराण में इनके नामों का उल्लेख श्वेताम्बरसाहित्य के अनुसार न होकर दिगम्बर-परम्परा के तत्त्वार्थराजवार्तिक, धवलाटीका आदि के अनुसार हुआ है। इससे सिद्ध है कि हरिवंशपुराण दिगम्बर-परम्परा का ही ग्रन्थ है। (देखिये, अध्याय २१/प्र.१/शी.८/क्र.४)।

७. हेतु—हरिवंशपुराण के ६०वें सर्ग में कृष्ण की आठों पटरानियों-सहित अनेक स्त्रियों के दीक्षित होने का उल्लेख है, जो उसके यापनीयग्रन्थ होने की संभावना को पुष्ट करता है।

निरसन—दगम्बरसम्प्रदाय में भगवान् ऋषभदेव के समय से ही आर्यिकादीक्षा की परम्परा चली आ रही है। हरिवंशपुराण में कृष्ण की आठों पटरानियों की आर्यिका-दीक्षा का वर्णन है, किन्तु उनमें से किसी की भी स्त्रीपर्याय से मुक्ति नहीं बतलायी गयी है। सबके विषय में यह कहा गया है कि वे अगले भव में देव होंगी, तत्पश्चात् मनुष्यभव में पुरुष होकर मोक्ष प्राप्त करेंगी। (हरिवंशपुराण/६०/५३-५४)। यह कथन हरिवंशपुराण को दिगम्बरग्रन्थ सिद्ध करता है।

८. हेतु—हरिवंशपुराण के उल्लेखानुसार नन्दिषेण मुनि रुग्णमुनि का वेश धारण करके आये हुए देव को उसका मनोवांछित भोजन लाकर देते हैं। यह आचरण दिगम्बर-मुनि के अनुकूल न होकर श्वेताम्बरमुनि के अनुकूल है। अतः श्वेताम्बरपरम्परा को मानना हरिवंशपुराण के यापनीय होने का सबसे बड़ा प्रमाण है।

निरसन—हरिवंशपुराण में स्त्रीमुक्तिनिषेध, सवस्त्रमुक्तिनिषेध जैसे यापनीयमत-विरोधी सिद्धान्तों का प्रतिपादन है। इससे सिद्ध है कि वह यापनीयग्रन्थ नहीं, अपितु दिगम्बरग्रन्थ है। अतः परिस्थिति-विशेष में किसी मुनि के द्वारा रुग्ण मुनि के लिए आहार लाकर दिया जाना या दिलाया जाना दिगम्बरमत के प्रतिकूल नहीं है। (देखिये, अध्याय २१/प्र.२/शी.८)।

९. हेतु—हरिवंशपुराण में नारद को दो स्थानों पर चरमशरीरी कहा गया है। नारद को चरमशरीरी अथवा स्वर्गगामी मानना श्वेताम्बर-आगमिक-परम्परा है। चूँकि यापनीय श्वेताम्बर-आगमों को स्वीकार करते थे, अतः हरिवंशपुराण यापनीयग्रन्थ सिद्ध होता है।

निरसन—यद्यपि नारद के चरमशरीरी होने का कथन दिगम्बरपरम्परा के विरुद्ध है, तथापि हरिवंशपुराण में स्त्रीमुक्ति, सवस्त्रमुक्ति, केवलभुक्ति आदि सभी यापनीय-सिद्धान्तों का निषेध है, जिससे यह सुनिश्चित है कि वह दिगम्बरग्रन्थ है, यापनीयग्रन्थ नहीं।

१०. हेतु—हरिवंशपुराण के अनुसार नरक में विद्यमान श्रीकृष्ण का जीव सम्यग्दृष्टि होते हुए भी सम्यग्दृष्टि बलदेव के जीव से भरतक्षेत्र में कृष्ण और बलदेव की पूजा का प्रचार करने के लिए कहता है। बलदेव का जीव वैसा ही करता है। यह सम्यग्दर्शन के प्रतिकूल होने से हरिवंशपुराण के यापनीयग्रन्थ होने की पुष्टि करता है।

निरसन—यद्यपि श्रीकृष्ण के मुख से उक्त कथन कराया जाना दिगम्बरपरम्परा के अनुकूल नहीं है, तथापि हरिवंशपुराण में प्रतिपादित सभी सिद्धान्त यापनीयमत-विरोधी हैं, जैसे स्त्रीमुक्ति, सवस्त्रमुक्ति, केवलभुक्ति आदि का निषेध। इसलिए इस तथ्य में सन्देह के लिए रंचमात्र भी अवकाश नहीं है कि वह दिगम्बरग्रन्थ है।

इस प्रकार हरिवंशपुराण को यापनीयग्रन्थ सिद्ध करने के लिए रखे गये सभी हेतु निरस्त हो जाते हैं। अब वे प्रमाण प्रस्तुत किये जा रहे हैं, जिनसे सिद्ध होता है कि हरिवंशपुराण सर्वथा दिगम्बरग्रन्थ है—

१. हरिवंशपुराण में यापनीयों को मान्य स्त्रीमुक्ति, आपवादिक सवस्त्रमुक्ति, गृहस्थमुक्ति, परतीर्थिकमुक्ति और केवलिभुक्ति का निषेध करनेवाले प्रचुर उल्लेख मिलते हैं।

२. भाववेदत्रय और वेदवैषम्य को स्वीकार करते हुए भाववेद की अपेक्षा तीनों वेदों से, किन्तु द्रव्यवेद की अपेक्षा केवल पुंल्लिङ्ग से ही मुक्ति का प्रतिपादन किया गया है। यह यापनीयमत के विरुद्ध है।

३. आम्यन्तर और बाह्य दोनों प्रकार के परिग्रह का त्याग अनिवार्य बतलाया गया है, कल्पों की संख्या सोलह तथा अनुदिश नामक नौ स्वर्ग भी स्वीकार किये गये हैं। तीर्थकरप्रकृतिबन्ध की हेतुभूत सोलह भावनाएँ ही वर्णित हैं, बीस नहीं। इसी प्रकार के और भी अनेक यापनीयमत-विरुद्ध सिद्धान्तों का निरूपण हरिवंशपुराण में उपलब्ध होता है।

४. हरिवंशपुराणकार जिनसेन ने अपने को दिगम्बरगुरुपरम्परा से सम्बद्ध बतलाया है।

५. दिगम्बर-ग्रन्थकारों का ही गुणकीर्तन किया है।

६. हरिवंशपुराण की विषयवस्तु दिगम्बराचार्य-रचित ग्रन्थों से अनुकृत की गयी है।

अध्याय २२—स्वयम्भूकृत पउमचरिउ

पं० नाथूराम प्रेमी ने लिखा है कि पुष्पदन्त ने महापुराण के स्वयंभू शब्द के टिप्पण में स्वयंभू को आपुलीसंधीय बतलाया है, इसलिए वे यापनीयसम्प्रदाय के अनुयायी जान पड़ते हैं। श्रीमती डॉ० कुसुम पटोरिया का कथन है—“श्री एच० सी० भायाणी भी लिखते हैं कि यद्यपि इस सन्दर्भ में हमें स्वयंभू की ओर से कोई प्रत्यक्ष या परोक्ष वक्तव्य नहीं मिलता है, परन्तु यापनीय सग्रन्थ-अवस्था तथा परशासन से भी मुक्ति स्वीकार करते थे और स्वयंभू अधिक उदारचेता थे, अतः इन्हें यापनीय माना जा सकता है।”

श्रीमती पटोरिया ने ‘पउमचरिउ’ को यापनीयकृति सिद्ध करने लिए उसमें यापनीयमत के किसी भी मौलिक सिद्धान्त का उल्लेख होना नहीं बतलाया, केवल

ऐसी बातों का उल्लेख होना बतलाया है, जो दिगम्बरमत के विरुद्ध हैं, और उन्हें ही यापनीय-सिद्धान्त मान लिया है, जब कि उनके यापनीयसिद्धान्त होने का कोई प्रमाण नहीं है।

डॉ० सागरमल जी ने श्रीमती पटोरिया द्वारा प्रस्तुत हेतुओं के आधार पर ही 'पउमचरिउ' को यापनीयग्रन्थ सिद्ध करने का प्रयत्न किया है, एक-दो हेतु अपनी तरफ से भी जोड़े हैं। श्रीमती पटोरिया द्वारा बतलाये गये प्रमुख हेतु और उनका निरसन नीचे प्रस्तुत किया जा रहा है—

१. हेतु—पउमचरिउ में राम के लिए प्रयुक्त पद्म नाम दिगम्बरपरम्परानुसारी नहीं है। अतः उनके लिए 'पद्म' नाम का प्रयोग करनेवाले रविषेण और स्वयंभू यापनीय-परम्परा के सिद्ध होते हैं।

निरसन—दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनों परम्पराओं में पद्म और राम भिन्न-भिन्न बलदेवों के नाम हैं। स्वयं श्वेताम्बराचार्य विमलसूरि ने पद्म और राम को एक-दूसरे से भिन्न बतलाया है, फिर भी उन्होंने राम के लिए 'पद्म' नाम का प्रयोग किया है और दिगम्बराचार्य रविषेण तथा स्वयंभू ने भी ऐसा ही किया है। इससे सिद्ध होता है कि दिगम्बर-श्वेताम्बर-भेद से पहले जैनपरम्परा में 'पद्म' नाम भी राम के लिए प्रसिद्ध था। यतः यह नाम राम के लिए दिगम्बर-श्वेताम्बर, दोनों परम्पराओं में प्रयुक्त हुआ है, अतः यह यापनीयग्रन्थ का असाधारणधर्म नहीं है। फलस्वरूप यह 'पउमचरिउ' के यापनीय-ग्रन्थ होने का हेतु नहीं है।

२. हेतु—देवकी के तीन युगलों के रूप में छह पुत्र कृष्ण के जन्म से पूर्व हुए थे, जिन्हें हरिणोगमेसि देव ने सुलसा गाथापत्नी के पास स्थानान्तरित कर दिया था। स्वयंभू के रिदुणेमिचरिउ का यह कथानक श्वेताम्बर-आगम अन्तकृतदशा में यथावत् उपलब्ध होता है। स्वयंभू द्वारा श्वेताम्बर-आगम का यह अनुसरण उन्हें यापनीय सिद्ध करता है। (जै. ध. या. स. / पृ. १८२)।

निरसन—जिनसेनकृत हरिवंशपुराण, हरिषेणकृत बृहत्कथाकोश तथा गुणभद्रकृत उत्तरपुराण, ये तीनों दिगम्बरग्रन्थ हैं। इनमें भी नैगमदेव का देवकी-पुत्रों के रक्षकरूप में उल्लेख है। अतः इसका उल्लेख होना श्वेताम्बरग्रन्थ का आसाधारणधर्म नहीं है। इसलिए स्वयंभू-कृत 'रिदुणेमिचरिउ' में इसका उल्लेख होना उसके यापनीयग्रन्थ होने का हेतु नहीं है।

३. हेतु—स्वयंभू ने 'पउमचरिउ' के कथास्रोत का उल्लेख करते हुए क्रमशः महावीर, गौतम, सुधर्म, प्रभव, कीर्ति और रविषेण का उल्लेख किया है। यहाँ श्वेताम्बराचार्य प्रभव को स्थान देना इस मत की पुष्टि करता है कि स्वयंभू यापनीय थे।

निरसन—दिगम्बराचार्य रविषेण ने पद्मपुराण की रचना श्वेताम्बराचार्य विमलसूरि के पउमचरिय के आधार पर की है, अतः उन्होंने भूल से आचार्य प्रभव का भी उल्लेख कर दिया है। और स्वयम्भू को रामकथा की प्राप्ति रविषेण से हुई है, अतः उन्होंने भी रविषेण का अनुकरण कर आचार्य प्रभव का नाम रख दिया है। किन्तु इससे वे यापनीय सिद्ध नहीं होते, क्योंकि उन्होंने 'पउमचरिउ' में स्त्रीमुक्ति-निषेध, सवस्त्रमुक्ति-निषेध आदि यापनीयमत-विरोधी सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया है। (देखिये, अध्याय २२ / प्र. १)।

४. हेतु—स्वयम्भू ने भगवान् के चलने पर पैरों के नीचे देवनिर्मित कमलों के रखे जाने को एक अतिशय बताया है—'पण्णारहकमलायत्त-पाउ' (१,७/४) यह भी श्वेताम्बरमान्यता है, जो पउमचरिउ के यापनीय होने की सूचक है।

निरसन—भगवान् का देवनिर्मित कमलों के ऊपर चलना दिगम्बरों में भी मान्य है। स्वामी समन्तभद्रकृत आप्तमीमांसा के 'देवागमनभोयान' इस प्रथम श्लोक की टीका में आचार्य वसुनन्दी लिखते हैं—'नभसि गगने हेममयाम्भोजोपरि यानं नभोयानम्।' अतः 'पउमचरिउ' में इसका उल्लेख उसके यापनीयग्रन्थ होने का सूचक नहीं है।

५. हेतु—तीर्थकर का मागधी भाषा में उपदेश देना श्वेताम्बर-मान्यता है। दिगम्बरपरम्परा के अनुसार समवशरण में तीर्थकर की दिव्यध्वनि खिरती है, जो सर्वभाषा-रूप होती है। पउमचरिउ में तीर्थकर के मागधी भाषा में उपदेश देने की श्वेताम्बर-मान्यता का उल्लेख उसके यापनीयग्रन्थ होने का लक्षण है।

निरसन—दिगम्बरपरम्परा में भी तीर्थकर के द्वारा मागधी भाषा में उपदेश दिये जाने का कथन उपलब्ध होता है। (देखिये, श्रुतसागरटीका / दंसणपाहुड / गा.३५)। अतः 'पउमचरिउ' में इसका उल्लेख श्वेताम्बरमान्यता का उल्लेख सिद्ध नहीं होता।

६. हेतु—'पउमचरिउ' में यक्षराक्षसादि का रात्रिभोजन, १६वें स्वर्ग में स्थित सीता का तीसरी पृथ्वी (नरक) तक गमन, भगवान् अजितनाथ को म्लान कमल के दर्शन से वैराग्य होना, भगवान् महावीर के द्वारा चरणाग्र से मेरु का कम्पित किया जाना, इत्यादि बातों का उल्लेख दिगम्बरमान्यता के विरुद्ध है। अतः वह यापनीयग्रन्थ है।

निरसन—ये मान्यताएँ दिगम्बरमत के विरुद्ध अवश्य हैं, किन्तु ये यापनीय-मान्यताएँ हैं, इसका कोई प्रमाण नहीं है। अतः इनके उल्लेख से पउमचरिउ यापनीयग्रन्थ सिद्ध नहीं होता। इसके अतिरिक्त पउमचरिउ में सवस्त्रमुक्ति, स्त्रीमुक्ति आदि यापनीयमान्यताओं का निषेध है, जिससे उसके यापनीयग्रन्थ न होकर दिगम्बरग्रन्थ होने में सन्देह के लिए स्थान नहीं रहता।

डॉ० सागरमल जी ने प्रो० एच० सी० भायाणी के इस वचन के आधार पर कि 'स्वयंभू अधिक उदारचेता थे' एक प्रमुख हेतु यह जोड़ा है कि स्वयंभू के ग्रन्थों में अन्यतैर्थिकमुक्ति की अवधारणा को स्वीकार किया गया है। यह हेतु सर्वथा असत्य है। अतः यह भी 'पउमचरिउ' के दिगम्बरग्रन्थ होने का अपलाप नहीं कर सकता।

इस प्रकार श्रीमती डॉ० कुसुम पटोरिया एवं डॉ० सागरमल जी ने स्वयंभूकृत पउमचरिउ को यापनीयग्रन्थ सिद्ध करने के लिए जितने हेतु उपस्थित किये हैं, वे सब निरस्त हो जाते हैं। अब वे प्रमाण प्रस्तुत किये जा रहे हैं जिनसे यह निर्णय होता है कि स्वयंभूकृत पउमचरिउ दिगम्बरपरम्परा का ही ग्रन्थ है—

१. 'पउमचरिउ' के कथावतार की पद्धति दिगम्बरीय है, श्वेताम्बरीय नहीं। यह उसके दिगम्बरग्रन्थ होने का प्रमाण है।

२. 'पउमचरिउ' में तीर्थकरमाता मरुदेवी के द्वारा सोलह स्वप्न देखे जाने का वर्णन है। श्वेताम्बरपरम्परा में केवल चौदह स्वप्नों की मान्यता है। यह 'पउमचरिउ' के दिगम्बरग्रन्थ होने का दूसरा प्रमाण है। यापनीयपरम्परा में सोलह स्वप्न मान्य हैं, इसका कोई प्रमाण नहीं है। यापनीय श्वेताम्बर-आगमों को ही मानते थे, अतः उन्हें भी चौदह स्वप्न ही मान्य हो सकते हैं।

३. जिस कैकयी को विमलसूरि ने 'पउमचरियं' में मोक्ष की प्राप्ति बताई है, उसे स्वयंभू ने मोक्ष की प्राप्ति न बताकर मात्र देवत्व का प्राप्त होना बतलाया है। केवली भगवान् राम सीता के जीव अच्युतेन्द्र को बतलाते हैं कि उसे मनुष्यभव में पुरुषपर्याय से ही मोक्ष की प्राप्ति होगी। पउमचरिउ में ये स्त्रीमुक्तिनिषेध के प्रमाण हैं। इसका एक महत्वपूर्ण प्रमाण यह भी है कि सीता की अग्निपरीक्षा के बाद जब राम उनसे घर चलने का आग्रह करते हैं, तब वे विनम्रतापूर्वक अस्वीकार कर देती हैं और कहती हैं कि अब मैं ऐसा काम करना चाहती हूँ, जिससे मुझे दुबारा स्त्री न बनना पड़े, मैं जन्म, जरा और मरण का अन्त करूँगी। स्त्रीमुक्तिनिषेध के ये उल्लेख स्वयंभू के दिगम्बर होने के अकाट्य प्रमाण हैं।

४. 'पउमचरिउ' में परशासन से मुक्ति का प्रतिपादन नहीं, बल्कि निषेध किया गया है। इसका प्रमाण यह है कि जब जिनवचनों से विमुख राजा स्वयंभू जिनधर्मानुयायी श्रीभूति से उसकी वेदवती नामक कन्या को माँगता है, तब श्रीभूति कहता है मैं अपनी सोने जैसी बेटी मिथ्यादृष्टि को कैसे दे दूँ? इससे स्पष्ट है कि पउमचरिउ के कर्ता स्वयंभू जिनशासन न माननेवाले को मिथ्यादृष्टि मानते हैं और मिथ्यादृष्टि मोक्ष का अधिकारी नहीं है, इससे सिद्ध है कि वे परशासन से मुक्ति के समर्थक नहीं हैं। यह उनके दिगम्बर होने का एक और प्रमाण है।

५. स्वयंभू सग्रन्थ अवस्था से भी मुक्ति के समर्थक नहीं हैं। 'पउमचरिउ' में सग्रन्थमुक्ति के उल्लेख का एक भी उदाहरण नहीं है। पुरुषों के द्वारा सर्वत्र निर्ग्रन्थदीक्षा लिये जाने का ही वर्णन है और निर्ग्रन्थ का अर्थ वस्त्ररहित ही बतलाया गया है।

६. 'पउमचरिउ' में कहा गया है कि भगवान् ऋषभदेव ने चौदह गुणस्थानों पर आरूढ़ होते हुए मोक्ष प्राप्त किया था तथा अपनी दिव्यध्वनि से भी गुणस्थानों का उपदेश दिया था। यह कथन श्वेताम्बर और यापनीय मतों के विरुद्ध है, क्योंकि उनमें गुणस्थानसिद्धान्त मान्य नहीं है।

इन प्रमाणों से दो टूक निर्णय हो जाता है कि स्वयंभूकृत पउमचरिउ दिगम्बर-परम्परा का ही ग्रन्थ है।

अध्याय २३—बृहत्कथाकोश

यह दिगम्बरपरम्परा का ग्रन्थ है, क्योंकि इसमें स्त्रीमुक्ति, सवस्त्रमुक्ति, गृहस्थमुक्ति और अन्यलिंगमुक्ति का, जो यापनीयमत के सिद्धान्त हैं, स्पष्टतः निषेध किया गया है। (देखिये, अध्याय २३)। फिर भी श्रीमती डॉ० कुसुम पटोरिया और डॉ० सागरमल जी ने इस ग्रन्थ को यापनीयपरम्परा का ग्रन्थ माना है, क्योंकि उनके अनुसार इसमें स्त्रीमुक्ति और गृहस्थमुक्ति का प्रतिपादन है। इसके समर्थन में उनके द्वारा उपस्थित किये गये हेतुओं का निरसन आगे किया जा रहा है—

१. हेतु—बृहत्कथाकोशगत 'अशोकरोहिणी-कथानक' (क्र.५७) के निम्नलिखित श्लोक में स्त्रीमुक्ति का प्रतिपादन किया गया है—

एवं करोति यो भक्त्या नरो रामा महीतले।

लभते केवलज्ञानं मोक्षं च क्रमतः स्वयम्॥ २३५॥

अनुवाद—“इस विधि से जो पुरुष या स्त्री भक्तिपूर्वक रोहिणीव्रत (रोहिणी नक्षत्र में उपवास) का अनुष्ठान करती है, उसे क्रम से केवलज्ञान और मोक्ष प्राप्त होता है।”

निरसन—यहाँ क्रमतः (क्रम से अर्थात् परम्परया) शब्द का प्रयोग महत्त्वपूर्ण है। इस शब्द का प्रयोग कर स्त्री की तद्भवमुक्ति का निषेध किया गया है और रोहिणीव्रत के अनुष्ठान द्वारा अर्जित पुण्य से स्वर्ग में देवपद की प्राप्ति तथा वहाँ से च्युत होकर मनुष्यभव में पुरुषपद प्राप्त कर संयम की साधना द्वारा मोक्ष प्राप्ति का कथन किया गया है।

इसी वचन के अनुसार 'अशोक रोहिणी-कथानक' की नायिका पूतिगन्धा को पहले रोहिणीव्रत एवं श्राविकाव्रत के फलस्वरूप अच्युतस्वर्ग के देव की महादेवी और

उसके बाद राजा अशोक की रोहिणी नामक महारानी होते हुए बतलाया गया है। तत्पश्चात् आर्थिकादीक्षा लेकर दुष्कर तप एवं सल्लेखनाविधि से देहत्याग करने पर वह देवगति एवं पुरुषवेद का बन्ध कर अच्युतस्वर्ग में दिव्यबुन्दीधर देव होती है। इस तरह वह सम्यग्दृष्टि देव की उस भूमिका में आ जाती है, जहाँ से च्युत होकर उसका मनुष्यगति में पुरुष होना अनिवार्य है। इससे उसके लिए दैगम्बरी दीक्षा लेकर मुक्ति प्राप्त करने का द्वार खुल जाता है। (देखिये, अशोक-रोहिणी-कथानक / श्लोक ४५९-४६०, ४६५-४६६, ५८२-५८४)।

इसी क्रम से रुक्मिणी के भी मोक्ष पाने का वर्णन बृहत्कथाकोश के 'लक्ष्मीमती-कथानक' (क्र. १०८ / श्लोक १२४-१२६) में किया गया है। सम्पूर्ण बृहत्कथाकोश में स्त्रीपर्याय से पुरुषपर्याय प्राप्त करके ही मोक्ष होने का कथन है, किसी भी स्त्री की तद्भवमुक्ति का कथन नहीं है। इससे स्पष्ट है कि उपर्युक्त यापनीयपक्षधर विदुषी एवं विद्वान् ने क्रमतः शब्द की अनदेखी कर और पूतिगन्था (रोहिणी) तथा रुक्मिणी के स्त्रीपर्याय को छोड़कर पुरुषपर्याय पाने के कथनों को ताक पर रखकर हल्ला मचाया है कि बृहत्कथाकोश में स्त्रीमुक्ति का प्रतिपादन है, इसलिए वह यापनीयग्रन्थ है। उपर्युक्त प्रमाणों से सिद्ध है कि वह यापनीयग्रन्थ नहीं, अपितु दिगम्बरग्रन्थ है।

२. हेतु—बृहत्कथाकोश में रुक्मिणी को तीर्थकरगोत्र का बन्ध होना बतलाया गया है—'बद्ध्वा तीर्थङ्करं गोत्रं' (लक्ष्मीमतीकथानक / क्र. १०८ / श्लोक १२५)। यह दिगम्बरमत के प्रतिकूल और श्वेताम्बर तथा यापनीय मतों के अनुकूल है। इससे सिद्ध है कि बृहत्कथाकोश यापनीयग्रन्थ है।

निरसन—यह सत्य है कि स्त्री को तीर्थकरनामकर्म के बन्ध का उल्लेख दिगम्बर-मत के प्रतिकूल है, तथापि रुक्मिणी की मुक्ति स्त्रीपर्याय से न बतलाकर पुरुषपर्याय से बतलायी गयी है और भविष्य में उसके तीर्थकर होने का भी कथन नहीं किया गया है। यह तथ्य इस निष्कर्ष पर पहुँचाता है कि रुक्मिणी के तीर्थकरप्रकृतिबन्ध का कथन या तो प्रक्षिप्त है अथवा सिद्धान्तग्रन्थों के गहन अनुशीलन के अभाव में हरिषेण ने अनभिज्ञतावश वैसा लिख दिया है। किन्तु उनके द्वारा स्त्रीपर्याय से मुक्ति का निषेध इस बात का अकाट्य प्रमाण है कि बृहत्कथाकोश यापनीयपरम्परा का नहीं, अपितु दिगम्बरपरम्परा का ग्रन्थ है।

३. हेतु—अशोक-रोहिणी-कथानक (क्र. ५७ / श्लोक ५८२) में रोहिणी महारानी के द्वारा सर्वपरिग्रहत्याग किये जाने का उल्लेख है। यह दिगम्बरमत के अनुकूल नहीं है, अपितु श्वेताम्बर और यापनीय मतों के अनुकूल है। अतः बृहत्कथाकोश यापनीयग्रन्थ है।

निरसन—दिगम्बरग्रन्थ भगवती-आराधना की 'इत्थीवि य जं लिंगं दिट्ठं' इत्यादि गाथा (८०) और उसकी विजयोदयाटीका में आर्यिकाओं के एकसाड़ीरूप अल्पपरिग्र-हात्मक लिंग को सर्वपरिग्रहत्यागरूप उत्सर्गलिंग कहा गया है। (देखिये, अध्याय १३/ प्र.३/ शी.५)। अतः रोहिणी महारानी के द्वारा सर्वपरिग्रहत्याग किये जाने का उल्लेख दिगम्बरमत के सर्वथा अनुकूल है। इसलिए बृहत्कथाकोश यापनीयग्रन्थ सिद्ध नहीं होता।

४. हेतु—अशोक-रोहिणी-कथानक के निम्नलिखित श्लोक में गृहस्थमुक्ति का कथन है, जो यापनीयमत का सिद्धान्त है—

अणुव्रतधरः कश्चिद् गुणशिक्षाव्रतान्वितः।

सिद्धिभक्तो ब्रजेत्सिद्धिं मौनव्रतसमन्वितः॥ ५६७॥

अनुवाद—“कोई सिद्धिभक्त (सिद्धि चाहनेवाला) अणुव्रतादिधारी श्रावक भी यदि मौनव्रत की साधना करता है, तो वह सिद्धि को प्राप्त होता है।”

निरसन—यहाँ 'सिद्धि' का अर्थ 'मोक्ष' नहीं है, अपितु 'इच्छित लौकिक पदार्थ की प्राप्ति' है। मोक्षरूप सिद्धि की प्राप्ति तो जैनेन्द्रीदीक्षा (दैगम्बरी दीक्षा) लेने से बतलायी गयी है—“दीक्षामादाय जैनेन्द्रीं सिद्धिं याति स नीरजाः” (अशोक-रोहिणी-कथानक/ क्र.५७/ श्लोक ५५८)। 'यशोधर-चन्द्रमती-कथानक' (क्र.७३/ श्लोक २३७-२३८, २९९) में सुदत्त मुनि दो राजकुमारों को पहले क्षुल्लकदीक्षा देते हैं, पश्चात् दैगम्बरीदीक्षा। इससे सिद्ध है कि हरिषेण क्षुल्लकदीक्षा से भी मोक्ष की प्राप्ति संभव नहीं मानते, तब गृहस्थ-अवस्था से मुक्ति मानने का तो प्रश्न ही नहीं उठता। हरिषेण ने बृहत्कथाकोश के 'भद्रबाहुकथानक (क्र.१३१/ श्लोक ६२-६८) में श्वेताम्बर-स्थविर-कल्प (सचेललिंग) को शिथिलाचारी अर्धफालक साधुओं के द्वारा कल्पित बतलाते हुए वस्त्रधारण को मुक्ति में बाधक एवं नग्नत्व को मुक्ति का साधक सिद्ध किया है। इन प्रमाणों से सिद्ध है कि हरिषेण को गृहस्थमुक्ति कदापि मान्य नहीं है। अतः उपर्युक्त 'अणुव्रतधरः कश्चिद्' इत्यादि श्लोक बृहत्कथाकोश के यापनीयग्रन्थ होने का हेतु नहीं है।

५. हेतु—बृहत्कथाकोशगत 'अशोक-रोहिणी-कथानक' (क्र.५७) के निम्न-लिखित श्लोक में समस्त संघ को वस्त्रादिदान करने का उपदेश दिया गया है—

ततः समस्तसङ्घस्य देहिभिर्भक्तितत्परैः।

देयं वस्त्रादिदानं च कर्मक्षयनिमित्ततः॥ ५५४॥

समस्त संघ में मुनि भी आ जाते हैं, अतः मुनियों के लिए वस्त्रदान का उल्लेख होने से बृहत्कथाकोश में वस्त्रमुक्ति को मान्यता दी गयी है। अतः यह यापनीयपरम्परा का ग्रन्थ है।

निरसन—इसी 'अशोक-रोहिणी-कथानक' के एक पूर्ववर्ती श्लोक में कहा गया है कि रोहिणीव्रत की समाप्ति पर चतुर्विधसंघ को यथायोग्य आहार, औषधि और वस्त्रादि का दान करना चाहिए—

पश्चादाहारदानं च भेषजं वसनादिकम्।
चतुर्विधस्य सङ्घस्य यथायोग्यं विधीयते ॥ २३४ ॥

यहाँ यथायोग्य शब्द के प्रयोग से स्पष्ट हो जाता है कि जो जिस वस्तु के दान के योग्य है, उसे उसी का दान किया जाना चाहिए। हरिषेण ने स्वयं श्रमणों को नग्नरूपी कहा है—'श्रमणा नग्नरूपिणः' (बृहत्कथाकोश / विष्णुकुमार-कथानक / क्र.११ / श्लोक ९)। अतः उनके अनुसार मुनियों को केवल आहार, भेषज, शास्त्र, वसतिका एवं अभय का दान किया जाना चाहिए। वस्त्रदान के पात्र केवल आर्यिकाएँ, क्षुल्लक-क्षुल्लिकाएँ तथा एलक हैं। यह बात हरिषेण ने 'अशोक-रोहिणी-कथानक' (क्र.५७) के निम्नलिखित श्लोकों में स्पष्ट कर दी है—

पञ्चमीपुस्तकं दिव्यं पञ्चपुस्तकसंयुतम्।
साधुभ्यो दीयते भक्त्या भेषजं च यथोचितम् ॥ ५३५ ॥

आहारदानमादेयं भक्तितो भेषजजादिकम्।
वस्त्राणि चार्थिकादीनां दातव्यानि मुमुक्षुभिः ॥ ५३६ ॥

अनुवाद—“मुमुक्षुओं के द्वारा रोहिणीव्रत की समाप्ति पर साधुओं को पाँच पुस्तकों-सहित पञ्चमी पुस्तक, भेषज एवं आहार का दान किया जाना चाहिए तथा आर्यिका आदि को वस्त्र भी दिये जाने चाहिए।”

इससे स्पष्ट हो जाता है कि उपर्युक्त 'ततः समस्तसङ्घस्य' इत्यादि श्लोक (५५४) में मुनियों के लिए वस्त्रदान का कथन नहीं है। अतः उसमें मुनियों को वस्त्रदान का कथन मानकर बृहत्कथाकोश को यापनीयग्रन्थ कहना उसका सम्यक् अध्ययन न करने का परिणाम है। बृहत्कथाकोश में सवस्त्रमुक्तिनिषेध के प्रचुर उल्लेख हैं। (देखिये, अध्याय २३ / शीर्षक ३)। उन पर भी ध्यान नहीं दिया गया।

६. हेतु—बृहत्कथाकोश की कथाएँ यापनीयग्रन्थ भगवती-आराधना पर आधारित हैं, अतः बृहत्कथाकोश भी यापनीयग्रन्थ है।

निरसन—भगवती-आराधना दिगम्बरग्रन्थ है, यह त्रयोदश अध्याय में सिद्ध किया जा चुका है। अतः इस आधार पर भी बृहत्कथाकोश दिगम्बरग्रन्थ ही सिद्ध होता है।

७. हेतु—हरिषेण पुन्नाटसंघीय थे और पुन्नाटसंघ यापनीयसंघ के अन्तर्गत था। अतः बृहत्कथाकोश यापनीयग्रन्थ है।

निरसन—पुन्नाटसंघ दिगम्बरसंघ के अन्तर्गत था, इस के प्रमाण हरिवंशपुराण नामक २१वें अध्याय (प्र.२/शी.१) में प्रस्तुत किये जा चुके हैं।

८. हेतु—सम्पूर्ण बृहत्कथाकोश में यापनीयमत के सिद्धान्तों का प्रतिपादन है, केवल उसके 'भद्रबाहुकथानक' (क्र.१३१) में काम्बलतीर्थ (श्वेताम्बरसम्प्रदाय) से यापनीयसंघ की उत्पत्ति बतलानेवाला 'ततः काम्बलिकात्तीर्थानून' इत्यादि श्लोक (८१) यापनीयमत-विरोधी है, अतः वह प्रक्षिप्त है।

निरसन—बृहत्कथाकोश में केवल उपर्युक्त श्लोक ही यापनीयमत-विरोधी नहीं है, अपितु सम्पूर्ण ग्रन्थ यापनीयमत-विरोधी सिद्धान्तों से भरा हुआ है। अतः उपर्युक्त श्लोक को प्रक्षिप्त मान लेने पर भी अन्य यापनीयमत-विरोधी सिद्धान्तों जैसे स्त्रीमुक्ति-निषेध, सवस्त्रमुक्तिनिषेध, गृहस्थमुक्तिनिषेध आदि की उपलब्धि बृहत्कथाकोश को यापनीयग्रन्थ सिद्ध नहीं होने देती। बृहत्कथाकोश में इन यापनीयमत-विरुद्ध सिद्धान्तों की उपलब्धि के प्रमाण प्रस्तुत ग्रन्थ के २३वें अध्याय में द्रष्टव्य हैं।

अध्याय २४—छेदपिण्ड, छेदशास्त्र एवं प्रतिक्रमण-ग्रन्थत्रयी

ये तीनों दिगम्बरपरम्परा के ग्रन्थ हैं, क्योंकि इनमें मुनियों के लिए वे ही २८ मूलगुण आवश्यक बतलाये गये हैं, जो दिगम्बरग्रन्थ 'प्रवचनसार' और 'मूलाचार' में निर्दिष्ट हैं। इनमें आचेलव्य प्रमुख मूलगुण है। यापनीयपरम्परा में यह मूलगुण नहीं माना गया है, क्योंकि इसके बिना भी इस परम्परा में मुनिपद की प्राप्ति एवं मुक्ति संभव बतलायी गयी है।

छेदपिण्ड

छेदपिण्ड में मुनियों के लिए दिगम्बरमान्य २८ मूलगुणों का पालन अनिवार्य बतलाया गया है और अचेलव्रत को भंग करने पर प्रायश्चित्त का विधान करते हुए कहा गया है—“जो मुनि किसी के द्वारा उपसर्ग किये जाने पर अथवा किसी रोग से ग्रस्त हो जाने पर अथवा दर्प के कारण गृहस्थ का अथवा अन्यतीर्थिक का लिंग (वेश) ग्रहणकर अचेलव्रत को भंग करता है, उसे क्रमशः 'खमण' (उपवास), 'षष्ठ' (छह भुक्तियों का त्याग) तथा 'मूल' नामक प्रायश्चित्त दिया जाना चाहिए।” (गाथा १२४-१२५)।

ऐसे ही प्रायश्चित्त का विधान 'छेदपिण्ड' की ६१वीं और ६२वीं गाथाओं में भी किया गया है। यथा—“जो निर्ग्रन्थव्रतधारी एक बड़ी कौड़ी, छोटी कौड़ी या पाँच

प्रकार के वस्त्रों (कोशज, कार्पासज, वल्कज, रोमज तथा चर्मज) में से किसी भी वस्त्र का अल्पपरिग्रह भी ग्रहण करता है, वह आलोचना, कायोत्सर्ग, नियमयुक्त उपवास तथा सप्रतिक्रमण उपवास का पात्र है।”

इस प्रकार ‘छेदपिण्ड’ में किसी रोग के होने पर भी मुनि का वस्त्रग्रहण आचेलक्य-मूलगुण या अपरिग्रहमहाव्रत के भंग का कारण होने से प्रायश्चित्त के योग्य माना गया है, जब कि यापनीयसम्प्रदाय में लज्जा या शीतादि के सहन में असमर्थ होने पर भी वस्त्रग्रहण की छूट है। इससे सिद्ध है कि ‘छेदपिण्ड’ दिगम्बरपरम्परा का ग्रन्थ है।

फिर भी डॉ० सागरमल जी ने छेदपिण्ड, छेदशास्त्र एवं प्रतिक्रमण-ग्रन्थत्रयी को यापनीयसम्प्रदाय के साहित्य में सम्मिलित किया है। उन्होंने छेदपिण्ड को यापनीयग्रन्थ मानने के पक्ष में जो हेतु प्रस्तुत किये हैं, उनका निरसन नीचे किया जा रहा है—

१. हेतु—इसमें श्रमणियों के लिए वे ही प्रायश्चित्त हैं, जो श्रमणों के लिए हैं। श्रमणियों के लिए मात्र पर्यायछेद, मूल, परिहार, दिनप्रतिभा और त्रिकालयोग नामक प्रायश्चित्तों का निषेध है। श्रमणों और श्रमणियों की इस समानता का प्रतिपादन छेदपिण्ड के यापनीयग्रन्थ होने का सूचक है।

निरसन—श्रमणियों के लिए जो पर्यायछेद, मूल, परिहार, दिनप्रतिभा और त्रिकालयोग नामक प्रायश्चित्तों का निषेध है, उससे सिद्ध होता है कि छेदपिण्ड ग्रन्थ में श्रमणियों को साधना की दृष्टि से श्रमणों के तुल्य स्वीकार नहीं किया गया है। यह उनके तद्भवमुक्ति-योग्य न होने की घोषणा है। अतः छेदपिण्ड यापनीयग्रन्थ नहीं है।

२. हेतु—छेदपिण्ड के कर्ता इन्द्रनन्दी काणूरुगण के थे। काणूरुगण यापनीयसंघ का गण था। अतः इन्द्रनन्दी यापनीयसम्प्रदाय के आचार्य थे। इससे सिद्ध है कि छेदपिण्ड यापनीयपरम्परा का ग्रन्थ है।

निरसन—काणूरुगण दिगम्बरसंघ (मूलसंघ) का ही गण था। यह यापनीयसंघ का इतिहास नामक सप्तम अध्याय (प्र.३/शी.४) में सप्रमाण दर्शाया गया है। अतः छेदपिण्ड दिगम्बरपरम्परा का ही ग्रन्थ है।

३. हेतु—आचार्य रविषेण ने पद्मचरित (पद्मपुराण) में अपनी गुरुपरम्परा में इन्द्र का उल्लेख किया है। रविषेण यापनीय थे, इसलिए उनके गुरु छेदपिण्डकर्ता इन्द्र का भी यापनीय होना स्वाभाविक है।

निरसन—रविषेण दिगम्बराचार्य थे, यह १९वें अध्याय में प्रमाणित किया जा चुका है। अतः यदि उनके गुरुओं के गुरु इन्द्र 'छेदपिण्ड' के कर्ता थे, तो उनका भी दिगम्बर होना सुनिश्चित है। इस प्रकार भी 'छेदपिण्ड' दिगम्बराचार्यकृत ही सिद्ध होता है।

४. हेतु—यापनीयसंघी पाल्यकीर्ति शाकटायन ने अपने सूत्रपाठ में इन्द्र का उल्लेख किया है। पाल्यकीर्ति यापनीय थे, अतः उनके गुरु इन्द्र भी यापनीय रहे होंगे।

निरसन—ये यापनीय हो सकते हैं, किन्तु 'छेदपिण्ड' के कर्ता नहीं, क्योंकि उसमें मुनियों के दिगम्बरसम्मत २८ मूलगुणों का वर्णन है, जो यापनीयमत के विरुद्ध है।

५. हेतु—गोम्मटसार के कर्ता आचार्य नेमिचन्द्र ने कर्मकाण्ड की गाथा क्र. ७८५ में इन्द्रनन्दी गुरु को नमस्कार किया है। संभवतः ये ही यापनीयसंघी और छेदपिण्ड के कर्ता थे।

निरसन—गोम्मटसार के कर्ता आचार्य नेमिचन्द्र ने जिन इन्द्रनन्दी गुरु को प्रणाम किया है, यदि उन्हें 'छेदपिण्ड' का कर्ता स्वीकार किया जाय, तो वे यापनीय किसी भी हालत में सिद्ध नहीं होते, क्योंकि दिगम्बर आचार्य नेमिचन्द्र का एक जैनाभासी (मिथ्यादृष्टि) को नमस्कार करना कभी भी संभव नहीं है।

६. हेतु—'छेदपिण्ड' में अनेक स्थलों पर 'कल्पव्यवहार' का निर्देश है। इस श्वेताम्बरीय ग्रन्थ के अनुसरण से सिद्ध है कि छेदपिण्ड यापनीयकृति है।

निरसन—कल्पव्यवहार, कल्पाकल्प, महाकल्प, प्रतिक्रमण आदि अंगबाह्य-श्रुत-सम्बन्धी ग्रन्थों का उल्लेख दिगम्बरग्रन्थों में भी है। 'छेदपिण्ड' में जिस 'कल्पव्यवहार' ग्रन्थ का उल्लेख है, वह श्वेताम्बरीय ग्रन्थ नहीं है, अपितु तन्नामक दिगम्बरग्रन्थ ही है, क्योंकि जिन श्वेतपटश्रमणों को छेदपिण्ड (गाथा २८) में पाषण्ड (मिथ्याधर्मप्ररूपक) संज्ञा दी गई हो, उन्हीं श्रमणों के लिए मान्य ग्रन्थ से किसी भी सामग्री का ग्रहण किया जाना संभव नहीं है। इससे सिद्ध है कि 'छेदपिण्ड' यापनीयकृति नहीं है।

७. हेतु—छेदपिण्ड और मूलाचार, दोनों की परम्परा समान प्रतीत होती है। यतः मूलाचार यापनीयपरम्परा का ग्रन्थ है, अतः छेदपिण्ड भी इसी परम्परा का है।

निरसन—मूलाचार दिगम्बरपरम्परा का ग्रन्थ है, यह १५वें अध्याय में सिद्ध किया जा चुका है। अतः छेदपिण्ड भी इसी परम्परा का ग्रन्थ सिद्ध होता है।

८. हेतु—छेदपिण्ड की गाथा ३०३ में स्पष्टरूप से कहा गया है कि 'देशयति' को संयत के प्रायश्चित्त का आधा देना चाहिए। 'देशयति' शब्द के प्रयोग से यह

प्रतीत होता है कि यह परम्परा एलक और क्षुल्लक को उत्कृष्ट श्रावक न मानकर श्रमणवर्ग के ही अन्तर्गत रखती है। यह छेदपिण्ड के यापनीयग्रन्थ होने का प्रमाण है।

निरसन—छेदपिण्ड की गाथा क्र. ३०३ में 'देशयति' शब्द 'देशविरत' (श्रावक) के ही अर्थ में प्रयुक्त है, 'श्रमण' के अर्थ में नहीं, यह उक्त गाथा और उसकी उत्तरवर्ती गाथाओं के विवरण से स्पष्ट हो जाता है। उत्तरवर्ती गाथाओं क्र. ३०५ एवं ३०६ में 'देशयति' के स्थान में 'देशविरदानं' (देशविरतानां) शब्द का प्रयोग कर यह बात स्पष्ट कर दी गयी है। अतः छेदपिण्ड यापनीयग्रन्थ नहीं, अपितु दिगम्बरग्रन्थ है।

छेदशास्त्र

इस ग्रन्थ की विषयवस्तु 'छेदपिण्ड' पर ही आधारित है। इसमें मुनियों के वे ही दिगम्बरमान्य २८ मूलगुण वर्णित हैं, जो छेदपिण्ड में वर्णित हैं तथा 'आचेलक्य' मूलगुण को भंग करने पर उन्हीं प्रायश्चित्तों का विधान किया गया है, जिनका छेदपिण्ड में है। डॉ० सागरमल जी ने भी स्वीकार किया है कि 'यदि इसे छेदपिण्ड का ही एक संक्षिप्तरूप कहा जाय, तो कोई अतिशयोक्ति नहीं होगी।' (जै.ध.या.स./पृ.१५४)। अतः डॉ० सागरमल जी ने जिन कारणों से छेदपिण्ड को यापनीयपरम्परा का ग्रन्थ माना है, उन्हीं कारणों से छेदशास्त्र को भी माना है। किन्तु यह ऊपर सिद्ध किया जा चुका है कि छेदपिण्ड दिगम्बरपरम्परा का ग्रन्थ है। अतः छेदपिण्ड का ही संक्षिप्तरूप होने से यह स्वतः सिद्ध है कि छेदशास्त्र भी दिगम्बरपरम्परा का ही ग्रन्थ है।

प्रतिक्रमण-ग्रन्थत्रयी

इसे आवश्यक (प्रतिक्रमणसूत्र) शीर्षक से निर्दिष्ट करते हुए डॉ० सागरमल जी 'जैनधर्म का यापनीय सम्प्रदाय' (पृ.१६०-१६५) ग्रन्थ में लिखते हैं कि वह उन्हीं निम्नलिखित कारणों से यापनीय-परम्परा का ग्रन्थ प्रतीत होता है—

१. इसकी विषयवस्तु का लगभग ८० प्रतिशत भाग वही है, जो श्वेताम्बरपरम्परा के आवश्यकसूत्र में है।

२. इसके टीकाकार प्रभाचन्द्र यापनीय थे।

३. इसमें 'रात्रिभोजन-विरमण' को सर्वत्र छोटे व्रत या अणुव्रत के रूप में उल्लिखित किया गया है। यह मान्यता श्वेताम्बरों में और भगवती-आराधना आदि यापनीयग्रन्थों में मिलती है।

४. इसमें श्वेताम्बर-आगम 'ज्ञाताधर्मकथांग' एवं 'सूत्रकृतांग' की गाथाएँ और विषयवस्तु प्राप्त होती है।

५. इसमें श्वेताम्बरीय दशवैकालिकसूत्र के प्रथम अध्याय की प्रथम गाथा उल्लिखित है।

वास्तविकता यह है कि इनमें से एक भी हेतु 'प्रतिक्रमण-ग्रन्थत्रयी' को यापनीय-ग्रन्थ सिद्ध करने में समर्थ नहीं है, क्योंकि उसमें ऐसे सिद्धान्तों को मान्यता दी गयी है, जो यापनीयमत के वस्त्रमुक्ति, स्त्रीमुक्ति, गृहस्थमुक्ति और परशासनमुक्ति, इन मौलिक सिद्धान्तों के विरुद्ध हैं। यथा—

१. 'प्रतिक्रमणग्रन्थत्रयी' (पृ.११५) में आचेलक्य आदि २८ गुण मुनि के मूलगुण अर्थात् आधारभूत, अनिवार्य गुण कहे गये हैं, जिससे मुनि के लिए आपवादिक सचेललिंग का निषेध हो जाता है, जब कि यापनीयमत में आपवादिक सचेललिंग मान्य है।

२. मोक्ष के लिए पाँच महाव्रतों का पालन आवश्यक बतलाया गया है, जिनमें अपरिग्रह महाव्रत के अन्तर्गत सूती, ऊनी, रेशमी आदि किसी भी प्रकार के वस्त्र का एक धागा भी रखने का निषेध किया गया है। (पृ.१२९-१३०)। इससे स्त्रीमुक्ति, गृहस्थमुक्ति एवं परतीर्थिकमुक्ति का निषेध हो जाता है, जो यापनीयमत के विरुद्ध है।

३. वस्त्र, भाण्ड (वर्तन) आदि दश प्रकार के बाह्य ग्रन्थ और मिथ्यात्वादि चौदह प्रकार के अभ्यन्तर ग्रन्थ, इन दोनों प्रकार के ग्रन्थों से रहित मनुष्य को निर्ग्रन्थ नाम दिया गया है (पृ.६१-६२) और कहा गया है कि सर्वज्ञप्रणीत आगम में निर्ग्रन्थलिंग को ही मोक्ष का हेतु बताया गया है। (पृ.६४-६९)। इससे सभी तरह के वस्त्रधारी स्त्री-पुरुषों की मुक्ति अमान्य हो जाती है, जब कि यापनीयमत में वस्त्रधारी स्त्री-पुरुषों की मुक्ति स्वीकार की गयी है।

४. अन्य मतों और अन्य लिंगों की प्रशंसा को अर्थात् उन्हें मोक्षमार्ग बतलाने को दर्शनाचार का परित्याग कहा गया है। (पृ.१६०-१६१)। यह यापनीयों के परशासन-मुक्ति के सिद्धान्त के विरुद्ध है।

प्रतिक्रमण-ग्रन्थत्रयी में इन यापनीयमत-विरुद्ध सिद्धान्तों का प्रतिपादन है, अतः सिद्ध है कि वह यापनीयग्रन्थ नहीं, अपितु दिगम्बरग्रन्थ है। इसलिए डॉ० सागरमल जी ने उसे यापनीयग्रन्थ सिद्ध करने के लिए जो हेतु सामने रखे हैं, वे असत्य हैं, अर्थात्—

१. भले ही प्रतिक्रमणग्रन्थत्रयी की विषयवस्तु का लगभग ८० प्रतिशत भाग श्वेताम्बरीय आवश्यकसूत्र से समानता रखता हो, किन्तु वह उससे गृहीत नहीं है, अपितु वह उस मूल निर्ग्रन्थपरम्परा से आया है, जो वर्तमान में दिगम्बरपरम्परा कहलाती है तथा जिससे श्वेताम्बर-परम्परा का उद्भव हुआ है। उसी से वे गाथाएँ आयी हैं, जिनका ज्ञाताधर्मकथांग, सूत्रकृतांग एवं दशवैकालिकसूत्र की गाथाओं से साम्य है। अतः

उक्त सामग्री श्वेताम्बरग्रन्थों से गृहीत न होने के कारण प्रतिक्रमण-ग्रन्थत्रयी यापनीयग्रन्थ नहीं है।

२. यतः प्रतिक्रमण-ग्रन्थत्रयी में प्रतिपादित विषय यापनीयमत-विरुद्ध है, अतः उसके टीकाकार प्रभाचन्द्र यापनीय नहीं हो सकते।

३. रात्रिभोजनविरमण को सर्वार्थसिद्धि, तत्त्वार्थराजवार्तिक, विजयोदयाटीका आदि दिगम्बरपरम्परा के ग्रन्थों में भी छठे व्रत के रूप में वर्णित किया गया है। (देखिये, अध्याय १४/प्र.२/शी.७)। अतः उसके उल्लेख से प्रतिक्रमण-ग्रन्थत्रयी यापनीयग्रन्थ सिद्ध नहीं होता।

इस प्रकार इस बात में सन्देह के लिए कोई स्थान नहीं रहता कि प्रतिक्रमण-ग्रन्थत्रयी दिगम्बरपरम्परा का ग्रन्थ है।

अध्याय २५—बृहत्प्रभाचन्द्रकृत तत्त्वार्थसूत्र

डॉ० सागरमल जी जैन ने बृहत्प्रभाचन्द्रकृत तत्त्वार्थसूत्र को केवल इसलिए यापनीयग्रन्थ माना है कि इसके अन्त में इति जिनकल्पिसूत्रं समाप्तम् लिखा है। उनके अनुसार यापनीयमत जिनकल्प (अचेललिंग) और स्थविरकल्प (सचेललिंग) में से जिनकल्प पर जोर देता था, उसी को सूचित करने के लिए यापनीय-आचार्य बृहत्प्रभाचन्द्र ने तत्त्वार्थसूत्र को 'जिनकल्पिसूत्र' नाम दिया है। डॉक्टर सा० की मान्यता है कि दिगम्बरपरम्परा में तो जिनकल्प और स्थविरकल्प मान्य ही नहीं है, अतः यह जिनकल्पिसूत्र दिगम्बरपरम्परा का नहीं है और श्वेताम्बरपरम्परा स्थविरकल्प को प्रधानता देती है, इसलिए वह श्वेताम्बरपरम्परा का भी नहीं है। (जै. ध. या. स./पृ. २०७)।

बृहत्प्रभाचन्द्रकृत तत्त्वार्थसूत्र को यापनीयग्रन्थ सिद्ध करने के लिए डॉक्टर सा० द्वारा प्रस्तुत उपर्युक्त हेतु सर्वथा असत्य है। निम्नलिखित प्रमाणों से सिद्ध होता है कि वह यापनीयग्रन्थ नहीं, अपितु दिगम्बरग्रन्थ है—

१. दिगम्बरपरम्परा में भी जिनकल्प और स्थविरकल्प मान्य हैं, किन्तु दोनों अचेललिंगी हैं। अन्तर केवल तप में है। (देखिये, अध्याय २/प्र.३/शी.३,२ एवं अध्याय १४/प्र.२/शी.८)। तथापि बृहत्प्रभाचन्द्र ने तत्त्वार्थसूत्र को 'जिनकल्पिसूत्र' नाम श्वेताम्बर-मान्य सचेल-स्थविरकल्प के प्रतिपक्षी अचेल-जिनलिंग की दृष्टि से दिया है। अर्थात् वे यह सूचित करना चाहते थे कि 'तत्त्वार्थसूत्र' जिनलिंगधारी (दिगम्बर) मुनियों के आचार का वर्णन करनेवाला ग्रन्थ है, सचेल-स्थविरकल्पी साधुओं के आचार का वर्णन करनेवाला नहीं।

२. उपर्युक्त तथ्य की पुष्टि के लिए बृहत्प्रभाचन्द्र ने अपने तत्त्वार्थसूत्र में एक नये सूत्र का समावेश किया है, वह है 'श्रमणानामष्टाविंशतिर्मूलगुणाः' (७/५) अर्थात् श्रमणों के २८ मूलगुण होते हैं। इनमें एक 'अचेलत्व' मूलगुण भी है, जो यापनीयमत में मूलगुण के रूप में मान्य नहीं है, क्योंकि उसमें अपवादरूप से वस्त्रधारण करनेवाला भी मुनि कहला सकता है और उस मत के अनुसार वह मोक्ष भी प्राप्त कर सकता है।

३. एक महत्त्वपूर्ण बात यह है कि बृहत्प्रभाचन्द्र ने अपने तत्त्वार्थसूत्र में उन परीषहसूत्रों को स्थान नहीं दिया, जो गृध्रपिच्छाचार्य-कृत तत्त्वार्थसूत्र में वर्णित हैं, क्योंकि उनमें 'एकादश जिने' सूत्र है, जिसे श्वेताम्बराचार्यों ने केवलि-कवलाहार का प्रतिपादक बतलाकर गृध्रपिच्छाचार्य-कृत तत्त्वार्थसूत्र को श्वेताम्बरपरम्परा का ग्रन्थ सिद्ध करने का प्रयत्न किया है। इससे सिद्ध है कि बृहत्प्रभाचन्द्र दिगम्बर थे। यदि वे यापनीय होते, तो अपने तत्त्वार्थसूत्र में परीषहसूत्रों को अवश्य रखते, क्योंकि 'एकादश जिने' सूत्र के आधार पर वे श्वेताम्बरों के समान केवली को कवलाहारी सिद्ध कर सकते थे।

ये तीन हेतु इस तथ्य के अखण्ड्य प्रमाण हैं कि बृहत्प्रभाचन्द्रकृत तत्त्वार्थसूत्र यापनीयपरम्परा का नहीं, अपितु दिगम्बरपरम्परा का ग्रन्थ है।

यहाँ ग्रन्थसार समाप्त होता है, इन प्रमाणसिद्ध तीन निर्णयों के साथ कि १. दिगम्बरजैनपरम्परा ईसाकाल, वैदिककाल और सिन्धुसभ्यताकाल, इन सभी से प्राचीन है। वह वैदिक-पुराणों के अनुसार द्वापरयुग और छठे मन्वन्तर में भी विद्यमान थी। तथा २. कसायपाहुड, षट्खण्डागम, भगवती-आराधना, मूलाचार, तत्त्वार्थसूत्र, सन्मत्तिसूत्र आदि ग्रन्थ न तो यापनीय-आचार्यों की कृतियाँ हैं, न श्वेताम्बराचार्यों की और न ही कपोलकल्पित उत्तरभारतीय-सचलाचेल-निर्ग्रन्थ-परम्परा के आचार्यों की, वे दिगम्बर-जैनाचार्यों की लेखनी से प्रसूत हुए हैं। और ३. आचार्य कुन्दकुन्द ने इस भारतभू को ईसापूर्व प्रथम शताब्दी के उत्तरार्ध से लेकर ईसोत्तर प्रथम शताब्दी के पूर्वार्ध तक अपने अस्तित्व से धन्य किया था।

संकेताक्षर-विवरण

अ.--- / प्र.---	अध्याय क्रमांक / प्रकरण क्रमांक।
अ.---/ प्र.---/ शी. ---	अध्याय क्रमांक / प्रकरण क्रमांक / शीर्षक क्रमांक।
अनु.	अनुच्छेद (पैराग्राफ)।
अभि. रा. को. /---/---	अभिधान राजेन्द्र कोष / भाग क्रमांक / पृष्ठ क्रमांक।
आ. ख्या.	आत्मख्याति व्याख्या।
आचारांग / ---/ ---/---/---	श्रुतस्कन्ध क्रमांक / अध्ययन क्रमांक / उद्देशक क्रमांक / सूत्र क्रमांक।
आव. चू. / उपो. निर्यु. / आव. सू. / पू. भा.	आवश्यकचूर्ण / उपोद्घातनिर्युक्ति / आवश्यकसूत्र / पूर्वभाग।
आव. निर्युक्ति	आवश्यकनिर्युक्ति
आ. वृ. / मूला.	आचारवृत्ति / मूलाचार।
आदि पु. / ---/---	आदिपुराण / पर्व क्रमांक / श्लोक क्रमांक।
आतुरप्रत्या.	आतुरप्रत्याख्यान।
आ. मी.	आप्तमीमांसा।
आव. सू. /---/---	आवश्यकसूत्र / आवश्यक क्रमांक / सूत्र क्रमांक।
इ. न. श्रुता.	इन्द्रनन्दिकृत श्रुतावतार।
इण्डि. ऐण्टि.	दि इण्डियन ऐण्टिक्वेरी।
इष्टो.	इष्टोपदेश।
ईशाद्यष्टो.	ईशाद्यष्टोत्तरशतोपनिषद्।
उत्त. सू. /---/---	उत्तराध्ययनसूत्र / अध्ययन क्रमांक / गाथा क्रमांक।
ऋग्वेद /---/---/---	मंडल क्रमांक / सूक्त क्रमांक / ऋचा-क्रमांक।

[एक सौ बयासी]

जैनपरम्परा और यापनीयसंघ / खण्ड १

क. पा.	कसायपाहुड।
कै. च. शास्त्री	सिद्धान्ताचार्य पं० कैलाशचन्द्र शास्त्री।
क्र.	क्रमांक।
गुण. सिद्धा. : एक वि.	गुणस्थान सिद्धान्त : एक विश्लेषण।
गो. क.	गोम्मटसार - कर्मकाण्ड।
गो. जी.	गोम्मटसार - जीवकाण्ड।
चा. पा.	चारित्तपाहुड।
छान्दोग्योपनिषद् /---/---/---	अध्याय क्र./ खण्ड क्र./ वाक्य क्र.।
ज. ध. / क.पा. / भा---	जयधवलाटीका / कसायपाहुड / भाग क्रमांक।
ज. ध. / क. पा. / भा. ---/ गा.---/ अनु. ---/ पृ. ---	जयधवला / कसायपाहुड / भाग क्रमांक / गाथा क्र / अनुच्छेद क्रमांक / पृष्ठ क्रमांक।
जाबालो.	जाबालोपनिषद्।
जी. त. प्र. / गो. क.	जीवतत्त्वप्रदीपिकावृत्ति / गोम्मटसार-कर्मकाण्ड।
जी. त. प्र. / गो. जी.	जीवतत्त्वप्रदीपिकावृत्ति / गोम्मटसार-जीवकाण्ड।
जै. आ. सा. म. मी.	जैन आगम साहित्य : मनन और मीमांसा।
जै. ध. मौ. इ.	जैनधर्म का मौलिक इतिहास।
जै. ध. या. स.	जैनधर्म का यापनीय सम्प्रदाय।
जै. शि. सं. / मा. च.	जैन-शिलालेख-संग्रह / माणिकचन्द्र दिगम्बर जैन ग्रन्थमाला समिति, मुंबई।
जै. शि. सं. / भा. ज्ञा.	जैन-शिलालेख-संग्रह / भारतीय ज्ञानपीठ।
जै. स. या. सं. प्र.	“जैन सम्प्रदाय के यापनीयसंघ पर कुछ और प्रकाश” (लेख)।
जै. सं. सं. सं. शोलापुर	जैन संस्कृति संरक्षक संघ, शोलापुर।
जै. सा. इ.	जैन साहित्य और इतिहास।
जै. सा. इ. —प्रेमी	जैन साहित्य और इतिहास—पं० नाथूराम प्रेमी।

संकेताक्षर-विवरण

[एक सौ तिरासी]

जै. सा. इ. (कै. च. शास्त्री)

जैनसाहित्य का इतिहास (सिद्धान्ताचार्य पं० कैलाश चन्द्र शास्त्री)।

जै. सा. इ. / पू. पी.

जैन साहित्य का इतिहास / पूर्वपीठिका।

जै. सा. इ. वि. प्र. / खं. १

जैन साहित्य और इतिहास पर विशद प्रकाश / प्रथमखंड।

जै. सि. को. / --- / ---

जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश / भाग क्रमांक / पृष्ठ क्रमांक।

जै. सा. बृ. इ. / ---

जैन साहित्य का बृहद् इतिहास / भाग क्रमांक।

जै. सि. भा. / भा. --- / कि. ---

जैन सिद्धान्त भास्कर / भाग क्रमांक / किरण क्रमांक।

डॉ. सा. म. जै. अभि. ग्र.

डॉ० सागरमल जैन अभिनन्दन ग्रन्थ।

त. नि. प्रा.

तत्त्वनिर्णयप्रासाद।

त. दी.

तत्त्वदीपिकावृत्ति।

तत्त्वा. भाष्य.

तत्त्वार्थाधिगमभाष्य।

त. भाष्यवृत्ति

तत्त्वार्थभाष्यवृत्ति।

त. र. दी. / षड्. समु. / --- / ---

तर्करहस्यदीपिका (गुणरत्नकृत टीका) / षड्दर्शन-समुच्चय / अधिकार-क्रमांक / पृष्ठक्रमांक।

त. र. वा. / --- / --- / ---

तत्त्वार्थराजवार्तिक / अध्याय क्रमांक / सूत्र क्रमांक / वार्तिक क्रमांक

त. सू. --- / ---

तत्त्वार्थसूत्र / अध्याय क्रमांक / सूत्र क्रमांक।

तत्त्वार्थ

तत्त्वार्थसूत्र।

त. सू. / वि. स.

तत्त्वार्थसूत्र / विवेचनसहित।

त. सू. जै. स.

तत्त्वार्थसूत्र-जैनागमसमन्वय।

ता. वृ.

तात्पर्यवृत्ति।

ति. प. / --- / ---

तिलोयपण्णती / महाधिकार क्रमांक / गाथा क्रमांक।

ती. म. आ. प. / ---

तीर्थकर महावीर और उनकी आचार्य-परम्परा / खण्ड क्रमांक।

दं. पा.

दंसणपाहुड।

[एक सौ चौरासी]

जैनपरम्परा और थापनीयसंघ / खण्ड १

द्र. सं.	द्रव्यसंग्रह ।
द्वि. सं.	द्वितीय संस्करण ।
दश. वै. सू.	दशवैकालिकसूत्र ।
दि.	दिगम्बर ।
धम्मपद-अट्टकथा / भा. --- / --- / ---	धम्मपद-अट्टकथा / भाग क्र. / वग क्र. / कथा क्र.
धवला / घ. खं. / पु. ---	धवलाटीका / षट्खण्डागम / पुस्तक क्रमांक ।
नि. सा.	नियमसार ।
न्यायदीपिका / --- / ---	प्रकाश क्रमांक / अनुच्छेद क्रमांक.
न्या. वा. वृ.	न्यायावतारवार्तिकवृत्ति ।
प. च. / --- / --- / --- / ---	पउमचरित / भाग क्र. / सन्धि क्र. / दोहासमूह क्र. / दोहा क्रमांक ।
प. पु. / --- / ---	पद्यपुराण (पद्यचरित) / भाग क्र. / पर्व क्र. / श्लोक क्र. ।
पद्ममहापुराण / --- / --- / --- / ---	भाग क्रमांक / खण्ड क्रमांक (भूमिखण्ड) / अध्याय क्रमांक / श्लोक क्रमांक ।
प. प्र. / --- / ---	परमात्मप्रकाश / महाधिकार क्रमांक / दोहा क्रमांक ।
परमा. प्र.	परमात्मप्रकाश ।
पं. का.	पञ्चास्तिकाय ।
पं. र. च. जै. मुख्तार : व्यक्ति. कृति.	पण्डित रतनचन्द्र जैन मुख्तार : व्यक्तित्व एवं कृतित्व ।
परि. पर्व	परिशिष्टपर्व ।
पा. टि.	पादटिप्पणी ।
पुरा. जै. वा. सू.	पुरातन-जैन-वाक्य-सूची ।
पु.	पुस्तक ।
पृ.	पृष्ठक्रमांक ।
प्र. सं.	प्रथम संस्करण ।
प्रव. परी. / --- / --- / ---	प्रवचनपरीक्षा / भाग क्रमांक (पूर्व या उत्तर) / विश्राम क्रमांक / गाथा क्रमांक ।

संकेताक्षर-विवरण

[एक सौ पचासी]

प्र. सा. /---/---	प्रवचनसार / अधिकार क्रमांक / गाथा क्रमांक।
प्रस्ता.	प्रस्तावना।
प्रा. सा. इ.	प्राकृत साहित्य का इतिहास।
बा. अ.	बारस अणुवेक्खा।
बा. अणु.	बारस अणुवेक्खा।
बृ. क. को.	बृहत्कथाकोश।
बृहत्कल्पसूत्र /---/---	उद्देशक्रमांक / सूत्रक्रमांक।
बृ. कल्प. / लघुभाष्यवृत्ति /---/---	बृहत्कल्पसूत्र / लघुभाष्यवृत्ति / उद्देशक्रमांक / गाथा- क्रमांक।
बृहदारण्यकोपनिषद् /---/---/---	अध्याय क्रमांक / ब्राह्मण क्रमांक / वाक्य क्रमांक।
बो. पा.	बोधपाहुड।
ब्रह्मसूत्र /---/---/---	अध्याय क्रमांक / पाद क्रमांक / सूत्र क्रमांक।
भ. आ.	भगवती-आराधना।
भट्टा. सम्प्र.	भट्टारकसम्प्रदाय।
भ. बा. च. /---/---	भद्रबाहुचरित / परिच्छेद क्रमांक / श्लोक क्रमांक।
भ. बा. क.	भद्रबाहुकथानक।
भा.	भाग।
भा. ज्ञा.	भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन दिल्ली / वाराणसी।
भा. पु. /---/---/---	भागवतपुराण / स्कन्ध क्रमांक / अध्याय क्रमांक / श्लोक क्रमांक या गद्यखण्ड क्रमांक।
भा. पा.	भावपाहुड।
भा. इ. ए. दृ.	भारतीय इतिहास : एक दृष्टि (डॉ० ज्योतिप्रसाद जैन)।
भा. सं. जै. ध. यो. दा.	भारतीय संस्कृति में जैनधर्म का योगदान।
महापुराण /---/---	सर्ग क्रमांक / श्लोक क्रमांक।

[एक सौ छियासी]

जैनपरम्परा और यापनीयसंघ / खण्ड १

महाभारत /---/---/---

पर्व क्रमांक / अध्याय क्रमांक / श्लोक क्रमांक।

मा. च.

माणिकचन्द्र दिगम्बर जैन ग्रन्थमाला समिति, बम्बई।

मूला.

मूलाचार।

मूला. / पू.

मूलाचार / पूर्वार्ध।

मूला. / उत्त.

मूलाचार / उत्तरार्ध।

मो. पा.

मोक्खपाहुड।

या. औ. उ. सा.

यापनीय और उनका साहित्य।

यु. अनु.

युक्त्यनुशासन।

यो. सा.

योगसार

र. क. श्रा.

रत्नकरण्डश्रावकाचार।

लिं. पा.

लिंङपाहुड।

वरांगचरित /---/---

सर्ग क्रमांक / श्लोक क्रमांक।

वायुपुराण /---/---

अध्याय क्रमांक / श्लोक क्रमांक।

वि. टी. / भ. आ.

विजयोदयाटीका / भगवती-आराधना।

विशे. भा.

विशेषावश्यकभाष्य।

विष्णुपुराण /---/---/---

अंश क्र. / अध्याय क्र. / श्लोक क्र.।

व्या. प्र. /---/---/---

व्याख्याप्रज्ञप्ति / शतक क्रमांक / उद्देशक क्रमांक / प्रश्नोत्तर क्रमांक

शो. प्र.

शोलापुर प्रकाशन।

श्र. भ. म.

श्रमण भगवान् महावीर।

श्वे.

श्वेताम्बर।

ष. ख. /---/---, ---, ---

षट्खण्डागम / पुस्तक क्रमांक / खण्ड क्रमांक, भाग क्रमांक, सूत्र क्रमांक।

षट्. परि.

षट्खण्डागम-परिशीलन।

स. सा. /---

समयसार / गाथा क्रमांक।

संकेताक्षर-विवरण

[एक सौ सतासी]

समवायांग /---/---

समवाय क्रमांक / सूत्र क्रमांक ।

स. तन्त्र

समाधितन्त्र (समाधिशतक) ।

सं. सा. इ.— ब. दे. उ.

संस्कृत साहित्य का इतिहास – बलदेव उपाध्याय ।

स. सि. /---/---/---

सर्वार्थसिद्धि / अध्याय क्रमांक / सूत्र क्रमांक /
अनुच्छेद क्रमांक ।

सा. ध.

सागारधर्माभूत ।

सुत्त. पा.

सुत्तपाहुडो

सूत्रकृतांग /---/---/---

श्रुतस्कन्ध क्रमांक/अध्ययन क्रमांक/उद्देशक क्रमांक ।

स्त्रीनिर्वाण प्र.

स्त्रीनिर्वाणप्रकरण ।

स्था. सू./---/---/---

स्थानांगसूत्र/स्थान क्रमांक/उद्देशक्रमांक/सूत्र क्रमांक ।

स्था. सू./---/---

स्थानांगसूत्र/स्थान क्रमांक/सूत्र क्रमांक ।

स्व. स्तो.

स्वयम्भूस्तोत्र ।

स्वा. स. भ.

स्वामी समन्तभद्र ।

ह. पु. (हरि. पु.)/---/---

हरिवंशपुराण / सर्गक्रमांक / श्लोकक्रमांक ।

हारि. वृत्ति

हारिभद्रीय वृत्ति ।

हेम. वृत्ति / विशे. भा.

मलधारी हेमचन्द्रसूरिकृत वृत्ति / विशेषावश्यक-
भाष्य ।

Asp. of Jaino.

Aspects of Jainology.

F. N.

Foot Note.

प्रथम अध्याय

प्रथम अध्याय

काल्पनिक सामग्री से निर्मित तर्कप्रासाद

मान्य श्वेताम्बर मुनियों और विद्वानों ने दिगम्बरमत को निह्ववमत (तीर्थकरोपदेश के विपरीत स्वकल्पित मिथ्यामत) एवं अर्वाचीन, दिगम्बरपरम्परा के बहुमान्य आचार्य कुन्दकुन्द को विक्रम की छठी शताब्दी का तथा दिगम्बरसाहित्य को यापनीयसाहित्य या श्वेताम्बरसाहित्य सिद्ध करने के लिए जो तर्कप्रासाद खड़ा किया है, वह काल्पनिक सामग्री से निर्मित है। वह काल्पनिक सामग्री इतिहासविरुद्ध एवं प्रमाणविरुद्ध मिथ्यामतों की कल्पना से निष्पन्न हुई है। वे कल्पनाएँ इस प्रकार हैं—

१

तीर्थकरों के सवस्त्र-तीर्थोपदेशक होने की कल्पना

श्वेताम्बराचार्य श्री जिनभद्रगणी क्षमाश्रमण (सातवीं शती ई०) ने यह मत उद्घाटित किया है कि कोई भी तीर्थकर सर्वथा अचेल नहीं थे, सभी एक वस्त्र ग्रहण कर प्रव्रजित हुए थे, जिससे लोगों को यह उपदेश प्राप्त हो सके कि सवस्त्र रहने पर ही साधु को मोक्ष प्राप्त हो सकता है। इस प्रकार तीर्थकरों ने सचेलधर्म का ही उपदेश दिया था। इस मत की कपोलकल्पितता का उद्घाटन द्वितीय अध्याय में किया जायेगा।

२

बोटिक शिवभूति के दिगम्बरमतप्रवर्तक होने की कल्पना

एकान्त या निरपवाद अचेलधर्म (दिगम्बरमत) की उत्पत्ति के विषय में पुरातन श्वेताम्बराचार्यों ने यह कथा गढ़ी है कि उसका प्रवर्तन वीर नि० सं० ६०९ (ई० सन् ८२) में श्वेताम्बरमत का परित्याग कर अलग हुए बोटिक शिवभूति नाम के साधु ने किया था। इस कथा का विस्तार से वर्णन द्वितीय अध्याय में किया जायेगा और कथा में वर्णित तथ्यों के ही आधार पर सिद्ध किया जायेगा कि निरपवाद अचेलधर्म या दिगम्बरमत जिनेन्द्रोपदिष्ट है, बोटिक शिवभूति द्वारा प्रणीत नहीं।

३

बोटिक शिवभूति के यापनीयमतप्रवर्तक होने की कल्पना

बीसवीं सदी ई० के श्वेताम्बर मुनि श्री कल्याणविजय जी एवं श्वेताम्बर विद्वान् श्री० दलसुख मालवणिया, डॉ० सागरमल जी जैन आदि के द्वारा यह कहानी रची

गयी है कि 'आवश्यकमूलभाष्य' आदि ग्रन्थों में बोटिक शब्द का प्रयोग दिगम्बरों के लिए नहीं, अपितु यापनीयों के लिए किया गया है और इसलिए वीर नि० सं० ६०९ में शिवभूति ने दिगम्बरमत का नहीं, बल्कि यापनीयमत का प्रवर्तन किया था, अतः दिगम्बरमत वीर नि० सं० ६०९ में भी उत्पन्न नहीं हुआ था। वह उससे भी अर्वाचीन है। इस कहानी की असत्यता का प्रकाशन द्वितीय अध्याय में किया जायेगा।

कुन्दकुन्द के दिगम्बरमतप्रवर्तक होने की कल्पना

दिगम्बरमत की उत्पत्ति के विषय में मुनि कल्याणविजय जी ने जो कथा बुनी है, वह यह है कि उसकी स्थापना विक्रम की छठी शताब्दी में दक्षिण भारत के आचार्य कुन्दकुन्द ने की थी, जो आरंभ में बोटिक शिवभूति द्वारा प्रवर्तित यापनीयसंघ में दीक्षित हुए थे। किन्तु बाद में यापनीयसंघ की वैकल्पिक सवस्त्रमुक्ति, स्त्रीमुक्ति आदि की मान्यताएँ उन्हें उचित प्रतीत नहीं हुईं। इसलिए उनका निषेध करने के लिए उन्होंने आवाज उठायी, किन्तु उनके गुरु तथा संघ के अधिकांश साधुओं ने उनका समर्थन नहीं किया, प्रत्युत विरोध किया। फलस्वरूप वे संघ से अलग हो गये और अपने समर्थकों को लेकर नया सम्प्रदाय बना लिया, जो दिगम्बरसंघ के नाम से प्रसिद्ध हुआ। इस कथा की कपोलकल्पितता द्वितीय अध्याय में प्रदर्शित की जायेगी।

कुन्दकुन्द के प्रथमतः यापनीय होने की कल्पना

मुनि कल्याणविजय जी ने उपर्युक्त मनगढ़न्त कथा में यह भी गढ़ा है कि कुन्दकुन्द पहले यापनीयपरम्परा में दीक्षित हुए थे, बाद में उससे अलग होकर दिगम्बरमुनि बन गये। द्वितीय अध्याय में कुन्दकुन्द के दिगम्बरमत-प्रवर्तक होने की कथा के मनगढ़न्त सिद्ध हो जाने पर यह भी सिद्ध हो जायेगा कि उनके प्रथमतः यापनीयपरम्परा में दीक्षित होने की कथा भी मनगढ़न्त है।

कुन्दकुन्द के प्रथमतः भट्टारक होने की कल्पना

मुनि कल्याणविजय जी ने आचार्य कुन्दकुन्द के प्रथमतः यापनीय होने की कथा गढ़ी है, तो श्वेताम्बराचार्य श्री हस्तीमल जी ने उनके प्रथमतः भट्टारकसम्प्रदाय के पट्टाधीश होने की कहानी रच डाली। वे लिखते हैं—“कुन्दकुन्द माघनन्दी के शिष्य जिनचन्द्र के पास भट्टारकपरम्परा में दीक्षित हुए थे। मेधावी मुनि कुन्दकुन्द ने अध्ययन

पूर्ण करने के पश्चात् दिगम्बरपरम्परा द्वारा सम्मत आगमों के निदिध्यासन-चिन्तन-मनन से जब जिनेन्द्र प्रभु द्वारा प्ररूपित जैनधर्म के वास्तविक स्वरूप और तीर्थंकरों द्वारा आचरित श्रमणधर्म को पहचाना, तो उन्हें अपने प्रगुरु माघनन्दी द्वारा संस्थापित धर्म और श्रमणाचार-विषयक मान्यताएँ धर्म और श्रमणाचार के मूलस्वरूप के अनुरूप प्रतीत नहीं हुईं। उन्होंने संभवतः अपने प्रगुरु, गुरु और भट्टारकसंघ द्वारा सम्मत उन कतिपय अभिनव मान्यताओं के समूलोन्मूलन और पुरातन मान्यताओं की पुनः संस्थापना का संकल्प किया।” (जै.ध.मौ.इ./भा.३/पृ.१४०)। अर्थात् उन्होंने भट्टारकपरम्परा छोड़कर दिगम्बरमुनि-परम्परा को पुनरुज्जीवित किया। इस कहानी की मनगढ़न्तता पर ‘कुन्दकुन्द के प्रथमतः भट्टारक होने की कथा मनगढ़न्त’ नामक अष्टम अध्याय में प्रकाश डाला जायेगा।

७

उत्तरभारतीय-सचेलाचेल-निर्ग्रन्थसंघ की कल्पना

डॉ० सागरमल जी ने यह इतिहासविरुद्ध उद्भावना की है कि भगवान् महावीर ने अचेल और सचेल दोनों लिंगों से मोक्ष होने का उपदेश दिया था। अतः उत्तरभारत में एकमात्र सचेलाचेल-निर्ग्रन्थसंघ विद्यमान था, जिसका अस्तित्व ईसा की पंचम शताब्दी के प्रारंभ तक बना रहा, तत्पश्चात् इस संघ से सचेलाचेलमार्गी यापनीयसंघ तथा सर्वथा सचेलमार्गी श्वेताम्बरसंघ का उद्भव हुआ और यह विघटित हो गया। इस कल्पना की कपोलकल्पितता का अनावरण द्वितीय अध्याय में किया जायेगा।

८

सचेलाचेल निर्ग्रन्थसंघ के विभाजन से श्वेताम्बर- यापनीय सम्प्रदायों के उद्भव की कल्पना

डॉ० सागरमल जी ने उपर्युक्त कल्पना के आधार पर इस नयी कल्पना को जन्म दिया है कि ईसा की पंचम शताब्दी के प्रारंभ में कथित उत्तरभारतीय-सचेलाचेल-निर्ग्रन्थसंघ के विभाजन से श्वेताम्बर और यापनीय सम्प्रदायों का उद्भव हुआ था, न कि दिगम्बर और श्वेताम्बर सम्प्रदायों का। दिगम्बरसम्प्रदाय की तो स्वतंत्ररूप से स्थापना विक्रम की छठी शताब्दी (ईसा की पाँचवीं शती) में दक्षिण भारत के आचार्य कुन्दकुन्द के द्वारा की गयी थी। इस कल्पना के कपोलकल्पित होने का बोध उत्तरभारतीय-सचेलाचेल-निर्ग्रन्थसंघ (निर्ग्रन्थपरम्परा) की कपोलकल्पितता का अनावरण हो जाने पर स्वतः हो जायेगा। इस कल्पना के क्या प्रयोजन थे, इसका प्ररूपण द्वितीय अध्याय में किया जायेगा।

९

अचेल एवं सचेल जिनकल्पों के व्युच्छेद की कल्पना

प्राचीन श्वेताम्बराचार्यों ने पञ्चमकाल में सचेल-श्वेताम्बरमत को ही जिनोक्त, उचित और अनिवार्य तथा अचेल-दिगम्बरमत को निह्ववमत (तीर्थकरोपदेश के विपरीत स्वकल्पित मिथ्यामत) अत एव अनर्थकारी सिद्ध करने के लिए यह कल्पना की है कि बोटिक-शिवभूति-वर्णित अचेल-जिनकल्प और जिनभद्रगाणि-वर्णित सचेल-जिनकल्प जम्बूस्वामी के निर्वाण के पूर्व तक अस्तित्व में थे, किन्तु निर्वाण के पश्चात् अर्थात् पंचमकाल का आरम्भ होते ही प्रथमसंहननधारी मनुष्यों की उत्पत्ति बन्द हो गयी, जिससे कोई भी पुरुष दोनों प्रकार के जिनकल्पों को धारण करने योग्य नहीं रहा अर्थात् जिनकल्प का व्युच्छेद हो गया। अतः जिनेन्द्रदेव ने पंचमकाल में मुनियों को अचेललिंग ग्रहण करने का निषेध किया है और एकमात्र सचेललिंग ही ग्रहण करने योग्य बतलाया है। अतः पंचमकाल में अचेललिंग को उचित बतलानेवाला दिगम्बरमत जिनोपदिष्ट नहीं है, अपितु स्वकल्पित होने से निह्ववमत है। इस कल्पना की कपोलकल्पितता द्वितीय अध्याय में प्रकट की जायेगी।

१०

सामान्यपुरुषों के लिए तीर्थकरलिंग-ग्रहण के निषेध की कल्पना

उपर्युक्त प्रयोजन से ही श्वेताम्बराचार्यों ने यह कल्पना की है कि सामान्यपुरुष अर्थात् जो उसी भव में तीर्थकर होनेवाले नहीं हैं, भले ही वे जिनकल्प के योग्य हों, तीर्थकरलिंग (अचेललिंग) ग्रहण करने के योग्य नहीं होते। अतः तीर्थकरों ने उनके लिए तीर्थकरलिंग ग्रहण करने का निषेध किया है। यह कथन भी मनगढ़न्त है। इसकी मनगढ़न्तता का खुलासा द्वितीय अध्याय में द्रष्टव्य है।

११

अचेलत्व के मुख्य और औपचारिक भेदों की कल्पना

उपाध्याय धर्मसागरकृत स्वोपज्ञवृत्तियुक्त 'प्रवचनपरीक्षा' (१५७२ ई०) ग्रन्थ से विदित होता है कि श्वेताम्बर जिनकल्पी साधु भी मुखवस्त्रिका एवं ऊन से निर्मित रजोहरण धारण करते थे तथा जिन्हें वस्त्रऋद्धि प्राप्त हो जाती थी, उनकी नग्नता बिना वस्त्र धारण किये ही ढँक जाती थी, शेष जिनकल्पियों को एक, दो या तीन कल्प (चादर-कम्बल) धारण करने की अनुमति थी, जिनसे वे शरीर को आच्छादित कर गुह्यांग का गोपन करते थे। अतः स्थविरकल्पियों के समान वे भी न अचेल रहते थे, न नग्न।

इससे साधु के लिए श्वेताम्बर-आगमों में भी विहित दस स्थितिकल्पों में से आचेलक्य स्थितिकल्प (चेल का सर्वथा परित्याग कर पूर्ण नग्न रहना) और नाग्न्य-परीषहजय असंभव हो जाते हैं, जिससे श्वेताम्बर साधुओं का आचरण आगमविरुद्ध सिद्ध होता है। अतः उसे आगमानुकूल सिद्ध करने के लिए श्वेताम्बराचार्यों ने आचेलक्य और नग्नता का अर्थ ही बदल दिया। उन्होंने अचेलता के दो भेद कल्पित किये : मुख्य और औपचारिक। जिनेन्द्र के सर्वथा अचेल रहने को तथा वस्त्रलब्धियुक्त जिनकल्पी साधु के मुखवस्त्रिका और रजोहरण के अतिरिक्त कोई लौकिक वस्त्र धारण न करने को मुख्य अचेलता नाम दिया तथा फटे पुराने (जीर्णशीर्ण) वस्त्र पहनने को औपचारिक अचेलता कहा। मुख्य अचेलता का अधिकारी तीर्थकरों और वस्त्रलब्धियुक्त जिनकल्पिक साधुओं को बतलाया तथा औपचारिक अचेलता का अधिकारी शेष साधुओं को। यह भी कल्पित कर लिया कि वर्तमानकाल में मुख्य अचेलता संयमोपकारी नहीं है, औपचारिक अचेलता से ही संयम सम्भव है।^१

इस प्रकार श्वेताम्बराचार्यों ने वस्त्रधारी साधुओं में भी उपचार से अचेलता या नग्नता घटित कर उन्हें आचेलक्य स्थितिकल्प का पालक एवं नाग्न्यपरीषह का विजेता सिद्ध कर दिया। इस कल्पना की कपोलकल्पितता का अनावरण तृतीय अध्याय में किया जायेगा।

१२

सग्रन्थ में निर्ग्रन्थ की कल्पना

जिनागम में परिग्रह को ग्रन्थ कहा गया है। यह दो प्रकार का है : अभ्यन्तर और बाह्य। मिथ्यात्व-कषायादि अभ्यन्तरपरिग्रह कहलाते हैं और वस्त्रपात्रादि बाह्यपरिग्रह। जिस साधु के पास दोनों प्रकार के ग्रन्थों का अभाव होता है, वही निर्ग्रन्थ कहलाता है। श्वेताम्बर साधुओं के पास वस्त्रपात्रादि बाह्यपरिग्रह का सद्भाव होता है, अतः वे निर्ग्रन्थ नहीं कहला सकते। फलस्वरूप वे भगवान् महावीर की परम्परा के साधु भी नहीं कहला सकते।

इस समस्या से निपटने के लिए श्वेताम्बराचार्यों ने वस्त्रपात्रादि बाह्यपरिग्रह को ग्रन्थ मानना ही छोड़ दिया। उन्होंने यह घोषित कर दिया कि वस्त्रपात्रादि बाह्यपरिग्रह संयम का साधन होने से 'ग्रन्थ' की परिभाषा में नहीं आता। अतः बाह्यग्रन्थ रहते हुए भी केवल आभ्यन्तरग्रन्थ का अभाव होने से श्वेताम्बर साधु 'निर्ग्रन्थ' संज्ञा

१. क—हेमचन्द्रसूरिकृत वृत्ति / विशेषावश्यकभाष्य / गा.२५९८-२६०१।

ख—“इहाचेलक्यं द्विधा—मुख्यमौपचारिकं च। तत्र मुख्यं तीर्थकृतां कस्यचिज्जिनकल्पिकस्य च।” प्रवचनपरीक्षा / वृत्ति / १/२ / ६ / पृ.७५।

का पात्र है। इस प्रकार उन्होंने सग्रन्थ में भी निर्ग्रन्थ की कल्पना कर ली। इस कल्पना की कपोलकल्पितता का प्रदर्शन द्वितीय अध्याय में किया जायेगा।

१३

मूलसंघ के यापनीयसंघ का पूर्वनाम होने की कल्पना

भगवान् महावीर द्वारा प्रणीत निरपवाद या ऐकान्तिक अचेलतीर्थ का अनुगमन करनेवाले श्रमणसंघ का नाम निर्ग्रन्थसंघ है। उससे श्वेताम्बरसंघ का उद्भव हुआ था, अतः निर्ग्रन्थसंघ मूलसंघ के नाम से प्रसिद्ध हुआ। किन्तु मुनि कल्याणविजय जी एवं उनके अनुगामी डॉ० सागरमल जी मानते हैं कि भगवान् महावीर ने सर्वथा अचेललिंग को नहीं, अपितु अचेल और सचेल, दोनों लिंगों को मुक्ति का मार्ग बतलाया है। अतः वे मात्र अचेललिंग से मुक्ति माननेवाले निर्ग्रन्थसंघ को भगवान् महावीर द्वारा उपदिष्ट मोक्षमार्ग का अनुगामी नहीं मानते, अपितु विक्रम की छठी शताब्दी में आचार्य कुन्दकुन्द द्वारा प्रवर्तित मोक्षमार्ग का अनुगामी मानते हैं। किन्तु मूलसंघ का सर्वप्रथम उल्लेख दक्षिण भारत के नोणमंगल नामक स्थान में प्राप्त दो ताम्रपत्रों में मिलता है, जो क्रमशः ईसवी सन् ३७० और ४२५ के माने जाते हैं।^१ इससे निर्ग्रन्थपरम्परा विक्रम की छठी शती से बहुत पहले की सिद्ध होती है, जिससे उक्त विद्वानों की मान्यता गलत ठहरती है। इसलिए वे इस बात के लिए बाध्य हुए कि **मूलसंघ** और **निर्ग्रन्थसंघ** एक ही हैं, इस सत्य को मिटा दिया जाय। अतः मुनि कल्याणविजय जी ने यह मिथ्या प्रचार किया कि “मूलसंघ यापनीयसंघ का पूर्वनाम था। जब उत्तर भारत में शिवभूति ने अपना नया मत चलाया, तब उसने प्रारंभ में अपने सम्प्रदाय का नाम ‘मूलसंघ’ रखा, लेकिन दक्षिण भारत में जाने पर वह ‘यापनीय’ नाम से प्रसिद्ध हुआ।”^२

डॉ० सागरमल जी ने भी मुनि जी के मत का अनुसरण किया है, किन्तु वे मानते हैं कि उक्त सम्प्रदाय के दक्षिण में पहुँचने पर ही वह पहले मूलसंघ के नाम से अभिहित हुआ और उसके लगभग सौ वर्ष बाद उसे ‘यापनीय’ नाम मिला। दोनों विद्वानों के कथनों में यह विरोध इस बात का सूचक है कि उनकी मान्यताएँ प्रमाणों पर आधारित नहीं हैं, बल्कि मनगढ़ंत हैं। इसका विवेचन ‘यापनीय संघ का इतिहास’ नामक सप्तम अध्याय में किया जायेगा।

२. देखिये, सप्तम अध्याय/तृतीय प्रकरण।

३. देखिये, द्वितीय अध्याय/द्वितीय प्रकरण/शीर्षक ३।

कुन्दकुन्दसाहित्य में दार्शनिक विकास की कल्पना

सुप्रसिद्ध श्वेताम्बर विद्वान् पं० दलसुख जी मालवणिया ने आचार्य कुन्दकुन्द को तत्त्वार्थसूत्रकार उमास्वाति से, जिनका समय उनके अनुसार ईसा की तीसरी-चौथी शती है, परवर्ती सिद्ध करने के लिए कुन्दकुन्द के ग्रन्थों में दार्शनिक विकासवाद की कल्पना की है। वे लिखते हैं—

“तत्त्वार्थ और आचार्य कुन्दकुन्द के ग्रन्थगत दार्शनिक विकास की ओर यदि ध्यान दिया जाय, तो वाचक उमास्वाति के तत्त्वार्थगत जैनदर्शन की अपेक्षा आ० कुन्दकुन्द के ग्रन्थगत जैनदर्शन का रूप विकसित है, यह किसी भी दार्शनिक से छिपा नहीं रह सकता। अत एव दोनों के समयविचार में इस पहलू को भी यथायोग्य स्थान अवश्य देना चाहिए।”^४

यह दार्शनिक विकासवाद कपोलकल्पित है। इसका सप्रमाण, सयुक्तिक प्रतिपादन ‘आचार्य कुन्दकुन्द का समय’ नामक दशम अध्याय (प्रकरण ४) में द्रष्टव्य है।

शिवमार में शिवकुमार की कल्पना

प्रो० एम० ए० ढाकी ने आचार्य कुन्दकुन्द का अस्तित्व ईसा की आठवीं शती में सिद्ध करने का प्रयत्न किया है। आचार्य जयसेन ने ‘पञ्चास्तिकाय’ और ‘प्रवचनसार’ की टीकाओं में लिखा है कि आचार्य कुन्दकुन्द ने इन ग्रन्थों की रचना शिवकुमार महाराज के प्रतिबोधनार्थ की थी। डॉ० के० बी० पाठक ने शिवकुमार महाराज का समीकरण पाँचवीं शती ई० के कदम्बवंशीय राजा शिवमृगेशवर्मा से तथा प्रो० ए० चक्रवर्ती ने प्रथम शती ई० के पल्लवराज शिवस्कन्द स्वामी से किया है। प्रो० ढाकी ने इस समीकरण को अस्वीकार करते हुए आठवीं शती ई० के किसी राजा से समीकरण करने के लिए गंगवंशीय राजा शिवमार द्वितीय को शिवकुमार महाराज घोषित कर दिया, जिससे कुन्दकुन्द को आठवीं शती ई० का सिद्ध किया जा सके।

इसी प्रकार आचार्य जयसेन ने ‘पञ्चास्तिकाय’ की तात्पर्यवृत्ति में कुन्दकुन्द को कुमारनन्दि-सिद्धान्तदेव का शिष्य बतलाया है। इनका समीकरण प्रो० ढाकी ने आठवीं शताब्दी ई० के एक कुमारनन्दी भट्टारक से किया है। ये दोनों समीकरण अप्रामाणिक

४. न्यायावतारवार्तिकवृत्ति / प्रस्तावना / पृ.१०३।

हैं। इसका सप्रमाण स्पष्टीकरण 'आचार्य कुन्दकुन्द का समय' नामक दशम अध्याय (प्रकरण ६) में देखना चाहिए।

१६

अनेक दिगम्बरग्रन्थों के यापनीयग्रन्थ होने की कल्पना

सर्वप्रथम दिगम्बर विद्वान् पं० नाथूराम जी प्रेमी ने सन् १९३९ ई० में 'अनेकान्त' (मासिक) में 'यापनीयसाहित्य' शीर्षक से एक शोधलेख प्रकाशित किया था।^५ उसमें उन्होंने दिगम्बरग्रन्थ 'भगवती-आराधना' और उसकी 'विजयोदयाटीका' को यापनीय-आचार्यों द्वारा रचित बतलाया है। उन्होंने अपने ग्रन्थ 'जैन साहित्य और इतिहास' के द्वितीय संस्करण (पृ. ५२१-५५३) में उमास्वामीकृत 'तत्त्वार्थसूत्र' एवं वट्टकेर-रचित 'मूलाचार' को भी यापनीयपरम्परा का ग्रन्थ बतलाया है।

'प्रेमी' जी से दिशानिर्देश पाकर श्वेताम्बरमुनि श्री कल्याणविजय जी ने अपने ग्रन्थ 'श्रमण भगवान् महावीर' (सन् १९४१) में 'भगवती-आराधना' और 'मूलाचार' को यापनीयपरम्परा के ग्रन्थों के रूप में उदाहृत किया है।

'प्रेमी' जी के ग्रन्थ से ही मार्गदर्शन प्राप्त कर दिगम्बर विदुषी श्रीमती डॉ० कुसुम पटोरिया ने 'यापनीय और उनका साहित्य' नामक ग्रन्थ में मूलाचार, भगवती-आराधना, उसकी विजयोदयाटीका, तत्त्वार्थसूत्र, सन्मत्तिसूत्र, हरिवंशपुराण तथा बृहत्कथा-कोश को यापनीयग्रन्थ सिद्ध करने का प्रयत्न किया है।

इन समस्त ग्रन्थकारों द्वारा निर्मित भूमिका पर आरूढ़ होकर माननीय डॉ० सागरमल जी ने अपना विशाल ग्रन्थ 'जैनधर्म का यापनीय सम्प्रदाय' रचा और उसमें उपर्युक्त ग्रन्थों को शामिल कर निम्नलिखित १६ दिगम्बरग्रन्थों को यापनीय-परम्परा का ग्रन्थ बतलाया है—१. कसायपाहुड, २. कसायपाहुड-चूर्णिसूत्र, ३. षट्खण्डागम, ४. भगवती-आराधना, ५. भगवती-आराधना की विजयोदया टीका, ६. मूलाचार, ७. तिलोयपण्णत्ती, ८. रविषेणकृत पद्मपुराण, ९. वराङ्गचरित, १०. हरिवंशपुराण, ११. स्वयम्भूकृत पउमचरिउ, १२. बृहत्कथाकोश, १३. छेदपिण्ड, १४. छेदशास्त्र, १५. प्रतिक्रमण-ग्रन्थत्रयी, १६. बृहत्प्रभाचन्द्र-कृत तत्त्वार्थसूत्र।

१. गृध्रपिच्छाचार्यकृत दिगम्बरग्रन्थ तत्त्वार्थसूत्र को, जिसे पं० नाथूराम जी प्रेमी ने यापनीयग्रन्थ माना है और श्वेताम्बरपरम्परा श्वेताम्बरग्रन्थ मानती है, उसे डॉ० सागर-मल जी ने उत्तरभारतीय-सचेलाचेल-निर्ग्रन्थपरम्परा अर्थात् श्वेताम्बर-यापनीय-मातृपरम्परा का ग्रन्थ घोषित किया है। २. आचार्य सिद्धसेनकृत सन्मत्तिसूत्र भी दिगम्बरग्रन्थ है।

५. जैन साहित्य और इतिहास/द्वितीय संस्करण/पृ.५६-७३।

उसे श्वेताम्बर अपनी परम्परा का ग्रन्थ मानते हैं, किन्तु डॉ० सागरमल जी ने उसे भी उत्तरभारतीय-सचेलाचेल-निर्ग्रन्थपरम्परा में रचित बतलाया है। इसके विपरीत डॉ० ए० एन० उपाध्ये और उनका अनुसरण करनेवाली श्रीमती डॉ० कुसुम पट्टेरिया ने उसकी यापनीयग्रन्थ के रूप में पहचान की है। इस प्रकार १६ दिगम्बर ग्रन्थों को यापनीयपरम्परा का और २ ग्रन्थों को यापनीयपरम्परा का भी, श्वेताम्बरपरम्परा का भी तथा श्वेताम्बरों और यापनीयों की कपोल-कल्पित मातृपरम्परा का भी बतलाया गया है। श्वेताम्बरमुनि श्री हेमचन्द्रविजय जी ने कसायपाहुड और उसके चूर्णिसूत्रों को श्वेताम्बरग्रन्थ सिद्ध करने का प्रयत्न किया है।

इन महानुभावों ने यह महान् कार्य पूर्णतः अटकलों और अपनी स्वच्छन्द कल्पनाओं के आधार पर किया है, जिसके प्रमाण प्रस्तुत ग्रन्थ के उत्तरवर्ती अध्यायों में द्रष्टव्य हैं।

आगे निर्दिष्ट चार मतों (क्र. १७-२०) की कल्पना 'जैनधर्म का यापनीय सम्प्रदाय' ग्रन्थ के लेखक ने दिगम्बराचार्यों द्वारा रचित ग्रन्थों को यापनीयों द्वारा रचित सिद्ध करने के लिए की है।

१७

गुणस्थान-सिद्धान्त के विकास की कल्पना

लेखक ने यह कल्पना की है कि चौदह गुणस्थानों का उपदेश जिनेन्द्रदेव ने नहीं दिया था, अपितु उत्तरकालीन आचार्यों ने नये-नये गुणस्थानों का आविष्कार करते हुए चौदह गुणस्थानों का विकास किया है। यह कार्य चौथी शताब्दी ई० के अन्त तक पूर्ण हुआ।

इस कल्पित मत का प्रयोग लेखक ने यह सिद्ध करने के लिए किया है कि जिन कसायपाहुड, षट्खण्डागम, भगवती-आराधना आदि दिगम्बरग्रन्थों में गुणस्थानों का पूर्ण वर्णन मिलता है अथवा गुणस्थानानुसार जीव के परिणामों का निरूपण हुआ है, उनकी रचना चौथी शताब्दी ई० के पश्चात् हुई है। और चूँकि इन ग्रन्थों में श्वेताम्बरग्रन्थों की गाथाएँ मिलती हैं, अतः ये उत्तरभारतीय-सचेलाचेल-निर्ग्रन्थ-परम्परा के उत्तराधिकारियों द्वारा रचित हैं। यतः श्वेताम्बरग्रन्थ अर्धमागधी प्राकृत में रचे गये हैं और उपर्युक्त ग्रन्थों की भाषा शौरसेनी है, अतः ये श्वेताम्बरग्रन्थ नहीं हैं। इसलिए निश्चित होता है कि इनकी रचना उक्त परम्परा के दूसरे उत्तराधिकारी यापनीयों द्वारा की गई है। इस गुणस्थान-विकासवादी कल्पना की कल्पितता 'आचार्य कुन्दकुन्द का समय' नामक दशम अध्याय में सिद्ध की जायेगी।

१८

सप्तभंगी के विकास की कल्पना

सप्तभंगी-विकासवाद भी डॉ० सागरमल जी की ऐसी ही कल्पना है। वे लिखते हैं—“उमास्वाति के 'तत्त्वार्थ' में गुणस्थान और सप्तभंगी की अनुपस्थिति स्पष्टरूप से यह सूचित करती है कि ये अवधारणाएँ उनके काल तक अस्तित्व में नहीं आयी थीं, अन्यथा आध्यात्मिक विकास और कर्मसिद्धान्त के आधारभूत गुणस्थानसिद्धान्त को वे कैसे छोड़ सकते थे?” (जै.ध.या.स/पृ.२४९-२५०)। वे आगे लिखते हैं—“फिर भी इतना सुनिश्चित है कि उमास्वाति के तत्त्वार्थसूत्र का आधार वे ही आगम ग्रन्थ रहे हैं, जो क्वचित् पाठभेदों के साथ श्वेताम्बरों में आज भी प्रचलित हैं और यापनीयों में भी प्रचलित थे। इससे इस भ्रान्ति का भी निराकरण हो जाता है कि तत्त्वार्थसूत्र की रचना का आधार षट्खण्डागम और कुन्दकुन्द के ग्रन्थ हैं, क्योंकि ये ग्रन्थ तत्त्वार्थ-सूत्र की अपेक्षा पर्याप्त परवर्ती हैं और गुणस्थान, सप्तभंगी आदि परवर्ती युग में विकसित अवधारणाओं के उल्लेखों से युक्त हैं।” (जै.ध.या.स/पृ.२५२)।

इस कथन से स्पष्ट हो जाता है कि डॉ० सागरमल जी ने नयप्रमाण-सप्तभंगी को भगवान् महावीर द्वारा प्रणीत न मान कर परवर्ती आचार्यों द्वारा चौथी शताब्दी ई० के अन्त तक विकसित किया गया माना है और ऐसा मानने का उद्देश्य है आचार्य धरसेन एवं कुन्दकुन्द को उमास्वाति से अर्वाचीन सिद्ध करना। इस सप्तभंगी-विकासवाद की कपोलकल्पितता भी दशम अध्याय में उद्धाटित की जायेगी।

१९

यापनीयों द्वारा अर्धमागधी-आगमों के शौरसेनीकरण की कल्पना

तीसरी कल्पना यह की गई है कि उत्तरभारतीय-सचेलाचेल-निर्ग्रन्थ-परम्परा (श्वेताम्बर-यापनीयों की मातृपरम्परा) के आगम अर्धमागधी प्राकृत में थे। यापनीयों को जब वे उत्तराधिकार में प्राप्त हुए, तब उन्होंने उन्हें शौरसेनी प्राकृत में रूपान्तरित कर दिया। इसलिए शौरसेनी में होते हुए भी वे दिगम्बरग्रन्थ नहीं है, अपितु यापनीयग्रन्थ हैं।

यहाँ एक अत्यन्त सीधासादा प्रश्न उठता है कि आखिर यापनीयों ने अर्धमागधी आगमों का शौरसेनीकरण क्यों किया, जब कि अर्धमागधी श्वेताम्बरों के अनुसार दिव्यध्वनि की भाषा थी और पाँचवीं शताब्दी ई० में वलभीवाचना के समय तक अच्छी तरह समझी और प्रयुक्त की जाती थी? इससे उन्हें क्या लाभ हुआ? इस प्रश्न का कोई समाधान न होने से सिद्ध है कि यह मात्र एक कपोलकल्पना है।

२०

दिगम्बरग्रन्थों में यापनीयमत-विरुद्ध कथनों के प्रक्षेप की कल्पना

दिगम्बरग्रन्थों को यापनीयग्रन्थ सिद्ध करने का रास्ता साफ करने के लिए मान्य ग्रन्थ-लेखक ने चौथी कल्पना यह की है कि 'तिलोयपण्णत्ति' आदि ग्रन्थों में जो यापनीयमत-विरोधी कथन उपलब्ध होते हैं, वे प्रक्षिप्त हैं। लेखक की यह कल्पना अराजकता मचा देनेवाली है। इस तरह तो किसी भी सम्प्रदाय के ग्रन्थ को किसी भी अन्य सम्प्रदाय का सिद्ध किया जा सकता है। श्वेताम्बर-आगमों के दिगम्बरमत-विरोधी अंशों को प्रक्षिप्त मानकर उन्हें दिगम्बरपरम्परा का सिद्ध किया जा सकता है और कुन्दकुन्द के ग्रन्थों के श्वेताम्बरमत-विरोधी कथनों को प्रक्षिप्त कहकर उन्हें श्वेताम्बरग्रन्थ घोषित किया जा सकता है।

इनके अतिरिक्त अन्य मिथ्यामतों की भी कल्पना की गई है, जिनका निर्देश यथास्थान किया जायेगा।

२१

स्वाभीष्ट कल्पित-शब्दादि का आरोपण

उक्त ग्रन्थ-लेखक महोदय ने दिगम्बरग्रन्थों में प्ररूपित मौलिक शब्द, अर्थ और लक्षण को अमान्य कर उनके स्थान में स्वाभीष्ट कल्पित शब्द, अर्थ और लक्षण का आरोपण करके भी स्वाभीष्ट की सिद्धि का प्रयत्न किया है। यथा—

१. कल्पित शब्द—गुणधर, धरसेन, पुष्पदन्त और भूतबलि नामों के प्रयोग को गलत कहकर कल्पना की गई है कि वे वस्तुतः श्वेताम्बर-स्थविरावलियों में उल्लिखित गुणन्धर, वज्रसेन, पुसगिरि और भूतदिन्न नाम हैं, इसलिए वे दिगम्बराचार्यों के नाम न होकर उत्तरभारत के सचेलाचेल-निर्ग्रन्थ-संघ के (जिससे उन्होंने श्वेताम्बरों और यापनीयों की उत्पत्ति मानी है) आचार्यों के नाम हैं। अतः उनके द्वारा रचित कसायपाहुड और षट्खण्डागम ग्रन्थ भी उसी परम्परा के हैं, दिगम्बरपरम्परा के नहीं।

२. कल्पित अर्थ—'आर्य' और 'यति' शब्दों को यापनीय-आचार्यों की उपाधि मान कर शिवार्य और यतिवृषभ को यापनीय आचार्य मान लिया गया है। अपराजितसूरि ने अपवादलिंग का अर्थ 'गृहस्थलिंग' किया है। उसे अस्वीकार कर उसका 'सवस्त्र मुनिलिंग' अर्थ कल्पित किया गया है, और इस कल्पित अर्थ को हेतु बनाकर 'भगवती-आराधना' को सवस्त्रमुक्ति का समर्थक यापनीयग्रन्थ घोषित कर दिया गया है। जो 'अनुयोगद्वार' शब्द 'निरूपणद्वार' के अर्थ में प्रयुक्त है, उसके विषय में यह कल्पना कर ली गयी है कि वह 'अनुयोगद्वारसूत्र' नामक श्वेताम्बरग्रन्थ का वाचक है, अतः

उसका उल्लेख करने से 'भगवती-आराधना' ग्रन्थ उत्तरभारतीय सचेलाचेल-निर्ग्रन्थ-संघ के उत्तराधिकारी यापनीय आचार्य द्वारा रचित है।

३. कल्पित लक्षण—सवस्त्रमुक्ति, स्त्रीमुक्ति, केवलिभुक्ति आदि यापनीयसिद्धान्तों का प्रतिपादक होना यापनीयग्रन्थ का लक्षण है। ऐसे ग्रन्थ का कर्ता होना यापनीयग्रन्थकार का लक्षण है। किन्तु 'भगवती-आराधना' में ये लक्षण उपलब्ध नहीं होते। फिर भी उसके कर्ता शिवाय को इस कारण यापनीय मान लिया गया है कि उनके गुरुओं के नाम दिगम्बर षट्खण्डालियों में नहीं मिलते। इस प्रकार कल्पित लक्षण के आधार पर एक दिगम्बरग्रन्थ पर यापनीयग्रन्थ की मोहर लगा दी। कसायपाहुड, षट्खण्डागम, भगवती-आराधना, मूलाचार आदि दिगम्बरग्रन्थों में भी यापनीयग्रन्थ के लक्षण नहीं हैं, किन्तु उनकी कुछ गाथाएँ श्वेताम्बरग्रन्थों की गाथाओं से मिलती-जुलती हैं, अतः इसे ही यापनीयग्रन्थ का लक्षण मान लिया गया और इस कल्पित लक्षण के आधार पर निर्णय दे दिया गया कि ये ग्रन्थ यापनीय-आचार्यों की कृतियाँ हैं।

इन काल्पनिक मतों एवं कल्पित शब्दादि को हेतुरूप में प्रस्तुत कर श्वेताम्बर सन्तों एवं विद्वानों ने दिगम्बरमत को अर्वाचीन, अतीर्थकर-प्रणीत निह्वमत्, लज्जाजनक, संयमविरोधी, मोक्ष के प्रतिकूल एवं अग्राह्य, आचार्य कुन्दकुन्द को विक्रम की छठी शताब्दी में उत्पन्न तथा दिगम्बरसाहित्य को यापनीय या श्वेताम्बर आचार्यों द्वारा रचित सिद्ध करने की चेष्टा की है। इसलिए इन मतों की कपोलकल्पितता का उद्घाटन सर्वप्रथम आवश्यक है, जिससे जहाँ भी इनका हेतुरूप में प्रयोग कर उपर्युक्त निर्णय करने का प्रयत्न किया गया है, वहाँ पाठकों को यह समझने में देर न लगे कि यह हेतु कपोलकल्पित है, इसलिए इससे किया गया निर्णय भी कपोलकल्पित है, मिथ्या है। अतः अगले अध्याय में यही किया जा रहा है।

इन हेतुओं की कपोलकल्पितता दृष्टिगोचर हो जाने पर पाठक पायेंगे कि ऐसा कोई भी हेतु विद्यमान नहीं है, जो दिगम्बरमत को अर्वाचीन, अतीर्थकर-प्रणीत निह्वमत्, लज्जाजनक, संयमविरोधी एवं मोक्षमार्ग के प्रतिकूल तथा दिगम्बरग्रन्थों को यापनीयग्रन्थ या श्वेताम्बरग्रन्थ एवं आचार्य कुन्दकुन्द को ईसोत्तर प्रथम शताब्दी के बाद का सिद्ध कर सके। विभिन्न अध्यायों में प्रस्तुत किये जानेवाले प्रमाणों और युक्तियों का परामर्श कर विज्ञ पाठकों के ज्ञानचक्षु इस तथ्य का साक्षत्कार करेंगे कि सवस्त्रमुक्ति-विरोधी दिगम्बरपरम्परा ऐतिहासिक दृष्टि से कम से कम पाँच हजार वर्ष पुरानी है और कसायपाहुड, षट्खण्डागम, भगवती-आराधना, मूलाचार, तत्त्वार्थसूत्र आदि ग्रन्थों के कर्ता दिगम्बराचार्य ही हैं।

द्वितीय अध्याय

द्वितीय अध्याय

काल्पनिक हेतुओं की कपोलकल्पितता का उद्घाटन

प्रथम प्रकरण

तीर्थकरों का सवस्त्रतीर्थोपदेशकत्व प्रमाणविरुद्ध

श्वेताम्बराचार्य श्री जिनभद्रगणी क्षमाश्रमण (सातवीं शताब्दी ई०) ने यह लिखा है कि कोई भी तीर्थकर सर्वथा अचेल नहीं थे। सभी एक वस्त्र ग्रहण कर प्रव्रजित हुए थे, जिससे लोगों को यह उपदेश मिल सके कि सवस्त्र रहने पर ही साधु को मोक्ष प्राप्त हो सकता है। इस प्रकार तीर्थकरों ने सचेलधर्म (जिसमें कोई न कोई वस्त्र शरीर पर रखना पड़ता है) का ही प्रवर्तन किया था।^१ उन्होंने कहा है कि भगवान् महावीर द्वारा प्रणीत आचार दो प्रकार का था—जिनकल्प और स्थविरकल्प। स्थविरकल्पिक श्रमण कटिवस्त्र या चोलपट्ट धारण करते थे तथा दो चादर और एक कम्बल भी रखते थे। आज भी उनके लिए यही नियम है। वस्त्रलब्धिरहित जिनकल्पिक कटिवस्त्र नहीं पहनते थे, किन्तु चादर या कम्बल से शरीर आच्छादित करते थे और मुखवस्त्रिका एवं ऊननिर्मित रजोहरण ग्रहण करते थे। वस्त्रलब्धिमान् जिनकल्पिकों का शरीर अलौकिक आवरण से ढँक जाता था, इसलिए उन्हें न कटिवस्त्र धारण करने की आवश्यकता होती थी, न चादर या कम्बल रखने की। तथापि उनके लिए मुखवस्त्रिका और रजोहरण ग्रहण करना अनिवार्य था।^२ इस प्रकार भगवान् महावीर की श्रमण परम्परा के साधु किसी न किसी रूप में सचेल (वस्त्रसहित) ही होते आये हैं।^३ निष्कर्ष यह कि जिनभद्रगणी

१. क—तहवि गहिण्णवत्था सवत्थतित्थोवएसणत्थं ति।

अभिनिक्खमंति सव्वे तम्मि चुएऽचेलया हुंति॥ २५८३॥ विशेषावश्यकभाष्य।

ख—“सवस्त्रमेव तीर्थं ‘सवस्त्रा एव साधवास्तीर्थं चिरं भविष्यन्ति’ इत्यस्यार्थस्योपदेशनं ज्ञापनं तदर्थं गृहीतैकवस्त्राः सर्वेऽपि तीर्थकृतोऽभिनिष्क्रामन्तीति। तस्मिंश्च वस्त्रे च्युते क्वापि पतितेऽचेलका वस्त्ररहितास्ते भवन्ति, न पुनः सर्वदा। ततः ‘अचेलकाश्च जिनेन्द्राः’ इत्यैकान्तिकं यदुक्तं तद् भवतोऽनभिज्ञत्वसूचकमेवेति भावः।” हेम.वृत्ति / विशे.भा. / गा. २५८३।

२. देखिये, इसी अध्याय का तृतीय प्रकरण/शीर्षक ३.३.१. ‘जिनकल्पी भी सचेल और अनग्न।’

३. क—जिणकप्पियादओ पुण सोवहवो सव्वकालमेगंते।

जी की कल्पनानुसार भगवान् महावीर द्वारा उपदिष्ट धर्म सर्वथा अचेल नहीं था, कोई न कोई वस्त्र तीर्थकरों और जिनकल्पिक साधुओं के भी शरीर पर रहता था।

विरोधी प्रमाण

किन्तु प्रमाण इसके विरुद्ध उपलब्ध होते हैं। सिन्धुघाटी के उत्खनन में मोहेनजोदड़ो और हड़प्पा (जो अब पाकिस्तान में हैं) से ई० पू० २४०० वर्ष पहले की सिन्धुसभ्यता के अवशेष प्राप्त हुए हैं, जिनमें हड़प्पा से एक मस्तकविहीन कायोत्सर्ग-ध्यानमुद्रा में नग्न मूर्ति उपलब्ध हुई है। पुरातत्त्वविदों का मत है कि यह जैनतीर्थकर या दिगम्बरजैन साधु की प्रतिमा है। लोहानीपुर (पटना, बिहार) में भी बिलकुल ऐसी ही मौर्यकालीन (ई० पू० तृतीय शताब्दी की) जिनप्रतिमा प्राप्त हुई है। दोनों प्रतिमाओं में आश्चर्यजनक साम्य है। इससे इस बात की पुष्टि होती है कि हड़प्पा से प्राप्त उक्त प्रतिमा जिनप्रतिमा ही है। मथुरा में प्राप्त कुषाणकालीन (ई० प्रथम शताब्दी की) जिन प्रतिमाएँ भी सर्वथा नग्न हैं। उनके किसी भी भाग पर कोई वस्त्र नहीं है। गुप्तकालीन (चतुर्थ शती ई० की) जैनमूर्तियाँ भी ऐसी ही हैं।^४

ऋग्वेद (१५०० ई० पू०) में वातरशन (वायुरूपी वस्त्रवाले) मुनियों एवं शिश्रनदेवों (नग्नदेवों) का वर्णन किया गया है। उसमें ऋषभ और अरिष्टनेमि के नाम भी हैं। बौद्ध साहित्य में भी निर्ग्रन्थ साधुओं की चर्चा की गई है^५ और सम्राट् अशोक के स्तम्भलेखों में निर्ग्रन्थों का उल्लेख है। 'निर्ग्रन्थ' शब्द दिगम्बरजैन मुनियों के लिए ही प्रयुक्त होता था, श्वेताम्बरमुनि 'श्वेतपट श्रमण' और यापनीयमुनि 'यापनीय' नाम से जाने जाते थे, यह दक्षिण के कदम्बवंशीय राजाओं (पाँचवीं शताब्दी ई०) के अभिलेखों से स्पष्ट है।^६

ई० पू० चतुर्थ शताब्दी के वैदिक-परम्परा के ग्रन्थ महाभारत में 'नग्नक्षपणक' शब्द से दिगम्बरजैन मुनि का वर्णन किया गया है। लगभग इसी समय के 'चाणक्यशतक' (सम्राट् चन्द्रगुप्त के प्रधानमंत्री चाणक्य के द्वारा रचित) में भी 'नग्नक्षपणक' शब्द का प्रयोग हुआ है। तीसरी-चौथी शताब्दी ई० में विष्णुशर्मा द्वारा रचित 'पञ्चतन्त्र' में धर्मवृद्धि का आशीर्वाद देनेवाले नग्नक्षपणकों की कथा वर्णित है। तृतीय-चतुर्थ शताब्दी

उवगरणमाणमैसिं पुरिसाविक्खाए बहुभेयं॥ २५८४॥ विशेषावश्यकभाष्य।

ख—“— यतस्तीर्थकरा अपि पूर्वोक्तन्यायेन न तावदेकान्तोऽचेलकाः। जिनकल्पिक-स्वयम्बुद्धादयः पुनः सर्वकालमेकान्तेन सोपधय एवेति।” हेम.वृत्ति/विशे.भा./गा.२५८४।

४. देखिये, पंचम अध्याय : 'पुरातत्त्व में दिगम्बरपरम्परा के प्रमाण।'

५. देखिये, चतुर्थ अध्याय : 'जैनैतर साहित्य में दिगम्बर जैन मुनियों की चर्चा।'

६. देखिये, इसी (द्वितीय) अध्याय का षष्ठ प्रकरण।

ई० के 'विष्णुपुराण' में मयूरपिच्छीधारी दिगम्बरमुनि के रूप में मायामोह को जैनधर्म का प्रवर्तक बतलाया गया है। पाँचवीं शती ई० में समुत्पन्न प्रसिद्ध ज्योतिषशास्त्री वराह-मिहिर ने 'नग्न', 'दिग्वासस्' और 'निर्ग्रन्थ' शब्दों से दिगम्बरजैन मुनियों के अस्तित्व का ज्ञापन किया है। सातवीं शती ई० के सुप्रसिद्ध संस्कृतगद्यकवि बाणभट्ट की 'कादम्बरी' और 'हर्षचरित' में दिगम्बरजैन मुनियों के लिए 'क्षपणक', 'नग्नाटक' और 'मयूरपिच्छ-धारी' शब्दों का प्रयोग हुआ है।^७

श्वेताम्बरग्रन्थ 'उत्तराध्ययनसूत्र' में भी महावीर द्वारा प्रवर्तित तीर्थ को अचेलक कहा गया है, केवल भगवान् पार्श्वनाथ के धर्म को संतरुत्तर (अचेल-सचेल द्विविधरूप) बताया है। श्री हरिभद्रसूरि ने कहा है कि भगवान् ऋषभदेव और भगवान् महावीर, दोनों ने अचेलक धर्म का उपदेश दिया था।^८

इन पुरातात्विक एवं साहित्यिक प्रमाणों से सिद्ध है कि भगवान् ऋषभदेव से लेकर भगवान् महावीर तक चौबीसों तीर्थकर सर्वथा अचेल (सर्वांग एवं सर्वकाल वस्त्ररहित) थे और उनकी अनुगामिनी श्रमणपरम्परा भी सर्वथा अचेल थी। इससे स्पष्ट हो जाता है कि 'तीर्थकरों ने सवस्त्रतीर्थ का उपदेश दिया था' यह मत कपोलकल्पित है।

७. देखिये, चतुर्थ अध्याय।

८. अचेलगो य जो धम्मो जो इमो सन्तरुत्तरो।

देसिदो वद्धमाणेण पासेण य महाजसा ॥ २३/२९ ॥ उत्तराध्ययनसूत्र।

९. आचेलवको धम्मो पुरिमस्स य पच्छिमस्स य जिणस्स।

मज्झिमगाण जिणाणं होइ सचेलो अचेलो य ॥ १२ ॥ पञ्चाशक।



द्वितीय प्रकरण

शिवभूति यापनीयमत-दिगम्बरमत-प्रवर्तक नहीं

आवश्यकनिर्युक्ति (छठी शती ई० का प्रारंभिक भाग),^{१.१} आवश्यकमूलभाष्य (छठी शती ई० का अन्तिम भाग),^{१.२} विशेषावश्यकभाष्य (सातवीं शती ई०),^{१.२} प्रवचनपरीक्षा (१६वीं शती ई०)^{१.३} आदि श्वेताम्बरग्रन्थों में वर्णित बोटिकमतोत्पत्तिकथा में कहा गया है कि बोटिक शिवभूति ने वीर नि० सं० ६०९ (ई० सन् ८२) में बोटिकमत अर्थात् दिगम्बरमत का प्रवर्तन किया था। बीसवीं सदी ई० के श्वेताम्बरमुनि श्री कल्याणविजय जी ने भी श्वेताम्बरग्रन्थों में इस प्रकार के उल्लेख को स्वीकार किया है। उन्होंने लिखा है—“श्वेताम्बर जैनसंघ के अनेक नये-पुराने ग्रन्थों में दिगम्बरसम्प्रदाय का उल्लेख और वर्णन है, पर कहीं भी इनको श्वेताम्बरों ने ‘आजीविक’ अथवा ‘त्रैराशिक’ नहीं कहा। भाष्यों और चूर्णियों में सर्वत्र इनको ‘बोडिय’ (बोटिक) इस नाम से व्यवहृत किया है। दसवीं सदी के बाद के ग्रन्थों में आशाम्बर, दिगम्बर, दिक्पट इत्यादि नामों का इनके लिए प्रयोग हुआ है।” (श्र.भ.म./पृ.२७८)। किन्तु मुनि जी ने अपने पूर्वाचार्यों के इस कथन को अमान्य करते हुए एक नई कल्पना को जन्म दिया है। वह यह कि ‘बोटिक शिवभूति ने दिगम्बरमत का प्रवर्तन नहीं किया था, अपितु यापनीयमत चलाया था। दिगम्बरमत का प्रारम्भ विक्रम की छठी शताब्दी (कदम्बवंशी राजा श्रीविजयशिवमृगेशवर्मा के समय ४७० ई०) में दक्षिण भारत के आचार्य कुन्दकुन्द ने किया था।’ (श्र.भ.म./पृ.३०२/पा.टि.१)। और इस कल्पना

१.१. आवश्यकनिर्युक्ति के कर्ता भद्रबाहु (द्वितीय) का समय विक्रम सं० ५६२ (५०५ ई०)।

(डॉ० मोहनलाल मेहता : जैनसाहित्य का बृहद् इतिहास / भाग ३ / पृ. ७०)।

१.२. आवश्यकमूलभाष्य के कर्ता के नाम एवं समय का उल्लेख इतिहास-ग्रन्थों में नहीं मिलता। इसकी अनेक गाथाएँ विशेषावश्यक-भाष्य में सम्मिलित कर ली गयी हैं। (जै.सा.बृ.इ./भा. ३ / पृ. १२९-१३०)। भाष्यों का रचनाकाल निर्युक्तियों के रचनाकाल (विक्रम सं० ५००-६०० का मध्य—जै.सा.बृ.इ./भा.३/पृ.७०) के बाद आता है। विशेषावश्यकभाष्य के कर्ता श्री जिनभद्रगणिकामाश्रमण का उत्तरकाल विक्रम सं० ६५०-६६० के आसपास माना गया है। विशेषावश्यकभाष्य उनकी अन्तिम कृति थी। (जै.सा.बृ.इ./भा.३/पृ.१३५)। अतः आवश्यक मूलभाष्य की रचना छठी शती ई० के अन्त में हुई होगी।

१.३. प्रवचनपरीक्षा का रचनाकाल विक्रमसंवत् १६२९ (ई० सन् १५७२)। (डॉ० जगदीशचन्द्र जैन : प्राकृत साहित्य का इतिहास / पृ.२८७)।

को युक्तिसंगत बनाने के लिए उन्होंने यह कथा गढ़ी है कि 'कुन्दकुन्द आरंभ में शिवभूति द्वारा प्रवर्तित यापनीयसंघ में दीक्षित हुए थे। किन्तु आगे चलकर उन्होंने यापनीयों द्वारा मान्य श्वेताम्बरीय आगमों को अस्वीकार कर दिया और नवीन साहित्य रचकर उसमें यापनीयों के आपवादिक सवस्त्रलिंग, स्त्रीमुक्ति, केवलिकवलाहार आदि सिद्धान्तों को जिनोपदेश के विरुद्ध ठहराया। यापनीयसंघ के अधिकांश साधुओं ने कुन्दकुन्द के इन नवीन विचारों का विरोध किया, किन्तु अनेक साधु उनके अनुयायी बन गये। (श्र.भ.म./पृ.३०२-३०६)। इस प्रकार कुन्दकुन्द ने सवस्त्रमुक्ति स्त्रीमुक्ति और केवलिकवलाहार के निषेधक दिगम्बर-सम्प्रदाय की नींव रखी।' (श्र.भ.म./पृ.३२८)।

मुनि जी ने कुन्दकुन्द को दिगम्बरमत का संस्थापक सिद्ध करने के लिए बोटिक शिवभूति को यापनीयमत का प्रवर्तक घोषित करते हुए कहा है कि कुन्दकुन्द प्रथमतः उसके संघ में दीक्षित हुए थे। किन्तु, मुनि जी का यह कथन सत्य नहीं है। शिवभूति यापनीयमत का प्रवर्तक नहीं था, यह उसी बोटिकमतोत्पत्ति कथा से सिद्ध होता है, जिसके आधार पर मुनि जी ने उसे यापनीयमत का प्रवर्तक बतलाया है। अतः सत्य का साक्षात्कार करने के लिए उस बोटिकमतोत्पत्तिकथा का अनुशीलन करना आवश्यक है। वह नीचे दी जा रही है।

१

बोटिकमतोत्पत्ति कथा

'आवश्यकमूलभाष्य' की निम्नलिखित गाथाओं में कहा गया है कि वीर नि० सं० ६०९ में बोटिक शिवभूति ने बोटिक (दिगम्बर) मत चलाया था—

छव्वाससयाइं नवुत्तराइं तइया सिद्धिं गयस्स वीरस्स ।
तो बोडियाण दिड्डी रहवीरपुरे समुप्पण्णा ॥ १४५ ॥
रहवीरपुरं नगरं दीवगमुज्जाण अज्जकण्हे य ।
सिवभूइस्सुवहिम्मि य पुच्छा थेराण कहणा य ॥ १४६ ॥
ऊहाए पण्णत्तं बोडिय-सिवभूइ-उत्तराहि इमं ।
मिच्छादंसणमिणमो रहवीरपुरे समुप्पण्णा ॥ १४७ ॥
बोडिय-सिवभूइओ बोडियलिंगस्स होइ उप्पत्ती ।
कोडिण्ण-कोट्टवीरा परंपराफासमुप्पण्णा ॥ १४८ ॥^{१०}

१०. क—आवश्यकनिर्युक्ति / गाथा ७८३ की हारिभद्रीयवृत्ति में उद्धृत।

अनुवाद—“भगवान् महावीर के मुक्ति को प्राप्त होने के ६०९ वर्ष बाद ‘रहवीरपुर’ नामक नगर में बोटिकमत की उत्पत्ति हुई। (१४५)। रहवीरपुर नगर के दीपक उद्यान में गुरु आर्यकृष्ण से शिवभूति ने उपधि (परिग्रह) के विषय में प्रश्न किया था। गुरु ने उसका उत्तर भी दिया था। (१४६)। फिर भी बोटिक शिवभूति और उसकी बहिन उत्तर के द्वारा स्वबुद्धि से यह मिथ्यादर्शन रहवीरपुर में प्रचलित किया गया। (१४७)। बोटिक शिवभूति से बोटिकलिंग की उत्पत्ति हुई और कौण्डिन्य तथा कोट्टवीर नामक शिष्यों की परम्परा से उसका विकास हुआ।” (१४८)।

श्वेताम्बरसाहित्य में दिगम्बर साधु के लिए ‘बोटिक’ शब्द का प्रयोग हुआ है, यथा—‘क्षपणको बोटिको।’^{११} ‘क्षपणको दिगम्बरः।’^{१२} इससे सिद्ध है कि उपर्युक्त गाथाओं में दिगम्बरमत की ही उत्पत्ति का वर्णन किया गया है।

छठी-सातवीं शताब्दी ई० के श्वेताम्बराचार्य श्री जिनभद्रगणी क्षमाश्रमण ने भी आवश्यक-मूलभाष्य की उपर्युक्त गाथाएँ ‘विशेषावश्यकभाष्य’ (गा. २५५०-५२) में समाविष्ट कर बोटिक शिवभूति को बोटिकमत का प्रवर्तक कहा है। और बोटिकमत से उनका आशय दिगम्बरमत से है, क्योंकि उन्होंने विशेषावश्यकभाष्य में लिखा है कि जिनकल्प ग्रहण करने के लिए उद्यत शिवभूति ने गुरु के द्वारा बहुत समझाये जाने पर भी मिथ्यात्व के वशीभूत हो जिनमत में अश्रद्धा करते हुए वस्त्र त्याग दिये—

इय पणविओ वि बहुं सो मिच्छत्तोदयाकुलियभावो।

जिणमयमसहंतो छड्डियवत्थो समुज्जाओ ॥ २६०६ ॥

गणी जी ने कहा है कि बोटिकों के मत, लिंग (वेश) और चर्या जैनों (श्वेताम्बरों)

ख—‘आवश्यकमूलभाष्य’ आवश्यकसूत्र पर लिखे गये मूलभाष्य का नाम है। “आवश्यकसूत्र पर तीन भाष्य लिखे गये हैं : १. मूलभाष्य, २. भाष्य और ३. विशेषावश्यकभाष्य। प्रथम दो भाष्य बहुत ही संक्षिप्तरूप में लिखे गये और उनकी अनेक गाथाएँ विशेषावश्यकभाष्य में सम्मिलित कर ली गयीं। --- उपलब्ध भाष्यों की प्रतियों के आधार पर केवल दो भाष्यकारों के नाम का पता लगता है। वे हैं आचार्य जिनभद्र और संघदासगणी। आचार्य जिनभद्र ने दो भाष्य लिखे हैं : विशेषावश्यकभाष्य और जीतकल्पभाष्य। संघदासगणी के भी दो भाष्य हैं : बृहत्कल्पभाष्य और पंचकल्पभाष्य।” (डॉ. मोहनलाल मेहता : जैनसाहित्य का बृहद् इतिहास / भाग ३/पृ. १२९-१३०)। इस कथन से ज्ञात होता है कि ‘मूलभाष्य’ और ‘भाष्य’ के कर्ताओं के नाम अज्ञात हैं।

११. प्रवचनपरीक्षा / वृत्ति १/२/३-४/पृ.६६।

१२. वही/१/१/८/पृ.१९।

के मत, लिंग और चर्या से भिन्न हैं, इसलिए बोटिक मिथ्यादृष्टि माने गये हैं—“भिन्नमय-लिंगचरिया मिच्छद्द्विद्वि त्ति बोडियाऽभिमया।” (विशे.भा./गा.२६२०)। इससे सूचित होता है कि शिवभूति नग्न तो हो गया था, किन्तु वह मुखवस्त्रिका और रजोहरण से युक्त नहीं था, जो श्वेताम्बर जिनकल्पी साधु के न्यूनतम आवश्यक उपकरण हैं^{१३} इसलिए उसका लिंग श्वेताम्बरागम-कथित जिनकल्पी-साधुसदृश नहीं था। वृत्तिकार मलधारी हेमचन्द्रसूरि (१२वीं शती ई०) ने भी कहा है कि बोटिक तो द्रव्यलिंग की अपेक्षा भी (श्वेताम्बर जिनकल्पियों और स्थविरकल्पियों से) भिन्न हैं^{१४} यहाँ स्मरणीय है कि यापनीयों का मत श्वेताम्बरों के मत से भिन्न नहीं था तथा यापनीय-स्थविरकल्पी (सवस्त्र) साधुओं का लिंग और चर्या भी श्वेताम्बर साधुओं के लिंग और चर्या से समानता रखते थे। मात्र दिगम्बरसाधु ही इन तीनों बातों में श्वेताम्बर साधुओं से भिन्न होते हैं। अतः जिनभद्रगणी ने शिवभूति को दिगम्बरमत का ही प्रवर्तक कहा है।

कल्पसूत्र के व्याख्याकार समयसुन्दरगणी (१७ वीं शती ई०) ने भी बोटिकमत का अर्थ स्पष्ट करते हुए कहा है कि वीर निर्वाण संवत् ६०९ में बोटिकमत अर्थात् दिगम्बरमत उत्पन्न हुआ था—“वीरात् सं० ६०९ वर्षे बोटिकमतं जातं, दिगम्बरमत इत्यर्थः।” (कल्पलताव्याख्या / कल्पसूत्र / अष्टम व्याख्यान / पृ.२३५)।

दिगम्बरमत के प्रवर्तक एवं प्रवृत्तिकाल के विषय में श्वेताम्बराचार्यों द्वारा की गई यह सबसे पुरानी कल्पना है।

२

बोटिकमतोत्पत्ति कथा का विस्तार से वर्णन

विशेषावश्यकभाष्य (गा. २५५१-२५५२) की वृत्ति में श्री मलधारी हेमचन्द्रसूरि ने बोटिकमतोत्पत्ति-कथा का संस्कृत में विस्तार से वर्णन किया है, जो इस प्रकार है—

“रथवीरपुरं नाम नगरम्। तद्बहिश्च दीपकाभिधानमुद्यानम्। तत्र चार्यकृष्णनामानः सूरयः समागताः तस्मिंश्च नगरे सहस्रमल्लः शिवभूतिर्नाम राजसेवकः समस्ति। स च राजप्रसादाद् विलासान् कुर्वन् नगरमध्ये पर्यटति। रात्रेश्च प्रहरद्वयेऽतिक्रान्ते गृहमागच्छति।

१३. “केशाञ्जिज्जिनकल्पानां रजोहरणं मुखवस्त्रिका चेति द्विविध उपधिः। अन्येषां तु कल्पेन सह त्रिविधः, कल्पद्वयेन तु सह चतुर्विधः, कल्पत्रयेण सह पञ्चविधः—” हेम. वृत्ति / विशेषावश्यकभाष्य / गा. २५५१-५२।

१४. “अष्टमं नगरं द्रव्यलिङ्गमात्रेणापि भिन्नानां सर्वापलापिनां महामिथ्यादृशां वक्ष्यमाणानां बोटिकनिह्वानां लाघवार्थमुत्पत्तिस्थानमुक्तम्।” हेम. वृत्ति / विशेषा.भा. / गा.२३०३।

तत - एतदीयभार्या तन्मातरं भणति—‘निर्वेदिताऽहं त्वत्पुत्रेण, न खल्वेष रात्रौ वेलायां कदाचिदप्यागच्छति। तत उज्जागरकेण बुभुक्षया च बाध्यमाना प्रत्यहं तिष्ठामि।’ ततस्तया प्रोक्तम्—‘वत्से! यद्येवं, तर्हि त्वमद्य स्वपिहि, स्वयमेवाहं जागरिष्यामि।’ ततः कृतं वध्वा तथैव, इतरस्यास्तु जाग्रत्या रात्रिप्रहरद्वयेऽतिक्रान्ते समागत्य शिवभूतिना प्रोक्तम्—‘द्वारमुद्घाटयत।’ ततः प्रकुपितया मात्रा प्रोक्तम्—‘दुर्नयविधे! यत्रैतस्यां वेलायां द्वाराण्युद्घाटितानि भवन्ति तत्र गच्छ, न पुनरेवं तव पृष्ठलग्नः कोऽप्यत्र मरिष्यति।’ ततः कोपाऽहङ्काराभ्यां प्रेर्यमाणोऽसौ निर्गतः। पर्यटता चोद्घाटितद्वारः साधूपाश्रयो दृष्टः। तत्र च साधवः कालग्रहणं कुर्वन्ति। तेषां च पार्श्वे तेन वन्दित्वा व्रतं याचितम्। तैश्च ‘राजवल्लभः, मात्रादिभिरमुत्कलितश्च’ इति न दत्तम्। ततः खेलमल्लकाद् (दीक्षां) गृहीत्वा स्वयमेव लोचः कृतः। साधुभिलिङ्गं समर्पितम्। विहृताश्च सर्वेऽप्यन्यत्र। कालान्तरेण पुनरपि च तत्रागताः। ततो राज्ञा शिवभूते-र्बहुमूल्यं कम्बलरत्नं दत्तम्। तत आचार्यैः शिवभूतिरुक्तः—‘किमनेन तव साधूनां मार्गादिष्वनेकानर्थहेतुना गृहीतेन? ततस्तेन गुर्वप्रतिभासेनापि संगोप्य मूर्च्छया तद् विधृतम्। गोचरचर्याभिश्चागतः प्रत्यहं तदसौ सम्भालयति, न तु क्वचिदपि व्यापारयति। ततः ‘गुरुभिर्मूर्च्छितोऽयमत्र’ इति ज्ञात्वाऽन्यत्र दिने तमनापुच्छ्यैव बहिर्गतस्य परोक्षे तत् कम्बल-रत्नं पाटयित्वा साधूनां पादप्रोञ्चनकानि कृतानि। ततो ज्ञातव्यतिकरः कषायितोऽसौ तिष्ठति। अन्यदा च सूरयो जिनकल्पिकान् वर्णयन्ति, तद्यथा—

जिणकप्पिया य दुविहा पाणिपाया पडिग्गहधरा य।
 पाउरणमपाउरणा इक्किका ते भवे दुविहा ॥ १ ॥
 दुग तिग चउक्क पणगं नव दस एकारसेव बारसगं।
 ए अट्ट विगप्पा जिणकप्पे होति उवहिस्स ॥ २ ॥

“इह केषाञ्चिज्जिनकल्पानां रजोहरणं, मुखवस्त्रिका चेति द्विविध उपधिः, अन्येषां तु कल्पेन सह त्रिविधः, कल्पद्वयेन तु सह चतुर्विधः, कल्पत्रयेण सह पञ्चविधः। केषाञ्चित्तु मुखवस्त्रिका, रजोहरणं च, तथा—

पत्तं पत्ताबंधो पायडुवणं च पायकेसरिया।
 पटलाइं रयत्ताणं च गोच्छओ पायनिज्जोगो ॥ १ ॥

“इति सप्तविधः पात्रनिर्योग इति, एवं च नवविधः। कल्पेन तु सह दशविधः, कल्पद्वयेन सहैकादशविधः, कल्पत्रयेण तु समं द्वादशविध उपधिः केषाञ्चिज्जिनकल्पना-मिति। तदेतत् श्रुत्वा शिवभूतिना प्रोक्तम्—‘यद्येवं, तर्हि किमिदानीमौघिक औपग्रह-कश्चैतावानुपधिः परिगृह्यते? स एव जिनकल्पः किं न क्रियते? ततो गुरुभिरुक्तम्—‘जम्बूस्वामिनि व्यवच्छिन्नोऽसौ संहननाद्यभावात् साम्प्रतं न शक्यत एव कर्तुम्।’ ततः शिवभूतिना प्रोक्तम्—‘मयि जीवति स किं व्यवच्छिद्यते? नन्वहमेव तं करोमि, परलोकार्थिना

स एव निष्परिग्रहो जिनकल्पः कर्तव्यः, किं पुनरनेन कषाय-भय-मूर्च्छादिदोषनिधिना परिग्रहानर्थेन? अत एव श्रुते निष्परिग्रहत्वमुक्तम्। अचेलकाश्च जिनेन्द्राः, अतोऽचेलतैव सुन्दरेति।' ततो गुरुणा प्रोक्तम्—'हन्त! यद्येवम् तर्हि देहेऽपि कषाय-भय-मूर्च्छादयो दोषाः कस्यापि सम्भवन्तीति सोऽपि व्रतग्रहणानन्तरमेव त्यक्तव्यः प्राप्नोति। यच्च श्रुते निष्परिग्रहत्वमुक्तं तदपि धर्मोपकरणेष्वपि मूर्च्छा न कर्तव्या, मूर्च्छाभाव एव निष्परिग्रहत्वमवसेयम्, न पुनः सर्वथा धर्मोपकरणस्यापि त्यागः। जिनेन्द्रा अपि न सर्वथैवाचेलकाः 'सर्व्वे वि एगदूसेण निग्गया जिणवरा चउव्वीसं' इत्यादिवचनात्। तदेवं गुरुणा स्थविरैश्च यथोक्ताभिर्वक्ष्यमाणाभिश्च युक्तिभिः प्रज्ञाप्यमानोऽपि तथाविधकषायमोहादिकर्मोदयाद् न स्वाग्रहाद् निवृत्तोऽसौ, किन्तु चीवराणि परित्यज्य निर्गतः। ततश्च बहिरुद्घाने व्यवस्थितस्यास्योत्तरा नाम भगिनी वन्दनार्थं गता। सा च त्यक्तचीवरं तं भ्रातरमालोक्य स्वयमपि चीवराणि त्यक्तवती। ततो भिक्षार्थं नगरमध्ये प्रविष्टा गणिकया दृष्टा। तत इत्थं विवस्त्रां बीभत्सामिमां दृष्ट्वा 'मा लोकोऽस्मासु विराङ्क्षीत्' इत्यनिच्छिन्त्यपि तया वस्त्रं परिधापिताऽसौ तत एष व्यतिकरोऽनया शिव-भूतेर्निवेदितः। ततोऽनेन 'विवस्त्रा योषिद् नितरां बीभत्साऽतिलज्जनीया च भवति' इति विचिन्त्य प्रोक्ताऽसौ—'तिष्ठत्वित्थमपि, न त्यक्तव्यं त्वयैतद् वस्त्रम्। देवतया हि तवेदं प्रदत्तमिति।' ततः शिवभूतिना कौण्डिन्य-कोट्टवीरनामानौ द्वौ शिष्यौ दीक्षितौ---।

“तस्मात् कौण्डिन्य-कोट्टवीरात् परम्परास्पर्शमाचार्य-शिष्यसम्बन्धलक्षणमधिकृत्योत्पन्ना सञ्जाता 'बोटिकदृष्टिः' इत्यध्याहारः। इत्येवं बोटिकाः समुत्पन्नाः।” (हेम. वृत्ति/विशे.भा/ गा. २५५१-५२)।

अनुवाद

“रथवीरपुर नाम का नगर था। उसके बाहर दीपक नाम का उद्यान था। उसमें आर्यकृष्ण नाम के आचार्य आये हुए थे। उस नगर में सहस्रमल्ल शिवभूति नाम का राजसेवक रहता था। वह राजा का कृपापात्र था, इसलिए मौजमस्ती करते हुए नगर में घूमता रहता था। आधी रात को घर आता था। इससे उसकी पत्नी बड़ी दुखी थी। एक बार वह अपनी सास से बोली—“आपके पुत्र से मैं परेशान हो गई हूँ। वे रात में कभी भी समय पर घर नहीं आते। मैं भूखी-प्यासी जागती बैठी रहती हूँ।” सास ने कहा—“बेटी, यदि ऐसा है तो तुम आज सो जाओ, मैं स्वयं जागूँगी।” बहू ने वैसा ही किया। जब सास जाग रही थी, तब आधी रात को शिवभूति आकर बोला—“दरवाजा खोलो।” क्रुद्ध माँ ने जबाब दिया—“दुष्ट, इस समय जहाँ दरवाजा खुला हो वहाँ चला जा। तेरे पीछे यहाँ कोई प्राण नहीं दे देगा।” तब क्रोध और अभिमान से प्रेरित होकर वह चला गया। एक जगह उसने साधुओं के उपाश्रय का

द्वार खुला हुआ देखा। वहाँ साधु कालग्रहण^{१५} कर रहे थे। उनके पास जाकर उसने वन्दना की और दीक्षा देने की प्रार्थना की। साधुओं ने सोचा कि यह राजा का प्रिय है और माता से कलह करके आया है, अतः उसे दीक्षा नहीं दी। तब 'खेलमल्लक' नामक किसी साधु से दीक्षा लेकर उसने स्वयं केशलोच कर लिया। तब साधुओं ने भी उसे मुनिलिंग प्रदान कर दिया। फिर वे सभी साधु वहाँ से विहार कर गये। कुछ समय बाद पुनः उसी नगर में आये। तब राजा ने शिवभूति को एक बहुमूल्य कम्बलरत्न भेंट किया। आचार्य ने शिवभूति से कहा—“तुमने इसे क्यों लिया। मार्ग आदि में इससे अनेक तरहकी विपत्तियाँ आ सकती हैं।” शिवभूति ने मूर्च्छा के वशीभूत हो उसे गुरु से छिपाकर रख दिया। वह गोचरचर्या से आकर प्रतिदिन उसे सँभालता था और उसका कहीं भी उपयोग नहीं करता था। तब आचार्य ने सोचा—यह इसमें मूर्छित हो गया है, अतः दूसरे दिन जब वह बाहर गया था, तब उन्होंने उससे बिना पूछे ही उस कम्बलरत्न को फाड़कर साधुओं के लिए पाँवपौछने बना दिये। जब शिवभूति को यह पता चला तो वह क्रुद्ध हो गया। एक दिन आचार्य जिनकल्पिक साधुओं का वर्णन कर रहे थे, यथा—

“जिनकल्पिक दो प्रकार के होते हैं : पाणिपात्र और प्रतिग्रहधर (पात्रधारी)। इनमें से प्रत्येक के सप्रावरण और अप्रावरण ये दो भेद हैं।

“जिनकल्प में उपधि के दो, तीन, चार, पाँच, नौ, दस, ग्यारह, और बारह, ये आठ विकल्प होते हैं।”

“अर्थात् किन्हीं जिनकल्पिकों के रजोहरण और मुखवस्त्रिका ये दो ही उपधियाँ होती हैं, किन्हीं के एक कल्प (प्रावरण=चादर या कम्बल) को मिलाकर तीन, किन्हीं के दो कल्पों को मिलाकर चार, किन्हीं के तीन कल्पों को मिलाकर पाँच उपधियाँ होती हैं, और किन्हीं के मुखवस्त्रिका एवं रजोहरण तथा—

“पात्र, पात्रबन्ध, पात्रस्थापन, पात्र-केसरिका (पात्रप्रमार्जनिका) पटल, रजस्त्राण और गुच्छक, यह सप्तविध पात्रनियोग,

“इस प्रकार नौ उपधियाँ होती हैं। इनके साथ एक कल्प को मिलाकर किन्हीं के पास दस, दो कल्पों को मिलाकर किन्हीं के पास ग्यारह और तीन कल्पों को मिलाकर किन्हीं जिनकल्पिकों के पास बारह उपधियाँ होती हैं।”

१५. “कालग्रहण = सूत्र/शास्त्र का नया पाठ ग्रहण करने के पूर्व वातावरण, वसति (उपाश्रय) एवं मन की शुद्धि के निमित्त किया जानेवाला अनुष्ठान। --- शास्त्राभ्यास के लिए दिन में चार बार कालग्रहण करने का विधान है।” (खरतरगच्छालंकार-श्री जिनप्रभसूरिकृत 'विधिमार्गप्रपा'/अनुवाद : साध्वी सौम्यगुणाश्री/परिशिष्ट ३/पृ. २१)।

“जिनकल्पक साधुओं का यह वर्णन सुनकर शिवभूति ने कहा—“यदि ऐसा है, तो इतनी औषधिक और औपग्रहिक उपधि का परिग्रह क्यों किया जाता है? उसी जिनकल्प को अंगीकार क्यों नहीं किया जाता?”

“तब गुरु ने कहा—“जम्बूस्वामी के निर्वाण के बाद जिनकल्प का विच्छेद हो चुका है। संहनन आदि के अभाव में अब उसका आचरण संभव नहीं है।”

“शिवभूति बोला—“मेरे रहते उसका विच्छेद कैसे हो सकता है? मैं उसे धारण करूँगा। परलोकार्थी (मोक्षार्थी) को वही निष्परिग्रह जिनकल्प धारण करना चाहिए। यह परिग्रह तो कषाय, भय, मूर्च्छा आदि दोषों का कारण है, अतः अनर्थरूप है। इसीलिए श्रुत में निष्परिग्रहत्व का उपदेश दिया गया है। जिनेन्द्र भी अचेलक थे, अतः अचेलता ही सुन्दर है (मोक्ष का प्रामाणिक, सम्यक् मार्ग है)।”

“तब गुरु ने कहा—“यदि ऐसा है, तो शरीर को भी व्रतग्रहण के अनन्तर ही छोड़ देना जरूरी हो जायेगा, क्योंकि उसके होने पर भी किसी में कषाय, भय, मूर्च्छा आदि दोष उत्पन्न हो सकते हैं। और श्रुत में जो निष्परिग्रहत्व का उपदेश है, उसका तो यह अर्थ है कि धर्मोपकरणों में भी मूर्च्छा नहीं करनी चाहिए। मूर्च्छा का अभाव ही निष्परिग्रहत्व है, न कि धर्मोपकरणों का भी सर्वथा त्याग। और जिनेन्द्र भी सर्वथा अचेलक नहीं थे, क्योंकि आगम में कहा गया है कि सभी चौबीस तीर्थंकर एक वस्त्र लेकर प्रव्रजित हुए थे।”

“इस प्रकार गुरु तथा स्थविरों के द्वारा समझाये जाने पर भी कषाय-मोहादिकर्मों के उदय से शिवभूति ने अपना आग्रह नहीं छोड़ा और वस्त्र त्याग कर निकल गया। जब वह बाहर उद्यान में बैठा था, तब उसकी बहन उत्तरा वन्दना करने के लिये आयी और अपने भाई को निर्वस्त्र देखकर उसने भी वस्त्र त्याग दिये। पश्चात् भिक्षा के लिये नगर में गयी, तो उस पर एक गणिका की नजर पड़ी। गणिका ने सोचा कि निर्वस्त्र अवस्था में यह बीभत्स लगती है। स्त्रियों की इस बीभत्सता को देखकर कहीं लोग हमसे विरक्त न हो जायँ, यह सोचकर उत्तरा के न चाहते हुए भी गणिका ने उसे वस्त्र पहना दिये। उत्तरा ने यह घटना शिवभूति को बतलाई। तब शिवभूति ने सोचा कि नग्न स्त्री अत्यन्त बीभत्स एवं लज्जास्पद लगती है, अतः उसने अपनी बहिन से कहा—“तुम ऐसी ही रहो, इस वस्त्र का परित्याग मत करो। यह वस्त्र तुम्हें देवता ने प्रदान किया है।” तत्पश्चात् शिवभूति ने कौण्डिन्य और कोट्टवीर नाम के दो शिष्यों को दीक्षित किया। इन शिष्यों से बोटिक शिवभूति की गुरु-शिष्य-परम्परा का उद्भव हुआ, जिससे बोटिकमत की उत्पत्ति हुई।”

आवश्यकमूलभाष्य की पूर्वोद्धृत गाथाओं से बोटिक शब्द का अर्थ भी स्पष्ट हो जाता है। १४८ वीं गाथा में कहा गया है कि बोटिक शिवभूति से बोटिकलिंग की उत्पत्ति हुई। इससे प्रकट होता है कि 'बोटिक' शब्द शिवभूति के गोत्र अथवा उसके साथ जुड़ी किसी उपाधि का वाचक है। यह भी हो सकता है कि वह उसके आधी-आधी रात तक स्वच्छन्द भ्रमण करने वाले चरित्र का सूचक कोई लोकप्रचलित शब्द हो। उस बोटिक शिवभूति के द्वारा प्रचलित किये जाने के कारण यह मत बोटिकमत के नाम से प्रसिद्ध हुआ।

३

मुनि कल्याणविजय जी के मनगढ़न्त निष्कर्ष

इस कथा की समीक्षा करते हुए मुनि श्री कल्याणविजय जी लिखते हैं—“शिवभूति ने आर्यकृष्ण से उपधि न रखने के सम्बन्ध में जो दलीलें की हैं, उनका सार इतना ही है कि 'उपधि' कषाय, मूर्च्छा और भय इत्यादि का कारण है। उन्होंने यह नहीं कहा कि उपधि रखने से मुक्ति ही नहीं होती।---यद्यपि शिवभूति ने वस्त्रपात्र न रखने का उत्कृष्ट जिनकल्प स्वीकारा था, आगे जाकर उन्हें अनुभव हुआ कि इस प्रकार का उत्कृष्टमार्ग अधिक समय तक चलना कठिन है। अत एव उन्होंने साधुओं का आपवादिक लिंग भी स्वीकार किया। (श्र.भ.म. / पृ.२९६)।

“एक व्यक्ति कैसा भी आचरण कर सकता है, पर वैसा ही आचरण करनेवालों की परम्परा जारी रखना सरल नहीं।---परिणामस्वरूप अपने मार्ग को उन्होंने आचाराङ्गोक्त मूल स्थविरमार्ग में परिगणित किया और जो इस उत्सर्गमार्ग को न पाल सकें, उनके लिये उसी सूत्र के अनुसार कुछ वस्त्र-पात्र रखने की व्यवस्थावाला अपवादमार्ग भी नियत किया।

“यद्यपि शिवभूति के सम्प्रदाय का उद्भव उत्तरापथ में हुआ था, पर वहाँ उसका अधिक प्रचार नहीं हो सका। कारण स्पष्ट है। प्राचीन स्थविरसंघ का उन दिनों वहाँ पूर्ण प्राबल्य फैला हुआ था और मथुरा के आसपास के ९६ गाँवों में तो जैनधर्म राजधर्म के रूप में माना जाता था। इस स्थिति में शिवभूति या उनके अनुयायियों का वहाँ टिकना बहुत कठिन था। इस कठिनाई के कारण उस सम्प्रदाय ने उधर से हटकर दक्षिणापथ की तरफ प्रयाण किया, जहाँ आजीविक-संप्रदाय के प्रचार के कारण पहले ही नग्न साधुओं की तरफ जन-साधारण का सद्भाव था। वहाँ जाने पर इस सम्प्रदाय की भी अच्छी कदर हुई और धीरे-धीरे वह पगभर हो गया। यद्यपि इस सम्प्रदायवालों ने अपने संप्रदाय का नाम 'मूलसंघ' रक्खा था, पर दक्षिण में जाने के बाद वे 'यापनीय' और 'खमण' इन नामों से अधिक प्रसिद्ध हुए।

“प्राचीन स्थविर परम्परा में प्रतिदिन शैथिल्य के भाव बढ़ रहे थे। बस्ती में रहना तो उन्होंने पहले ही शुरू कर लिया था, अब धीरे-धीरे उनमें चारित्र्यमार्ग की अन्य शिथिलताएँ भी प्रवेश कर रही थीं। यद्यपि सुविहित गीतार्थ व्यवस्था बनाये रखने के लिये बहुत कुछ प्रयत्न कर रहे थे, शिथिलाचारियों का ‘पासत्था’ आदि नामों से परिचय दे उनके चेप से बचने के लिये वे साधुओं को उपदेश दे रहे थे, फिर भी निम्नगामी शैथिल्य-प्रवाह रोका नहीं जा सका। विक्रम की पाँचवीं और छठी सदी तक ‘पासत्था’ आदि नामों से पहचाने जानेवाले शिथिलाचारियों के गाँव-गाँव में अड्डे जमने लगे और उग्रविहारी सुविहितों की संख्या कम होने लगी। इस स्थिति से नवीन स्थविर (दिगम्बर) परम्परा ने पर्याप्त लाभ उठाया। परिमित वस्त्र-पात्र की छूट के कारण उनके यहाँ साधुओं की संख्या खूब बढ़ती गई और प्राचीनकालीन नग्नतादि उत्कृष्ट क्रियाओं के कारण गृहस्थवर्ग भी प्रतिदिन उनकी तरफ झुकता गया। परिणाम यह हुआ कि विक्रम की पाँचवीं सदी के आसपास जाकर इस परम्परा ने अपना स्वतन्त्र संघ स्थापित कर दिया और प्राचीन स्थविर परम्परा के पूर्व नाम ‘मूलसंघ’ को अपने लिये व्यवहृत किया।

“यद्यपि यह नया ‘मूलसंघ’ तब तक उन्हीं जैन आगमों से अपना काम चलाता था, तथापि महावीर का गर्भापहार, उनका विवाह आदि अनेक बातें वह नहीं भी मानता था और इस कारण वह धीरे-धीरे अपना नया साहित्य-निर्माण किये जाता था।

“प्राचीन स्थविरपरम्परा के अधिक साधुओं के शिथिल और नित्यवासी हो जाने पर भी उसमें त्यागी सुविहित श्रुतधरों की भी कमी न थी। नवीन परम्परा की उत्कृष्टता अथवा उन्नति के कारण नहीं, पर उसके नये विचार और कतिपय सिद्धान्तभेद के कारण उन्होंने इसका फिर प्रतिवाद करना शुरू किया और परिणामस्वरूप दोनों परम्परावालों में तनातनी बढ़ने लगी। छठी सदी के विद्वान् आचार्य कुन्दकुन्द, देवनन्दी वगैरह ने प्राचीन परम्परा से मजबूत मोरचा लिया। पहले जो सूत्र, निर्युक्ति आदि प्राचीन आगमों को इनके पूर्वाचार्य मानते आये थे, इन्होंने उनका मानना भी अस्वीकार कर दिया और अपने लिये आचार, विचार और दर्शनविषयक स्वतन्त्र साहित्य की रचना की, जिसमें वस्त्र-पात्र रखने का एकान्तरूप से निषेध किया। यद्यपि इस ऐकान्तिक निषेध के कारण उन्हें स्त्रीमुक्ति और केवलभुक्ति का भी निषेध करना पड़ा, क्योंकि स्त्रियों को सर्वथा अचेलक मानना अनुचित था और वस्त्रसहित रहते हुए उनकी मुक्ति मान लेने पर अपने वस्त्रधारी प्रतिस्पर्द्धियों की मुक्ति का निषेध करना असंभव था। इसी तरह केवली का कवलाहार मानने पर उसके लाने के लिये पात्र भी मानना पड़ता और इस दशा में पात्रधारी स्थविरों का खंडन नहीं करने पाते।

“इन नये सिद्धान्तों की योजना से उन्हें अपनी परम्परागत आपवादिक लिङ्ग-प्रवृत्ति को स्वयं उठा देना पड़ा, क्योंकि ऐसा किये बिना वे विरोधिपक्ष का सामना कर नहीं सकते थे।

“कुन्दकुन्दाचार्य आदि के इन नये सिद्धान्तों से इस परम्परा को कुछ लाभ हुआ और कुछ हानि भी।

“लाभ यह हुआ कि ऐसी ऐकान्तिक अचेलकवृत्ति से दक्षिण देश में, जहाँ पहले से ही आजीविक आदि नग्न सम्प्रदायवालों का मान और प्रचार था, इनके अनुयायी गृहस्थों की संख्या काफी बढ़ गई और इस कारण साधुसमुदाय में भी वृद्धि हुई।

“हानि यह हुई कि इनके नये सिद्धान्तों को इस परम्परा के सभी अनुयायियों ने स्वीकार नहीं किया और परिणामस्वरूप यह परम्परा जो पहले केवल ‘मूलसंघ’ के नाम से पहचानी जाती थी, अब से अनेक भागों में बँट गई और उसके अनेक संघ बन गये, जो ‘यापनीय संघ,’ ‘काष्ठासंघ,’ ‘माथुरसंघ’ वगैरह नामों से प्रसिद्ध हुए और एक दूसरे को भला बुरा कहने लगे।” (श्र.भ.म./पृ.३०१-३०७)।

मुनिजी आगे लिखते हैं—“दिगम्बर शिवभूति ने जो सम्प्रदाय चलाया था, वह दक्षिण में जाकर ‘यापनीयसंघ’ के नाम से प्रसिद्ध हो गया था। यद्यपि कर्नाटक देश में इसका पर्याप्त मान और प्रचार था, तथापि विक्रम की छठी शताब्दी के लगभग उसके साधुओं में कुछ चैत्यवास का असर हो गया था और वे राजा वगैरह की तरफ से भूमिदान वगैरह लेने लग गये थे। अर्वाचीन कुन्दकुन्द जैसे त्यागियों को यह शिथिलता अच्छी नहीं लगी। उन्होंने केवल स्थूल परिग्रह का ही नहीं, बल्कि अब तक इस सम्प्रदाय में जो आपवादिक लिंग के नाम से वस्त्रपात्र की छूट थी, उसका भी विरोध किया और तब तक प्रमाण माने जानेवाले श्वेताम्बर आगम ग्रन्थों को भी इन उद्धारकों ने अप्रामाणिक ठहराया और उन्हीं आगमों के आधार पर अपनी तात्कालिक मान्यता के अनुसार नये धार्मिक ग्रन्थों का निर्माण करना शुरू किया। कुन्दकुन्द वगैरह जो प्राकृत के विद्वान् थे, उन्होंने प्राकृत में और देवनन्दी आदि संस्कृत के विद्वानों ने संस्कृत के ग्रन्थ निर्माण कर अपनी परम्परा को परापेक्षता से मुक्त करने का उद्योग किया।

“यद्यपि शुरू ही शुरू में उन्हें पूरी सफलता प्राप्त नहीं हुई। यापनीयसंघ का ओधक भाग इनके क्रियोद्धार में शामिल ही नहीं हुआ और शामिल होनेवालों में से भी बहुत सा भाग इनकी सैद्धान्तिक क्रान्ति के कारण विरुद्ध हो गया तथा धीरे-धीरे दिगम्बरसंघ, द्राविडसंघ आदि कई भागों में टूट गया था, तथापि इनका उद्योग निष्फल नहीं गया। इनके ग्रन्थ और विचार धीरे-धीरे विद्वानों के हृदय में घर करते

जाते थे और विक्रम की नवीं सदी के अकलंकदेव, विद्यानन्दी आदि दिग्गज दिग्म्बर विद्वानों के द्वारा तार्किक पद्धति से परिमार्जित होने के उपरान्त तो वे और भी आकर्षक हो गये। फलस्वरूप प्राचीन सिद्धान्तों का लोप और इन नये ग्रन्थों का सार्वत्रिक प्रसार हो गया।

“इस प्रकार आधुनिक दिग्म्बर सम्प्रदाय और इसके श्वेताम्बर-विरोधी सिद्धान्तों की नौवें विक्रम की छठी शताब्दी में आचार्य कुन्दकुन्द ने डाली।” (श्र.भ.म./ पृ.३२७-३२८)।

मुनि कल्याणविजय जी ने पादटिप्पणी में लिखा है—“कुन्दकुन्दाचार्य ने अपने किसी भी ग्रन्थ में अपनी गुरुपरम्परा का ही नहीं, अपने गुरु का भी नामोल्लेख नहीं किया। इससे मालूम होता है कि कुन्दकुन्द के क्रियोद्धार में उनके गुरु भी शामिल नहीं हुए होंगे और इसी कारण से उन्होंने शिथिलाचारी समझकर अपने गुरु-प्रगुरुओं का नाम-निर्देश नहीं किया होगा।” (श्र.भ.म./ पा.टि.१/ पृ.३२७)।

मुनिश्री कल्याणविजय जी के ऊपर उद्धृत निम्नलिखित शब्दों पर ध्यान दिया जाय—

“छठी सदी के विद्वान् आचार्य कुन्दकुन्द, देवनन्दी वगैरह ने प्राचीन परम्परा से मजबूत मोरचा लिया। पहले जो सूत्र, निर्युक्ति आदि प्राचीन आगमों को इनके पूर्वाचार्य मानते आये थे, इन्होंने उनका मानना भी अस्वीकार कर दिया---।” (श्र.भ.म./ पृ.३०२-३०३)।

“दिग्म्बर शिवभूति ने जो सम्प्रदाय चलाया था, वह दक्षिण में जाकर ‘यापनीयसंघ’ के नाम से प्रसिद्ध हो गया था।--- विक्रम की छठी शताब्दी के लगभग उसके साधुओं में कुछ चैत्यवास का असर हो गया था और वे राजा वगैरह की तरफ से भूमिदान वगैरह लेने लग गये थे। अर्वाचीन कुन्दकुन्द जैसे त्यागियों को यह शिथिलता अच्छी नहीं लगी। उन्होंने केवल स्थूल परिग्रह का ही नहीं, बल्कि अब तक इस सम्प्रदाय में जो आपवादिक लिंग के नाम से वस्त्रपात्र की छूट थी, उसका भी विरोध किया---।” (श्र.भ.म./ पृ.३२७)।

“--- कुन्दकुन्द के क्रियोद्धार में उनके गुरु भी शामिल नहीं हुए होंगे और इसी कारण से उन्होंने शिथिलाचारी समझ कर अपने गुरु-प्रगुरुओं का नाम-निर्देश नहीं किया होगा।” (श्र.भ.म./ पा.टि.१/ पृ. ३२७)

इन शब्दों से मुनि कल्याणविजय जी ने यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि कुन्दकुन्द, पूज्यपाद देवनन्दी आदि दिग्म्बराचार्य आरंभ में यापनीय-सम्प्रदाय में दीक्षित हुए थे और उनके गुरु-प्रगुरु यापनीय आचार्य थे।

४

श्वेताम्बर शिवभूति द्वारा दिगम्बरमत का वरण

उपर्युक्त कल्पित कथा में मुनि कल्याणविजय जी ने बोटिक शिवभूति को यापनीयमत-प्रवर्तक और आचार्य कुन्दकुन्द को शुरू में यापनीय-संघ में दीक्षित सिद्ध करने का प्रयत्न किया है। श्वेताम्बर विद्वान् पं० दलसुख मालवणिया एवं डॉ० सागरमल जी ने भी मुनि जी का अनुसरण किया है। बोटिकों को यापनीय सिद्ध करने के लिए उन्होंने अपने पूर्वाचार्यों द्वारा उन्हें दिगम्बर कहे जाने को गलत बतलाया है और दिगम्बरमत का प्रवर्तक कुन्दकुन्द को घोषित किया है। माननीय मालवणिया जी लिखते हैं—“बोटिक मूलतः दिगम्बर नहीं थे, क्योंकि स्त्रीमुक्ति के निषेध की चर्चा हमें सर्वप्रथम आचार्य कुन्दकुन्द में मिलती है।”^{१६}

मालवणिया जी ने उमास्वाति का समय तीसरी-चौथी शताब्दी ई० माना है और वे मानते हैं कि कुन्दकुन्द के ग्रन्थों में ‘तत्त्वार्थसूत्र’ की अपेक्षा जैनदर्शन का रूप विकसित है, अतः वे उमास्वाति के बाद अर्थात् ईसा की तीसरी-चौथी शती के पश्चात् हुए हैं।^{१७} इस प्रकार माननीय मालवणिया जी भी यह मानते हैं कि दिगम्बरमत की स्थापना आचार्य कुन्दकुन्द ने ईसा की पाँचवी शताब्दी में की थी।

डॉ० सागरमल जी लिखते हैं—“ई० सन् की पाँचवीं-छठीं शताब्दी तक जैनपरम्परा में कहीं भी स्त्रीमुक्ति का निषेध नहीं था। स्त्रीमुक्ति एवं सग्रन्थ (सवस्त्र) की मुक्ति का सर्वप्रथम निषेध आचार्य कुन्दकुन्द ने ‘सुत्तपाहुड’ में किया है।” (जै.ध.या.स./पृ.३९४)।

डॉक्टर सा० ने बोटिकों को दिगम्बरों से भिन्न बतलाते हुए लिखा है—“श्वेताम्बर आचार्यों ने बोटिकों को जो दिगम्बर मान लिया है, वह एक भ्रान्ति है। श्वेताम्बरसाहित्य में उल्लिखित ‘बोटिक’ दिगम्बर नहीं हैं, इस तथ्य को पं० दलसुख भाई मालवणिया ने अपने एक लेख ‘क्या बोटिक दिगम्बर हैं?’ में बहुत ही स्पष्टतापूर्वक प्रतिपादित किया है। उनका यह लेख Aspects of Jainology, Vol.II, पं० बेचरदास दोशी स्मृतिग्रंथ में पार्श्वनाथ विद्याश्रम से ही प्रकाशित हुआ है। वे लिखते हैं—“विशेषावश्यक की विस्तृत चर्चा में विवाद के विषय वस्त्रपात्र हैं, इसमें स्त्रीमुक्तिनिषेध की चर्चा नहीं है। दिगम्बरसंप्रदाय में वस्त्र और पात्र के अलावा स्त्रीमुक्ति का भी निषेध है। अत एव जिनभद्र के समय में बोटिक को दिगम्बरसंप्रदाय के अन्तर्गत नहीं किया जा सकता।

१६. जैन विद्या के आयाम/ग्रन्थाङ्क २ (Aspects of Jainology, Vol.II) / पं. बेचरदास स्मृति-ग्रन्थ / पृ. ७३।

१७. न्यायावतारवार्तिकवृत्ति/प्रस्तावना / पृ. १०३।

मुद्रित आवश्यकचूर्ण में जितने अंश में बोटिक की चर्चा है, उसके मार्जिन में 'दिगम्बरोत्पत्ति' छपा है। किन्तु वह सम्पादक का भ्रम है। क्योंकि चूर्ण में भी बोटिक की चर्चा में कहीं भी स्त्रीमुक्ति की चर्चा को स्थान नहीं मिला है। अत एव बोटिक और दिगम्बर में भेद करना जरूरी है। यहाँ यह भी बता देना जरूरी है कि विशेषावश्यकभाष्य की गाथा २६०९ की टीका में बोटिकचर्चा का उपसंहार करते हुए स्त्रीमुक्ति की चर्चा के लिए उत्तराध्ययन के छत्तीसवें अध्ययन की टीका को देख लेने को कहा है। वह भी उनके मत में बोटिक और दिगम्बर को एक मानने के भ्रम के कारण है। इस समग्र चर्चा से इतना स्पष्ट है कि बोटिक दिगम्बर नहीं थे। इस समग्र चर्चा के दो फल निकलते हैं—प्रथम तो यह कि श्वेताम्बरग्रन्थों में बोटिक नाम से जिस संप्रदाय का उल्लेख हुआ है, वह दिगम्बरसंप्रदाय से भिन्न है और जिसे अन्यत्र यापनीय नाम से जाना जाता है। दूसरे, दिगम्बरसंप्रदाय, जो स्त्रीमुक्ति का निषेध करता है, उससे प्रारंभिक श्वेताम्बर आचार्य परिचित नहीं थे।" (जै.ध.या.स./पृ.८-९)।

डॉक्टर सा० ने आगे लिखा है—“बोटिकों की उत्पत्तिकथा से भी यह स्पष्ट है कि इन्होंने जिनकल्प का विच्छेद स्वीकार नहीं किया था और वस्त्र को परिग्रह मानकर मुनि के लिए अचेलकता का ही प्रतिपादन किया था। शिवभूति द्वारा अपनी बहन उत्तरा को वस्त्र रखने की अनुमति देना यह भी सूचित करता है कि इस सम्प्रदाय में साध्वियाँ सवस्त्र रहती थीं। इस सम्प्रदाय के तत्कालीन परम्परा से मतभेद के जो उल्लेख मिलते हैं, उनसे यही फलित होता है कि इनका मुख्य विवाद मुनि के सचेल और अचेल होने के सम्बन्ध में था। स्त्रीमुक्ति और केवली-कवलाहार के सम्बन्ध में इनका कोई मतभेद नहीं था अथवा यह कहें कि यह प्रश्न उस समय उत्पन्न ही नहीं हुआ था। विशेषावश्यकभाष्य (गा.३०४५) में इन्हें आचारांग आदि आगमों को स्वीकार करने वाला माना गया है। अतः बोटिक दिगम्बरपरम्परा के समान न तो स्त्रीमुक्ति और केवलीभुक्ति का निषेध करते थे और न जैनागमों का पूर्णतः विच्छेद ही स्वीकार करते थे। मात्र यह कहते थे कि आगमों में जो वस्त्र-पात्र के उल्लेख हैं, वे आपवादिक स्थिति के हैं। इस प्रकार बोटिक स्त्रीमुक्ति और केवली-कवलाहार का निषेध करनेवाले और आचारांग आदि आगमों को विच्छिन्न माननेवाले दिगम्बरसम्प्रदाय से भिन्न थे।" (जै.ध.या.स./पृ.९)।

डॉक्टर सा० अपने वक्तव्य में आगे कहते हैं—“यदि हम बोटिकों की इन मान्यताओं की तुलना यापनीय-परम्परा से करते हैं, तो दोनों में कोई अन्तर दृष्टिगोचर नहीं होता। यापनीयों का जो भी साहित्य उपलब्ध है, उससे भी स्पष्टरूप से यही निष्कर्ष निकलता है कि यापनीय यद्यपि मुनि की अचेलता पर बल देते थे, किन्तु दूसरी ओर वे स्त्रीमुक्ति, अन्य तैर्थिकों (दूसरी धर्म परंपरा)की मुक्ति, केवली-कवलाहार

और आचारांग, उत्तराध्ययन, दशवैकालिक, कल्प, व्यवहार, मरणविभक्ति, प्रत्याख्यान आदि आगमों को स्वीकार करते थे। वे दिगम्बरपरंपरा के समान अंग-आगमों के सर्वथा विच्छेद की बात नहीं मानते थे। इस परम्परा में आगे चलकर जिन स्वतंत्र ग्रन्थों और आगमों की टीकाओं का निर्माण हुआ, उनमें अर्धभागधी आगमसाहित्य की सैकड़ों गाथाएँ और उद्धरण प्राप्त होते हैं। अतः उपलब्ध साक्ष्यों के आधार पर पूर्णरूपेण सुनिश्चित है कि यापनीय और बोटिक दोनों सम्प्रदाय एक ही हैं। इस निष्कर्ष की सत्यता को उनकी निम्न मान्यताओं की समरूपता में स्पष्टतः देखा जा सकता है—बोटिक और यापनीय दोनों ही मुनि के लिए उत्सर्गमार्ग की दृष्टि से अचेलता के पक्षधर हैं तथा दोनों आचारांग आदि आगमों की उपस्थिति को स्वीकार करते हैं और उनके वस्त्र, पात्र सम्बन्धी उल्लेखों को आपवादिक मानते हैं। जब कि दिगम्बरपरम्परा आचारांग आदि अंग-आगमों का विच्छेद मानती है और वस्त्रधारी को किसी भी स्थिति में मुनि नहीं मानती है। पुनः यापनीय और बोटिक दोनों ने स्त्रीमुक्ति का निषेध नहीं किया है और साध्वी में वस्त्रग्रहण होते हुए भी महाव्रतों का सद्भाव माना तथा स्त्री की दीक्षा को स्वीकार किया। जबकि दिगम्बरपरम्परा स्त्रीदीक्षा एवं स्त्रीमुक्ति का निषेध करती है। संक्षेप में आचारांग, उत्तराध्ययन आदि आगमों को मान्य करने और स्त्रीमुक्ति का निषेध न करने से बोटिक और यापनीय एक परम्परा के सूचक हैं। अतः श्वेताम्बर-साहित्य में प्रयुक्त बोटिक शब्द यापनीयों का ही पर्यायवाची है।” (जै. ध. या. स. / पृ. ९-१०)।

पं० मालवणिया जी एवं डॉ० सागरमल जी का कथन है कि श्वेताम्बराचार्यों ने भ्रम से बोटिकों को दिगम्बर मान लिया है, किन्तु कथा में वर्णित तथ्य इस निष्कर्ष पर पहुँचाते हैं कि मुनि जी एवं इन विद्वानों ने जान-बूझकर बोटिकों को यापनीय सिद्ध करने का प्रयत्न किया है। इसके पीछे एक विशिष्ट प्रयोजन था। वह यह कि बोटिकमतोत्पत्तिकथा के द्वारा प्राचीन श्वेताम्बराचार्यों ने दिगम्बरमत की उत्पत्ति वीर नि० सं० ६०९ अर्थात् ई० सन् ८२ में बतलायी है। इससे दिगम्बरमत कम से कम ईसा की प्रथम शताब्दी-जितना पुराना सिद्ध होता है। किन्तु मुनि जी और उनके अनुयायी विद्वान् उसे इतना भी प्राचीन सिद्ध नहीं होने देना चाहते थे। वे चाहते थे कि उसे विक्रम की छठी शती में कुन्दकुन्द के द्वारा प्रवर्तित सिद्ध किया जाय। इसलिए उन्होंने यह कथा गढ़ी कि बोटिककथा में प्रयुक्त ‘बोटिक’ शब्द ‘दिगम्बर’ का पर्यायवाची नहीं है, अपितु यापनीयों का नामान्तर है, अतः बोटिक शिवभूति ने दिगम्बरमत का नहीं, बल्कि यापनीयमत का प्रवर्तन किया था।

किन्तु शिवभूति यापनीयमत का प्रवर्तक नहीं था, न ही उसने दिगम्बरमत की स्थापना की थी। उसने तो श्वेताम्बरमत छोड़कर दिगम्बरमत का वरण किया था। इस सत्य की स्थापना उसकी उन मान्यताओं से होती है, जो उसने अपने गुरु के साथ तर्क-वितर्क करते समय प्रकट की हैं। उसकी मान्यताएँ सचेललिंग को मोक्ष के

प्रतिकूल और एकमात्र जिनेन्द्रगृहीत अचेललिंग को मोक्ष का मार्ग घोषित करती हैं। यह घोषणा यापनीयमत के विरुद्ध है, क्योंकि उसमें सचेललिंग से भी मुक्ति स्वीकार की गयी है। उक्त घोषणा केवल दिगम्बरमत-सम्मत है।

मालवणिया जी का यह कथन सत्य है कि शिवभूति का अपने गुरु से केवल वस्त्रपात्रादि-परिग्रह को लेकर विवाद होता है, स्त्रीमुक्ति, केवलभुक्ति आदि विषयों पर नहीं। किन्तु इससे यह फलित नहीं होता कि उसे ये दोनों बातें मान्य थीं। वह अचेलत्व के पक्ष में जो तर्क देता है, उनसे उसकी सारी विचारधारा स्पष्ट हो जाती है। उसके सारे तर्क दिगम्बरमतानुगामी हैं। वह कहता है कि वस्त्रादिपरिग्रह के सद्भाव में भय, कषाय और मूर्च्छा की उत्पत्ति होती है (जो प्रत्येक के लिए कर्मबन्ध के कारण हैं)। अतः मोक्षार्थी को जिनेन्द्रगृहीत अचेललिंग ही धारण करना चाहिए। यह तर्क सवस्त्र अवस्था में प्रत्येक के लिए मुक्ति का द्वार बन्द कर देता है, चाहे वह समर्थ पुरुष हो अथवा असमर्थ पुरुष या स्त्री अथवा अन्यलिङ्गी। आइये शिवभूति के तर्कों पर दृष्टि डालें।

५

शिवभूति के तर्क एवं मान्यताएँ दिगम्बरमतानुगामी

५.१. सचेललिंग का सर्वथा निषेध

प्रस्तुत अध्याय के प्रथम प्रकरण में ज्ञापित किया गया है कि श्री जिनभद्रगणी ने बोटिकमतोत्पत्ति-कथा के प्रसंग में भगवान् महावीर द्वारा उपदिष्ट मुनिधर्म के जो जिनकल्प और स्थविरकल्प भेद बतलाये हैं, उनमें जिनकल्प को भी उन्होंने स्थविरकल्प के ही समान सचेल प्ररूपित किया है। किन्तु शिवभूति के मन में जिनकल्प की जो अवधारणा है, वह जिनभद्रगणी जी की अवधारणा से एकदम विपरीत है। वह जिनेन्द्रलिंगवत् सर्वथा अचेललिंग (नाग्न्यलिंग) को जिनकल्प मानता है। मुखवस्त्रिकादि ग्रहण किये जाने को भी वह जिनकल्प के विपरीत समझता है। इस प्रकार शिवभूतिमान्य जिनकल्प सर्वथा अचेल है, और जिनभद्रगणिमान्य जिनकल्प किसी न किसी रूप में सचेल है। परिणामस्वरूप साधुओं के लिए जिनेन्द्रलिंग के समान अचेलत्व को उचित मानते हुए, शिवभूति गुरु से जिनकल्प को ही अपनाये जाने का आग्रह करता है और इसके औचित्य की सिद्धि यह कहकर करता है कि जिनेन्द्र भी अचेलक थे, अतः अचेलता ही समीचीन है। देखिये, उसके नीचे उद्धृत वचन।

मोक्ष के लिए वस्त्रादि-सर्वसंग-त्यागरूप अपरिग्रह का अवलम्बन दिगम्बरों की प्रथम मान्यता है। शिवभूति निम्नलिखित तर्कों से मोक्षार्थी पुरुषों के लिए सचेललिंग को सर्वथा अग्राह्य सिद्ध करता है।

५.१.१. उपधिग्रहण परिग्रह है—शिवभूति इस श्वेताम्बर-सिद्धान्त को नहीं मानता कि वस्त्रपात्रादि उपधि को ग्रहण करना परिग्रह नहीं है, अपितु उसमें मूर्च्छा करना परिग्रह है।^{१८} वह उपधि के ग्रहण करने को भी परिग्रह मानता है और उपधि से रहित होने के कारण जिनलिंगरूप जिनकल्प को निष्परिग्रह कहता है। यथा—

“यद्येवं तर्हि किमिदानीमौघिक औपग्रहिकश्चैतावानुपधिः परिगृह्यते? स एव जिनकल्पः किं न क्रियते? --- परलोकार्थिना हि स एव निष्परिग्रहो जिनकल्पः कर्तव्यः, किं पुनस्तेन कषायभयमूर्च्छादिदोषनिधिना परिग्रहानर्थेन? अत एव निष्परिग्रहत्वमुक्तम्। अचेलकाश्च जिनेन्द्राः। अतोऽचेलतैव सुन्दरेति।” (हेम. वृत्ति / विशेष. भा. / गा. २५५१-५२)।

अनुवाद—“यदि ऐसा है तो आजकल इतनी औघिक और औपग्रहिक उपधि का परिग्रह क्यों किया जाता है? वही जिनकल्प क्यों नहीं अपनाया जाता? परलोकार्थी (मोक्षार्थी) को वही निष्परिग्रह जिनकल्प अपनाना चाहिए। कषाय, भय, मूर्च्छा आदि दोषों के स्रोत इस परिग्रहरूप अनर्थ से क्या फायदा? इसीलिए श्रुत में निष्परिग्रहत्व का उपदेश दिया गया है। जिनेन्द्र भी अचेलक ही थे। अतः अचेलता ही सुन्दर है (मोक्ष का सम्यग् मार्ग है)।”

इस कथन से स्पष्ट है कि शिवभूति वस्त्रपात्रादि उपधि के ग्रहण को भी परिग्रह मानता है, मात्र उनमें मूर्च्छा के सद्भाव को नहीं। उसके अनुसार वस्त्रपात्रादि परिग्रह के त्याग के बिना मूर्च्छा का परित्याग संभव नहीं है, क्योंकि वस्त्रपात्रादि का परिग्रह मूर्च्छा को जन्म देता है। वह जिनेन्द्र के समान अचेलत्व (सर्वथा वस्त्ररहित होने) को अपरिग्रह मानता है, जिसमें रजोहरण, मुखवस्त्रिका आदि श्वेताम्बर-मुनिलिङ्ग का भी अभाव होता है, जैसा कि प्रवचनपरीक्षाकार ने कहा है—

“येन कारणेन तीर्थकृतां वस्त्राद्यनुपयोगस्तेन कारणेनार्हन् स्वलिङ्गपरलिङ्ग-गृहस्थलिङ्गै रहितः स्यात्। तत्र स्वलिङ्गं रजोहरणादि परलिङ्गमन्यतीर्थकलिङ्गं पिच्छकादिकं, गृहस्थलिङ्गं तु प्रतीतमेव। एभिर्विप्रमुक्तस्तीर्थकद्भवति।” (प्रव. परी. / वृत्ति / १ / २ / ११ / पृ. ७८)।

१८. क—जं पि वत्थं व पायं वा कंबलं पायपुच्छणं।

तं पि संजमलज्जट्टा धारंतिपरिहरंति अ ॥ ६/१९ ॥

न सो परिगहो वुत्तो नायपुत्तेण ताइणा।

मुच्छा परिगहो वुत्तो इअ वुत्तं महेसिणा ॥ ६/२० ॥ दशवैकालिकसूत्र।

ख—“यच्च श्रुते निष्परिग्रहत्वमुक्तं तदपि धर्मोपकरणेष्वपि मूर्च्छा न कर्तव्या। मूर्च्छाभाव एव निष्परिग्रहत्वमवसेयं, न पुनः सर्वथा धर्मोपकरणस्यापि त्यागः।” हेम. वृत्ति / विशेषावश्यक-भाष्य / गा. २५५१-५२।

अर्थात् शिवभूति के अनुसार मूर्च्छारूप भावपरिग्रह तथा बाह्य उपधिरूप द्रव्यपरिग्रह दोनों के त्याग से अपरिग्रह घटित होता है। अपरिग्रह के इस लक्षण से कोई भी वस्त्रधारी पुरुष या स्त्री अपरिग्रही नहीं कहला सकती। अतः शिवभूति के मत में न तो असमर्थ पुरुषों के लिए मुक्ति का अवसर रहता है, न स्त्रियों के लिए, न गृहिलिंगियों के लिए और न अन्यलिंगियों के लिए।

डॉ० सागरमल जी भी मानते हैं कि जहाँ अपरिग्रह की परिभाषा में भावपरिग्रह तथा द्रव्यपरिग्रह दोनों का त्याग अपेक्षित हो, वहाँ न तो आपवादिक सवस्त्रमुक्ति संभव है, न स्त्रीमुक्ति। वे दिगम्बरमत पर टिप्पणी करते हुए कहते हैं—“किन्तु, जब अचेलता को ही एकमात्र मोक्षमार्ग स्वीकार करके मूर्च्छादि भावपरिग्रह के साथ-साथ वस्त्रपात्रादि द्रव्यपरिग्रह का भी पूर्णत्याग आवश्यक मान लिया गया, तो यह स्वाभाविक ही था कि स्त्रीमुक्ति के निषेध के साथ ही साथ अन्यतैर्थिकों और गृहस्थों की मुक्ति का भी निषेध कर दिया जाय।” (जै.ध.या.स. / पृ. ३९९)।

हम देखते हैं कि मोक्ष के विषय में शिवभूति का मत भी ऐसा ही है। वह श्वेताम्बर साधुओं के द्वारा ग्रहण किये जाने वाले वस्त्रपात्रादि को अनर्थकारी परिग्रह कहता है तथा जिनेन्द्रों द्वारा अपनाये गये वस्त्रपात्रादिरहित सर्वथा अचेल जिनलिंगरूप जिनकल्प^{१९} को ही मोक्षार्थियों के लिए ग्राह्य बतलाता है। अतः शिवभूति के मत में भी स्त्रीमुक्ति आदि असंभव हैं। इस प्रकार अपरिग्रह के विषय में बोटिक शिवभूति की धारणा दिगम्बरों की धारणा का प्रतिनिधित्व करती है।

५.१.२. उपधिपरिग्रह से मूर्च्छादि अनेक दोष अवश्यंभावी—शिवभूति कहता है कि वस्त्रपात्रादि परिग्रह के सद्भाव में मूर्च्छा, भय, कषाय आदि अनेक दोष उत्पन्न होते हैं। अतः ऐसे अनर्थकारी परिग्रह से क्या फायदा? अर्थात् वह मोक्ष में सहायक न होकर संसार का कारण होने से अनर्थकारी है, अतः परित्याज्य है।^{२०} बाह्यपरिग्रह को मूर्च्छादि दोषों का कारण मानना, अत एव उसे परित्याज्य मानना मात्र दिगम्बरमत का तर्क है। आचार्य कुन्दकुन्द ने ‘प्रवचनसार’ में कहा है—

हवदि व ण हवदि बंधो मदग्धि जीवेऽध कायचेद्वग्धि।

बंधो धुवमुवधीदो इदि समणा छड्डिया सव्वं॥ ३/१९॥

१९. “परलोकार्थिना स एव निष्परिग्रहो जिनकल्पः कर्तव्यः। किं पुनरनेन कषायभयमूर्च्छादि-दोषनिधिना परिग्रहानर्थेन?” हेम.वृत्ति/विशेषावश्यकभाष्य/गा.२५५१-५२।

२०. क—देखिए, पादटिप्पणी १९।

ख—“किमुपधिपरिग्रहेण? परिग्रहसद्भावे कषायमूर्च्छाभयादिका वहवो दोषाः।” हारिभद्रीय वृत्ति/आवश्यकनिर्युक्ति/आवश्यकमूलभाष्य/गा.१४६/पृ.२१६।

किथ तमिह णत्थि मुच्छा आरंभो वा असंजमो तस्स।

तथ परदव्वम्मि रदो कधमप्पाणं पसाधयदि॥ ३/२१॥

अनुवाद—“कायचेष्टा से जीव के मर जाने पर मुनि को बन्ध होता है, और नहीं भी होता है। किन्तु उपधि (परिग्रह) रखने पर बन्ध अवश्य होता है, अतः मुनि समस्त उपधि का त्याग कर देते हैं। जो मुनि उपधि रखता है उसे मूर्च्छा, आरंभ और असंयम कैसे नहीं होंगे? तथा परद्रव्य में रत वह मुनि आत्मा को सिद्ध कैसे करेगा?”

इस तरह बोटिक शिवभूति का मत दिगम्बराचार्य कुन्दकुन्द के मत का सर्वथा अनुगमन करता है।

शिवभूति के गुरु आर्यकृष्ण तर्क करते हैं कि यदि किसी मुनि में देह के प्रति भी कषाय, भय, मूर्च्छा आदि उत्पन्न हो जायें, तो क्या उसे देह का भी परित्याग कर देना चाहिए?^{२१} पर शिवभूति गुरु के इस तर्क को महत्त्व नहीं देता, क्योंकि गुरु का तर्क उसके गले नहीं उतरता, संभवतः इस प्रतितर्क के कारण कि यदि देह में मूर्च्छा उत्पन्न होती है, तो देह का तो परित्याग नहीं किया जा सकता, किन्तु वस्त्रादि में मूर्च्छा उत्पन्न होने पर उनका तो परित्याग किया जा सकता है। अतः मूर्च्छा के जितने भी कारणों का परित्याग संभव है, उतनों का परित्याग करके मूर्च्छोत्पत्ति के निमित्तों में यथाशक्ति कमी की जानी चाहिए।

५.२. जिनकल्प के नाम से एकमात्र अचेल जिनलिंग का समर्थन

५.२.१. अचेल जिनकल्प (जिनलिंग) से ही मोक्ष की प्राप्ति—शिवभूति का मत है कि निष्परिग्रह अचेल जिनकल्प (जिनलिंग) से ही मोक्ष की प्राप्ति हो सकती है, अतः मोक्षार्थी को उसी का अवलम्बन करना चाहिए—“परलोकार्थिना स एव निष्परिग्रहो जिनकल्पः कर्त्तव्यः।” (हेम.वृत्ति/विशे.भा./गा.२५५१-५२)। इस कथन में ‘स एव’ (केवल वही) शब्दों से एकमात्र जिनकल्प अर्थात् जिनलिंग ही मोक्षार्थी के लिए ग्राह्य बतलाया गया है, जिससे अन्य समस्त कल्प अग्राह्य सिद्ध हो जाते हैं। सबस्त्रमुक्ति, स्त्रीमुक्ति, अन्यतीर्थिकमुक्ति सब का इससे निषेध हो जाता है। अतः शिवभूति का यह मत सर्वथा दिगम्बरमत है।

५.२.२. जिनेन्द्रगृहीत होने से अचेललिंग ही प्रामाणिक—शिवभूति यह भी कहता है कि जिनेन्द्र भी अचेलक थे, अतः अचेललिंग ही मोक्ष का प्रामाणिक मार्ग

२१. “ततो गुरुणा प्रोक्तम्—हन्त! यद्येवं तर्हि देहेऽपि कषायभयमूर्च्छादयो दोषाः कस्यापि सम्भवन्ति इति सोऽपि व्रतग्रहणानन्तरमेव त्यक्तव्यः प्राप्नोति।” हेम.वृत्ति/विशे.भा./गा.२५५१-५२।

है—“अचेलकाश्च जिनेन्द्राः। अतोऽचेलतैव सुन्दरेति।” (हेम.वृत्ति / विशे.भा. / गा. २५५१-५२)।

यहाँ सुन्दर शब्द सम्यक् अर्थ का वाचक है। सम्यक् का अर्थ है समीचीन। समीचीन मार्ग ही प्रामाणिक होता है। अतः उक्त वाक्य से यह स्पष्ट किया गया है कि मोक्ष के जिस मार्ग को जिनेन्द्रों ने अपनाया था, उसी का वे दूसरों के लिए उपदेश दे सकते हैं। अतः जिनेन्द्रों द्वारा अपनाया गया अचेललिंग ही प्रामाणिक हो सकता है, अन्य नहीं। शिवभूति के इन वचनों से दिगम्बरमत ही प्रस्फुटित होता है।

५.२.३. श्रुत में अचेलत्व का ही उपदेश—शिवभूति इतने से ही सन्तुष्ट नहीं होता। वह अचेलकता को ही मोक्ष का एकमात्र प्रामाणिक मार्ग सिद्ध करने के लिए श्रुत को भी प्रमाणरूप में उपस्थित करता है। वह कहता है—“अत एव श्रुते निष्परिग्रहत्वमुक्तम्।” (हेम.वृत्ति / विशे.भा. / गा. २५५१-५२)। अर्थात् वस्त्रादिपरिग्रह कषाय, भय, मूर्च्छा आदि दोषों का जनक होने से अनर्थकारी है। इसीलिए श्रुत में वस्त्रपात्रादि-परिग्रहरहित जिनलिंग को ही ग्रहण करने का उपदेश दिया गया है। इस कथन से शिवभूति अचेलक जिनलिंग के अतिरिक्त अन्य लिंगों का उपदेश देनेवाले शास्त्रों को अप्रामाणिक घोषित कर देता है, जो दिगम्बरमत की ही अभिव्यक्ति है। मुनि कल्याणविजय जी, मालवणिया जी और डॉ० सागरमल जी ने भी अपने पूर्वोद्धृत कथनों में स्वीकार किया है शिवभूति ने वस्त्र को परिग्रह मानकर मुनि के लिए अचेलकता का ही प्रतिपादन किया था।

५.३. श्वेताम्बरिय सचेल जिनकल्प का समर्थन नहीं

यद्यपि शिवभूति जिनकल्प को ही ग्राह्य बतलाता है और उसे ही ग्रहण करने का संकल्प करता है,^{२२} तथापि जैसा कि पूर्व में स्पष्ट किया गया है, जिनकल्प के स्वरूप के विषय में उसकी अवधारणा अलग है। वह जिनेन्द्रलिंग के समान मुख-वस्त्रिका, वस्त्रनिर्मित रजोहरण, प्रावरण (ओढ़ने की चादर या कम्बल) आदि सभी प्रकार की वस्त्रपात्रादि उपधियों से रहित सर्वथा अचेल अवस्था को जिनकल्प मानता है। यह उसके पूर्वोद्धृत “अचेलकाश्च जिनेन्द्राः। अतोऽचेलतैव सुन्दरेति” इन वचनों से सिद्ध है।

इसीलिए गुरु आर्यकृष्ण उसे समझाते हैं कि “जिनेन्द्र भी सर्वथा अचेलक नहीं होते, अपितु सभी तीर्थंकर एकवस्त्र लेकर ही प्रव्रजित होते हैं, ताकि लोगों को यह

२२. “नन्वहमेव तं करोमि, परलोकार्थिना स एव निष्परिग्रहो जिनकल्पः कर्तव्यः।” (हेम.वृत्ति/ विशेषावश्यकभाष्य / गा. २५५१-५२।

उपदेश मिले की मोक्षमार्ग सवस्त्र ही है। जब वह वस्त्र गिर जाता है, तभी वे अचेल्क होते हैं।^{२३} तथा जिनकल्पिक साधु भी सर्वथा अचेल्क नहीं होते। सर्वोच्च जिनकल्पिक साधु को भी मुखवस्त्रिका एवं वस्त्रनिर्मित रजोहरण धारण करना अनिवार्य है। अन्य जिनकल्पिक तो एक, दो या तीन प्रावरण भी रखते हैं।^{२४} गुरु अन्त में कहते हैं—“यदि फिर भी तुम यही समझते हो कि ‘अरहन्त सर्वथा अचेल्क होते हैं अतः मैं भी अचेल्क होऊँगा’ तो यह जिनाज्ञा का उल्लंघन होगा, क्योंकि जिनेन्द्र ने उपदेश दिया है कि जो अनुपम धृति और संहनन आदि अतिशय से रहित हैं, उन्हें अचेल्क नहीं होना चाहिए। तुम इस अतिशय से रहित हो, अतः यदि तुम्हारी जिनवचन में श्रद्धा है, तो तुम्हें अचेल्क होने का विचार छोड़ देना चाहिए, क्योंकि जिनाज्ञा का उल्लंघन करनेवाले का कल्याण नहीं होता।”^{२५}

जिनभद्रगणी कहते हैं कि गुरु के द्वारा इस प्रकार अनेकशः समझाये जाने पर भी शिवभूति ने उनकी एक भी बात नहीं मानी और मिथ्यात्व के वशीभूत होकर जिनमत में अश्रद्धा करता हुआ वस्त्र छोड़ कर चला गया।^{२६} यहाँ ‘जिनमत में अश्रद्धा करता हुआ’ इन वचनों से स्पष्ट है कि शिवभूति को श्वेताम्बरीय जिनकल्प और स्थविरकल्प में श्रद्धा नहीं थी और ‘वस्त्र छोड़कर चला गया’ इस कथन से साफ है कि उसने चोलपट्ट, कम्बल आदि के साथ मुखवस्त्रिका, रजोहरण आदि भी छोड़ दिये। इस तरह उसने श्वेताम्बर जिनकल्पिक और स्थविरकल्पिक साधुओं के लिंग से सर्वथा भिन्न लिंग धारण किया था, जो दिग्म्बरमुनि का लिंग था। इसकी पुष्टि श्री जिनभद्रगणी के निम्नलिखित कथन से होती है—“भिन्न-मय-लिंग-चरिया मिच्छादिद्वि त्ति बोडिया-ऽभिपया।” (२६२०/ विशे. भा.) अर्थात् बोटिक (शिवभूति और उस के अनुयायी) भिन्न मत, भिन्न लिंग (वेश) और भिन्न चर्यावाले होने के कारण मिथ्यादृष्टि माने गये हैं।

यहाँ भिन्नलिंग शब्द उच्चस्वर में घोषणा करता है कि बोटिकों के द्वारा अपनाया गया लिंग श्वेताम्बरमत में मान्य जिनकल्पी साधुओं के लिंग से भिन्न था, अतः

२३. तह वि गहिएगवत्था सवत्थित्थोवएसणत्थं ति ।
अभिनिक्खमंति सव्वे तम्मि चुएऽचेलाया हुंति ॥ २५८३ ॥ विशेषावश्यकभाष्य ।
२४. जिणकप्पियादओ पुण सोवहओ सव्वकालमेगंतो ।
उवगरणमाणमेसिं पुरिसाविक्खाए बहुभेयं ॥ २५८४ ॥ विशेषावश्यकभाष्य ।
२५. अरहंता जमचेला तेणाचेलत्तणं जइ मयं ते ।
तो तव्वयणाउ च्विय निरतिसओ होहि माऽचेला ॥ २५८५ ॥ विशेषावश्यकभाष्य ।
२६. इय पण्णविओ वि बहुं सो मिच्छतोदयाकुलियभावो ।
जिणमयमसद्दहंतो छड्डियवत्थो समुज्जाओ ॥ २६०६ ॥ विशेषावश्यकभाष्य ।

मुनिकल्याणविजय जी और उनके अनुयायी विद्वानों का यह कथन सर्वथा कपोलकल्पित है कि शिवभूति ने श्वेताम्बरीय जिनकल्प का पुनरुद्धार किया था। वस्तुतः वह श्वेताम्बरमत के विपरीत मत-लिंग-चर्यावाला दिगम्बर जैन मुनि हो गया था।

५.४. सचेलकता के निषेध से स्त्रीमुक्ति का निषेध

५.४.१. स्त्रीदीक्षा नहीं दी गई—यह ध्यान देने योग्य है कि शिवभूति अपनी बहिन उत्तरा को स्वयं दीक्षा नहीं देता। उत्तरा अपने भाई को नग्न देखकर खुद ही नग्न हो जाती है और गणिका द्वारा वस्त्र पहनाये जाने पर खुद ही वस्त्र पहन लेती है। जब वह शिवभूति को गणिका द्वारा वस्त्र पहनाये जाने की बात बतलाती है, तब शिवभूति केवल यह कहता है कि तुम ऐसे (सवस्त्र) ही रहो, यह नहीं कहता कि ऐसे (सवस्त्र) रहते हुए ही तुम मुक्त हो जाओगी। शिवभूति की समझ में आ जाता है कि स्त्रियों का वस्त्रत्याग उचित नहीं है, क्योंकि नग्न स्त्री बीभत्स और निर्लज्ज लगती है। नग्न रहने पर मासिकधर्म आदि के समय जुगुप्सोत्पादक हो जायेगी तथा दर्शक पुरुषों के लिए कामविकार का निमित्त बनेगी, जो स्वयं उसके लिए संकट का कारण होगा। इन अनर्थों को देखकर उसे स्त्रियों का वस्त्रत्याग अनुचित प्रतीत हुआ। तब उसके अनुभव में आया कि स्त्री की शारीरिक संरचना वस्त्रत्याग के योग्य नहीं है और वस्त्रग्रहण परिग्रह होने से हिंसा, कषाय, मूर्च्छा आदि दोषों का हेतु है, अतः मोक्ष में बाधक है। इसके अतिरिक्त स्त्रीशरीर में सदा सम्मूर्च्छन जीवों की उत्पत्ति और विनाश होता रहता है, वह भी हिंसा का कारण है। इस अनुभव से वह इस निष्कर्ष पर पहुँचा कि स्त्रीशरीर मोक्षसाधना के योग्य नहीं हैं। इसीलिए उसने आगे चलकर उत्तरा को अपने सम्प्रदाय में दीक्षित नहीं किया, केवल कौण्डिन्य और कोट्टवीर नामक दो पुरुषों को दीक्षा दी। उन्हीं से उसके नवीन बोटिकसम्प्रदाय का आरंभ हुआ।

वस्त्र धारण करने के बाद उत्तरा श्राविका की स्थिति में रही या आर्यिका की, इसका संकेत कथा में नहीं है। किन्तु वस्त्रधारण का दोनों में से किसी भी स्थिति के साथ विरोध नहीं है, क्योंकि दिगम्बरमत में आर्यिका को सवस्त्र रहने की ही आज्ञा है, केवल स्त्रीपर्याय से मोक्ष का विधान नहीं है। इसलिए पं० मालवणिया एवं डॉ० सागरमलजी के इस फलितार्थ में कोई दोष नहीं है कि शिवभूति के सम्प्रदाय में साध्वियाँ सवस्त्र रहती थीं, (जै.ध.या.स./पृ.९)। किन्तु इससे यह निष्कर्ष निकालना युक्तिसंगत नहीं है कि शिवभूति को स्त्रीमुक्ति मान्य थी। वह अपने कथित नवीन सम्प्रदाय में अपनी बहिन उत्तरा को दीक्षित नहीं करता, केवल दो पुरुषों को दीक्षा देता है, इससे स्पष्ट है कि वह स्त्री को मुक्ति के योग्य नहीं मानता था, जो उसके दिगम्बरमत के अनुयायी होने का प्रमाण है।

५.४.२. स्त्रीमुक्ति के लिए स्थान नहीं—यतः शिवभूति स्त्रीशरीर को मोक्षसाधना के योग्य नहीं मानता, इसलिए उसके मत में स्त्रीमुक्ति के लिए स्थान नहीं था। श्वेताम्बराचार्यों ने भी उसे अपने तर्क से स्त्रीमुक्ति का निषेधक सिद्ध किया है। श्वेताम्बरग्रन्थ 'प्रवचनपरीक्षा' के कर्ता ने शिवभूति के स्त्रीमुक्ति-निषेधक होने का निर्णय निम्नलिखित तर्क के आधार पर किया है—

“अथ यदा शिवभूतिना नग्नभावोऽभ्युपगतस्तदानीमुत्तरानाम्याः स्वभगिन्या वस्त्र-परिधानमनुज्ञातम्। एवं च सति यदि स्त्रीणां मुक्तिं प्ररूपयति तदा सवस्त्र-निर्वस्त्रयोर-विशेषापत्त्या स्वकीयनग्नभावस्य केवलं क्लेशतैवापद्येतेति विचिन्त्य स्त्रीणां मुक्तिर्नि-षिद्धा।” (प्रव.परी/पातनिका/१/२/१९/पृ. ८२)।

अनुवाद—“जिस समय शिवभूति ने नग्नत्व स्वीकार किया, उस समय उसने अपनी बहिन को वस्त्र पहनने की सलाह दी। अब यदि वह स्त्रियों के लिए मुक्ति का विधान करता है, तो सवस्त्र और निर्वस्त्र दोनों को मुक्ति संभव हो जाने से स्वयं का नग्न रहना केवल क्लेश का ही कारण सिद्ध होगा, ऐसा सोचकर उसने स्त्रियों के लिए मुक्ति का निषेध कर दिया।”

यह श्वेताम्बर-मताश्रित तार्किक निर्णय भी स्पष्ट कर देता है कि बोटिक शिवभूति स्त्रीमुक्ति का समर्थक हो ही नहीं सकता था। इसी तर्क के आधार पर मुनि कल्याणविजय जी ने कुन्दकुन्द के स्त्रीमुक्तिनिषेध एवं केवलिभुक्तिनिषेध का औचित्य प्रतिपादित किया है। पूर्वोद्धृत (शी.३) वक्तव्य में वे कहते हैं—

“छठी सदी के विद्वान् आचार्य कुन्दकुन्द, देवनन्दी वगैरह ने---अपने लिए आचार, विचार और दर्शनविषयक स्वतन्त्र साहित्य की रचना की, जिसमें वस्त्रपात्र रखने का एकान्तरूप से निषेध किया। यद्यपि इस ऐकान्तिक निषेध के कारण उन्हें स्त्रीमुक्ति और केवलिभुक्ति का भी निषेध करना पड़ा, क्योंकि स्त्रियों को सर्वथा अचेलक मानना अनुचित था और वस्त्रसहित रहते हुए उनकी मुक्ति मान लेने पर अपने वस्त्रधारी प्रतिस्पर्द्धियों की मुक्ति का निषेध करना असम्भव था। इसी तरह केवली का कवलाहार मानने पर उसके लाने के लिए पात्र भी मानना पड़ता और इस दशा में पात्रधारी स्थविरों का खण्डन नहीं करने पाते।” (श्र.भ.म./पृ.३०२-३०५)।

श्वेताम्बरशास्त्रों में स्त्री के लिए जिनकल्प का निषेध किया गया है—‘जिणकप्पिया इत्थी न होइ।’ (‘जैन साहित्य में विकार’/पृ. ४७ पर उद्धृत)। बृहत्कल्पसूत्र में कहा गया है—‘नो कप्पइ निग्गंथीए अचेलियाए हुंतए’ (५/१६)। अर्थात् स्त्री को अचेल होने की अनुमति नहीं है। इस सूत्र की श्री संघदासगणिकृत भाष्यगाथा (५९३५) के वृत्तिकार श्री क्षेमकीर्ति लिखते हैं कि इस सूत्र में अचेलकत्व का प्रतिषेध कर आर्यिकाओं

के लिए जिनकल्प पर रोक लगायी गयी है—“अचेलकत्वप्रतिषेधेन आर्याणां जिन-कल्पोऽपि अनेनैव सूत्रेण निवारितो मन्तव्यः।”

इस प्रकार आर्यिकाओं के लिए जिनकल्प (अचेलत्व) का निषेध श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनों परम्पराओं में है। और शिवभूति ने स्थविरकल्प को सपरिग्रह होने के कारण मोक्ष में बाधक बतलाया है, इससे यह स्पष्ट है कि उसने स्त्री, गृहस्थ और परतीर्थिक इन सभी वस्त्रधारियों के मोक्ष का निषेध किया है।

अतः पं० मालवणिया का यह कथन युक्तिसंगत नहीं है कि बोटिक शिवभूति केवल वस्त्रपात्र का विरोधी था, स्त्रीमुक्ति का नहीं।^{२७} एकमात्र जिनलिंग को ही मुक्ति का मार्ग स्वीकार करने से स्त्रीमुक्ति का निषेध स्वतः हो जाता है। और चूँकि शिवभूति स्त्रीमुक्ति का समर्थक नहीं था, अतः सिद्ध है कि वह दिगम्बरमत का अनुयायी था। यह तार्किक निर्णय महत्त्वपूर्ण है। क्योंकि इससे यह भी सिद्ध होता है कि चूँकि श्वेताम्बरमत में स्त्रीमुक्ति मान्य है, इसलिए उसमें पुरुषों के लिए नग्नता का विधान अपवादरूप से भी नहीं हो सकता। अन्यथा वहाँ भी वस्त्र और निर्वस्त्र दोनों के लिए मुक्ति संभव हो जाने से नग्नता केवल कष्ट का ही कारण सिद्ध होगी।

५.५. शिवभूति को श्वेताम्बरागम मान्य नहीं

शिवभूति अपने गुरु आर्यकृष्ण के समक्ष स्थविरकल्प को अमान्य कर एकमात्र जिनलिंग को ग्राह्य बतलाता है। इस प्रकार वह गुरु द्वारा मान्य आगमों को अमान्य कर देता है। फिर गुरु उसके मतों का खण्डन करने के लिए आगमवचन प्रमाणरूप में उपस्थित करते हैं। उन सबको वह अस्वीकृत कर देता है। यथा—

गुरु कहते हैं—“वस्त्रपात्रादि धर्मोपकरणों का परिग्रह, परिग्रह नहीं है, अपितु उनमें मूर्च्छा करना परिग्रह है।” शिवभूति इसे स्वीकार नहीं करता।

गुरु कहते हैं—“यदि वस्त्रपात्रादि उपधि मूर्च्छा का कारण होने से त्याज्य हैं, तो किसी मुनि को देह में भी मूर्च्छा हो सकती है, तब देह का भी परित्याग जरूरी हो जायेगा। यदि मूर्च्छा होने पर भी देह का परित्याग आवश्यक नहीं है, तो वस्त्रादि उपधि में मूर्च्छा होने पर वस्त्रादि का भी त्याग आवश्यक कैसे हो सकता है?” शिवभूति गुरु के इस तर्क को स्वीकार नहीं करता।

गुरु कहते हैं—“जिनेन्द्र भी सर्वथा अचेलक नहीं थे, क्योंकि आगम में कहा गया है कि सभी तीर्थंकर एक वस्त्र लेकर प्रव्रजित हुए थे।” शिवभूति इसे भी नहीं मानता।

२७. ‘क्या बोटिक दिगम्बर हैं?’ Aspects of Jainology, vol. II, pp. 70-71.

गुरु के मुख से निकले हुए इन समस्त आगमवचनों की अवहेलना कर शिवभूति उनके द्वारा दिये गये धर्म को टुकराकर अचेलक जिनलिंग (दिगम्बरमुनिलिङ्ग) को ग्रहण कर लेता है और अपना तथाकथित बोटिकमत चला देता है। इससे सिद्ध होता है कि बोटिक श्वेताम्बर-आगमों को प्रमाण नहीं मानते थे।

आवश्यकनिर्युक्ति में बोटिकों को निहव कहा गया है। वृत्तिकार हरिभद्रसूरि ने निहव का अर्थ मिथ्यादृष्टि बतलाया है, और मिथ्यादृष्टि उसे घोषित किया है जो जिनवचन को प्रमाण न माने।^{२८} इससे स्पष्ट है कि बोटिक श्वेताम्बर-आगमों को नहीं मानते थे। जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण ने विशेषावश्यकभाष्य (गा. २६२०) में बोटिकों को भिन्नमत, भिन्नलिंग और भिन्नचर्यावाला मिथ्यादृष्टि कहा है—“भिन्नमयलिंगचरिया मिच्छहिद्वि त्ति बोडियाऽभिमया।”

भिन्नमतवाले मिथ्यादृष्टि कहे जाने से सिद्ध है कि बोटिक श्वेताम्बरमत को प्रामाणिक नहीं मानते थे। इतना ही नहीं, अन्य निहवों को तो देशविसंवादी ही कहा गया है, किन्तु बोटिकों को तो सर्वविसंवादी घोषित कर दिया गया—“देशविसंवादिनः सप्त निहवाः--- सर्वविसंवादिनः बोटिकनिहवान्---।” (हेम.वृत्ति / पातनिका / विशेष. भा./गा. २५५०)।

देशविसंवादी का अर्थ है आंशिक मतभेद रखनेवाला और सर्वविसंवादी का अर्थ है सर्वथा मतभेद रखनेवाला। इस उपाधि से तो इस बात में कोई सन्देह ही नहीं रह जाता कि बोटिकों का श्वेताम्बर-आगमों से सर्वथा मतभेद था अर्थात् वे उन्हें सर्वथा अमान्य थे। अतः सिद्ध है कि श्वेताम्बर-साहित्य में ‘बोटिक’ शब्द के द्वारा दिगम्बरों का ही वर्णन किया गया है।

शिवभूति के इन तर्कों, विचारों और आचरण से स्पष्ट हो जाता है कि उसकी मान्यताएँ दिगम्बरमतानुगामी हैं। उसने श्वेताम्बर-आगमों को अमान्य और सचेललिंग से मुक्ति का निषेध किया है तथा एकमात्र जिनलिंग को मोक्ष का उपाय बतलाया है। सचेललिंग के निषेध से स्त्रीमुक्ति, गृहस्थमुक्ति और परतीर्थिकमुक्ति का निषेध स्वतः हो जाता है, जो श्वेताम्बर और यापनीय मतों के सिद्धान्त हैं। इस प्रकार शिवभूति की मान्यताएँ श्वेताम्बर और यापनीय मतों के विरुद्ध हैं, यह उसके दिगम्बरमतानुगामी

२८. निहवो मिथ्यादृष्टिः। उक्तं च—

सूत्रोक्तस्यैकस्याप्यरोचनादक्षरस्य भवति नरः।

मिथ्यादृष्टिः, सूत्रं हि नः प्रमाणं जिनाभिहितम्॥ हरि. वृत्ति / आवश्यकनिर्युक्ति / गा. ७७८।

होने का प्रमाण है। अतः माननीय मालवणिया जी और डॉ० सागरमल जी की यह मान्यता कि “शिवभूति ने केवल वस्त्रपात्रादि-परिग्रहवाले स्थविरकल्प का निषेध किया था, स्त्रीमुक्ति का नहीं, इसलिए बोटिकों को दिगम्बर नहीं कहा जा सकता” सत्य का घोर अपलाप है। शिवभूति की मान्यताएँ उसे दिगम्बरमतानुगामी सिद्ध करती हैं, अतः सिद्ध है कि शिवभूति के यापनीयमत-प्रवर्तक होने की कथा मनगढ़ंत है, यथार्थ नहीं।

६ ;

बोटिक और यापनीय परस्परविरुद्ध परम्पराएँ

६.१. बोटिकमत और यापनीयमत में घोर वैषम्य

बोटिककथा में वर्णित शिवभूति के विचारों और यापनीयमत के सिद्धान्तों की तुलना करने पर स्पष्ट होता है कि बोटिकमत और यापनीयमत परस्परविरुद्ध परम्पराएँ थीं। तुलना नीचे की जा रही है—

१. बोटिकों को आपवादिक सचेल मार्ग स्वीकार्य नहीं था, यापनीयों को था।
२. बोटिकों को स्त्रीमुक्ति मान्य नहीं थी, यापनीयों को थी।
३. बोटिक केवल जिनेन्द्रलिंगवत् जिनकल्प को ही मुक्तिमार्ग मानते थे, इसलिए उन्हें गृहस्थमुक्ति और अन्यतीर्थिकमुक्ति स्वीकार्य नहीं थी, जबकि यापनीयों को थी।
४. बोटिक केवलभुक्ति नहीं मानते थे, यापनीय मानते थे।

६.२. श्वेताम्बरग्रन्थों में बोटिकों की निन्दा, यापनीयों की प्रशंसा

बोटिकों को श्वेताम्बरग्रन्थों में निहव, महामिथ्यादृष्टि, सर्वापलापी, प्रभूतर-विसंवादी तथा सर्वविसंवादी कहा गया है, जिससे स्पष्ट है कि वे श्वेताम्बरपरम्परा के आगमों को नहीं मानते थे, जब कि यापनीय मानते थे, इसलिए उन्हें न तो किसी श्वेताम्बरग्रन्थ में निहव कहा गया है, न मिथ्यादृष्टि, न विसंवादी। सवस्त्रमुक्ति, स्त्रीमुक्ति, अन्यतीर्थिकमुक्ति एवं केवलीभुक्ति को लेकर उनका श्वेताम्बरों के साथ संवाद था। यापनीयों ने जो स्त्रीमुक्ति के समर्थन में तर्क दिये हैं, उन्हें श्वेताम्बर-आचार्यों ने प्रमाणरूप में स्वीकार किया है। इन तथ्यों पर एक दृष्टि डालें—

सर्वप्रथम भद्रबाहु-द्वितीय (विक्रम सं० ५६२, ई० सन् ५०५)^{२९} ने ‘आवश्यक-निर्युक्ति’ में आठ निहवों अर्थात् तीर्थकरवचन की विपरीत व्याख्या करनेवालों एवं उनके

२९. श्री देवेन्द्र मुनि : जैन आगम साहित्य : मनन और मीमांसा / पृ.४३८।

नाम से मिथ्यामत चलानेवालों^{३०} के आठ उत्पत्तिस्थानों का वर्णन किया है, जिनमें आठवाँ स्थान रहवीरपुर (रथवीरपुर) है। आवश्यकसूत्र के मूलभाष्यकर्ता ने इस रथवीरपुर नगर में 'बोटिक' नामक आठवें निहव की उत्पत्ति बतलाई है।^{३१} जिनभद्रगणिक्षमाश्रमण (छठी-सातवीं शताब्दी ई०) ने विशेषावश्यकभाष्य में, जिनदासगणी महत्तर (सातवीं शती० ई०) ने आवश्यकचूर्ण में, मलधारी श्री हेमचन्द्रसूरि (१२वीं शती ई०)^{३२} ने विशेषावश्यकभाष्य की वृत्ति में तथा श्री हरिभद्रसूरि (८वीं शती ई०) ने आवश्यकनिर्युक्ति की वृत्ति में भी ऐसा ही कहा है।

इनमें से सभी आचार्यों ने बोटिकों को निहव कहा है तथा आवश्यकमूलभाष्य के कर्ता ने उनके मत को मिथ्यादर्शन बतलाया है—

ऊहाए पणणत्तं बोडियसिवभूइउत्तराहि इमं।

मिच्छादंसणमिणमो रहवीरपुरे समुप्पण्णं ॥ १४७ ॥

३०. क—“निहव इति कोऽर्थः? स्वप्नप्रवचतस्तीर्थकरभाषितं निह्वतेऽर्थम् --- इति निहवो मिथ्यादृष्टिः। उक्तं च—

सूत्रोक्तस्यैकस्याप्यरोचनादक्षरस्य भवति नरः।

मिथ्यादृष्टिः, सूत्रं हि नः प्रमाणं जिनाभिहितम् ॥”

हरिभद्रीयवृत्ति/आवश्यकनिर्युक्ति/गा.७७८/पृ.२०८।

ख—“निहव मिथ्यादृष्टि का ही एक प्रकार है।--- सामान्य मिथ्यात्वी और निहव में यह भेद है कि सामान्य मिथ्यात्वी जिनप्रवचन को ही नहीं मानता अथवा मिथ्या मानता है, जब कि निहव उसके किसी एक पक्ष का अपने अभिनिवेश के कारण परम्परा से विरुद्ध अर्थ करता है तथा शेष पक्षों को परम्परा के अनुसार ही स्वीकार करता है। इस प्रकार निहव वास्तव में जैनपरम्परा के भीतर ही एक नया सम्प्रदाय खड़ा कर देता है।” (डॉ० मोहनलाल मेहता : जैन साहित्य का बृहद् इतिहास/भाग ३/पृ. १८९)। किन्तु मलधारी श्री हेमचन्द्र सूरि ने आठ निहवों में से सात को तो देशविसंवादी (जिनवचन के एकदेश की विपरीत व्याख्या करनेवाला) कहा है, जब कि 'बोटिक' (दिगम्बर) नामक आठवें निहवों को सर्वविसंवादी (सम्पूर्ण जिनोपदेश की विपरीत व्याख्या करनेवाला) बतलाया है। (हेम. वृत्ति./पातनिका/विशेषावश्यकभाष्य/गा. २५५०)।

३१. क—सावत्थी उसभपुरं सेयविया मिहिल उल्लुगातीरं।

पुरिमंतरंजि दसपुर रहवीरपुरं च नगराई ॥ ७८१ ॥ आवश्यकनिर्युक्ति।

ख—छव्वास-सयाई नवुत्तराई तइया सिद्धिं गयस्स वीरस्स।

तो बोडियाण दिट्ठी रहवीरपुरे समुप्पण्णा ॥ १४५ ॥

आवश्यकसूत्र-मूलभाष्य।

३२. जैन आगम साहित्य : मनन और मीमांसा/पृ.५३५।

हेमचन्द्रसूरि ने बोटिकों को सर्वापलापी (समस्त वचनों का निषेध करनेवाला), महामिथ्यादृष्टि एवं सर्वविसंवादी (सर्वथा विपरीतमतवाला) विशेषणों से विभूषित किया है। यथा—

“अष्टमं नगरं द्रव्यलिङ्गमात्रेणापि भिन्नानां सर्वापलापिनां महामिथ्यादृशां वक्ष्य-
माणानां बोटिकनिह्वानां लाघवार्थमुत्पत्तिस्थानमुक्तम्” (हेम.वृत्ति/विशे.भा./गा.२३०३)।

अनुवाद—“(आवश्यकनिर्युक्ति की गाथा ७८१ में) आठवें नगर (रथवीरपुर) का उल्लेख आगे वर्णित किये जाने वाले उन बोटिक नामक निह्वों का संक्षेप में निर्देश करने के लिए किया गया है, जो द्रव्यलिंग से भी भिन्न, सर्वापलापी तथा महामिथ्यादृष्टि हैं।”

“तदेवमुक्ता देशविसंवादिनः सप्त निह्वानाः। अथ सर्वविसंवादिनः ‘बहुरय पएस
अव्यक्त समुच्छा दुग तिग अबद्धिया चेष’ इत्यादिगाथायां च शब्दसङ्गृहीतानष्टमान्
बोटिकनिह्वानभिधित्सुराह ---।” (हेम.वृत्ति/पातनिका/विशे.भा./गा.२५५०)।

अनुवाद—“इस प्रकार यह उन सात निह्वों का वर्णन किया गया है जो देशविसंवादी (अल्प विपरीतमतवाले) हैं। अब ‘बहुरय’ इत्यादि आवश्यकनिर्युक्ति की गाथा में ‘च’ शब्द से संगृहीत उस बोटिक नामक आठवें निह्व का कथन किया जा रहा है, जो सर्वविसंवादी (सर्वथा विपरीत-मतवाला) है।”

आवश्यकचूर्णिकार श्री जिनदासगणिमहत्तर लिखते हैं—ये (बहुरत, जीवप्रादेशिक, अव्यक्तिक, सामुच्छेदिक, द्वैक्रिय, त्रैराशिक तथा अबद्धिक) सात निह्व तो एकदेश-विसंवादी हैं, किन्तु जो ये बोटिक हैं, वे प्रभूतर विसंवादी हैं—“एते य एगदेशविसंवा-दिणो, इमे अण्णे पभूतरविसंवादिणो बोडिया भण्णन्ति।” (आव.चू./उपो.निर्यु./आव.सू./पू.भा./पृ.४२७)।

ये सभी आचार्य पाँचवी शताब्दी ई० के बाद हुए हैं। अतः इनके समय में यापनीय सम्प्रदाय ‘यापनीय’ नाम से ही मौजूद था और वह इतना प्रसिद्ध एवं राजमान्य था कि ईसी की पाँचवीं शताब्दी^{३३} के कदम्बनरेशों के अभिलेखों में यापनीयसंघ को श्वेतपटमहाश्रमणसंघ, निर्ग्रन्थमहाश्रमणसंघ तथा कूर्चकसंघ के साथ भूमि आदि के दान द्वारा सत्कृत किये जाने का उल्लेख है।^{३४} इसका तात्पर्य यह है कि ये सभी सम्प्रदाय

३३. कदम्बनरेश मृगेशवर्मा (सन् ४७०-४९०)/गुलाबचन्द्र चौधरी : प्रस्तावना / पृ.२६/जैन-शिलालेख-संग्रह / माणिकचन्द्र / भा.३।

३४. देखिए, इसी अध्याय का षष्ठ प्रकरण/शीर्षक २-‘अभिलेखों में ‘निर्ग्रन्थ’ शब्द दिग्म्बर-जैनमुनि का वाचक।’

उस समय एक-दूसरे से और उनकी धार्मिक मान्यताओं से सुपरिचित थे। अतः उपर्युक्त श्वेताम्बराचार्य अपने समय में विद्यमान प्रसिद्ध यापनीयसम्प्रदाय से अवश्य ही सुपरिचित रहे होंगे। तथापि उन्होंने बोटिकों को न तो कहीं 'यापनीय' शब्द से वर्णित किया है, न ही यापनीयों के लिये महामिथ्यादृष्टि, सर्वापलापी, प्रभूततरविसंवादी तथा निहव आदि विशेषणों का प्रयोग किया है। इससे सिद्ध है कि यापनीयों के प्रति उनमें साधर्मिबत् आदरभाव था, क्योंकि स्त्रीमुक्ति, केवलीभुक्ति आदि दार्शनिक मान्यताओं की दृष्टि से उनमें परस्पर अत्यधिक समानता थी। यह श्री हरिभद्रसूरि की व्याख्याओं से एकदम स्पष्ट है। उन्होंने अपने व्याख्याग्रन्थों में बोटिकों और यापनीयों, दोनों का उल्लेख किया है और बोटिकों को तो निहव, मिथ्यादृष्टि तथा प्रभूतविसंवादी कहा है, किन्तु यापनीयों को अपने स्त्रीमुक्तिसिद्धान्त का समर्थक बतलाया है, और इस सिद्धान्त को पुष्ट करने वाले अनेक तर्क यापनीयतन्त्र से ग्रहण कर अपनी स्त्रीमुक्ति-मान्यता को उन्होंने प्रमाणित किया है। इस तरह हरिभद्रसूरि ने बोटिकों और यापनीयों को न केवल परस्परभिन्न दो सम्प्रदायों के रूप में वर्णित किया है, अपितु उनमें पूर्व और पश्चिम दिशाओं के समान अत्यन्त वैपरीत्य भी प्रदर्शित किया है। आवश्यकनिर्युक्ति (भा.१) की 'सत्तेया दिद्दीओ' इस ७८६वीं गाथा की व्याख्या करते हुए हरिभद्रसूरि लिखते हैं—“सपैता दृष्टयः, बोटिकास्तु मिथ्यादृष्टय एवेति न तद्विचारः।” अर्थात् बहुरत, जीवप्रादेशिक आदि ये सात निहव तो दर्शन हैं, किन्तु बोटिकमत मिथ्यादर्शन ही है। इसलिए उसका इस गाथा में विचार नहीं किया गया है। तत्पश्चात् वे 'छव्यास-सयाइं नवुत्तराईं' इस आवश्यकमूलभाष्य की गाथा (१४५) की प्रस्तावना में कहते हैं—“भणिताश्च देशविसं-वादिनो निहवाः साम्प्रतमनेनैव प्रस्तावेन प्रभूतविसंवादिनो बोटिका भण्यन्ते।”^{३५} अर्थात् देशविसंवादी (अल्प मतभेदवाले) निहवों का वर्णन किया जा चुका है। अब इसी प्रसंग में प्रभूतविसंवादी बोटिकों का कथन किया जा रहा है।

इन उद्धरणों में हरिभद्रसूरि ने बोटिकों को मिथ्यादृष्टि एवं प्रभूतविसंवादी (अत्यन्त-विरुद्धमतावलम्बी) कहा है, किन्तु निम्न वक्तव्य में यापनीयों को अपने स्त्रीमुक्ति-सिद्धान्त का समर्थक बतलाकर सम्यग्दृष्टि एवं अविशंवादी (समानमतावलम्बी) सिद्ध किया है—

एकको वि णमोक्कारो जिणवरवसहस्स वद्धमाणस्स।

संसारसागराओ तारेइ नरं व नारि वा॥ ३॥

अनुवाद—“जिनवरों में श्रेष्ठ वद्धमान स्वामी को किया गया एक भी नमस्कार पुरुष और स्त्री को संसार-सागर से पार लगा देता है।”

३५. हरिभद्रीयवृत्ति/पातनिका/आवश्यकनिर्युक्ति/भा.१/आवश्यकमूलभाष्य/गाथा १४५/पृ. २१५।

यह हरिभद्रसूरिकृत ललितविस्तरा के स्त्रीमुक्ति-प्रकरण की तीसरी गाथा है। इसकी व्याख्या करते हुए, हरिभद्रसूरि लिखते हैं—

“पुरुषग्रहणं पुरुषोत्तमधर्मप्रतिपादनार्थम्, स्त्रीग्रहणं तासामपि तद्भव एव संसारक्षयो भवतीति ज्ञापनार्थम्। (स्त्रीमुक्तौ यापनीयतन्त्रप्रमाणम्)---यथोक्तं यापनीय-तन्त्रे 'णो खलु इत्थी अजीवो, ण यावि अभव्वा, ण यावि दंसणविरोहिणी, णो अमाणुसा, णो अणारिउप्पत्ति, णो असंखेज्जाउया, णो अइकूरमई, णो ण उवसन्त-मोहा, णो ण सुद्धाचारा, णो असुद्धबोदी, णो ण ववसायवज्जिया, णो अपुव्व-करणविरोहिणी (प्र.---विराहिणी), णो णवंगुणठाण-रहिया, णो अजोग्गा लद्धीए, णो अकल्लाणभायणं ति कहं न उत्तमधम्मसाहिग ति।” (पृ. ४०१-४०२)।

अनुवाद—“इस गाथा में ‘पुरुष’ (नर) शब्द का ग्रहण यह बतलाने के लिए किया गया है कि धर्म पुरुषप्रधान है (धर्म में पुरुषों का स्थान प्रमुख है)। ‘स्त्री’ (नारी) शब्द का ग्रहण यह सूचित करने के लिए किया गया है कि स्त्रियाँ भी उसी भव में मोक्ष प्राप्त कर सकती हैं। (स्त्रीमुक्ति के विषय में यापनीयशास्त्र का प्रमाण)—जैसा कि यापनीयशास्त्र में कहा गया है, स्त्री अजीव नहीं है, अभव्य भी नहीं है, दर्शन-विरोधी भी नहीं है, अमनुष्य नहीं है, अनार्यदेशोत्पन्न नहीं है, असंख्यवर्षायुष्क नहीं है, अतिक्रूरहृदया नहीं है, उपशान्तमोह न हो सके, ऐसी नहीं है, शुद्धाचाररहित नहीं है, अशुद्धशरीरवाली नहीं है, परलोकहितकर-प्रवृत्ति से शून्य नहीं है, अपूर्वकरण-विरोधिनी नहीं है, नौ गुणस्थानों (छठवें से चौदहवें तक) से रहित नहीं है, लब्धि के अयोग्य नहीं है, अकल्याण की पात्र नहीं है, तब उत्तम धर्म की साधक क्यों नहीं हो सकती?”

हरिभद्रसूरिकृत ‘षड्दर्शनसमुच्चय’ के टीकाकार गुणरत्न (१४वीं शती ई०) ने भी यापनीयों के मत को श्वेताम्बरमत से प्रायः अविश्ववादी (मेल रखनेवाला) प्रतिपादित किया है। यथा—

“दिगम्बराः पुनर्नाग्न्यलिङ्गाः पाणिपात्राश्च। ते चतुर्धा काष्ठासङ्घ-मूलसङ्घ-माथुर-सङ्घगोप्यसङ्घ-भेदात्। काष्ठासङ्घे चमरीबालैः पिच्छिका, मूलसङ्घे माथूरपिच्छैः पिच्छिका, माथुरसङ्घे मूलतोऽपि पिच्छिका नादृता, गोप्या माथूरपिच्छिका। आद्य-स्त्रयोऽपि सङ्घा वन्द्यमाना धर्मवृद्धिं भणन्ति, स्त्रीणां मुक्तिं, केवलानां भुक्तिं, सद्ब्रतस्यापि सत्रीवरस्य मुक्तिं च न मन्वते। गोप्यास्तु वन्द्यमाना धर्मलाभं भणन्ति, स्त्रीणां मुक्तिं केवलानां भुक्तिं च मन्वन्ते। गोप्या यापनीया इत्यप्युच्यन्ते।” (त. र. दी. / षड्दर्शन-समुच्चय / अधिकार ४ / पृ. १६१)।

अनुवाद—“दिगम्बर नग्न रहते हैं तथा अपने पाणिपात्र में ही आहारजल ग्रहण करते हैं। उनके चार भेद हैं : काष्ठासंघ, मूलसंघ, माथुरसंघ और गोप्यसंघ। काष्ठासंघ में चमरीगाय के बालों की पिच्छिका रखी जाती है। मूलसंघ में मोरपंखों की पिच्छिका ली जाती है। माथुरसंघ में किसी भी प्रकार की पीछी का प्रयोग नहीं किया जाता। गोप्यसंघवाले मुनि मयूरपिच्छिका ग्रहण करते हैं। पहले के तीन संघों के साधु नमस्कार किये जाने पर ‘धर्मवृद्धि हो’ यह आशीर्वाद देते हैं। वे स्त्रीमुक्ति, केवलिभुक्ति और सद्व्रती होते हुए भी वस्त्रधारी की मुक्ति नहीं मानते। किन्तु गोप्यसंघवाले साधु नमस्कार किये जाने पर ‘धर्मलाभ हो’ यह आशीर्वाद देते हैं तथा स्त्रीमुक्ति और केवलिभुक्ति मानते हैं। गोप्यों को यापनीय भी कहते हैं।”

गुणरत्न के इस कथन से स्पष्ट होता है कि यापनीय श्वेताम्बरों के समान स्त्रीमुक्ति, केवलिभुक्ति तथा गृहस्थमुक्ति मानते थे, इसलिए श्वेताम्बरों के साथ उनका प्रभूततर संवाद (अत्यधिक विचारसाम्य) था, फलस्वरूप प्रभूततर विसंवादी बोटिकों से भिन्न थे। इसकी पुष्टि इस बात से भी होती है कि गुणरत्न ने यापनीयों का एक अन्य नाम ‘गोप्य’ तो बतलाया है, किन्तु ‘बोटिक’ नहीं बतलाया।

प्रस्तुत प्रसंग में बोटिकों के लिए प्रयुक्त महामिथ्यादृष्टि, सर्वविसंवादी और सर्वापलापी विशेषण ध्यान देने योग्य हैं। ये विशेषण सूचित करते हैं कि बोटिक श्वेताम्बरों की स्त्रीमुक्ति, केवलिभुक्ति आदि सभी मौलिक मान्यताओं का निषेध करते थे, जो यापनीयों के द्वारा नहीं किया जाता था, केवल दिगम्बरों के द्वारा किया जाता था। अतः बोटिकों से तात्पर्य दिगम्बरों से ही था।

६.३. प्राचीन श्वेताम्बरग्रन्थों में बोटिकों की ‘दिगम्बर’ संज्ञा

इसीलिए सभी प्राचीन श्वेताम्बराचार्यों ने बोटिकों को ‘दिगम्बर’ शब्द से अभिहित किया है और स्त्रीमुक्ति, केवलिभुक्ति आदि का विरोधी बतलाया है। यथा—

१.

श्री मलधारी हेमचन्द्रसूरि ने विशेषावश्यकभाष्य की वृत्ति में बोटिककथा से शिवभूति के विषय में दो निष्कर्ष निकाले हैं : पहला यह कि वह साधु के लिए वस्त्रपात्रादि समस्त बाह्यपरिग्रह का विरोधी था, दूसरा यह कि वह स्त्रीमुक्ति का समर्थक नहीं था। इसलिए हेमचन्द्रसूरि ने उत्तराध्ययन की बृहट्टीका से वस्त्र की आवश्यकता और स्त्रीमुक्ति को सिद्ध करनेवाले हेतुओं का निर्देश किया है और कहा है कि जिन्हें विस्तार से जानने की इच्छा है, उन्हें उत्तराध्ययन की बृहट्टीका देखना चाहिए। वे हेतु इस प्रकार हैं—

क—जो जिस वस्तु को चाहता है, वह उसके निमित्त और उपादान की आकांक्षा करता है, जैसे घट को चाहनेवाला उसके मृत्पिण्डरूप उपादान को चाहता है। इसी प्रकार मुनियों को चारित्र की आकांक्षा होती है, और उसका निमित्त वस्त्र है, अतः वे वस्त्र को चाहते हैं।

ख—जिस वस्तु की उत्पत्ति जहाँ नहीं होती, वहाँ उत्पत्ति के सम्पूर्ण कारणों का अभाव होता है, जैसे शुद्ध (मिट्टी आदि से रहित) शिला में अंकुरोत्पत्ति के कारण न होने से अंकुर उत्पन्न नहीं होता। किन्तु स्त्रियों में मुक्ति के कारणों का अभाव नहीं है, अतः उनकी मुक्ति का भी अभाव नहीं है।^{३६}

बोटिक शिवभूति की मान्यताओं को अप्रामाणिक सिद्ध करने के लिए श्री हेमचन्द्रसूरि ने मुनि के लिए वस्त्रधारण के औचित्य और स्त्रीमुक्ति को सिद्ध करने का जो यह प्रयत्न किया है, उससे स्पष्ट है कि वे बोटिक शिवभूति को दिगम्बरमत का प्रवर्तक मानते थे।

मालवणिया जी का मत युक्ति-प्रमाणविरुद्ध—पं० दलसुख जी मालवणिया लिखते हैं कि श्री हेमचन्द्रसूरि ने नग्नता के भ्रम से बोटिक को दिगम्बर मान लिया है, इसीलिए उन्होंने यहाँ स्त्रीमुक्ति की चर्चा उठाई है। मूल बोटिककथा में स्त्रीमुक्ति की चर्चा की कोई सूचना ही नहीं है, अतः हेमचन्द्रसूरि को यह चर्चा उठाने की आवश्यकता नहीं थी।^{३७} चूँकि मालवणिया जी ने बोटिकों को यापनीय माना है, इसलिए उनके कथन का अभिप्राय यह है कि श्री हेमचन्द्रसूरि ने 'नग्नता' के भ्रम से यापनीयों को दिगम्बर मान लिया है।

ऐसा लगता है कि विशेषावश्यकभाष्य के इतने बड़े वृत्तिकार एवं समकालीन यापनीय सम्प्रदाय के प्रत्यक्षदर्शी बहुश्रुत आचार्य को माननीय मालवणिया जी इतना अज्ञानी समझते हैं कि वे यापनीय और दिगम्बरों के भेद को भी पहचानने में असमर्थ

३६. "एतासां च बोटिक-व्यतिकर-सम्बद्धानां सर्वासामपि गाथानामर्थं संक्षिप्य 'इह यो यदर्थी न स तन्निमित्तोपादानं प्रत्यानादृतः, यथा घटार्थी मृत्पिण्डोपादानं प्रति, चारित्रार्थिनश्च यतयः, तन्निमित्तं च चीवरमिति, न चास्यासिद्धत्वम्' इत्यादिना सूत्र-वस्त्र-पात्रपरिग्रहविषयं वादस्थानकं वृद्धैर्विचारितमास्ते, तच्चोत्तराध्ययनेषु द्वितीये परिषदाध्ययने आचेलक्यपरीषहे बृहट्टीकायां तदर्थिनान्वेषणीयम्। तथा 'इह खलु यस्य यत्रासम्भवो न तस्य तत्र कारणावैकल्यं, यथा शुद्धशिलायां शाल्यङ्कुरस्य, अस्ति च तथाविधस्त्रीषु मुक्तेः कारणावैकल्यं, न चायमसिद्धो हेतुः' इत्यादिना विरचितं स्त्रीनिर्वाणविषयमपि वादस्थानकं तत्रैव षट्त्रिंशत्तमाध्ययने दृष्ट-व्यम्।" (हेम.वृत्ति / विशेषावश्यकभाष्य / गा. २६०६-२६०९)।

३७. 'क्या बोटिक दिगम्बर हैं?' Aspect of Jainology, Vol. II, Page 71.

थे, जिससे उन्होंने यापनीयों को भ्रम से दिगम्बर मान लिया। यह तो इतना बड़ा अज्ञान है कि इसके कारण उन्हें श्वेताम्बर और दिगम्बर का भी भेद पहचानने में असमर्थ मानना होगा। इससे तो वे विशेषावश्यकभाष्य की टीका के भी अयोग्य सिद्ध हो जाते हैं।

किन्तु, मैं यह मानने में असमर्थ हूँ कि श्री मलधारी हेमचन्द्रसूरि इतने अज्ञानी थे कि उन्होंने भ्रम से यापनीयों को दिगम्बर मान लिया है। वस्तुतः उन्होंने शिवभूति को उसके नग्न हो जाने से दिगम्बर नहीं माना है, अपितु वह वस्त्रग्रहण को मूर्च्छा, भय, कषाय आदि अनेक दोषों की उत्पत्ति का कारण बतलाकर मोक्ष में सर्वथा बाधक मानता है तथा कहता है कि केवल जिनलिंगरूप जिनकल्प (सर्वथा वस्त्ररहित नग्न मुद्रा) से ही मोक्ष हो सकता है—“परलोकार्थिना स एव निष्परिग्रहो जिनकल्पः कर्तव्यः, किं पुनरनेन कषायभय-मूर्च्छादिदोषनिधिना परिग्रहानर्थेन”^{३८} उसकी इस विचाराधारा से उसे दिगम्बर माना है, क्योंकि एकमात्र जिनलिंग (नग्नमुद्रा) से मोक्ष मानने का फलितार्थ है—श्वेताम्बरों और यापनीयों को मान्य सवस्त्रमुक्ति को अस्वीकार करना। सवस्त्रमुक्ति की अस्वीकृति से स्थविरकल्पियों, गृहस्थों, परतीर्थिकों और स्त्रियों की मुक्ति अमान्य हो जाती है। अतः सवस्त्रमुक्ति को अमान्य करना दिगम्बर होने का ही लक्षण है। इस प्रकार हेमचन्द्रसूरि नग्नता के भ्रम में पड़ कर नहीं, अपितु शिवभूति के सैद्धान्तिक तर्कों के तल में उतरकर इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि वह दिगम्बर है। इसलिए भले ही मूल बोटिककथा में स्पष्ट शब्दों में स्त्रीमुक्ति की चर्चा नहीं है, किन्तु उसमें की गई सैद्धान्तिक चर्चा इसी निष्कर्ष पर पहुँचाती है कि शिवभूति स्त्रीमुक्ति का विरोधी है। हेमचन्द्रसूरि ने यह भी देखा है कि वह अपने सम्प्रदाय में अपनी बहिन उत्तरा को दीक्षित नहीं करता, केवल दो पुरुषों, कौण्डिन्य और कुट्टवीर को दीक्षा देता है और उन्हीं से बोटिकपरम्परा प्रचलित होती है। इस सैद्धान्तिक वैशिष्ट्य और व्यावहारिक दृष्टान्त के आधार पर ही श्री हेमचन्द्रसूरि इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि बोटिक शब्द का प्रयोग दिगम्बरों के लिए ही किया गया है।

इससे माननीय मालवणिया जी का यह कथन भी असत्य सिद्ध हो जाता है कि प्रारंभिक श्वेताम्बराचार्य स्त्रीमुक्ति-निषेधक दिगम्बरसम्प्रदाय से परिचित नहीं थे, क्योंकि एक तो वे बोटिक नाम से दिगम्बरसम्प्रदाय से परिचित थे, दूसरे नग्नक्षपणक या क्षपणक नाम से भी इस सम्प्रदाय को वे जानते थे। उदाहरणार्थ हेमचन्द्रसूरि ने विशेषावश्यकभाष्य (गाथा २५८५) की वृत्ति में पूर्वपक्ष की ओर से यह गाथा उद्धृत की है—

३८. हेमचन्द्रसूरिकृत वृत्ति/विशेषावश्यकभाष्य/गा.२५५२/पृ.५११।

जारिसियं गुरुलिंगं सीसेण वि तारिसेण होयव्वं ।

न हि होइ बुद्धसीसो सेयवडो नग्गखवणो वा ॥

अर्थात् जैसा गुरु का लिंग (वेश) होता है, वैसा ही शिष्य का भी होना चाहिए, क्योंकि बुद्ध का शिष्य श्वेतवस्त्रधारी या नग्नक्षपणक नहीं हो सकता।

इस गाथा में 'नग्नक्षपणक' शब्द का प्रयोग है, जिसे श्वेताम्बराचार्यों ने ही 'दिगम्बर' अर्थ का वाचक बतलाया है—'क्षपणको दिगम्बरः'।^{३९}

२ :

उपाध्याय धर्मसागरजी ने अपने 'प्रवचनपरीक्षा' नामक ग्रन्थ के पूर्वभाग-द्वितीय-विश्राम में बोटिक मत की उत्पत्ति का वर्णन इस प्रकार किया है—

तथ य खमणो रमणो दुग्गइवणिआइ जेण वणिआए ।

न मुणइ मुत्तिं भुत्तिं केवल्लिणो कवल्लभोइस्स ॥ ३ ॥

तस्सुप्पत्ति नवहिअ-छव्वास-सएहिं वीरनिव्वाणा ।

रहवीरपुरे कंबलकोहाओ सहस्समल्लाओ ॥ ४ ॥

अनुवाद—“क्षपणक (बोटिक) स्त्री की मुक्ति तथा केवली का कवलाहारी होना नहीं मानते, इसलिए वे नारकादि-दुर्गतिरूपी स्त्री के पति हैं। इनके बोटिकमत की उत्पत्ति वीर निर्वाण के ६०९ वर्ष बाद रथवीरपुर नगर में कम्बलक्रोधी (रत्नकम्बल के निमित्त से जिसे क्रोध आ गया था) सहस्रमल्ल (शिवभूति) नामक पुरुष से हुई थी।”

प्रवचनपरीक्षाकार उक्त गाथाओं की वृत्ति में लिखते हैं—

“क्षपणको बोटिको---। बोटिको वनितायाः मुत्तिं न मन्यते। --- तथा कवल्लभोजिनः तथाविधवेदनीयकर्मोदयात् क्षुद्धेदनोपशमाय कवलाहारं ग्रहानस्य केवल्लिनः---भोजनं, केवल्लिनां कवलाहारो न भवतीत्युपदेशेन प्रतिषेधयति।” (प्रव.परी./वृत्ति./ गा.३ / पृ.६६) ।

अनुवाद—“क्षपणक बोटिक को कहते हैं। बोटिक स्त्री की मुक्ति नहीं मानते तथा क्षुधा-वेदनीयकर्म के उदय से उत्पन्न क्षुधा को शान्त करने के लिए कवलाहार ग्रहण करनेवाले केवली के विषय में कहते हैं कि वे कवलाहार नहीं करते।”

“तस्य बोटिकस्योत्पत्तिः वीरनिर्वाणात् नवाधिकषट्शतवर्षैः ६०९ व्यतीतै रथवीरनगरे जातेत्युत्पत्तिकालः प्रदर्शितः। कस्माज्जातेत्याह---राजमान्य-सहस्र-

मल्लाभिधानशिवभूत्यपरनाम्नः पुरुषादिति। अनेन दिगम्बरमतस्यादिकर्ता प्रदर्शितः।”
(प्रव.परी./वृत्ति/गा.४/पृ.६६)।

अनुवाद—“इनके बोटिकमत की उत्पत्ति वीरनिर्वाण के बाद ६०९ वर्ष व्यतीत होने पर रथवीर नगर में राजमान्य सहस्रमल्ल नामक पुरुष से हुई थी, जिसका दूसरा नाम शिवभूति था। इस कथन से दिगम्बरमत के आदिकर्ता का बोध कराया गया है।”

प्रवचनपरीक्षाकार ने बोटिक शिवभूति की स्त्रीमुक्ति-विरोधी मान्यता का तार्किक अनुसन्धान इस प्रकार किया है—

“अथ यदा शिवभूतिना नग्नभावोऽभ्युपगतस्तदानीमुत्तरानाम्प्याः स्वभगिन्या वस्त्र-परिधानमनुज्ञातम्। एवं च सति यदि स्त्रीणां मुक्तिं प्ररूपयति तदा सवस्त्रनिर्वस्त्रयोर-विशेषापत्त्या स्वकीयनग्नभावस्य केवलं क्लेशतैवापद्येतेति विचिन्त्य स्त्रीणां मुक्ति-निषिद्धा।” (प्रव.परी./वृत्ति/पातनिका/१/२/१९/पृ.८२)।

अनुवाद—“जिस समय शिवभूति ने नग्नवेश धारण किया, उसी समय उसने अपनी उत्तरा नाम की बहिन को वस्त्र धारण करने की आज्ञा दी। इस स्थिति में यदि वह स्त्रीमुक्ति का प्ररूपण करता, तो मोक्ष के लिए वस्त्रधारण करने और न करने में कोई विशेषता न रहने से उसका नग्न रहना केवल क्लेश का कारण सिद्ध होता। इसलिए उसने स्त्रीमुक्ति का निषेध कर दिया।”

शिवभूति के केवलभुक्ति-विरोधी मत का युक्ति के द्वारा उद्धाटन प्रवचनपरीक्षाकार इन शब्दों में करते हैं—

“अथोत्पन्नदिव्यज्ञाना अर्हन्तो न भिक्षार्थं व्रजन्ति, साध्वानीतान्नादिभुक्तौ च सप्तविधः पात्रनिर्योगोऽवश्यमभ्युपगन्तव्यः स्यात्। तथा च नाग्न्यव्रतं स्त्रीमुक्ति-निषेधश्चेत्युभयमपि दत्ताञ्जल्येव स्यादिति विचिन्त्य शिवभूतिना केवलिनो भुक्ति-निषिद्धा।” (प्रव.परी./वृत्ति/पातनिका/१/२/४३/पृ.१०४)।

अनुवाद—“केवलज्ञान होने पर अरहन्त भिक्षा के लिए नहीं जाते और साधुओं द्वारा लाये गये अन्नादि का भोजन करने की स्थिति में सात प्रकार का पात्रनिर्योग स्वीकार करना आवश्यक है। ऐसा करने पर नाग्न्यव्रत और स्त्रीमुक्तिनिषेध दोनों को तिलांजलि देनी होगी, यह सोचकर शिवभूति ने केवली के कवलाहार का निषेध कर दिया।”

इन वक्तव्यों में प्रवचनपरीक्षा के कर्ता ने बोटिकमत को दिगम्बरमत कहा है तथा बोटिकों को स्त्रीमुक्ति तथा केवलभुक्ति का प्रतिषेधक बतलाया है।

३

कल्पसूत्र की कल्पलता-व्याख्या में श्री समयसुन्दरगणी ने स्थविरावली का वर्णन करते हुए लिखा है—

“धणगिरिशिष्यः सिवभूई ४। शिवभूतिशिष्यः एको बोटकनामाऽभूत्। तस्मात् वीरात् सं. ६०९ वर्षे बोटकमतं जातं दिगम्बरमतमित्यर्थः।” (अष्टम व्याख्यान/पृ.२३५)।

अनुवाद—“धणगिरि का शिष्य शिवभूति था। शिवभूति का एक बोटक नाम का शिष्य था। उससे वीर निर्वाण संवत् ६०९ में बोटकमत अर्थात् दिगम्बरमत की उत्पत्ति हुई।”

यहाँ यद्यपि शिवभूति की बजाय उसके एक बोटक नामक शिष्य से बोटकमत की उत्पत्ति बतलाई गई है, तथापि बोटकमत को दिगम्बरमत कहा गया है।

४

रत्नवि नामक श्वेताम्बर विद्वान् ने भगवद्वाग्वादिनी नामक ग्रन्थ में “विक्रमा-दृतुख्युगाब्दे ४०६ देवनन्दी, ततो गुणनन्दिकुमारनन्दिलोकचन्द्रानन्तरं मुनिरैयुगाब्दे प्रथमः प्रभाचन्द्र इति बोटिके” तथा “यत्तु देवनन्दिबोटिकं” पूज्यपाद इति ---^{४०} इन उक्तियों में पूज्यपाद देवनन्दी, प्रभाचन्द्र आदि दिगम्बराचार्यों को बोटिक कहा है।

इस प्रकार दिगम्बर और यापनीय सम्प्रदायों के बीच रहनेवाले इन आचार्यों ने बोटिकों और यापनीयों में पूर्व और पश्चिम के समान अत्यन्त वैपरीत्य प्रदर्शित किया है। जहाँ बोटिकों को महामिथ्यादृष्टि, सर्वापलापी और सर्वविसंवादी कहा है, वहाँ यापनीयों को अपने स्त्रीमुक्ति-सिद्धान्त के समर्थकरूप में वर्णित किया है। दोनों सम्प्रदायों से भली भाँति परिचित इन आचार्यों के द्वारा इन दोनों में इतना वैपरीत्य बतलाये जाने पर भी पं० मालवणिया और डॉ० सागरमल जी ने इन्हें एक माना है, यह आश्चर्य की बात है।

आश्चर्य पर आश्चर्य यह है कि डॉ० सागरमल जी एक ओर तो यह स्वीकार करते हैं कि श्वेताम्बरसाहित्य में ऐसा स्पष्ट उल्लेख कहीं नहीं मिलता कि बोटिक और यापनीय एक हैं, दूसरी ओर यह भी कहते हैं कि श्वेताम्बरसाहित्य में इनके बारे में जो विवरण प्रस्तुत किया गया है, उसे देखने से ही स्पष्ट हो जाता है कि दोनों शब्द एक ही परम्परा के सूचक हैं। (जै.ध.या.स./ पृ.८)।

श्वेताम्बरसाहित्य में बोटिकों और यापनीयों से सम्बद्ध जो विवरण है, वह ऊपर प्रस्तुत किया जा चुका है। क्या उसे देखने से लगता है कि बोटिक और यापनीय

४०. पं. नाथूराम प्रेमी : जैन साहित्य और इतिहास / द्वि.सं./ पृ.५३-५४।

दोनों एक ही परम्परा के नाम हैं? श्वेताम्बरग्रन्थों में यापनीयों का विवरण केवल दो जगह मिलता है, हरिभद्रसूरि की 'ललितविस्तार' में और उनके ही 'षड्दर्शनसमुच्चय' की गुणरत्नकृत टीका में। दोनों जगह यापनीयों को स्त्रीमुक्ति और केवलिभुक्ति का समर्थक बतलाया गया है। इसके अलावा उनके बारे में कुछ भी नहीं कहा गया। बोटिकों का विवरण अनेक ग्रन्थों में है, लेकिन उन सब में उन्हें वस्त्रपात्रादि परिग्रह को मूर्च्छा, भय और कषाय का कारण बतलानेवाला एवं एकमात्र जिनकल्प को ही मोक्षमार्ग प्रतिपादित करनेवाला, अत एव स्त्रीमुक्ति एवं केवलिभुक्ति का विरोधी, दिगम्बर कहा गया है। उनको महामिथ्यादृष्टि, सर्वापलापी और सर्वविसंवादी विशेषणों से विभूषित किया गया है, यहाँ तक कि उनके दृष्टिगोचर होने को महान् अपशकुन का कारण बतलाया है।^{४१} जब कि यापनीयों को इनमें से एक भी विशेषण नहीं दिया गया, बल्कि उनके स्त्रीमुक्तिपोषक तर्कों को श्वेताम्बरों ने अपने लिए प्रमाणरूप में स्वीकार किया है। क्या इन विवरणों से सूचित होता है कि बोटिक और यापनीय एक ही परम्परा के नाम हैं? इनसे तो यह सूचित होता है कि ये दोनों, दिन और रात के समान परस्पर विपरीत परम्पराओं के नाम हैं। जो बोटिक सर्वापलापी हैं अर्थात् श्वेताम्बरसम्प्रदाय के स्त्रीमुक्ति, केवलिभुक्ति, गृहस्थमुक्ति, अन्यतीर्थिकमुक्ति आदि समस्त मौलिक सिद्धान्तों का निषेध करते हैं, वे स्त्रीमुक्ति आदि श्वेताम्बरसिद्धान्तों का समर्थन करनेवाले यापनीय कैसे हो सकते हैं? इन विवरणों से यह बात समझ में आ जाती है कि श्वेताम्बरसाहित्य में बोटिकों और यापनीयों को कहीं भी एक क्यों नहीं कहा गया? सारे विवरण सूचित करते हैं कि वे एक हैं ही नहीं, तब उन्हें एक कैसे कहा जा सकता था? डॉक्टर सा० ने बोटिकों और दिगम्बरों के एकत्वसूचक विवरणों को बोटिकों एवं यापनीयों के एकत्व का सूचक मान लिया है। यह स्त्रीत्व के सूचक अंगों को पुरुषत्व के सूचक अंग मान लेने के समान महान् भ्रान्ति से ग्रस्त हो जाने का सूचक है।

डॉक्टर सा० लिखते हैं कि सभी श्वेताम्बराचार्यों ने बोटिकों को भ्रम से दिगम्बर मान लिया है। (जै.ध.या.स./पृ.८)। किन्तु जब ये विवरण ही उन्हें दिगम्बर सिद्ध

४१. चक्कयरम्मि भमाडो, भुक्कामारो य पंडुरंगम्मि।

तच्चिन्नअ रुहरपडनं, बोडिअमसिये धुवं मरणं॥ ओधनियुक्तिभाष्य।

अनुवाद—जैन साधु के चातुर्मास हेतु किसी ग्राम, नगर में प्रवेश करते समय यदि कोई चक्रधर भिक्षु सामने मिले, तो साधु को चातुर्मास में भ्रमण करना पड़ेगा, पांडुरंग भिक्षु के मिलने पर भूखों मरना पड़ेगा, बौद्ध भिक्षु के दर्शन होने पर रक्तपात होगा किन्तु बोटिक या अश्वेत भिक्षु मिले तो निश्चित रूप से मरण होगा। (सिद्धान्ताचार्य पं० कैलाशचन्द्र शास्त्री अभिनन्दन ग्रन्थ/पृष्ठ २०४ तथा 'भ्रमण भगवान् महावीर'/पृ.२७८)।

कर रहे हों, तब उन्हें दिगम्बर मानना भ्रम कैसे कहला सकता है? यह तो यथार्थज्ञान ही है। हाँ, उन्हें दिगम्बर न मानना भ्रम कहला सकता है। जो आचार्य स्वयं बोटिकों को दिगम्बर सिद्ध करनेवाले प्रमाण प्रस्तुत कर रहे हों, वे उन्हें दिगम्बर न मानें, यह कैसे हो सकता था?

५

डॉक्टर सा० ने यापनीयसम्प्रदाय को भगवान् महावीर की परम्परा का सही रूप में प्रतिनिधित्व करनेवाला कहा है। (जै.ध.या.स./लेखकीय/पृ.५)। डॉक्टर सा० की दृष्टि से भगवान् महावीर की सही परम्परा: वही है, जो उन्होंने स्वयं कल्पित की है अर्थात् अचेल-सचेल दोनों मार्गों से मोक्ष माननेवाली परम्परा। यापनीयसम्प्रदाय को महावीर के नाम से कल्पित की गयी इस परम्परा का सही प्रतिनिधि अवश्य माना जा सकता है, किन्तु यापनीयों को बोटिक मानने पर यह सम्भव नहीं है। क्योंकि श्वेताम्बरशास्त्रों में बोटिकों को आठवाँ निहव्व कहा गया है। निहव्व का अर्थ है तीर्थंकर के उपदेश को अमान्य करनेवाला और अपना मत चलानेवाला मिथ्यादृष्टि पुरुष, जैसा कि श्री हरिभद्रसूरि ने कहा है—“निहव्व इति कोऽर्थः? स्वप्रपञ्चतस्तीर्थंकरभाषितं निह्वुतेऽर्थम्—इति निहव्वो मिथ्यादृष्टिः।” (हारि.वृत्ति./आव.निर्यु./गा. ७७८/पृ. २०८)। अतः यापनीयों को बोटिक मानने पर वे (यापनीय) तीर्थंकर महावीर के नाम से कल्पित किये गये सचेलाचेल मोक्षमार्ग के उपदेश को अमान्य करनेवाले सिद्ध होते हैं, न कि सही प्रतिनिधित्व (अनुगमन) करनेवाले। इसलिए यापनीयों और बोटिकों के एकत्व की मान्यता का परित्याग किये बिना डॉक्टर सा० का उपर्युक्त मत सत्य सिद्ध नहीं हो सकता। श्वेताम्बराचार्यों ने महावीर के द्वारा जिस सचेल मोक्षमार्ग का उपदेश दिये जाने की कल्पना की है, उसे दिगम्बरों ने ही अमान्य किया है और मूलसंघ या निर्ग्रन्थसंघ नामक दिगम्बरसंघ के मत को ही श्वेताम्बरों ने नवीन प्रचलित मत माना है, इसलिए बोटिककथा के अनुसार दिगम्बर ही आठवें निहव्व सिद्ध होते हैं। इससे स्पष्ट है कि आवश्यकनिर्युक्ति आदि श्वेताम्बरग्रन्थों में दिगम्बरों को ही बोटिक कहा गया है, यापनीयों को नहीं। इस प्रकार बोटिक और यापनीय एक ही परम्परा के नाम नहीं हैं, अपितु परस्पर विपरीत परम्पराओं के अभिधान हैं।

६.४. आधुनिक श्वेताम्बर विद्वानों का मत : बोटिक-दिगम्बर एक

अनेक आधुनिक श्वेताम्बर आचार्यों और विद्वानों ने भी 'बोटिक' शब्द से 'दिगम्बर' अर्थ ही ग्रहण किया है। उदाहरणार्थ—

१. उन्नीसवीं शताब्दी ई० के श्वेताम्बराचार्य श्री विजयानन्द सूरेश्वर 'आत्माराम' जी ने अपने ग्रन्थ 'तत्त्वनिर्णयप्रासाद' में लिखा है—“तिस शिवभूति ने दो चले करे

कौडिन्य १, कोष्टवीर २, इन दोनों की शिष्यपरम्परा से कालान्तर में मत की वृद्धि हो गई। ऐसैं दिगम्बर-मत उत्पन्न हुआ।” (पृष्ठ ५४४)।

२. माननीय पं० बेचरदास जी जैन लिखते हैं—“मेरी यह प्रामाणिक कल्पना है कि माथुरी वाचना के समय ही मुनियों में स्पष्टरूप से दो दल हो गये थे। श्वेताम्बरों में जो दिगम्बरों के विषय में यह दन्तकथा है कि वीरात् ६०९ में दिगम्बरों की उत्पत्ति हुई है, इस दन्तकथा में बतलाया हुआ समय और माथुरी वाचना का समय लगभग समीप का होने के कारण पूर्वोक्त मेरी मान्यता को पुष्टि मिलती है। --- एक ने दूसरे को बोटिक और निहव कहना प्रारंभ किया, तब दूसरे ने उसका जबाब भ्रष्ट और शिथिल शब्दों में दिया।” (जैन साहित्य में विकार/पृ.४५)।

३. प्रसिद्ध इतिहासकार श्री चिमनलाल जैचन्द्रशाह ने लिखा है—“श्वेताम्बर मान्यतानुसार इस पन्थभेद का मूल नीचे लिखी बातों में दीखता है। रहवीर गाँव में शिवभूति अथवा सहस्रमल्ल नाम का एक व्यक्ति रहता था। एक समय उसकी माता उससे अप्रसन्न हो गई, इससे वह घर छोड़कर चला गया और जैन साधु बन गया। साधु की दीक्षा लेने के बाद राजा ने उसे एक मूल्यवान् कम्बल भेंट किया और वह उससे अभिमानी हो गया। उसके गुरु ने इसकी ओर उसका ध्यान दिलाया, तो वह तब से ही नग्न रहने लगा और उसने फिर दिगम्बरसम्प्रदाय चला दिया। उसकी बहिन उत्तरा ने भी अपने भाई का अनुकरण करने का प्रयत्न किया। परन्तु स्त्रियाँ नग्न रहें, यह उचित नहीं लगने से शिवभूति ने उससे कह दिया कि स्त्री मुक्ति की अधिकारिणी नहीं होती।” (उत्तरभारत में जैनधर्म/पृ.६४)।

४. आचार्य श्री हस्तीमल जी लिखते हैं—“श्वेताम्बरपरम्परा में बोटिकमत (दिगम्बरमत) की उत्पत्ति के वर्णन में विशेषावश्यकभाष्य, आवश्यकचूर्णि और स्थानांग आदि में मूल-घटना की पूर्णरूपेण समानता और वैषम्यरहित मनःस्थिति का परिचय मिलता है, जब कि दिगम्बरपरम्परा के ग्रन्थों में विविधरूपता व विषम मनःस्थिति की प्रतिध्वनि प्रकट होती है। दोनों परम्पराओं के ग्रन्थों के एतद्विषयक उल्लेखों से इतना तो स्पष्ट है कि वीर नि० सं० ६०६ अथवा ६०९ के लगभग श्वेताम्बर-दिगम्बर का सम्प्रदायभेद प्रकट हुआ।” (जै. ध. मौ. इ./ भा. २/पृ. ६१३)।

५. श्री देवेन्द्रमुनि शास्त्री बतलाते हैं कि “आवश्यकभाष्य, आवश्यकचूर्णि प्रभृति श्वेताम्बरग्रन्थों में उल्लेख है कि महावीर निर्वाण के ६०९ वर्ष के पश्चात् शिवभूति ने रथवीरपुर नगर में बोटिक-दिगम्बरमत की स्थापना की।” (जै. आ. सा. म. मी. / पृ. ५६३)।

६.५. श्वेताम्बरसाहित्य में बोटिकों की 'यापनीय' संज्ञा नहीं

यह बात भी ध्यान देने योग्य है कि बोटिकों को दिगम्बर तो सभी श्वेताम्बराचार्यों ने कहा है, किन्तु यापनीय किसी ने भी नहीं कहा। यहाँ तक कि 'षड्दर्शनसमुच्चय' के टीकाकार ने यापनीयों का एक अन्य नाम 'गोप्य' तो बतलाया है—“गोप्या यापनीया इत्यप्युच्यन्ते” (पृ.१६१), किन्तु 'बोटिक' नाम नहीं बतलाया। इससे भी बोटिकों की यापनीयों से भिन्नता और दिगम्बरों से अभिन्नता सिद्ध होती है।

माननीय डॉ० सागरमल जी स्वयं अपने वचनान्तर से यह सिद्ध करते हैं कि बोटिक और यापनीय एक नहीं थे। उन्होंने बोटिकों की उत्पत्ति बोटिककथा के अनुसार वीरनिर्वाण के ६०९ वर्ष बाद अर्थात् ईसा की द्वितीय शताब्दी में मानी है, जैसा कि उन्होंने निम्नलिखित वाक्यों में लिखा है—“आवश्यकमूलभाष्य में जो वीरनिर्वाण के ६०९ वर्ष बाद अर्थात् ईसा की द्वितीय शती में इस (बोटिक) सम्प्रदाय की उत्पत्ति का उल्लेख है, वह किसी सीमा तक सत्य प्रतीत होता है।” (जै. ध. या. स./पृ.१७)। किन्तु उन्होंने यापनीयसम्प्रदाय का उद्भव पाँचवी शताब्दी ई० में बतलाया है। पं० नाथूराम जी प्रेमी ने तत्त्वार्थ-भाष्य को यापनीयकृति माना है। इसका खण्डन करते हुए डॉक्टर सा० लिखते हैं—

“भाष्य तो यापनीयपरम्परा के पूर्व का है। भाष्य तीसरी-चौथी शती का है और यापनीयसम्प्रदाय चौथी-पाँचवी शती के पश्चात् ही कभी अस्तित्व में आया है।” (जै. ध. या. स./पृ. ३५७)।

उमास्वाति के सम्प्रदायभेद का निर्धारण करते समय भी डाक्टर सा० लिखते हैं—“वे यापनीय भी नहीं हैं, क्योंकि यापनीयसम्प्रदाय का सर्वप्रथम अभिलेखीय प्रमाण भी विक्रम की छठी शताब्दी के पूर्वार्ध और ईसा की पाँचवीं शती के उत्तरार्ध (ई० सन् ४७५) का मिलता है।” (जै. ध. या. स./पृ. ३७३)।

अन्यत्र भी उन्होंने कहा है—“तत्त्वार्थसूत्र के रचनाकाल तक यापनीय उत्पन्न ही नहीं हुए थे, अतः उसे (तत्त्वार्थसूत्र को) यापनीय (ग्रन्थ) भी नहीं कहा जा सकता।” (जै. ध. या. स./पृ. ३५०)।

इस प्रकार डॉ० सा० के वचनों के अनुसार जब बोटिकसम्प्रदाय का उत्पत्तिकाल ईसवी द्वितीय शताब्दी है और यापनीयसम्प्रदाय का उदयकाल पाँचवी शती ईसवी है, तब स्पष्ट है कि डॉक्टर सा० भी दोनों सम्प्रदायों को एक नहीं मानते। निष्कर्ष यह कि किसी भी श्वेताम्बर आचार्य या विद्वान् ने बोटिकों को यापनीय नहीं कहा, जब कि उन्हें, 'दिगम्बर' अनेक श्वेताम्बराचार्यों ने कहा है। अतः श्वेताम्बरग्रन्थों में 'बोटिक' शब्द स्त्रीमुक्ति का निषेध करनेवाले दिगम्बरों के लिए ही प्रयुक्त हुआ है।

कुन्दकुन्द के प्रथमतः यापनीयमतावलम्बी होने का मत असत्य

उपर्युक्त प्रमाणों से यह भलीभाँति सिद्ध हो जाता है कि बोटिक शिवभूति यापनीयमत का प्रवर्तक नहीं था, इसलिए मुनि कल्याणविजय जी की यह कथा स्वतः असत्य सिद्ध हो जाती है कि कुन्दकुन्द प्रारम्भ में बोटिक शिवभूति द्वारा प्रवर्तित यापनीयसम्प्रदाय में दीक्षित हुए थे और कुछ समय पश्चात् उससे अलग होकर उन्होंने दिगम्बरमत की स्थापना की थी। (श्र.भ.म./पृ.३२७-३२८। देखिए, इसी प्रकरण का शीर्षक ३)।

मुनि जी ने कुन्दकुन्द को यापनीयमत में दीक्षित सिद्ध करने के लिए आवश्यकमूल-भाष्य की पूर्वोद्धृत १४८ वीं गाथा में आये 'कोडिन्नकोट्टवीरा' पद को तोड़ने-मरोड़ने की कोशिश की है, और आवश्यकमूलभाष्यकार के भाषाज्ञान में सन्देह व्यक्त किया है। वे लिखते हैं—

“भाष्य का पाठ 'कोडिन्नकोट्टवीरा' है, जिसका चूर्णिकार ने 'कोडिन्न' और 'कोट्टवीर' इस प्रकार पदच्छेद किया है और इन्हें शिवभूति का शिष्य लिखा है, परन्तु हमारे विचार में 'कोडिन्नकोट्ट' यह 'कोण्डकोण्ड' का अपभ्रंश है और 'वीर' यह वीरनन्दी, वीरसेन या इससे मिलते-जुलते नामवाले आचार्य का नाम है। भाष्य में इन्हें शिवभूति का शिष्य नहीं लिखा है, किन्तु 'परम्परास्पर्शक' (भाष्य के शब्द-परंपरा-फासमुपपण्णा) लिखा है। इससे स्पष्ट है कि ये शिवभूति के दीक्षाशिष्य नहीं, परम्पराशिष्य थे। अधिक प्रसिद्ध होने के कारण या दिगम्बरशाखा में महत्त्वपूर्ण कार्यकर होने के कारण भाष्यकार ने शिवभूति के अनन्तर इनका नामोल्लेख किया है।” (श्र.भ.म./पा.टि./पृ.२९४-२९५)।

किन्तु जैसा पदच्छेद चूर्णिकार ने किया है, वैसा ही हरिभद्रसूरि तथा हेमचन्द्रसूरि ने भी किया है। देखिए—

१. “बोटिकशिवभूतेः सकाशात् बोटिकलिङ्गस्य भवत्युत्पत्तिः। ---- ततः कौडिन्यः कुट्टवीरश्च, 'सर्वो द्वन्द्वो विभाषया एकवद्भवती' ति कौण्डिन्यकोट्टवीरं तस्मात् परम्परास्पर्शमाचार्यशिष्यसम्बन्धलक्षणमधिकृत्योत्पन्ना सञ्जाता, बोटिकदृष्टिर्ध्याहरणी-येति गाथार्थः।” (हारि.वृत्ति/आव.निर्घु./मूलभाष्य गा.१४८)।

२. “ततः शिवभूतिना कौण्डिन्य-कोट्टवीरनामानौ द्वौ शिष्यौ दीक्षितौ। ---- तस्मात् कौण्डिन्य-कोट्टवीरात् परम्परास्पर्शमाचार्य-शिष्यसम्बन्ध-लक्षणमधिकृत्योत्पन्ना सञ्जाता 'बोटिकदृष्टिः' इत्यध्याहारः।” (हेम.वृत्ति/विशे.भा./गा.२५५०-५१)।

मुनि कल्याणविजय जी ने इन चारों सूरियों के भाषाज्ञान और व्याकरणज्ञान पर प्रश्नचिन्ह लगाकर अपने ही ज्ञान को सही ठहराया है। यहाँ निम्नलिखित प्रश्न उठते हैं—

१. इसका क्या प्रमाण है कि 'कोडिन्न और कोट्टवीर' यह पदच्छेद सही नहीं है, अपितु 'कोडिन्नकोट्ट' और 'वीर' यह सही है?

२. इसका भी क्या प्रमाण है कि 'कोडिन्नकोट्ट' 'कोण्डकोण्ड' का अपभ्रंश (बिगड़ा हुआ रूप) है?

३. आवश्यकमूलभाष्यकार ने प्राकृत और संस्कृत के ज्ञाता होते हुए भी उक्त बिगड़े हुए रूप का प्रयोग क्यों किया?

इन प्रश्नों का समाधान करनेवाले प्रमाण प्रस्तुत किये बिना ही मुनि जी ने यह घोषित कर दिया कि उक्त पदच्छेद सही नहीं है और 'कोडिन्नकोट्ट' 'कोण्डकोण्ड' का बिगड़ा हुआ रूप है।

किन्तु, मुनि जी से उक्त प्रमाणों की अपेक्षा नहीं की जानी चाहिए, क्योंकि उन्होंने यह दावा नहीं किया है कि उनकी घोषणा प्रमाणसिद्ध तथ्य है। उन्होंने तो यह कहा है कि 'हमारे विचार में यह ऐसा है।' और सर्वज्ञ के अतिरिक्त किसी भी छद्मस्थ का विचार प्रमाणसिद्ध हुए बिना सत्य नहीं हो सकता, अतः मुनि जी की घोषणा सत्य नहीं है। यतः यह सिद्ध करनेवाला कोई प्रमाण उपलब्ध नहीं है कि चूर्णिकार आदि द्वारा किया गया पदच्छेद दोषपूर्ण है और 'कोडिन्नकोट्ट' 'कोण्डकोण्ड' का अपभ्रंश है, अतः सिद्ध है कि न तो उक्त पदच्छेद दोषपूर्ण है, न ही उक्त शब्द अपभ्रंश है।

इस छलवाद के द्वारा मुनिजी ने यह साबित करने की कोशिश की है कि कोण्डकोण्ड (कुन्दकुन्द) शिवभूति के शिष्य थे, अर्थात् आरम्भ में यापनीयपरम्परा में दीक्षित हुए थे। इसी प्रकार परम्परास्पर्शम् (परंपराफासं) पद उत्पन्ना (उप्यण्णा) क्रिया का विशेषण है, जिसका अर्थ है शिवभूति के शिष्य 'कोडिन्न' और 'कोट्टवीर' से जो गुरुशिष्य-परम्परा चली, उससे बोटिकमत विकसित हुआ। किन्तु मुनि जी ने उसकी जगह परम्परास्पर्शकम् शब्द का प्रयोग कर उसे 'कोडिन्नकोट्ट' और 'वीर' अर्थात् कोण्डकोण्ड (कुन्दकुन्द) और वीर का विशेषण बना दिया है, जिससे यह अभिप्राय द्योतित होता है कि कुन्दकुन्द शिवभूति के साक्षात् शिष्य नहीं थे, अपितु परम्परा का स्पर्श करते हुए शिष्य बने थे अर्थात् परम्पराशिष्य थे। इस छलवाद का प्रयोग कर मुनि श्री कल्याणविजय जी ने यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि

कुन्दकुन्द शिवभूति के समकालीन (ईसवी प्रथम शती के) नहीं थे, बल्कि विक्रम की छठी शताब्दी में हुए थे।

किन्तु पदच्छेद कैसा भी कर लिया जाय, जब शिवभूति यापनीयमत का प्रवर्तक था ही नहीं, तब लाख कोशिश करने पर भी यह सिद्ध नहीं हो सकता कि कुन्दकुन्द कभी यापनीय-परम्परा में दीक्षित हुए थे।

८

कुन्दकुन्द बोटिक शिवभूति से पूर्ववर्ती

बोटिक शिवभूति के दिगम्बरमत स्वीकार कर लेने पर भी कुन्दकुन्द का उसकी परम्परा में दीक्षित होना संभव नहीं है, क्योंकि वे उससे पूर्ववर्ती थे। कुन्दकुन्द ईसापूर्व प्रथम शताब्दी के उत्तरार्ध और ईसोत्तर प्रथम शती के पूर्वार्ध में हुए थे, जब कि युवा बोटिक शिवभूति ने ईसोत्तर प्रथम शताब्दी के अन्तिम चरण (ई० सन् ८२, वीर० नि० सं० ६०९) में दिगम्बरमत स्वीकार किया था। कुन्दकुन्द के ईसापूर्वोत्तर प्रथम शताब्दी में होने का सप्रमाण प्रतिपादन 'आचार्य कुन्दकुन्द का समय' नामक दशम अध्याय में द्रष्टव्य है।

९

कुन्दकुन्द श्रुतकेवली भद्रबाहु के परम्परा-शिष्य

दिगम्बरसाहित्य में जो प्रमाण मिलते हैं, वे मुनि जी की इस मान्यता को सर्वथा झुठलाते हैं कि कुन्दकुन्द यापनीयगुरु के शिष्य थे। आचार्य कुन्दकुन्द ने स्वयं अपने को श्रुतकेवली भद्रबाहु का परम्पराशिष्य बतलाया है।^{४२} वे बोधपाहुड में कहते हैं—

सद्दिव्यारो हूओ भासासुत्तेसु जं जिणे कहियं।

सो तह कहियं णायं सीसेण य भद्रबाहुस्स॥ ६१॥

बारसअंगवियाणं चउदसपुव्वंगविउलवित्थरणं।

सुयणाणिभद्रबाहु गमयगुरूभयवओ जयऊ॥ ६२॥

अनुवाद—“जिनेन्द्र भगवान् ने अर्थरूप से जो कथन किया है, वह भाषासूत्रों में शब्दविकार को प्राप्त हुआ है (अनेक प्रकार के शब्दों में गूँथा गया है)। भद्रबाहु

४२. "I am tempted to take the word śiṣya as, a Parāṃparā-śiṣya and this is not without a parallel else where. With Jaina authors guru and śiṣya do not necessarily mean direct, and contemporary teachers and pupils, but might even mean parāṃparā guru and śiṣya, sometimes the influence of some previous teacher is so overwhelming that later pupils like to mention him as their guru." Prof. A.N. Upadhye : Pravacanasāra—Introduction, p.16.

के शिष्य ने (मैंने) उन भाषासूत्रों पर से उसको उसी रूप में जाना है और (जानकर इस ग्रन्थ में) कथन किया है। जो द्वादशांग के ज्ञाता थे, जिन्होंने चौदहपूर्वों का अत्यन्त विस्तार किया था तथा जो गमकों (व्याख्याकारों) के गुरु थे, उन श्रुतज्ञानी (श्रुतकेवली) भद्रबाहु की जय हो।”

कुन्दकुन्द ने समयसार में भी कहा है कि मैं श्रुतकेवली द्वारा उपदिष्ट समयप्राभृत का कथन करूँगा—“वोच्छामि समयपाहुडमिणमो सुयकेवलीभणियं।” (गा.१)।

श्रवणबेलगोल के शक सं० १०८५ (ई० सन् ११६३) के शिलालेख में भी कुन्दकुन्द को श्रुतकेवली भद्रबाहु के शिष्य चन्द्रगुप्त के अन्वय में उत्पन्न बतलाया गया है। यथा—

श्रीभद्रस्सर्वतो यो हि भद्रबाहुरितिश्रुतः।

श्रुतकेवलिनाथेषु चरमः परमो मुनिः॥ ४॥

श्रीचन्द्रप्रकाशोज्ज्वलचन्द्रकीर्तिः श्रीचन्द्रगुप्तोऽजनि तस्य शिष्यः।

यस्य प्रभावाद्गणदेवताभिराराधितः स्वस्य गणो मुनीनाम्॥ ५॥

तस्यान्वये भूविदिते बभूव यः पद्मनन्दिप्रथमाभिधानः।

श्रीकोण्डकुन्दादिमुनीश्वराख्यस्सत्संघमादुदगतचारणर्द्धिः॥ ६॥

अभूदुमास्वाति मुनीश्वरोऽसावाचार्यशब्दोत्तरगुद्धपिच्छः।

तदन्वये तत्सदृशोऽस्ति नान्यस्तात्कालिकाशेषपदार्थवेदी॥ ७॥^{४३}

अन्वय का अर्थ है गुरु-शिष्य-क्रम। कुन्दकुन्द श्रुतकेवली भद्रबाहु के शिष्य चन्द्रगुप्त के अन्वय में हुए थे, इससे स्पष्ट है कि उन्हीं (भद्रबाहु) की शिष्यपरम्परा के कोई आचार्य कुन्दकुन्द के गुरु थे।

आचार्य कुन्दकुन्द ने अपने ग्रन्थों में निरपवाद अचेलमार्ग का ही निरूपण किया है, जिससे प्रमाणित होता है कि उनके परम्परागुरु भद्रबाहु निरपवाद-अचेलमार्गी थे। इसलिए उनकी शिष्यपरम्परा का भी निरपवाद-अचेलमार्गी होना अनिवार्य है। अतः भद्रबाहु के अन्वय में हुए कुन्दकुन्द के साक्षात् गुरु भी निरपवाद अचेलमार्गी थे, यह निर्विवाद है।

यदि कुन्दकुन्द यापनीयसम्प्रदाय के प्रवर्तक शिवभूति के साक्षात् या परम्पराशिष्य होते, तो वे उन्हें ही अपना गुरु बतलाते। किन्तु उन्होंने श्रुतकेवली भद्रबाहु को गुरु बतलाया है। अपनी गुरुपरम्परा के विषय में शिष्य के वचनों से अधिक प्रामाणिक

और किस के वचन हो सकते हैं? किन्तु मुनि कल्याणविजय जी ने स्वयं कुन्दकुन्द के वचनों को अमान्य कर शिवभूति को उनका परम्परया गुरु बतलाया है, जिसे सत्य सिद्ध करनेवाला कोई भी साहित्यिक या शिलालेखीय प्रमाण उपलब्ध नहीं है। इससे सिद्ध है कि मुनि जी द्वारा शिवभूति को यापनीय-सम्प्रदाय का संस्थापक बतलाया जाना और फिर कुन्दकुन्द को उसकी परम्परा का शिष्य कहा जाना, उनके द्वारा सोच-समझकर गढ़ी गयी कहानी है।

१०

कुन्दकुन्द के दिगम्बरमत-प्रवर्तक होने का मत कपोलकल्पित दिगम्बरमत कुन्दकुन्द से पूर्ववर्ती

यतः कुन्दकुन्द के यापनीयसंघ में दीक्षित होने की उद्भावना असत्य सिद्ध हो जाती है, अतः मुनि कल्याणविजय जी का यह निष्कर्ष भी मनगढ़न्त सिद्ध हो जाता है कि 'यापनीय कुन्दकुन्द ने यापनीयसंघ की मान्यताओं से असन्तुष्ट होकर विक्रम की छठी शती में दिगम्बर जैनमत का प्रवर्तन किया था।' (श्र.भ.म./ पृ. ३२७-३२८/ देखिए, इसी प्रकरण का शीर्षक ३) ऐसे अनेक प्रमाण उपलब्ध हैं, जिनसे सिद्ध होता है कि दिगम्बरजैनमत कुन्दकुन्द से पूर्ववर्ती है। वे इस प्रकार हैं—

१०.१. पाँचवीं शती ई० के पूर्व निर्ग्रन्थमहाश्रमणसंघ का अस्तित्व

मुनि जी ने डॉक्टर के० बी० पाठक के अनुसार कुन्दकुन्द को कदम्बवंशी राजा श्रीविजयशिवमृगेशवर्मा का समकालीन (४७०-४९० ई०) माना है तथा उन्हें दिगम्बर-मत का प्रवर्तक भी बतलाया है। किन्तु इन्हीं श्रीविजयशिवमृगेशवर्मा के देवगिरि-ताम्र-पत्रलेख में श्वेतपटमहाश्रमणसंघ और निर्ग्रन्थमहाश्रमणसंघ को तथा पाँचवीं शती ई० के ही मृगेशवर्मा के हल्सी-अभिलेख में यापनीयों, निर्ग्रन्थों और कूर्चकों को दान दिये जाने का उल्लेख है,^{४४} जिससे स्पष्ट होता है कि 'निर्ग्रन्थ' शब्द श्वेताम्बरों और यापनीयों से भिन्न दिगम्बरों का वाचक है, अतः दिगम्बरसम्प्रदाय (निर्ग्रन्थमहाश्रमणसंघ) श्रीविजयशिवमृगेशवर्मा के बहुत पहले से विद्यमान था। इसका अनुमान इस बात से लगाया जा सकता है कि यदि हम दिगम्बरपरम्परा को बहुत ही अर्वाचीन मानें, तो श्रीविजयशिवमृगेशवर्मा के समय तक निर्ग्रन्थसंघ को महाश्रमणसंघ का रूप धारण करने तथा लोकप्रसिद्ध एवं राजमान्य होने के लिए कम से कम पचास वर्ष का समय तो आवश्यक मानना ही होगा। किन्तु निर्ग्रन्थसंघ का उल्लेख तो २४२ ई० पू० के सम्राट्

४४. देखिए, अभिलेखों का मूलपाठ इसी अध्याय के षष्ठ प्रकरण में।

अशोक के स्तम्भलेख में भी मिलता है।^{४५} यह ऐतिहासिक प्रमाण मुनि जी के इस कथन को असंगत बना देता है कि दिगम्बरमत का प्रवर्तन कुन्दकुन्द ने किया था। और इस असंगति से वह सारी कथा कपोलकल्पित सिद्ध हो जाती है, जो उन्होंने कुन्दकुन्द के द्वारा दिगम्बरमत के प्रवर्तन को युक्तिसंगत बनाने के लिए गढ़ी है।

उक्त असंगति का समर्थन अन्य प्रमाणों से भी होता है। ४७९ ई० के पहाड़पुर ताम्रपत्र में लिखा है कि वटगोहाली के विहार (मठ) में काशीदेशीय पञ्चस्तूपनिकाय के निर्ग्रन्थश्रमणों के आचार्य गुहनन्दी के शिष्य-प्रशिष्य वास करते थे।^{४६} इससे अनुमान लगाया जा सकता है कि जब ई० सन् ४७९, में निर्ग्रन्थ श्रमणाचार्य गुहनन्दी के शिष्य-प्रशिष्य विद्यमान थे, तब स्वयं गुहनन्दी और उनके गुरु-प्रगुरु उसके कितने वर्ष पूर्व विद्यमान रहे होंगे। कम से कम ७०-८० वर्ष पूर्व तो मानना ही होगा। इससे भी सिद्ध होता है कि दिगम्बरपरम्परा श्रीविजयशिवमृगेशवर्मा के बहुत पहले से चली आ रही थी। अतः इस प्रमाण से भी मुनि कल्याणविजय जी का यह कथन असंगत सिद्ध होता है कि दिगम्बरमत की स्थापना कुन्दकुन्द ने की थी।

एक प्रमाण यह भी है कि दिगम्बराचार्य पूज्यपाद स्वामी ने ४५० ई० में तत्त्वार्थसूत्र पर 'सर्वार्थसिद्धि' नामक टीका लिखी थी, जिसमें उन्होंने सवस्त्रमुक्ति, स्त्रीमुक्ति तथा केवलि-कवलाहार आदि श्वेताम्बरीय एवं यापनीय-मान्यताओं को विपरीत मिथ्यादर्शन का उदाहरण बतलाया है। यथा—

“अथवा पञ्चविधं मिथ्यादर्शनम्—एकान्तमिथ्यादर्शनं विपरीतमिथ्यादर्शनं संशयमिथ्यादर्शनं वैनयिकमिथ्यादर्शनम्, अज्ञानिकमिथ्यादर्शनं चेति। --- सग्रन्थो निर्ग्रन्थः, केवली कवलाहारी, स्त्री सिध्यतीत्येवमादिः विपर्ययः।” (स.सि./८/१)।

पूज्यपाद ने लिङ्गसिद्ध जीवों की व्याख्या करते हुए भी लिखा है कि अवेद अथवा तीनों भाववेदों से सिद्धि होती है, किन्तु द्रव्यवेद से नहीं होती। द्रव्य की अपेक्षा जीव पुंल्लिङ्ग से ही सिद्ध होता है—“लिङ्गेन केन सिद्धिः? अवेदत्वेन त्रिभ्यो वा वेदेभ्यः सिद्धिर्भावतो न द्रव्यतः। द्रव्यतः पुंल्लिङ्गेनैव।” (स.सि./१०/९)।

तथा पूज्यपाद स्वामी ने जैनेन्द्रव्याकरण के सूत्रों में भूतबलि, समन्तभद्र, श्रीदत्त, यशोभद्र और प्रभाचन्द्र नामक पूर्वाचार्यों का निर्देश किया है। (ती.म.आ.प./खं.२/

४५. “---सव पासंडेसु --- बाभनेसु आजीविकेसु --- निगंठेसु पि मे कटे इमे वियापटा होहंति।” देहली-टोपरा-स्तम्भ-लेख/जैनशिलालेखसंग्रह/माणिकचन्द्र/भा.२/लेख क्र.१।

४६. “वटगोहाल्यामवास्यान् काशिक-पञ्चस्तूपनिकायिक-निर्ग्रन्थश्रमणाचार्य-गुहनन्दि-शिष्यप्रशिष्याधिष्ठितविहारे ---।” पहाड़पुर-ताम्रपत्र/जिला-राजशाही, बंगाल/लेख क्र.१९ जैनशिलालेखसंग्रह/भारतीय ज्ञानपीठ/भाग ४।

पृ.२२३)। तथा नन्दिसंघ की पट्टावलियों में पूज्यपाद की गुरुपरम्परा का भी उल्लेख है।

इन तथ्यों से भी स्पष्ट है कि दिगम्बरपरम्परा कदम्बवंशी राजा श्रीविजयशिवमृगेशवर्मा (४७० ई०) के बहुत पहले से अस्तित्व में थी। अतः मुनि कल्याणविजय जी का कुन्दकुन्द को श्रीविजयशिवमृगेशवर्मा का समकालीन मानना और दिगम्बरमत का प्रवर्तक भी कहना, इन दोनों बातों में घोर असंगति है। इससे सिद्ध है कि मुनि जी की कुन्दकुन्द के दिगम्बरमत-प्रवर्तक होने की मान्यता कपोलकल्पित है।

१०.२. कुन्दकुन्द-प्ररूपित मार्ग जिनप्रणीत : आचार्य हस्तीमल जी

आचार्य हस्तीमल जी ने अपने 'जैनधर्म का मौलिक इतिहास' नामक ग्रन्थ में लिखा है—“आचार्य कुन्दकुन्द ने अपने दादागुरु द्वारा संस्थापित भट्टारकपरम्परा की नव्य-नूतन मान्यताओं के विरुद्ध विद्रोह किया। वे माघनन्दी के शिष्य जिनचन्द्र के पास भट्टारकपरम्परा में ही दीक्षित हुए थे। मेधावी मुनि कुन्दकुन्द ने अध्ययन पूर्ण करने के पश्चात् दिगम्बर-परम्परा द्वारा सम्मत आगमों के निदिध्यासन-चिन्तन मनन से जब जिनेन्द्रप्रभु द्वारा प्ररूपित जैनधर्म के वास्तविक स्वरूप और तीर्थकरों द्वारा आचरित श्रमणधर्म को पहिचाना, तो उन्हें अपने प्रगुरु माघनन्दी द्वारा संस्थापित धर्म और श्रमणाचार-विषयक मान्यताएँ, धर्म और श्रमणाचार के मूलस्वरूप के अनुरूप प्रतीत नहीं हुईं। उन्होंने सम्भवतः अपने प्रगुरु, गुरु और भट्टारकसंघ द्वारा सम्मत उन कतिपय अभिनव मान्यताओं के समूलोन्मूलन और पुरातन मान्यताओं की पुनः संस्थापना का संकल्प किया।” (जै.ध.मौ.इ./भा.३/पृ.१४०)।

इन वचनों से श्वेताम्बराचार्य हस्तीमल जी ने स्वीकार किया है कि दिगम्बरपरम्परा के आगमों में जिनेन्द्र प्रभु द्वारा प्ररूपित धर्म के वास्तविक स्वरूप एवं तीर्थकरों द्वारा आचरित श्रमणधर्म का प्ररूपण है और कुन्दकुन्द ने अपने ग्रन्थों में इसी का निरूपण किया है। इसका अभिप्राय यह है कि आचार्य हस्तीमल जी यह मानते हैं कि सवस्त्रमुक्ति और स्त्रीमुक्ति का निषेध जिनेन्द्र प्रभु द्वारा उपदिष्ट है, क्योंकि कुन्दकुन्द ने अपने ग्रन्थों में इनका निषेध किया है।

आचार्य हस्तीमल जी ने उपर्युक्त वचनों से मुनि कल्याणविजय जी तथा उनके अनुगामियों की इस मान्यता को अमान्य कर दिया है कि दिगम्बरपरम्परा का प्रवर्तन आचार्य कुन्दकुन्द ने विक्रम की छठी शताब्दी में किया था। उसे उन्होंने तीर्थकरों द्वारा ही प्रवर्तित माना है।

किन्तु आचार्य जी ने कुन्दकुन्द को आरंभ में जो भट्टारकपरम्परा में दीक्षित माना है, वह अप्रामाणिक है। उसकी अप्रामाणिकता का प्रकाशन 'कुन्दकुन्द के प्रथमतः भट्टारक होने की कथा मनगढ़ंत' नामक अष्टम अध्याय में किया जायेगा।

ऐतिहासिक दृष्टि से दिगम्बरजैन-परम्परा सिन्धुसभ्यता, ऋग्वेद के रचना काल तथा बौद्धमत से भी प्राचीन है। इसके प्रमाण उत्तर अध्यायों में प्रस्तुत किये जायेंगे।

१०.३. आगमोक्त सरलमार्ग का निषेध अमनोवैज्ञानिक

मुनि कल्याणविजय जी ने अपने पूर्वोद्धृत वक्तव्य में कहा है कि “छठी सदी के विद्वान् आचार्य कुन्दकुन्द, देवनन्दी वगैरह ने प्राचीन परम्परा से मजबूत मोरचा लिया। पहले जो सूत्र, निर्युक्ति आदि प्राचीन आगमों को इनके पूर्वाचार्य मानते आये थे, इन्होंने उनका मानना भी अस्वीकार कर दिया और अपने लिए आचार, विचार और दर्शनविषयक स्वतंत्र साहित्य की रचना की, जिसमें वस्त्र-पात्र रखने का एकान्तरूप से निषेध किया। यद्यपि इस ऐकान्तिक निषेध के कारण उन्हें स्त्रीमुक्ति और केवलिभुक्ति का भी निषेध करना पड़ा, क्योंकि स्त्रियों को सर्वथा अचेलक मानना अनुचित था और वस्त्रसहित रहते हुए उनकी मुक्ति मान लेने पर अपने वस्त्रधारी प्रतिस्पर्द्धियों की मुक्ति का निषेध करना असम्भव था। इसी तरह केवली का कवलाहार मानने पर उसके लाने के लिए पात्र भी मानना पड़ता और इस दशा में पात्रधारी स्थविरों का खण्डन नहीं करने पाते।” (श्र. भ. म. / पृ. ३०२-३०५)।

मुनि जी का यह कथन मनोवैज्ञानिक और तर्कसंगत नहीं है। एक सीधा-सरल प्रश्न उठता है कि जब यापनीयसम्प्रदाय में सवस्त्रपात्रलिंग से भी मुक्ति मानी गयी थी और वह मुक्ति का सरल मार्ग था, तब मुनि जी के अनुसार कुन्दकुन्द ने उसका निषेध क्यों किया, जिसका निषेध करने से स्त्रीमुक्ति और केवलिभुक्ति का भी निषेध आवश्यक हो गया, जब कि उक्त सिद्धान्त यापनीयमत के अनुसार आगमसम्मत थे? क्या कुन्दकुन्द को (जो मुनिजी के अनुसार उस समय स्वयं यापनीय थे) उनके आगमसम्मत होने पर विश्वास नहीं था? या वे हीनशक्ति पुरुषों और स्त्रियों को मुक्त नहीं होने देना चाहते थे? अथवा वे कोई उन्मत्त पुरुष थे, जो अकारण आगमसम्मत सिद्धान्तों के विरोध में खड़े हो गये थे? समयसार, प्रवचनसार, पंचास्तिकाय जैसे अद्वितीय ग्रन्थों के कर्ता के विषय में तो कोई यह कल्पना भी नहीं कर सकता कि वे उन्मत्त थे अथवा हीनशक्ति पुरुषों और स्त्रियों को मुक्त नहीं होने देना चाहते थे। तब एक ही कारण शेष रहता है कि उन्हें उक्त सिद्धान्तों के आगमसम्मत होने में विश्वास नहीं था। इसीलिए उन्होंने उनके विरोध में आवाज उठाई थी। और इससे फलित होता है कि कुन्दकुन्द के सामने ऐसे आगम थे, जिनमें सवस्त्रमुक्ति, स्त्रीमुक्ति, केवलिभुक्ति आदि मान्यताओं का निषेध किया गया था और वे उन्हीं में विश्वास करते थे। किन्तु जैसा कि पूर्व में सिद्ध हो चुका है, कुन्दकुन्द ने कभी भी यापनीयसम्प्रदाय में प्रवेश नहीं किया था और उनके समय में यापनीयमत की उत्पत्ति भी नहीं हुई थी, इसलिए

उन्होंने यापनीय मान्यताओं के नहीं, अपितु श्वेताम्बरीय मान्यताओं के आगमसम्मत होने का निषेध किया था। इस तरह यह सिद्ध होता है कि सवस्त्रमुक्ति, स्त्रीमुक्ति आदि को अमान्य करनेवाली दिगम्बरपरम्परा कुन्दकुन्द के पहले से चली आ रही थी।

इसके अतिरिक्त मानव-मनोविज्ञान यह है कि जब सरल और कठिन, दोनों मार्गों से इष्टफल की प्राप्ति हो सकती हो, तब मनुष्य सरल मार्ग ही अपनाता है और लोक भी सरलमार्ग का उपदेश देनेवाले की ओर ही आकृष्ट होता है। कहा भी गया है—

अर्के चेन्मधु विन्देत किमर्थं पर्वतं व्रजेत्।
इष्टस्थार्थस्य संसिद्धौ को विद्वान् यत्नमाचरेत्॥^{४७}

अनुवाद—“यदि मार्गस्थ आक के पेड़ में ही मधु मिल जाय, तो कोई पर्वत पर क्यों जायेगा? जब इष्ट वस्तु की प्राप्ति बिना प्रयत्न के संभव हो, तब ऐसा कौन समझदार आदमी होगा, जो उसे पाने के लिए व्यर्थ में कष्ट उठाना चाहेगा?”

कुन्दकुन्द ने परीषह-पीड़ा से बचानेवाले सवस्त्रलिंग और स्त्रीशरीर से मोक्ष की प्राप्ति असंभव बतलायी थी तथा शीतोष्णदंशमशकादि परीषहों का दुःख उत्पन्न करनेवाले एकमात्र अचेललिंग को ही मोक्ष का साधन प्ररूपित किया था। अतः उनके सिद्धान्त कठिन थे। यदि वे नये होते अर्थात् जिनेन्द्रदेव द्वारा उपदिष्ट न होते, तो कोई भी उन्हें स्वीकार करने के लिए तैयार नहीं होता। क्योंकि जब जिनेन्द्रदेव ने मोक्ष का सरलमार्ग बतलाया हो, तब एक सामान्य पुरुष के द्वारा बतलाये गये कठिन मार्ग को अपनाने के लिए कौन तैयार होगा? धर्म के क्षेत्र में तो प्रायः यह होता आया है कि सुखशील प्रवृत्ति के लोगों ने आगमोक्त कठिन चर्या की उपेक्षा कर आगम-विरुद्ध शिथिलाचार अपना लिया और नवीन शास्त्र लिखकर शिथिलाचार को जिनाज्ञा के नाम से प्रचारित कर दिया। भगवान् महावीर द्वारा उपदिष्ट ऐकान्तिक अचेलमार्ग का परित्याग कर सर्वथा सचेलमार्ग या सचेलाचेल मार्ग का प्रवर्तन इसी प्रवृत्ति के कारण हुआ था। तब कुन्दकुन्द द्वारा प्ररूपित कठिन मार्ग यदि नवीन होता, जिनेन्द्रप्रणीत अर्थात् आगमोक्त न होता, तो उसे उन्मत्तप्रलाप कहकर लोग दूर से ही नमस्कार कर लेते। इसी प्रकार स्त्रीमुक्ति का निषेध यदि स्वयं कुन्दकुन्द ने किया होता, जिनेन्द्रदेव के द्वारा न किया गया होता, तो क्या कोई स्त्री कुन्दकुन्द के सिद्धान्तों में विश्वास कर अपने को मुक्ति से वंचित करने के लिए तैयार होती? कदापि नहीं। किन्तु दो हजार से भी अधिक वर्षों से सम्पूर्ण दिगम्बरपरम्परा आचार्य कुन्दकुन्द के

४७. सांख्यकारिकागत कारिका १ की सांख्यतत्त्वकोमुदीटीका में उद्धृत।

द्वारा प्ररूपित सिद्धान्तों को गले का हार बनाये हुए है और उन्हें भगवान् महावीर और गौतम गणधर के बाद मंगल के रूप में स्मरण करती है। इससे सिद्ध है कि कुन्दकुन्द के द्वारा प्ररूपित मोक्षमार्ग भगवान् महावीर के उपदेश पर आश्रित था और दिगम्बरमतानुयायी इससे सुपरिचित थे। इसीलिए उन्होंने कुन्दकुन्द द्वारा प्ररूपित सिद्धान्तों को श्रद्धापूर्वक स्वीकार किया। कुन्दकुन्द ने कहा भी है कि “मैं अन्तिम श्रुतकेवली भद्रबाहु का परम्पराशिष्य हूँ”^{४८} और उनके उपदेश के आधार पर मैं समयसार की रचना कर रहा हूँ।^{४९} उनके ये शब्द इस बात को प्रमाणित करने के लिए पर्याप्त हैं कि दिगम्बरमत कुन्दकुन्द के पूर्व से चला आ रहा था। इसलिए मुनि कल्याणविजय जी ने जो उसे आचार्य कुन्दकुन्द द्वारा प्रवर्तित बतलाया है, वह सर्वथा असत्य है। अपने विषय में स्वयं आचार्य कुन्दकुन्द के द्वारा कहे गये इन वचनों को अमान्य करना मुनि कल्याणविजय जी और उनके अनुगामियों की अनधिकृत चेष्टा है।

१०.४. दक्षिण में दिगम्बरपरम्परा श्रुतकेवली भद्रबाहु से पूर्ववर्ती

मुनि कल्याणविजय जी ने कुन्दकुन्द के द्वारा सवस्त्रमुक्ति, स्त्रीमुक्ति तथा केवलभुक्ति न माननेवाले दिगम्बरमत की स्थापना किये जाने की कथा क्यों गढ़ी, यह विचारणीय है। बात यह है कि मुनि जी इस सत्य का अपलाप करना चाहते थे कि भारत में उपर्युक्त सिद्धान्तोंवाला दिगम्बरमत कुन्दकुन्द के पूर्व विद्यमान था। इसलिए उन्होंने यह कथा गढ़ी कि ‘जब उत्तरभारत का सचेलाचेलमार्गी यापनीयसंघ दक्षिण में पहुँचा, तब कुन्दकुन्द उसमें दीक्षित हुए और उसी में रहकर उन्होंने भगवान् महावीरप्रणीत जैनसिद्धान्तों का ज्ञान प्राप्त किया। किन्तु आगे चलकर उन्होंने उन सिद्धान्तों में से आपवादिक सवस्त्रमुक्ति, स्त्रीमुक्ति एवं केवलभुक्ति को अमान्यकर उनका निषेध करनेवाले ग्रन्थों की रचना की तथा यापनीयमत को छोड़कर दिगम्बरमत की नींव डाली।’ (यह कथा इसी प्रकरण के शीर्षक ३ में उद्धृत मुनि जी के उन वचनों से सूचित होती है, जो उन्होंने ‘श्रमण भगवान् महावीर’ के पृष्ठ ३२७-३२८ पर व्यक्त किये हैं)।

मुनि जी की यह कहानी साम्प्रदायिक पक्षपात से प्रेरित है। क्योंकि कुन्दकुन्द की अपने ग्रन्थों में की गयी ये घोषणाएँ कि “मैं अन्तिम श्रुतकेवली भद्रबाहु का परम्पराशिष्य हूँ और श्रुतकेवली के उपदेश के आधार पर ही अपने ग्रन्थों की रचना

४८. सद्वियारो हूओ भासासुत्तेसु जं जिणे कहियं।

सो तह कहियं णायं सीसेण य भद्रबाहुस्स॥ ६१॥

बारसअंगवियाणं चउदसपुव्वंगविउलवित्थरणं।

सुयणाणिभद्रबाहु गमयगुरू भयवओ जयऊ॥ ६२॥ बोधपाहुड।

४९. वोच्छामि समयपाहुडमिणमो सुयकेवली भणियं॥ १॥ समयसार।

कर रहा हूँ," इस तथ्य का अकाट्य प्रमाण है कि सवस्त्रमुक्ति, स्त्रीमुक्ति एवं केवलिभुक्ति को न माननेवाला दिगम्बरमत आचार्य कुन्दकुन्द के बहुत पहले से प्रचलित था।

जहाँ तक दक्षिणभारत का प्रश्न है, वहाँ उपर्युक्त दिगम्बरपरम्परा न केवल कुन्दकुन्द से पूर्व, अपितु अन्तिम श्रुतकेवली भद्रबाहु के द्वादशवर्षीय दुर्भिक्ष के समय ससंघ दक्षिण जाने के पहले से विद्यमान थी। इसकी युक्तिमत्ता पर प्रकाश डालते हुए आचार्य कुन्दकुन्दकृत ग्रन्थों के अँग्रेजी व्याख्याकार प्रो० ए० चक्रवर्ती नयनार लिखते हैं—

“When we take these historic discoveries with the Jaina traditions that a number of Tirthankaras preceded Lord Mahāvīra we may not be altogether wrong in supposing that adherents of Jaina faith in some form or other must have existed even anterior to Mahāvīra and that Mahāvīra himself was more a reformer than the founder of the faith. If there were Jains influential enough to build Stūpas in honour of their saints even anterior to 600 B.C., will it be too much to suppose that the followers of this religion might have existed in South India even before Bhadrabāhu's migration to the south? In fact it stands to reason to suppose that a large body of ascetics on account of a terrible famine in the north migrated to a country where they would be welcomed by their devoted coreligionists. If the south were instead of a friendly territory waiting to receive the Saṅgha of learned ascetics a land populated with strangers and of alien faith, Bhadrabāhu would not have ventured to take with him into strange land a large body of ascetics who would depend entirely upon the generosity of the people. The Jaina tradition that the Pāndya king of the South was a Jaina from very early times and that Bhadrabāhu expected his hospitality might have some historical background.” (Pañcāstikāyasāra, The Historical Introduction, pp.ii-iii)

भावार्थ—जब हम जैनपरम्परा के इन ऐतिहासिक अनुसन्धानों पर दृष्टि डालते हैं कि भगवान् महावीर के पूर्व अनेक तीर्थंकर हो चुके हैं, तब हमारा यह मानना तनिक भी गलत नहीं है कि जैनधर्म के अनुयायी महावीर के पूर्व भी विद्यमान थे और महावीर जैनधर्म के संस्थापक नहीं, अपितु उपदेशक थे। यदि ईसापूर्व ६०० से भी पहले अपने सन्तों के सम्मान में स्तूप बनाने वाले जैन हो सकते हैं, तो क्या यह मानना गलत होगा कि इस धर्म के अनुयायी दक्षिण भारत में श्रुतकेवली भद्रबाहु के प्रवास से भी पहले विद्यमान थे? इसके गलत न होने की पुष्टि इस तथ्य से होती है कि उत्तरभारत में भयंकर अकाल पड़ने पर आचार्य भद्रबाहु एक विशाल मुनिसंघ को लेकर इस विश्वास के साथ दक्षिण भारत चले गये थे, कि वहाँ के साधर्मि उनका स्वागत करेंगे। यदि भद्रबाहु को यह विश्वास न होता कि दक्षिण भारत में साधर्मि बन्धु हैं और वे उनका स्वागत करेंगे, तो इतने बड़े मुनिसंघ को लेकर

वे अपरिचितों और परधर्मियों के बीच कदापि न जाते। जैन परम्परा में जो यह अनुश्रुति है कि दक्षिण का पाण्ड्य राजा शुरू से ही जैन था और भद्रबाहु को उसके आतिथ्य की अपेक्षा थी, इसकी कोई ऐतिहासिक पृष्ठभूमि अवश्य होनी चाहिए।

सिद्धान्ताचार्य पं० कैलाशचन्द्र जी शास्त्री ने भी 'दक्षिणभारत में जैनधर्म' नामक ग्रन्थ में निम्नलिखित शब्दों में इस तथ्य की ओर ध्यान आकृष्ट किया है—

“उत्तर भारत जैनधर्म की जन्मभूमि है। भगवान् ऋषभदेव से लेकर भगवान् महावीर पर्यन्त चौबीस तीर्थंकरों का जन्म और निर्वाण उत्तर भारत में ही हुआ था, किन्तु उनका विहार दक्षिण भारत में भी हुआ था। इसलिए दक्षिण भारत में जैनधर्म के प्रवेश का कोई सुनिश्चित काल नहीं है। किन्तु भारतीय इतिहास के कतिपय अन्वेषक उपलब्ध ऐतिहासिक प्रमाणों के आधार पर अन्तिम श्रुतकेवली भद्रबाहु की दक्षिण-यात्रा के साथ दक्षिण में जैनधर्म का प्रवेश मानते हैं।

“दाक्षिणात्य अनुश्रुति के अनुसार, जिसका समर्थन साहित्यिक अभिलेखों और शिलालेखों से होता है, चन्द्रगुप्त मौर्य के समय में उत्तर भारत में बारह वर्ष का भयंकर दुर्भिक्ष पड़ने पर भद्रबाहु श्रुतकेवली ने बारह हजार मुनियों के संघ के साथ दक्षिण की ओर प्रस्थान किया। चन्द्रगुप्त मौर्य भी उनके साथ थे। श्रवणबेळगोळ पहुँचने पर भद्रबाहु को लगा कि उनका अन्त समय निकट है, अतः उन्होंने संघ को आगे चोल, पाण्ड्य आदि प्रदेशों की ओर जाने का आदेश दिया और स्वयं श्रवणबेळगोळ में ही एक पहाड़ी पर, जिसे कलवप्पु या कटवप्र कहते थे, रह गये। अपने शिष्य चन्द्रगुप्त के साथ उन्होंने अपना अन्तिम समय वहीं बिताया और समाधिपूर्वक शरीर को त्यागा।

“उक्त आशय का एक शिलालेख उसी पहाड़ी पर, जिसे आज चन्द्रगिरि कहते हैं, अंकित है और उसका समय ईसा की छठी-सातवीं शताब्दी सुनिश्चित है। श्री लूईस राईस ने तथा प्राक्तन-विमर्शविचक्षण महामहोपाध्याय आर० नरसिंहाचार्य ने उस पर गम्भीरतापूर्वक विचार करके प्रकाश डाला था।^{५०} लूईस राईस के इस मत का कि चन्द्रगुप्त जैन था और वह दक्षिण की ओर गया था, थॉमस जैसे प्रमुख विद्वानों ने दृढ़ता से समर्थन किया था। 'जैनिज्म आर द अर्ली फेथ ऑफ अशोक' नामक निबन्ध में उसने कहा है कि चन्द्रगुप्त मौर्य जैन था, इस विषय में विवाद की आवश्यकता नहीं है।^{५१} मेगस्थनीज भी लिखता है कि वह ब्राह्मणों के सिद्धान्तों को नहीं मानता

५०. लूईस राईस—'मैसूर ऐण्ड कुर्ग फ्रॉम द इन्सक्रिप्शन्स'/पृ.२-१०। नरसिंहाचार्य—'इन्सक्रिप्शन्स ऐंट श्रवणबेळगोळ'/पृ.३६-४०। स्मिथ—'अर्ली हिस्ट्री ऑव इण्डिया'/पृ.७५-७६।

५१. 'द जर्नल ऑव द रॉयल एशियाटिक सोसाइटी'/१९०१।

था और श्रमणों का अनुयायी था। डॉ. फ्लीट^{५२} और डॉ० बी० ए० स्मिथ^{५३} ने भी इस बात को स्वीकार किया था कि चन्द्रगुप्त राज्य को त्यागकर साधु हो गया था और श्रवणबेळगोळ में उसका स्वर्गवास हुआ।

“अतः परम्परागत अनुश्रुति और प्राप्त अधिलेखों में कुछ मामूली बातों को लेकर मतभेद होते हुए भी यह एक निर्विवाद सत्य माना जाता है कि श्रुतकेवली भद्रबाहु के समय में जैन संघ दक्षिण की ओर गया था^{५४} और इस तरह कुछ विद्वान् ईसापूर्व तीसरी शताब्दी में दक्षिण भारत में जैनधर्म का प्रवेश मानते हैं। किन्तु प्रकृत विषय का गम्भीरता से अध्ययन करनेवाले कुछ विद्वानों का मत है कि भद्रबाहु और चन्द्रगुप्त के आगमन से भी पूर्व दक्षिण भारत में जैनधर्म वर्तमान होना चाहिए। इसके वे नीचे लिखे कारण बतलाते हैं—

“१. इतने बड़े साधुसंघ को दक्षिण की ओर ले जाने से पूर्व भद्रबाहु को अवश्य ही यह विश्वास होना चाहिए था कि उस सुदूर देश में उनके संघ का उचित आतिथ्य होगा, क्योंकि जैन साधुओं के आहारादि की विधि ऐसी नहीं है, जिसका निर्वाह जैनधर्म से अनजान व्यक्ति कर सकता हो। अतः इससे प्रकट होता है कि कर्नाटक और तमिलनाडु के दक्षिण भागों में जैनधर्म के अनुयायी पूर्व से विद्यमान थे।^{५५}

“२. बौद्ध ग्रन्थ ‘महावंश’ की रचना श्रीलंका के राजा धन्तुसेण (४६१-४७९ ई०) के समय में हुई थी। इसमें ५४३ ईसवीपूर्व से लेकर ३०१ ई० सन् तक के काल का वर्णन है। ४३७ ईसवीपूर्व के लगभग पाण्डुगाभय राजा के राज्यकाल में अनुराधापुर में राजधानी परिवर्तित हुई थी। महावंश में इस नये नगर की अनेक इमारतों का वर्णन है। उनमें से एक इमारत निर्ग्रन्थों के लिए थी। उसका नाम गिरि था और उसमें बहुत से निर्ग्रन्थ रहते थे। राजा ने निर्ग्रन्थों के लिए एक मंदिर भी बनवाया था।^{५६}

“महावंश के इस लेख के अनुसार श्रीलंका में ईसा पूर्व ५वीं शती के लगभग जैनधर्म का प्रवेश हुआ होना चाहिए। और उत्तर भारत से दक्षिण भारत के प्रदेश

५२. ‘एपिग्राफिका इण्डिका’/जि.३/पृ.१७१ और ‘इण्डियन ऐण्टिक्वेरी’/जिल्द २१/पृ.१५६।

५३. ‘अर्ली हिस्ट्री ऑव इण्डिया।’

५४. ‘स्टडीज इन साउथ इण्डियन जैनिज्म’/पृ.१९ आदि, ‘मिडियावल जैनिज्म’/पृ. ३-४।
‘जैनिज्म ऐण्ड कर्नाटक कल्चर’/पृ.५-६।

५५. ‘प्रवचनसार’ की अँग्रेजी प्रस्तावना : डॉ. ए.एन. उपाध्ये।

५६. ‘स्टडीज इन साउथ इण्डियन जैनिज्म’/पृ.३२ आदि।

को अछूता छोड़ते हुए जैनधर्म का लंका में प्रवेश होना असम्भव है।" (दक्षिणभारत में जैनधर्म/ पृ.१-३)।

इस प्रकार दक्षिण भारत में अन्तिम श्रुतकेवली भद्रबाहु के ससंघ प्रवास से पूर्व दिगम्बर-जैनपरम्परा का अस्तित्व एक ऐतिहासिक सत्य है। अतः पाँचवीं शताब्दी ई० में तो क्या, ईसापूर्व प्रथम शताब्दी में भी कुन्दकुन्द के द्वारा दिगम्बरमत का प्रवर्तन मानना इतिहासविरुद्ध है।

१०.५. शिवभूति द्वारा जिनेन्द्रगृहीत अचेललिंग का अंगीकार

बोटिक शिवभूति समस्त तीर्थकरों द्वारा अपनाये गये सर्वथा अचेललिंग को ही मोक्ष का एकमात्र मार्ग बतलाता है। इससे यह तथ्य प्रकाश में आता है कि दिगम्बरमत बोटिक शिवभूति अथवा आचार्य कुन्दकुन्द द्वारा नहीं चलाया गया, बल्कि ऋषभादि तीर्थकरों द्वारा उपदिष्ट है। उसका आचरण कठिन होने के कारण देहसुखाभिलाषी सचेलमार्गियों ने हीनसंहननधारी पुरुषों को उसके अयोग्य घोषित कर दिया था। किन्तु शिवभूति ने स्वयं को उसके अयोग्य मानने से इनकार कर दिया और सचेलमार्ग का त्याग कर सर्वथा अचेल दिगम्बरमार्ग अपना लिया। इस तरह उसने नवीनमत का प्रवर्तन नहीं किया था, अपितु परम्परागत मत का ही वरण किया था। निष्कर्षतः यह कथा दिगम्बरमत की मौलिकता और प्राचीनता पर प्रकाश डालती है। स्व० पं० कैलाशचन्द्र जी सिद्धान्तशास्त्री ने भी यही बात कही है। वे लिखते हैं—

“(बोटिक) कथा में भी यही बतलाया गया है कि जिनकल्प का विच्छेद होने के पश्चात् शिवभूति ने नग्न होकर जिनकल्प का प्रवर्तन किया और इस तरह बोटिकमत चल पड़ा। किन्तु इससे दिगम्बरमत अर्वाचीन प्रमाणित नहीं होता, क्योंकि जब जिनकल्प को दिगम्बरत्व का प्रतिरूप माना गया है और जम्बूस्वामी तक उसका प्रचलन रहा है तथा उसे ही शिवभूति ने धारण किया, तो उसने नवीनमत कैसे चलाया? जो पुराना था तथा एक पक्ष ने जिसके विच्छेद होने की घोषणा कर दी थी, उसी का पुनः प्रवर्तन करना नवीन मत का चलाना तो नहीं है। यदि जिनकल्प पहले कभी प्रचलित न हुआ होता तथा जैनपरम्परा में उसे आदर प्राप्त न हुआ होता, तो उसे नवीन मत कहा जा सकता था। किन्तु उत्तरकालीन श्वेताम्बरसाहित्य में जिनकल्प का समादर पाया जाता है। श्वेताम्बरीय आगमिक साहित्य के टीकाकारों ने प्रायः प्रत्येक कठिन आचार को जिनकल्प का आचार बताया है। उसके सम्बन्ध में केवल इतना ही विरोध था कि पंचम काल में उसका विच्छेद हो गया है, क्योंकि उसका धारण करना शक्य नहीं है। शिवभूति को भी यही कहकर समझाया गया था। किन्तु उसने यही उत्तर दिया कि असमर्थ के लिए जिनकल्प का विच्छेद भले ही हुआ हो, समर्थ के लिए उसका विच्छेद कैसे हो सकता है?”^{५७}

५७. जैन साहित्य का इतिहास/पूर्वपीठिका/पृ.३९०।

“अतः श्वेताम्बरकथा के अनुसार भी दिगम्बरपन्थ नया प्रमाणित नहीं होता। किन्तु उसमें जो जम्बूस्वामी के पश्चात् ही जिनकल्प का विच्छेद तथा शिवभूति के द्वारा उसकी पुनः प्रवृत्ति आदि बतलाई गई है, उसका समर्थन अन्य स्रोतों से नहीं होता और न यह बात ही गले उतरती है कि आदर्शमार्ग का एकदम लोप हो जाये, और फिर एक शिवभूति के द्वारा, जो न ऐतिहासिक व्यक्ति ही है और न कोई प्रभावशाली पुरुष ही प्रतीत होता है, पुनः दिगम्बरमार्ग का प्रचलन इतने जोरों से हो जाये। इन्हीं कारणों से किसी ऐतिहासिक विद्वान् ने संघभेद की उत्पत्ति में श्वेताम्बरकथा को प्रश्रय नहीं दिया, जबकि दिगम्बरकथा की घटना को अनेक इतिहासज्ञों ने स्थान दिया है।”^{५८}

१०.६. श्वेताम्बरग्रन्थों में कुन्दकुन्द का उल्लेख नहीं

शिवभूति कोई प्रसिद्ध पुरुष नहीं था, फिर भी श्वेताम्बराचार्यों ने उसे दिगम्बरमत का प्रवर्तक कहा है। किन्तु आचार्य कुन्दकुन्द तो प्रसिद्ध पुरुष थे। यदि वे विक्रम की छठी शताब्दी में हुए होते, तो आवश्यक-निर्युक्तिकार भद्रबाहु के समकालीन होते। और यदि उन्होंने दिगम्बरमत का प्रवर्तन किया होता, तो भद्रबाहु आदि श्वेताम्बराचार्य इसके प्रत्यक्षदर्शी होते। अपनी आँखों के सामने एक विरोधीमत के उद्भव से उनमें तीव्र प्रतिक्रिया हुई होती और वे अपने 'आवश्यकनिर्युक्ति' आदि ग्रन्थों में कुन्दकुन्द को दिगम्बरमत का संस्थापक बतलाते तथा 'विशेषावश्यकभाष्य' आदि में जैसी निन्दा बोटिक शिवभूति की की गई है, वैसी ही कुन्दकुन्द की, की जाती। किन्तु 'आवश्यकनिर्युक्ति' आदि किसी भी श्वेताम्बरग्रन्थ में कुन्दकुन्द के दिगम्बरमत-प्रवर्तक होने का उल्लेख नहीं है। एक बोटिक शिवभूति जैसे साधारण पुरुष को उसका प्रवर्तक बतलाया है, वह भी वीर नि० सं० ६०९ (ई० सन् ८२) में। यह इस बात का अकाट्य प्रमाण है कि निर्युक्तिकार भद्रबाहु आदि के समय में न तो कुन्दकुन्द हुए थे, न ही उनके द्वारा दिगम्बरमत की स्थापना की गयी थी।

१०.७. दिगम्बरसंघ भद्रबाहु की परम्परा का संघ : डॉ० सागरमल जी

यद्यपि डॉ० सागरमल जी ने अपने पूर्वलिखित ग्रन्थ जैनधर्म का यापनीयसम्प्रदाय में मुनि कल्याणविजय जी एवं पं० दलसुख जी मालवणिया का अनुसरण करते हुए यह माना है कि दिगम्बरसंघ की स्थापना विक्रम की छठी शती में दक्षिण भारत के आचार्य कुन्दकुन्द ने की थी (ग्रन्थलेखक के वचन इसी प्रकरण के शीर्षक ४ में उद्धृत हैं), तथापि आठ वर्ष बाद लिखे गये अपने नवीन ग्रन्थ जैनधर्म की ऐतिहासिक विकासयात्रा में उन्होंने इस मान्यता का परित्याग कर दिया है और यह स्वीकार किया है कि वर्तमान दिगम्बरसंघ ईसापूर्व चौथी शताब्दी में हुए श्रुतकेवली भद्रबाहु की परम्परा

का संघ है। इसका समर्थन उन्होंने तमिलनाडु में प्राप्त ई० पू० प्रथम-द्वितीय शती के ब्राह्मीलिपि में उत्कीर्ण अभिलेखों से किया है। (ग्रन्थकार के वचन अध्याय ६ के प्रकरण २ में द्रष्टव्य हैं)। डॉ० सागरमल जी के इस प्रमाणसिद्ध संशोधित मत से मुनि कल्याणविजय जी एवं पं० दलसुख जी मालवणिया की यह मान्यता निरस्त हो जाती है कि आचार्य कुन्दकुन्द दिगम्बरमत के प्रवर्तक थे और यह स्थापित होता है कि दिगम्बर-परम्परा श्रुतकेवली भद्रबाहु और उनकी गुरुपरम्परा-जितनी पुरानी है अर्थात् भगवान् महावीर-जितनी प्राचीन।

११

बोटिकसंघ की दक्षिणयात्रा अप्रामाणिक

मुनि कल्याणविजय जी ने लिखा है—“यद्यपि शिवभूति के सम्प्रदाय का उद्भव उत्तरापथ में हुआ था, पर वहाँ उसका अधिक प्रचार नहीं हो सका।---इस स्थिति में शिवभूति या उनके अनुयायियों का वहाँ टिकना बहुत कठिन था। इस कठिनाई के कारण उस सम्प्रदाय ने उधर से हटकर दक्षिणापथ की तरफ प्रयाण किया।” (श्र.भ.म./पृ.३०१)।

इस घटना के समर्थन में मुनि जी ने कोई प्रमाण प्रस्तुत नहीं किया, न बोटिक संघोत्पत्ति-कथा का वर्णन करनेवाले ग्रन्थों में, न अन्य किसी ग्रन्थ अथवा शिलालेख में इसका उल्लेख है। इससे सिद्ध है कि बोटिकसंघ के उत्तर से दक्षिण में जाने की बात मुनि जी ने अपने मन से कल्पित की है।

पूर्व में सप्रमाण सिद्ध किया गया है कि शिवभूति ने किसी नये सम्प्रदाय को जन्म नहीं दिया था, अपितु जिनप्रणीत ऐकान्तिक अचेल (दिगम्बर) परम्परा को अंगीकार किया था। और वह परम्परा उत्तर-दक्षिण दोनों में विद्यमान थी। इसलिए शिवभूति के दिगम्बर बन जाने पर उसे उत्तरभारत में ही विशाल निर्ग्रन्थश्रमणसंघ प्राप्त हो गया था। अतः उसे अपने अस्तित्व की रक्षा के लिए दक्षिणापथ जाने की आवश्यकता ही नहीं थी। फलस्वरूप शिवभूति या उसके शिष्यों के दक्षिणापथ चले जाने की कथा कपोलकल्पित है।

जहाँ तक यापनीयसंघ का सवाल है इतिहासविद् डॉ० गुलाबचन्द्र जी चौधरी ने उस के विषय में लिखा है कि “यह संघ दक्षिणभारत की अपनी देन है।”^{५९} यापनीयसंघ पर विस्तृत शोध करनेवाले डॉ० ए० ए० उपाध्ये का भी कथन है कि यापनीयसंघ का उल्लेख दक्षिणभारत के ही शिलालेखों में मिलता है और उसका साहित्य

भी दक्षिणभारत में ही उपलब्ध हुआ है।^{१०} प्राचीन इतिहास के विद्वान् श्री काशीप्रसाद जी जायसवाल भी लिखते हैं कि यापनीयसंघ का उद्भव और विकास दक्षिणापथ में हुआ था, क्योंकि वे मुख्यतः कर्नाटक के शिलालेखों में ही दृष्टिगोचर होते हैं। (देखिये, अध्याय ७ / प्र.१/श्री.९)।

इतिहासज्ञों के ये विचार इस बात की पुष्टि करते हैं कि यापनीयसम्प्रदाय की उत्पत्ति दक्षिणापथ में ही हुई थी। अतः मुनि श्री कल्याणविजय का यह मत सर्वथा अप्रामाणिक सिद्ध होता है कि बोटिकसंघ दक्षिण में जाकर यापनीयसम्प्रदाय के नाम से प्रसिद्ध हुआ।

१२

‘मूलसंघ’ यापनीयसंघ का पूर्वनाम नहीं

मुनि कल्याणविजय जी कहते हैं कि शिवभूति ने अपने सम्प्रदाय का नाम पहले मूलसंघ रखा, पश्चात् दक्षिणापथ में जाने पर ‘यापनीय’ कहलाने लगा।

मेरा कथन यह है कि बोटिकसंघ ऐकान्तिक अचेलमार्गी दिगम्बरसंघ था। अतः उसका मूलसंघ नाम उचित ही था। किन्तु यापनीयसंघ का पूर्वनाम मूलसंघ था, यह कथन प्रामाणिक नहीं है, क्योंकि किसी भी प्राचीन ग्रन्थ या शिलालेख में यापनीय-संघ को मूलसंघ नाम से अभिहित नहीं किया गया है। तथा मूलसंघ उसे कहते हैं, जिससे कोई अन्य संघ उद्भूत हुआ हो। किन्तु यापनीयसंघ से किसी अन्य संघ का उद्भव नहीं हुआ था। इसलिए उसके मूलसंघ नाम से अभिहित किये जाने की कल्पना तर्कसंगत नहीं है। इस विषय का विस्तार से विवेचन ‘यापनीय संघ का इतिहास’ नामक सप्तम अध्याय में द्रष्टव्य है।

१३

यापनीयसंघ दिगम्बरसंघ का पूर्वनाम नहीं

पूर्वोक्त मुनि जी ने लिखा है—“दिगम्बरसम्प्रदाय का पूर्वनाम ‘यापनीयसंघ’ था, जो श्वेताम्बरीय परम्परा के आचार-विचार का अनुसरण करनेवाला और कतिपय जैन आगमों को भी माननेवाला था। परन्तु पिछले दिगम्बराचार्य यापनीयसंघविषयक अपना पूर्वसम्बन्ध भूल गये और नग्नता के समर्थक होते हुए भी श्वेताम्बरीय आगम और आचार-विचारों के कारण उसे ‘खच्चर’ तक की उपमा देने में न सकुचाये। देखिए ‘षट्प्राभृत’ (दंसणपाहुड/११) की टीका में श्रुतसागर के निम्नोद्भूत वाक्य—“यापनीयास्तु

६०. देखिए , प्रस्तुत ग्रन्थ का ‘यापनीयसंघ का इतिहास’ नामक सप्तम अध्याय।

वेसरा इवोभयं मन्यन्ते, रत्नत्रयं पूजयन्ति, स्त्रीणां तद्भवे मोक्षं, केवलिजिनानां कवलाहारं, परशासने सग्रन्थानां च मोक्षं कथयन्ति।” (श्र.भ.म./पृ.३३५)।

पूर्वोद्धृत वक्तव्य (शीर्षक ३) में मुनिजी ने कहा है कि “यापनीयसम्प्रदाय आप-वादि क सवस्त्रमुक्ति, स्त्रीमुक्ति और केवलिभुक्ति के सिद्धान्तों को मानता था। कुन्द-कुन्द इन्हें अनुचित मानते थे अतः वे इन्हें निरस्त करना चाहते थे। किन्तु उनके यापनीय-गुरु और सहधर्मियों ने साथ नहीं दिया, फलस्वरूप वे संघ से अलग हो गये और इन सिद्धान्तों को अमान्य करनेवाला नया दिगम्बरमत चला दिया।” (मुनि जी के कथन का सार)। इससे स्पष्ट है कि दिगम्बरमत और यापनीयमत में महान् सैद्धान्तिक भेद था। फिर वे दोनों अभिन्न कैसे हो सकते हैं? और जब वे अभिन्न नहीं थे, तो यापनीयसंघ दिगम्बरसम्प्रदाय का पूर्वनाम कैसे हो सकता है? यह तो मिथ्याकथन कर दिगम्बरसम्प्रदाय को यापनीयसम्प्रदाय से उद्धृत एवं अर्वाचीन सिद्ध करने का कुप्रयास है।

तथा मुनि जी ने विक्रम की छठी शताब्दी में कुन्दकुन्द के द्वारा यापनीयसम्प्रदाय में दीक्षित होने के बाद उससे अलग होकर दिगम्बरमत की स्थापना किये जाने की कल्पना के आधार पर उसे यापनीयमत से उद्धृत एवं अर्वाचीन माना है। किन्तु पूर्व में वे शिलालेखीय एवं साहित्यिक प्रमाण उपस्थित किये गये हैं, जिनसे सिद्ध होता है कि दिगम्बरपरम्परा विक्रम की छठी शताब्दी के बहुत पहले से चली आ रही थी। अतः वह यापनीयसम्प्रदाय से उद्धृत सिद्ध नहीं होती। अत एव यह भी सिद्ध नहीं होता कि दिगम्बरसम्प्रदाय का पूर्वनाम यापनीयसंघ था। किन्तु मुनि कल्याणविजय जी ने इतिहासग्रन्थ में ऐसा लिखकर इतिहास को कपोलकल्पनाओं का अभिलेख बनाने का प्रयास किया है।

१४

परस्परविरोधी धराशायी होती कहानियाँ

मुनि जी ने अपने पूर्वोद्धृत मनगढ़न्त निष्कर्षों में एक स्थान पर कहा है कि “शिवभूति के द्वारा स्थापित एवं मूलसंघ नाम से प्रसिद्ध (सचेलाचेल) सम्प्रदाय, जब कुन्दकुन्द के द्वारा किये गये सुधारों के फलस्वरूप विभाजित हुआ, तब यापनीयसंघ, काष्ठासंघ, माथुरसंघ आदि संघ बन गये।” लेकिन दूसरे स्थान पर कहते हैं कि “यापनीय-संघ के टूटने से दिगम्बरसंघ, द्राविडसंघ आदि संघ बने।” (देखिये, इसी प्रकरण का शीर्षक ३)।

अर्थात् पूर्वकथन के अनुसार कुन्दकुन्द द्वारा प्रणीत माने गये दिगम्बरमत के साथ ही यापनीयसंघ उत्पन्न हुआ और दूसरे कथन के अनुसार यापनीयसंघ से

दिगम्बरमत प्रकट हुआ। इन कथनों में महान् अन्तर्विरोध है। इस विरोध से निम्नलिखित विसंगतियाँ पैदा होती हैं—

१. यदि कदम्बवंशीय श्रीविजयशिवमृगेशवर्मा के काल (विक्रम की छठी शती) में कुन्दकुन्द के सुधारवादी अभियान के फलस्वरूप शिवभूतिप्रणीत मूलसंघ के टूटने से यापनीयसंघ और दिगम्बरसंघ की उत्पत्ति मानी जाय, तो यह सम्भव नहीं है। क्योंकि श्रीविजयशिवमृगेशवर्मा और मृगेशवर्मा के शिलालेखों (क्र. ९८ और ९९) में निर्ग्रन्थमहाश्रमणसंघ (दिगम्बरसंघ), श्वेतपटमहाश्रमणसंघ, यापनीयसंघ तथा कूर्चकों को तो दान दिये जाने का उल्लेख है, किन्तु 'मूलसंघ' नाम के किसी संघ का उल्लेख नहीं है। इससे सिद्ध है कि विक्रम की छठी शताब्दी में निर्ग्रन्थमहाश्रमणसंघ से अलग किसी मूलसंघ का अस्तित्व नहीं था। अतः उसके टूटने से यापनीयसंघ, दिगम्बरसंघ आदि के उत्पन्न होने की कथा अप्रामाणिक है।

२. मृगेशवर्मा के शिलालेख में यापनीयसंघ का उल्लेख है। इससे उसकी उत्पत्ति मृगेशवर्मा के काल से कम से कम पचास वर्ष पूर्व माननी होगी। और कुन्दकुन्द के सुधारवादी अभियान से यापनीयसंघ एवं दिगम्बरसंघ की उत्पत्ति मानने पर कुन्दकुन्द का अस्तित्व भी मृगेशवर्मा एवं श्रीविजयशिवमृगेशवर्मा से कम से कम पचास वर्ष पूर्व मानना होगा। इस स्थिति में कुन्दकुन्द श्रीविजयशिवमृगेशकालीन, अत एव उनके गुरु सिद्ध नहीं होते, जबकि मुनि जी ने ऐसा माना है।

३. यदि श्रीविजयशिवमृगेशवर्मा के काल में मूलसंघ की बजाय यापनीयसंघ से दिगम्बरसंघ का उद्भव माना जाय तो यह भी असंगत है। क्योंकि श्रीविजयशिवमृगेशवर्मा के शिलालेख में निर्ग्रन्थ महाश्रमणसंघ (दिगम्बरसंघ) को दान दिये जाने का वर्णन है, जिससे सिद्ध होता है कि उसका अस्तित्व श्रीविजयशिवमृगेशवर्मा के बहुत पहले से था।

४. मुनि जी ने विक्रम की छठी शताब्दी में तथाकथित शिवभूतिवाले मूलसंघ के विभाजन से दिगम्बरसंघ, यापनीयसंघ, काष्ठासंघ, माथुरसंघ, द्राविडसंघ आदि की उत्पत्ति बतलायी है। यह प्रामाणिक नहीं है। यापनीयसंघ के सिद्धान्त तो मुनि जी के अनुसार तथाकथित शिवभूतिवाले मूलसंघ से पृथक् नहीं थे, अतः यापनीयसंघ की उत्पत्ति को तो मूलसंघ का केवल नाम परिवर्तन ही कहा जा सकता है। शेष चारों संघ सवस्त्रमुक्ति, स्त्रीमुक्ति और केवलिभुक्ति के विरोधी थे, अतः वे दिगम्बरसंघ की ही विभिन्न शाखाएँ थीं। यदि इनकी उत्पत्ति एक साथ उक्त मूलसंघ के विभाजन से हुई थी, तो मुनि जी का यह कथन असंगत हो जाता है कि दिगम्बरमत की

नीव कुन्दकुन्द ने डाली थी। क्योंकि एक साथ उत्पन्न होने पर इन चारों संघों के संस्थापक पुरुष दिगम्बरमत की स्थापना करनेवाले सिद्ध होते हैं।

दूसरी बात यह है कि इनकी एक साथ उत्पत्ति का कोई प्रमाण मुनि जी ने उपस्थित नहीं किया, जब कि देवसेनकृत दर्शनसार में उनकी उत्पत्ति भिन्न-भिन्न समयों में बतलायी गयी है, जैसे द्राविडसंघ की उत्पत्ति विक्रममृत्यु-संवत् ५२६ में, काष्ठासंघ की ७५३ में, माथुरसंघ की ९५३ में और यापनीयसंघ की ७०५ या २०५ में। इससे सिद्ध होता है मुनिजी का इनको विक्रम की छठी शताब्दी (पाँचवीं शती ई०) में एक साथ उत्पन्न बतलाना अप्रामाणिक है।

इस प्रकार तथाकथित शिवभूति-प्रवर्तित सम्प्रदाय से कभी मूलसंघ-नामधारी अवस्था में और कभी यापनीय-नामधारी अवस्था में दिगम्बरादि संघों की उत्पत्ति की कहानियाँ परस्परविरोधी हैं। वे एक दूसरे को अप्रामाणिक ठहराती हैं और उपर्युक्त विसंगतियों को जन्म देती हैं, फलस्वरूप उनमें से कोई भी पैर नहीं जमा पाती, सब धराशायी हो जाती हैं। अतः हम पाते हैं कि वे अत्यन्त अतर्कसंगत रीति से कपोलकल्पित हैं।



तृतीय प्रकरण

उत्तरभारतीय सचेलाचेल निर्ग्रन्थसंघ कपोलकल्पित

१

अचेल-सचेल दोनों लिंगों से मुक्ति के उपदेश की कल्पना

डॉ० सागरमल जी ने इतिहास के विरुद्ध एक यह उद्घावना की है कि 'भगवान् महावीर ने अचेललिंग और सचेललिंग दोनों से मुक्ति होने का उपदेश दिया है। सचेललिंग से मुक्ति संभव होने से स्त्री भी तद्भवमुक्ति के योग्य बतलायी गई है।' श्वेताम्बर-साहित्य में अचेललिंग को जिनकल्प और सचेललिंग को स्थविरकल्प के नाम से अभिहित किया गया है। डॉक्टर सा० की मान्यता है कि उत्तरभारत में तीर्थंकर महावीर के समय से ही उनका अनुयायी जो श्रमणसंघ था, वह अचेल और सचेल दोनों लिंगों को मोक्षमार्ग मानता था। इस संघ को उन्होंने उत्तरभारतीय निर्ग्रन्थसंघ नाम से अभिहित किया है। (जै.ध.या.स./पृ.३६६)। मैंने इसके साथ सचेलाचेल विशेषण जोड़कर डॉक्टर सा० के अभिप्राय को स्पष्ट कर दिया है, ताकि पाठकों को निर्ग्रन्थ शब्द से यह भ्रम न हो कि इस संघ के साधु नग्न ही रहते थे। डॉक्टर सा० ने इस संघ (सम्प्रदाय या परम्परा) में श्वेताम्बर और यापनीय सम्प्रदायों की समस्त मान्यताओं को समाविष्ट कर दिया है। सचेलमुक्ति, स्त्रीमुक्ति, गृहस्थमुक्ति, परतीर्थिकमुक्ति, केवलिकवलाहर, मल्लितीर्थंकर का स्त्री होना और महावीर का गर्भपरिवर्तन, ये मान्यताएँ श्वेताम्बर और यापनीय सम्प्रदायों में समान हैं, जो इसमें समाविष्ट की गयी हैं। परीषहादिसहन में असमर्थ मोक्षार्थी पुरुषों के लिए सचेललिंग और समर्थ पुरुषों के लिए अचेललिंग के विधान की मान्यता यापनीयों की विशिष्ट मान्यता है। डॉ० सागरमल जी ने इसे दृष्टि में रखते हुए अचेललिंग का विधान भी स्वकल्पित उत्तरभारतीय-सचेलाचेल-निर्ग्रन्थसंघ में कर दिया है, ताकि वे इस संघ से श्वेताम्बर और यापनीय दोनों सम्प्रदायों की उत्पत्ति बतला सकें। इस प्रकार डॉक्टर सा० ने उत्तरभारतीय-सचेलाचेल-निर्ग्रन्थसंघ इस नये नाम से श्वेताम्बरसंघ को ही भगवान् महावीर के उपदेशों का पालन करनेवाला भारत का प्राचीनतम जैन श्रमणसंघ बतलाया है।

डॉक्टर सा० ने स्वकल्पित उत्तरभारतीय-सचेलाचेल-निर्ग्रन्थपरम्परा का अस्तित्व पहले तो वीरनिर्वाण संवत् ६०९ (ई० सन् ८२)^{६१} तक माना था, क्योंकि श्वेताम्बरग्रन्थों

६१. डॉ० सागरमल जी ने भगवान् महावीर का निर्वाण ईसापूर्व ४६७ में मानकर वीरनिर्वाण सं० ६०९ को ई० सन् १४२ (वि.सं.१९९) के समकक्ष माना है। अतः उन्होंने बोटिकमत (उनके अनुसार यापनीयमत) की उत्पत्ति ई० सन् १४२ (ईसा की द्वितीय शताब्दी)

में इसी समय बोटिकमत की उत्पत्ति बतलायी गयी है, जिसे डॉक्टर सा० ने यापनीयमत माना है। (जै. ध. या. स. / पृ. १६-१७)। यह उनके अनुसार उत्तरभारतीय-सचेलाचेल-निर्ग्रन्थपरम्परा के विभाजन से ही उत्पन्न हुआ था। किन्तु बाद में उन्होंने अपना मत बदल दिया और ईसा की पाँचवीं शती के प्रथम चरण तक उसे विद्यमान मान लिया। अपना परिवर्तित मत प्रस्तुत करते हुए वे लिखते हैं—

“यह सही है कि ईसा की दूसरी शताब्दी से वस्त्रपात्र के प्रश्न पर विवाद प्रारंभ हो गया, फिर भी यह निश्चित है कि पाँचवीं शताब्दी से पूर्व श्वेताम्बर, दिगम्बर और यापनीय जैसे सम्प्रदाय अस्तित्व में नहीं आ पाये थे। निर्ग्रन्थसंघ (दिगम्बर), श्वेतपट-महाश्रमणसंघ और यापनीयसंघ का सर्वप्रथम उल्लेख हल्सी के पाँचवीं शती के अभिलेखों में ही मिलता है।” (जै. ध. या. स. / पृ. ३६८)।

“स्पष्ट सम्प्रदायभेद, सैद्धान्तिक मान्यताओं का निर्धारण और श्वेताम्बर, दिगम्बर और यापनीय जैसे नामकरण पाँचवीं शताब्दी के बाद ही अस्तित्व में आये हैं।” (जै. ध. या. स. / पृ. ३७२)।

इस प्रकार श्वेताम्बर-यापनीय संघों का उत्पत्तिकाल ईसा की पाँचवीं शताब्दी (देवगिरि-हल्सी-अभिलेख / ई० सन् ४७०-४९० से कुछ वर्ष पूर्व) घोषित कर डॉ० सागरमल जी ने यह सिद्ध करने का प्रयास किया है कि श्वेताम्बर-यापनीयों की जननी उत्तरभारतीय-सचेलाचेल-निर्ग्रन्थपरम्परा ईसा की पाँचवीं सदी के प्रारंभ तक विद्यमान थी।

डॉक्टर सा० मानते हैं कि ऐकान्तिक अचेलमार्गी श्रमणसंघ या श्रमणपरम्परा (दिगम्बर-परम्परा) का प्रवर्तन ईसा की पाँचवीं शती में दक्षिणभारत में आचार्य कुन्दकुन्द के द्वारा किया गया। डॉक्टर सा० ने इसे दक्षिणभारतीय निर्ग्रन्थसंघ नाम दिया है। ‘दक्षिणभारतीय निर्ग्रन्थसंघ’ नाम का प्रयोग डॉक्टर सा० के निम्नलिखित कथन में मिलता है—“दक्षिणभारत का वह निर्ग्रन्थसंघ (मूलसंघ) आगमों को विच्छिन्न मानने लगा था। --- इस प्रकार आगमों के विच्छिन्न होने के प्रश्न पर दक्षिणभारत के निर्ग्रन्थ-मूलसंघ और यापनीयों में मतभेद रहा होगा।” (जै. ध. या. स. / पृ. ४६)।

निम्नलिखित उद्धरणों में उन्होंने दक्षिणभारतीय निर्ग्रन्थसंघ को आचार्य कुन्दकुन्द द्वारा स्थापित बतलाया है—

में बतलायी है। (जै. ध. या. स. / विषय प्रवेश / पृ. १६-१७)। यह उचित नहीं है। प्रायः सभी दिगम्बर और श्वेताम्बर विद्वानों ने वीरनिर्वाणवर्ष ईसापूर्व ५२७ माना है। तदनुसार वीरनिर्वाण संवत् ६०९ सन् ८२ के समकक्ष सिद्ध होता है। (देखिये, अध्याय १०/ प्रकरण ५ / शी. ३.३—‘विरोधी तर्कों का निरसन’)।

“ई० सन् की पाँचवीं-छठी शताब्दी तक जैनपरम्परा में कहीं भी स्त्रीमुक्ति का निषेध नहीं था। स्त्रीमुक्ति एवं सग्रन्थ (सवस्त्र) की मुक्ति का सर्वप्रथम निषेध आचार्य कुन्दकुन्द ने सुत्तपाहुड में किया है।” (जै. ध. या. सं./ पृ. ३९४)। “कुन्दकुन्द ही मूलसंघ के प्रथम आचार्य थे।” (जै. ध. या. स./ पृ. ४६)। “कुन्दकुन्द की स्त्रीमुक्ति-निषेधक परम्परा सुदूर दक्षिण में ही प्रस्थापित हुई थी।” (जै. ध. या. स./ पृ. ४०२)।

इस प्रकार सवस्त्रमुक्ति एवं स्त्रीमुक्ति के निषेधक एकान्त अचेलमार्गी दिगम्बरसंघ को कुन्दकुन्द द्वारा स्थापित दक्षिणभारतीय निर्ग्रन्थसंघ बतलाकर उत्तरभारत के निर्ग्रन्थसंघ को अचेलसचेल-उभयात्मक तथा स्त्रीमुक्ति आदि का समर्थक प्ररूपित करते हुए डॉक्टर सा० लिखते हैं—

“महावीर के काल से ही निर्ग्रन्थसंघ में नग्नता का एकान्त आग्रह नहीं था, किन्तु उसे अपवाद के रूप में ही स्वीकृत किया गया था।” (जै. ध. या. स./ पृ. २५)।

“उमास्वाति भी मतभेदों के बावजूद उसी उत्तरभारत की आगमिक निर्ग्रन्थ परम्परा के आचार्य हैं, जिससे श्वेताम्बरों और यापनीयों का विकास हुआ है और जो स्त्रीमुक्ति, गृहस्थमुक्ति, अन्यतैर्थिकमुक्ति, केवलभुक्ति आदि की समर्थक रही है।” (जै. ध. या. स./ पृ. २५०)।

“महावीर के धर्मसंघ में जब वस्त्रपात्र आदि में वृद्धि होने लगी और अचेलकत्व की प्रतिष्ठा क्षीण होने लगी, तब उससे अचेलता के पक्षधर यापनीय और सचेलता के पक्षधर श्वेताम्बर ऐसी दो धाराएँ निकलीं।” (जै. ध. या. स./ पृ. २४)।

“वस्तुतः जब उत्तरभारत में प्रवर्तित महावीर के श्रमणसंघ में वस्त्रपात्र रखने का आग्रह जोर पकड़ने लगा, भगवान् महावीर द्वारा उपदिष्ट एवं आचरित अचेलकत्व अर्थात् जिनकल्प का विच्छेद बताकर उसका उन्मूलन किया जाने लगा और वस्त्र-पात्र के आपवादिक मार्ग (स्थविरकल्प) को ही तत्कालीन परिस्थितियों में एकमात्र मार्ग माना जाने लगा, तो शिवभूति प्रभृति कुछ प्रबुद्ध मुनियों ने उसका विरोध किया। इस विरोध की फलश्रुति-स्वरूप ही उस सम्प्रदाय का जन्म हुआ, जो यापनीयों की पूर्व अवस्था थी और जिसे श्वेताम्बरों ने बोटिक या बोडिय कहा था।” (जै. ध. या. स./ पृ. ३८६-३८७)।

इन कथनों से स्पष्ट हो जाता है कि डॉ. सागरमल जी की कल्पनानुसार भगवान् महावीर ने औत्सर्गिक अचेल जिनकल्प एवं आपवादिक सचेल स्थविरकल्प, इन दोनों मार्गों से मोक्ष की प्राप्ति बतलाई है और उत्तरभारत का निर्ग्रन्थसंघ इसी सचेलाचेलमार्ग का अनुगामी था।

डॉक्टर सा० ने इस उत्तरभारतीय सचेलाचेल निर्ग्रन्थसंघ को मूलधारा और अविभक्त परम्परा शब्दों से विशेषित करते हुए कहा है कि इसी मूलधारा या अविभक्त परम्परा से श्वेताम्बर और यापनीय संघों का जन्म हुआ था, अतः यह इन दोनों संघों की पूर्वज परम्परा है। (देखिये, इसी अध्याय के चतुर्थ प्रकरण का प्रथम अनुच्छेद)। इस आधार पर मैंने अभिव्यक्ति की सुविधा के लिये इस संघ या परम्परा को दो नामों से अभिहित किया है—१. उत्तरभारतीय-सचेलाचेल-निर्ग्रन्थसंघ या परम्परा और २. श्वेताम्बर-यापनीय-मातृपरम्परा।

डॉक्टर सा० का कथन है कि आचारांगादि आगमग्रन्थ, उनकी नियुक्तियाँ, प्रकीर्णक तथा कर्मसाहित्य के ग्रन्थ भी इसी उत्तरभारतीय सचेलाचेल निर्ग्रन्थसंघ के हैं, जो श्वेताम्बरों और यापनीयों को उत्तराधिकार में प्राप्त हुए थे। (जै. ध. या. स. / पृ. ६८)।

डॉक्टर सा० ने जो सचेलाचेल श्रमणों के संघ को भी निर्ग्रन्थसंघ नाम से अभिहित किया है, उसके अनौचित्य का प्रतिपादन आगे षष्ठ प्रकरण में किया जायेगा। यहाँ केवल इस मान्यता को कपोलकल्पित सिद्ध किया जा रहा है कि भगवान् महावीर ने सचेलाचेल और अचेलाचेल दोनों मार्गों से मोक्ष होने का उपदेश दिया था और उत्तरभारत में उन्हीं के समय से सचेलाचेल-निर्ग्रन्थसंघ विद्यमान था।

२

उक्त कपोलकल्पना द्वारा अनेक प्रयोजनों की सिद्धि का प्रयास

भगवान् महावीर के निर्ग्रन्थसंघ को सचेलाचेल बतलाकर मान्य विद्वान् ने अपनी कपोलकल्पना द्वारा अनेक प्रयोजनों को सिद्ध करनेका प्रयास किया है। यथा—

१. दिगम्बरपरम्परा को भगवान् महावीर की परम्परा से अलग सिद्ध करना।
२. महावीर के तीर्थ को सचेलाचेल सिद्ध करना।
३. श्वेताम्बरों और यापनीयों को ही महावीर की परम्परा का उत्तराधिकारी ठहराना।

४. और इस प्रकार जो ग्रन्थ श्वेताम्बरों का नहीं है और स्पष्टतः यापनीयों का भी नहीं है, किन्तु जिसकी कुछ विषयवस्तु श्वेताम्बरग्रन्थों की विषयवस्तु से मिलती-जुलती है, उसे यदि वह यापनीयसम्प्रदाय की उत्पत्ति के पूर्व रचा गया है, तो उत्तरभारतीय सचेलाचेल परम्परा के आचार्यों द्वारा रचित सिद्ध करना और यदि उसके बाद रचा गया है, तो उस परम्परा के उत्तराधिकारी यापनीयसंघ के आचार्य द्वारा रचित बतलाना, और इस तरह उसके दिगम्बरग्रन्थ होने का अपलाप करना।

३

कपोलकल्पित होने के शास्त्रीय प्रमाण

३.१. भगवान् महावीर का निर्ग्रन्थसंघ सर्वथा अचेलमार्गी

उत्तराध्ययनसूत्र के केशी-गौतम-संवाद में बतलाया गया है कि भगवान् महावीर ने अचेलकधर्म का उपदेश दिया था और भगवान् पार्श्वनाथ ने सचेलधर्म का—

अचेलगो य जो धम्मो जो इमो संतरुत्तरो।

देसिदो वद्धमाणेण पासेण य महाजसा ॥ २३/२९ ॥

श्री हरिभद्रसूरि ने तो अपने ग्रन्थ पञ्चाशक में महावीर के अतिरिक्त भगवान् ऋषभदेव को भी अचेलधर्म का ही प्रवर्तक (उपदेशक) बतलाया है—

आचेलवको धम्मो पुरिमस्स य पच्छिमस्स य जिणस्स।

मज्झिमगाण जिणाणं होइ सचेलो अचेलो य ॥ १२ ॥

प्रथम और चरम तीर्थंकरों के तीर्थ में साधुओं के लिए जो दस प्रकार का कल्प (आचार) निर्धारित किया गया है, उसमें आचेलक्य का निर्देश सर्वप्रथम किया गया है—

आचेलककुहेसिय-सेज्जायर-रायपिंड-किइकम्मे।

वय-जेट्ट-पडिक्कमणे मासं पज्जोसवणकप्पो ॥

यह कल्पनिर्युक्ति की गाथा है। (देखिये, 'श्रमण भगवान् महावीर'/पृ. ३३६)। जीतकल्पभाष्य की भी यह १९७२वीं गाथा है। (जै.ध.या.स./पृ.१३२)।

तत्त्वार्थसूत्र में भी साधु के बाईस परीषहों में नाग्न्यपरीषह बताया गया है, जो साधु के लिए अचेललिंग धारण करने के उपदेश का सूचक है। शीत, उष्ण, दंशमशक आदि परीषहों को जीतने का उपदेश भी अचेलत्व की अनिवार्यता का ज्ञापक है, क्योंकि वस्त्रधारी को ये परीषह संभव नहीं हैं। आचारांग में भी इसका समर्थन किया गया है। (देखिये, आगे अध्याय ३/प्रकरण १/शीर्षक ६, ७, ९)।

इन प्रमाणों से सिद्ध है कि भगवान् महावीर के निर्ग्रन्थसंघ को सचेलचेलमार्गी कहना आगमविरुद्ध है अर्थात् कपोलकल्पित है।

डॉ० सागरमल जी ने भी आगे चलकर स्वमत में परिवर्तन करते हुए अपने नवीन ग्रन्थ जैनधर्म की ऐतिहासिक विकासयात्रा (पृ.२६) में भगवान् महावीर के निर्ग्रन्थसंघ को अचेलमार्गी ही स्वीकार किया है। देखिए—

“दक्षिण की जलवायु उत्तर की अपेक्षा गर्म थी, अतः अचेलता के परिपालन में दक्षिण में गये निर्ग्रन्थसंघ को कोई कठिनाई नहीं हुई, जब कि उत्तर के निर्ग्रन्थसंघ में कुछ पार्श्वपत्नियों के प्रभाव से और कुछ अतिशीतल जलवायु के कारण यह अचेलता अक्षुण्ण नहीं रह सकी और एक वस्त्र रखा जाने लगा।”

३.२. महावीर-प्रणीत जिनकल्प और स्थविरकल्प दोनों सर्वथा अचेल

अचेलकर्म के प्रणेता होने के कारण तीर्थंकर महावीर द्वारा उपदिष्ट जिनकल्प और स्थविरकल्प दोनों सर्वथा अचेल हैं। उनका स्वरूप दिगम्बरग्रन्थों में वर्णित है। वामदेवकृत भावसंग्रह में जिनकल्पी मुनियों के स्वरूप का वर्णन इस प्रकार किया गया है—“अब जिनकल्प नामक चारित्र का वर्णन किया जाता है, जिससे भव्यों को निश्चितरूप से मुक्तिवधू का संग प्राप्त होता है। जिनकल्पिक मुनि शुद्धसम्यग्दर्शनयुक्त, इन्द्रियकषायों के विजेता और एकादशांगश्रुत को एक अक्षर के समान जाननेवाले होते हैं। पैरों में काँटा लगने और आँखों में धूल जाने पर स्वयं अलग नहीं करते, दूसरों के अलग करने पर मौन रहते हैं। वे वज्रवृषभनाराच-संहननधारी होते हैं, सतत मौन धारण करते हैं और गुफा, पर्वत, वन या नदीतट पर रहते हैं। वर्षाकाल में मार्ग के जीवों से व्याप्त होने पर छह मास तक निःस्पृह और निराहार कायोत्सर्ग में स्थित रहते हैं। मोक्ष-साधन में उनकी निष्ठा होती है, रत्नत्रय से विभूषित होकर निःसंग धर्मध्यान और शुक्लध्यान में लीन रहते हैं। ये मुनि ‘जिन’ की तरह अनियतवासी होकर विचरते हैं, इस कारण आचार्यों ने इन्हें जिनकल्पिक कहा है।” (श्लोक २६३-२६९)।

स्थविरकल्प के स्वरूप का वर्णन करते हुए प्राकृत-भावसंग्रहकार देवसेन कहते हैं—“पाँचों प्रकार के वस्त्रों का त्याग, आकिंचन्य, प्रतिलेखन, पंचमहाव्रत-पालन, नवधाभक्तिपूर्वक पाणितल में प्राप्त आहार को दिन में एक बार खँड़े होकर ग्रहण करना, भिक्षा की याचना न करना, बाह्याभ्यन्तर तप का अभ्यास करना, षडावश्यक का पालन, भूमिशयन, केशलोच, पंचेन्द्रियरोध और जिनवरसदृश प्रतिरूप ग्रहण करना स्थविरकल्प के लक्षण हैं। हीनसंहनन और दुःषमकाल के प्रभाव से आजकल स्थविरकल्प-स्थित साधु पुर, नगर और ग्रामवासी हो गये हैं। वे वह उपकरण भी ग्रहण करते हैं, जिससे चारित्र की हानि न हो। योग्य होने पर पुस्तकदान भी स्वीकार करते हैं। समुदाय में विहार, यथाशक्ति धर्मप्रभावना, भव्यजीवों को धर्मोपदेश, शिष्यों का पालन और ग्रहण स्थविरकल्पिकों का आचार है। यद्यपि संहनन तुच्छ, काल दुःषम और मन चपल है, तथापि धीरपुरुष उत्साहपूर्वक महाव्रतों का पालन करते हैं।” (श्र. भ. म./पृ. २८८-२८९ से उद्धृत)।

३.३. श्वेताम्बरमान्य जिनकल्प और स्थविरकल्प दोनों सचेत

किन्तु श्वेताम्बरग्रन्थों में जिनकल्पिक और स्थविरकल्पिक मुनियों के जो लिंग प्ररूपित किये गये हैं, वे दोनों सचेत हैं। सर्वोच्च जिनकल्पिक को भी कम से कम मुखवस्त्रिका और ऊननिर्मित रजोहरण धारण करना अनिवार्य बतलाया गया है। यह निम्नलिखित प्रमाणों से सिद्ध है—

३.३.१. जिनकल्पी भौ सचेत और अनग्न—हेमचन्द्रसूरि ने विशेषावश्यक-भाष्य की “जिणकण्णियादओ पुण सोवहओ सव्वकालमेगंतो” (२५८४) इस गाथा की उत्थानिका में कहा है कि जिनकल्पिक सदा सचेत होते हैं—“जिनकल्पिकादयस्तु सदैव सचेतकाः।” जिनकल्पिकों और स्थविरकल्पिकों के सचेतत्व पर श्वेताम्बर मुनि उपाध्याय धर्मसागर जी (१५७२ ई०) ने प्रवचनपरीक्षा नामक ग्रन्थ में विस्तार से प्रकाश डाला है। वह इस प्रकार है—

“ये तु जिनकल्पिकास्ते द्विविधा—लब्धिमन्तोऽलब्धिमन्तश्च। तत्र लब्धिरपि कर्मणां क्षयोपशमवैचित्र्यवशात् केषाञ्चित् पात्रविषया केषाञ्चिद्वस्त्रविषया केषञ्चिदुभयविषयाऽपि। तत्रापि येषां पात्रविषया तैः पाणिपात्रतयैव भवितव्यं, पाणिनैवाशनादावाह्नीयमाणे न कापि संयमविराधना, नापि प्रवचनजुगुप्सा, प्रत्युत प्रवचनप्रभावना, सा च लब्धिरेवं

माइज्ज घडसहस्सा अहवा मार्यति सागरा सव्वे।

एआरिसलद्धीओ सो पाणिपडिग्गही होइ॥ ति

ते च वस्त्राणि बिभ्रति, तद्विषयकलब्ध्यभावात्। तत्रापि सामर्थ्यानुसारेण कश्चिदेकं कल्पं कश्चिद् द्वौ कश्चित्त्रीन् कल्पान् बिभर्ति। तेषां च क्रमेण रजोहरण-मुखवास्त्रिकोपेतानि त्रीणि चत्वारि पञ्च वोपकरणानि भवन्ति। एवं वस्त्रानावृता अपि ये नग्ना न दृश्यन्ते ते वस्त्रविषयकलब्धिमन्तः, वस्त्रजन्यकार्यविषयकलब्धिभाज इत्यर्थः। तेषां वस्त्रकार्यस्य लब्ध्यैव कृतत्वाद्ब्रह्मभावः। न हि कश्चिदप्यादित्योद्योतिते वस्तुनि प्रदीपमपेक्षते, प्रदीप-कार्यस्य सूर्येणैव कृतत्वात्। तत्रापि शीतादिसहन-सामर्थ्यमपेक्षणीयं, पात्राणि च बिभ्रति तद्विषयकलब्ध्यभावात्। तेषां चोपकरणानि नवैव भवन्ति, नियतसप्तसंख्याकेषु पात्रनियो-गोपकरणेषु विकल्पाभावात्। ये तु वस्त्रपात्रोभयविषयकलब्धिमन्तो न ते पात्रं न वा वस्त्राणि बिभ्रति, द्वयोरपि प्रयोजनाभावाद् उभयजन्यस्यापि कार्यस्य लब्ध्यैव कृतत्वात्। तेषामुपकरणे रजोहरण-मुखवस्त्रिकालक्षणे भवतः। ये त्वलब्धिभाजस्तैरवश्यं वस्त्रपात्राद्युपकरणं धर्तव्यमेव, यदुक्तं—‘निरतिशयिना वस्त्रपात्रादिकमन्तरेण चरणस्य प्रसाधयितुमशक्यत्वाद्’ इति श्रीधर्मसंग्रहणीवृत्तौ २२६ पत्रात्मके पुस्तके १९२ पत्रे, तेषां च मध्ये सामर्थ्यानुसारेण कश्चिदेकं कल्पं धरति तस्य दशोपकरणानि। यस्तु द्वौ कल्पौ बिभर्ति तस्यैकादश। यस्य कल्पत्रयं तस्य द्वादशोपकरणानि भवन्ति, यदुक्तं—

पत्त-पत्ताबंधो पायट्टवणं च पायकेसरिआ।
पडलाइं रयत्ताणं गुच्छगओ पायनिज्जोगो ॥

‘पायनिज्जोगु’ ति पात्रपरिकरः।

तिन्नेव य पच्छागा रयहरणं चेव होइ मुहपत्ती।
एसो दुवालसविहो उवही जिणकप्पिआणं तु ॥

‘पच्छाग’ ति प्रच्छादकाः कल्पाः, द्वौ सौत्रौ एकस्त्वौर्णिक इति त्रयः कल्पाः।
एवमुपकरणभेदैरष्टौ विकल्पा जिनकल्पे भवन्ति। यदुक्तं—

दुग तिग चउक्क पणगं नव दस इक्कारसेव बारसगं।
एए अट्ट विगप्पा जिणकप्पे हुंति उवहिस्स ॥
पुत्तीरयहरणेहिं दुविहो तिविहो अ इक्ककप्पजुओ।
चउहा कप्पदुगेणं कप्पतिगेणं तु पंचविहो ॥
दुविहो तिविहो चउहा पंचविहोविहु सपायनिज्जोगो।
जायइ नवहा दसहा इक्कारसहा दुवालसहा ॥

इति (पञ्चवस्तु०/७७२/३/४)।

एवंविधो हि जिनकल्पः सम्प्रति व्युच्छिन्नः। यत्कालोत्पन्नः सिद्ध्यति तत्कालोत्पन्न
एव जिनकल्पं प्रतिपद्यन्ते, नान्यः, सम्प्रति तथास्वरूपाभावात्। सम्प्रत्येकः स्थविरकल्प
एव। तद्वान् पुनर्जन्मन्यतोऽपि चतुर्दशोपकरणवानेव। तानि चोपकरणानि द्वादश जिनकल्पो-
कान्येव, मात्रकं चोलपट्टकश्चेति चतुर्दश। यदुक्तं—

एए चेव दुवालस मत्तग अइदेग चोलपट्टे उ।

एसो चउदसरूवो उवही पुण थेरकप्पंमि ॥ इति (पं० ७७९)।

तत्र मात्रकं सर्वयतिसाधरणवस्तुग्रहणयोग्यः पात्रविशेषः। स्थविरकल्पे उत्कृष्ट-
पदिकोपकरणचिन्तायां तु शीताद्यसहिष्णून् तपस्विबालग्लानादीन् प्रतीत्य यावत् संयम-
निर्वाहहेतुर्द्विगुणोऽप्यधिको वा उपधिः श्रीनिशीथचूर्ण्याद्यागमोक्तोऽवगन्तव्यः। एवमुक्त-
प्रकारेण जिनकल्पिकाः स्थविरकल्पिकाश्चेत्युभयेऽपि प्रागुक्तगुणहेतवे वस्त्राणि बिभ्रति।
अन्यथा प्रवचनखिंसादयः स्त्रीजनस्यात्मनश्च मोहोदयादयो बहवो दोषाः स्युः।” (प्रव.परी/
वृत्ति./१/२/३१/ पृ. ९३-९५)।

अनुवाद

“जिनकल्पिक साधु दो प्रकार के होते हैं : लब्धिमान् और अलब्धिमान्। लब्धि
भी कर्मों की विचित्रता के अधीन होती है, अतः किसी को केवल पात्रविषयक लब्धि

प्राप्त होती है, किसी को वस्त्रविषयक और किसी को उभयविषयक। पात्रविषयक लब्धिवाले पाणिपात्री होते हैं। पाणिपात्र में ही आहारादि लाने पर उनसे किसी भी प्रकार की संयमविराधना नहीं होती, न ही जिनशासन का तिरस्कार होता है, प्रत्युत प्रभावना होती है। उस लब्धि का स्वरूप ऐसा है कि जिसे वह प्राप्त होती है, उसकी पाणि में हजारों घड़े जल अथवा समस्त सागर समा जाते हैं। पात्रलब्धिवाले वस्त्रधारण करते हैं, क्योंकि उनके पास वस्त्रलब्धि नहीं होती। वस्त्रों में अपने सामर्थ्यानुसार कोई एक कल्प (चादर), कोई दो कल्प और कोई तीन कल्प (दो चादर और एक कम्बल) रखता है, जिससे किसी के पास रजोहरण और मुखवस्त्रिका सहित तीन, किसी के पास चार और किसी के पास पाँच उपकरण हो जाते हैं। इसीप्रकार जो वस्त्र से आच्छादित न होने पर भी नग्न नहीं दिखते, वे वस्त्रलब्धियुक्त होते हैं, अर्थात् वस्त्र का कार्य करनेवाली लब्धि उनके पास होती है। वस्त्र का कार्य लब्धि से ही सम्पन्न हो जाने के कारण उन्हें वस्त्र की आवश्यकता नहीं होती, जैसे सूर्य से वस्तुएँ दिखाई देने पर किसी को दीपक की जरूरत नहीं होती। वस्त्रलब्धिवाले में शीतादि के सहन का सामर्थ्य भी आ जाता है, किन्तु उसे पात्र धारण करना पड़ता है, क्योंकि वह पात्रविषयकलब्धि से रहित होता है। वस्त्रलब्धियुक्त, किन्तु पात्रलब्धिरहित साधुओं के पास नौ ही उपकरण होते हैं, क्योंकि सात प्रकार का पात्र-परिकर उनमें से सभी के लिए अनिवार्य है। किन्तु जिनके पास वस्त्र और पात्र दोनों से सम्बन्धित लब्धियाँ होती हैं, वे न पात्र ग्रहण करते हैं, न वस्त्र, क्योंकि उनका दोनों से प्रयोजन नहीं होता। उनके वस्त्र और पात्र दोनों से होने वाले कार्य लब्धि से ही सिद्ध हो जाते हैं। उनके उपकरण दो ही होते हैं : रजोहरण और मुखवस्त्रिका।

“जो लब्धिमान् नहीं होते, उन्हें वस्त्रपात्रादि उपकरण धारण करना अनिवार्य है, जैसा कि २२६ पृष्ठोंवाली ‘धर्मसंग्रहणीवृत्ति’ में १९२वें पृष्ठ पर कहा गया है—“अतिशय-रहित साधु के लिए वस्त्रपात्रादि के बिना चारित्र की साधना संभव नहीं है।” उनमें से सामर्थ्यानुसार कोई एक चादर रखता है, तो उसके दस उपकरण हो जाते हैं। जो दो चादर रखता है उसके ग्यारह उपकरण होते हैं और तीन चादर (दो सूती और एक ऊनी) रखनेवाला बारह उपकरणों का धारक होता है। ऐसा ही निम्नलिखित गाथाओं में कहा गया है—

“पात्र, पात्रबन्ध, पात्रस्थापन, पात्रकेसरिका (पात्रप्रमार्जनिका) पटल, रजस्त्राण और गुच्छक, यह पात्रनियोग है।” पात्रनियोग का अर्थ है पात्रपरिकर।

“इनके अतिरिक्त तीन प्रच्छादक (कल्प), रजोहरण और मुखपट्टिका इनको मिलाकर कुल बारह उपकरण जिनकल्पिकों के होते हैं।”

“प्रच्छादक का अर्थ है कल्प, दो सूती और एक ऊनी, इस तरह उनकी संख्या तीन है। इस प्रकार उपकरणभेद से जिनकल्पी साधुओं के आठ भेद होते हैं, जैसा कि कहा गया है—

“जिनकल्प में उपधि के आठ विकल्प होते हैं : दो, तीन, चार, पाँच, नौ, दस, ग्यारह और बारह। किसी जिनकल्पी के पास मुखपट्टिका और रजोहरण, केवल ये दो उपकरण होते हैं, किसी के पास इनके अतिरिक्त एक कल्प होने पर तीन उपकरण होते हैं। किसी के पास उनके साथ दो कल्प होने पर चार उपकरण हो जाते हैं। जिसके पास मुखपट्टिका और रजोहरण के अतिरिक्त तीन कल्प होते हैं, वह पाँच उपकरणोंवाला होता है। इन दो, तीन, चार और पाँच उपकरणवालों के साथ सात-सात प्रकार का पात्रनिर्योग होने पर जिनकल्पी साधु क्रमशः नौ, दस, ग्यारह और बारह उपकरणवाले हो जाते हैं। इस तरह उपकरणभेद से जिनकल्पी साधु आठ प्रकार के होते हैं, ऐसा पञ्चवस्तु में कहा गया है।

“इस प्रकार का जिनकल्प वर्तमान में व्युच्छिन्न हो गया है। जिस काल में उत्पन्न होने पर सिद्धि (मुक्ति) प्राप्त होती है, उसी काल में उत्पन्न होनेवाला जिनकल्प धारण कर सकता है, दूसरा नहीं। वर्तमानकाल ऐसा नहीं है, इसलिए इसमें जिनकल्प धारण करना संभव नहीं है। इस समय केवल स्थविरकल्प ही प्रवर्तमान है। उसे धारण करनेवाले के कम से कम चौदह उपकरण होते हैं। उनमें बारह तो वे ही हैं, जो जिनकल्पियों के हैं। मात्रक (एक प्रकार का पात्र) और चोलपट्टक ये दो उनके अतिरिक्त उपकरण हैं। यही बात ‘पञ्चवस्तु’ की ‘एए चेव’ इत्यादि गाथा में कही गई है।

“मात्रक एक ऐसा पात्रविशेष है, जिसमें सभी प्रकार के यतियों के योग्य वस्तु लायी जा सकती है। स्थविरकल्प में शीतादि न सह सकनेवाले बाल, वृद्ध, ग्लान आदि साधुओं के संयमनिर्वाह हेतु दुगुने अथवा उससे भी अधिक उपकरणों की अनुमति निशीथचूर्णि आदि आगमों में दी गई है। इस प्रकार जिनकल्पिक और स्थविरकल्पिक दोनों पूर्वोक्त गुणों (लोकमर्यादा का पालन, लज्जा तथा ब्रह्मचर्य की रक्षा, शीतातपदंश-मशकजन्य पीड़ाओं के निरोध द्वारा सद्ग्रहण की प्राप्ति, जैनसंघ की निन्दा का परिहार, स्त्रियों में कामविकारोत्पत्ति का निवारण एवं जीवहिंसा की निवृत्ति)^{६२} की सिद्धि के

६२. लोआणुवत्तिधम्मो लज्जा तह बंधचेररक्खा य।

सीआतवदंस-मसगपीडारहिअस्स सज्झाणं ॥ ३० ॥

पवयणखिंसा परवग्गमोहुदयवारणं च वत्थेहिं।

तसथावराणजयणा पत्तेहिं तहेव विण्णेया ॥ ३१ ॥ प्रवचनपरीक्षा / १ / २ / पृ. ९१-९२।

लिए वस्त्र धारण करते हैं। अन्यथा जैनसंघ की निन्दा, स्त्रियों तथा स्वयं में कामविकार की उत्पत्ति आदि अनेक दोष उत्पन्न हो सकते हैं।”

विशेषावश्यकभाष्य के वृत्तिकार श्री हेमचन्द्रसूरि (११६४ ई०) ने भी जिनकल्पियों के लब्धिमान् और अलब्धिमान् दो भेद बतलाये हैं और कहा है कि यदि पात्रलब्धिमान् जिनकल्पिक भी पात्र रखता है, तो वह अलब्धिमान् रुग्ण-वृद्ध जिनकल्पिक को पात्र में आहार लाकर दे सकता है। इससे दयाधर्म का पालन होता है और परस्पर समता एवं स्वास्थ्य भी तुल्य रहता है—

“एवं च पात्रे परिग्रहे सति लब्धिमतामलब्धिमतां च शक्तानामशक्तानां च, वास्त-व्यानां प्राधूर्णकानां च सर्वेषामपि साधूनां परस्परं समता स्वास्थ्यं च तुल्यता भवति। पात्रे हि सति लब्धिमान् भक्तपानादिकं समानीयालब्धिमते ददाति।” (हेम. वृत्ति/विशे. भा./ २५७९)।

इस प्रकार श्वेताम्बरसाहित्य में जिन साधुओं को जिनकल्पिक कहा गया है, वे भी सचेत और अनग्न ही होते थे। जो जिनकल्पिक केवल मुखवस्त्रिका और ऊननिर्मित रजोहरण धारण करते थे, उनकी नग्नता वस्त्रलब्धि से आच्छादित हो जाती थी, अतः वे मुखवस्त्रिका और रजोहरण रखने के कारण सचेत भी होते थे और अनग्न भी। तथा जिन जिनकल्पिकों के पास वस्त्रलब्धि नहीं होती थी, वे एक, दो या तीन कल्प (चादर) रखते थे। उनमें से एक को भी कन्धे पर लटका लेने या ओढ़ लेने से गुह्यांग ढँक जाता था। इस प्रकार वे भी सचेत और अनग्न रहते थे। यह कल्पना नहीं की जा सकती कि वे चादर ओढ़ते हुए या कन्धे पर लटकाकर रखते हुए भी अपने गुह्यांग को खुला रखते होंगे, क्योंकि इससे यह सिद्ध होगा कि वे अपरिग्रह को धर्म नहीं मानते थे, अपितु गुह्यांग के प्रदर्शन को धर्म मानते थे, जो धर्म तो किसी भी प्रकार हो ही नहीं सकता था, एक अश्लील कृत्य ही हो सकता था। प्रवचनपरीक्षाकार ने दिग्म्बरों की नग्नता को लक्ष्य करके इसे भण्डिकचेष्टा कहा है और वेश्याओं के ही समक्ष करना उचित बतलाया है, कुलस्त्रियों के समक्ष नहीं।^{६३}

दिग्म्बरमुनि तो शरीर पर एक धागा भी रखने को परिग्रह मानते हैं, इसलिए अपरिग्रहमहाव्रत के पालनार्थ वे सर्वथा अचेत रहते हैं। इस कारण उनका गुह्यांग अनभिप्रायपूर्वक खुला रहता है, किन्तु जो मुनि चादर रखते हुए भी उसे खुला रखे,

६३. “किं च नग्नस्य ते वेश्यादिजनोपान्त एवोपवेशनादिकं युक्तं, भण्डिकचेष्टायाः तत्रैव युक्तत्वात् न पुनः कुलस्त्रीमध्येऽवाच्यं दर्शयतस्तवावस्थानं युक्तं लोके तव तासां चातिनिन्दनीयत्वात्।” प्रवचनपरीक्षा/वृत्ति १/२/३१/पृ.९५।

उसके कृत्य को तो साभिप्राय ही मानना होगा। और तब प्रवचनपरीक्षाकार का भण्डकचेष्टा का आरोप उस पर शतशः चरितार्थ होगा।

अतः यह कल्पना नहीं की जा सकती कि जिनकल्पी साधु कल्पधारण करते हुए भी गुह्यांग को खुला रखते होंगे। वे निश्चय ही कल्प को शरीर पर इस प्रकार डालते होंगे, जिससे गुह्यांग छिप जाता होगा। प्रवचनपरीक्षाकार ने भी कहा है कि जिनकल्पियों के कल्प रखने का उद्देश्य शीतादि निवारण के अतिरिक्त नग्नता को छिपाना भी है, जिससे जिनशासन का उपहास एवं स्त्रियों में कामविकार की उत्पत्ति न हो सके। यह उनके पूर्वोक्त निम्नलिखित वचनों से प्रकट है—

“एवमुक्तप्रकारेण जिनकल्पिकाः स्थविरकल्पिकाश्चेत्युभयेऽपि प्रागुक्तगुण-
हेतवे वस्त्राणि बिभ्रति। अन्यथा प्रवचनखिंसादयः स्त्रीजनस्यात्मनश्च मोहोदयादयो
बहवो दोषाः स्युः।” (प्रव.परी./वृत्ति/१/२/३१/पृ.९५)।

प्रवचनपरीक्षाकार ने तो दिगम्बरों पर आक्षेप करते हुए यहाँ तक कहा है कि भले ही शीतादिपरीषद सहन करने के लिए वस्त्र त्याग दिया जाय, किन्तु अत्यन्त अवाच्य (नाम न लेने योग्य) अवयव पुरुषचिह्न को छिपाने के लिए तो वस्त्र-धारण करना ही चाहिए—

“अथ शीतादिसहनार्थं वस्त्रं परिह्रियते इति चेत् परिह्रियतां नाम तदर्थं, परमा-
वाच्यावयवगोपननिमित्तं तु धर्त्तव्यमेव।” (प्रव.परी./वृत्ति/१/२/३१/पृ.९५)

इससे यह बात अच्छी तरह स्पष्ट हो जाती है कि जिनकल्पिक साधुओं के कल्प धारण करने का प्रयोजन मुख्यतः गुह्यांग को छिपाना ही था।

इस प्रकार जब जिनकल्पी भी सचेत और अनग्न होते थे, तब यह दावा मिथ्या सिद्ध हो जाता है कि जिनकल्प और स्थविरकल्पवाली निर्ग्रन्थपरम्परा सचेलाचेल थी, वस्तुतः वह केवल सचेत थी।

३.३.२. श्वेताम्बर-जिनकल्पिकों का नग्न रहना असंभव—‘प्रवचनपरीक्षा’ के उपर्युक्त वचनों से सिद्ध है कि श्वेताम्बरमत में नग्नता को अश्लील तथा स्त्रियों में कामविकारजनक माना गया है। इसलिए श्वेताम्बर जिनकल्पिकों का नग्न रहना संभव नहीं था। यही कारण है कि वस्त्रलब्धियुक्त जिनकल्पिकों की नग्नता को वस्त्रलब्धि से आच्छादित माना गया है। तथा जो वस्त्रलब्धिरहित हैं उनके लिए एक से लेकर तीन तक कल्प रखने का विधान किया गया है, ताकि उनकी नग्नता कल्प से आच्छादित रहे। यहाँ तक कि तीर्थकरों के भी गुह्यांग का प्रकट होना अश्लील एवं कामविकारोत्पादक माना गया है, इसीलिए श्वेताम्बरग्रंथों में यह कल्पना की गयी है कि उनका गुह्यांग

उनके शुभप्रभामंडल से आच्छादित रहता है। (देखिए, पंचम अध्याय : पुरातत्व में दिगम्बरपरम्परा के प्रमाण)।

इस प्रकार श्वेताम्बर जिनकल्पी और स्थविरकल्पी साधुओं में अन्तर मात्र यह माना गया है कि जिनकल्पी ऋद्धिलब्ध-देहावरणधारी या कटिवस्त्ररहित-वस्त्रपात्रधारी होते थे और स्थविरकल्पी कटिवस्त्रसहित-वस्त्रपात्रधारी।

३.३.३. श्वेताम्बर-जिनकल्पिकों का नग्नत्व औचित्यविहीन—जिनकल्पिकों का नग्न रहना औचित्यविहीन भी था, क्योंकि जब वस्त्रधारण करने से भी मुक्ति हो सकती है, तब नग्न रहने का क्या औचित्य है? यह तो निष्प्रयोजन कष्ट सहना है। श्वेताम्बरमुनि उपाध्याय धर्मसागर जी ने यह बात स्वयं स्वीकार की है। वे बोटिक शिवभूति के द्वारा स्त्रीमुक्ति का निषेध किये जाने पर टिप्पणी करते हुए कहते हैं—

“अथ यदा शिवभूतिना नग्नभावोऽभ्युपगतस्तदानीमुत्तरानाम्प्याः स्वभगिन्या वस्त्र-परिधानमनुज्ञातम्। एवं च सति यदि स्त्रीणां मुक्तिं प्ररूपयति तदा सवस्त्र-निर्वस्त्रयोरविशेषापत्या स्वकीयनग्नभावस्य केवलं क्लेशतैवापद्येतेति विचिन्त्य स्त्रीणां मुक्तिर्निषिद्धा।” (प्रव.परी/ वृत्ति/१/२/१८/ पृ.८२)।

अनुवाद—“जिस समय शिवभूति ने नग्नता (दिगम्बरवेश) स्वीकार की, उस समय उसने उत्तरा नाम की अपनी बहिन के लिए वस्त्र पहनने की आज्ञा दी। अब यदि वह स्त्रियों के लिए मुक्ति का प्ररूपण करता है, तो सवस्त्र और निर्वस्त्र दोनों को मुक्ति संभव हो जाने से स्वयं का नग्न रहना केवल क्लेश का ही कारण सिद्ध होगा, ऐसा सोचकर उसने स्त्रियों के लिए मुक्ति का निषेध कर दिया।

इस तरह जिनकल्पिकों के नग्न रहने का औचित्य भी घटित नहीं होता। अतः उनका शरीर लौकिक वस्त्र या अलौकिक वस्त्र से आच्छादित ही बतलाया गया है।

३.३.४. वस्त्रलब्धिमान् जिनकल्पिक नाममात्र से अचेल—हेमचन्द्रसूरि ने विशेषावश्यक भाष्य के अनुसार सभी जिनकल्पिक साधुओं को सचेल बतलाया है। उन्होंने तीर्थकरों को भी मुखवस्त्रिका और रजोहरण धारण न करते हुए भी^{६४} कन्धे पर देवदूष्य वस्त्र डालकर प्रव्रजित होने के कारण सचेल ही कहा है।^{६५} किन्तु ६४. “येन कारणेन तीर्थकृतां वस्त्राद्यनुपयोगः तेन कारणेनार्हन् स्वलिङ्गपरलिङ्गगृहस्थलिङ्गै रहितः स्यात्। तत्र स्वलिङ्गं रजोहरणादि, परलिङ्गमन्यतीर्थकलिङ्गं पिच्छिकादिकं, गृहस्थलिङ्गं तु प्रतीतमेव।” प्रवचनपरीक्षा/ वृत्ति/१/२/११/पृ.७८।

६५. “यद्यपि तत्संयमस्यानुपकारि वस्त्रं, तथापि सवस्त्रमेव तीर्थं 'सवस्त्रा एव साधवस्तीर्थं चिरं भविष्यन्ति' इत्यस्यार्थस्योपदेशनं ज्ञापनं तदर्थं गृहीतैकवस्त्राः सर्वेऽपि तीर्थकृतोऽभिनिष्क्रामन्तीति। तस्मिंश्च वस्त्रे च्युते क्वापि पतितेऽचेलका वस्त्ररहितास्ते भविन्त, न पुनः सर्वदा।” हेमचन्द्रसूरिकृत वृत्ति/ विशेषावश्यकभाष्य/ गा.२५८१-८३।

प्रवचनपरीक्षाकार ने वस्त्रपात्र-लब्धिमान् जिनकल्पिकों को मुखवस्त्रिका-रजोहरणधारी होते हुए भी मुख्यावृत्या अचेल बतलाया है।^{६६}

इसका कारण यह है कि वस्त्रलब्धिमान् जिनकल्पी साधुओं की नग्नता अलौकिक वस्त्र से ही आच्छादित रहती थी, अतः उन्हें लौकिक वस्त्र धारण करना आवश्यक नहीं होता था। मात्र इस बहाने उन्हें अचेल या नग्न कहा गया है। किन्तु उनका शरीर यथाजातरूप से अचेल नहीं होता था, अतः वे यथार्थतः नहीं, अपितु नाममात्र से अचेल होते थे। इस प्रकार शब्दछल के द्वारा श्वेताम्बरपरम्परा में अचेल या नग्न साधुवर्ग का अस्तित्व सिद्ध करने की चेष्टा की गई है।

इन तथ्यों से सिद्ध है कि श्वेताम्बरमतोक्त जिनकल्प और स्थविरकल्प दोनों सचेल हैं।

३.४. आचारांगवर्णित अचेलत्व अव्यवहृत

आचारांग में कहा गया है कि यदि शीतादि-परीषह सहन करने की शक्ति हो और लज्जा को भी जीत लिया जाय, तो सर्वथा अचेल रहना चाहिए अर्थात् न कटिवस्त्र धारण करना चाहिए, न कल्प (चादर या कम्बल)। (देखिए, अध्याय ३/प्रकरण १/शीर्षक ६, ७)। अचेलत्व का यह स्वरूप दिग्म्बर-परम्परा-सम्मत है, जिसे आचारांग में स्वीकृति प्रदान कर भगवान् महावीर की मूल परम्परा सूचित की गयी है, किन्तु श्वेताम्बरसंघ में वह आचरण का अंग कभी नहीं बना। वृत्तिकार शीलाङ्गाचार्य ने इसे जिनकल्पिकों का आचरण कहकर व्युच्छिन्न घोषित किया भी है। श्वेताम्बराचार्य श्री हस्तीमल जी लिखते हैं—“गणिपिटक के पाँचवें अंग व्याख्याप्रज्ञप्ति (भगवतीसूत्र) में भगवान् महावीर के प्रमुख शिष्य गणधर गौतमस्वामी के वस्त्र, पात्र, मुखवस्त्रिका आदि धर्मोपकरणों का स्पष्ट उल्लेख विद्यमान है।” (जै.ध.मौ.इ./ भा.३/पृ.२०६)।

इसकी पुष्टि 'प्रवचनपरीक्षा' की वृत्ति के निम्नलिखित वाक्य से होती है—

“अर्हतः संयमयोगेषूपकारी वस्त्रपात्रादिर्न भवति। इतरेषां सुधर्मादिसाधूनां भवति। तेन तीर्थकृता सह साम्यं न साधोरिति।” (प्रव.परी./वृत्ति/१/२/१०/पृ.७८)।

६६. “इहाचेलक्यं द्विधा मुख्यमौपचारिकं च। तत्र मुख्यं तीर्थकृतां कस्यचिज्जिनकल्पिकस्य च। ---जिनकल्पिकस्य तु कस्यचित्तथाविधलब्धिमतो जिनकल्पप्रतिपत्तेः रजोहरण-मुखवस्त्रिकातिरिक्तोप-करणाभावात् सर्वथा वस्त्राभावादेवाचेलकत्वं मुख्यमेव। उक्तशेषसाधूनां तूपचरितं, यतस्ते परिशुद्धजीर्णादिवस्त्रं मूर्च्छादिराहित्येन परिभुञ्जानाः सत्यपि वस्त्रेऽचेला एव भण्यन्ते।” प्रवचनपरीक्षा/वृत्ति/१/२/६/पृ.७५।

अनुवाद—“वस्त्रपात्रादि तीर्थकरों के संयम, योग आदि में उपकारी नहीं होते, किन्तु सुधर्मादि साधुओं के संयमादि में उपकारी होते हैं, अतः तीर्थकरों के साथ साधुओं की समानता नहीं होती।”

श्वेताम्बर साध्वी श्री संघमित्रा जी के अनुसार “भगवान् महावीर की परम्परा आचार्य सुधर्मा से प्रारंभ होती है। दिगम्बर-परम्परा में यह श्रेय गणधर इन्द्रभूति गौतम को है। सुधर्मा की जैनसंघ को सबसे महत्त्वपूर्ण देन द्वादशाङ्गी की रचना है।” (जैनधर्म के प्रभावक आचार्य/पृ.७)। इससे संकेत मिलता है कि जब गौतम, सुधर्मा जैसे प्रथम-संहननधारी एवं द्वादशांगधर गणधरों ने आचारांगवर्णित अचेलत्व को अंगीकार नहीं किया, तब अन्यो के द्वारा किये जाने का तो प्रश्न ही नहीं उठता। इससे स्पष्ट है कि श्वेताम्बरपरम्परा में आचारांगवर्णित अचेलत्व का किसी भी मुनि के द्वारा आचरण नहीं किया गया। इसका कारण अत्यन्त तर्कसंगत था। भले ही आचारांग में अचेलत्व को श्रेष्ठ कहा गया हो (देखिए, तृतीय अध्याय), किन्तु जब सचेलत्व को भी मुक्ति का मार्ग बतलाया गया हो, तब अचेलत्व की श्रेष्ठता तर्क की कसौटी पर खरी नहीं उतरती। सरल और सुखकर मार्ग से कार्य की सिद्धि संभव होने पर कठिन और क्लेशकारक मार्ग को अपनाना औचित्यपूर्ण (तर्कसंगत) सिद्ध नहीं होता। वह मानवबुद्धि और स्वभाव के विपरीत है। अतः आचारांग में भगवान् महावीर के अचेलकर्म को स्थान देकर भी सचेलत्व का विकल्प साथ में रख देने से वह अनुपयोगी और अग्राह्य बन गया। इसलिए वह सचेलमुक्ति माननेवालों में कभी व्यवहृत नहीं हुआ। आचारांग में उसे वैकल्पिकरूप से स्थान दिये जाने के दो महत्त्वपूर्ण कारण थे—१. लोक में यह सुप्रसिद्ध था कि तीर्थकर महावीर ने मोक्ष के लिए अचेलत्व को अंगीकार किया था और मोक्षार्थियों को भी उसी के अंगीकरण का उपदेश दिया था, इसलिए अचेलत्व को अमान्य करना संभव नहीं था, तथा २. अचेलत्व को आगमों में स्थान देने से तीर्थकर महावीर के अनुयायी होने का प्रमाणपत्र मिलना भी संभव था। इन दो कारणों से वर्तमान आचारांग आदि आगमों में अचेलत्व के उपदेश को स्थान दिया गया, किन्तु वैकल्पिक सचेलमार्ग का समावेश कर तथा अचेलत्व (जिनकल्प) के विच्छेद की घोषणा कर उसे निष्प्राण एवं निरर्थक बना दिया गया।

३.५. जिनकल्प के व्युच्छेद की घोषणा

इस प्रकार श्वेताम्बर-सम्मत जिनकल्प प्रथम तो अचेल था ही नहीं, दूसरे, श्वेताम्बरग्रन्थों में कहा गया है कि अन्तिम केवली जम्बूस्वामी के निर्वाण के पश्चात् वह व्युच्छिन्न हो गया, अर्थात् उसकी प्रवृत्ति बन्द हो गई, क्योंकि उसे धारण करने के लिए अनेक अतिशयों (विशेष योग्यताओं) की आवश्यकता होती है, जैसे उत्तमधृति,

प्रथमसंहनन, पूर्ववेदित्व आदि।^{६७} जम्बूस्वामी के निर्वाण के बाद पंचम काल के प्रभाव से मनुष्यों में इन अतिशयों की उत्पत्ति का अभाव हो गया। अतः जिनकल्प धारण करने की योग्यता भी समाप्त हो गई। इसे प्रमाणित करने के लिए जिनभद्रगणि-क्षमाश्रमण ने विशेषावश्यक-भाष्य में निम्नलिखित गाथा रचकर इसे तीर्थकरवचन के रूप में निर्दिष्ट किया है—

मण-परमोहि-पुलाए-आहारग-खवग-उवसमे कप्पे।

संजमतिय-केवलि-सिञ्जणा य जंबुमि बुच्छिण्णा॥ २५९३॥

अनुवाद—“मनःपर्ययज्ञान, परमावधिज्ञान, पुलाकलब्धि, आहारकशरीर, क्षपकश्रेणी, उपशमश्रेणी, जिनकल्प, परिहारविशुद्धि, सूक्ष्मसाम्पराय और यथाख्यात, ये तीन संयम, केवलित्व और सिद्धि (मोक्षप्राप्ति), इन दस गुणों को प्राप्त करने की मनुष्यों की शक्ति जम्बूस्वामी के निर्वाण के बाद व्युच्छिन्न हो गयी।”

यह गाथा जिनभद्रगणी द्वारा ही रची गयी है, इसकी पुष्टि प्रवचनपरीक्षा (१/२/१५/ पृ. ७९) के निम्नलिखित वचनों से होती है—“यदुक्तं भाष्यकारेण—मण-परमोहि-पुलाए---।” (वि० २५९३)। अभिधान राजेन्द्र कोष (भाग ४/पृ.१४९०) में भी ऐसा ही उल्लेख है।

श्री जिनभद्रगणि-क्षमाश्रमण ने बोटिक शिवभूति-सम्मत जिनलिंगरूप अचेल जिनकल्प को भी उक्त गाथा के द्वारा जम्बू-स्वामी के निर्वाण के बाद व्युच्छिन्न घोषित किया है। शिवभूति जिनेन्द्रगृहीत अचेललिंग को ही मोक्षार्थियों के लिए ग्राह्य बतलाता है और स्वयं भी उसे ही ग्रहण करने के लिए कृतसंकल्प होता है, तब गुरु आर्यकृष्ण कहते हैं—

“तं जइ जिणवयणाओ पवज्जसि, पवज्ज तो स छिन्नो त्ति।” (विशे. भा./ गा. २५९२)= “--- यदि जिनवचनादर्हदुपदेशाज्जिनकल्पं प्रतिपद्यसे त्वम्, ततस्तर्हि 'स जिनकल्पो व्यवच्छिन्नः' इतीदमपि प्रतिपद्यस्व।” (वही / हेम.वृत्ति.)।

अनुवाद—“यदि तुम जिनोपदेश का अनुसरण करते हुए जिनकल्प अंगीकार करना चाहते हो, तो जिनोपदेश का ही अनुसरण करते हुए यह भी स्वीकार करो कि उसका व्युच्छेद हो गया है।”

उक्त गाथा से 'आचारांग' और 'स्थानांग' में उपदिष्ट अचेलत्व भी व्युच्छिन्न सिद्ध हो जाता है। उसे टीकाकार शीलांकाचार्य ने जिनकल्प नाम दे भी दिया है। (देखिये, आगे शीर्षक ३.८)।

६७. उत्तमधिइ-संघयणा पुव्वविदोऽतिसइणो सयाकालं।

जिणकप्पिया वि कप्पं कयपरिकम्मा पवज्जंति॥ २५९१॥ विशेषावश्यकभाष्य।

इस प्रकार उपर्युक्त गाथा से सूचित होता है कि श्वेताम्बरग्रन्थों में अचेल और सचेल, दोनों प्रकार के जिनकल्पों का उल्लेख मात्र किया गया है, उन्हें अंगीकार करने योग्य नहीं माना गया।

३.६. आर्य महागिरि का जिनकल्प दिगम्बरपरम्परा का जिनलिंग

यद्यपि श्वेताम्बरसाहित्य में ऐसा उल्लेख है कि जिनकल्प के व्युच्छिन्न होने के लगभग १२५ वर्ष बाद आर्य महागिरि ने पुनः जिनकल्प का आचरण आरंभ किया था, तथापि उसकी प्रेरणा श्वेताम्बरपरम्परा से प्राप्त नहीं हो सकती थी, क्योंकि श्वेताम्बरशास्त्रों में जम्बूस्वामी के निर्वाण के बाद से ही अचेलत्व के आचरण का विच्छेद मान लिया गया था और तभी से श्वेताम्बरपरम्परा में कोई अचेललिंगधारी मुनि नहीं हुआ। एकमात्र दिगम्बरपरम्परा में अचेललिंगधारी मुनियों का अस्तित्व था, अतः उससे ही आर्य महागिरि को अचेलकधर्म के अंगीकार की प्रेरणा मिल सकती थी। तात्पर्य यह कि आर्य महागिरि ने दिगम्बरपरम्परा (मूलसंघ) में आचरित अचेलत्व को ही अंगीकृत किया था, इसीलिए श्वेताम्बराचार्यों ने उसे जिनकल्प न कहकर जिनकल्पतुल्य-वृत्ति या जिनकल्पाभास कहा है।^{६८} इसे श्वेताम्बर-परम्परा में मान्यता प्राप्त नहीं हुई।

इस पर प्रकाश डालते हुए मुनि कल्याणविजय जी लिखते हैं—“आचार्य स्थूलभद्र के शिष्यों में से सबसे बड़े आर्य महागिरि ने पिछले समय में अपना साधुगण आर्य सुहस्ती को सौंप दिया और आप वस्त्रपात्र का त्याग कर जिनकल्पिक साधुओं का सा आचार पालने लगे। यद्यपि वे स्वयं जिनकल्पिक होने का दावा नहीं करते थे, तथापि उनका झुकाव वस्तुतः जिनकल्प की ही तरफ था।

“उस समय के सब से बड़े श्रुतधर होने के कारण आर्य महागिरि के इस आचरण का किसी ने विरोध नहीं किया, बल्कि ‘जिनकल्प की तुलना करनेवाले’

६८. क.—महागिरिर्निजं गच्छमन्यदादात्सुहस्तिने।

विहर्तुं जिनकल्पेन त्वेकोऽभून्मनसा स्वयम् ॥ ११/३ ॥

व्युच्छेदाज्जिनकल्पस्य गच्छनिश्रास्थितोऽपि हि।

जिनकल्पाहया वृत्त्या विजहार महागिरिः ॥ ११/४ ॥ परिशिष्टपर्व।

ख.—गुरुगच्छधुराधारणधोरेया धरियलद्धिणो धारी।

चिरकाले वोलीणे महागिरि चिंतए ताण ॥ २ ॥

गुस्तरनिज्जरकारी न संपयं जइ वि अत्थि जिणकप्पो।

मह तह वि तदब्भासो पणासए पुव्वपावाइं ॥ ३ ॥

उपदेशमाला / विशेषवृत्ति / पत्र ३६९।

कहकर उनके सतीर्थ आर्य सुहस्ती जैसे युगप्रधान ने उनकी प्रशंसा की, पर आगे जाते यह प्रशंसा महँगी पड़ी। आर्य महागिरि तो वीर निर्वाण संवत् २६१ में स्वर्गवासी हो गये, पर उन्होंने जो जिनकल्प का अनुकरण किया था, उसकी प्रवृत्ति बंद नहीं हुई। उनके कतिपय शिष्यों ने भी उनका अनुसरण किया। परिणामस्वरूप आर्य महागिरि और सुहस्ती सूरि के शिष्यगण में अन्तर और मनमुटाव बढ़ने लगा और अन्त में खुल्लमखुल्ला नग्नचर्या और करपात्रवृत्ति का विरोध होने लगा। महागिरि की परम्परावाले, आचाराङ्ग के अचेलकत्व-प्रतिपादक उस उल्लेख से अपनी प्रवृत्ति का समर्थन करते थे, तब विरोधपक्षवाले उस उल्लेख का अर्थ जिनकल्पिकों का आचार होना बताते थे और स्थविरों के लिये वैसा करना निषिद्ध समझते थे। वे कहते थे कि 'बिलकुल वस्त्र न रखना और हाथ में भोजन करना जिनकल्पिकों का आचार है, स्थविरकल्पिकों को उसकी तुलना भी नहीं करनी चाहिये, क्योंकि जब इस समय उत्तम संहनन न होने से जिनकल्प पाला ही नहीं जाता, तो उसका स्वाँग करने से क्या लाभ?' इस प्रकार दोनों की तना-तनी बढ़ती जाती थी। सम्भवतः आर्य महागिरि के शिष्य रोहगुप्त और प्रशिष्य आर्य गंग भी बाद में जिनकल्पिक पक्ष में मिल गये थे, जो कि तीन राशियों के और दो क्रियाओं के अनुभव की प्ररूपणा करने के अपराध में संघ से बहिष्कृत किये गये थे। यद्यपि रोहगुप्त, गांगेय वगैरह के मिल जाने के कारण वह पक्ष कुछ समय के लिए विशेष आग्रही बन गया था, पर अन्त में वह निर्बल हो गया। आर्य महागिरि के शिष्य-प्रशिष्यों के स्वर्गवास के बाद दो तीन पीढ़ी तक चल कर वह नामशेष रह गया।

“इस प्रकार आचाराङ्ग के एक उल्लेखरूप बीज से सचेलकता-अचेलकता के मतभेद का अंकुर उत्पन्न हुआ और कुछ समय के बाद मुरझा गया। यद्यपि इस तनातनी का असर स्थायी नहीं रहा, तथापि इतना जरूर हुआ कि पिछले आचार्यों के मन में आर्य महागिरि के शिष्यों के संबंध में वह श्रद्धा नहीं रही, जो वैसे श्रुतधरों के ऊपर रहनी चाहिये थी। यही कारण है कि वालभी युगप्रधान पट्टावली में आज हम महागिरि के शिष्य बलिस्सह और स्वाति जैसे बहुश्रुतों का नाम नहीं पाते।” (श्र.भ.म./पृ. २८९-२९१)।

आर्य महागिरि द्वारा प्रारंभ की गई यह जिनकल्पतुल्य नग्नपरम्परा आर्यरक्षित के समय (ई० पू० ५ से ई० सन् ५७) से बहुत पहले ही बन्द हो चुकी थी, जैसा कि मुनि कल्याणविजय जी ने लिखा है—

“आर्यरक्षित के स्वर्गवास के बाद धीरे-धीरे साधुओं का निवास बस्तियों में होने लगा और इसके साथ ही नग्नता का भी अन्त होता गया। पहले बस्ती में जाते

समय बहुधा जिस कटिबन्ध का उपयोग होता था, वह बस्ती में बसने के बाद निरन्तर होने लगा। धीरे-धीरे कटि-वस्त्र का भी आकार-प्रकार बदलता गया। पहले मात्र शरीर का अगला गुह्य अंग ही ढँकने का विशेष ख्याल रहता था, पर बाद में सम्पूर्ण नग्नता ढाँक लेने की जरूरत समझी गयी और उसके लिये वस्त्र का आकार-प्रकार भी कुछ बदलना पड़ा। फलतः उसका नाम 'कटिबन्ध' मिटकर चोलपट्टक (चुल्लपट्ट-छोटा वस्त्र) पड़ा। इस प्रकार स्थविरकल्पियों में जो पहले ऐच्छिक नग्नता का प्रचार था, उसका धीरे-धीरे अन्त हो गया। आर्य महागिरि के समय से जिनकल्प की तुलना के नाम से कतिपय साधुओं ने जो नग्न रहने की परम्परा चालू की थी, वह उस समय के बहुत पहले ही बंद हो चुकी थी।" (श्र.भ.म./ पृ.२९२)।

मुनि श्री कल्याणविजय जी ने कहा है कि आर्य महागिरि के शिष्य अपने द्वारा अंगीकृत अचेलत्व का समर्थन आचारांग के अचेलत्व-प्रतिपादक उल्लेखों से करते थे। उनका यह कथन उचित प्रतीत होता है, क्योंकि आचारांग में भगवान् महावीर-प्रणीत अचेलत्व का ही उल्लेख है, जिसका आचरण श्वेताम्बरपरम्परा ने तो असंभव मानकर त्याग दिया था, किन्तु दिगम्बरपरम्परा में प्रवर्तमान था। अतः आर्य महागिरि को उसके आचरण की प्रत्यक्ष प्रेरणा दिगम्बर साधुओं से ही प्राप्त हो सकती थी। इसलिए यह मानना अत्यन्त युक्तिमत् है कि आर्य महागिरि श्वेताम्बरपरम्परा छोड़कर दिगम्बरपरम्परा में आ गये थे। अचेलत्व के अपनाये जाने पर उनका जो विरोध, उपेक्षा और तिरस्कार हुआ, उससे इस बात की पुष्टि होती है।

अतः आर्य महागिरि द्वारा अचेलत्व के अंगीकार किये जाने से यह सिद्ध नहीं होता कि जम्बूस्वामी के निर्वाण के पश्चात् उदित हुए सचेलसंघ में वैकल्पिकरूप से अचेल-आचार प्रचलित था।

३.७. सचेल जिनकल्प कपोलकल्पित

श्वेताम्बरग्रन्थों में जिस सचेल जिनकल्प के विच्छेद की घोषणा की गयी है, वह वस्तुतः था ही नहीं, वह कपोलकल्पित है। यह निम्नलिखित हेतुओं से सिद्ध होता है—

१. भगवान् महावीर ने अचेलकर्म का उपदेश दिया था, उसमें सचेल जिनकल्प या सचेल स्थविरकल्प के लिए स्थान नहीं हो सकता।

२. श्वेताम्बर-आगम आचारांग एवं स्थानांग में मुनिधर्म के जिनकल्प और स्थविरकल्प भेद स्वीकार नहीं किये गये हैं।

३. वस्त्रलब्धिरहित जिनकल्पक साधुओं को चादर या कम्बल ओढ़नेवाला बतलाया गया है, जो तत्त्वार्थसूत्र में उपदिष्ट नाग्न्यपरीषहजय एवं शीतादिपरीषहजय के प्रतिकूल है।

४. वस्त्रलब्धिमान् साधुओं के विषय में यह माना गया है कि उनका शरीर वस्त्रलब्धिजनित अलौकिकवस्त्र से आच्छदित हो जाता है, अतः न तो उनकी नग्नता दिखाई देती है, न ही उन्हें शीतादिपरीषह होते हैं। इस तरह वस्त्रलब्धि भी उनके नाग्न्यपरीषहजय एवं शीतादिपरीषहजय में बाधक है।

५. सचेल स्थविरकल्प से मोक्षप्राप्ति ज्ञान लिये जाने पर जिनकल्प की मान्यता अयुक्तिमत् सिद्ध होती है।

६. श्वेताम्बराचार्यों ने जम्बूस्वामी के निर्वाण के बाद साधुओं के लिए वस्त्रधारण की अनिवार्यता इसलिए बतलायी है कि पंचमकाल में वज्रवृषभनाराचसंहनन उपलब्ध न होने से शीतादिपरीषहजय संभव नहीं है, न ही लज्जा और जुगुप्सा पर विजय प्राप्त की जा सकती है—“तद् वस्त्रं निरतिशयेन तथाविधधृतिसंहननादिरहितेन साधुनाऽवश्यं धारणीयम्” (हेम.वृत्ति./ विशे.भा./ गा.२६०२-३)। किन्तु जिनकल्पी साधुओं को भी इन्हीं कारणों से चादर और कम्बल (कल्प) रखने की अनुमति दी गयी है, जैसा कि प्रवचनपरीक्षाकार ने कहा है—“एवमुक्तप्रकारेण जिनकल्पिकाः स्थविरकल्पिकाश्चेत्युभयेऽपि प्रागुक्तगुणहेतवे वस्त्राणि बिभ्रति। अन्यथा प्रवचन-खिंसादयः स्त्रीजनस्यात्मनश्च मोहोदयादयो बहवो दोषाः स्युः।” (प्रव.परी./ वृत्ति./ १/ २/ ३१/ पृ.९५)। इससे सिद्ध है जिनकल्पक साधु भी स्थविरकल्पिकों के समान वज्रवृषभनाराचसंहननधारी नहीं होते थे। फिर भी उन्हें वज्रवृषभनाराचसंहननधारी बतलाया गया है, जिससे सिद्ध होता है कि श्वेताम्बरमतोक्त जिनकल्प प्रामाणिक एवं युक्तिमत् नहीं है, अपितु कपोलकल्पित है।

३.८. अचेलत्व की 'जिनकल्प' संज्ञा स्वकल्पित

श्वेताम्बर-आगम आचारंग में भगवान् महावीर द्वारा उपदिष्ट और दिगम्बरमत-सम्मत अचेलत्व को स्वीकार किया गया है। उसमें शीत से बचने के लिए कुल तीन वस्त्र ग्राह्य बतलाये गये हैं और शीत के क्रमशः कम होने पर एक-एक वस्त्र त्यागते जाने का उपदेश दिया गया है। एक वस्त्र का त्याग कर देनेवाले साधु को अवमचेल, दो का त्याग कर देनेवाले को एकशाटक और तीनों का त्याग कर नग्न हो जाने वाले साधु को अचेल कहा गया है। यथा—

“अह पुण एवं जाणिज्जा-उवाइक्कंते खलु हेपंते गिह्हे षडिबन्ने अहापरि-जुन्नाइं वत्थाइं परिट्ठविज्जा, अदुवा संतरुत्ते, अदुवा ओमचेल्ले, अदुवा एगसाडे, अदुवा अचेल्ले।” (आचारंग/१/७/४/२०९)।

और इस तरह नग्न हो जानेवाले साधु के शरीर को वस्त्रलब्धिजन्य अलौकिक वस्त्र से आच्छादित भी नहीं बतलाया गया है। इससे स्पष्ट है कि आचारांग में स्वीकृत यह अचेलत्व महावीरोपदिष्ट एवं दिगम्बरमत-सम्मत है।

आचारांग के वृत्तिकार आचार्य शीलांक (९-१०वीं शती ई०) ने अचेलत्व को जिनकल्पिक साधु का आचार बतलाया है, जिसका उदाहरण 'अचेल' शब्द की व्याख्या में मिलता है। वे 'अचेल' शब्द की व्याख्या स्थविरकल्पिक और जिनकल्पिक साधुओं के अभिप्राय से करते हैं। स्थविरकल्पिक साधु के अभिप्राय से 'अचेल' शब्द के 'नञ्' अव्यय को अल्पार्थ में ग्रहण कर अचेल शब्द का अर्थ 'अल्पचेल' करते हैं और जिनकल्पिक के अभिप्राय से उक्त अव्यय को निषेधार्थ में लेकर 'वस्त्ररहित' अर्थ प्रतिपादित करते हैं। यथा—

“अल्पार्थे नञ् , यथाऽयं पुमानज्ञः, स्वल्पज्ञान इत्यर्थः। यः साधुर्नास्य चेलं वस्त्रमस्तीत्यचेलः, अल्पचेल इत्यर्थः। --- यदि वा जिनकल्पिकाभिप्रायेणैवैतत्सूत्रं व्याख्येयं, तद्यथा—‘जे अचले’ इत्यादि, नास्य चेलं वस्त्रमस्तीत्यचेलः।” (शीलांकाचार्य-वृत्ति/आचारांग /१/६/३/१८२)।

आचार्य शीलांक का अचेलत्व (नग्नत्व) को जिनकल्पिक साधुओं का आचार बतलाना अर्थात् अचेलत्व को जिनकल्प नाम देना आचारांग के अभिप्राय के विरुद्ध है, क्योंकि आचारांग में कहीं भी श्रमणाचार के जिनकल्पिक और स्थविरकल्पिक भेद नहीं मिलते। न ही उसमें किसी को वस्त्रलब्धिसहित या वस्त्रलब्धिरहित कहा गया है, न ही यह कहा गया है कि अचेलत्व के आचरण में वही समर्थ होता है, जो वज्रवृषभनाराच-संहननधारी हो। जैसा विशेषावश्यकभाष्य में यह कहा गया है कि जो वज्रवृषभनाराचसंहननधारी नहीं होता, वह लज्जा, जुगुप्सा (लोकनिन्दाभय) और परीषहों को जीतने में सदा असमर्थ होता है, अतः उसे वस्त्र अवश्य धारण करना चाहिए (देखिये, पादटिप्पणी ८४), वैसा आचारांग में नहीं कहा गया है। उसमें तो यह कहा गया है कि जो साधु परीषह-सहन कर सकता है, किन्तु लज्जा के कारण वस्त्र त्यागने में असमर्थ है, उसे कटिवस्त्र धारण करना उचित है, किन्तु जो लज्जा, जुगुप्सा तथा परीषहों को सहन कर सकता है, उसे अचेल ही रहना चाहिए। (देखिये, अध्याय ३/प्रकरण १/शीर्षक ६,७)। तात्पर्य यह कि आचारांग में एक ही साधु को शीतादिपरीषहजय में समर्थ, किन्तु लज्जाजय में असमर्थ तथा उसी को कभी शीतादिपरीषह तथा लज्जा दोनों को जीतने में समर्थ बतलाया गया है, इससे सिद्ध है कि यह कथन वज्रवृषभनाराच-संहननधारियों के विषय में नहीं है, अपितु हीनसंहननधारियों के विषय में है, क्योंकि प्रथमसंहननधारी तो लज्जा, जुगुप्सा और परीषह तीनों को जीतने में नियम से समर्थ

होते हैं। अभिप्राय यह कि आचारांग में अचेलत्व का उपदेश न जिनकल्पिक साधुओं के लिए है, न स्थविरकल्पिकों के लिए, अपितु वह उत्तमसंहननधारियों के लिए भी है और हीनसंहननधारियों के लिए भी। अतः सिद्ध है कि आचार्य शीलांक ने अचेलत्व को जो जिनकल्प संज्ञा दी है, वह आचारांगोक्त नहीं है, अपितु स्वकल्पित है।

इन्हीं तथ्यों को ध्यान में रखते हुए अनेक विद्वानों ने अचेलत्व और सचेलत्व के आधार पर किये गये जिनकल्प और स्थविरकल्परूप भेदों को कल्पित माना है। पण्डित कैलाशचन्द्र जी सिद्धान्तशास्त्री हरिषेणकृत भद्रबाहुकथा का उल्लेख करते हुए लिखते हैं—

“उक्त कथा में एक उल्लेखनीय बात यह है कि उसमें जिनकल्प और स्थविरकल्प के भेद को पीछे से कल्पित बतलाया है^{६९} और श्वेताम्बरीय आगमिक साहित्य के अवलोकन से भी उसका समर्थन होता है। आचारांगसूत्र में तो ये दोनों भेद हैं ही नहीं, अन्य भी प्राचीन आगमों में नहीं हैं। हाँ, ‘कल्पसूत्रनिर्युक्ति’ में हैं और इसलिए उसे उसी समय की उपज कहा जा सकता है।” (जै.सा.इ./पू.पी./पृ.३८७)।

प्रसिद्ध श्वेताम्बर विद्वान् पं० बेचरदास जी ने आचारांगादि में उक्त कल्पद्वय का उल्लेखाभाव बतलाते हुए लिखा है—“वीरनिर्वाण के बाद का यह समय देश की प्रजा के लिये बड़ा ही भीषण था। मगध देश में, जहाँ वर्धमान का साम्राज्य था, दुर्भिक्ष के बादल छा गये। वीरनिर्वाण को अभी पूरे दो सौ वर्ष भी न बीतने पाये थे कि देश में भयंकर दुर्भिक्ष शुरू हो गया। बड़ी कठिनाइयों का सामना करके देश यथा-तथा उस दुर्भिक्ष को पार कर कुछ ठीक स्थिति में आ रहा था कि इतने ही में वीर निर्वाण की पाँचवीं-छठी शताब्दी में पुनः बारहवर्षीय अकाल-राक्षस ने मगध को अपने विकराल गाल में दबा लिया। यह बड़ा भयंकर अकाल था, इसमें त्यागियों का तप भी डोलायमान हो गया था, आचार्यों में महान् परिवर्तन हो गया था और अन्न के अभाव से दिन-प्रतिदिन स्मरण-शक्ति नष्ट होने लगी थी। इससे परम्परागत जो कंठस्थ विद्या चली आ रही थी, वह विस्मृत होने लगी थी। इतना ही नहीं, किन्तु उसका विशेष हिस्सा विस्मृत हो भी चुका था। शेष बचे हुए श्रुत को किसी तरह कायम रखने की भावना से दुर्भिक्ष के अन्त में मथुरा में आर्य श्रीस्कंदिलाचार्य ने विद्यमान समस्त श्रुतधरों को एकत्रित किया। उनमें जो मताग्रही, सुखशील और नरम दल के मुनि थे, वे भी आये। परन्तु इसी में मतभेद पड़ा और वह यह कि मुनियों

६९. इष्टं न यैर्गुरोर्वाक्यं संसारार्णवतारकम्।

जिन-स्थविरकल्पं च विधाय द्विविधं भुवि ॥ ६७ ॥ भद्रबाहुकथानक/बृहत्कथाकोश।

के आचार के लिये क्या लिखना चाहिए? क्या नग्नता का ही विधान किया जाय या वस्त्रपात्रता का? एक पक्ष कहता था कि नग्नता का ही विधान होना चाहिये, दूसरा पक्ष वस्त्रपात्रता के विधान की बात पर जोर दे रहा था। इस प्रकार की पारस्परिक तकरार होने पर भी दीर्घदर्शी स्कंदिलाचार्य ने और उनके बाद के उद्धारक देवर्द्धिगणी क्षमाश्रमण जी ने सूत्रों में कहीं पर भी केवल नग्नता या मात्र वस्त्रपात्रता का ही उल्लेख नहीं किया, परन्तु दोनों बातों का संघटित न्याय किया है। माथुरीवाचना के मूलनायक पुरुष और वलभीवाचना के नायक पुरुष, इन दोनों महात्माओं का मैं हृदयपूर्वक कोटिशः अभिनन्दन करता हूँ कि इन्होंने उस-उस समय के किसी तरह के वातावरण में न आकर आचारप्रधान आचारांगसूत्र में मुनियों के आचारों की संकलना करते हुए मात्र साधारणतया ही भिक्षु और भिक्षुणी के आचार बतलाये हैं। उसमें कहीं पर भी जिनकल्प या स्थविरकल्प एवं श्वेताम्बर या दिगम्बर का नाम तक भी नहीं आने दिया।” (जैनसाहित्य में विकार/ पृ. ४४)।

पं० बेचरदास जी के अन्तिम वाक्यों से प्रकट होता है कि आचारांगसूत्र में भिक्षु-भिक्षुणियों के आचारों की अन्तिम संकलना ई० सन् ४५४-४६६ में श्री देवर्द्धिगणि-क्षमाश्रमण ने वलभी में की थी। उसमें स्थविरकल्प और जिनकल्प का भेद नहीं है। इससे सिद्ध है कि श्वेताम्बर-साहित्य में उक्त दो कल्पों की कल्पना सर्वप्रथम छठी शती ई० में 'कल्पसूत्रनिर्युक्ति' में की गयी है। (जै. सा. इ/ पू. पी./ पृ. ३८७ तथा श्र. भ. म./ पृ. २८५)। और जिनकल्प के विच्छेद की कल्पना विशेषावश्यकभाष्यकार (७वीं शती ई०) ने की है।

३.९. जिनकल्प-नामकरण के प्रयोजन

अब इस जिज्ञासा का समाधान आवश्यक है कि कल्पित वस्त्रलब्धि से युक्त अर्थात् अलौकिक वस्त्र से आच्छादित साधु अचेल (नग्न) नहीं होता, किन्तु लौकिक वस्त्र धारण न करने के कारण उसे अचेल कहा गया है और उसके इस अवास्तविक अचेलत्व को जिनकल्प संज्ञा दी गयी है, इसका क्या प्रयोजन था? तथा बोटिक शिवभूति द्वारा समर्थित और धारण किया गया दिगम्बरवेश वास्तविक अचेलत्व है, किन्तु चतुर्थकाल में संभव होनेवाले तपविशेष के अभाव में वह जिनकल्प नहीं कहला सकता, फिर भी जिनभद्रगणी क्षमाश्रमण ने उसे जिनकल्प नाम दिया है, इसका भी क्या प्रयोजन था? इसके पीछे निम्नलिखित प्रयोजन थे—

१. श्वेताम्बराचार्यों ने नग्नता के दृष्टिगोचर होने को लोकानुवृत्ति (लज्जारूप लोकधर्म) के विरुद्ध एवं स्त्रियों में कामोदय का हेतु माना है, इसलिए उन्होंने यह

कल्पना की है कि तीर्थकरों का भी नग्न शरीर शुभप्रभामण्डल से^{७०} आच्छादित रहता है तथा जिनकल्पिक साधुओं की नग्नता वस्त्रलब्धि से^{७१} प्राप्त अलौकिकवस्त्र से ढँक जाती है। वस्त्रलब्धि के द्वारा नग्नत्व का आच्छादन हो जाने से लौकिकवस्त्र-परिधान की आवश्यकता नहीं होती। अतः मात्र लौकिक वस्त्र धारण न करने की अपेक्षा वस्त्रलब्धिमान् साधु को अचेल कहा गया है। इस तरह लोकानुवृत्ति आदि की श्वेताम्बरमान्यताओं को अक्षुण्ण रखते हुए श्वेताम्बर-परम्परा में भगवान् महावीर द्वारा उपदिष्ट अचेलधर्म की स्वीकृति द्योतित करना वस्त्रलब्धिमय जिनकल्प की कल्पना का अर्थात् अवास्तविक अचेलत्व को 'जिनकल्प' संज्ञा देने का प्रयोजन था।

२. दिगम्बरमत में जिनकल्प एक ऐसी उत्कृष्टचर्या का नाम है, जो वज्रवृषभनाराच-संहनन होने पर ही संभव है, किन्तु अचेलत्व के आचारण के लिए उक्त संहनन अनिवार्य नहीं है, अचेलत्व तो दिगम्बरमतोक्त हीनसंहननधारी स्थविरकल्पिक साधुओं का भी अनिवार्य धर्म है। श्वेताम्बराचार्यों ने जिनकल्प के साथ प्रथमसंहनन की अनिवार्यता को देखकर अचेलत्व को जिनकल्प नाम दे दिया, जिससे कि अचेलत्व के साथ प्रथमसंहनन की अपरिहार्यता सिद्ध हो और पंचमकाल में उसका आचरण असंभव साबित हो जाय।

३. पंचमकाल में अचेलत्व का आचरण असंभव सिद्ध हो जाने से यह स्वतः सिद्ध हो जाता है कि दिगम्बरपरम्परा द्वारा आचरित अचेलकधर्म तीर्थकरोपदिष्ट नहीं है, अतः तीर्थकर के उपदेश के विरुद्ध होने से दिगम्बरमत निहवमत (स्वकल्पित मिथ्यामत) है। इस प्रकार दिगम्बरमत को निहवमत सिद्ध करना अचेलत्व को जिनकल्प नाम देने का महत्त्वपूर्ण प्रयोजन था।

४. दिगम्बरमत के निहवमत सिद्ध हो जाने से यह भी अपने-आप साबित हो जाता है कि एकमात्र सचेलधर्म का अनुयायी श्वेताम्बरमत ही तीर्थकरप्रणीत है। उसे ही भगवान् ने पंचमकाल में भी आचरणीय बतलाया है। अचेलत्व को जिनकल्प नाम देकर श्वेताम्बराचार्य अन्ततः यही सिद्ध करना चाहते थे।

७०. "जिनेन्द्राणां गुह्यप्रदेशो वस्त्रेणैव शुभप्रभामण्डलेनाच्छादितो न चर्मचक्षुषां दृग्गोचरीभवति। --- अन्येषां च स्त्र्यादीनां तद्रूपदर्शनानन्तरं मोहोदयहेतुत्वाभावः --- ।" प्रवचनपरीक्षा/ वृत्ति/ १/२/३१/पृ. ९२।

७१. "एवं वस्त्रानावृता अपि ये नग्ना न दृश्यन्ते ते वस्त्रविषयकलब्धिमन्तः वस्त्रजन्यकार्यविषय-कलब्धिभाज इत्यर्थः। तेषां वस्त्रकार्यस्य लब्धयैव कृतत्वाद् वस्त्राभावः---तत्रापि शीतादिसहनसामर्थ्यमपेक्षणीयम्।" वही/१/२/३१/पृ. ९३-९४।

३.१०. जिनकल्प-नामकरण के प्रयोजन ही विच्छेद-घोषणा के प्रयोजन

अचेलत्व को प्रथमसंहनन से जुड़ा जिनकल्प नाम दे देने से ही जम्बूस्वामी के निर्वाण के बाद उसका व्युच्छेद सिद्ध हो जाता है, क्योंकि पंचमकाल में उत्तमसंहननधारी मनुष्य उत्पन्न नहीं होते। अतः अचेलत्व को जिनकल्प नाम देने के जो प्रयोजन ऊपर वर्णित किये गये हैं, वे ही जिनकल्प-विच्छेद की घोषणा के प्रयोजन थे। स्वयं श्वेताम्बर मुनियों एवं विद्वानों ने उन्हें स्वीकार किया है। सुप्रसिद्ध श्वेताम्बरमुनि श्री नगराज जी डी० लिट्० लिखते हैं—

“श्वेताम्बर-आगमों में जिनकल्प तथा स्थविरकल्प के रूप में नग्न और सवस्त्र, दोनों मुनि आचार-विधियों का निरूपण है। फलतः इससे श्वेताम्बर-श्रमण-आचार के साथ-साथ दिगम्बर-श्रमण-आचार को भी पुष्टि मिलती है। दिगम्बर, जिनशास्त्रों को अप्रामाणिक कहें, उन्हीं शास्त्रों से दिगम्बर-आचार का समर्थन हो, यह श्वेताम्बरों को कब स्वीकार होता? यह असम्भाव्य नहीं जान पड़ता कि कहीं इसी प्रतिक्रिया के फलस्वरूप तो श्वेताम्बरों ने आर्य जम्बू के पश्चात् जिनकल्प का विच्छेद घोषित न कर दिया हो, जिससे उसका शास्त्रीय समर्थन असामयिक एवं अनुपादेय बन जाये। अन्वेषक और समीक्षक विद्वान् जानते हैं कि धर्म-सम्प्रदाय के इतिहास में ऐसी घटनाएँ अघटनीय नहीं होतीं।” (आगम और त्रिपिटक : एक अनुशीलन/ खण्ड २/ पृ. ५५८)।

पण्डित बेचरदासजी ने जिनकल्प-विच्छेद की घोषणा के रहस्य पर प्रकाश डालते हुए लिखा है—“इससे यह बात स्पष्ट मालूम हो जाती है कि जम्बूस्वामी के बाद जिनकल्प का लोप हुआ बतलाकर अब से जिनकल्प की आचरणा को बन्द करना और उस प्रकार आचरण करनेवालों का उत्साह या वैराग्य भंग करना, इसके सिवा इस उल्लेख में अन्य कोई उद्देश्य मुझे मालूम नहीं देता।---जम्बूस्वामी के निर्वाण के बाद जो जिनकल्पविच्छेद होने का वज्रलेप किया गया है और उसकी आचरणा करनेवाले को जिनाज्ञा के बाहर समझने की जो स्वार्थी एवं एकतरफी दंभी धमकी का ढिंढोरा पीटा गया है, बस इसी में श्वेताम्बरता और दिगम्बरता के विषवृक्ष की जड़ समाई हुई है। तथा इसके बीजारोपण का समय भी वही है जो जम्बूस्वामी के निर्वाण का समय है।” (जैन साहित्य में विकार/पृ.४२)। --- इस विषय को दिगम्बरों की पट्टावली भी पुष्ट करती है। श्वेताम्बरों और दिगम्बरों की पट्टावली में श्री वर्धमान, सुधर्मा तथा जम्बूस्वामी तक के नाम समान रीति से और एक ही क्रम से उल्लिखित पाये जाते हैं, परन्तु उसके बाद के आनेवाले नामों में सर्वथा भिन्नता प्रतीत होती है और वह भी इतना विशेष भिन्नत्व है कि जम्बूस्वामी के बाद उनमें से एक भी

नाम पूरे तौर पर नहीं मिलता। इस प्रकार जम्बूस्वामी के बाद ही ये पट्टावलियाँ जुदी-जुदी गिनी जाने लगीं। यदि इसका कोई कारण हो, तो वह एकमात्र यही है कि जिस समय से सर्वथा जुदे-जुदे पट्टधरों के नामों की योजना प्रारम्भ हुई, उस समय जम्बूस्वामी के निर्वाण के बाद, वर्धमान के साधुओं में भेद पड़ चुका था। वह पड़ा हुआ भेद धीरे-धीरे द्वेष व विरोध के रूप में परिणत होता रहा। उस समय जो स्वयं मुमुक्षु पुरुष थे, वे तो यथाशक्य उच्च त्यागाचरण सेवन करते थे, और जो पहले से ही सुखशीलता के गुलाम बन चुके थे, वे कुछ मर्यादित छूट रखकर पराकाष्ठा के त्याग की भावना रखते थे। अर्थात् जम्बूस्वामी के बाद भी उन मुमुक्षुओं में से कई एक तो भगवान् महावीर के कठिन त्यागमार्ग का ही अनुसरण करते थे और कई एक जिन्होंने परिमित छूट ली थी, वे कदाचित् अथवा निरन्तर एकाध कटिवस्त्र रखते होंगे, पात्र भी रखते होंगे तथा निरन्तर निर्जन वनों में न रहकर कभी बस्तियों में भी रहते होंगे।--- उनमें से एक पक्ष वस्त्रपात्रवाद में ही मुक्ति की प्राप्ति देखता था और दूसरा पक्ष मात्र नग्नता में ही मोक्ष मानता था।” (जैन साहित्य में विकार/ पृ.४३)

अचेल-जिनकल्प के विच्छेद की घोषणा को एक छल निरूपित करते हुए पं० बेचरदास जी लिखते हैं—

“विशेषावश्यक के इस (जम्बूस्वामी के निर्वाण के बाद दस चीजों के व्युच्छिन्न होने के) उल्लेख को भाष्यकार श्री जिनभद्रसूरि ने जिनवचन अर्थात् तीर्थंकर का वचन बतलाया है और टीकाकार श्री मलधारी हेमचन्द्र ने भी मक्खी पर मक्खी मारने के समान उसी बात को दृढ़ किया है। बलिहारी है श्रद्धान्धता की। गाथा में लिखा है कि जम्बू के समय ये दस बातें विच्छिन्न हो गईं। इस प्रकार का उल्लेख तो वही कर सकता है, जो जम्बूस्वामी के बाद हुआ हो। यह बात मैं विचारक पाठकों से पूछता हूँ कि जम्बूस्वामी के बाद कौन-सा २५वाँ तीर्थंकर हुआ है, जिसका वचनरूप यह उल्लेख माना जाय? यह एक ही नहीं, किन्तु ऐसे संख्याबद्ध उल्लेख हमारे कुलगुरुओं ने पवित्र तीर्थंकरों के नाम पर चढ़ा दिये हैं, जिससे हम विवेकपूर्वक कुछ भी नहीं विचार सकते। क्या यह कुछ कम तमस्तरण है?” (जैन साहित्य में विकार/ पृ.४२ / पा.टि.)।

यहाँ पं० बेचरदास जी ने जम्बूस्वामी के निर्वाण के बाद दस वस्तुओं के विच्छेद का कथन करनेवाली ‘मण-परमोहि-पुलाए’ इत्यादि गाथा को ‘विशेषावश्यक’ का बतलाया है। किन्तु यह विशेषावश्यकभाष्यकार द्वारा रचित है, यह इसी प्रकरण के शीर्षक ३.५ में स्पष्ट कर दिया गया है।

श्वेताम्बर सन्तों और विद्वानों के ये वचन भी इस बात की पुष्टि करते हैं कि अचेलत्व का जिनकल्प-नामकरण एवं उसके विच्छेद की घोषणा उपर्युक्त प्रयोजनों की सिद्धि के लिए अभिप्रायपूर्वक की गयी है, ये जिनोक्त नहीं हैं।

३.११. अचेलत्व के आचरण का विच्छेद नहीं, परित्याग

श्री जिनभद्रगणी द्वारा जम्बूस्वामी के निर्वाण के पश्चात् जिनकल्प के नाम से अचेलकधर्म के व्युच्छिन्न हो जाने की जो घोषणा की गयी है, उससे दो बातें प्रकट होती हैं। एक तो यह कि जम्बूस्वामी के निर्वाण के पूर्व अचेलकधर्म प्रवर्तमान था। दूसरी यह कि उनके निर्वाण के बाद आविर्भूत हुए श्वेताम्बरसम्प्रदाय में उसका आचरण नहीं होता था। किन्तु जम्बूस्वामी के निर्वाण के बाद रचित वैदिक-परम्परा के साहित्य, बौद्धसाहित्य एवं संस्कृतसाहित्य में निर्ग्रन्थों (दिगम्बरजैन मुनियों) को 'नग्न' 'अहीक' (लज्जाहीन) आदि शब्दों से अभिहित किया गया है। (देखिये, आगे चतुर्थ अध्याय)। दिगम्बर-पट्टावलियों में जम्बूस्वामी के निर्वाण के अनन्तर अनेक श्रुतकेवलियों, दश-पूर्वधारियों आदि का उल्लेख मिलता है। तत्पश्चात् अनेक दिगम्बरजैनाचार्यों द्वारा रचित कसायपाहुड, षट्खण्डागम, समयसार, प्रवचनसार, पंचास्तिकाय, भगवती-आराधना, मूलाचार, तत्त्वार्थसूत्र, तिलोयपण्णत्ती, सर्वार्थसिद्धि आदि ग्रन्थ उपलब्ध होते हैं। शिलालेखों में भी बहुसंख्यक दिगम्बरजैन आचार्यों और मुनियों के नाम उत्कीर्ण हैं। आज भी बहुत-से दिगम्बर जैन मुनियों का अस्तित्व प्रत्यक्ष दिखाई देता है। इससे सिद्ध होता है कि अचेलकधर्म के आचरण का विच्छेद नहीं हुआ था, अपितु श्वेताम्बरसम्प्रदाय के संस्थापक मुनियों ने कष्टकर होने से उसका परित्याग कर सुखकर सचेलधर्म का प्रचलन किया था। अचेलकधर्म की प्रवृत्ति तो दिगम्बरजैनपरम्परा में आज भी विद्यमान है।

निष्कर्ष

निष्कर्ष यह कि श्रीजिनभद्रगणि-वर्णित जिनकल्प प्रथम तो अचेल था ही नहीं, दूसरे, जम्बूस्वामी के निर्वाण के बाद उसे व्युच्छिन्न मान लिया गया, तीसरे, अचेलत्व का जिनकल्प नाम कपोलकल्पित है, चौथे, आचारांगोक्त अचेलत्व श्वेताम्बरपरम्परा में कभी व्यवहृत नहीं हुआ और पाँचवें, आर्य महागिरि ने जिस अचेलक धर्म को अंगीकार किया था, वह दिगम्बरमुनिधर्म था। इन पाँच प्रमाणों से सिद्ध है कि यापनीयसंघ की उत्पत्ति (पंचम शताब्दी ई०) के पूर्व भारत के किसी भी कोने में ऐसी कोई भी जैनपरम्परा विद्यमान नहीं थी, जिसमें सचेलमुनिधर्म के साथ वैकल्पिक अचेलमुनिधर्म प्रचलित था। अतः डॉ० सागरमल जी का यह कथन सर्वथा कपोलकल्पित है कि उत्तरभारत में भगवान् महावीर के समय से ही सचैलाचेल निर्ग्रन्थ-परम्परा विद्यमान थी।

कपोलकल्पित होने के ऐतिहासिक प्रमाण

ऐतिहासिक प्रमाणों से भी उत्तरभारतीय-सचेलाचेल-निर्ग्रन्थ-परम्परा का अस्तित्व मिथ्या सिद्धा होता है। यथा—

१. जैसे पाँचवीं शती ई० के देवगिरि एवं हल्सी के अभिलेखों में श्वेतपट-महाश्रमणसंघ, निर्ग्रन्थ-महाश्रमणसंघ, यापनीयसंघ एवं कूर्चकसंघ का उल्लेख है, वैसे पाँचवीं शती ई० या उससे पूर्व के किसी भी अभिलेख में उत्तरभारतीय निर्ग्रन्थसंघ या उत्तरभारतीय-सचेलाचेल-निर्ग्रन्थसंघ का उल्लेख नहीं है। न ही किसी सम्प्रदाय के साहित्य में उसकी चर्चा है। अतः उसका अस्तित्व इतिहास से प्रमाणित नहीं है, अर्थात् वह कपोलकल्पित है।

२. उपर्युक्त अभिलेखों में निर्ग्रन्थ शब्द श्वेताम्बरों, यापनीयों और कूर्चकों के प्रतिपक्षी दिगम्बरों के लिए प्रयुक्त है। इससे सिद्ध होता है कि परम्परा से दिगम्बरजैन मुनि ही लोक में निर्ग्रन्थ शब्द से अभिहित होते थे। इसलिए दिगम्बरजैन मुनियों से भिन्न सचेलाचेल-सम्प्रदाय के मुनियों के लिए 'निर्ग्रन्थ' शब्द का प्रयोग हो ही नहीं सकता था, क्योंकि ऐसा करने से उन मुनियों की पृथक् सम्प्रदाय के रूप में पहचान असंभव हो जाती। इससे सिद्ध है कि 'उत्तरभारतीय-सचेलाचेल-निर्ग्रन्थसंघ' नाम का संघ कपोलकल्पित है।

३. ईसा की पाँचवीं शती के पूर्व भी सम्राट् अशोक के दिल्ली (टोपरा) के सातवें स्तम्भलेख (ई० पू० २४२) में निर्ग्रन्थों (निगंठेसु) अर्थात् दिगम्बरजैन मुनियों का उल्लेख हुआ है। (देखिये, अध्याय २/प्र.६/शी.२)। तथा ईसापूर्व छठी शती के बुद्धवचन-संग्रहरूप त्रिपिटक-साहित्यगत अंगुत्तरनिकाय नामक-ग्रन्थ में और प्रथम शताब्दी ई० के बौद्धग्रन्थ दिव्यावदान में निर्ग्रन्थ शब्द से दिगम्बरजैन साधुओं का कथन किया गया है। (देखिये, अध्याय ४/प्र.२/शी.१.१ एवं १४)। इसी प्रकार अशोक-कालीन अथवा ईसापूर्व प्रथम शती के बौद्ध ग्रन्थ अपदान में सेतवत्थ (श्वेतवस्त्र=श्वेतपट) नाम से श्वेताम्बर साधुओं की चर्चा की गयी है। (देखिये, अध्याय ४/प्र.२/शी.१.२)। इन प्रमाणों से सिद्ध होता है कि दिगम्बर और श्वेताम्बर संघों का उदय ईसापूर्वकाल में ही हो चुका था, अतः पाँचवीं शताब्दी ई० में उत्तरभारतीय-सचेलाचेल-निर्ग्रन्थ-संघ के विभाजन से श्वेताम्बर और यापनीय संघों के जन्म की मान्यता कपोलकल्पित है। इस प्रकार श्वेताम्बर-यापनीय-संघोत्पत्तिरूप कार्य के अभाव से उसके कारण-रूप उत्तरभारतीय-सचेलाचेल-निर्ग्रन्थसंघ का अभाव सिद्ध होता है।

४. डॉक्टर सा० की कल्पनानुसार उक्त संघ में सचेल और अचेल दोनों लिंगों

में से साधक को अपनी शक्ति के अनुसार किसी भी लिंग को स्वीकार करने की स्वतंत्रता थी। कोई भी मुनि शक्ति या इच्छा के अभाव में अचेललिंग ग्रहण करने के लिए बाध्य नहीं था। अतः किसी को भी सचेललिंग का आग्रहकर संघ से अलग होने की आवश्यकता नहीं थी। और यापनीयों की मान्यता के अनुसार उसमें दोनों लिंगों का विधान था ही, अतः उन्हें भी अलग सम्प्रदाय बनाने की जरूरत नहीं थी। इस तरह विभाजन की कारणसामग्री का सद्भाव ही उक्त संघ में नहीं था। फलस्वरूप उसका विभाजन और उससे श्वेताम्बर-यापनीय सम्प्रदायों की उत्पत्ति मानना अयुक्तिसंगत है। जब उक्त संघ का विभाजन ही असंभव था, तब वह कहाँ चला गया? वर्तमान में दिखायी क्यों नहीं देता? स्पष्ट है कि उसका अस्तित्व ही नहीं था, वह कपोलकल्पित है।

५. जब भी किसी पूर्व संघ से नया संघ जन्म लेता है, तब नये संघ का ही नया नामकरण होता है, पूर्व संघ का नहीं, क्योंकि उसके सिद्धान्त पूर्ववत् ही रहते हैं, अतः उसका नाम भी यथावत् रहता है। इसी कारण उसकी मौलिकता और प्राचीनता कायम रहती है। जैसे भारत से पाकिस्तान अलग हुआ, तो पाकिस्तान का ही 'पाकिस्तान' यह नया नाम रखा गया, भारत का 'भारत' नाम ज्यों का त्यों रहा आया, जैसे निर्ग्रन्थसंघ (वर्तमान नाम 'दिगम्बरजैनसंघ') से श्वेताम्बरसंघ का उद्भव हुआ, तो श्वेताम्बरसंघ का ही 'श्वेताम्बरसंघ' यह नया नामकरण हुआ, निर्ग्रन्थसंघ 'निर्ग्रन्थसंघ' के ही नाम से श्वेताम्बरसंघ के साथ विद्यमान रहा और है, अथवा जैसे मूर्तिपूजक-श्वेताम्बरसंघ से स्थानकवासी-श्वेताम्बरसंघ का जन्म हुआ, तो मूर्तिपूजक-श्वेताम्बरसंघ इसी नाम से नवोदित स्थानकवासी श्वेताम्बरसंघ के साथ वर्तमान में भी जीवित है। अतः उत्तरभारतीय-सचेलाचेल-निर्ग्रन्थसंघ से यदि श्वेताम्बर और यापनीय संघों की उत्पत्ति हुई होती, तो उत्तरभारतीय-सचेलाचेल-निर्ग्रन्थसंघ इसी नाम से उनके साथ विद्यमान रहता। किन्तु उनके साथ इस संघ का किसी भी अभिलेख या ग्रन्थ में नामोनिशाँ नहीं मिलता। इससे सिद्ध है इसका अस्तित्व ही नहीं था।

६. जिस काल (पाँचवीं शती ई० के प्रारंभ) में उत्तरभारतीय-सचेलाचेल-निर्ग्रन्थसंघ का विघटन माना गया है, ठीक उसी काल में बिलकुल उसी सचेलाचेल-निर्ग्रन्थ-संघ के लक्षणोंवाले यापनीयसंघ का उदय हुआ था। इससे सिद्ध होता है कि उत्तरभारतीय-सचेलाचेल-निर्ग्रन्थसंघ था ही नहीं, क्योंकि यदि होता, तो उसी के लक्षणोंवाले यापनीयसंघ के उदय की आवश्यकता नहीं होती।

इस प्रकार शास्त्रीय और ऐतिहासिक, इन द्विविध प्रमाणों से यह भलीभाँति सिद्ध हो जाता है कि उत्तरभारतीय-सचेलाचेल-निर्ग्रन्थसंघ का अस्तित्व एक वास्तविकता नहीं थी, वह डॉ० सागरमल जी द्वारा कपोलकल्पित है।

डॉक्टर सा० के मत में परिवर्तन

महावीर के निर्ग्रन्थसंघ का सर्वथा अचेल होना मान्य

अचेल निर्ग्रन्थसंघ से सचेल श्वेताम्बरसंघ का उद्भव मान्य

श्वेताम्बरसंघ से यापनीयसंघ की उत्पत्ति स्वीकार्य

उपर्युक्त तथ्यों पर ध्यान जाने के कारण ही 'जैनधर्म का यापनीय सम्प्रदाय' ग्रन्थ के प्रकाशन (सन् १९९६ ई०) के आठ वर्षों बाद डॉ० सागरमल जी को उत्तरभारत में सचेलाचेल-निर्ग्रन्थपरम्परा के अस्तित्व की स्वमान्यता का परित्याग कर यह स्वीकार करना पड़ा है कि तीर्थंकर महावीर का निर्ग्रन्थसंघ सर्वथा अचेल था। सन् २००४ ई० में प्रकाशित अपने नये लघुग्रन्थ 'जैनधर्म की ऐतिहासिक विकासयात्रा में वे लिखते हैं—

“तमिलनाडु में लगभग ई० पू० प्रथम-द्वितीय शती से ब्राह्मीलिपि में अनेक जैन अभिलेख मिलते हैं, जो इस तथ्य के साक्षी हैं कि निर्ग्रन्थसंघ महावीर के निर्वाण के लगभग दो-तीन सौ वर्ष पश्चात् ही तमिल प्रदेश में पहुँच चुका था।---आज भी तमिल जैनों की विपुल संख्या है और वे भारत में जैनधर्म के अनुयायियों की प्राचीनतम परम्परा के प्रतिनिधि हैं। ये नयनार एवं पंचमवर्णी के रूप में जाने जाते हैं।” (पृ. २५-२६)।

“दक्षिण में गया निर्ग्रन्थसंघ अपने साथ विपुल प्राकृत जैनसाहित्य तो नहीं ले जा सका, क्योंकि उस काल तक जैनसाहित्य के अनेक ग्रन्थों की रचना ही नहीं हो पायी थी। वह अपने साथ श्रुतपरम्परा से कुछ दार्शनिक विचारों एवं महावीर के कठोर आचारमार्ग को ही लेकर चला था, जिसे उसने बहुत काल तक सुरक्षित रखा। आज की दिगम्बरपरम्परा का पूर्वज यही दक्षिणी अचेल निर्ग्रन्थसंघ है।” (पृ. २६)।

“दक्षिण की जलवायु उत्तर की अपेक्षा गर्म थी, अतः अचेलता के परिपालन में दक्षिण में गये निर्ग्रन्थसंघ को कोई कठिनाई नहीं हुई, जब कि उत्तर के निर्ग्रन्थसंघ में कुछ पार्श्वपत्त्यों के प्रभाव से और कुछ अतिशीतल जलवायु के कारण यह अचेलता अक्षुण्ण नहीं रह सकी और एक वस्त्र रखा जाने लगा।” (पृ. २६)।

“यह मान्यता समुचित ही है कि भद्रबाहु की परम्परा से ही आगे चलकर दक्षिण की अचेलक-निर्ग्रन्थ-परम्परा का विकास हुआ।” (पृ. २८)।

“दक्षिण का अचेल-निर्ग्रन्थसंघ भद्रबाहु की परम्परा से और उत्तर का सचेल-निर्ग्रन्थ-संघ स्थूलभद्र की परम्परा से विकसित हुआ।” (पृ.२८-२९)।

“ईसा की द्वितीय शती में महावीर के निर्वाण के छह सौ नौ वर्ष पश्चात् उत्तमभारत के निर्ग्रन्थसंघ में विभाजन की एक अन्य घटना घटित हुई, फलतः उत्तरभारत का निर्ग्रन्थ-संघ सचेल एवं अचेल ऐसे दो भागों में बँट गया। पार्श्वपत्यों (भगवान् पार्श्वनाथ के अनुयायियों) के प्रभाव से आपवादिकरूप में एवं शीतादि के निवारणार्थ गृहीत हुए वस्त्र, पात्र आदि जब मुनि की अपरिहार्य उपधि बनने लगे, तो परिग्रह की इस बढ़ती हुई प्रवृत्ति को रोकने के प्रश्न पर आर्यकृष्ण और आर्य शिवभूति में मतभेद हो गया। आर्यकृष्ण जिनकल्प का उच्छेद बताकर गृहीत वस्त्रपात्र को मुनिचर्या का अपरिहार्य अंग मानने लगे, जब कि आर्य शिवभूति ने इनके त्याग और जिनकल्प के आचरण पर बल दिया। --- आर्य शिवभूति की उत्तरभारत की इस अचेलपरम्परा को श्वेताम्बरों ने बोटिक (भ्रष्ट) कहा, किन्तु आगे चलकर यह परम्परा यापनीय के नाम से प्रसिद्ध हुई।” (पृ.२९-३०)।

इस वक्तव्य में डॉक्टर सा० ने माना है कि भगवान् महावीर का निर्ग्रन्थसंघ अचेल था। उस संघ का एक श्रमणसमुदाय धर्मप्रचारार्थ दक्षिण भारत चला गया, जो आगे चलकर दिगम्बरसंघ के नाम से प्रसिद्ध हुआ तथा उत्तरभारत में स्थित रहे श्रमणसममुदाय ने शीतल जलवायु की दुस्सहता के कारण एक वस्त्र धारण करना शुरू कर दिया। फिर धीरे-धीरे उसके वस्त्रपात्रादि-परिग्रह में वृद्धि हो गयी, जिसके फलस्वरूप ईसा की द्वितीय शताब्दी में उससे अचेलता-समर्थक यापनीयसम्प्रदाय उत्पन्न हुआ। इससे स्पष्ट है कि डॉक्टर सा० ने अपनी इस पूर्व मान्यता का परित्याग कर दिया है कि भगवान् महावीर का निर्ग्रन्थसंघ सचेल-अचेल था और उससे सचेलता के समर्थक श्वेताम्बरसम्प्रदाय का एवं अचेलता के समर्थक यापनीयसम्प्रदाय का उद्भव हुआ था तथा दिगम्बरसम्प्रदाय की स्थापना विक्रम की छठी शती में दक्षिणभारत में आचार्य कुन्दकुन्द ने की थी। डॉक्टर सा० ने स्पष्ट शब्दों में स्वीकार किया है कि भगवान् महावीर के अचेल निर्ग्रन्थसंघ से एक वस्त्र स्वीकार कर लेनेवाले सचेल-निर्ग्रन्थसंघ का जन्म हुआ। यह सचेल-निर्ग्रन्थसंघ श्वेताम्बरसंघ ही था, क्योंकि यह अचेलत्व को अस्वीकार कर एकमात्र सचेललिंग से मोक्ष की प्राप्ति मानने लगा था। तथा इस सचेल-निर्ग्रन्थसंघ अर्थात् श्वेताम्बरसंघ के विभाजन से यापनीयसंघ का उद्भव हुआ और दिगम्बरसंघ उस अचेल-निर्ग्रन्थसंघ का उत्तराधिकारी या नामान्तर है, जो महावीर के निर्वाण के दो-तीन सौ वर्ष बाद ही तमिलप्रदेश में पहुँच गया था। इस प्रकार डॉक्टर सा० ने सचेल श्वेताम्बरसंघ से अचेल दिगम्बरसंघ की प्राचीनता भी स्वीकार की है।

यहाँ एक बात ध्यान देने योग्य है। डॉ० सागरमल जी ने १९९६ ई० में लिखित अपने 'जैनधर्म का यापनीय सम्प्रदाय' ग्रन्थ में पहले बोटिकमत के नाम से यापनीयमत की उत्पत्ति वीरनिर्वाण सं० ६०९ (डॉक्टर सा० के अनुसार ई० सन् १४२) में मानी थी। (देखिये, इसी अध्याय की पा.टि. ६१)। किन्तु, बाद में इस मत को निरस्तकर उसकी उत्पत्ति ईसा की पाँचवीं शताब्दी के प्रारंभ में मान ली। (देखिये, इसी अध्याय का प्र. ३/शी.१)। अब आठ वर्षों बाद ई० सन् २००४ में लिखे गये अपने नये ग्रन्थ **जैनधर्म की ऐतिहासिक विकासयात्रा** में पुनः वीरनिर्वाण सं० ६०९ (ई० सन् ८२, डॉक्टर सा० के अनुसार ई० सन् १४२) में बोटिकमत के नाम से यापनीयमत का उदय मान लिया है। यह उनकी अनिश्चयात्मक मनोदशा का अन्यतम उदाहरण है।

किन्तु, यह पूर्व में सिद्ध किया जा चुका है कि बोटिकमत यापनीयमत नहीं था, अपितु दिगम्बरमत को बोटिकमत कहा गया है, अतः यापनीयमत की उत्पत्ति वीरनिर्वाण सं० ६०९ (ई० सन् ८२) में मानना अप्रामाणिक है। डॉक्टर सा० ने भी प्रमाण के अभाव में ही इस मत को निरस्त किया था और 'पाँचवीं शती ई० के पूर्व किसी भी अभिलेख या ग्रन्थ में यापनीय-सम्प्रदाय का उल्लेख नहीं मिलता' इस बलिष्ठ ऐतिहासिक प्रमाण के आधार पर उन्होंने यापनीयसम्प्रदाय की उत्पत्ति ईसा की पाँचवीं शताब्दी के प्रारंभ में स्वीकार की थी। यही मत प्रमाणसिद्ध होने से समीचीन है।



चतुर्थ प्रकरण

सचेलाचेल-संघ से श्वेताम्बर-यापनीयों के

उद्भव की मान्यता कपोलकल्पित

अपने पूर्व ग्रन्थ 'जैनधर्म का यापनीय सम्प्रदाय' में डॉ० सागरमल जी ने उत्तरभारत में भगवान्-महावीर-प्रणीत सचेलाचेल-निर्ग्रन्थ-संघ के अस्तित्व की कल्पना कर, एक दूसरी कल्पना यह की है कि श्वेताम्बर और यापनीय सम्प्रदायों का उद्भव इसी संघ से हुआ था। यह सचेलाचेल-संघ इन दोनों सम्प्रदायों का पूर्वज था। डॉक्टर सा० लिखते हैं—“यापनीयों की उत्पत्ति श्वेताम्बर-परम्परा से न होकर उस मूलधारा से हुई है, जो श्वेताम्बरों की भी पूर्वज थी, जिससे कालक्रम से वर्तमान श्वेताम्बरधारा का विकास हुआ है। वस्तुतः महावीर के धर्मसंघ में जब वस्त्रपात्र आदि में वृद्धि होने लगी और अचेलत्व की प्रतिष्ठा क्षीण होने लगी, तब उससे अचेलता के पक्षधर यापनीय और सचेलता के पक्षधर श्वेताम्बर ऐसी दो धारयें निकलीं।” (जै.ध.या.स/ पृ. २३-२४)। इस प्रकार डॉक्टर सा० के अभिप्रायानुसार उत्तरभारत की सचेलाचेल मूल निर्ग्रन्थपरम्परा, जिसे उन्होंने अन्यत्र अविभक्त परम्परा नाम भी दिया है, श्वेताम्बरों और यापनीयों की पूर्वजपरम्परा अर्थात् मातृपरम्परा थी।

इस कल्पना के द्वारा उन्होंने यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि उत्तरभारत में जो मूल निर्ग्रन्थसंघ का विभाजन हुआ था, उससे दिगम्बर और श्वेताम्बर सम्प्रदायों का जन्म नहीं हुआ था, अपितु श्वेताम्बर और यापनीय सम्प्रदायों की उत्पत्ति हुई थी। उनका कथन है कि दिगम्बरसम्प्रदाय की स्थापना तो स्वतन्त्ररूप से दक्षिणभारत में विक्रम की छठी शताब्दी में आचार्य कुन्दकुन्द के द्वारा की गई थी। अतः यह सम्प्रदाय भगवान् महावीर की परम्परा का उत्तराधिकारी नहीं है। उनकी परम्परा के उत्तराधिकारी तो केवल श्वेताम्बर और यापनीय सम्प्रदाय हैं।

१ .

उक्त कपोलकल्पना का महत्त्वपूर्ण प्रयोजन

मान्य विद्वान् ने उत्तरभारत में सचेलाचेलपरम्परा के अस्तित्व की कल्पना कर तथा उससे श्वेताम्बर और यापनीय सम्प्रदायों के उदय की कथा गढ़कर एक अन्य कथा यह गढ़ी है कि उक्त सचेलाचेल-मूल-परम्परा के जो आगम, सिद्धान्त, गाथाएँ आदि थीं, वे श्वेताम्बरों और यापनीयों को समानरूप से उत्तराधिकार में मिली हैं। इस दूसरी कल्पना के द्वारा उन्होंने इस तीसरी कल्पना को तर्कसंगत बनाने की कोशिश की है, कि यतः षट्खण्डागम, कसायपाहुड, भगवती-आराधना, मूलाचार आदि ग्रन्थों

में वैसी ही अनेक गाथाएँ मिलती हैं, जैसी श्वेताम्बर ग्रन्थों में है, अतः उत्तरभारत की जिस सचेलाचेल-निर्ग्रन्थ-परम्परा से ये समान गाथाएँ श्वेताम्बर ग्रन्थों में आयी हैं, उसी परम्परा से इन ग्रन्थों में आयी हैं। और उस परम्परा के उत्तराधिकारी श्वेताम्बरों के अलावा यापनीय ही थे, अतः षट्खण्डागम आदि ग्रन्थ यापनीय-परम्परा के हैं। अथवा यदि वे यापनीयसंघ की उत्पत्ति के पूर्व रचे गये हैं, तो उत्तरभारतीय सचेलाचेल-परम्परा के आचार्यों की कृतियाँ हैं। इस प्रकार उपर्युक्त कपोलकल्पनाओं के द्वारा मान्य विद्वान् ने षट्खण्डागम आदि ग्रन्थों के दिग्म्बरग्रन्थ होने की सत्यता का अपलाप करने के लिए महामायाजाल बिछाया है। मान्य विद्वान् के निम्नलिखित वचनों से उनके इस महामायाजाल के प्रसार और उसके प्रयोजनों का पता चलता है—

१. “यह सत्य है कि श्वेताम्बर और यापनीय दोनों ही उत्तरभारत की निर्ग्रन्थपरम्परा के समानरूप से उत्तराधिकारी रहे हैं और इसीलिए दोनों की आगमिक परम्परा एक ही है तथा यही उनके आगमिक ग्रन्थों की निकटता का कारण है। षट्खण्डागम में स्त्रीमुक्ति का समर्थन और श्वेताम्बर आगमिक और निर्युक्ति साहित्य से उसकी शैली और विषय-वस्तुगत समानता यही सिद्ध करती है कि वह यापनीय-परम्परा का ग्रन्थ है।” (जै. ध. या. स. / पृ. १०४)।

२. “यापनीय और श्वेताम्बर दोनों ही इस अविभक्त संघ में (ईसा की दूसरी शती तक) निर्मित आगमिक साहित्य के समानरूप से उत्तराधिकारी बने।” (जै. ध. या. स. / पृ. ६५)।

३. “कसायपाहुड उत्तरभारत की अविभक्त निर्ग्रन्थपरम्परा का ग्रन्थ है, जो श्वेताम्बरों और यापनीयों को समानरूप से उत्तराधिकार में प्राप्त हुआ है” (जै. ध. या. स. / पृ. ८९)।

२

कपोलकल्पितता के प्रमाण

किन्तु यह कल्पना-चक्र निम्नलिखित कारणों से कपोलकल्पित सिद्ध हो जाता है—

१. उत्तरभारत की उक्त सचेलाचेल-मूलनिर्ग्रन्थ-परम्परा का अस्तित्व ही नहीं था, यह तृतीय प्रकरण में सिद्ध किया जा चुका है। अतः उससे श्वेताम्बरों और यापनीयों की उत्पत्ति का प्रश्न ही नहीं उठता।

२. यदि उक्त परम्परा का अस्तित्व होता भी, तो उसका श्वेताम्बर और यापनीय सम्प्रदायों में के रूप एकसाथ विभाजन कदापि संभव नहीं था, क्योंकि उसमें अचेल

और सचेल दोनों लिंगों में से किसी भी लिंग को अपनाने का विकल्प था। जो अचेल-लिंग धारण करने में असमर्थ थे, उनके लिए सचेललिंग धारण करने की स्वतंत्रता थी, वे अचेललिंग ग्रहण करने के लिए बाध्य नहीं थे। सचेललिंग को लेकर संघ-विभाजन तभी हो सकता था, जब उक्तसंघ में अचेललिंग ही अनिवार्य होता, किन्तु ऐसा नहीं था। इसी प्रकार अचेललिंग को लेकर भी किसी को अलग होने की आवश्यकता नहीं थी, क्योंकि उसे भी अपनाने की स्वतंत्रता उक्त सचेललिंग-निर्ग्रन्थ सम्प्रदाय देता था।

हाँ, यदि कोई साधुवर्ग संघ से अचेललिंग का सर्वथा बहिष्कार कराना चाहता और उसमें सफल न होता, तो वह संघ से अलग हो सकता था, और अपने को श्वेताम्बरसंघ नाम से प्रसिद्ध कर सकता था। इसी प्रकार यदि कोई साधुसमूह संघ से सचेललिंग का सर्वथा बहिष्कार कराने का इच्छुक होता और उसकी बात स्वीकार न की जाती, तब उसका भी संघ से पृथक् होना संभव था, यद्यपि यह परम्परागत दिगम्बरमत को स्वीकार करना होता, किसी नये सम्प्रदाय की उत्पत्ति नहीं। किन्तु कोई साधुवर्ग उक्त संघ में अचेल और सचेल दोनों लिंगों को वैकल्पिकरूप से स्वीकार कराना चाहता और उसमें सफल न होने पर संघ से पृथक् होकर यापनीयसंघ बना लेता, इसकी संभावना रंचमात्र भी नहीं थी, क्योंकि संघ में दोनों लिंगों की वैकल्पिक-रूप से स्वीकृति पहले से ही थी। अतः दोनों लिंगों को वैकल्पिकरूप से स्वीकार करनेवाले यापनीयसंघ की उत्पत्ति के योग्य परिस्थिति का उक्त संघ में सर्वथा अभाव था। अतः उसकी उत्पत्ति के योग्य परिस्थिति के अभाव से उसके साथ जो श्वेताम्बरसंघ की उत्पत्ति मानी गयी है, उसकी उत्पत्ति के योग्य परिस्थिति का भी अभाव सिद्ध होता है। यह इस बात का प्रमाण है कि उत्तरभारतीय सचेललिंग-निर्ग्रन्थसंघ के विभाजन की घटना काल्पनिक है।

विभाजन और विघटन न होने से उक्त संघ सचेललिंग-निर्ग्रन्थसंघ अथवा उत्तरभारतीय निर्ग्रन्थसंघ के नाम से ईसा की पाँचवीं शती में भी मौजूद रहता। किन्तु पाँचवीं शती ई० या उसके पूर्व या पश्चात् के अभिलेखों या साहित्य में उसका नामोनिशाँ भी नहीं है, केवल श्वेतपटमहाश्रमणसंघ, निर्ग्रन्थमहाश्रमणसंघ, यापनीयसंघ एवं कूर्चकसंघ के नाम मिलते हैं। इससे भी सिद्ध है कि 'उत्तरभारतीय-निर्ग्रन्थसंघ' या 'सचेललिंग-निर्ग्रन्थसंघ' नाम के किसी संघ का भारत में कभी अस्तित्व ही नहीं था, वह कपोलकल्पित है।

श्वेताम्बरसंघ की उत्पत्ति दिगम्बर (निर्ग्रन्थ) संघ से ही हो सकती थी, क्योंकि उसमें ही अचेललिंग अनिवार्य था, जो असमर्थ पुरुषों के लिए संभव नहीं था। और यापनीयसंघ का उद्भव श्वेताम्बरसंघ से ही संभव था, क्योंकि उसमें ही अचेललिंग

का विकल्प नहीं था, जो यापनीयों को वैकल्पिकरूप से मान्य था। इस प्रकार उत्तर-भारतीय-सचेलाचेल-निर्ग्रन्थसंघ का स्वरूप लिंग-विकल्प से परिपूर्ण होने के कारण श्वेताम्बर और यापनीय दोनों के लिए अत्यन्त अनुकूल था, उसके विभाजन योग्य कोई हेतु उसमें मौजूद नहीं था। अतः उसके श्वेताम्बर और यापनीय संघों के रूप में विभाजित होने की मान्यता सर्वथा अयुक्तिसंगत है।

३. पूर्व (प्रकरण ३/शी.४) में दर्शाया गया है कि अशोक के ईसापूर्व २४२ के दिल्ली (टोपरा) के सातवें स्तम्भलेख में तथा ईसापूर्व छठी शती के बुद्धवचन-संग्रहरूप त्रिपिटकसाहित्य के अंगुत्तरनिकाय नामक ग्रन्थ में और प्रथम शती ई० के बौद्धग्रन्थ दिव्यावदान में निर्ग्रन्थ शब्द से दिगम्बरजैन साधुओं का कथन किया गया है। (देखिये, अध्याय ४/प्र.२/शी.१.१ एवं १४)। इसी प्रकार अशोककालीन अथवा ईसापूर्व प्रथम शताब्दी के बौद्धग्रन्थ अपदान में सेतवत्थ (श्वेतवस्त्र = श्वेतपट) नाम से श्वेताम्बर साधुओं की चर्चा की गयी है। (देखिये, अध्याय ४/प्र.२/शी.१.२)। इन प्रमाणों से सिद्ध होता है कि दिगम्बर और श्वेताम्बर संघों का उदय ईसापूर्व-काल में ही हो चुका था, अतः पाँचवीं शताब्दी ई० में उत्तरभारतीय-सचेलाचेल-निर्ग्रन्थ-संघ के विभाजन से श्वेताम्बर और यापनीय संघों के जन्म की कथा कपोलकल्पित है।

४. डॉ० सागरमल जी ने यापनीयों को भगवान् महावीर की परम्परा का सही रूप में प्रतिनिधित्व करनेवाला कहा है। (जै.ध.या.स/लेखकीय/पृ.५)। यदि उक्त सचेलाचेल-परम्परा भगवान् महावीर द्वारा प्रणीत और यापनीयों की मातृपरम्परा होती, तो यापनीय जिन-कल्पिक साधु वस्त्रपात्रलब्धिरहित श्वेताम्बर जिनकल्पिकों के ही समान मुखवस्त्रिका, रजोहरण, एक, दो या तीन चादर तथा भिक्षापात्र ग्रहण करते, दिगम्बर मुनियों के समान सर्वथा अचेतल, पाणितलभोजी और मयूरपिच्छधारी न होते।

५. श्वेताम्बर और यापनीय संघों की उत्पत्ति एक ही समय (वीर नि० सं० ६०९ या विक्रम सं० १३९ अथवा १३६) में हुई थी, इसका उल्लेख किसी भी प्राचीन ग्रन्थ या शिलालेख में नहीं मिलता। आवश्यकमूलभाष्य में वीर नि० सं० ६०९ अर्थात् वि० सं० १३९ (ई० सन् ८२) में श्वेताम्बरसंघ से बोटिकमत (दिगम्बरमत) की उत्पत्ति बतलायी गयी है, उसे डॉ० सागरमल जी ने यापनीयसंघ की उत्पत्ति मान लिया है। तथा दिगम्बरग्रन्थ 'दर्शनसार' में विक्रम सं० १३६ (वीर नि० ६०६ = ई० सन् ७९) में दिगम्बरमुनि भद्रबाहु (तृतीय) के प्रशिष्य तथा शान्त्याचार्य के शिष्य जिनचन्द्र के द्वारा श्वेताम्बरसंघ का प्रवर्तन बतलाया गया है। इस उल्लेख से डॉ० सागरमल जी ने यापनीयसंघ और श्वेताम्बरसंघ की उत्पत्ति को समकालीन मान लिया है,^{७२} जो

७२. जैनधर्म का यापनीय सम्प्रदाय / पृ.१७।

उल्लेखों के सर्वथा विपरीत है। यदि 'दर्शनसार' के उल्लेखानुसार श्वेताम्बरसंघ की उत्पत्ति वि० सं० १३६ में मानी जाती है, तो इसी ग्रन्थ में यापनीयसंघ का उद्भव वि० सं० ७०५ या २०५ में बतलाया गया है, अतः इसके अनुसार यापनीयसंघ का भी उत्पत्तिकाल वि० सं० ७०५ या २०५ मानना चाहिए। अस्तु, दर्शनसार के उल्लेख से स्पष्ट है कि ग्रन्थों में श्वेताम्बर और यापनीय संघों की उत्पत्ति भिन्न-भिन्न समयों में ही बतलायी गयी है, एक ही समय में नहीं।

इस प्रकार ऐसा एक भी प्रमाण उपलब्ध नहीं है, जिससे यह सिद्ध हो कि श्वेताम्बर और यापनीय सम्प्रदाय एक ही मूलसम्प्रदाय से प्रसूत हुए थे। अतः डॉ० सागरमल जी की यह स्थापना सर्वथा कपोलकल्पित ठहरती है कि श्वेताम्बर और यापनीय सम्प्रदाय उत्तरभारतीय सचेलाचेल मूल निर्ग्रन्थ संघ से निकले थे। जिस संघ का अस्तित्व ही नहीं था, उससे उक्त सम्प्रदायों की उत्पत्ति मानना आकाशकुसुम से सुगंध की उत्पत्ति मानना है।

यतः डॉ० सागरमल जी ने 'जैनधर्म का यापनीय सम्प्रदाय' ग्रन्थ के प्रकाशन के आठ वर्षों बाद लिखे गये 'जैनधर्म की ऐतिहासिक विकासयात्रा' नामक ग्रन्थ^{७३} में सचेलाचेल-निर्ग्रन्थसंघ के अस्तित्व की मान्यता का परित्याग कर दिया है, अतः उक्त संघ से श्वेताम्बर और यापनीय संघों का जन्म हुआ था, उनकी यह मान्यता स्वतः निरस्त हो जाती है। उपर्युक्त नये ग्रन्थ में उन्होंने लिखा है—

“दक्षिण का अचेल-निर्ग्रन्थसंघ भद्रबाहु की परम्परा से और उत्तर का सचेला-निर्ग्रन्थसंघ स्थूलभद्र की परम्परा से विकसित हुआ।” (पृ.२८-२९)। तदनन्तर वे लिखते हैं—“ईसा की द्वितीय शती में महावीर के निर्वाण के छह सौ नौ वर्ष पश्चात् उत्तर-भारत के निर्ग्रन्थसंघ में विभाजन की एक अन्य घटना घटित हुई, फलतः उत्तरभारत का निर्ग्रन्थसंघ सचेला एवं अचेल ऐसे दो भागों में बँट गया।---शिवभूति की उत्तर-भारत की इस अचेलपरम्परा को श्वेताम्बरों ने बोटिक (भ्रष्ट) कहा, किन्तु आगे चलकर यह परम्परा 'यापनीय' के नाम से ही अधिक प्रसिद्ध हुई।” (पृ.२९-३०)।

इससे स्पष्ट है कि डॉक्टर सा० ने अपने संशोधित मत में स्थूलभद्र (चौथी शती ई० पू०) की परम्परा से विकसित सचेलासंघ के विभाजन से यापनीयसंघ की उत्पत्ति मानी है। इससे उनका यह मत भी निरस्त हो जाता है कि श्वेताम्बर और यापनीय समान परम्परा से उत्पन्न हुए थे। उनके ही उपर्युक्त वचनों के अनुसार समान परम्परा से तो ईसापूर्व चौथी शती में भद्रबाहुवाले दक्षिण-प्रस्थित अचेल-निर्ग्रन्थसंघ की तथा स्थूलभद्रवाले उत्तरस्थित सचेलासंघ की उत्पत्ति हुई थी।

७३. प्रकाशक : प्राच्य विद्यापीठ, शाजापुर (म.प्र.), सन् २००४ ई.।



पञ्चम प्रकरण

सामान्य पुरुषों के लिए तीर्थकरलिंग-निषेध मनगढ़न्त

१

पंचमकाल में सचेललिंग को ही जिनोक्त, उचित और अनिवार्य ठहराने का प्रयास

प्रस्तुत अध्याय के तृतीय प्रकरण (शीर्षक ३.९) में स्पष्ट किया गया है कि श्वेताम्बराचार्यों ने अवास्तविक अचेलत्व और वास्तविक अचेलत्व को 'जिनकल्प' संज्ञा देकर तथा उसका व्युच्छेद घोषित कर दिगम्बरमत को निह्ववमत (तीर्थकरोपदेश के विपरीत कल्पित मिथ्यामत) तथा श्वेताम्बरमत को तीर्थकरप्रणीत मत सिद्ध करने की चेष्टा की है। यह चेष्टा उन्होंने सामान्यपुरुषों के लिए तीर्थकरलिंग-ग्रहण के निषेध की कल्पना द्वारा भी की है। उन्होंने बोटिककथा के माध्यम से यह सिद्ध करने का प्रयास किया है कि 'पंचमकाल में मुनियों के लिए श्वेताम्बरमतोक्त सचेललिंग ही भगवान् महावीर द्वारा उपदिष्ट है, उसे ही ग्रहण करने से संयम की विराधना टलती है। पंचम-काल में वज्रवृषभनाराचसंहननधारी मनुष्यों का अभाव हो जाने से अचेललिंग धारण करना संभव नहीं है, अतः सभी मुनियों को सचेललिंग ग्रहण करना अनिवार्य है।'

दिगम्बरमत के विषय में (जिसे वे बोटिकमत कहते थे), उन्होंने यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि चूँकि पंचमकालीन पुरुषों में अचेललिंग धारण करने की योग्यता नहीं होती, अतः वह उनके लिए निषिद्ध है। इसलिए उसे धारण करने योग्य माननेवाला दिगम्बरमत जिनोक्त नहीं है, अपितु निह्ववमत अर्थात् स्वकल्पित मिथ्यामत है।^{७४}

श्वेताम्बराचार्यों के इन प्रयासों की सूचना बोटिककथा के गुरुशिष्य-संवाद से प्राप्त होती है। बोटिक शिवभूति जिनलिंगवत् सर्वथा अचेलत्व (नग्नवेश) को जिनकल्प मानता है और गुरु के समक्ष उसे ही ग्राह्य ठहराता है। इसके उत्तर में गुरु आर्यकृष्ण कहते हैं कि "जिनकल्प वही धारण कर सकता है, जो वज्रवृषभनाराचसंहननधारी तथा कम से कम नवपूर्वधर हो। जम्बूस्वामी के निर्वाण के पश्चात् अर्थात् पंचमकाल का आरंभ होते ही मनुष्यों में इन योग्यताओं का अभाव हो गया, अतः वर्तमान में जिनकल्प की प्रवृत्ति विच्छिन्न हो गयी है।"^{७५}

७४. देखिए, इसी अध्याय का प्रकरण ३/शीर्षक ३.९।

७५. उवएसो पुण एवं जिणकप्पो संपयं समुच्छिन्नो।

जेणं सो नवपुव्वी पडिवज्जइ पढमसंघयणी ॥ १/२/१४ ॥ प्रवचनपरीक्षा।

यतः शिवभूति जिनेन्द्रगृहीत (तीर्थकरगृहीत) वास्तविक अचेललिंग को ही (नाम-मात्र के लिए अचेल कहे जानेवाले सचेल जिनकल्प को नहीं) ग्राह्य बतलाना चाहता है, अतः वह जिनकल्प को ग्राह्य बतलाने के तुरन्त बाद अपने अभिप्राय को स्पष्ट करते हुए कहता है—“अचेलकाश्च जिनेन्द्राः। अतोऽचेलतैव सुन्दरेति” (हेम.वृत्ति./ विशेष.भा./ गा. २५५१-५२)। अर्थात् जिनेन्द्र भी अचेलक होते हैं, अतः अचेलता ही सुन्दर है (उसे ग्रहण करना उचित है)।

गुरु आर्यकृष्ण इसके उत्तर में कहते हैं—“तीर्थकरों में जो अलौकिक योग्यताएँ होती हैं, वे उनके शिष्यों (अनुगामियों) में नहीं होतीं, अतः आगम में उनके लिए तीर्थकरगृहीत अचेललिंग के ग्रहण का निषेध किया गया है। तीर्थकरों में अनुपम-धृति (अनुपम सहनशक्ति) का जनक वज्रवृषभनाराचसंहनन होता है, छद्मावस्था में वे मतिज्ञानादि चार ज्ञानों के स्वामी, अतिशयसत्त्वसम्पन्न, छिद्ररहित-पाणिपात्रवाले तथा समस्त परीषहों के विजेता होते हैं।^{७६} किन्तु उनके शिष्यों में ये गुण नहीं होते, अतः उनके लिए जिनेन्द्र ने अचेललिंग के ग्रहण का निषेध किया है। इसलिए तुम्हें (शिवभूति को) तीर्थकर के उपदेश का आदर करते हुए नग्न नहीं होना चाहिए।”^{७७}

शिवभूति गुरु (तीर्थकर) के लिंग को युक्तिपूर्वक अनुकरणीय बतलाते हुए कहता है—

जारिसियं गुरुलिंगं सीसेण वि तारिसेण होयव्वं।
न हि होइ बुद्धसीसो सेयवडो नग्गखवणो व॥^{७८}

अनुवाद—“जैसा गुरु का लिंग (वेश) होता है, वैसा ही शिष्य का भी होना चाहिए। श्वेतवस्त्र धारण करनेवाला अथवा नग्नवेशधारी साधु बुद्ध का शिष्य नहीं कहला सकता। अर्थात् बुद्ध रक्ताम्बरधारी थे, अतः जो रक्ताम्बर धारण करता है, उसे हीलोग बुद्ध का अनुयायी कह सकते हैं, श्वेताम्बर या दिगम्बर साधु को नहीं।”

गुरु आर्यकृष्ण इस युक्ति को निरस्त करते हुए कहते हैं—“यदि तीर्थकर के शिष्य होने से तुम्हें उनका वेश प्रमाण है, तो तीर्थकर के शिष्य होने के ही कारण

७६. “यस्माज्जिनास्तीर्थकराः सर्वेऽपि निरुपमधृतिसंहननाश्छद्मस्थावस्थायां चतुर्ज्ञानाः, अतिशय-सत्त्वसम्पन्नाः, तथा अच्छिद्रपाणिपात्रा जितसमस्तपरीषहाश्च ---।” हेम.वृत्ति / विशेषावश्यकभाष्य / गा. २५८१-८३।

७७. “तर्हि तद्वचनादेव तीर्थकरोपदेशादेव निरुपधृति-संहननाद्यतिशयरहितोऽचेलो नग्नो मा भूस्त्वम्।” हेम.वृत्ति / विशेषावश्यकभाष्य / गा.२५८५।

७८. विशेषावश्यकभाष्य / गाथा २५८५ की हेमचन्द्रसूरिकृत वृत्ति में उद्धृत।

तुम्हारे लिए उनका उपदेश भी प्रमाण होना चाहिए। गुरु के उपदेश का उल्लंघन कर प्रवृत्ति करनेवाला शिष्य अभीष्टार्थ की सिद्धि नहीं कर सकता। परमगुरु का उपदेश यह है कि जो निरुपमधृति, प्रथम संहनन आदि अतिशयों से रहित है, उसे अचेलक नहीं होना चाहिए। इसलिए तुम इस प्रकार गुरूपदेश से अलग नाग्न्य अपनाकर अपना अहित क्यों करते हो?"^{७९}

शिवभूति गुरु की ही युक्ति से उत्तर देता है—“यथा गुरोरूपदेशः कर्तव्यस्तथा तद्वेषचरिते अप्यवश्यमाचरणीये।” (हेम.वृत्ति / विशेष. भा. / गा. २५८६)। अर्थात् जैसे गुरु का उपदेश पालन करने योग्य है, वैसे ही उनका वेश और चरित भी अवश्य आचरणीय हैं।

तब आर्यकृष्ण कहते हैं—“यह अनुचित है, क्योंकि गुरु का उपदेश ही कार्यसाधक है। जैसे रोगी, वैद्य के उपदेश का पालन करने से ही रोगमुक्त होता है, उसके वेश और चरित का अनुकरण करने से नहीं, वैसे ही जिनवैद्य के उपदेश का पालन करनेवाला ही कर्मरोग से मुक्त होता है, उनके वेश और चरित का अनुकरण करनेवाला नहीं। जिनेन्द्रवत् योग्यता न रहते हुए भी, जो उनके वेश और चरित का अनुकरण करता है, वह उन्माद आदि का ही पात्र बनता है।^{८०}”

गुरु आर्यकृष्ण पुनः उपदेश देते हैं कि “शिष्यों की तीर्थकरों से सभी गुणों में समानता नहीं हो सकती। यदि सभी गुणों में समानता हो, तो जैसे तीर्थकर स्वयंबुद्ध होने के कारण दूसरों के उपदेश से प्रवर्तन नहीं करते, न ही छद्मस्थावस्था में दूसरों को उपदेश देते हैं, न ही शिष्यों को दीक्षा देते हैं, वैसे ही उनके शिष्य-प्रशिष्यों का भी स्वयंबुद्धत्व आदि सभी गुणों से युक्त होना आवश्यक हो जायेगा। ऐसा होने पर तीर्थ की उत्पत्ति संभव नहीं होगी, क्योंकि न तो किसी को उपदेश देने की

७९. “यदि तीर्थकरशिष्यत्वाद् तद्वेषस्तव प्रमाणं तर्हि तत एव हेतोस्तदुपदेशोऽपि भवतः प्रमाण-मेव। न हि गुरूपदेशमतिक्रम्य प्रवर्तमानः शिष्योऽभीष्टार्थसाधको भवति। परमगुरूपदेशश्चैवं वर्तते-निरुपमधृतिसंहननाद्यतिशयरहितेनाचेलकेन नैव भवितव्यम्। तत् किं त्वमित्थं गुरू-पदेशबाह्येन नाग्न्येनात्मानं विगोपयसीति?” हेम.वृत्ति / विशेषावश्यकभाष्य / गा.२५८५।

८०. “इह यथा रोगी वैद्यस्योपदेशं करोति, तत्करणमात्रेणैव च रोगाद् विमुच्यते न पुनरसौ तद्वेषं करोति, नापि तच्चरितमाचरति, न च तत् कुर्वाणोऽप्यसौ प्रगुणीभवति --- तैर्नैव प्रकारेण जिन-वैद्यस्यादेशं कुर्वाणस्तद्वेषचरिते अनाचरन्पि कर्मरोगादपैति वियुज्यते, न पुनस्तेषामादेशम-कुर्वाणस्तन्नेपथ्य-चरितबिभ्रानोऽपि तस्माद् वियुज्यते, केवलं तद्योग्यता-रहितत्वान्नेपथ्य-चरिताभ्यां प्रवर्तमान उन्मादादिभाजनभेव भवतीति।” हेम.वृत्ति / विशेषावश्यकभाष्य / गा.२५८६-८७।

आवश्यकता रहेगी, न दीक्षा देने की। (हेम.वृत्ति/विशे.भा./गा.२५८८-८९)। इसलिए जैसे तुम्हें यह मान्य है कि तीर्थकरों के साथ लिंग और चारित्र को छोड़कर शेष अतिशयों की अपेक्षा शिष्यों का सर्वसाधर्म्य नहीं हो सकता, अपितु किंचित् ही साधर्म्य हो सकता है, वैसे ही हमें यह मान्य है कि लिंग और चारित्र की अपेक्षा भी कुछ ही साधर्म्य होता है, सर्वसाधर्म्य नहीं। उदाहरणार्थ, लिंग की अपेक्षा भी केवल केशलोच का साधर्म्य होता है, अचेलत्व का नहीं और चारित्र की अपेक्षा एषणीय आहार के परिभोग, अनियतवास आदि की समानता होती है, पाणिपात्रभोजित्व की नहीं, क्योंकि हमलोगों में अतिशय का अभाव होने से ये धर्म हमारे योग्य नहीं हैं।”^{८१}

२

दिगम्बरमत को निह्वममत (मिथ्यामत) सिद्ध करने की चेष्टा

उपर्युक्त दृष्टान्तों और युक्तियों से श्वेताम्बराचार्यों ने तीर्थकर के शिष्य-प्रशिष्यों को तीर्थकरलिंग (अचेललिंग) ग्रहण करने के अयोग्य बतलाया है और इससे यह सिद्ध करने की चेष्टा की है कि दिगम्बरजैन मुनि वज्रवृषभनाराच-संहनन आदि योग्यताओं से रहित पुरुषों के लिए निषिद्ध जिनलिंग (अचेललिंग) धारण करते हैं, अतः जिनाज्ञा के विरुद्ध आचरण करने से उनका मत जिनोक्तमत नहीं है, अपितु निह्वममत अर्थात् जिनोपदेश-विपरीत स्वकल्पित मिथ्यामत है।

श्वेताम्बराचार्यों ने वस्त्रपात्रलब्धिमान् सर्वोच्च जिनकल्पिक साधु को भी मुख-वस्त्रिका और ऊननिर्मित रजोहरण, इन दो उपकरणों का धारी बतलाया है और तीर्थकरों को भी एक देवदूष्य (वस्त्र) कन्धे पर डालकर प्रव्रजित होनेवाला कहा है। किन्तु बोटिक शिवभूति जो श्वेताम्बरसाधु का वेश धारण किये हुए था, मुखवस्त्रिकादि समस्त उपकरणों का परित्याग कर नग्न हो जाता है। तब गुरु आर्यकृष्ण कहते हैं—

“यदयं यस्त्वया सर्वथोपकरणत्यागः कृतः स दृष्टान्तीकृतानां तीर्थकर-जिनकल्पिकादीनामपि न दृश्यते, केवलं नूतनः कोऽपि त्वदीय एवायं मार्ग इति।” (हेम.वृत्ति/विशे.भा./गा.२५-८४)।

८१. “यथा जिनेन्द्रैः सह ‘निरुवमधिसंघयणा चउनाणाइसयसत्तसंपण्णा’ (विशे.भा./गा.२५८९) इत्यादिना ग्रन्थेन प्रतिपादितैर्लिङ्गाच्चरिताच्च शैषैरतिशयैः सर्वसाधर्म्यं नाभिमतं भवतः, किं तर्हि? किञ्चित् साधर्म्यमेव, तथा तेनैव प्रकारेण लिङ्गेन चरितेन च किञ्चित् साधर्म्यमेव तैः सहाभिमतमस्माकं, न तु सर्वसाधर्म्यम्। तच्च साधर्म्यं लिङ्गतो लोचकरणमात्रेण न पुनरचेलत्वेन, चरित्रेण त्वेषणीयाहार-परिभोगाऽनियतवासादिना, न तु पाणिभोजित्वेन, निर-तिशयत्वेन तदयोग्यत्वादस्मदादीनाम्।” हेम.वृत्ति/विशेषावश्यकभाष्य/गा.२५९०।

अनुवाद—“जो तुमने यह समस्त उपकरणों का त्याग कर दिया है, वह उन तीर्थकरों और जिनकल्पकों में भी दिखायी नहीं देता, जिनके लिंग को तुमने अनुकरणीय बतलाया है। अतः यह तुम्हारा अपना ही कोई नया मार्ग है।”

नया मार्ग चलानेवाले को ही श्वेताम्बराचार्यों ने ‘निह्वव’ कहा है।^{८२} और ‘बोटिक’ नाम से अभिहित किये जानेवाले दिग्म्बरों को उन्होंने उपर्युक्त कारण से नवीनमत-प्रवर्तक कहकर श्वेताम्बर साधुओं के वेश की अपेक्षा वेश (द्रव्यलिंग) से भी भिन्न, सर्वापलापी, महामिथ्यादृष्टि बोटिकनिह्वव कहा है—“अष्टमं नगरं द्रव्यलिङ्गमात्रेणापि भिन्नानां सर्वापलापिनां महामिथ्यादृशां वक्ष्यमाणानां बोटिकनिह्ववानां लाघवार्थमुत्पत्ति-स्थानमुक्तम्।” (हेम.वृत्ति/विशे. भा./गा. २३०३)।

श्री जिनभद्रगणी ने श्वेताम्बर-मान्य धर्म को ही महावीरप्रणीत धर्म मानकर दिग्म्बरमत को महावीर द्वारा उपदिष्ट मत, लिंग (वेश) और चर्या से भिन्नमत, भिन्नलिंग और भिन्नचर्यावाला मिथ्यामत कहा है—“भिन्नमयलिंगचरिया मिच्छद्दिट्ठि त्ति बोडिया-उभिमया।” (विशे. भा./गा. २६२०)।

३

हीनसंहननधारियों को भी तीर्थकरलिंग-ग्रहण का उपदेश

इसके प्रमाण

तीर्थकर अचेललिंगधारी होते हैं। अतः अचेललिंग ही तीर्थकरलिंग या जिनलिंग है। श्री जिनभद्रगणी आदि श्वेताम्बराचार्यों ने तीर्थकरों के शिष्यप्रशिष्यों को हीनसंहननधारी होने के कारण अचेललिंग के अयोग्य बतलाया है और इसी कारण उनके लिए तीर्थकरलिंग निषिद्ध घोषित किया है। किन्तु यह मान्यता निम्नलिखित युक्तियों और प्रमाणों से मनगढ़न्त सिद्ध होती है—

३.१. महावीर का उपदेश पंचमकाल के जीवों के लिए भी

पंचमकाल में भगवान् महावीर का तीर्थ प्रवर्तमान है, जिससे सिद्ध है कि उनका उपदेश पंचमकाल के जीवों के लिए भी है। इसीलिए जीव पंचमकाल में सप्तम गुणस्थान तक आध्यात्मिक विकास कर सकता है। भगवान् महावीर ने एकमात्र अचेलकधर्म का उपदेश दिया है, यह श्वेताम्बरशास्त्रों से ही प्रमाणित है। इससे साबित होता है कि पंचमकाल के हीनसंहननधारी प्रमत्त-अप्रमत्तसंयत मुनियों के लिए अचेललिंग का ही उपदेश दिया गया है, अर्थात् सर्वज्ञ ने उन्हें अचेललिंग ग्रहण करने योग्य माना है।

८२. देखिए, पादटिप्पणी ३०।

३.२. अचेलकधर्म का उपदेश तीर्थकरों के लिए नहीं

कोई भी तीर्थकर धर्म का उपदेश तीर्थकरों के लिए नहीं देता, क्योंकि वे स्वयंबुद्ध होते हैं। अतः भगवान् महावीर ने अचेलकधर्म का उपदेश साधारण पुरुषों के लिए ही दिया है। जिस भव में तीर्थकरपर्याय उदय में आती है, उस भव के पूर्व तक तीर्थकरप्रकृति का बन्ध करनेवाले पुरुष भी साधारण ही होते हैं, क्योंकि वे पूर्वतीर्थकर के उपदेश के अनुसार प्रवर्तन करके ही तीर्थकरप्रकृति का बन्ध करते हैं। तथा केवल वज्रवृषभनाराच-संहननधारियों को महावीर ने अचेलक धर्म का उपदेश दिया है, यह भी सिद्ध नहीं होता, क्योंकि पंचमकाल के हीनसंहननधारी पुरुष भी उसी उपदेश के अनुसार प्रवर्तन करके सप्तमगुणस्थान तक आत्मोन्नति कर रहे हैं। भगवान् महावीर ने अचेलकधर्म के अतिरिक्त अन्य किसी धर्म का उपदेश दिया ही नहीं है।

३.३. आस्रव-बन्ध-संवर-निर्जरा के हेतु सब के लिए समान

चतुर्थकाल हो या पंचमकाल, भरतक्षेत्र हो या ऐरावत अथवा विदेह, उत्तमसंहननधारी हो या हीनसंहननधारी, तीर्थकर हो या अतीर्थकर, सर्वत्र-सर्वकाल सभी के कर्मों के आस्रव, बन्ध, संवर और निर्जरा के हेतु समान होते हैं। अर्थात् किसी को भी, कहीं भी, किसी भी काल में कर्मों का आस्रव होगा, तो मिथ्यादर्शन, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग से ही होगा और संवर होगा तो इनके ही अभाव से होगा। तथा इन कारणों के होने पर न तो उत्तमसंहननधारी आस्रव से बच सकता है, न हीनसंहननधारी। इसी प्रकार चौथे से सातवें गुणस्थान तक उत्तमसंहननधारी के तथा उसी भव में तीर्थकर होनेवाले पुरुष के कर्मों का उपशम, क्षयोपशम या क्षय भी उन्हीं कारणों से होता है, जिनसे हीनसंहननधारी के कर्मों का होता है। चौथे गुणस्थान में इकतालीस कर्म-प्रकृतियों का संवर वज्रवृषभनाराचसंहननवाले में भी होता है और शेष संहननवालों में भी। अप्रत्याख्यानावरणकषाय के क्षयोपशम से दस प्रकृतियों के आस्रव का और प्रत्याख्यानावरण के क्षयोपशम से चार प्रकृतियों के आस्रव का निरोध वह पुरुष भी करता है, जो उसी भव में तीर्थकर होनेवाला है, और वह भी जो नहीं होनेवाला है। क्षपकश्रेणी पर वज्रवृषभनाराच-संहननधारी ही आरूढ़ होते हैं। इस श्रेणी के विभिन्न गुणस्थानों में कर्मों के आस्रव और क्षय का क्रम तीर्थकर होनेवाले मुनियों और सामान्य मुनियों में बिल्कुल एक जैसा होता है। और कार्यकारण-व्यवस्था का यह नियम है कि समान कार्य की उत्पत्ति समान कारण से ही होती है। कारण के स्वरूप में अन्तर होने पर कार्य के स्वरूप में भी अन्तर होना अवश्यम्भावी है। बाह्यवेश परिग्रहात्मक और अपरिग्रहात्मक होता है, अतः उसका प्रभाव अन्तरंग परिणामों पर अनिवार्यतः पड़ता है। इस प्रकार आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा, उपशम, क्षयोपशम, क्षय आदि समान कार्य के लिए समान आत्मपरिणाम और समान आत्मपरिणाम के लिए समान बाह्यलिंग

की अनिवार्यता सिद्ध होती है, जिससे यह निर्णय होता है कि हीनसंहननधारी में तीर्थकर-गृहीत अचेललिंग धारण करने की योग्यता होती है, उसके ही माध्यम से वह सप्तम-गुणस्थान पर आरूढ़ हो पाता है, अतः हीनसंहननधारी के लिए जिनेन्द्र ने अचेललिंग-ग्रहण का निषेध नहीं, अपितु उपदेश किया है।

भगवती-आराधना के टीकाकार अपराजितसूरि तीर्थकरगृहीत अचेललिंग को ही सभी मोक्षार्थियों के लिए ग्राह्य बतलाते हुए लिखते हैं—

“जिनानां प्रतिबिम्बं चेदमचेललिङ्गं । ते हि मुमुक्षवो मुक्त्युपायज्ञा यद् गृहीत-
वन्तो लिङ्गं तदेव तदर्थिनां योग्यमित्यभिप्रायः । यो हि यदर्थी विवेकवान् नासौ
तदनुपायमादत्ते, यथा घटार्थी तुरिवेमादीन् । मुक्त्यर्थी च यतिर्न चेलं गृह्णाति मुक्तेरनु-
पायत्वात् । यच्चात्मनोऽभिप्रेतस्योपायस्तन्नियोगत उपादत्ते यथा चक्रादिकं, तथा
यतिरपि अचेलताम् । तदुपायता च अचेलताया जिनाचरणादेव ज्ञानदर्शनयोरिव ।”
(वि.टी./भ.आ./गा. 'जिणपडिरूवं'/८४/पृ.१२०)।

अनुवाद—“अचेललिंग जिनदेवों का प्रतिबिम्ब है। जिनेन्द्रदेव मोक्ष के अभिलाषी थे और मोक्ष के उपाय को जानते थे। अतः उन्होंने जिस लिंग को धारण किया, वही सभी मोक्षार्थियों के योग्य है। क्योंकि जो विवेकवान् होता है, वह जिस वस्तु को चाहता है, उसे प्राप्त न करानेवाले उपाय को नहीं अपनाता। जैसे घट चाहनेवाला मनुष्य तुरी, वेमा आदि को ग्रहण नहीं करता, क्योंकि वे घटनिर्माण के साधन नहीं हैं (अपितु, पटनिर्माण के साधन हैं), वैसे ही मुक्ति चाहनेवाला मुनि वस्त्र ग्रहण नहीं करता, क्योंकि वह मुक्ति का उपाय नहीं है। किन्तु, जो स्वाभिलषित वस्तु का उपाय होता है, उसे विवेकवान् मनुष्य नियम से ग्रहण करता है, जैसे घट चाहनेवाला चक्र, दण्ड आदि को। वैसे ही मोक्षार्थी मुनि भी अचेलता को नियम से अपनाता है। और अचेलता सम्यग्दर्शन एवं सम्यग्ज्ञान के समान मुक्ति का उपाय है, यह जिनेन्द्रदेव के ही आचरण से सिद्ध है।”

अपराजितसूरि ने स्पष्ट शब्दों में कहा है कि तीर्थकरमार्गानुयायी गणधरों तथा उनके शिष्यों ने तीर्थकरगृहीत अचेललिंग को ग्रहण किया था—

“तीर्थकराचरितत्वं च गुणः । संहननबलसमग्रा मुक्तिमार्गप्रख्यापनपरा जिनाः
सर्व एवाचला भूता भविष्यन्तश्च । यथा मेवादिपर्वतगताः प्रतिमास्तीर्थकरमार्गानु-
यायिनश्च गणधरा इति तेऽप्यचलास्तच्छिष्याश्च तथैवेति सिद्धमचेलत्वम् ।”
(वि.टी./भ.आ./गा. 'आचेलक्कुद्देसिय'/४२३/पृ.३२३)।

अनुवाद—“तीर्थकरों के मार्ग का अनुसरण अचेलता से ही संभव है। संहनन और बल से परिपूर्ण तथा मोक्षमार्ग का उपदेश देने में तत्पर सभी तीर्थकर अचेल

थे तथा भविष्य में भी अचेल ही होंगे। जैसे मेरु आदि पर्वतों पर विराजमान जिनप्रतिमाएँ अचेल हैं और तीर्थकरों के मार्ग के अनुयायी गणधर अचेल होते हैं, वैसे ही उनके शिष्य भी उन्हीं की तरह अचेल होते हैं। इस प्रकार अचेलता ही मोक्ष का मार्ग सिद्ध होती है।”

इन प्रमाणों से श्वेताम्बराचार्यों का यह कथन मनगढ़न्त सिद्ध होता है कि हीनसंहननधारी पुरुष तथा तीर्थकरों के वज्रवृषभनाराच-संहननधारी शिष्य तीर्थकरगृहीत लिंग और चर्या के अयोग्य होते हैं, इस कारण उनके लिए उक्त लिंग और चर्या के ग्रहण का निषेध किया गया है।

३.४. पञ्चमकालीन प्रमत्त-अप्रमत्तसंयतों को भी नाग्न्यपरीषह

तत्त्वार्थसूत्र की रचना श्वेताम्बरशास्त्रोक्त जिनकल्प के व्युच्छेद के बाद हुई है, अतः उसमें जिनकल्पियों के आचार का वर्णन नहीं हो सकता। उसमें जिनकल्प और स्थविरकल्प का उल्लेख भी नहीं है। उस पर लिखे गये तत्त्वार्थभाष्य में भी नहीं है। इसलिए उसमें वर्णित आचार न तो जिनकल्पियों का माना जा सकता है, न स्थविरकल्पियों का। हाँ, उसमें ऐसे मुनिधर्म का भी वर्णन है, जो केवल चतुर्थकाल में होनेवाले वज्रवृषभनाराच आदि तीन उत्तम-संहननधारियों के लिए ही संभव है, जैसे उपशमश्रेणी और क्षपकश्रेणी पर आरूढ़ होना तथा उक्त श्रेणियों में संभव परिहारविशुद्धि, सूक्ष्मसाम्पराय और यथाख्यातचारित्र का आचरण करना। इन श्रेणियों से नीचे के गुणस्थानों में ग्रहण करने योग्य बतलाया गया आचार पंचमकाल के हीनसंहननधारी श्रावकों और मुनियों से भी सम्बन्धित है। श्री जिनभद्रगणी ने जम्बूस्वामी के निर्वाण के बाद जिन दस पदार्थों का व्युच्छेद बतलाया है, उनमें तत्त्वार्थसूत्रवर्णित संवर के उपायों में से केवल उपर्युक्त तीन प्रकार के चारित्र ही शामिल हैं, शेष दो चारित्र तथा गुप्ति, समिति, धर्म, अनुप्रेक्षा और परीषहजय का व्युच्छेद नहीं बतलाया है। इसका तात्पर्य यह है कि बाईस परीषह पंचमकाल में हीनसंहननधारी मुनियों को भी होते हैं। उनमें एक नाग्न्यपरीषह भी है, जिससे सिद्ध होता है कि तत्त्वार्थसूत्र के अनुसार हीनसंहननधारी मुनि भी जिनलिंगधारी होते हैं। तत्त्वार्थसूत्र में नाग्न्य के मुख्य और उपचरित भेद नहीं किये गये हैं, तत्त्वार्थभाष्य में भी ऐसा ही है। इससे स्पष्ट है कि तत्त्वार्थसूत्र-कार को वास्तविक नाग्न्य ही मान्य है, उपचरित नहीं।

३.५. हीनसंहननधारी को भी नग्न होने पर ही शीतादिपरीषह संभव

जैसा कि ऊपर स्पष्ट किया गया है, तत्त्वार्थसूत्र में हीनसंहननधारी मुनि को कर्मनिर्जरा के लिए शीतादि बाईसपरीषहों पर विजय प्राप्त करने का उपदेश

दिया गया है। उनमें शीत, उष्ण, दंशमशक आदि परीषह नग्नमुनि को ही हो सकते हैं, वस्त्रधारी को नहीं। भगवती-आराधना की 'आचेलक्कुद्देसिय' गाथा (४२३) की टीका में अपराजितसूरि 'उत्तराध्ययन' के परीषहसूत्रों का निर्देश करते हुए कहते हैं—

“इदं चाचेलताप्रसाधनपरं शीतदंशमशकतृणस्पर्शपरीषहसहनवचनं परीषह-सूत्रेषु। न हि सचेलं शीतादयो बाधन्ते।” (वि.टी./भ.आ./पृ.३२६)।

अनुवाद—“(उत्तराध्ययन के) परीषहसूत्रों में जो शीत, दंशमशक, तृणस्पर्श आदि परीषहों के सहन करने का कथन है, उससे सिद्ध होता है कि साधु को अचेल (नग्न) रहने का ही उपदेश दिया गया है, क्योंकि वस्त्रधारी को शीतादि-परीषह नहीं होते।”

आचारांग के “अदुवा तत्थ परक्कमंतो भुज्जो अचेलं तणफासा फुसन्ति, सीयफासा फुसन्ति” इत्यादि सूत्र (आचा./१/७/७/२२०-२२१) की वृत्ति में शीलाङ्गाचार्य लिखते हैं—“अचेलतया शीतादिस्पर्शं सम्यग्गधिसहेतेति” अर्थात् अचेल (नग्न) रहने से शीतादिस्पर्श को भलीभाँति सहन किया जाता है। (देखिए, आगे अध्याय ३ / प्रकरण १ / शीर्षक ६)।

इन वचनों से भी यही प्रतिपादित होता है कि हीनसंहननधारी को भी आगम में जिनलिंग धारण करने योग्य बतलाया गया है।

३.६. आचारांग में अचेलत्व से संयम-शिष्टता की हानि अमान्य, ह्री-कुत्साभयत्याग प्रशंसित

श्वेताम्बरागम स्थानांगसूत्र में कहा गया है कि साधु को तीन कारणों से ही वस्त्र धारण करना चाहिए—१. हीप्रत्यय से (लज्जानुभव होने के कारण), २. जुगुप्सा-प्रत्यय से (लोकनिन्दा के भय से) तथा ३. परीषहप्रत्यय से (परीषह-सहन में असमर्थ होने के कारण)—“तिहिं ठाणेहिं वत्थं धारेज्जा, तं जहा-हिरिपत्तियं दुगुंछापत्तियं परीसहपत्तियं।” (स्था.सू./३/३/३४७/१५०)।

जिनभद्रगणी जी का कथन है कि “जो जिनकल्प के अयोग्य होते हैं उनमें ये तीनों कारण अवश्य होते हैं (और पंचमकाल में सभी जिनकल्प के अयोग्य हैं) अतः उन्हें वस्त्र अवश्य धारण करना चाहिए। भले ही कुत्सा (जुगुप्सा = लोकनिन्दा)^{८३} और परीषह से बचने के लिए धारण न किये जायँ, पर ह्री अर्थात् लज्जा, जो कि संयम है, उसके पालन के लिए अवश्य धारण किये जायँ। अन्यथा शीतादि से बचने

८३. “जुगुप्सा लोकविहिता निन्दा।” हेम.वृत्ति/विशेषावश्यकभाष्य/गा.२५५३-५७।

के लिए जो अग्निप्रज्वलन आदि कार्य किये जायेंगे, उनसे जीवहिंसारूप महान् असंयम होगा।”^{८४}

और प्रवचनपरीक्षाकार कहते हैं—“यदि शीतादिसहन करने के लिए वस्त्रधारण किये जाते हैं, तो किये जायें, किन्तु अवाच्य (नाम भी न लेने योग्य) अवयव (शिश्न) को छिपाने के लिए तो धारण करना ही चाहिए।”^{८५}

किन्तु ये मान्यताएँ आचारांग-वर्णित मान्यताओं के विपरीत हैं। आचारांग में श्रमणाचार के जिनकल्प और स्थविरकल्प-रूप भेद नहीं किये गये हैं।^{८६} उसमें साधुओं के सामान्य आचार का वर्णन है। उसमें सामान्य-साधुओं में से ही किसी में लज्जा का सद्भाव, किसी में अभाव, किसी को परीषह सहने में समर्थ, किसी को असमर्थ बतलाते हुए उन्हें योग्यतानुसार वस्त्रधारण करने अथवा अचेल रहने का उपदेश दिया गया है, किन्तु अचेलत्व के गुण दर्शाते हुए जोर अचेल रहने पर ही दिया गया है। यह कहीं भी नहीं कहा गया है कि “वर्तमान में अचेललिंग धारण करने की योग्यता समाप्त हो गयी है, इसलिए सभी साधुओं को वस्त्र धारण करना चाहिए, अचेल किसी को भी नहीं होना चाहिए।”

स्थानांग और उत्तराध्ययनसूत्र में सचेलत्व की अपेक्षा अचेलत्व की श्रेष्ठता का प्रति-पादन कर अचेलत्व को ही चुनने की प्रेरणा दी गई है। (इन ग्रन्थों के उद्धरण आगे तृतीय अध्याय के प्रथम प्रकरण (शीर्षक ६,७) में द्रष्टव्य हैं)।

इस प्रकार श्वेताम्बरागम आचारांग, स्थानांग और उत्तराध्ययन में अचेलत्व को श्रेष्ठ एवं ग्राह्य बतलाया गया है, जिससे सिद्ध है कि इन श्वेताम्बर-आगमों में अचेलत्व को न तो संयम का घातक माना गया है, न शिष्टता-सभ्यता अथवा लोकमर्यादा के विरुद्ध स्वीकार किया गया है, बल्कि जो मुक्त्यर्थी साधु नग्न होने पर लज्जा का अनुभव नहीं करता तथा कुत्सा (लोकनिन्दा) से भयभीत नहीं होता, उसे प्रशंसनीय

८४. जिणकप्पाजोग्गाणं ही कुच्छा-परीसहा जओऽवस्सं।

ही लज्जं ति व सो संजमो तदत्थं विसेसेण ॥ २६०३ ॥ विशेषावश्यकभाष्य।

“जिनकल्पायोग्यानां साधूनां ही-कुत्सा-परीषहलक्षणं वस्त्रधारणकारणं पूर्वाभिहितस्वरूपम-वश्यमेव सम्भवति ततो धरणीयमेव वस्त्रम्। यदि वा कुत्सा-परीषहार्थं तद् न ध्रियते तथापि हीर्लज्जा स च संयमस्तदर्थं तावद् विशेषेणैव वस्त्रं धरणीयम्। अन्यथाऽग्निज्वलनादिना बृहदसंयममापतेरिति।” हेम.वृत्ति / विशेषावश्यकभाष्य / गा. २६०३।

८५. “अथ शीतादिसहनार्थं वस्त्रं परिह्रियते इति चेत् परिह्रियतां नाम तदर्थं, परमवाच्यावयवगोपन-निमित्तं तु धर्तव्यमेव।” प्रवचनपरीक्षा / १ / २ / ३१ / पृ. ९५।

८६. आचारांग के वृत्तिकार शीलांकाचार्य (९-१० वीं शती ई०) ने वृत्ति में अपनी ओर से ये भेद दर्शाने का प्रयत्न किया है।

माना गया है, क्योंकि यह सच्चे वैराग्य का लक्षण है, जो मोक्षमार्ग का प्राण है। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि श्री जिनभद्रगणी आदि श्वेताम्बराचार्यों ने आगम के नाम पर अचेतत्व को जो लज्जा, कुत्सा एवं असंयम का हेतु और लोकमर्यादा के विरुद्ध बतलाकर साधु के लिए वस्त्रधारण को अनिवार्य ठहराया है, वह आगमवचन नहीं है, अपितु उनका मनगढ़न्त दर्शन है।

३.७. वैराग्यपरिणत ज्ञानी नग्नमुनि का लिंगोत्थान संभव नहीं

जिनभद्रगणी-क्षमाश्रमण आदि आचार्यों ने साधु के लिए वस्त्रधारण आवश्यक होने का एक महत्त्वपूर्ण कारण यह बतलाया है कि स्त्रीदर्शन आदि से साधु का लिंगोत्थान संभव है। नग्न रहने पर उसका लोगों की दृष्टि में आना अनिवार्य है। इससे मुनि और धर्म की निन्दा तथा दर्शक स्त्रियों में भी कामविकार की उत्पत्ति होगी, जो निन्दनीय है। इसे रोकने के लिए साधु को वस्त्रधारण करना अनिवार्य है।^{८७}

श्री जिनभद्रगणी आदि का यह कथन एकान्तवाद से दूषित है। यह स्थिति उन्हीं साधुओं में संभव है, जो वैराग्यपरिणत, ज्ञानी और अन्तर्मन से मुक्त्यर्थी नहीं हैं, अपितु जिनके मन में भोगाकांक्षा अवदमित रूप में विद्यमान है। और ऐसे साधुओं में भी लोकभय के कारण सार्वजनिक स्थान में लिंगोत्थान की अत्यल्प संभावना होती है। किन्तु जो साधु वैराग्यपरिणत, ज्ञानी और अन्तर्मन से मुक्ति के अभिलाषी हैं, वे प्रतिपल अपने ब्रह्मचर्य की रक्षा में यत्नशील होते हैं। उनके लिंगोत्थान की एकान्त में भी संभावना नहीं होती, सार्वजनिक स्थान की तो बात ही दूर।

वर्तमान में दिगम्बरमुनियों के अनेक संघ विद्यमान हैं, जिन्हें स्त्रियाँ आहारदान करती हैं, उनके दर्शन करती हैं, प्रवचन सुनती हैं, किन्तु युवा मुनियों के भी अंगों में कामविकार नहीं देखा जाता। नग्नावस्था में मुनि के मन में कामविकारोत्पत्ति-निमित्तक लोकनिन्दा का भय भी सक्रिय रहता है और यह मनोविज्ञान का नियम है कि भय की अवस्था में कामविकार की उत्पत्ति असंभव हो जाती है। हाँ, सवस्त्र अवस्था

८७. क—वे उव्वेऽवायडे वाइये हीख्हे पज्जणे चेव।

तेसिं अणुग्गहट्ठा लिंगुदयट्ठा य पट्टो ओ ॥ ५ ॥

“तत्र प्रजनने मेहने ‘वेउच्चित्ति’ वैक्रिये विकृते तथा अप्रावृतेऽनावृते, वातिकेचोत्सूनत्व-भाजने, हिंया लज्जया सत्या खड्धे बृहत्प्रमाणे ‘लिंगुदयट्ठित्ति’ स्त्रीदर्शने लिङ्गोदयरक्षणार्थं च पटश्चोलपट्टो मत इति।” हेम.वृत्ति/विशेषावश्यकभाष्य/गा. २५७५-७९।

ख—“एवमुक्तप्रकारेण जिनकल्पिकाः स्थविरकल्पिकाश्चेत्युभयेऽपि प्रागुक्तगुणहेतवे वस्त्राणि बिभ्रति। अन्यथा प्रवचनखिंसादयः स्त्रीजनस्यात्मनश्च मोहोदयादयो बहवो दोषाः स्युः।” प्रवचनपरीक्षा / १ / २ / ३१ / पृ. ९५।

में मुनि कामविकारजन्य लोकनिन्दा के भय से मुक्त हो जाता है, अतः इस अवस्था में अजितेन्द्रिय मुनि के मन में कामविकार की उत्पत्ति संभव है। अपराजित सूरि ने इस मनोवैज्ञानिक सत्य का बड़े ही सुन्दर दृष्टान्त द्वारा उद्घाटन किया है। वे कहते हैं—“जैसे सर्पों से भरे जंगल में विद्या-मन्त्र आदि से रहित पुरुष बड़ी सावधानी से चलता है, वैसे ही जो अचेल होता है वह इन्द्रियों को वश में करने का दृढ़ प्रयत्न करता है, अन्यथा शरीर में विकार उत्पन्न होने पर लज्जित होने की नौबत आ सकती है।”^{८८} वे आगे लिखते हैं—“अचेलता में चित्त की विशुद्धता को प्रकट करने का गुण है। जो शरीर को लँगोटी आदि से ढँक लेते हैं, उनके चित्त की विशुद्धि का ज्ञान नहीं हो पाता। किन्तु जो अचेल रहते हैं, उनके शरीर की निर्विकारता आन्तरिक विरागता को प्रकट कर देती है।”^{८९}

यह नाग्न्यपरीषह को जीतने का लक्षण है। नाग्न्यपरीषहजय के वैराग्यभावनारूप मनोवैज्ञानिक उपाय को भट्ट अकलंकदेव ने तत्त्वार्थराजवार्तिक में रेखांकित किया है। (देखिये, अगला शीर्षक)। तत्त्वार्थसूत्र में हीनसंहननधारी मुनियों के लिए नाग्न्यपरीषहजय का उपदेश है। इससे सिद्ध है कि लिंगोत्थान की संभावना के नाम से मुनियों के लिए वस्त्रधारण को अपरिहार्य बतलाना आगमवचन नहीं है, अपितु कल्पितवचन है।

३.८. नपुंसक बनाये जाने की धारणा हास्यास्पद

श्वेताम्बराचार्यों की यह दृढ़ धारणा है कि श्रावक हो या साधु, वस्त्रधारी हो या नग्न, निमित्त मिलने पर उसका लिंगोत्थान हुए बिना नहीं रह सकता। अतः उसे छिपाने के लिए वे साधु का वस्त्रधारण अनिवार्य मानते हैं। इसलिए दिगम्बर मुनि नग्न रहने पर भी जो इस दोष से मुक्त रहते हैं, उसके विषय में कुछ नये श्वेताम्बर साधुओं की यह धारणा है कि उन्हें ओषधिविशेष का रस पिलाकर नपुंसक बना दिया जाता है, इसी कारण उनके पुरुषांग में विकार उत्पन्न नहीं होता।

एक ‘शिशु आचार्य’ उपाधिधारी श्री नरेन्द्रसागर सूरि नाम के वर्तमान श्वेताम्बराचार्य ने ‘क्या दिगम्बर प्राचीन हैं’ नामक लघु पुस्तिका में पृष्ठ २० पर लिखा है—

८८. “सर्पाकुले बने विद्यामन्त्रादिरहितो यथा पुमान् दृढप्रयत्नो भवति एवमिन्द्रियनियमने अचेलोऽपि प्रयतते। अन्यथा शरीरविकारो लज्जनीयो भवेदिति।” विजयोदयाटीका/भगवती-आराधना/गा. ‘आचेलकुक्षेसिय’/४२३/पृ.३२१।

८९. “चेतोविशुद्धिप्रकटनं च गुणोऽचेलतायाम्। कौपीनादिना प्रच्छादयतो भावशुद्धिर्न ज्ञायते। निश्चेलस्य तु निर्विकारदेहतया स्फुटा विरागता।” विजयोदयाटीका/भगवती-आराधना/गा./४२३/पृ.३२२।

“उनके (दिगम्बर जैन मुनियों के) ही सहवासियों से उनकी कमजोर बातें जानने को मिली हैं कि जैसे नसबन्दी किये हुए पुरुष को कामोद्दीपक पदार्थ उपस्थित होने पर भी उनकी इन्द्रियाँ उत्तेजित नहीं होती हैं, उसी तरह प्रभावक कहलाते दिगम्बर मुनियों को पहले से ही वनस्पति के रस पिलाकर उनको पुरुषत्वनाशक स्थितिवाले बना देते हैं। इस बात में कितना रहस्य है, उसकी बुद्धिशाली को ही परीक्षा करनी चाहिए।”

आचार्य जी का यह कथन बाल-उक्तियों के समान हास्यास्पद है। पहली बात तो यह है कि परिवारनियोजन के लिए जो पुरुष अपनी नसबन्दी कराते हैं, उससे वे नपुंसक नहीं बनते, चिकित्साविज्ञान इसे प्रमाणित करता है। यदि पुरुष नपुंसक बनता, तो कोई भी पुरुष नसबन्दी के लिए तैयार नहीं होता, सभी पुरुष अपनी पत्नी की ही नसबन्दी कराते।

दूसरी बात यह है कि यदि दिगम्बर मुनियों को वनस्पति का रस पिलाकर नपुंसक बनाया जाता होता, तो अपराजित सूरि यह न लिखते कि “जो अचेत होता है, वह इन्द्रियों को वश में करने का दृढ़ प्रयत्न करता है, अन्यथा शरीर में विकार उत्पन्न होने पर लज्जित होने की नौबत आ सकती है” क्योंकि नपुंसक बना दिये जाने पर शरीर में विकार उत्पन्न होने की नौबत आ ही नहीं सकती। किन्तु उन्होंने ऐसा लिखा है, इससे स्पष्ट है कि दिगम्बर जैन मुनियों को वनस्पति का रस पिलाकर नपुंसक बनाये जाने की बात कपोलकल्पित है।

तीसरी बात यह है कि स्त्री के दर्शनचिन्तन आदि से पुरुषांग में जो विकार उत्पन्न हो सकता है, उसे वैराग्यभावना द्वारा उत्पन्न न होने देने को ही तत्त्वार्थसूत्र में नाग्न्यपरीषहजय और स्त्रीपरीषहजय कहा गया है, जिसका स्पष्टीकरण टीकाकारों ने इस प्रकार किया है—

“नाग्न्यमभ्युपगतस्य स्त्रीरूपाणि नित्याशुचिबीभत्सकुणपभावेन पश्यतो वैराग्य-भावनावरुद्धमनोविक्रियस्याऽसम्भावितमनुष्यत्वस्य नाग्न्यदोषासंस्पर्शनात् परीषहजय-सिद्धिरिति जातरूपधरणमुत्तमं श्रेयः प्राप्तिकारणमित्युच्यते। इतरे पुनर्मनोविक्रियां निरोद्धुमसमर्थास्तत्पूर्विकाङ्क्षविकृतिं निगूहितकामाः कौपीन-फलक-चीवराद्यावर-णमातिष्ठन्ते अङ्गसंवरणार्थमेव तन्न कर्मसंवरकारणम्।” (तत्त्वार्थराजवार्तिक / ९ / ९/१०)।

अनुवाद—“जिसने नाग्न्यव्रत स्वीकार किया है, वह स्त्रीरूप को नित्य अपवित्र, बीभत्स शव-कंकाल के समान समझता हुआ वैराग्यभावना से मनोविकार को अवरुद्ध करता है, जिससे नग्नता में दोष का स्पर्श नहीं हो पाता (पुरुषाङ्ग में विकार उत्पन्न

नहीं होता)। इसे नाग्न्यपरीषहजय कहते हैं। अतः जातरूप को धारण करना उत्तम है तथा श्रेयःप्राप्ति का कारण है। जो अन्य साधु मनोविकार को रोकने में असमर्थ होते हैं, वे तज्जन्य अंगविकार को छिपाने के लिए लँगोटी, अर्द्धफालक, चीवर आदि धारण करते हैं। इससे केवल अंग का संवरण (आच्छादन) होता है, कर्मों का संवर नहीं।”

“एकान्तेष्वारामभवनादिप्रदेशेषु नवयौवनमदविभ्रममदिरापानप्रमत्तासु प्रमदासु बाधमानासु कूर्मतेन्द्रियविकारस्य ललितस्मित-मृदुकथित-सविलासवीक्षण-प्रहसनमद-मन्थरगमन-मन्मथशरव्यापार-विफलीकरणस्य स्त्रीबाधापरिषह-सहनमवगन्तव्यम्।” (स.सि./९/९)।

अनुवाद—“एकान्त उद्यान, भवन आदि में बैठे हुए मुनि के ब्रह्मचर्य को जब नवयौवन के मद से मत्त-हावभाववाली तथा मदिरापान से प्रमत्त प्रमदाएँ भंग करने का प्रयत्न करें, तब जैसे कछुआ अपने अंगों को संवृत कर लेता है, वैसे ही मुनि का अपने इन्द्रियविकार को रोक कर प्रमदाओं के मधुर स्मित (मुस्कान), मीठी बातें, हावभावपूर्वक देखना-हँसना, मदमाती चाल आदि कामबाणों के प्रहार को विफल कर देना स्त्रीपरीषहजय कहलाता है।”

इन व्याख्यानों में आचार्यों ने कहा है कि मुनि के मन में काम-विकार उत्पन्न हो सकता है, जिससे उसके पुरुषांग में भी विकार संभव है, अतः मुनि को उसे वैराग्यभावना से रोकना चाहिए।

यदि मुनि को वनस्पति-विशेष का रस पिलाकर नपुंसक बनाने का विधान होता, तो कामविकार को वैराग्यभावना से रोकने का उपदेश न दिया जाता, क्योंकि तब पुरुषांग (लिंग) में विकार की उत्पत्ति संभव ही न होती और उसके फलस्वरूप नाग्न्य-परीषह एवं स्त्रीपरीषह को परीषहों में शामिल भी न किया जाता। इसके बदले चरणानुयोग के ग्रन्थों में मुनिदीक्षाविधि के अन्तर्गत यह उल्लेख किया जाता कि दीक्षार्थी को दीक्षा के पूर्व अमुक-अमुक ओषधि का रस पिलाकर नपुंसक बना दिया जाय। किन्तु यह उल्लेख किसी भी दिगम्बरग्रन्थ में नहीं है।

श्वेताम्बरमान्य ‘आचारांग’ और ‘स्थानांग’ में भी पूर्ण अचेलकता (नग्नता) को सर्वश्रेष्ठ बतलाया गया है^{१०} और उनमें किसी भी मुनि को न तो जिनकल्पी कहा गया है, न किसी को वस्त्रलब्धि प्राप्त होने का कथन है। अतः आचारांगोक्त नग्नवेश अपनानेवाले मुनियों के सामने भी पुरुषांग में विकारोत्पत्ति की समस्या का प्रसंग आता

१०. देखिये, तृतीय अध्याय/प्रथम प्रकरण/शीर्षक ७।

है। किन्तु उक्त श्वेताम्बर-आगमों में भी मुनियों को ओषधि-विशेष का रसपिलाकर नपुंसक बनाने की व्यवस्था का निर्देश नहीं है। इसके विपरीत दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनों परम्पराओं के शास्त्रों में (जैसे 'तत्त्वार्थसूत्र' में) मुनि को 'नाग्न्य' एवं 'स्त्री'-परीषहों के होने की संभावना का उल्लेख किया गया है तथा वैराग्यभावना से कामविकार का निरोधकर उनपर विजय प्राप्त करने का उपदेश दिया गया है। पूज्यपाद स्वामी एवं भट्ट अकलंकदेव के वचन पूर्व में उद्धृत किये जा चुके हैं।

श्वेताम्बराचार्य श्री हरिभद्रसूरि ने भी लिखा है कि विशिष्टश्रुतपरिणति आदि से रहित मुनि ही निर्वस्त्र रहने पर स्त्री के दर्शन से (पुरुषचिह्न में विकृति उत्पन्न होने के कारण) निर्लज्जता को प्राप्त हो सकता है, विशिष्ट श्रुतपरिणति आदि से युक्त मुनि नहीं—“लज्जार्थं वस्त्रं, तद्वातिरेकेणाङ्गनादौ विशिष्टश्रुतपरिणत्यादिरहितस्य निर्लज्जतोप-पत्तेः” (हारि. वृत्ति/दश. वै. सू./६/१९)। दिगम्बरजैन मुनि स्त्री के रूप में सदा अपवित्र और बीभत्स शव के दर्शन करते हैं। इस विशिष्ट ज्ञानपरिणति के कारण उनके मन में वैराग्यभाव प्रवाहित होता रहता है, फलस्वरूप कामविकार उत्पत्ति नहीं हो पाती।

उपर्युक्त प्रमाणों से सिद्ध है कि श्वेताम्बराचार्य श्री नरेन्द्रसागर सूरि का यह कथन कि दिगम्बर मुनियों को वनस्पति का रस पिलाकर नपुंसक बना दिया जाता है, सर्वथा कपोलकल्पित एवं दुर्भावनापूर्ण है।

श्वेताम्बराचार्य जी ने उपर्युक्त आगमवचनों का अवलोकन नहीं किया और न वनस्पति का रस पिलाकर मुनियों को नपुंसक बनाये जाने की क्रिया अपनी आँखों से देखी है। उन्होंने आगमज्ञानहीन किन्हीं रथ्यापुरुषों से सुनी हुई बात को सत्य मान लिया है। उसकी उन्होंने स्वयं परीक्षा भी नहीं की। परीक्षा का कार्य उन्होंने बुद्धिशालियों पर छोड़ दिया है, जैसा कि उन्होंने स्वयं लिखा है—“इस बात में कितना रहस्य है, उसकी बुद्धिशाली को ही परीक्षा करनी चाहिए।” (पृ. २०)। इस प्रकार उन आचार्य जी के ही वचनों से सिद्ध है कि उनके द्वारा कही हुई बात एक अफवाह है, जो स्वयं उनके द्वारा फैलायी गयी है या उनके ही सम्प्रदाय के अन्य लोगों के द्वारा।

अतः अपराजितसूरि, पूज्यपाद स्वामी एवं भट्ट अकलंक देव का यह कथन अकाट्य है कि नग्न रहने से मुनि अपनी इन्द्रियों को वश में करने का दृढ़ प्रयत्न करता है और उससे उसके चित्त की विशुद्धि प्रकट होती है।

आजीविक साधु और श्वेताम्बरीय आगमों को मानने वाले कुछ यापनीय साधु भी नग्न रहते थे, किन्तु उनके विषय में भी यह उल्लेख नहीं मिलता कि उन्हें वनस्पति-विशेष का रस पिलाकर पुंस्त्वहीन कर दिया जाता था। जैनैतर भारतीय साहित्य में भी यह मनोवैज्ञानिक सत्य मान्य है कि जिसकी इन्द्रियाँ अविजित हैं, वह वस्त्र धारण

करने पर भी नग्न है और जिसने इन्द्रियों को जीत लिया है, वह नग्न रहने पर भी अनग्न है। देखिये, लिंगपुराण की यह उक्ति—

इन्द्रियैरजितैर्नग्नो दुकूलेनापि संवृतः।
तैरेव संवृतो गुप्तो न वस्त्रं कारणं स्मृतम्॥ १ / ३४ / १४।

ये प्रमाण सिद्ध करते हैं कि न केवल दिगम्बरग्रन्थों में, अपितु श्वेताम्बरमान्य आगमों में भी हीनसंहननधारी पुरुषों के लिए अचेललिंग को अंगीकार करने का उपदेश दिया गया है। अतः उनके लिए अचेललिंग के निषिद्ध होने का कथन मनगढ़न्त है। और यतः हीनसंहननधारियों के लिए अचेललिंग का अंगीकार भगवान् महावीर द्वारा निषिद्ध नहीं है, अतः अचेललिंगधारी साधुओं की परम्परावाला दिगम्बरजैनमत निह्ववमत नहीं है, अपितु तीर्थंकरप्रणीत है, यह स्वतः सिद्ध होता है। इससे इस रहस्य का उद्घाटन हो जाता है कि दिगम्बरमत को निह्ववमत सिद्ध करने की चेष्टा के पीछे श्वेताम्बराचार्यों का एकमात्र प्रयोजन पंचमकाल में श्वेताम्बरमान्य सचेललिंग को ही जिज्ञोक्त, उचित एवं अनिवार्य ठहराना है, जो सत्य नहीं है, क्योंकि श्वेताम्बरग्रन्थों से ही सिद्ध है कि भगवान् महावीर ने एकमात्र अचेलकधर्म का उपदेश दिया है।

४

दिगम्बरपरम्परा में जिनलिंग आज भी प्रवर्तमान

जम्बू स्वामी के बाद भी जिनलिंगधारी मुनियों की परम्परा विद्यमान रही और आज तक चली आ रही है। उनके बाद विष्णु, नन्दिमित्र, अपराजित, गोवर्धन और भद्रबाहु, ये पाँच श्रुतकेवली हुए। तत्पश्चात् क्रमशः विशाखाचार्य आदि ग्यारह दशपूर्व-धारियों ने, नक्षत्र आदि पाँच एकादशांगधारियों ने, सुभद्र आदि चार दश-नव-अष्टांग धारकों ने तथा अर्हद्वलि, माघनन्दी, धरसेन, पुष्पदन्त, भूतबलि इन पाँच एकांगधारकों एवं गुणधर ने^{११} जिनलिंग ग्रहण कर अपने विशाल जिनलिंगी मुनिसंघों के साथ दिगम्बर-परम्परा को देदीप्यमान किया। उनके पश्चात् आचार्य कुन्दकुन्द, शिवार्य, वट्टकेर, गृध्रपिच्छ, यतिवृषभ, समन्तभद्र, स्वामिकुमार, पूज्यपाद देवनन्दी, सिद्धसेन, भट्ट अकलंक, वीरसेन, जिनसेन, गुणभद्र, अमृतचन्द्र, जयसेन आदि बहुश्रुत दिगम्बराचार्यों की दीर्घपरम्परा अवतरित हुई, जिन्होंने अपनी अमर साहित्यिक कृतियों से भगवान् महावीर के उपदेश को भव्य जीवों तक पहुँचाने का श्लाघ्य कार्य किया।

वर्तमान युग में भी आचार्य शान्तिसागर जी, आचार्य वीरसागर जी, आचार्य शिवसागर जी, आचार्य देशभूषण जी, आचार्य ज्ञानसागर जी, आचार्य विमलसागर जी, आचार्य

११. देखिये, नन्दिसंघ की प्राकृतपट्टावली (षट्खण्डागम / पु.१ / प्रस्तावना / पृ.२१-२३)।

धर्मसागर जी, आचार्य विद्यासागर जी, आचार्य विद्यानन्द जी, आचार्य वर्धमानसागर जी, उपाध्याय ज्ञानसागर जी आदि जैसे परमपूज्य दिगम्बराचार्यों, उपाध्यायों और उनके विशाल शिष्यसमुदायों ने जिनलिंग धारण कर उसकी महती प्रभावना की है और कर रहे हैं। अनेक सुप्रसिद्ध बहुमान्य ज्ञानी-ध्यानी-संयमी-तपस्वी जिनलिंगी आचार्य, उपाध्याय और उनके शिष्य आत्मसाधना और धर्म-प्रभावना द्वारा जिनलिंग की महिमा ख्यापित कर रहे हैं। वर्तमान में इन दिगम्बर आचार्यों, उपाध्यायों और साधुओं की उपस्थिति जिनलिंगी-परम्परा के अद्यावधि अविच्छिन्न रहने का जीवन्त प्रमाण है। इससे साबित होता है कि भगवान् महावीर द्वारा प्रणीत अचेलत्व या जिनलिंग का आचरण पंचमकाल में अच्छी तरह संभव है।

५

श्वेताम्बरों का दिगम्बरमत के प्रति आकर्षण

पंचमकाल में जिनलिंगग्रहण संभव होने के कारण ही उसकी समीचीनता का अनुभव कर प्राचीनकाल से ही अनेक श्वेताम्बर मुनि और श्रावक श्वेताम्बरपरम्परा को छोड़कर दिगम्बरपरम्परा में आते रहे हैं और आ रहे हैं। आर्य महागिरि का उल्लेख पूर्व में किया जा चुका है। दिगम्बरपंथ को स्वीकार करनेवाले एक और आचार्य हैं आर्य वज्रस्वामी। तिलोयपण्णत्ती में अन्तिम प्रज्ञाश्रमण के रूप में बताये गये वज्रयश नाम के आचार्य से आर्य वज्रसूरि के अभिन्न होने की संभावना मान्य डॉ० हीरालाल जी जैन ने व्यक्त की है। (षट्खण्डागम/पुस्तक २/ प्रस्तावना / पृष्ठ ३४-४०)।^{९२}

श्वेताम्बराचार्य श्री हस्तीमल जी ने भी दिगम्बर वज्रमुनि और श्वेताम्बर आर्यवज्र को एक ही व्यक्ति बतलाया है। वे लिखते हैं—

“श्वेताम्बर-परम्परा की तरह दिगम्बर-परम्परा के ‘उपासकाध्ययन’ और हरिषेण-कृत ‘वृहत्कथाकोश’ में भी प्रभावना अंग का वर्णन करते हुए वज्रमुनि का उल्लेख किया गया है। दोनों परम्पराओं में वज्रमुनि को विविध विद्याओं का ज्ञाता और धर्म का प्रभावक माना गया है। दोनों परम्पराओं में एतद्विषयक जो अन्तर अथवा समानता है वह संक्षेप में इस प्रकार है—

“श्वेताम्बर-परम्परा में आर्य वज्र के पिता का नाम धनगिरि और माता का नाम सुनन्दा बताया गया है, जबकि दिगम्बरसाहित्य में आर्य वज्र को पुरोहित सोमदेव और यज्ञदत्ता का पुत्र बताया है। दिगम्बरपरम्परा के उपर्युक्त दोनों ग्रन्थों में उल्लेख है कि जिस समय आर्य वज्र गर्भ में थे, उस समय उनकी माता यज्ञदत्ता को आम्रफल

९२. गुरुपरम्परा से प्राप्त दिगम्बर जैन आगम : एक इतिहास/पृष्ठ ६२।

खाने का दोहद उत्पन्न हुआ। उस समय आम्रफल की ऋतु नहीं थी। दोहद की पूर्ति न हो सकने के कारण यज्ञदत्ता दिन-प्रतिदिन दुर्बल होने लगी। सोमदेव को अपनी गर्भिणी पत्नी के कृषकाय होने का कारण ज्ञात हुआ, तो वह बड़े असमंजस में पड़ गया। अन्ततोगत्वा वह अपने कुछ छात्रों के साथ आम्रफल की खोज में घर से निकला। वह अनेक आम्रनिकुंजों, वनों और उद्यानों में घूमता फिरा, किन्तु असमय में आम्रफल कहाँ से प्राप्त होता? पर सोमदेव हताश नहीं हुआ, वह आगे बढ़ता ही गया। एक दिन वह एक विकट वन में पहुँचा। उस वन के मध्यभाग में उसने एक सघन आम्रवृक्ष के नीचे बैठे हुए एक तपस्वी श्रमण को देखा। यह देख कर उसके हर्ष का पारावार नहीं रहा कि वह आम्रवृक्ष बड़े-बड़े एवं पक्व आम्रफलों से लदा हुआ है। आम्र की ऋतु नहीं होते हुए भी आम्रवृक्ष को आम्रफलों से लदा देख कर सोमदेव ने उसे मुनि के तपस्तेज का प्रभाव समझा और भक्तिविभोर होकर उसने मुनि के चरणों पर अपना मस्तक रख दिया। सोमदेव ने अपने साथ आये हुए छात्रों में से एक छात्र के साथ अपनी पत्नी के पास आम्रफल भेज दिया और शेष छात्रों के साथ मुनि की सेवा में बैठकर उपदेश-श्रवण करने लगा। मुनि के त्याग-वैराग्यपूर्ण उपदेश और उनसे अपने पूर्वभव के वृत्तान्त को सुन कर सोमदेव को जातिस्मरण-ज्ञान हो गया। भीषण भवाटवी के भयावह भवप्रपंच से मुक्त होने की एक तीव्र उत्कण्ठा उसके अन्तर में उद्भूत हुई और उसने तत्क्षण समस्त सांसारिक झंझटों को एक ही झटके में तोड़ कर उन अवधिज्ञानी सुमित्र मुनि के पास निर्ग्रथ-श्रमण-दीक्षा ग्रहण करली। सोमदेव के साथ आये हुए छात्र अहिच्छत्र नगर की ओर लौट गये। एक छात्र के साथ आये आम्र से यज्ञदत्ता का दोहदपूर्ण हो गया। बाद में आये छात्रों के मुख से अपने पति के प्रव्रजित होने का समाचार सुन कर यज्ञदत्ता को बड़ा दुःख हुआ। गर्भकाल की समाप्ति पर यज्ञदत्ता ने तेजस्वी पुत्र को जन्म दिया।

“उन्हीं दिनों मुनि सोमदेव अपने गुरु सुमित्राचार्य के साथ विचरण करते हुए सोपारक नगर आये। मुनि सोमदेव गुरु की आज्ञा ले पास ही के पर्वत पर पहुँचे और वहाँ एक शिला पर खड़े हो सूर्य की आतापना लेते हुए ध्यानमग्न हो गये। यज्ञदत्ता को जब यह विदित हुआ कि मुनि सोमदेव निकटस्थ पर्वत पर सूर्य की आतापना ले रहे हैं, तो वह नवजात शिशु को लेकर उस पर्वत पर मुनि के पास पहुँची। उसने बड़ी ही अनुनय-विनयपूर्वक सोमदेव को एक बार अपने तेजस्वी पुत्र की ओर देखने तथा घर लौट कर अपने गार्हस्थ्यभार को वहन करने की प्रार्थना की। बड़ी देर तक अनुनय-विनय करने के पश्चात् भी जब उसने देखा कि मुनि सोमदेव ने घर चलना तो दूर, अपने पुत्र की ओर आँख उठा कर भी नहीं देखा है, तो उसने कुद्ध हो आक्रोशपूर्ण स्वर में कहा—“ओ मेरे मन को जला डालनेवाले

पाषाणहृदय, मूर्ख, वंचक! इस दिगम्बरवेष को स्वेच्छा से छोड़ कर मेरे साथ घर चलता हो तो चल, अन्यथा सम्हाल अपने इस पुत्र को।

“इतना कहने पर भी मुनि को निश्चलभाव से ध्यानमग्न देख कर यज्ञदत्ता ने अपने उस कुसुमकोमल नवजात पुत्र को मुनि के चरणों पर लिटा दिया और स्वयं अपने घर की ओर लौट गई।

“सूर्य के प्रचण्ड ताप से शिला जल रही थी। पैरों पर से प्रतप्त शिला पर गिरने से बालक का कहीं प्राणान्त न हो जाय, इस करुणापूर्ण आशंका से मुनि सोमदेव अपने पैरों को विष्टर की तरह बनाये अचल मुद्रा में खड़े रहे। मुनि ने मन ही मन दृढ़ संकल्प किया कि जब तक वह उपसर्ग समाप्त नहीं हो जायगा, तब तक आहारादि ग्रहण करना तो दूर, शरीर को किंचिन्मात्र भी हिलाएँगे-डुलाएँगे तक नहीं। मुनि इस प्रकार का अभिग्रह कर पुनः ध्यानमग्न हो गये।

“यज्ञदत्ता के लौटने के थोड़ी ही देर पश्चात् भास्करदेव नामक विद्याधरराज अपनी पत्नी के साथ मुनिदर्शन हेतु वहाँ पहुँचा। जब उसने सुन्दर, स्वस्थ और तेजस्वी शिशु को मुनि के पैरों पर लेटे हुए देखा, तो मुनिवन्दन के पश्चात् उसने उसे उठा कर अपनी पत्नी की गोद में देते हुए कहा—“धर्मिष्ठे! लो, मुनिदर्शन के तात्कालिक सुखद फल के रूप में हम सन्ततिविहीनों को यह पुत्र मिल गया है।” सूर्य की प्रखर रश्मियों की ज्वालामाला का उस शिशु पर कोई प्रभाव नहीं पड़ा था, इस कारण विद्याधरदम्पती ने बालक का नाम ‘वज्र’ रखा। उन्होंने वज्र को अपना पुत्र घोषित करते हुए बड़े दुलार के साथ उसका लालन-पालन किया। शिक्षायोग्य वय में वज्र को समुचित शिक्षा दिलाने तथा चमत्कारपूर्ण विद्याएँ सिखाने की व्यवस्था की गई।

“दिगम्बर-परम्परा में श्वेताम्बर-परम्परा की तरह आर्य वज्र का साधुसंघ में रहना नहीं माना गया है। बृहत्कथाकोश के अनुसार पवनवेगा नाम की एक विद्याधर कन्या के साथ और उपासकाध्ययन के अनुसार इन्दुमती और पवनवेगा नामक दो कन्याओं के साथ वज्रकुमार का विवाह होना माना गया है।

“उपर्युक्त दोनों ग्रन्थों में बताया गया है कि अनेक वर्षों तक गार्हस्थ्यजीवन, का सुखोपभोग करने के पश्चात् एक दिन वज्रकुमार को अपने मित्रजनों से यह विदित हुआ कि भास्करदेव उसके पिता नहीं, अपितु पालक मात्र हैं। वस्तुतः उसके पिता तो सोमदेव हैं, जो उसके जन्म से पहले ही मुनि बन चुके हैं। वस्तु-स्थिति से परिचित होते ही वज्रकुमार ने प्रतिज्ञा कर डाली कि वह अपने पिता के दर्शन किये बिना अन्न-जल ग्रहण नहीं करेगा। भास्करदेव तत्काल वज्रकुमार को साथ लेकर मुनि सोमदेव के दर्शनों के लिये प्रस्थित हुआ। दर्शन-वन्दन के पश्चात् मुनि के त्याग-विरागपूर्ण

उपदेश को सुनकर वज्रकुमार को संसार से विरक्ति हो गई और उन्होंने उसी समय सोमदेव मुनि के पास निर्ग्रन्थ श्रमण-दीक्षा ग्रहण कर ली।

“श्वेताम्बर एवं दिगम्बर दोनों ही परम्पराओं में आर्य वज्र को चारणऋद्धि-सम्पन्न मुनि माना गया है और दोनों परम्पराओं के मध्ययुगीन कथासाहित्य में उनके द्वारा आकाशगामिनी विद्या के अद्भुत चमत्कारपूर्ण कार्यों से जिनशासन की महती प्रभावना किये जाने के उल्लेख उपलब्ध होते हैं।

“दिगम्बर-परम्परा के ग्रन्थों में आर्य वज्र के प्रगुरु का नाम सुमित्र और गुरु का नाम सोमदेव बताया गया है, जब कि श्वेताम्बर-परम्परा इन्हें जातिस्मरण-ज्ञानधारी आर्य सिंहगिरि का शिष्य मानती है। नाम, स्थान आदि विषयक कतिपय विभिन्नताओं के उपरान्त भी आर्य वज्र के पिता द्वारा वज्र के जन्म से अनुमानतः ६ मास पूर्व ही प्रव्रज्या ग्रहण करने, माता द्वारा उन्हें उनके पिता को दे दिये जाने, आर्य वज्र के गगनविहारी होने, जैनों के साथ बौद्धों द्वारा की गई धार्मिक उत्सव-विषयक प्रतिस्पर्धा में आर्य वज्र द्वारा जैनधर्मावलम्बियों के मनोरथों की पूर्ति के साथ जिन-शासन की महिमा बढ़ाने आदि आर्य वज्र के जीवन की घटनाओं एवं सम्पूर्ण कथावस्तु की मूल आत्मा में दोनों परम्पराओं का पर्याप्त साम्य है, जो यह मानने के लिये आधार प्रस्तुत करता है कि आर्य वज्र के समय तक जैनसंघ में पृथक्त्व: ‘श्वेताम्बर तथा दिगम्बर’ इस प्रकार का भेद उत्पन्न नहीं हुआ था।

“दोनों परम्पराओं के मान्य ये मुनि निश्चितरूप से वे ही वज्रमुनि हैं, जो वीर-निर्वाण की छठी शताब्दी में हुए आर्यरक्षित के विद्यागुरु थे। परम्पराभेद के प्रकट होने का इतिहास भी इसी बात को प्रमाणित करता है। कारण कि श्वेताम्बरपरम्परा की मान्यतानुसार श्वेताम्बर-दिगम्बर-परम्परा का स्पष्ट भेद आर्य वज्र के स्वर्गगमन के पश्चात् वीर नि० सं० ६०९ में और दिगम्बर-परम्परा की मान्यतानुसार वीर नि० सं० ६०६ में माना गया है।” (जै.ध.मौ.इ./ भा.२/ पृ.५८२-५८५)।

आचार्य श्री हस्तीमल जी ने वज्रमुनि और आर्यवज्र (ई० पू० ३१-ई० ५७) के एकत्व को उनके समय तक दिगम्बर-श्वेताम्बर-भेद न होने का प्रमाण माना है। किन्तु, वस्तुतः यह श्वेताम्बर आर्यवज्र का दिगम्बरमत स्वीकार करने का प्रमाण है, क्योंकि दिगम्बर-श्वेताम्बर-भेद तो जम्बूस्वामी के निर्वाण के पश्चात् ही हो गया था, इसका सप्रमाण प्रतिपादन षष्ठ अध्याय में द्रष्टव्य है।

डॉ० एम० डी० वसन्तराज का कथन है कि तत्त्वार्थसूत्र के कर्ता उमास्वामी भी श्वेताम्बर-परम्परा से दिगम्बर-परम्परा में आये थे। श्वेताम्बर-परम्परा में उनका

आदरणीय स्थान होने तथा तत्त्वार्थसूत्र की विषयवस्तु दिगम्बर-परम्परा के अनुरूप होने से यह संकेत मिलता है।^{१३}

नाटक समयसार के कर्ता सुप्रसिद्ध कवि पं० बनारसीदास जी (१७वीं शती ई०) जन्मना श्वेताम्बर थे। उन्होंने खरतरगच्छी श्वेताम्बराचार्य श्री भानुचन्द्र से शिक्षा प्राप्त की थी। उन्होंने जब आचार्य कुन्दकुन्द का 'समयसार' पढ़ा, तब उन्हें दिगम्बर आम्नाय में श्रद्धा हुई और पश्चात् गोम्मटसार का प्रवचन सुनकर वे दिगम्बरमत के अनुयायी बन गये।^{१४}

बीसवीं शताब्दी ई० के स्थानकवासी श्वेताम्बर साधु श्री कहान जी भी समयसार के अध्यात्मवाद से प्रभावित होकर दिगम्बर श्रावक बन गये थे। उनके साथ उनके सैकड़ों श्वेताम्बर श्रावक-शिष्यों ने भी दिगम्बरमत स्वीकार कर लिया था।

बीसवीं शताब्दी ई० के ही दिगम्बराचार्य श्री शिवसागर जी के शिष्य श्री श्रुतसागर जी भी जन्मना श्वेताम्बर थे, उनकी पुत्री ने भी दिगम्बर आम्नाय में आर्यिका दीक्षा ग्रहण की है। दिगम्बर-आर्यिका श्री विशालमति ने भी श्वेताम्बर परिवार में जन्म लिया था।

मुंबई के कई श्वेताम्बर परिवार सुप्रसिद्ध दिगम्बराचार्य श्री विद्यासागर जी के अनुयायी बन गये हैं। उनकी पुत्रियों ने आजीवन ब्रह्मचर्यव्रत ग्रहण किया है और भविष्य में आर्यिकाव्रत धारण करने का अभ्यास कर रही हैं।

सुखकर श्वेताम्बरमार्ग के अनुयायी सन्तों और श्रावकों का क्लेशकर दिगम्बरमार्ग के प्रति यह आकर्षण भी सिद्ध करता है कि हीनसंहननधारी पंचमकालीन पुरुष अचेल-लिंग के आचरण के अयोग्य नहीं हैं। अतः अयोग्य कहकर उनके लिए अचेल-लिंग या जिनलिंग को निषिद्ध ठहराना दुरभिसन्धिपूर्ण आगमविरुद्ध चेष्टा है।

१३. गुरुपरम्परा से प्राप्त दिगम्बर जैनागम : एक इतिहास/पृष्ठ ६५।

१४. तीर्थंकर महावीर और उनकी आचार्य परम्परा/खण्ड ४/पृ.२५१।



षष्ठ प्रकरण

सग्रन्थ के लिए 'निर्ग्रन्थ' शब्द का प्रयोग इतिहासविरुद्ध

भगवान् महावीर ने 'ग्रन्थ' शब्द का प्रयोग मोहरागादि अन्तरंगभावों एवं वस्त्रपात्रादि बाह्यद्रव्यों के अर्थ में किया है। अतः 'निर्ग्रन्थ' शब्द इन दोनों प्रकार के परिग्रह से रहित सर्वथा अचेल, नग्न, दिगम्बरसाधु का वाचक है। इसीलिए बौद्धसम्प्रदाय में भगवान् महावीर निगंठनाटपुत्त (निर्ग्रन्थनाथपुत्र/निर्ग्रन्थज्ञातपुत्र) के नाम से प्रसिद्ध हुए थे और उनका अनुयायी श्रमणसंघ निर्ग्रन्थसंघ कहलाया था। वैदिकसाहित्य, संस्कृतसाहित्य, शब्दकोशों और शिलालेखों में भी निर्ग्रन्थ शब्द दिगम्बरजैन साधुओं के लिए ही प्रयुक्त हुआ है। जम्बू स्वामी के निर्वाण के पश्चात् जब इस संघ के कुछ साधुओं ने वस्त्रपात्रादि-परिग्रह ग्रहणकर श्वेतपटश्रमणसंघ नाम से अलग संघ बना लिया, तब वे 'निर्ग्रन्थ' नाम के अधिकारी नहीं रहे, किन्तु अपने को भगवान् महावीर का उत्तराधिकारी सिद्ध करने के लिए उन्होंने इस नाम का अपहरण कर लिया और इसकी अपने अनुकूल व्याख्या कर डाली। उन्होंने वस्त्रपात्रादि-बाह्यपरिग्रह को ग्रन्थ की परिभाषा से बाहर कर दिया और केवल मोहरागद्वेषरूप अथवा मूर्च्छारूप आभ्यन्तरपरिग्रह को परिग्रह या 'ग्रन्थ' कहकर स्वयं को निर्ग्रन्थ घोषित कर दिया।^{१५} किन्तु वस्त्रपात्रादि-परिग्रहधारी पुरुष निर्ग्रन्थ शब्द के व्यवहार के अधिकारी नहीं हैं, क्योंकि यह वस्त्रपात्रादि-परिग्रहरहित दिगम्बरजैन मुनियों और उनके सम्प्रदाय की परम्परागत इतिहास-सिद्ध संज्ञा है। यह दिगम्बरजैन-साहित्य, बौद्धसाहित्य, वैदिकसाहित्य, संस्कृतसाहित्य, शब्दकोष एवं शिला-लेख-ताम्रपत्रलेख, इन समस्त ऐतिहासिक प्रमाणों से सिद्ध है। ये ऐतिहासिक प्रमाण सिद्ध करते हैं कि कम से कम गौतमबुद्ध के जीवनकाल (ईसापूर्व छठी शताब्दी) से 'निर्ग्रन्थ' शब्द वस्त्रपात्रादि-समस्त-परिग्रह से रहित दिगम्बरजैन मुनियों और उनके सम्प्रदाय के लिए ही प्रसिद्ध है। उक्त प्रमाण आगे प्रस्तुत किये जा रहे हैं—

१

दिगम्बरग्रन्थों में 'निर्ग्रन्थ' शब्द 'सर्वथा अचेल' का वाचक

जिनागम में परिग्रह को 'ग्रन्थ' कहा गया है।^{१६} यह दो प्रकार का है : आभ्यन्तर

१५. जंपि वत्थं वा पायं वा कंबलं पायपुंछणं।

तंपि संजमलज्जट्टा धारंति परिहरंति अ॥ ६/१९॥

न सो परिग्गहो वुत्तो नायपुत्तेण ताइणा।

मुच्छा परिग्गहो वुत्तो इअ वुत्तो महेसिणा॥ ६/२०॥ दशवैकालिकसूत्र।

१६. "परिग्रहः षड्जीवनिकायपीडाया मूलं मूर्च्छनिमित्तं चेति सकलग्रन्थत्यागो भवतीति पञ्चमं व्रतम्।" विजयोदयाटीका/भगवती-आराधना/'आचेलक्कु'/गा. ४२३/पृ.३३१।

और बाह्य। मिथ्यात्व, चार कषाय तथा नौ नोकषाय, ये चौदह अभ्यन्तर ग्रन्थ हैं और क्षेत्र, वास्तु, धन, धान्य, द्विपद, चतुष्पद, यान, शयन-आसन, कुप्य (वस्त्र) और भाण्ड (वर्तन) ये दस बाह्य ग्रन्थ^{१७} चौदह प्रकार के अभ्यन्तर-ग्रन्थ के त्याग से स्वात्मरूप प्रकट होता है और दस प्रकार के बाह्यग्रन्थ के परित्याग से नग्नत्व। इन दोनों को क्रमशः निश्चय और व्यवहारनय से यथाजातरूप कहा गया है। अतः निश्चयनय से स्वात्मरूप को तथा व्यवहारनय से नग्नत्व को धारण करनेवाला निर्ग्रन्थ कहलाता है, जैसा कि आचार्य जयसेन ने कहा है—

“व्यवहारेण नग्नत्वं यथाजातरूपं, निश्चयेन तु स्वात्मरूपं तदित्यंभूतं यथा-
जातरूपं धरतीति यथाजातरूपधरः निर्ग्रन्थः।” (ता.वृ./प्र.सा./गा.३/४)।

यतः वस्त्रादि-बाह्यग्रन्थ के त्याग से अभ्यन्तरग्रन्थ का त्याग सूचित होता है, अतः नग्नता निर्ग्रन्थ होने का बाह्य लक्षण है। इसीलिए आचार्य जयसेन ने कहा है—
“वस्त्रादिपरिग्रहरहितत्वेन निर्ग्रन्थः।” (ता.वृ./प्र.सा./गा.३/६९)।

भगवती-आराधना में ग्रन्थ शब्द का प्रयोग विशेषरूप से ‘वस्त्र’ के अर्थ में किया गया है—

इन्द्रियमयं शरीरं गन्धं गेणहृदि य देहसुखस्थं।

इन्द्रियसुहाभिलासो गन्धगहणेण तो सिद्धो॥ ११५७॥

अनुवाद—“शरीर इन्द्रियमय है। ग्रन्थ का ग्रहण मनुष्य देहसुख के लिए ही करता है। इसलिए जो ग्रन्थ का ग्रहण करता है, वह इन्द्रियसुख का अभिलाषी है, यह सिद्ध होता है।”

अपराजितसूरि ने इस गाथा की टीका में ‘ग्रन्थ’ शब्द का अर्थ ‘चादर आदि वस्त्र’ किया है। यथा—

“परिग्रहं च चेलप्रावरणादिकमिन्द्रियसुखार्थमेव गृह्णाति वातातपाद्यनभिमतस्पर्श-
निषेधाय।” (वि.टी./भ.आ./गा.११५७)।

अनुवाद—“वस्त्र, प्रावरण आदि का ग्रहण मनुष्य इन्द्रियसुख के लिए अर्थात् हवा, धूप आदि अप्रिय स्पर्श से बचने के लिए ही करता है।”

१७. मिच्छत्तवेदरागा तहेव हस्सादिया य छद्दोसा।

चत्तारि तह कसाया चोद्दस अब्भतरा गन्था॥ ४०७॥

खेत्तं वत्थु धणधण्णगदं दुपदचदुप्पदगदं च।

जाण-सयणासणाणि य कुप्पे भंडेसु दस होति॥ ४०८॥ मूलाच्चार।

भगवती-आराधना की निम्नलिखित गाथा में हवा, धूप, शीत, दंशमशक आदि की बाधा सहने के लिए जो वस्त्र त्याग देता है उसे निर्ग्रन्थ कहा गया है—

जम्हा णिग्गंथो सो वादादवसीददंस-मसयाणं।

सहदि या विविधा बाधा तेण सदेहे अणादरदा ॥ ११६६ ॥

आचार्य कुन्दकुन्द ने अचेलत्वप्रधान अट्टाईस मूलगुणों में दीक्षित (प्र.सा./३/८-९) यथाजातरूपधर (जधजादरूवजादं-प्र.सा./३/५) मुनि को निर्ग्रन्थरूप से दीक्षित कहा है—“णिग्गंथो पव्वइदो।” (प्र.सा.३/६९)।

इस प्रकार आचार्य कुन्दकुन्द, उनके ग्रन्थों के वृत्तिकार आचार्य जयसेन, भगवती-आराधना के कर्त्ता शिवार्य और उसके टीकाकार अपराजितसूरि ने नग्न मुनि को ही 'निर्ग्रन्थ' शब्द से अभिहित किया है।

भगवान् महावीर भी नग्न रहने के कारण ही 'निर्ग्रन्थ' या 'निगंठ' नाम से प्रसिद्ध हुए थे। इसीलिए बौद्ध साहित्य में उनका निगंठनाटपुत्त नाम से उल्लेख किया गया है। प्राचीन बौद्ध ग्रन्थ अंगुत्तरनिकाय में निगंठों को अहिरिका (अह्निक) अर्थात् 'निर्लज्ज' कहा गया है, जो उनके नग्न रहने का सूचक है। इसके अतिरिक्त दिव्यावदान, धम्मपद-अट्टकथा, आर्यशूरकृत जातकमाला, दाठावंस आदि बौद्धग्रन्थों में निर्ग्रन्थ शब्द का प्रयोग नग्न जैनसाधु के अर्थ में किया गया है।^{१८}

पाँचवीं शती ई० के वराहमिहिर ने 'बृहज्जातक' और 'लघुजातक' में नग्न जैन साधुओं को ही 'निर्ग्रन्थ' संज्ञा दी है। जाबालोपनिषद्, वायुपुराण (वैदिक), पद्मपुराण, मत्स्यपुराण, कूर्मपुराण, ब्रह्माण्डपुराण आदि में निर्ग्रन्थ शब्द से दिगम्बरमुनि ही संकेतित किये गये हैं।^{१९}

२

अभिलेखों में 'निर्ग्रन्थ' शब्द दिगम्बरजैन मुनि का वाचक

सम्राट् अशोक ने अपने सातवें स्तम्भलेख (२४२ ई० पू०) में लिखवाया है कि उसने सभी धार्मिक सम्प्रदायों तथा ब्राह्मणों, आजीविकों और निर्ग्रन्थों के कल्याणकारी कार्यों की देखरेख के लिए धर्ममहामात्य की नियुक्ति की है—

“धंममहामातापि मे ते बहुविधेषु अठेसु आनुगहिकेसु वियापटा से पव्वजीतानं चेव गिहिथानं च सव-पासंडेसु --- बाभनेसु आजीविकेसु --- निगंठेसु पि मे

१८. देखिए, चतुर्थ अध्याय/द्वितीय प्रकरण।

१९. देखिए, चतुर्थ अध्याय/प्रथम प्रकरण।

कटे इमे वियापटा होहंति।" (दिल्ली / टोपरा / स्तम्भलेख / क्र.१/ जै.शि.सं/ मा.च./ भा.२)।^{१००}

यहाँ 'निगंठ' शब्द से 'दिगम्बरजैन मुनि' अर्थ ही अभिप्रेत है, यह पाँचवीं शती ई० (४७०-४९० ई०)^{१०१} के कदम्बवंशीय राजाओं, श्रीविजयशिवमृगेशवर्मा एवं मृगेशवर्मा के निम्नलिखित अभिलेखों से प्रमाणित है। यथा—

१. "धर्ममहाराजः कदम्बानां श्रीविजयशिवमृगेशवर्मा कालवङ्गग्रामं त्रिधा विभक्त्य दत्तवान्। अत्र पूर्वमर्हच्छालापरमपुष्कलस्थाननिवासिभ्यः भगवदर्हन्महाजिनेन्द्र-देवताभ्यः एको भागः, द्वितीयोर्हत्प्रोक्तसंद्धर्मकरणपरस्य श्वेतपटमहाश्रमणसङ्घो-पभोगाय, तृतीयो निर्ग्रन्थमहाश्रमणसङ्घोपभोगायेति।" (देवगिरि-ताम्रपत्रलेख / क्र.९८ / जै. शि. सं./ मा. च./ भा. २)।

अनुवाद—“कदम्बवंशीय धर्ममहाराज श्रीविजयशिवमृगेशवर्मा ने कालवङ्ग नामक ग्राम तीन भागों में विभक्त कर दान किया। सर्वप्रथम उसका एक भाग अर्हत्-शाला के परमपुष्कल-स्थान में विराजित भगवान्-अर्हत्-महाजिनेन्द्रदेव के लिए दिया, दूसरा भाग अरहन्त द्वारा उपदिष्ट सद्धर्म का आचरण करने में तत्पर श्वेतपटमहाश्रमणसंघ के उपभोग के लिए और तीसरा भाग निर्ग्रन्थमहाश्रमणसंघ के उपभोग के लिए दिया।”

२. “श्रीशान्तिवरवर्मेति राजा --- तत्प्रियज्येष्ठतनयः श्रीमृगेशनराधिपः स्वार्थके नृपतौ भक्त्या कारयित्वा जिनालयम् श्रीविजयपलाशिकायां यापनि (नी)-यनिर्ग्रन्थ-कूर्चकानां स्ववैजयिके अष्टमे वैशाखे संवत्सरे कार्तिकपौर्णमास्याम् --- दत्तवान् भगवद्भयोऽर्हद्भ्यः।” (हल्सी-ताम्रपत्रलेख / क्र.९९ / जै. शि. सं./ मा. च./ भा. २)।

यह राजा शान्तिवर्मा के ज्येष्ठ पुत्र मृगेशवर्मा के दानपत्र का अंश है। इस दानपत्र में लिखा है कि मृगेशवर्मा ने अपने स्वर्गवासी पिता के प्रति भक्ति के करण पलाशिका नामक नगर में जिनालय का निर्माण कराकर अपनी विजय के आठवें वर्ष में कार्तिक की पौर्णमासी के दिन यापनीयों, निर्ग्रन्थों और कूर्चकों के लिए भूमिदान किया है। कूर्चक भी जैनों का ही एक सम्प्रदाय था।

इन अभिलेखों में श्वेताम्बरों के लिए श्वेतपट, यापनीयों के लिए यापनीय और कूर्चकों के लिए कूर्चक शब्द का प्रयोग किया गया है। अब दिगम्बर ही शेष रहते

१००. देहली-टोपरा में सात स्तम्भलेख हैं। उनमें यह सप्तम स्तम्भलेख है। (देखिए, डॉ.

शिवस्वरूपसहाय : 'भारतीय पुरालेखों का अध्ययन' / मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली/ तृतीय संस्करण/ २००० ई० / पृ. १२९-१३०)।

१०१. जैन शिलालेख संग्रह/ माणिकचन्द्र / भा.३/ प्रस्तावना : डॉ० गुलाबचन्द्र चौधरी / पृ. २३।

हैं। अतः सिद्ध है कि निर्ग्रन्थ शब्द दिगम्बरजैन मुनियों के लिए ही प्रयुक्त हुआ है। यह बात डॉ० सागरमल जी ने भी स्वीकार की है। वे लिखते हैं—

“दक्षिण भारत के देवगिरि और हल्सी के अभिलेखों के अध्ययन से यह स्पष्ट होता है कि ईसा की पाँचवी शती के उत्तरार्ध में दक्षिणभारत में निर्ग्रन्थ, यापनीय, कूर्चक और श्वेतपटमहाश्रमणसंघ का अस्तित्व था। दक्षिणभारत का यह निर्ग्रन्थमहा-श्रमणसंघ भद्रबाहु (प्रथम) की परम्परा के उन अचेल श्रमणों का संघ था, जो ईसापूर्व की तीसरी शती में बिहार से उड़ीसा के रास्ते लंका और तमिलप्रदेश में पहुँचे थे। उस समय उत्तर भारत में जैनसंघ इसी नाम से जाना जाता था और उसमें गण, शाखा का विभाजन नहीं हुआ था, अतः ये श्रमण भी अपने को इसी ‘निर्ग्रन्थ’ नाम से अभिहित करते रहे।---यह निर्ग्रन्थसंघ, यापनीय, कूर्चक और श्वेतपटसंघ से पृथक् था, यह तथ्य भी हल्सी और देवगिरि के अभिलेखों से सिद्ध है, क्योंकि इनमें उसे इनसे पृथक् दिखलाया गया है और तब तक इसका ‘निर्ग्रन्थसंघ’ नाम सुप्रचलित था।” (डॉ० सागरमल जैन अभिनन्दन ग्रन्थ/१९९८ ई०/पृष्ठ ६३२)।

ईसा की पाँचवीं शताब्दी (४७९ ई०) में ही उत्कीर्ण पहाड़पुर ताम्रपत्र में पंचस्तूपनिकाय के श्रमणों को निर्ग्रन्थ कहा गया है—

“काशिक-पञ्चस्तूपनिकायिक-निर्ग्रन्थश्रमणाचार्य-गुहनन्दिशिष्य-प्रशिष्याधि-ष्ठितविहारे भगवतामर्हतां गन्ध-धूप-सुमनोदीपाद्यर्थन्तलवटकनिमित्तं च अ (त) एव वटगोहालीतो---।” (पहाड़पुर - ताम्रपत्र लेख / क्र.१९/ जै.शि.सं./ भा.ज्ञा./ भा.४)।

इस अभिलेख का सारांश बतलाते हुए डॉ० विद्याधर जोहरापुरकर लिखते हैं—
“यह ताम्रपत्र गुप्तवर्ष १५९ के माघमास के ७ वें दिन लिखा गया था। ब्राह्मण नाथशर्मा तथा उसकी पत्नी रामी ने पुण्ड्रवर्धन के राजकोष में तीन दीनार देकर डेढ़ कुल्यवाप जमीन प्राप्त की।--- काशी के पञ्चस्तूपनिकाय के निर्ग्रन्थ श्रमणों के आचार्य गुहनन्दी के शिष्य-प्रशिष्यों का एक विहार वटगोहाली में था। वहाँ भगवान् अर्हत् की पूजा के लिए गन्ध, धूप, फूल, दीप आदि की व्यवस्था के लिए यह जमीन नाथशर्मा तथा रामी ने दान दी।” (जै.शि.सं./ भा.ज्ञा./ भा.४/ पृ.९)।

इस पञ्चस्तूपनिकाय में धवलाटीकाकार वीरसेनस्वामी और उनके शिष्य जिनसेन हुए थे। इसका परिचय देते हुए डॉ० गुलाबचंद्र जी चौधरी ने लिखा है—“नवमी शताब्दी के उत्तरार्ध में (सन् ८९८ के पहले) उत्तरपुराण के रचयिता गुणभद्र ने अपने गुरु जिनसेन और दादागुरु वीरसेन को सेनान्वय का कहा है। पर जिनसेन और वीरसेन ने जयधवला ओर धवलाटीका में अपने वंश को पंचस्तूपान्वय लिखा है। यह पंचस्तूपान्वय ईसा की पाँचवीं शताब्दी में निर्ग्रन्थसम्प्रदाय के साधुओं का एक संघ था, यह बात

पहाड़पुर (जिला राजशाही, बंगाल) से प्राप्त एक लेख से मालूम होती है। पञ्चस्तूपान्वय का सेनान्वय के रूप में सर्वप्रथम उल्लेख गुणभद्र ने, संभव है अपने गुरुओं के सेनान्त नाम को देखते हुए किया है।” (प्रस्तावना/पृ.४३-४४/जै.शि.सं./मा.च/भा.३)।

पञ्चस्तूपनिकाय के साथ भी ‘जैनधर्म का यापनीय सम्प्रदाय’ ग्रन्थ के लेखक ने छल करने की कोशिश की है। वे लिखते हैं—“पहाड़पुर (बंगाल) के एक अभिलेख में काशी के पंचस्तूपान्वय का उल्लेख हुआ है। --- यह संभावना की जा सकती है कि उत्तरभारत में अपने प्रारंभिककाल में यापनीय-परम्परा अपने को आर्यकुल-भद्रान्वय और पंचस्तूपान्वय के नाम से अभिहित करती हो।” (पृ.२०-२१)।

यह दिन के उजाले के समान स्पष्ट है कि धवलाकार वीरसेन और उनके शिष्य जिनसेन जैसे कट्टर दिगम्बराचार्यों ने अपने को पंचस्तूपान्वय का कहा है, तथा उपर्युक्त अभिलेख में गुहनन्दी के साथ ‘निर्ग्रन्थ’ विशेषण का प्रयोग हुआ है, जो उन्हें स्पष्टतः यापनीयों से भिन्न दिगम्बरपरम्परा का सिद्ध करता है, जिसके गवाह श्रीविजयशिवमृगेश्वरमन् और मृगेश्वरमन् के पूर्वोक्त अभिलेख हैं। इन प्रमाणों से सिद्ध है कि पंचस्तूपान्वय दिगम्बरपरम्परा का अन्वय था। फिर भी उक्त ग्रन्थलेखक ने यह संशय उत्पन्न करने की चेष्टा की है कि हो सकता है पंचस्तूपान्वय यापनीयपरम्परा का पूर्वनाम हो। यह प्रमाणों को ताक पर रख, जिज्ञासुओं की आँखों में संभावनाओं और अटकलों की धूल झोंककर दिगम्बरपरम्परा को बलात् अर्वाचीन सिद्ध करने का छलपूर्ण प्रयास है।

ये अभिलेख इस बात के प्रमाण हैं कि ईसा की पाँचवीं शती तक ‘निर्ग्रन्थ’ शब्द सर्वथा अचेत (नग्न) रहनेवाले दिगम्बरजैन मुनियों के लिए ही प्रसिद्ध था, अतः अशोक के स्तम्भाभिलेख में उल्लिखित ‘निर्ग्रन्थ’ शब्द दिगम्बरजैन मुनियों का ही वाचक है।

इन अभिलेखों से एक बात और स्पष्ट होती है कि पाँचवीं शती ई० तक श्वेताम्बरों के लिए ‘श्वेतपट’ शब्द तो प्रचलित था, किन्तु दिगम्बरों के लिए ‘दिगम्बर’ शब्द प्रचलित नहीं हुआ था। वे ‘निर्ग्रन्थ’ शब्द से ही जाने जाते थे। इससे सिद्ध होता है कि दिगम्बर-परम्परा ही भगवान् महावीर द्वारा प्रणीत मूल परम्परा है, इसलिए ‘मूलसंघ’ शब्द भी उसी का नामान्तर है। सर एम० मोनियर विलिअम्स की संस्कृत-इंग्लिश डिक्शनरी में भी निर्ग्रन्थ शब्द का अर्थ a naked Jaina mendicant (नग्न जैन साधु) दिया गया है।

इन साहित्यिक, शब्दकोशीय और अभिलेखीय प्रमाणों से स्पष्ट हो जाता है कि ‘निर्ग्रन्थ’ शब्द भगवान् महावीर के समय से ही दिगम्बर जैन मुनियों की पहचान

रहा है। अतः श्वेताम्बर मुनियों के द्वारा अपने लिए इस शब्द का प्रयोग किया जाना न्यायोचित नहीं है। यह न केवल सैद्धान्तिक भ्रम उत्पन्न करने की चेष्टा है, अपितु दिगम्बर मुनियों की ऐतिहासिक पहचान मिटाने का भी प्रयास है।

‘भगवती-आराधना’ के टीकाकार श्री अपराजितसूरि ने इस चेष्टा पर बड़ी चुभती टिप्पणी की है। वे लिखते हैं—

“चेलपरिवेष्टिताङ्ग आत्मानं निर्ग्रन्थं यो वदेत्तस्य किमपरे पाषण्डिनो न निर्ग्रन्थाः? वयमेव, न ते निर्ग्रन्था इति वाङ्मात्रं नाद्रियते मध्यस्थैः।” (वि.टी./भ. आ./गा. ‘आचेलक्कुद्देसिय’ ४२३/पृ.३२३)।

अनुवाद—“जो वस्त्रधारण करते हुए भी अपने को निर्ग्रन्थ कहता है, उसके अनुसार क्या अन्य सम्प्रदाय के साधु निर्ग्रन्थ सिद्ध नहीं होते? अवश्य होते हैं। हम ही निर्ग्रन्थ हैं, वे नहीं, यह तो कथनमात्र है। मध्यस्थपुरुष इसे स्वीकार नहीं करते।

तात्पर्य यह कि वस्त्रधारी को निर्ग्रन्थ कहने से सभी वस्त्रधारी निर्ग्रन्थ कहलाने लगेंगे, तब सग्रन्थ और निर्ग्रन्थ के भेद का कोई आधार ही नहीं रहेगा। अतः सग्रन्थ और निर्ग्रन्थ के भेद का बाह्य आधार वस्त्रधारण करना और न करना (सर्वथा नग्न रहना) ही है।

सर्वार्थसिद्धिकार पूज्यपादस्वामी ने सग्रन्थ होते हुए भी अपने को निर्ग्रन्थ कहनेवालों को विपरीत-मिथ्यादृष्टि कहा है—“सग्रन्थो निर्ग्रन्थः, केवली कबलाहारी, स्त्री सिध्यतीत्येवमादिः विपर्ययः” (८/१)।

३

डॉ० सागरमल जी के मत में परिवर्तन

ईसापूर्व चतुर्थ शती से दिगम्बरसंघ ही ‘निर्ग्रन्थसंघ’ नाम से प्रसिद्ध

पूर्व (प्रकरण ३ / शीर्षक ५) में डॉ० सागरमल जी के वे नवीन वचन उद्धृत किये गये हैं, जिनमें उन्होंने अपनी मान्यता में परिवर्तन कर यह मान लिया है कि तीर्थंकर महावीर का निर्ग्रन्थसंघ सर्वथा अचेल था। इस तरह यह सिद्ध हो जाता है कि महावीर के समय से जो अचेल श्रमणसंघ निर्ग्रन्थसंघ के नाम से प्रसिद्ध चला आ रहा था, वही वर्तमान में दिगम्बरसंघ के नाम से जाना जाता है। पूर्व (इसी प्रकरण के शीर्षक २) में डॉक्टर सा० के वे वचन भी उद्धृत किये गये हैं, जिनमें उन्होंने यह स्वीकार किया है कि ईसापूर्व तीसरी शती में^{१०२} भद्रबाहु (प्रथम) की

१०२. ईसापूर्व चौथी शती कहना चाहिए था।

परम्परा का जो श्रमणसंघ उत्तरभारत से दक्षिण गया था, वह भी अपने को निर्ग्रन्थसंघ कहता था, क्योंकि उस समय उत्तरभारत में जैनसंघ इसी नाम से जाना जाता था। डॉक्टर सा० के कथनानुसार यह अचेल निर्ग्रन्थसंघ ईसा की पाँचवीं शताब्दी तक निर्ग्रन्थसंघ के ही नाम से विख्यात था, क्योंकि पाँचवीं शती ई० के देवगिरि एवं हल्सी के ताप्रपत्रलेखों में इसी नाम से इसका उल्लेख है। डॉक्टर सा० ने स्पष्ट शब्दों में कहा है कि “आज की दिगम्बरपरम्परा का पूर्वज यही दक्षिणी अचेल निर्ग्रन्थसंघ है।” (देखिये, पूर्व प्रकरण ३/शी.५)। इससे सिद्ध हो जाता है कि दिगम्बरसंघ ही ईसापूर्व चौथी शताब्दी से और वस्तुतः तीर्थंकर महावीर के समय से निर्ग्रन्थसंघ नाम से प्रसिद्ध रहा है।

४

ईसापूर्व चतुर्थ शती से श्वेताम्बरसंघ ‘श्वेतपटसंघ’ नाम से प्रसिद्ध

डॉ० सागरमल जी ने लिखा है कि “दक्षिण का अचेल-निर्ग्रन्थसंघ भद्रबाहु (प्रथम) की परम्परा से और उत्तर का सचेल-निर्ग्रन्थसंघ स्थूलभद्र की परम्परा से विकसित हुआ।” (देखिये, पूर्व प्रकरण ३/शी.५)। किन्तु, निर्ग्रन्थसंघ के ऐसे अचेल और सचेल दो भेद किसी भी शिलालेख अथवा किसी भी सम्प्रदाय के साहित्य में नहीं मिलते। ईसापूर्व प्रथम शताब्दी के बौद्धग्रन्थ अपदान में सचेल-जैनश्रमणसंघ को श्वेतवस्त्रसंघ नाम से अभिहित किया गया है और ईसा की पाँचवीं शताब्दी के देव-गिरिताप्रपत्रलेख में उसका उल्लेख श्वेतपटश्रमणसंघ नाम से हुआ है। इससे प्रमाणित होता है कि स्थूलभद्र की परम्परा से विकसित सचेल-जैनश्रमणसंघ उनके समय (ईसापूर्व चौथी शताब्दी) से लेकर ईसा की पाँचवीं शताब्दी तक श्वेतपटश्रमणसंघ नाम से ही जाना जाता था। आज भी वह इसी नाम से या इसके पर्यायवाची श्वेताम्बरसंघ नाम से प्रसिद्ध है।

डॉक्टर सा० ने इसी प्रकरण ६ के शीर्षक २ में जो कथन किया है, उससे निर्ग्रन्थसंघ से पृथक् होकर अस्तित्व में आये सचेल-श्रमणसंघ के लिए ‘निर्ग्रन्थसंघ’ नाम के प्रयोग का औचित्य सिद्ध करनेवाला उनका तर्क भी सामने आता है। वह यह कि ‘ईसापूर्व चतुर्थ शताब्दी में उत्तरभारत में जैनसंघ ‘निर्ग्रन्थसंघ’ नाम से ही जाना जाता था। और सचेल-श्रमणसंघ जैन था, इसलिए उसका ‘निर्ग्रन्थ’ नाम उचित है।’ यह तर्क समीचीन नहीं है। यह सत्य है कि उस समय जैनसंघ ‘निर्ग्रन्थसंघ’ नाम से जाना जाता था, किन्तु यह स्मरणीय है कि वह जैनसंघ केवल अचेल-श्रमणों का संघ था। इसलिए ‘निर्ग्रन्थसंघ’ नाम से अचेल-जैनसंघ ही जाना जाता था। अतः जब सचेल-जैनसंघ की उत्पत्ति हुई, तब उसने अपनी सचेल-जैनसंघ के रूप में पहचान

कराने के लिए स्वयं को 'श्वेतपटश्रमणसंघ' नाम से प्रसिद्ध किया। तब इस नाम से सचेल-जैनसंघ जैनसम्प्रदाय के एक उपसम्प्रदाय के रूप में जाना जाने लगा। अपने लिए इस नये नाम का प्रयोग ही सिद्ध करता है कि सचेल-जैनश्रमणों के संघ के लिए 'निर्ग्रन्थसंघ' नाम उपयुक्त नहीं था। इसी प्रकार आगे चलकर उत्पन्न हुए यापनीय और कूर्चक संघों के लिए 'निर्ग्रन्थसंघ' नाम उचित नहीं था, इसीलिए इन संघों ने अपने लिए ये विशिष्ट नाम चुनें। इस प्रकार जैनसम्प्रदाय में विभिन्न उपसम्प्रदाय उत्पन्न हो जाने पर निर्ग्रन्थसंघ भी महाजैनसम्प्रदाय का एक उपसम्प्रदाय बन गया और वह जैनसम्प्रदाय का सामान्य नाम नहीं रहा। जैसे 'निर्ग्रन्थसंघ' शब्द से यापनीय-संघ का बोध नहीं हो सकता था, कूर्चकसंघ का बोध नहीं हो सकता था, वैसे ही सचेल-जैनश्रमणसंघ अर्थात् श्वेतपटश्रमणसंघ का भी बोध नहीं हो सकता था। इसी कारण सचेल-जैनश्रमणसंघ ने अपने विशिष्टरूप का बोध कराने हेतु स्वयं के लिए 'श्वेतपटश्रमणसंघ' नाम चुना। अतः डॉ० सागरमल जी द्वारा स्थूलभद्र की परम्परा से विकसित सचेल-श्रमणसंघ को 'सचेल-निर्ग्रन्थसंघ' नाम से अभिहित किया जाना युक्तिविरुद्ध, इतिहास-विरुद्ध एवं 'श्वेतपटसंघ' नामकरण करनेवाले प्राचीन श्वेताम्बरा-चार्यों के विरुद्ध है।

५

सम्प्रदायों के नामकरण के आधार : लिंग, देवता एवं तत्त्व

सम्प्रदायों का नामकरण दो आधारों पर हुआ है—१. मुनिलिंग एवं २. देवता और तत्त्व। निर्ग्रन्थ, श्वेतपट, कूर्चक, रक्तपट (बौद्धसाधु) आदि सम्प्रदाय-बोधक नाम मुनिलिंग के आधार पर प्रचलित हुए हैं। और जैनदर्शन-बौद्धदर्शन, जैनधर्म-बौद्धधर्म, जिनमत-बौद्धमत, जैनसम्प्रदाय-बौद्धसम्प्रदाय आदि नाम देवता (धर्म-दर्शन के प्रणेता आप्तपुरुष) एवं तत्त्वों (सिद्धान्तों) पर आधारित हैं, जैसा कि श्वेताम्बराचार्य श्री हरिभद्र-सूरि (७५० ई० अनुमानित) ने षड्दर्शनसम्बुचय में बतलाया है—

दर्शनानि षडेवात्र : मूलभेदव्यपेक्षया।

देवतातत्त्वभेदेन ज्ञातव्यानि मनीषिभिः ॥ २ ॥

अनुवाद—“चूँकि देवता और तत्त्वों के भेद की अपेक्षा मूलदर्शन छह ही हैं, अतः ये ही छह मूलदर्शन इस ग्रन्थ (षड्दर्शनसम्बुचय) में विद्वज्जनों द्वारा ज्ञातव्य हैं।”

उन छह मूल दर्शनों के नाम इस प्रकार हैं—

बौद्धं नैयायिकं सांख्यं जैनं वैशेषिकं तथा।

जैमिनीयं च नामानि दर्शनानाममून्यहो ॥ ३ ॥

जैनदर्शन के देवताश्रित नाम की व्याख्या करते हुए उक्त कारिका के वृत्तिकार श्री गुणरत्नसूरि लिखते हैं—

“जिना ऋषभादयश्चतुर्विंशतिरर्हन्तस्तेषामिदं दर्शनं जैनम्। एतेन चतुर्विंशतेरपि जिनानामेकमेव दर्शनमजनिष्ट, न पुनस्तेषां मिथो मतभेदः कोऽप्यासीदित्यावेदितं भवति।”

अनुवाद—“ऋषभ से लेकर महावीर पर्यन्त चौबीस अरहन्त (तीर्थकर) जिन कहलाते हैं। उनके दर्शन को जैनदर्शन कहते हैं। इससे यह सूचित होता है कि चौबीसों जिनों का एक ही दर्शन था, उनमें परस्पर कोई मतभेद नहीं था।”

हरिभद्रसूरि ने निम्नलिखित कारिका में जैनदर्शन नाम को जिनेन्द्र देवता पर आश्रित बतलाया है—“जिनेन्द्रो देवता तत्र रागद्वेषविवर्जितः---।” (षड्दर्शनसमुच्चय/कारिका ४५)।

इसी प्रकार जैन ('जोण्हकहियतच्चेसु'-नि.सा./गा.१३९, लिंगं--- जेण्हं-प्र.सा./३/६) जिनमत ('जिनमदम्हि'-प्र.सा./३/१२), जैनोपदेश ('जोण्हमुवदेसं-प्र.सा. १/८८) वीरशासन (सासणं हि वीरस्स-प्र.सा./२/१४), ये देवताश्रित सम्प्रदाय-बोधक नाम ईसापूर्वोत्तर प्रथम शताब्दी में हुए आचार्य कुन्दकुन्द के ग्रन्थों में मिलते हैं। ईसा की तृतीय शती के आचार्य समन्तभद्रकृत रत्नकरण्ड-श्रावकाचार में उपलब्ध जिनशासन ('शासति जिनशासने विशदाः'-श्लोक ७८) शब्द भी ऐसा ही सम्प्रदायसूचक नाम है। आचार्य नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती (१०वीं शती ई० का उत्तरार्ध) द्वारा रचित गोम्मटसार-कर्ममण्ड में देवताश्रित सम्प्रदाय-बोधक जैन नाम प्रयुक्त हुआ है—'जइणाणं पुण वयणं---।' (गाथा ८९५)।

किन्तु 'जैन' शब्द से भी अधिक पुराना और बहुप्रचलित जैनसम्प्रदाय-सूचक नाम आर्हत है, जो देवता और तत्त्व पर आश्रित है। संस्कृत के सुप्रसिद्ध गद्यकवि वाणभट्ट ने 'हर्षचरित' (उच्छ्वास ८/पृ.४२२-२३) में आर्हत शब्द से जैनों का उल्लेख किया है। उसके टीकाकार शङ्कर कवि ने आर्हत शब्द की व्याख्या इस प्रकार की है—“अर्हन्देवता येषां ते आर्हताः।” अर्थात् जिनके देवता अरहन्त होते हैं, वे आर्हत कहलाते हैं। 'अर्हत्' शब्द 'जिन' या तीर्थकर का पर्यायवाची है। जैनपरम्परा में 'अर्हत्' शब्द शुरू से ही 'जिन' शब्द से भी अधिक लोकप्रिय रहा है। जिनमत के प्राणभूत णमोकार महामन्त्र में तीर्थकर को नमस्कार करने के लिए 'तीर्थकर' या 'जिन' शब्द का प्रयोग नहीं किया गया, अपितु 'अर्हत्' शब्द का प्रयोग किया गया है। यथा—णमो अरहन्ताणं। ईसापूर्व द्वितीय शती के सम्राट् खारवेल के हाथीगुम्फाभिलेख में भी 'अर्हत्' शब्द का प्रयोग करके ही 'नमो अरहंतानं' वाक्य द्वारा मंगलाचरण का

प्रारंभ किया गया है। मथुरा के अभिलेखों में, जो लगभग ईसा की प्रथम शताब्दी या उसके कुछ पूर्व के हैं, वर्धमान को नमस्कार करते समय उनके साथ 'जिन' या 'तीर्थकर' विशेषण न जोड़कर 'अर्हत्' विशेषण जोड़ा गया है। जैसे, नमो अरहतो वधमानस्य (जै.शि.सं./मा.च./भाग २/लेख क्र.८)। 'जिनपूजा' के स्थान में अरहतपूजा शब्द प्रयुक्त किया गया है। (वही/लेख क्र.१० एवं १५)। इसी प्रकार निम्नलिखित अर्थों को प्रकट करने के लिए भी 'अर्हत्' शब्द का ही प्रयोग हुआ है—अर्हदायतन=जिनमंदिर (वही/लेख क्र.९०), आर्हतायतन=जिनालय (वही/ले.क्र.९४), अर्हच्छाला=जिनमंदिर (वही/ले.क्र.९८), अर्हत्प्रोक्तसद्धर्म =जिनोपदिष्ट समीचीन धर्म (वही/ले.क्र.९८) परमार्हतदेव (वही/ले.क्र.९७), परम अर्हद्भक्त (ले.क्र.१०२), महावीर अर्हत (वही/ले.क्र.१०६)। ई० सन् ३०० से ४०० के बीच रचित वैदिकपरम्परा के विष्णुपुराण में जैनों को आर्हत शब्द से वर्णित किया गया है। (देखिये, अध्याय ४/प्र.१/शी.१०.२)।

षड्दर्शनसमुच्चय की ५८वीं कारिका की वृत्ति में गुणरत्नसूरि ने जैनदर्शन के विषय में परपक्ष के आक्षेप को उठाते हुए परपक्ष के द्वारा जैनों को आर्हत शब्द से सम्बोधित करया है। यथा—

“अत्र परे प्राहुः—अहो आर्हताः! अर्हदभिहिततत्त्वानुरागिभिर्युष्माभिरिदमसम्बद्ध-
मेवाविर्भावयांम्बभूवेयदुत युष्मद्दर्शनेष्वपि पूर्वापरयोर्विरोधोऽस्तीति।---” (पृ.३९३/
अनुच्छेद ४२०)।

गुणरत्नसूरि के ये वचन इस तथ्य पर प्रकाश डालते हैं कि जैनेतरों में जैन लोग बहुत प्राचीन काल से आर्हत नाम से जाने जाते थे।

निष्कर्ष यह कि प्राचीन काल में जैनसम्प्रदाय निर्ग्रन्थ एवं आर्हत इन दो नामों से लोक विख्यात था। निर्ग्रन्थ नाम अचेललिंगाश्रित है और आर्हत नाम अरहन्त-देवता के नाम तथा उनके द्वारा उपदिष्ट सिद्धान्तों पर आश्रित है। तीर्थकर महावीर के समय में आर्हतसम्प्रदाय में केवल निर्ग्रन्थ (अचेल) मुनि ही होते थे। किन्तु जब जम्बूस्वामी के निर्वाण के बाद कुछ मुनि सचेल हो गये तब सचेलमुनिसंघ निर्ग्रन्थसंघ नहीं कहला सकता था, क्योंकि 'निर्ग्रन्थ' नाम अचेललिंग पर आश्रित था। इसके अतिरिक्त उन्हें अपने जैन या आर्हत होने की पहचान कराने के लिए 'निर्ग्रन्थ' नाम अपनाने की आवश्यकता भी नहीं थी, क्योंकि उनकी उक्त पहचान 'आर्हत' नाम से हो ही रही थी, वह इसलिए कि वे उसी सम्प्रदाय में आविर्भूत हुए थे और उसी के देवता और तत्त्वों के (कुछ भेद के साथ) अनुयायी थे। हाँ, इस नाम से लोगों को उनके सचेललिंगाश्रित उपसम्प्रदाय का बोध होना संभव नहीं था। अतः उन्होंने उसका बोध कराने के लिए सचेललिंग के आधार पर अपने लिंगाश्रित उपसम्प्रदाय का नामकरण

श्वेतपटसंघ किया और इसी नाम से वह लोकप्रसिद्ध हुआ। सचेल-निर्ग्रन्थसंघ के नाम से इतिहास में कहीं भी उसका उल्लेख नहीं है। सम्प्रदायों के नाम कोई गोपनीय तत्त्व नहीं होते। वे रखे ही इसलिए जाते हैं कि उन नामों से वे सम्प्रदाय प्रसिद्ध हों, वे लोगों की जिह्वा पर चढ़ जायें। लेकिन 'सचेल-निर्ग्रन्थ-सम्प्रदाय' नाम के किसी सम्प्रदाय से लोग परिचित ही नहीं थे, न ही 'वस्त्रधारी को निर्ग्रन्थ कहते हैं,' ऐसा उन्होंने कहीं पढ़ा, सुना या देखा था। शिलालेख और विभिन्न सम्प्रदायों के साहित्य इसके प्रमाण हैं। इसलिए डॉ० सागरमल जी की यह मान्यता अत्यन्त अप्रामाणिक एवं अयुक्तिमत् सिद्ध होती है कि स्थूलभद्र की परम्परा से विकसित सचेल-श्रमणसंघ 'सचेल-निर्ग्रन्थसंघ' कहलाता था।

६

स्वसंघ के लिए 'श्वेतपटसंघ' नाम प्रचारित

पाँचवीं शती ई० के कदम्बनरेश श्रीविजयशिवमृगेशवर्मा के ताम्रपत्रलेख में सचेल-जैनश्रमणों का उल्लेख श्वेतपटमहाश्रमणसंघ नाम से हुआ है। इससे सिद्ध है कि उनके संघ का प्रामाणिक, राजमान्य और लोकप्रसिद्ध नाम शुरू से यही था और यह नामकरण स्वयं सचेल-जैनश्रमणों ने किया था तथा उनकी ही इच्छा से यह लोकप्रसिद्ध हुआ था। सचेल-जैनश्रमणों अर्थात् श्वेताम्बरों की इच्छा और प्रयत्न के बिना उनके संघ का यह नाम प्रसिद्ध होना असंभव था। विचारणीय है कि श्वेताम्बर साधुओं ने अपने शास्त्रों में स्वयं को 'निर्ग्रन्थ' लिखा है, तथापि अपने संघ को श्वेतपट (श्वेतवस्त्र, सिताम्बर) नाम से प्रसिद्ध किया है। इसका कारण क्या था? यदि वे निर्ग्रन्थ थे, तो अपने संघ के लिए यही नाम प्रचारित क्यों नहीं किया? जिस दिग्म्बरसंघ को उन्होंने ईसा की प्रथम शताब्दी या विक्रम की छठी शती में उत्पन्न माना है, उसे 'निर्ग्रन्थ' नाम का प्रयोग क्यों करने दिया गया? जब हम इस प्रश्न का उत्तर ढूँढ़ने का प्रयत्न करते हैं, तब निम्नलिखित तथ्य सामने आते हैं—

श्वेतपटसंघ के उदय से पूर्व सभी जैनमुनि अचेल होते थे। अतः निर्ग्रन्थ शब्द जैनमुनि का पर्यायवाची था। इसलिए जब उन अचेल जैनमुनियों के निर्ग्रन्थसंघ से श्वेतवस्त्रधारी मुनियों के संघ का उदय हुआ, तब उन्होंने अपने मुनि-सम्बोधन हेतु 'निर्ग्रन्थ' शब्द का प्रयोग प्रचलित रखा। किन्तु यह प्रयोग उनके शास्त्रों के भीतर ही प्रचलित रहा, इस नाम से अपने सम्प्रदाय को लोकप्रसिद्ध करना उनके लिए संभव नहीं हुआ, क्योंकि 'निर्ग्रन्थसंघ' नाम पहले से ही अचेल-जैनश्रमणों के संघ के लिए लोकप्रसिद्ध था।

इसके अतिरिक्त 'निर्ग्रन्थसंघ' नाम उनके सम्प्रदाय के लिए उपयुक्त भी नहीं था, क्योंकि 'निर्ग्रन्थ' शब्द के साथ अचेलत्व के ही संयमसाधक होने का अर्थ जुड़ा हुआ था, जब कि उन्हें यह प्रचार करना था कि वस्त्रधारण करने से ही मोक्षमार्गभूत संयम की साधना हो सकती है, इसी कारण स्त्रीमुक्ति भी संभव है। इस उद्देश्य से उनके लिए अपने संघ का नाम 'श्वेतपट' रखना अत्यन्त उपयोगी प्रतीत हुआ। यह नाम उनकी मान्यताओं का विज्ञापक था। इस प्रयोजन से उन सर्वस्व जैन साधुओं ने भगवान् महावीर को भी कन्धे पर एक वस्त्र डालकर प्रव्रजित होते हुए अपने शास्त्रों में वर्णित किया है। इस महान् उद्देश्य की सिद्धि के लिए श्वेताम्बर साधुओं ने अपने संघ का नाम श्वेतपटसंघ रखा। इसी नाम से उसे लोक में प्रचारित किया और राजाओं से उसे मान्यता दिलायी, जिससे उन्हें 'निर्ग्रन्थश्रमणसंघ', 'यापनीयसंघ' आदि से अलग ग्राम आदि का दान प्राप्त हो सका। इस प्रकार श्वेताम्बराचार्यों ने अपने संघ के लिए 'श्वेतपटसंघ' नाम स्वयं प्रचारित किया था, जो इस बात का प्रमाण है कि अपने आगमों में साधु के लिए निर्ग्रन्थ शब्द का प्रयोग करते हुए भी उन्होंने अपने संघ को निर्ग्रन्थसंघ नाम से प्रसिद्ध नहीं किया, क्योंकि एक तो यह नाम पहले से ही अचेल-जैनश्रमणों के संघ के लिए प्रसिद्ध था, दूसरे इससे अचेलत्व का भी बोध होने से अचेलत्व भी संयम का साधक सिद्ध होता था, जो उनकी सैद्धान्तिक विशेषता के प्रतिकूल था। अतः उसका प्रयोग उनके शास्त्रों तक ही सीमित रह गया। यदि 'निर्ग्रन्थसंघ' नाम पहले से ही अचेल-जैनश्रमणसंघ के लिए लोकप्रसिद्ध न होता, तो सचेल-जैनश्रमणों को अपने संघ के लिए इस नाम का प्रयोग करने से कोई नहीं रोक सकता था। तब इस नाम के साथ अचेलत्व के ही संयमसाधक होने का अर्थ भी न जुड़ा होता, अतः इस दृष्टि से भी उन्हें इस नाम के प्रयोग में बाधा नहीं होती। किन्तु ये दोनों ही अनुकूलताएँ नहीं थीं, इस कारण वे अपने संघ के लिए 'निर्ग्रन्थसंघ' नाम का प्रयोग नहीं कर सके। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि इतिहास में दिगम्बरसंघ (मूलसंघ) ही निर्ग्रन्थसंघ नाम से प्रसिद्धि को प्राप्त हुआ था और चूँकि 'निर्ग्रन्थ' नाम 'श्वेतपट' नाम से पूर्ववर्ती है, इसलिए निर्ग्रन्थसंघ श्वेतपटसंघ से प्राचीन है।

७

केवल दिगम्बरसंघ का 'निर्ग्रन्थसंघ' नाम श्वेताम्बरों को भी मान्य

एक महत्त्वपूर्ण तथ्य यह है कि कदम्बवंशीय राजा श्रीविजयशिवमृगेशवर्मा के ताम्रपत्रलेख में निर्ग्रन्थसंघ और श्वेतपटसंघ, दोनों को इन्हीं नामों से एक ही साथ, एक ही स्थान में, एक ही ग्राम को विभाजित कर दान में दिये जाने का वर्णन है। इससे यह सत्य प्रकट होता है कि श्वेताम्बर और दिगम्बर एक ही स्थान में साथ-

साथ रहते थे और अपने संघ के लिए श्वेताम्बरसंघ तथा दिगम्बरसंघ के लिए निर्ग्रन्थसंघ नाम का प्रयोग श्वेताम्बरों को स्वीकार्य था। वे स्वयं दिगम्बरसंघ को 'निर्ग्रन्थसंघ' नाम से अभिहित करते होंगे, क्योंकि उस समय तक दिगम्बरों के लिए 'दिगम्बर' शब्द का व्यवहार प्रचलित नहीं हुआ था, वे 'निर्ग्रन्थ' शब्द से ही जाने जाते थे। दिगम्बरसंघ के लिए 'निर्ग्रन्थसंघ' नाम का प्रयोग किये बिना श्वेताम्बरों को उससे अपनी भिन्नता प्रकट करना संभव नहीं था, क्योंकि दिगम्बरसंघ लोक में 'निर्ग्रन्थसंघ' नाम से ही प्रसिद्ध था, अभिलेखों में उसका निर्ग्रन्थसंघ नाम से उल्लेख किया जाना इस बात का प्रमाण है।

यतः पारस्परिक भेद प्रकट करने लिए दिगम्बरसंघ को निर्ग्रन्थसंघ कहना श्वेताम्बरों के लिए अपरिहार्य था, अतः सिद्ध है कि उनके लिए स्वसंघ को 'निर्ग्रन्थसंघ' शब्द से अभिहित करना संभव नहीं था। इससे साबित होता है कि कम से कम ईसा की पाँचवीं शताब्दी तक श्वेताम्बरसंघ को यह सत्य स्वीकार्य था कि लोक में केवल दिगम्बर ही 'निर्ग्रन्थ' शब्द से प्रसिद्ध हैं।

८

कल्पित सचेलाचेलसंघ की 'निर्ग्रन्थसंघ' नाम से प्रसिद्धि अयुक्तियुक्त

डॉक्टर सागरमल जी के पूर्वोद्धृत (प्रकरण ३/शीर्षक १ में उद्धृत) वचनों से उनकी यह मान्यता प्रकट होती है कि 'ईसा की पाँचवीं शताब्दी के प्रारंभ तक उत्तरभारत में सचेलाचेल-निर्ग्रन्थसंघ विद्यमान था। इसी समय उसका विभाजन श्वेताम्बर और यापनीय संघों के रूप में हुआ और उसका स्वतन्त्र अस्तित्व समाप्त हो गया।' किन्तु उसके विभाजन से जो संघ उत्पन्न बतलाये गये हैं, उनमें से न तो श्वेताम्बरसंघ 'निर्ग्रन्थसंघ' नाम से प्रसिद्ध हुआ, न यापनीयसंघ। केवल उससे जो उत्पन्न नहीं बतलाया गया है, वह दिगम्बरसंघ ही निर्ग्रन्थसंघ के नाम से प्रसिद्धि पाता रहा और पा रहा है। इससे सिद्ध है कि डॉक्टर सा० द्वारा स्वकल्पित उत्तरभारतीय सचेलाचेलसंघ को 'निर्ग्रन्थसंघ' नाम से प्रसिद्ध बतलाया जाना अयुक्तियुक्त है। और जैसा कि पूर्वोद्धृत प्रमाणों और युक्तियों से सिद्ध है, यापनीयसंघ की उत्पत्ति के पूर्व भारत के किसी भी कोने में सचेलाचेल-प्रवृत्तिवाला कोई श्रमणसंघ था ही नहीं, अतः उसके 'निर्ग्रन्थ' नाम से प्रसिद्ध होने का भी प्रश्न नहीं उठता। निष्कर्ष यह कि जैसे उत्तरभारतीय-सचेलाचेलसंघ के अस्तित्व की मान्यता कपोलकल्पित है, वैसे ही उसके 'निर्ग्रन्थसंघ' कहलाने की मान्यता भी कपोलकल्पित है।

इन अनेक प्रमाणों और युक्तियों से सिद्ध होता है कि श्वेताम्बराचार्यों ने सग्रन्थ (सचेला) होते हुए भी अपने लिए आगमों में जो 'निर्ग्रन्थ' शब्द का प्रयोग किया है, वह इतिहासविरुद्ध अनधिकृत चेष्टा है।

उपसंहार

उपर्युक्त प्रमाण और युक्तियाँ यह तथ्य अनावृत कर देती हैं कि मान्य श्वेताम्बर-मुनियों और विद्वानों ने दिगम्बरमत को निह्ववमत (तीर्थकरोपदेश के विपरीत, स्व-कल्पित, मिथ्यामत) एवं अर्वाचीन, दिगम्बरसाहित्य को यापनीयसाहित्य तथा आचार्य कुन्दकुन्द को विक्रम की छठी शती में उत्पन्न सिद्ध करने के लिए जो पूर्ववर्णित हेतुओं की कल्पना की है, वे सर्वथा अप्रामाणिक और अयुक्तिसंगत हैं, अत एव कपोलकल्पित हैं।

तृतीय अध्याय

तृतीय अध्याय

श्वेताम्बरसाहित्य में दिगम्बरमत की चर्चा

प्रथम प्रकरण

अचेलत्व के दिगम्बरमान्य स्वरूप का वर्णन

पूर्व अध्याय में सप्रमाण सिद्ध किया गया है कि दिगम्बरजैनमत की स्थापना न तो बोटिक शिवभूति जैसे साधारण पुरुष ने ई० सन् ८२ में की थी, न ही आचार्य कुन्दकुन्द ने विक्रम की छठी शताब्दी में। वह ऋषभादि तीर्थकरों द्वारा प्रणीत है। इसकी पुष्टि श्वेताम्बरसाहित्य में उपलब्ध उल्लेखों से भी होती है। प्रस्तुत अध्याय में उन्हीं का निरूपण किया जा रहा है।

१

श्वेताम्बरसाहित्य में अचेलपरम्परा की स्मृतियों के अवशेष

जैसा कि श्वेताम्बरसम्प्रदाय के नाम से ही स्पष्ट है, उसका जन्म सचेलमुक्ति की मान्यता को लेकर हुआ था। फिर भी श्वेताम्बर-ग्रन्थों में तीर्थकरों को नगनमुद्राधारी माना गया है, जिनकल्पक नाम से साधुओं के एक वर्ग भी नाग्न्यलिंगधारी स्वीकार किया गया है। प्रथम और अन्तिम तीर्थकरों को अचेलकधर्म का उपदेशक तथा शेष बाईस तीर्थकरों को सचेलधर्म के साथ अचेलधर्म का उपदेशक बतलाया गया है, आचारांग और स्थानांग में अचेलत्व की श्रेष्ठता का प्रतिपादन किया गया है, कल्पनिर्युक्ति में साधु के दस कल्पों (आचारों) में आचेलक्य को प्रथम कल्प प्ररूपित किया गया है और तत्त्वार्थसूत्र के श्वेताम्बरीय पाठ (९/९) में मुनियों को नाग्न्यपरीषह होने की संभावना से इनकार न कर उनको नगनवेशधारी भी स्वीकार किया गया है। भले ही आगे चलकर जम्बूस्वामी के निर्वाण के बाद जिनकल्प का व्युच्छेद बतलाकर अचेलकधर्म को विलुप्त घोषित कर दिया गया और तीर्थकर ऋषभदेव एवं महावीर के द्वारा उपदिष्ट अचेलकधर्म को सचेलधर्म सिद्ध करने का प्रयत्न किया गया। श्वेताम्बराचार्य चाहते तो आरंभ में ही अपने सम्प्रदाय के शास्त्रों में नगनत्व और अचेलत्व का नाम भी न आने देते, सभी तीर्थकरों और मुनियों को वस्त्रधारी ही दर्शाते। किन्तु उन्होंने ऐसा नहीं किया और अपने ग्रन्थों में भगवान् ऋषभदेव और महावीर द्वारा केवल अचेलकधर्म का उपदेश दिये जाने का उल्लेख किया और उनकी परम्परा में मुनियों के नाग्न्यलिंगधारी

होने की बात स्वीकार की। इससे सिद्ध होता है कि श्वेताम्बराचार्यों को अचेलकपरम्परा अर्थात् दिगम्बरपरम्परा (जो पहले निर्ग्रन्थसंघ के नाम से प्रसिद्ध थी) की मौलिकता एवं प्राचीनता का बोध था। वे उसका अपलाप नहीं करना चाहते थे।

आगे चलकर उन्होंने जैसे अचेलकधर्म (जिनकल्प) का विच्छेद घोषित कर प्रवर्तमान दिगम्बरजैनपरम्परा को तीर्थकर-अप्रणीत, निह्वमत सिद्ध करने का प्रयत्न किया है, वैसे ही अचेलक शब्द को सचेल का वाचक सिद्ध करने का प्रयास करके भी अचेलपरम्परा का अभाव साबित करने की चेष्टा की है। इन दोनों सकारात्मक और नकारात्मक प्रवृत्तियों का आश्रय बनाकर मान्य श्वेताम्बराचार्यों ने स्वयं ही इस अचेलकपरम्परा अर्थात् दिगम्बरजैनपरम्परा की मौलिकता एवं पूर्ववर्तिता का परिचय दे दिया है।

२

सभी तीर्थकरों के दिगम्बरमुद्रा से मोक्ष होने का कथन

आवश्यकनिर्युक्ति में कहा गया है कि चौबीसों तीर्थकर एकवस्त्र में ही प्रव्रजित हुए थे, न तो अन्यलिंग से प्रव्रजित हुए, न गृहस्थलिंग से, न कुलिंग से—

सव्वेऽवि एगदूसेण निग्गया जिणवरा चउव्वीसं।

न य नाम अण्णलिंगे नो गिहिलिंगे कुलिंगे वा॥ २२७॥

श्री जिनभद्रगणी क्षमाश्रमण लिखते हैं—“सभी जिन वज्रवृषभनाराचसंहनन के धारी होते हैं, चार ज्ञान और अतिशयसत्त्व से सम्पन्न होते हैं, उनके हस्तपुट छिद्ररहित होते हैं, वे परीषहों के विजेता होते हैं, अतः वस्त्रपात्रादि उपकरणों से रहित होने पर भी उनके अभाव में जो दोष बतलाये गये हैं, वे उन्हें नहीं लगते। उनके लिए वस्त्रपात्र संयम के साधन नहीं हैं, इसलिए वे उन्हें ग्रहण नहीं करते। तथापि तीर्थ (मोक्षमार्ग) सवस्त्र ही है, तीर्थ में चिरकाल तक साधु सवस्त्र ही होंगे, यह उपदेश देने के लिए सभी तीर्थकर एक वस्त्र लेकर अभिनिष्क्रमण करते हैं और उस वस्त्र के कहीं गिर जाने पर निर्वस्त्र हो जाते हैं, सदा निर्वस्त्र नहीं रहते।”^{१२}

१. निरुपमधिइसंघयणा चउनाणाइसयसत्तसंपण्णा।

अच्छिद्दपाणिपत्ता जिणा जियपरिसहा सव्वे॥ २५८१॥ विशेषावश्यकभाष्य।

तम्हा जहुत्तदोसे पावन्ति न वत्थ-पत्तरहिया वि।

तदसाहणं ति तेसिं तो तग्गहणं न कुव्वन्ति॥ २५८२॥

तहवि गहिण्णवत्था सवत्थतित्थोवएसणत्थं ति।

अभिनिक्खमन्ति सव्वे तम्मि चुएऽचेलया हुंति॥ २५८३॥ विशेषावश्यकभाष्य।

यह कथन इस तथ्य पर प्रकाश डालता है कि चौबीसों तीर्थकर अन्त में नग्न हो गये थे और नग्नतारूप पूर्ण अपरिग्रह की अवस्था में की गई साधना से ही उन्होंने मोक्ष प्राप्त किया था। तीर्थकर महावीर ने दीक्षा ग्रहण करने के बाद जो देवदूष्य धारण किया था, वह तेरह मास बाद शरीर से च्युत हो गया था। तत्पश्चात् वे दस वर्ष और ग्यारह मास तक मुनि (छद्यस्थ) अवस्था में तथा तीस वर्ष तक तीर्थकर अवस्था में नग्न ही विहार करते रहे। इस प्रकार उन्हें केवलज्ञान एवं मोक्ष की प्राप्ति दिगम्बरलिंग से ही हुई थी। दिगम्बरमत यही मानता है कि तीर्थकर-सहित सभी जीव एकमात्र दिगम्बरमुद्रा से ही मोक्ष प्राप्त कर सकते हैं। श्वेताम्बरसाहित्य में इस दिगम्बरमान्यता का उल्लेख होने से दिगम्बरमत की प्राचीनता प्रकट होती है। इससे यह तथ्य भी सामने आता है कि तीर्थकर मल्लिनाथ ने भी नग्न अवस्था धारण की थी, अतः वे स्त्री नहीं थे, क्योंकि स्त्री को नग्न होने की आज्ञा न तो दिगम्बरसम्प्रदाय में है, न श्वेताम्बरसम्प्रदाय में जैसा कि श्वेताम्बरीय बृहत्कल्पसूत्र में कहा गया है—“नो कण्ठं निगंथीए अचेलियाए हुंतए।” (५/१६)।

३

एकवस्त्रसहित प्रव्रज्या की कथा वस्तुतः चेलोपसर्ग

किन्तु आचारांगादि में जो यह कहा गया है कि सभी तीर्थकर एकवस्त्र लेकर प्रव्रजित हुए थे, उसे अपराजितसूरि प्रामाणिक नहीं मानते। उनका कथन है कि सभी तीर्थकर सर्वथा वस्त्ररहित होकर ही प्रव्रजित हुए थे। भगवती-आराधना की टीका में वे लिखते हैं—

“और जो भावना (आचारांग का २४वाँ अध्ययन) में कहा गया है कि भगवान् महावीर ने एक वर्ष तक चीवर धारण किया और उसके बाद वे अचेलक हो गये, सो इसमें बहुत सी विप्रतिपत्तियाँ हैं, अर्थात् बहुत से विरोध और मतभेद हैं। क्योंकि कुछ लोग कहते हैं कि उस वस्त्र को, जो वीरजिन के शरीर पर लटका दिया गया था, लटका देनेवाले मनुष्य ने ही उसी दिन ले लिया था। दूसरे कहते हैं कि वह काँटों और डालियों आदि से उलझते-उलझते छह महीने में छिन्न-भिन्न हो गया था। कुछ लोग कहते हैं कि एक वर्ष से कुछ अधिक समय बीत जाने पर खंडलक नामक ब्राह्मण ने उसे ले लिया था और दूसरे कहते हैं कि जब वह हवा से उड़ गया और भगवान् ने उसकी उपेक्षा की, तो लटकानेवाले ने फिर उनके कन्धे पर लटका दिया। इस तरह अनेक विप्रतिपत्तियाँ होने के कारण इस बात में कोई तत्त्व नहीं दिखलाई देता। यदि सचेललिंग प्रकट करने के लिए भगवान् ने वस्त्रग्रहण किया था, तो फिर उसका विनाश क्यों इष्ट हुआ? उसे सदा ही धारण किये रहना था।

यदि उन्हें पता था कि वह नष्ट हो जायेगा तो फिर उसका ग्रहण करना निरर्थक हुआ और यदि पता नहीं था, तो वे अज्ञानी सिद्ध हुए। और फिर यदि उन्हें चेलप्रज्ञापना वांछनीय थी, तो फिर यह वचन मिथ्या हो जायेगा कि प्रथम और अन्तिम तीर्थंकर का धर्म आचेलक्य (निर्वस्त्रता) था।^२

“और जो यह कहा गया है कि जिस तरह मैं अचेलक हूँ, उसी तरह पिछले जिन (तीर्थंकर) भी अचेलक होंगे, सो इससे भी विरोध आयेगा। इसके सिवाय वीर भगवान् के समान यदि अन्य तीर्थंकरों ने भी वस्त्र ग्रहण किया था, तो उनका वस्त्रत्यागकाल क्यों नहीं बतलाया गया है? इसलिए यही कहना उचित मालूम होता है कि सब कुछ त्याग कर जब जिन (वीर भगवान्) स्थित थे तब किसी ने उनके ऊपर वस्त्र डाल दिया था और वह एक तरह का उपसर्ग था।”^३

२. क—“यच्च भावनायामुक्तं—‘वरिसं चीवरधारी तेण परमचेलगो जिणो’ त्ति तदयुक्तं विप्रतिपत्ति-बहुलत्वात्। कथम्? केचिद्वदन्ति ‘तस्मिन्नेव दिने तद्वस्त्रं वीरजिनस्य विलम्बनकारिणा गृहीतमिति’। अन्ये ‘षण्मासाच्छिन्नं तत्कण्टकशाखादिभिरिति’। ‘साधिकेन वर्षेण तद् वस्त्रं खण्डलकब्राह्मणेन गृहीतमिति’ केचित् कथयन्ति। केचिद् वातेन पतितमुपेक्षितं जिनेनेति। अपरे वदन्ति ‘विलम्बनकारिणा जिनस्य स्कन्धे तदारोपितमिति’। एवं विप्रतिपत्तिबाहुल्यान् दृश्यते तत्त्वम्। सचेललिङ्गप्रकटनार्थं यदि चेलग्रहणं जिनस्य, कथं तद्विनाश इष्टः? सदा तद् धारयितव्यम्। किं च यदि नश्यतीति ज्ञातं, निरर्थकं तस्य ग्रहणम् यदि न ज्ञातमज्ञानमस्य प्राप्नोति। अपि च चेलप्रज्ञापना वाञ्छिता चेत् “आचेलक्को धम्मो पुरिमचरिमाणं” इति वचो मिथ्या भवेत्।” विजयोदयाटीका / भ.आ. / गा. ‘आचेलक्कुद्देसिय’ ४२३ / पृ. ३२५-२६। हिन्दी अनुवाद : पं० नाथूराम जी प्रेमी / जैनसाहित्य और इतिहास / प्र. सं. / पृ. ४९-५०।

ख—उपर्युक्त विजयोदयाटीका की प्रथम पंक्ति में तदुक्तं मुद्रित, है, जो अशुद्ध है। टीकाकार के अभिप्रायानुसार तदयुक्तं (तद् अयुक्तं = वह कथन अनुचित है) होना चाहिये, क्योंकि उन्होंने आचारांग के ‘भावना’ नामक अध्ययन के इस वचन को अयुक्त बतलाया है कि ‘भगवान् महावीर ने एक वर्ष तक चीवर धारण किया, पश्चात् अचेलक हो गये’ और अयुक्त होने का कारण यह बतलाया है कि इस विषय में विप्रतिपत्ति की बहुलता (लोगों के मतों में भिन्नता) है। इसीलिए उन्होंने मतवैभिन्न्य का उल्लेख करने के बाद अपना युक्तिसंगत निर्णय देते हुए लिखा है कि “एवं तु युक्तं वक्तुं—सर्वत्यागं कृत्वा स्थिते जिने केनचिदसे वस्त्रं निक्षिप्तम्, उपसर्गः स इति।” अर्थात् यह कहना युक्त है कि भगवान् जब वस्त्रादिसकल परिग्रह का त्याग करके स्थित थे, तब किसी ने उनके कन्धे पर वस्त्र डाल दिया, जो एक उपसर्ग था। (भ.आ. / गा. ४२३ / पृ. ३२६)।

३. “यदुक्तं ‘यथाहमचेली तथा होउ पच्छिमो इदि होक्खदित्ति’ तेनापि विरोधः। किं च जिनानामितरेषां वस्त्रत्यागकालः वीरजिनस्येव किं न निर्दिश्यते, यदि वस्त्रं तेषामपि भवेत्।

तात्पर्य यह कि अपराजितसूरि के अनुसार भगवान् महावीर सर्वथा अचेल अवस्था में ही प्रव्रजित हुए थे, उन्होंने मोक्षमार्ग के वस्त्र होने का उपदेश देने के लिए देवदूष्य नाम का वस्त्र ग्रहण नहीं किया था। यदि किसी ने उनके कन्धे पर कोई वस्त्र डाल दिया था, तो उसे उपसर्ग माना जायेगा।

४

तीर्थकरों के सर्वथा अचेल होने का कथन

श्वेताम्बरमत में आगे चलकर अचेल शब्द को मुख्यार्थ के अतिरिक्त औपचारिक अर्थ में भी प्रयुक्त मान लिया गया। यह बतलाया जाने लगा कि तीर्थकरों के साथ 'अचेल' शब्द का प्रयोग मुख्य अर्थ में अर्थात् 'सर्वथा वस्त्ररहित' अर्थ में हुआ है और शेष मुनियों के साथ औपचारिक अर्थ में अर्थात् 'अल्पवस्त्रसहित' अथवा 'कुत्सितवस्त्रसहित' अर्थ में व्यवहृत हुआ है। बृहत्कल्पसूत्र के लघुभाष्य में श्री संघदास गणी (६-७वीं शती ई०) का वक्तव्य है—

तुविहो होंति अचेलो, संताचेलो असंतचेलो य।

तित्थगरा असंतचेला, संताचेला भवे सेसा ॥ ६३६५ ॥

अनुवाद—“अचेल दो प्रकार के होते हैं : सद्-अचेल (वस्त्र-सहित अचेल) तथा असद्-अचेल (वस्त्ररहित अचेल)। तीर्थकर वस्त्ररहित अचेल हैं, शेष साधु वस्त्रसहित अचेल।”

सर्वप्रथम विशेषावश्यकभाष्य में इन दो प्रकार के अचेलों का वर्णन मिलता है। उसकी वृत्ति में इनका प्ररूपण इस प्रकार किया गया है—

“सामान्यसाधवः सद्भिरेव चेलैरुपचारतोऽचेला भण्यन्ते, जिनास्तु तीर्थकरा असद्भिश्चेलैर्मुख्यवृत्त्याऽचेला व्यपदिश्यन्ते।” (हेम.वृत्ति./विशे.भा./गा.२५९८)।

अनुवाद—“सामान्य साधु वस्त्र धारण करते हुए भी उपचार से अचेल कहे जाते हैं, और जिन (तीर्थकर) वस्त्र धारण न करने के कारण मुख्यरूप से अचेल कहलाते हैं।”

उपचार का अर्थ है किसी वस्तु पर अन्य वस्तु का धर्म आरोपित करना।^४ अर्थात् वस्तु में जो धर्म वास्तव में नहीं है उसे उस वस्तु में बतलाना। जैसे 'यह बालक

एवं तु युक्तं वक्तुं 'सर्वत्यागं कृत्वा स्थिते जिने केनचिदंसे वस्त्रं निक्षिप्तम्। उपसर्गः स इति।' विजयोदया टी. / भ.आ. / गा. 'आचेलक्कुद्देसिय' ४२३/पृ. ३२६ हिन्दी अनुवाद : पं० नाथूराम जी प्रेमी / जै.सा.इ. / प्र.सं. / पृ.५०।

४. “अन्यत्र प्रसिद्धस्य धर्मस्यान्यत्र समारोपणमसद्भूतव्यवहारः। असद्भूतव्यवहार एव उपचारः।” आलापपद्धति। सूत्र २०७-२०८।

सिंह है' ऐसा कथन कर बालक में जो सिंहत्व वास्तव में नहीं है उसे बालक में बतलाना उपचार है।

यहाँ 'अचेल' शब्द के उपचार से भी प्रयुक्त होने की जो कल्पना की गयी है उसकी अयुक्तिमत्ता का निरूपण आगे किया जायेगा। यहाँ केवल इस बात पर ध्यान देना है कि श्वेताम्बरीय साहित्य में सभी तीर्थकरों को अन्ततः सर्वथा नग्न अर्थात् दिगम्बर स्वीकार किया गया है, जिससे इस बात की पुष्टि होती है कि दिगम्बरधर्म स्वयं तीर्थकरों द्वारा आचरित था, इसलिए वह मौलिक धर्म है।

५

आदि-अन्तिम तीर्थकरों द्वारा अचेलकधर्म का उपदेश

उत्तराध्ययनसूत्र के केशी-गौतम संवाद में बतलाया गया है कि भगवान् महावीर ने अचेलक (दिगम्बर) धर्म का उपदेश दिया था और भगवान् पार्श्वनाथ ने सचेलधर्म का—

अचेलगो य जो धम्मो जो इमो संतरुत्तरो।

देसिदो वद्ध माणेण पासेण य महाजसा ॥ २३/२९ ॥

चूँकि इस गाथा में भगवान् महावीर को अचेलकधर्म का उपदेशक कहा गया है, इससे श्री जिनभद्रगणी का यह कथन असत्य सिद्ध हो जाता है कि सभी तीर्थकरों ने सवस्त्र तीर्थ का उपदेश दिया था और इसी के लिए वे एक वस्त्र लेकर प्रव्रजित हुए थे।

वस्तुतः श्वेताम्बरपरम्परा में प्रथम तीर्थकर ऋषभदेव और अन्तिम तीर्थकर महावीर इन दो को अचेलकधर्म का उपदेष्टा और मध्य के बाईस तीर्थकरों को अचेल और सचेल दोनों धर्मों का उपदेशक माना गया है। यद्यपि उत्तराध्ययन- सूत्र में प्रसंग न होने के कारण अचेलकधर्म के उपदेशक के रूप में ऋषभदेव का उल्लेख नहीं किया गया है, तथापि प्रथम और अन्तिम तीर्थकरों के अचेलकधर्म-प्रणेता होने की श्वेताम्बरीय मान्यता उत्तराध्ययनसूत्र के रचनाकाल से पूर्ववर्ती है। उत्तराध्ययनसूत्र में महावीर को अचेलकधर्म का तथा पार्श्वनाथ को अचेल और सचेल दोनों धर्मों का उपदेष्टा बतलाया जाना इसी परम्परागत श्वेताम्बरीय मान्यता पर आधारित है। इसी के आधार पर भाष्यकार श्री संघदासगणि-क्षमाश्रमण (६-७ वीं शती ई०) ने बृहत्कल्प-लघुभाष्य में निम्नलिखित गाथा (६३६९) रचकर तथा श्री हरिभद्रसूरि (८वीं शती ई०) ने पञ्चाशक (गा.१२) में इसे आत्मसात् कर पुरिम (प्रथम) और पच्छिम (अन्तिम) तीर्थकरों को अचेलकधर्म का उपदेशक तथा मध्य के बाईस तीर्थकरों को अचेल और सचेल दोनों धर्मों का उपदेष्टा बतलाया है—

आचेलकको धम्मो पुरिमस्स च पच्छिमस्स य जिणस्स।
मज्झिमगाणं जिणाणं होति अचेलो सचेलो वा॥

इससे यह स्पष्ट होता है कि भगवान् ऋषभदेव और महावीर इन दोनों तीर्थकरों के अनुयायी मुनि दिगम्बर ही होते थे, अतः दिगम्बरपरम्परा भगवान् ऋषभदेव के युग से चली आ रही है।

प्रथम और चरम तीर्थकरों के तीर्थ में साधुओं के लिए जो दश प्रकार का कल्प (आचार)^५ निर्धारित किया गया है, वह कल्पनिर्युक्ति में इस प्रकार है—

आचेलककुद्देसिय सिज्जायर-रायपिंड-किइकम्मे।
वय-जेट्ट-पडिक्कमणे मासं पज्जोवसवणकप्पो॥

अनुवाद—“१. आचेलक्य (नग्नत्व), २. उद्दिष्ट आहार का त्याग, ३. वसतिदाता के आहार का त्याग ४. राजपिण्ड (राजस आहार या राजा के घर के आहार) का त्याग, ५. कृतिकर्म, ६. महाव्रत, ७. पुरुष की ज्येष्ठता (साध्वी की वन्दना न करना) ८. प्रतिक्रमण, ९. एक स्थान पर अधिक से अधिक एक मास तक रहना और १०. वर्षाकाल में चार मास तक एक ही स्थान में रहना।”

साधुओं के इन दस प्रकार के आचारों में आचेलक्य सबसे पहला आचार बतलाया गया है, और यद्यपि अपरिग्रह महाव्रत में आचेलक्य आ जाता है, तथापि अलग से उल्लेख कर इसके महत्त्व का बोध कराया गया है। इस प्रकार हम देखते हैं कि साधुओं के लिए दिगम्बरत्व का विधान भगवान् ऋषभदेव के समय से ही चला आ रहा है।

साधुओं के दस कल्पों (आचारों) का प्ररूपण करनेवाली उपर्युक्त ‘आचेलककुद्देसिय’ इत्यादि गाथा प्रथम शताब्दी ई० के दिगम्बरग्रन्थ भगवती-आराधना में उपलब्ध होती है। श्वेताम्बरपरम्परा में भी यह गाथा तीर्थकर महावीर की अनुगामिनी मूल (अविभक्त) निर्ग्रन्थपरम्परा से ही आयी है, किन्तु श्वेताम्बरसाहित्य में इसका सर्वप्रथम उल्लेख छठी शताब्दी ई० की कल्पनिर्युक्ति में हुआ है। वहीं से यह छठी-सातवीं शती ई० के भाष्यकार श्री जिनभद्रगणि-क्षमाश्रमणकृत जीतकल्पभाष्य में (गा. १९७२) तथा इसी समय के एक अन्य प्रमुख भाष्यकार श्री संघदासगणि-क्षमाश्रमण द्वारा रचित बृहत्कल्प-लघुभाष्य (गा. ६३६४) में आत्मसात् की गयी है। भाष्यों का रचनाकाल छठी-सातवीं शताब्दी ई० माना गया है। डॉ० मोहनलाल जी मेहता लिखते हैं कि श्री संघदासगणी श्री जिनभद्रगणी से पूर्ववर्ती हैं। (जै.सा.बु.इ./भा. ३/पृ. १४, १९)। किन्तु, श्री देवेन्द्र

५. ‘कल्पः साधूनामाचारः।’ कल्पकौमुदीटीका / कल्पसूत्र / पृ. २।

मुनि शास्त्री का कथन है कि “भाष्यकार संघदासगणी, जिनभद्रगणी-क्षमाश्रमण से पहले हुए हैं या बाद में हुए हैं, यह निश्चितरूप से नहीं कहा जा सकता---।” (जै. आ. सा. म. मी./पृ. ४७३)।

६

आचारांगादि में अचेल का अर्थ अल्पचेल नहीं

बृहत्कल्प-लघुभाष्य एवं पञ्चाशक के अनुसार अजितादि बाईस तीर्थकरों ने अचेल और सचेल दोनों धर्मों का उपदेश दिया था, इसलिए वस्त्रधारी साधुओं की सवस्त्रता का औचित्य उनके अनुसार तो सिद्ध हो जाता है, किन्तु भगवान् ऋषभदेव एवं महावीर ने केवल अचेलधर्म का उपदेश दिया था, इसलिए उनके अनुसार साधुओं के सचेलधर्म (स्थविरकल्प) के आचरण का औचित्य सिद्ध नहीं होता। अतः भगवान् महावीर के अनुसार भी सचेलधर्म (स्थविरकल्प) के आचरण का औचित्य सिद्ध करने के लिए परवर्ती ग्रन्थकारों एवं व्याख्याकारों ने अद्भुत रास्ता निकाला। उन्होंने ‘अचेल’ शब्द के निषेधार्थक ‘अ’ (नञ्) को अल्पार्थक मानकर ‘अचेल’ का अर्थ अल्पचेल घोषित कर दिया।^६ इस प्रकार सचेल को भी वे अचेल की परिभाषा में ले आये और भगवान् महावीर को सचेलधर्म का उपदेष्टा सिद्ध कर दिया।

किन्तु आचारांगादि आगमों में अल्पचेल को ‘अचेल’ संज्ञा नहीं दी गयी है। यद्यपि आचारांग में शीतादि की बाधा सहने में असमर्थ साधकों के लिए अधिक से अधिक तीन वस्त्र धारण करने का विधान है, तथापि उनमें से तीन या दो वस्त्रधारियों की तो बात ही दूर, एकवस्त्रधारी को भी ‘अचेल’ शब्द से अभिहित नहीं किया गया है, सर्वथा वस्त्ररहित को ही अचेल कहा गया है। उदाहरणार्थ—

“अह पुण एवं जाणिज्जा-उवाइक्कंते खलु हेमंते गिम्हे पडिवन्ने अहापरिजुनाइं वत्थाइं परिडुविज्जा, अदुवा संतरुत्तरे, अदुवा ओमचेल्ले, अदुवा एगसाडे, अदुवा अचेल्ले, लाघवियं आगममाणे तवे से अभिसमन्नागए भवइ।”^७

अनुवाद—“जब मुनि यह जान ले कि हेमन्तऋतु चली गई है और ग्रीष्मऋतु आ गयी है, तब जो वस्त्र धारण किये थे उनका त्याग कर दे अथवा शीत की आशंका हो, तो त्याग न करे और जब आवश्यकता हो तभी उपयोग में लावे, अन्यथा पास

६. “अल्पार्थे नञ् यथाऽयं पुमानज्ञः स्वल्पज्ञान इत्यर्थः, यः साधुर्नास्य चेलं वस्त्रमस्तीत्यचेलः, अल्पचेल इत्यर्थः। --- यदि वा जिनकल्पिकाभिप्रायेणैवैतत्सूत्रं व्याख्येयं, तद्यथा—‘जे अचेल्ले’ इत्यादि, नास्य चेलं वस्त्रमस्तीत्यचेलः।” शीलाकाचार्यवृत्ति/आचारांग/१/६/३/१८२।

७. आचारांग/१/७/४/२०९-२१०।

में रखे रहे (सान्तरमुत्तरं)। अथवा तीन वस्त्र हों तो एक का त्याग कर अवमचेल (द्विवस्त्रधारी) हो जाय, अथवा शीत में और कमी हो रही हो, तो दूसरे वस्त्र को भी छोड़कर एकशाटक (एकवस्त्रधारी, एकचेलक) बन जाय, अथवा शीत बिलकुल समाप्त हो गयी हो, तो उस एकशाटक का भी त्याग कर दे और अचेल हो जाय। इस तरह अचेल होकर वह अपने को भारमुक्त (लाघविक) कर लेता है और उससे तप की आराधना होती है।”^८

यहाँ साधु के पास यदि तीनवस्त्र हों, तो उनमें से एक कम कर देने पर उसे अवमचेल कहा गया है, दो कम कर देने पर एकशाटक (एकचेलक)^९ तथा सर्वथा वस्त्ररहित हो जाने पर अचेल संज्ञा दी गई है। इसी प्रकार—

“जे भिक्खू अचेले परिवुसिए तस्य णं भिक्खुस्स एवं भवइ—चाएमि अहं तण-फासं अहियासित्तए सीयफासं अहियासित्तए तेउफासं अहियासित्तए दंसमसगफासं अहियासित्तए एगयरे अन्नतरे विरूवरूवे फासे अहियासित्तए, हिरिपडिच्छायणं चउहं नो संचाएमि अहिआसित्तए , एवं से कप्पेइ कडिबंधणं धारित्तए। अदुवा तत्थ परावकमंतं भुज्जो अचेलं तणफासा फुसन्ति सीयफासा फुसन्ति तेउफासा फुसन्ति दंसमसगफासा फुसन्ति एग-यरे अन्नयरे विरूवरूवे फासे अहियासेइ, अचेले लाघवियं आगममाणे जाव समभिज्जाणिया।” (आचारांग/१/७/७/२२०-२२१)।

अनुवाद—“जो साधु वस्त्ररहित होकर संयम के मार्ग में व्यवस्थित है, उसके मन में यदि ऐसा विचार आता है कि मैं तृणजनित वेदना सह सकता हूँ, शीत की वेदना सह सकता हूँ, उष्णता की वेदना सह सकता हूँ, डाँस-मच्छर की वेदना सहन कर सकता हूँ, और एक या अनेक अनुकूल-प्रतिकूल दुःखों को सहन कर सकता हूँ, परन्तु लज्जा के कारण गुह्य प्रदेश के आच्छादन का त्याग करने में समर्थ नहीं हूँ, तो उस साधु को कटिबन्धन (कटिवस्त्र=चोलपट्टक) धारण करना उचित है। (यदि उक्त कारण न हो, तो अचेल ही रहना चाहिए)। जो अचेल विचरण करता है, उसे तृणस्पर्श-परीषह पीड़ित करता है, शीतपरीषह त्रास देता है, उष्णपरीषह सन्ताप देता है, डाँस-मच्छर पीड़ा पहुँचाते हैं और एक या अनेक अनुकूल-प्रतिकूल परीषह आते

८. “अथवा--- वाते वाति सत्यात्मपरितुलनार्थं शीतपरीक्षार्थं च सान्तरोत्तरो भवेत् , सान्तरमुत्तरं प्रावरणीयं यस्य स तथा, क्वचित् प्रावृणोति, क्वचित् पार्श्ववर्ति बिभर्ति, शीताशङ्कया नाद्यापि परित्यजति। अथवाऽवमचेल एककल्पपरित्यागात् द्विकल्पधारीत्यर्थः, अथवा शनैःशनैः शीतेऽप-गच्छति सति द्वितीयमपि कल्पं परित्यजेत् तत एकशाटकः संवृत्तः। अथवात्यन्तिके शीताभावे तदपि परित्यजेदतोऽचेलो भवति।--- वस्त्रपरित्यागं कुर्वतः साधोस्तपोऽभिसमन्वागतं भवति, कायक्लेशस्य तपोभेदत्वात्।” शीलांकाचार्यवृत्ति / आचारांग / १/७/४/२०९-२१०।

९. “अचेलोऽप्येकचेलकादिकं नावमन्यते।” वही/१/६/३/१८२।

हैं, उन्हें वह भलीभाँति सहन करता है। इस प्रकार अचेल मुनि उपकरणों और कर्मों के भार से मुक्त हो जाता है।^{१०}

यहाँ अचेल साधु को लज्जाविजय में असमर्थ होने पर एक चोलपट्टक (लँगोट) धारण करने की अनुमति दी गयी है और कहा गया है कि लज्जा को जीतने में समर्थ हो, तो अचेल ही विचरण करे, क्योंकि इससे परीषहजय का अवसर मिलता है, जो साधु को कर्मभार से मुक्त होने में सहायक होता है। इससे स्पष्ट है कि जब चोलपट्टक भी शरीर पर न हो, तब साधु अचेल कहलाता है। चोलपट्टक धारण कर लेने पर सचेल हो जाता है।

इस प्रकार आचारांग में सर्वथा वस्त्ररहित साधु को ही 'अचेल' कहा गया है, अल्पवस्त्रवाले को नहीं। एकमात्र चोलपट्टकवाले मुनि को भी सचेल ही कहा गया है।

दिगम्बरग्रन्थ भगवती-आराधना की विजयोदया टीका में आचार्य अपराजित सूरि ने श्वेताम्बर-आगम उत्तराध्ययनसूत्र की निम्नलिखित गाथाएँ उद्धृत की हैं, जो वर्तमान उत्तराध्ययन में उपलब्ध नहीं होतीं—

परिचत्तेसु वत्थेसु ण पुणो चेलमादिए।
अचेलपवरो भिक्खू जिणरूवधरे सदा॥
सचेलगो सुखी भवदि असुखो चावि अचेलगो।
अहं तु सचेलो होक्खामि इदि भिक्खू ण चिंताए॥^{११}

अनुवाद—“साधु को वस्त्र त्याग कर पुनः ग्रहण नहीं करना चाहिए, अचेल रहकर सदा जिनरूपधारी रहना चाहिए। उसे यह विचार मन में नहीं लाना

१०.क—“किन्त्वहं ह्री लज्जा तथा गुह्यप्रदेशस्य प्रच्छादनं ह्रीप्रच्छादनं, तच्चाहं त्यक्तुं न शक्नोमि। एतच्च प्रकृतिलज्जालुकतया साधनविकृतरूपतया वा स्यात्। एवमेभिः कारणैः --- तस्य कल्पते युज्यते 'कटिबन्धनं' चोलपट्टकं कर्तुं, स च विस्तरेण चतुरङ्गुलाधिको हस्तो दैर्घ्येण कटिप्रमाण इति, गणनाप्रमाणेनैकः। पुनरेतानि कारणानि न स्युः ततोऽचेल एव पराक्रमेत। अचेलतया शीतादिस्पर्शं सम्यगधिसहेतेति। --- स एवं कारणसद्भावे सति वस्त्रं विभूयादथवा नैवासौ जिहेति ततोऽचेल एव पराक्रमेत।” शीलांकाचार्यवृत्ति / आचारांग / १/७/७/२२०-२२१।

ख—हिन्दी अनुवाद : मुनि श्री सौभाग्यमलजी महाराज/आचारांगसूत्र/प्रथम श्रुतस्कन्ध/
पृ. ५५९।

११.पं. कैलाशचन्द्र शास्त्री : जैन साहित्य का इतिहास/पूर्वपीठिका/पृ.५२६ तथा जैन साहित्य और इतिहास-प्रेमी/प्र.सं./पृ.५१ पर उद्धृत।

चाहिए कि वस्त्रधारी सुखी रहता है और वस्त्रत्यागी दुःखी, इसलिए मैं वस्त्रधारण करूँगा।”

यहाँ भी जिनरूपधर (दिगम्बरवेशधारी) को ही अचेल कहा गया है। निष्कर्ष यह कि आचारांगादि आगमों में ‘अचेल’ शब्द का प्रयोग ‘अल्पचेल’ अर्थ में कहीं भी नहीं किया गया है, सर्वत्र ‘सर्वथा वस्त्ररहित’ अर्थ में ही किया गया है। ‘अचेल’ शब्द पर ‘अल्पचेल’ अर्थ आरोपित करने का श्रेय व्याख्याकारों को है। अतः सिद्ध है कि श्वेताम्बर-आगमों के अनुसार भी भगवान् ऋषभदेव और महावीर ने जिनरूप (दिगम्बरवेश) धारण करने का ही उपदेश दिया था, सचेलरूप धारण करने का नहीं, इसलिए दिगम्बरपरम्परा भगवान् ऋषभदेव-जितनी प्राचीन है।

७

आचारांग-स्थानांग में अचेलत्व की श्रेष्ठता का वर्णन

आचारांग में अचेलकर्म या दिगम्बरलिंग के अनेक गुण बतलाये गये हैं। यथा, उससे आर्त्तध्यान के एक बड़े कारण की निवृत्ति हो जाती है, परीषह सहने का अवसर मिलता है, तथा तप संभव होता है। निम्नलिखित सूत्र द्रष्टव्य है—

“एयं खु मुणी आयाणं सया सुयक्खायधम्मे विहूयकप्पे निज्झोसइत्ता, जे अचेले परिवुसिए तस्य णं भिक्खुस्स नो एवं भवइ-परिजुण्णे मे वत्थे वत्थं जाइस्सामि, सुत्तं जाइस्सामि, सूइं जाइस्सामि, संधिस्सामि, सीविस्सामि, उक्कसिस्सामि, वुक्क-सिस्सामि, परिहिस्सामि, पाउणिस्सामि। अदुवा तत्थ परिवक्कमंतं भुज्जो अचेलं तणफासा फुसंति, सीयफासा फुसंति, तेउफासा फुसंति, दंसमसगफासा फुसंति, एगयरे अन्नयरे विरूवरूवे फासे अहियासेइ अचेले लाघवं आगममाणे, तवे से अभिसमन्नागए भवइ, जहेयं भगवया पवेइयं तमेव अभिसमिच्चा सव्वओ सव्वत्ताए संमत्तमेव समभिजाणिजा, एवं तेसिं महावीराणं चिररायं पुव्वाइं वासाणि रीयमाणानां दवियाणं पास अहियासियं।” (आचारांग / १/६/३/१८२)।

अनुवाद—“धर्म को अच्छी तरह जाननेवाला और आचार का पालन करनेवाला जो मुनि कर्मबन्ध के कारणभूत वस्त्रादि को छोड़कर अचेल (निर्वस्त्र) रहता है, उसे यह चिन्ता नहीं सताती कि मेरा वस्त्र जीर्ण हो गया है, अब मुझे वस्त्र की याचना करनी है, वस्त्र सीने के लिये धागा माँगना है, सुई माँगनी है, फटे वस्त्र को सीलना है, छोटे वस्त्र को दूसरा वस्त्र जोड़कर बड़ा करना है, बड़े वस्त्र को छोटा करना है, उसे पहनूँ या ओढ़ूँ। अथवा वस्त्ररहित मुनि को भ्रमण करते हुए तृण चुभता है, ठंड लगती है, गर्मी लगती है, डाँस-मच्छर काटते हैं, तो ऐसे विविध परीषहों

को वह कर्मभार से हल्का होने का कारण मानकर सहन करता है। इससे तप होता है।^{१२}

सचेल होने पर साधु को जो ऊपर कही गयीं विभिन्न चिन्ताएँ होती हैं, उन्हें आर्तध्यान या अपध्यान कहते हैं।^{१३} अचेल (सर्वथा नग्न) रहने पर वह आर्तध्यान नहीं होता तथा परीषहजय और तप सम्पन्न होते हैं। ये अचेलधर्म अर्थात् दिगम्बरलिंग के गुण हैं। आचारांग में इनका वर्णन कर दिगम्बरलिंग की प्रशंसा की गई है। इससे दिगम्बर-साधनापद्धति की पूर्ववर्तिता सिद्ध होती है।

स्थानांगसूत्र में भी पाँच कारणों से अचेलक धर्म की प्रशंसा की गई है। कहा गया है—“पंचहि ठाणेहि अचेलए पसत्थे भवइ। तं जहा अप्पडिलेहा, लाघविए पसत्थे, रूवे वेसासिए, अणुण्णाए, विउले इंदियनिग्गहे।” (स्था.सूत्र / ५/३ / ३४७/ १५०) अर्थात् निम्नलिखित पाँच कारणों से अचेलक साधु प्रशस्त होता है—

१. अचेलक की प्रतिलेखना अल्प होती है।
२. अचेलक का लाघव प्रशस्त होता है।
३. अचेलकवेश विश्वास के योग्य होता है।
४. अचेलक का तप अनुज्ञात (जिन-अनुमत) होता है।
५. अचेलक के विपुल इन्द्रियनिग्रह होता है।

श्वेताम्बरागमों में अचेलकल्प की यह प्रशंसा इस बात का प्रमाण है कि दिगम्बर-परम्परा श्वेताम्बरपरम्परा की उत्पत्ति के पूर्व से चली आ रही थी और वह प्रशस्त पद्धति है।

जस्टिस श्री एम० एल० जैन (२१५, मन्दाकिनी एन्क्लेव, अलकनंदा, दिल्ली—११० ०१९) ने भी 'श्वेताम्बर-आगम और दिगम्बरत्व' नामक अपने लेख में आचारांग के पूर्वोद्धृत वचन एवं भगवतीसूत्र (शतक १/उद्देशक ९ / पृ. २०६-२०९ एवं २९६-३००/ जिनागम प्रकाशन सभा मुम्बई/वि० सं० १८५४) के वचन उद्धृत कर यह सिद्ध किया है कि श्वेताम्बर-आगमों में दिगम्बरत्व को भगवान् महावीर द्वारा उपदिष्ट एवं श्रेष्ठ स्वीकार किया गया है। उनका यह लेख वीरसेवा मन्दिर के त्रैमासिक पत्र अनेकान्त (अप्रैल-जून १९९३) में तथा पार्श्वनाथ विद्यापीठ वाराणसी की त्रैमासिक शोधपत्रिका श्रमण (अप्रैल-जून २००६) में प्रकाशित हुआ है।

१२. हिन्दी अनुवाद : मुनि श्री सौभाग्यमल जी महाराज।

१३. “तस्याचेलस्य भिक्षोर्नैतद् भवति, यथा परिजीर्णं मे वस्त्रं, छिद्रं पाटितं चेत्यमेवादि वस्त्रगत-मपध्यानं न भवति।” शीलांकाचार्य-वृत्ति/आचारांग / १/६/३/१८२/पृ. २२१।

८

आचारांगानुसार द्रव्यपरिग्रह भी परिग्रह

दिग्म्बरजैन-परम्परा में वस्त्रादि द्रव्यपरिग्रह तथा मूर्च्छारूप भावपरिग्रह, दोनों को परिग्रह माना गया है और कहा गया है कि दोनों के त्याग से ही साधु अपरिग्रही होता है। किन्तु पश्चात्कालीन श्वेताम्बराचार्यों ने वस्त्रपात्रादि-द्रव्यपरिग्रह को परिग्रह की परिभाषा से बाहर करने के लिए उन्हें धर्मोपकरणों की संज्ञा देकर कहा कि धर्मोपकरणों को रखना परिग्रह नहीं है, अपितु उनमें मूर्च्छा (ममत्व) करना परिग्रह है। इसलिए वस्त्रपात्रादि को रखते हुए भी उनमें मूर्च्छा न करने से साधु अपरिग्रही होता है। परिग्रह की यह नवीन परिभाषा दशवैकालिकसूत्र में इस प्रकार प्रतिपादित की गयी है—

जं पि वत्थं व पायं वा कंबलं पायपुंछणं।

तं पि संजमलज्जड्डु धारंति परिहरंति अ ॥ ६/१९॥

न सो परिग्गहो वुत्तो णायपुत्तेण ताइणा।

मूच्छा परिग्गहो वुत्तो इअ वुत्तं महेसिणा ॥ ६/२० ॥

अनुवाद—“साधु जो भी वस्त्र, पात्र, कम्बल और पादप्रौञ्चन (रजोहरण) धारण करता है और उनका उपभोग करता है, उसका प्रयोजन संयम और लज्जा का पालन है। संयमलज्जापालक वस्त्रपात्रादि के रखने को भगवान् महावीर ने परिग्रह नहीं कहा है, अपितु उनमें मूर्च्छा करने को परिग्रह कहा है।” (‘परिहरन्ति च=परिभुञ्जते च’/ हारिभद्रीयवृत्ति)।

किन्तु आचारांग में कहा गया है कि थोड़ा भी परद्रव्य रखना परिग्रह है—

“आवंति केयावंती लोगंसि परिग्गहावंती, से अप्पं वा बहं वा अणुं वा थूलं वा चित्तमंतं वा अचित्तमंतं वा एएसु च्चव परिग्गहावंती, एतदेव एगेसिं महब्भयं भवइ, लोगवित्तं च णं उवेहाए, एए संगे अवियाणओ।” (आचारांग/१/५/२/१५०)।

अनुवाद—“लोक में जितने भी परिग्रहवाले मुनि हैं, उनका परिग्रह थोड़ा हो या बहुत, सूक्ष्म हो या स्थूल, चेतन हो या अचेतन, वे सब इन परिग्रहवाले गृहस्थों में ही अन्तर्भूत होते हैं।^{१४} यह परिग्रह इनके लिए महाभय (का कारण) है। संसार की दशा जानकर इसे छोड़ो। जिसके पास यह परिग्रह नहीं होता, उसे महाभय नहीं होता।”

१४. “एतेन च परिग्रहेण परिग्रहवन्तः सन्तः एतेष्वेव परिग्रहवत्सु गृहस्थेष्वन्तर्वर्तिनो, व्रतिनोऽपि स्युः।” शीलांकाचार्य-वृत्ति/आचारांग/१/५/२/१५०।

इस सूत्र में प्रयुक्त अल्प-बहु, सूक्ष्म-स्थूल और चेतन-अचेतन विशेषणों से स्पष्ट होता है कि यहाँ द्रव्यपरिग्रह (बाह्यपरिग्रह) पर जोर दिया गया है, उसे महाभय का कारण बतलाया गया है, जिससे सूचित होता है कि वह मूर्च्छा का कारण होने से नरकादि के भयानक दुःखों का हेतु बनता है।^{१५} यह भी सूचित होता है कि अणुमात्र भी परिग्रह रखने पर साधु 'साधु' नहीं रहता, गृहस्थों की श्रेणी में चला जाता है।

इस सूत्र में वस्त्र, पात्र, कम्बल और पादप्रौंछन के परिग्रह को संयम और लज्जा का उपकरण कहकर परिग्रह की परिभाषा से मुक्त नहीं किया गया है, बल्कि सूत्र १८२ में सचेतत्व को अपध्यान का कारण बतलाकर परिग्रह की परिभाषा के भीतर कर दिया गया है। (देखिये, पा.टि. १३)।

इस प्रकार आचारांग में परिग्रह की दिगम्बरमान्य परिभाषा की उपलब्धि दिगम्बरमत की पूर्ववर्तिता घोषित करती है।

९

परीषहजय एवं तप के लिए पूर्णनिर्वस्त्रता की अनुशंसा

आचारांग में परीषहजय के लिए पूर्णनग्नता की अनुशंसा की गयी है। पूर्व में 'जे भिक्खु अचले परिवुसिए' तथा 'अदुवा तत्थ पराक्कमंतं' इत्यादि सूत्र क्रमांक २२०-२२१ उद्धृत किये गये हैं, जिनमें कहा गया है कि यदि भिक्खु शीतादि परीषह तो सहन कर सकता हो, किन्तु गुह्यप्रदेश के निरावरण रहने से लज्जित होता हो, तो उसे केवल कटिवस्त्र धारण करना चाहिए। किन्तु यदि यह कारण न हो, तो उसे नग्न ही रहना चाहिए, क्योंकि नग्न रहने से तृणादि के चुभने, ठंड-गर्मी लगने, डाँस-मच्छर आदि के काटने से जो पीड़ाएँ होती हैं, उन्हें वह भलीभाँति सहन करता है, जिससे उपकरणों और कर्मों के भार से मुक्त हो जाता है। इससे यह बात स्पष्ट होती है कि सवस्त्र अवस्था से निर्वस्त्र अवस्था अधिक लाभकारी है। निर्वस्त्र रहने पर भिक्खु जिस कर्मभार से मुक्त होता है,^{१६} उससे सवस्त्र रहने पर नहीं होता।

पूर्व में आचारांग के 'अह पुण एवं जाणिज्जा' इत्यादि सूत्र २०९-२१० भी उद्धृत किये गये हैं, जिनमें कहा गया है कि शीतादिपरीषह न सह पाने के कारण साधु जो वस्त्र धारण करता है, उन्हें शीतादि की बाधाएँ समाप्त हो जाने पर त्याग

१५. "एतदेव---परिग्रहवत्त्वं---परिग्रहवतां नरकादिगमनहेतुत्वात् सर्वस्याविश्वासकारणाद्वा महाभयं भवति।" शीलांकाचार्य-वृत्ति/आचारांग/१/५/२/१५०।

१६. "शरीरोपकरणकर्मणि वा लाघवमागमयन् वस्त्रपरित्यागं कुर्यादिति।" शीलांकाचार्य-वृत्ति/आचारांग/१/७/३/२१०/पृ. २५१।

देना चाहिए, क्योंकि वस्त्र परित्याग कर देने पर साधु को कायक्लेशरूप तप का लाभ होता है।^{१७}

भगवती-आराधना की 'आचेलक्कुद्देसिय' गाथा (४२३) की टीका में अपराजित सूरि लिखते हैं—“इदं चाचेलताप्रसाधनपरं शीतदंशमशकतृणस्पर्शपरीषहसहनवचनं परीषहसूत्रेषु। न हि सचेलं शीतादयो बाधन्ते।” (पृ.३२६)।

अनुवाद—“परीषहसूत्रों में (उत्तराध्ययन में) जो शीत, दंशमशक, तृणस्पर्श आदि पीड़ाओं को सहन करने के वचन हैं, उनसे सिद्ध होता है कि साधु को अचेल (सर्वथा नग्न) रहने का ही उपदेश दिया गया है, क्योंकि सवस्त्र को शीतादि की पीड़ाएँ नहीं होती।”

श्वेताम्बर-आगमों के ये वचन कि परीषहजय और कायक्लेश-तप पूर्ण नग्न अवस्था में ही संभव है, सिद्ध करते हैं कि मुनि के लिए मूलतः पूर्णनग्न रहने का ही उपदेश दिया गया है। इन वचनों से दिगम्बरत्व की पूर्ववर्तिता प्रमाणित होती है।

१०

दिगम्बरत्व उत्सर्गमार्ग, साम्बरत्व अपवादमार्ग

स्थानांग में विधान किया गया है कि केवल तीन परिस्थितियों में वस्त्रधारण करना चाहिए। वे तीन परिस्थितियाँ हैं : ह्री-प्रत्यय (लज्जा का अनुभव), जुगुप्सा-प्रत्यय (लोकनिन्दा का भय) तथा परीषह-प्रत्यय (शीतादि की पीड़ा सहने में असमर्थता)—“तिहिं ठाणेहिं वत्थं धारेज्जा। तं जहा हिरिवत्तियं, दुगुंछावत्तियं, परीसह-वत्तियं।” (स्था. सू./३/३/३४७/१५०)

लज्जा की अनुभूति दो कारणों से हो सकती है : जननेन्द्रिय के कुरूप होने से तथा स्त्रियों को देखकर लिंगोत्थान हो जाने से।^{१८} इन्हीं कारणों से लोकनिन्दा का

१७. “तस्य वस्त्रपरित्यागं कुर्वतः साधोस्तपोऽभिसमन्वागतं भवति, कायक्लेशस्य तपोभेदत्वात्।” वही।

१८.क—“तत्र प्रजनने मेहने 'वेडव्वि ति' वैक्रिये विकृते तथा अप्रावृतेऽनावृते, वातिके चोत्सूनत्व-भाजने, ह्रिया लज्जया सत्या, खट्टे बृहत्प्रमाणे 'लिंगुदयट्ट ति' स्त्रीदर्शने लिङ्गोदयरक्षणार्थं च पट-श्चोलपट्टो मत इति।” हेम.वृत्ति/विशेषावश्यकभाष्य/गा. २५७५-७९/पृ. ५१६।

ख—“आर्यिकाणामागमे अनुज्ञातं वस्त्रं, कारणापेक्षया भिक्षूणाम् ह्रीमानयोग्यशरीरावयवो दुश्चर्माभिलम्बमानबीजो वा परीषहसहने वा अक्षमः स गृह्णाति।” विजयोदयाटीका/भ. आ./गा. 'आचेलक्कुद्देसिय' ४२३ / पृ. ३२४।

भी भय हो सकता है। यदि उक्त तीन कारण न हों, तो साधु को नग्न ही रहना चाहिए। आचारांग के पूर्वोद्धृत वचनों में भी ऐसा ही कहा गया है। इस प्रकार श्वेताम्बर-आगमों में भी दिगम्बरत्व का ही मुख्यतः विधान किया गया है। वस्त्रधारण की अनुमति तो कारणाश्रित होने से आपवादिक है। दिगम्बरसम्प्रदाय में भी विशेष परिस्थितियों में मुमुक्षुओं को वस्त्रधारण की अनुमति है, किन्तु वस्त्रधारण करनेवाले साधकों को मुनि-तुल्य नहीं माना गया है। उनका आध्यात्मिक स्तर मुनियों से हीन होता है। उन्हें अन्ततः वस्त्र त्यागकर मुनि बनना होता है, तभी वे मोक्ष की साधना के योग्य बनते हैं। सार यह है कि श्वेताम्बर-आगमों में साधुओं के लिए दिगम्बरचर्या का ही मुख्यतः विधान है। यद्यपि श्वेताम्बरपरम्परा में उसका आचरण कभी नहीं किया गया, इसके विपरीत उसे जिनकल्प नाम देकर व्युच्छिन्न घोषित कर दिया गया, तथापि आचारांग-स्थानांग आदि में उसे श्रेष्ठ और ही-जुगुप्सादि कारणों के अभाव में ग्राह्य बतलाया गया है, अतः दिगम्बरमार्ग की पूर्ववर्तिता सिद्ध होती है।



द्वितीय प्रकरण

उत्तरवर्ती साहित्य में दिगम्बरीय सिद्धान्तों का खण्डन

श्वेताम्बराचार्यों ने अचेलकता के इतिहास को मिटाने का कौशलपूर्ण प्रयास किया है। वह कौशल है परिभाषाओं को बदलना, विपरीत व्याख्याएँ, तथा आधारहीन कल्पनाएँ करना। परिग्रह की परिभाषा बदली गई, 'अचेल' और 'नग्न' शब्दों की विपरीत व्याख्याएँ की गयीं, नाममात्र के अचेल, वस्तुतः सचेल-जिनकल्प और सचेल-स्थविरकल्प का भेद पैदा किया गया, पश्चात् जिनकल्प के विच्छेद की घोषणा भी कर दी गयी, तीर्थंकरों के साथ सर्वसाधर्म्य का निषेध किया गया, अचेलत्व को संयम में बाधक करार दिया गया तथा 'वस्त्र ग्रहण किये बिना संयम और मोक्ष संभव नहीं' इस स्वकल्पित मत को जिनाज्ञा के रूप में प्रस्तुत किया गया। इससे यह फलित किया गया कि भगवान् महावीर ने वास्तव में अचेलकधर्म का नहीं, सचेलधर्म का उपदेश दिया है। आइये, अचेलधर्म के स्थान में सचेलधर्म को जिनोपदिष्ट सिद्ध करने के उन कौशलपूर्ण तरीकों पर नजर डालें।

१

परिग्रह की परम्परागत परिभाषा का खण्डन

पूर्व (प्रकरण १/शी.८) में 'दशवैकालिक' की दो गाथाएँ (६/१९-२०) उद्धृत की गयी हैं, जिनमें कहा गया है—“साधु जो वस्त्र, पात्र, कम्बल और पादप्रौञ्चन रखता है, वह परिग्रह नहीं है, अपितु उन वस्त्र-पात्रादि में मूर्च्छा (ममत्व) करना परिग्रह है।” इससे यह स्पष्ट होता है कि उस समय यह मान्यता प्रचलित थी कि साधु का वस्त्रपात्रादि रखना परिग्रह है। परिग्रह की इस परिभाषा के अनुसार अपरिग्रही होने के लिए वस्त्रादि का सर्वथा त्याग आवश्यक है। यह परिभाषा उन साधुओं के प्रतिकूल थी, जिन्होंने वस्त्रपात्रादि रखना शुरू कर दिया था। अतः उन्होंने परिग्रह की परम्परागत परिभाषा को ही अप्रामाणिक घोषित कर दिया और कहना शुरू कर दिया कि भगवान् महावीर ने वस्त्रपात्रादि रखने को परिग्रह नहीं कहा है, बल्कि उनमें मूर्च्छा करने को परिग्रह कहा है। ऐसा ही उन्होंने शास्त्रों में भी लिख दिया। इस परिभाषा से उन्होंने परिग्रह रखते हुए भी अपने को अपरिग्रही सिद्ध कर लिया।

परिग्रह की पूर्वप्रचलित परिभाषा के खण्डन से सिद्ध होता है कि उस परिभाषा को माननेवाली परम्परा पूर्व से चली आ रही थी, अन्यथा खण्डन का प्रश्न ही नहीं उठता था। यह खण्डन श्वेताम्बरमान्यतानुसार वीरनिर्वाण के लगभग ७५ वर्ष बाद^{१९}

१९. जैन आगम साहित्य : मनन और मीमांसा/पृ. ५६२।

(४५२ ई० पू०) हुए आचार्य शय्यम्भव ने अपने 'दशवैकालिकसूत्र' नामक ग्रन्थ में किया है, जिससे प्रकट होता है कि वस्त्रपात्रादि रखने को परिग्रह माननेवाली दिगम्बरपरम्परा का अस्तित्व ४५२ ई० पू० में था।

सुप्रसिद्ध श्वेताम्बर सन्त श्री देवेन्द्रमुनि शास्त्री के निम्नलिखित वक्तव्य से भी इस तथ्य का समर्थन होता है। वे लिखते हैं—

“सम्भवतः प्रभव स्वामी^{२०} के समय में ही परस्पर में मतभेद के बीज पनपने लगे होंगे। दशवैकालिकसूत्र में आचार्य शय्यम्भव ने स्पष्ट शब्दों में लिखा है कि वस्त्र रखना परिग्रह नहीं है। संयम और लज्जा के निमित्त वस्त्र रखने को भगवान् महावीर ने परिग्रह नहीं कहा है। इस कथन से ऐसा लगता है कि उस समय संघ में आन्तरिक मतभेद प्रारम्भ हो गया था।”^{२१}

दिगम्बर और श्वेताम्बर सम्प्रदायों का सम्पूर्ण मतभेद परिग्रह की उपर्युक्त (दशवैकालिकसूत्र-निर्दिष्ट) परिभाषा पर ही टिका हुआ है। उत्तरकालीन सभी श्वेताम्बर ग्रन्थकारों ने इस परिभाषा को विभिन्न युक्तियों से पुष्ट कर अपनी सग्रन्थावस्था को भी निर्ग्रन्थ सिद्ध करने का प्रयत्न किया है। यथा, विशेषावश्यकभाष्य में श्री जिनभद्रगणी क्षमाश्रमण कहते हैं—

तम्हा किमत्थि वत्थुं गंथोऽगंथो व सव्वहा लोए।
गंथोऽगंथो व मओ मुच्छममुच्छाहिं निच्छयओ ॥ २५७३ ॥
वत्थाइं तेण जं जं संजमसाहणमराग-दोसस्स।
तं तमपरिग्गहो च्चिय परिग्गहो जं तदुवघाइं ॥ २५७४ ॥

अनुवाद—“कोई भी वस्तु अपने-आप में ग्रन्थ (परिग्रह) या अग्रन्थ (अपरिग्रह) नहीं होती, अपितु जिस वस्तु में मूर्च्छा होती है, वह ग्रन्थ कहलाती है और जिसमें मूर्च्छा नहीं होती वह अग्रन्थ। अतः रागद्वेषरहित जीव के पास जो वस्त्रादिरूप संयम के साधन होते हैं, वे परिग्रह नहीं हैं, जो उसके उपघातक हैं, वे परिग्रह हैं।”

दिगम्बरमत के अनुसार वस्त्रपात्रादि परीषहजन्य पीड़ा के निवारणार्थ ग्रहण किये जाते हैं, अतः देहसुख के साधन होने से मूर्च्छा (सुखेच्छा) के फल हैं और मूर्च्छा के हेतु हैं, अतः उनमें मूर्च्छा उत्पन्न न होने का प्रश्न ही नहीं उठता, फलस्वरूप वे परिग्रह ही हैं। इसका विस्तार से स्पष्टीकरण आगे किया जायेगा।

२०. प्रभवस्वामी आचार्य शय्यम्भव के पूर्ववर्ती थे। (वही/पृष्ठ ५६२)।

२१. वही/पृष्ठ ५६२।

परिग्रह की इस दिगम्बरमान्य परम्परागत परिभाषा का खण्डन श्वेताम्बराचार्य शय्यंभव द्वारा दशवैकालिकसूत्र की पूर्वोक्त गाथाओं में किया गया है। इससे सिद्ध होता है कि दिगम्बरपरम्परा का अस्तित्व आचार्य शय्यंभव (४५२ ई० पू०) के पूर्व था।

२

जिनकल्प का नाम देकर अचेतत्व के विच्छेद की घोषणा

श्री जिनभद्रगणि-क्षमाश्रमण ने बोटिकमतोत्पत्तिकथा में शिवभूति के मुख से मोक्षार्थी के लिए जिस जिनकल्प के ग्राह्य होने का वर्णन कराया है, वह अक्षरशः दिगम्बर-जैन मुनि के अचेतलिंग का वर्णन है। उसे वह निष्परिग्रह एवं तीर्थकरों द्वारा गृहीत अचेतलिंग कहता है। वस्त्रपात्रादि-परिग्रह को वह कषाय, भय, मूर्च्छादि दोषों का कारण बतलाता है। इस प्रकार उसके समस्त तर्क एवं मान्यताएँ दिगम्बरजैनमतानुगामी हैं। इसका विस्तार से निरूपण द्वितीय अध्याय (प्र.२/शी.५) में किया गया है।

यद्यपि गुरु आर्यकृष्ण द्वारा वर्णित जिनकल्प किसी न किसी रूप में सचेत है, तथापि शिवभूति जिस तीर्थकरवत् या दिगम्बरजैन-मुनिवत् अचेतलिंग को मोक्षार्थी के लिए ग्राह्य बतलाता है, उसे भी गुरु आर्यकृष्ण जिनकल्प कहकर जम्बूस्वामी के निर्वाण के बाद व्युच्छिन्न हुआ घोषित कर देते हैं। (देखिये, अध्याय २/प्र. ३/शी. ३.५)। शिवभूति उसे ही धारण कर श्वेताम्बरसंघ से अलग हो जाता है तथा अपने शिष्यों को उसी अचेतलिंग की दीक्षा देता है।

इससे सिद्ध होता है कि श्वेताम्बरसाहित्य में दिगम्बर-जैनमत को जम्बूस्वामी के पूर्व से अर्थात् न केवल तीर्थकर महावीर के काल से, अपितु तीर्थकर ऋषभदेव के युग से प्रचलित स्वीकार किया गया है। (देखिये, अध्याय २/प्र. २/शी. १०.५)। केवल उसे जम्बूस्वामी के निर्वाण के बाद व्युच्छिन्न मान लिया गया है। व्युच्छिन्न मानना ही उसके पूर्वप्रचलित होने का प्रमाण है।

सुप्रसिद्ध श्वेताम्बर मुनि श्री नगराज जी डी० लिट० के निम्नलिखित वचनों से इस तथ्य की पुष्टि होती है—“श्वेताम्बर-आगमों में जिनकल्प तथा स्थविरकल्प के रूप में नग्न और सवस्त्र, दोनों मुनि-आचार-विधियों का निरूपण है। फलतः इससे श्वेताम्बर-श्रमण-आचार के साथ-साथ दिगम्बर-श्रमण-आचार को भी पुष्टि मिलती है। दिगम्बर, जिन शास्त्रों को अप्रामाणिक कहें, उन्हीं शास्त्रों से दिगम्बर-आचार का समर्थन हो, यह श्वेताम्बरों को कब स्वीकार होता? यह असम्भाव्य नहीं जान पड़ता कि कहीं इसी प्रतिक्रिया के फलस्वरूप तो श्वेताम्बरों ने आर्य जम्बू के पश्चात् जिनकल्प का विच्छेद घोषित न कर दिया हो, जिससे उसका शास्त्रीय समर्थन असामयिक एवं अनुपादेय बन जाये। अन्वेषक एवं समीक्षक विद्वान् जानते हैं कि धर्म-सम्प्रदाय के इतिहास

में ऐसी घटनाएँ अघटनीय नहीं होतीं।” (आगम और त्रिपिटक : एक अनुशीलन/ खण्ड २/पृ. ५५८)।

मूर्धन्य श्वेताम्बर विद्वान् पं० बेचरदास जी के विचारों से भी उक्त तथ्य सम्पुष्ट होता है। उनके विचार द्वितीय अध्याय में उद्धृत किये गये हैं।^{२२}

३

सचेल के लिए 'अचेलक' शब्द का व्यवहार प्रसिद्ध बतलाने का प्रयास

३.१. महावीर के तीर्थ में सचेलकधर्म का अस्तित्व नहीं

यह आश्चर्य की बात है कि श्वेताम्बरग्रन्थों के अनुसार तीर्थंकर महावीर के तीर्थ में सचेलकधर्म का अस्तित्व ही सिद्ध नहीं होता, क्योंकि उत्तराध्ययनसूत्र में कहा गया है कि भगवान् महावीर ने केवल अचेलकधर्म का उपदेश दिया था और भगवान् पार्श्वनाथ ने अचेल और सचेल दोनों धर्मों का।^{२३} तथा कल्पनिर्युक्ति की 'आचेलककु-द्वेसिय' इत्यादि गाथा में वर्णन है कि साधुओं के दस कल्पों (आचारों) में 'आचेलक्य' (अचेलत्व) पहला कल्प (आचार) है। अर्थात् साधु के लिए अचेलत्व धारण करना अनिवार्य है।^{२४} इन कथनों से सिद्ध होता है कि भगवान् महावीर ने सचेलकधर्म का उपदेश नहीं दिया था, वे केवल अचेलकधर्म के उपदेशक थे। इससे निष्कर्ष निकलता है कि वर्तमान में प्रचलित सचेलकधर्म तीर्थंकर महावीर द्वारा अनुपदिष्ट, निह्वमत है। केवल दिगम्बरजैनमत अचेलकधर्म का अनुयायी होने के कारण तीर्थंकर महावीर द्वारा उपदिष्ट ठहरता है। यह भी नहीं कहा जा सकता कि वर्तमान में प्रचलित सचेलकधर्म तीर्थंकर पार्श्वनाथ द्वारा उपदिष्ट है, क्योंकि उनका तीर्थकाल भगवान् महावीर के तीर्थंकर होते ही समाप्त हो गया था। अब तीर्थंकर महावीर का तीर्थकाल प्रचलित है। उसमें सचेलकधर्म का उपदेश नहीं है।

३.२. विपरीतार्थ-प्ररूपण द्वारा महावीर के तीर्थ में सचेलकधर्म की सिद्धि का प्रयास

श्री जिनभद्रगणि-क्षमाश्रमण तथा श्री संघदासगणि-क्षमाश्रमण की दृष्टि जब उपर्युक्त तथ्य पर गयी, तो उन्होंने भगवान् महावीर के तीर्थ में सचेलधर्म का उपदेश सिद्ध करने के लिए उलटी गंगा बहाने का एक अद्भुत उपाय ढूँढ़ निकाला। उन्होंने रात

२२. देखिए, अध्याय २/ प्रकरण ३/ शीर्षक ३.१०।

२३. देखिये, इसी अध्याय का प्रथम प्रकरण/ शीर्षक ५।

२४. देखिये, इसी अध्याय का प्रथम प्रकरण/ शीर्षक ५।

को दिन कहने के समान यह घोषित कर दिया कि 'अचेल' शब्द का अर्थ 'अचेल' भी होता है और 'सचेल' भी। किसी को अचेल होने पर ही अचेल कहते हैं, किसी को सचेल होने पर भी 'अचेल' शब्द से पुकारते हैं। तीर्थंकर अचेल होने के कारण ही अचेल कहलाते हैं और सामान्य साधु सचेल होने पर भी अचेल कहलाते हैं। इसकी युक्तिसंगतता उन्होंने लोक में प्रयोजनविशेष से कभी-कभी प्रयुक्त होनेवाली उलटी भाषा (वक्रोक्ति या असंगतोक्ति) के दृष्टान्तों से सिद्ध करने की चेष्टा की है। श्री जिनभद्रगणी विशेषावश्यकभाष्य में लिखते हैं—

सदसंतचेलगोऽचेलगो य. जं लोगसमयसंसिद्धो ।
 तेणाचेलामुणओ संतेहिं जिणा असंतेहिं ॥ २५९८ ॥
 परिसुद्ध जुणण कुच्छिअ थोवाऽनिययन्नभोगभोगेहिं ।
 मुणओ मुच्छारहिया संतेहिं अचेलया होति ॥ २५९९ ॥
 जह जलमवगाहंतो बहुचेलो वि सिरवेद्वियकडिल्लो ।
 भण्णइ नरो अचेलो तह मुणओ संतचेलामि ॥ २६०० ॥
 तह थोव-जुन्न-कुच्छियचेलेहिं वि भन्ने अचेलो ति ।
 जह तूरत्तर सालिय! लहुं दो पोत्तिं नगिया मो ति ॥ २६०१ ॥

अनुवाद—“यतः लोक और समय (आगम) में सचेल और अचेल दोनों के लिए 'अचेलक' शब्द प्रसिद्ध है,^{२५} अतः सामान्य साधु सचेल होने पर भी अचेल कहलाते हैं और तीर्थंकर अचेल होने के कारण ही अचेल शब्द से अभिहित होते हैं।” (२५९८)

“मूच्छारहित मुनि परिशुद्ध (एषणीय), जीर्ण (पुराने), कुत्सित (निस्सार= अनुपयोगी), स्तोक (अल्प) और अनियतभोग (कभी-कभी सेवन किये जाने वाले) वस्त्रों को धारण करने पर भी अचेलक कहलाते हैं।” (२५९९)।

“जैसे कोई पुरुष नदी पार करते समय भोग जाने के भय से कटिवस्त्र उतारकर सिर पर लपेट लेता है, तो उसके द्वारा वस्त्र का उपभोग किये जाने पर भी लोग उसे अचेल (नग्न) कहते हैं, वैसे ही मुनि वस्त्रधारण करते हुए भी अचेल कहलाते हैं।” (२६००)।

“तथा जैसे कोई बहुच्छिद्रयुक्त पुरानी साड़ी पहने हुई स्त्री जुलाहे के पास जाकर कहती है कि मुझे शीघ्र नई साड़ी बुनकर दो, मैं नंगी हूँ, वैसे ही अल्प,

२५. “सति असति च चेलेऽचेलकत्वस्यागमे लोके च रूढकत्वात्---।” हेमचन्द्रसूरि-वृत्ति / विशेषावश्यकभाष्य / गा. २५९८।

जीर्ण और मैले-कुचैले वस्त्रधारण करनेवाले साधु को भी नग्न कहा जाता है।” (२६०१)^{२६}

प्रथम और अन्तिम तीर्थकरों द्वारा उपदिष्ट अचेलकधर्म में ‘अचेल’ शब्द से अचेल और सचेल दोनों अर्थों के ग्राह्य होने का समर्थन श्री संघदासगणि-क्षमाश्रमण ने भी बृहत्कल्पसूत्र के लघुभाष्य में निम्नलिखित गाथाओं द्वारा किया है—

आचेलक्कुदेसिय सिज्जायर रायपिंड कितिकम्मे।
बत जेदु पडिक्कमणे मासं पज्जोसवणकप्पे ॥ ६३६४ ॥

इस गाथा में मुनियों के लिए ‘आचेलक्य’ आदि दस कल्प (आचार) आवश्यक बतलाकर ‘आचेलक्य’ शब्द से अचेलत्व के साथ सचेलत्व भी ग्राह्य है, इसका समर्थन करने के लिए श्री संघदासगणी कहते हैं—

दुविहो होंति अचेलो संताचेलो असंतचेलो य।
तित्थगर असंतचेलो संताचेलो भवे सेसा ॥ ६३६५ ॥

अनुवाद—“अचेल दो प्रकार के होते हैं: सद्-अचेल (वस्त्र-सहित अचेल) तथा असद्-अचेल (वस्त्ररहित अचेल)। तीर्थकर वस्त्ररहित अचेल हैं, शेष साधु वस्त्रसहित अचेल।”

और सचेल के लिए अचेल-शब्द के व्यवहार का समर्थन भी श्री संघदासगणी ने उन्हीं दो दृष्टान्तों (१. कटिवस्त्र को सिर पर लपेटकर नदी पार करनेवाले पुरुष एवं २. जुलाहे से शीघ्र साड़ी बुनकर देने के लिए कहनेवाली जीर्ण-साड़ीधारी स्त्री) से किया है, जिनसे श्री जिनभद्रगणी ने किया है। यथा—

सीसावेढियपुत्तं णदिउत्तरणम्मि नगगयं वेत्ति।
जुण्णेहि णग्गिया मी तुर सालिय! देहि मे पोत्तिं ॥ ६३६६ ॥
जुन्नेहिं खंडिएहि य असव्वतणुपाउतेहिं ण य णिच्चं।
संतेहिं वि णिग्गंथा अचेलगा होंति चेलेहिं ॥ ६३६७ ॥

‘अचेल’ शब्द से ‘अचेल’ और ‘सचेल’ ये दो अर्थ अभिप्रेत बतलाकर श्री संघदासगणी एक शंका उठाकर उसका समाधान प्रस्तुत गाथा में करते हैं—

२६. “जीर्णादिभिरपि वस्त्रैरचेलकत्वं लोकरूढमेवेति --- यथेह कापि योषित् कटीवेष्टितजीर्ण-बहुच्छिद्रैकसाटिका कञ्चित् कौलिकं वदति—‘त्वरस्व भोः शालिक! शीघ्रो भूत्वा मदीयपोर्त्तीं शाटिकां निर्वाप्य ददस्व समर्पय, नग्निका वर्तेऽहम्। तदिह सवस्त्रायामपि योषिति नाग्न्यवाचकशब्दप्रवृत्तेः---।” हेमचन्द्रसूरिकृत-वृत्ति / विशेषावश्यकभाष्य / गा. २६०१।

एवं दुग्गत-पहिता अचेलगा ह्येति ते भवे बुद्धी।
ते खलु असंततीए धरेति ण तु धम्मबुद्धीए॥ ६३६८॥

इसका स्पष्टीकरण वृत्तिकार आचार्य श्री क्षेमकीर्ति ने इन शब्दों में किया है—

“यदि जीर्ण-खण्डितादिभिर्वस्त्रैः प्रावृत्तैः साधवोऽचेलकास्तत एवं दुर्गताश्च दरिद्राः पथिकाश्च--- तेऽप्यचेलका भवन्तीति 'ते' तव बुद्धिः स्यात् तत्रोच्यते— ते खलु दुर्गत-पथिकाः 'असत्तया' नव-व्यूत-सदशकादीनां वस्त्राणामसम्पत्त्या परिजीर्णा-दीनि वासांसि धारयन्ति, न पुनर्धर्मबुद्ध्या। अतो भावतस्तद्विषयमूर्च्छापरिणामस्यानिवृत्त-त्वानैते अचेलकाः। साधवस्तु सति लाभे महाधनादीनि परिहृत्य जीर्णखण्डितादीनि धर्मबुद्ध्या धारयन्तीत्यतोऽचेलो उच्यन्ते।” (बृहत्कल्प-लघुभाष्य-वृत्ति / गा. ६३६८)।

अनुवाद—“यदि फटे-पुराने वस्त्र धारण करने से साधु अचेलक कहलाते हैं, तो दरिद्र पथिक भी अचेलक कहलाने लगेंगे, ऐसी शंका होने पर समाधान यह है कि दरिद्र पथिक तो नवीन वस्त्र प्राप्त न होने से फटे-पुराने वस्त्र धारण करते हैं, धर्मबुद्धि से नहीं। अतः वे मूर्च्छापरिणाम से निवृत्त न होने के कारण अचेलक नहीं कहलाते। किन्तु साधु तो बहुमूल्य वस्त्र त्याग कर धर्मबुद्धि से फटे-पुराने वस्त्र धारण करते हैं, इसलिए अचेल कहलाते हैं।”

विशेषावश्यकभाष्य के वृत्तिकार श्री मलधारी हेमचन्द्रसूरि ने भी सचेल के लिए 'अचेल' शब्द के व्यवहार का समर्थन किया है। यथा—

“सामान्यसाधवः सद्भिरेव चेलैरुपचारतोऽचेलो भण्यन्ते, जिनास्तु तीर्थकरा असद्भिश्चे-लैर्मुख्यवृत्त्याऽचेलो व्यपदिश्यन्ते। इदमुक्तं भवति—इहाचेलत्वं द्विविधं मुख्यमुपचरितं च। तत्रेदानीं मुख्यमचेलत्वं संयमोपकारि न भवति। अत औपचारिकं गृह्यते। मुख्यं तु जिनानामेवासीदिति।” (हेम.वृत्ति / विशे.भा. / गा. २५९८)।

अनुवाद—“सामान्यसाधु सचेल होते हुए भी उपचार से ('अचेल' शब्द के गौण या उपचरित अर्थ की अपेक्षा) अचेल कहे जाते हैं, किन्तु तीर्थकर अचेल होने से मुख्यवृत्त्या ('अचेल' शब्द के मुख्यार्थ की अपेक्षा) अचेल कहलाते हैं। कहने का तात्पर्य यह कि अचेलत्व दो प्रकार का है : मुख्य और उपचरित। इनमें से वर्तमान में मुख्य अचेलत्व संयम का साधक नहीं है, अतः वर्तमान में अचेल शब्द से औपचारिक अचेलत्व अर्थ ग्रहण किया जाता है। मुख्य अचेलत्व तो तीर्थकरों के ही था।”

यहाँ श्री जिनभद्रगणी, श्री संघदासगणी एवं श्री मलधारी हेमचन्द्र, तीनों ने अचेलक शब्द को तीर्थकरों के प्रकरण में अचेलक (नग्न) का वाचक तथा सामान्य साधुओं के प्रसंग में सचेलक का वाचक बतलाया है। इसलिए उत्तराध्ययनसूत्र आदि में जो

यह कहा गया है कि "भगवान् ऋषभदेव और महावीर ने अपने तीर्थ के साधुओं को अचेलकधर्म का उपदेश दिया था और मध्य के बाईस तीर्थकरों ने अपने तीर्थ के साधुओं को अचेल और सचेल दोनों धर्मों का" इस कथन पर अपनी मान्यता का आरोप करने के लिए श्री संघदासगणी ने तीर्थकर ऋषभदेव और महावीर के प्रसंग में अचेलक शब्द को सचेलक का वाचक बतलाया है और मध्य के बाईस तीर्थकरों के प्रसंग में नग्न का वाचक। देखिये बृहत्कल्प-लघुभाष्य की निम्नलिखित गाथाएँ—

आचेलकको धम्मो पुरिमस्स य पच्छिमस्स जिणास्स।
मज्झिमगाण जिणाणं होंति अचेलो सचेलो य॥ ६३६९॥
पडिमाएँ पाउता वा णऽतिक्कमंते उ मज्झिमा समणा।
पुरिम-चरिमाण अमहद्धणा तु भिण्णा इमे मोत्तुं॥ ६३७०॥

इनमें से ६३७०वीं गाथा का अर्थ खोलते हुए वृत्तिकार क्षेमकीर्ति कहते हैं—
"मध्यमाः मध्यमतीर्थकरसत्काः साधवः 'प्रतिमया वा' नग्नतया 'प्रावृता वा' प्रमाणातिरिक्त-महामूल्यादिभिर्वासोभिराच्छादित-वपुषो नातिक्रामन्ति भागवतीमाज्ञामिति गम्यते। पूर्व-चरमाणो तु प्रथम-पश्चिमतीर्थकरसाधूनां 'अमहाधनानि' स्वल्पमूल्यानि 'भिन्नानि च' अकृत्स्नानि प्रमाणोपेतान्यदशकानि चेत्यर्थः---।"

अनुवाद—“मध्यमतीर्थकरों के तीर्थ के साधु नग्न रहें अथवा शरीर के प्रमाण से भी बड़े महामूल्यवान् वस्त्रों से तन आच्छादित करें, दोनों ही स्थितियों में वे भगवान् की आज्ञा का उल्लंघन नहीं करते। किन्तु प्रथम और अन्तिम तीर्थकरों के साधु स्वल्पमूल्यवाले, खंडित एवं शरीरप्रमाण वस्त्र धारण करते हैं---।”

यहाँ महत्त्वपूर्ण बात यह है कि श्री संघदासगणी ने पूर्वोद्धृत ६३६५वीं गाथा में केवल तीर्थकरों के प्रसंग में 'अचेलक' शब्द को 'नग्न' अर्थ का वाचक बतलाया है, तथापि यहाँ मध्यम तीर्थकरों के साधुओं के प्रसंग में भी 'अचेल' शब्द को 'नग्न' अर्थ का प्रतिपादक प्ररूपित किया है। किन्तु उत्तरवर्ती टीकाकारों ने यहाँ के 'अचेल' शब्द को भी 'सचेल' का वाचक घोषित कर दिया। (देखिये, अगला शीर्षक ३.३)।

३.३. 'अचेल' शब्द का अशास्त्रप्रसिद्ध-अलोकप्रसिद्ध अर्थप्ररूपण

श्वेताम्बराचार्यों ने जब अचेलक या अचेल शब्द को सचेल का वाचक घोषित कर दिया, तब मध्यम (बीच के बाईस) तीर्थकरों को अचेल और सचेल दोनों धर्मों का उपदेशक बतलाये जाने से सचेल शब्द का पृथक् से उल्लेख निरर्थक हो गया।

फलस्वरूप इसे सार्थक सिद्ध करने के लिए व्याख्याकारों ने यह व्याख्या की, कि 'अचेल' शब्द सफेद रंग के फटे-पुराने, शरीरप्रमाण, अल्प वस्त्र धारण करने वाले साधु का वाचक है और 'सचेल' शब्द बहुमूल्य, रंगीन एवं शरीरप्रमाण से बड़े, विशिष्ट वस्त्रधारण करने वाले साधु का। देखिए—

“साधूनां तु प्रथमचरमजिनतीर्थे श्वेतवर्णमानोपेत-जीर्णप्रायस्वल्पवस्त्रधारणेन प्रवरवेषाभावादचेलकत्वम्। --- अजितादिद्वाविंशतिजिनसाधूनां तु ऋजुप्राज्ञत्वाद् बहुमूल्यपञ्चवर्णवस्त्रधारणात् केषाञ्चित् सचेलकत्वं, केषाञ्चिच्च श्वेतवर्णमानोपेत-वस्त्रधारणादचेलकत्वम्।” (कल्पकौमुदीवृत्ति/कल्पसूत्र/क्षण १/पृ.२)।

अनुवाद—“प्रथम और अन्तिम तीर्थकरों के तीर्थ में साधुगण श्वेतवर्ण के जीर्णप्राय, स्वल्प वस्त्र धारण करते थे और करते हैं, अतः प्रवरवेशरहित होने से वे अचेलक कहलाते थे तथा कहलाते हैं। किन्तु अजितनाथ आदि बाईस तीर्थकरों के कुछ साधु ऋजुप्राज्ञ होने से बहुमूल्य, पञ्चवर्णात्मक वस्त्रधारण करते थे, अतः सचेलक कहलाते थे और कुछ श्वेतवर्ण के जीर्णप्राय वस्त्रधारण करने से अचेलक नाम से जाने जाते थे।”

“मध्यमतीर्थकरसत्काः साधवः प्रमाणातिरिक्त-महामूल्यादिभिर्वासोभिराच्छादि-तवपुषो नातिक्रामन्ति भगवतीमाज्ञामिति गम्यते।” (बृ.कल्प/लघुभाष्यवृत्ति/६/६३७०)।

अनुवाद—“बीच के बाईस तीर्थकरों के साधु शरीरप्रमाण से बड़े और महामूल्य वस्त्रों से शरीर आच्छादित करते थे, तो भी भगवान् की आज्ञा का उल्लंघन नहीं करते थे अर्थात् परिग्रही नहीं होते थे, वे सचेल कहलाते थे।”

उत्तराध्ययन (२३/१३) में पार्श्वनाथ के सान्तरोत्तर धर्म की व्याख्या करते हुए श्री नेमिचन्द्र सूरि लिखते हैं—

“सान्तराणि वर्द्धमानस्वामि-यत्यपेक्षया मानवर्णविशेषतः सविशेषाणि, उत्तराणि महामूल्यतया प्रधानानि प्रक्रमात् वस्त्राणि यस्मिन्नसौ सान्तरोत्तरधर्मः देशितः।”

अनुवाद—“जिस धर्म में 'सान्तर' अर्थात् वर्द्धमान स्वामी के साधुओं के वस्त्रों की अपेक्षा जो प्रमाण और वर्ण में विशिष्ट तथा 'उत्तर' अर्थात् महामूल्य होने के कारण प्रधानभूत होते हैं, वे वस्त्र धारण किये जाते हैं, वह धर्म सान्तरोत्तर है।”

इस तरह 'सचेल' और 'सान्तरोत्तरवस्त्रधारी' दोनों को एकार्थक बतलाते हुए यह व्याख्या की गई है कि वेशकीमती, रंगविरंगे, विशिष्टवस्त्रधारी साधुओं को आगम में सचेल कहा गया है।

निरसन

३.४. आगम में 'अचेलक' शब्द से 'अचेलक' अर्थ ही अभीष्ट

श्री जिनभद्रगणि-क्षमाश्रमण ने विशेषावश्यकभाष्य की पूर्वोद्धृत २५९८वीं गाथा में कहा है कि लोक और आगम, दोनों में 'सचेलक' के लिए 'अचेलक' शब्द प्रसिद्ध है (लोगसमयसंसिद्धौ), किन्तु यह प्रामाणिक नहीं है।

'आचारांग में 'अचेल' शब्द से 'अचेल' (नग्न) अर्थ ही प्रतिपादित किया गया है, 'सचेल' या 'अल्पचेल' अर्थ नहीं। (देखिये, इसी अध्याय का प्र.१/शी.६)। तथा 'स्थानांग' में कहा गया है कि "भिक्षु को यदि नग्न रहने में लज्जा का अनुभव हो, या वह शीतादि परीषह सहने में असमर्थ हो अथवा लोकनिन्दा से भयभीत हो, तभी वस्त्र धारण करे, अन्यथा अचेल रहे।" (देखिये, इसी अध्याय का प्र.१/शी.१०)। लज्जा का अनुभव न होने पर अचेल रहने का अर्थ है कटिवस्त्र आदि धारण न करना (नग्न रहना)। यहाँ भी 'अचेल' शब्द 'अचेल' (नग्न) अर्थ का ही प्रतिपादक है। श्री संघदासगणी एवं श्री क्षेमकीर्ति ने भी अजितादि बाईस तीर्थकरों के तीर्थ के अचेल और सचेल साधुओं में 'अचेल' का अर्थ 'नग्न' बतलाया है। (देखिये, पूर्वशीर्षक ३.२)। इन प्रमाणों से सिद्ध है कि आगम में सचेल के लिए 'अचेलक' शब्द का व्यवहार प्रसिद्ध होने का कथन प्रामाणिक नहीं है।

३.५. प्राकृत-संस्कृत-भाषा-असम्मत वचन आप्तवचन नहीं

अचेलक शब्द का प्रतिपादित किया गया सचेल अर्थ अथवा श्वेत-जीर्ण-अल्पवस्त्रधारी अर्थ तथा सचेल शब्द का प्ररूपित किया गया बहुमूल्य-पंचवर्णवस्त्रधारी अर्थ प्राकृत-संस्कृत-भाषा-असम्मत, लोकभाषा-असम्मत एवं आगम-असम्मत (आचारांग-स्थानांग-असम्मत) है। अतः इन अर्थों के प्रतिपादक मानने पर 'अचेलक' और 'सचेल' शब्द आप्तवचन नहीं हो सकते। जिनवचन प्राकृत-संस्कृत में लिखित शास्त्रों में ही सन्निहित हैं और 'अचेलक' शब्द का 'नग्न' अर्थ ही प्राकृत-संस्कृत-भाषा-सम्मत, लोकभाषा-सम्मत और आगमसम्मत है। अतः उसे इसी अर्थ का प्रतिपादक मानने पर वह आप्तवचन कहला सकता है। इसी प्रकार 'सचेल' शब्द का केवल 'सचेल' (सवस्त्र) अर्थ स्वीकार करने पर ही वह आप्तवचन की कोटि में आ सकता है। यदि तीर्थकरों को अपने तीर्थ के साधुओं के लिए श्वेत-जीर्ण अल्पवस्त्र एवं बहुमूल्य-पंचवर्णात्मक-वस्त्र धारण करने का उपदेश देना अभीष्ट होता, तो वे इन्हीं शब्दों का अथवा सितचेल, रंजितचेल, कुचेल, सुचेल आदि संक्षिप्त शब्दों का प्रयोग करते हुए उपदेश देते। किन्तु, जिन शब्दों के ये अर्थ नहीं हैं, उन 'अचेल' और 'सचेल' शब्दों का प्रयोग कभी न करते, क्योंकि उनके शिष्य इन शब्दों से उपर्युक्त अर्थ असंगत

होने के कारण ग्रहण ही नहीं कर सकते थे। और तीर्थकरों के वचन अन्यथा अर्थ के प्रतिपादक नहीं होते। अतः यदि तीर्थकरों ने अचेल और अचेल-सचेल धर्मों का उपदेश दिया है, तो इन अचेल और सचेल शब्दों से वही अर्थ ग्रहण किया जा सकता है, जो संस्कृत-प्राकृत-भाषा-सम्मत, लोकभाषा-सम्मत और आगम-सम्मत है, उससे उलटा अर्थ नहीं। उससे उलटा अर्थ ग्रहण करने पर ये शब्द आप्तवचन अर्थात् तीर्थकरवचन नहीं कहला सकते। इससे सिद्ध होता है कि अचेल और सचेल शब्दों का उपर्युक्त उलटे या अप्रामाणिक अर्थों में प्रयोग तीर्थकरों, गणधरों या गाथाकार आचार्यों ने नहीं किया, अपितु उत्तरवर्ती टीकाकारों ने किया है, जिससे उनके सम्प्रदाय के शास्त्रों से प्रतिपक्षी दिग्म्बरपरम्परा का अस्तित्व सिद्ध न हो पाये। श्वेताम्बर ग्रन्थकारों में इस प्रवृत्ति के अस्तित्व की पुष्टि प्रसिद्ध श्वेताम्बर मुनि श्री नगराज जी डी० लिट० ने की है। (देखिये, अध्याय ३/प्र.२/शी. २)। श्वेताम्बर विद्वान् पं० बेचरदास जी ने भी ऐसा ही मत प्रकट किया है। (देखिये, अध्याय २/प्र.३/शी. ३.१०)।

३.६. सचेल की 'अचेल' संज्ञा गुणाश्रित नहीं

सचेल साधु में अचेलत्व (नग्नत्व) गुण नहीं होता, इसलिए उसकी 'अचेल' संज्ञा गुणाश्रित नहीं है, अपितु आरोपित है। इस कारण उसका अचेलक नाम प्रचलित नहीं हो सकता। अत एव उसके लिए प्रचलित किया गया अचेलक नाम आप्तवचन नहीं है।

३.७. 'अचेलत्व' सचेल साधु का असाधारणधर्म नहीं

अचेलत्व सचेल साधु का असाधारणधर्म या लक्षण नहीं है, क्योंकि वह किसी भी सचेलसाधु में उपलब्ध नहीं होता, इसके विपरीत अचेल साधुओं में उपलब्ध होता है, अतः वह अव्याप्ति, अतिव्याप्ति और असंभव, इन तीनों दोषों से युक्त है। जो धर्म इन तीन दोषों से रहित होता है, वही वस्तुविशेष का असाधारणधर्म-रूप लक्षण होता है—“लक्षणन्त्वसाधारणधर्मवचनम्” (केशवमिश्रकृत तर्कभाषा/पृ.८) और वस्तु का लक्षण ही अन्य वस्तुओं से उसकी भिन्नता का द्योतक एवं उसके नामविशेष के व्यवहार का हेतु होता है—व्यावृत्तिर्व्यवहारो वा लक्षणस्य प्रयोजनम्। (श्रीकेशवमिश्रकृत: तर्कभाषा/उपोद्घात : आचार्य विश्वेश्वर/पृ.१२)। अर्थात् वस्तु का नामनिर्धारण उसके लक्षण पर आश्रित होता है। अचेलत्व सचेलमुनि का लक्षण नहीं है अतः उसे अचेलक नाम से व्यवहृत नहीं किया जा सकता। इस तरह चूँकि सचेल की 'अचेल' संज्ञा न्यायशास्त्र-सम्मत नहीं है, इसलिए उसका 'अचेल' अर्थ में आप्त (जिनेन्द्र) द्वारा प्रयुक्त होना असंभव है।

३.८. विपरीतार्थ और अयथार्थ शब्द का प्रयोग निष्प्रयोजन

जब सचेल साधु को 'सचेल' शब्द से और श्वेतजीर्ण-अल्पवस्त्रधारी एवं महामूल्य-पंचवर्ण-वस्त्रधारी को इन्हीं शब्दों से या कुचेल, सुचेल आदि शब्दों से अभिहित किया जा सकता है, तब जिनेन्द्र ने इन्हें इन्हीं शब्दों से अभिहित क्यों नहीं किया? इनसे उलटे अर्थवाले और अयथा अर्थवाले शंकोत्पादक एवं विमोहजनक शब्दों से अभिहित क्यों किया? इसका कोई समाधान टीकाओं में नहीं मिलता, न ही हो सकता है। और तीर्थंकर निष्प्रयोजन कार्य नहीं कर सकते, अतः सिद्ध है कि सचेल साधु के लिए 'अचेलक' और महामूल्य-पंचवर्ण-वस्त्रधारी साधु के लिए 'सचेल' शब्द का व्यवहार तीर्थंकरोपदिष्ट नहीं है।

इससे साबित होता है कि सचेल को 'अचेल' या 'अचेलक' शब्द से प्रसिद्ध करने का काम साम्प्रदायिक प्रयोजन से प्रेरित होकर टीकाकारों ने किया है। वह प्रयोजन था साधुओं के प्रकरण में 'अचेलक' शब्द के सर्वथा निर्वस्त्र (किसी भी प्रकार के वस्त्र से रहित) अर्थ को मिथ्या सिद्ध कर श्वेताम्बरमत को तीर्थंकर-प्रणीत एवं दिगम्बरमत को अतीर्थंकर-प्रणीत-निह्वयमत ठहराना।

३.९. सचेल के लिए अचेल-शब्दव्यवहार शंका-विमोहजनक

सचेल साधु के लिए 'अचेल' या 'अचेलक' शब्द का व्यवहार शंकोत्पादक है। इससे यह शंका उत्पन्न होती है कि सचेल साधु तो वस्त्रधारी साधु का नाम है, उसे अचेल क्यों कहा गया है। यह शंकोत्पादक शब्दव्यवहार सम्पूर्ण जिनवचनों में अश्रद्धा उत्पन्न करने का कारण होता है। और अज्ञानीजन इसे तीर्थंकरवचन समझकर विमूढ़ भी हो सकते हैं। तीर्थंकर इस तरह के शंका-विमोहोत्पादक शब्द का व्यवहार नहीं कर सकते। अतः सिद्ध है कि सचेल साधु के लिए 'अचेल' शब्द का व्यवहार तीर्थंकरोपदिष्ट नहीं है।

३.१०. साधुओं के लिए महामूल्य-वस्त्रधारण का उपदेश असंभव

टीकाकारों ने जो यह व्याख्या की है कि आगम में श्वेत-जीर्ण-अल्पमूल्य-वस्त्रधारी साधु को अचेल और महामूल्य-विविधवर्ण-वस्त्रधारी साधु को सचेल शब्द से अभिहित किया गया है, इस व्याख्या ने तो तीर्थंकर महावीर के 'निर्ग्रन्थ' शब्द का उपहास करने में कोई कसर नहीं छोड़ी। इस व्याख्या से राजा-महाराजाओं, सेठ-साहूकारों, रईसों और जैनमुनियों में कोई फर्क ही नहीं रहा। इन व्याख्याकारों के अनुसार तो शरीर को एड़ी से चोटी तक रेशम और जरी के रंगबिरंगे महामूल्य वस्त्रों से सजाकर रखनेवाला भी अपरिग्रही जैन साधु कहला सकता है।

इस पर टिप्पणी करते हुए माननीय पं० कैलाशचन्द्र जी सिद्धान्ताचार्य लिखते हैं—“इसका आशय यह हुआ कि पार्श्वनाथ के धर्म में साधुओं को महामूल्यवान् और अपरिमित वस्त्र पहनने की अनुज्ञा थी। इस व्याख्या के अनुसार केशी (पार्श्वनाथ के शिष्य) अवश्य ही राजसी वस्त्रों में होंगे। फिर भी अचेल गौतम (महावीर के शिष्य) को पार्श्वनाथ के निर्ग्रन्थ सम्प्रदाय के उस आचार्य को देखकर रंचमात्र भी आश्चर्य नहीं हुआ, यह आश्चर्य है।

“असल में टीकाकारों ने ‘संतरुत्तर’ का यह अर्थ ‘अचेल’ शब्द के अर्थ को दृष्टि में रखकर किया है। जब अचेल का अर्थ वस्त्राभाव के स्थान में क्रमशः कुत्सितचेल, अल्पचेल और अल्पमूल्यचेल किया गया, तो संतरुत्तर (सान्तरोत्तर) का अर्थ अपरिमित और महामूल्यवाले वस्त्र होना ही चाहिए था। किन्तु यह अर्थ करते समय टीकाकार यह शायद भूल ही गये कि आचारांगसूत्र २०९ में भी ‘संतरुत्तर’ पद आया है और वहाँ उसका अर्थ क्या लिया गया है?” (जै.सा.इ./पू.पी./पृ. ३९७)।

आचारांग के सूत्र २०९ (अध्याय ७, उद्देशक ४) की व्याख्या में आचार्य शीलांक ने एक ऐसे प्रावरणीय (चादर) को सान्तरोत्तर कहा है जो आवश्यकता पड़ने पर ओढ़ लिया जाय और आवश्यकता न रहने पर पास में रख लिया जाय। यह पूर्व (अध्याय ३/प्र.१/शी.६) में स्पष्ट किया जा चुका है। इस तरह सान्तरोत्तर का ‘बहुमूल्य रंगीन वस्त्र सहित’ यह अर्थ करना आचारांग के ही अनुसार अप्रामाणिक है।

सचेल या सान्तरोत्तर का ‘शरीरप्रमाणाधिक बहुमूल्य, रंगीन वस्त्रों से सहित’ अर्थ करने से एक प्रश्न और खड़ा होता है। वह यह कि मध्य के बाईस तीर्थकरों ने किसी साधु के लिए सफेद रंग के फटे-पुराने अल्पवस्त्र तथा किसी के लिए बहुमूल्य रंग-बिरंगे पर्याप्त वस्त्र धारण करने का विधान क्यों किया? क्या इस वस्त्रभेद से मोक्षसाधना में कोई फर्क पड़ता है? शीतादिपरीषह-पीड़ा का निवारण तो किसी भी रंग के फटे-पुराने कपड़े पहनने से हो सकता है, फिर किन्हीं साधुओं के लिए रंगबिरंगे वेशकीमती वस्त्र पहनने की छूट देने का कारण क्या है? क्या महामूल्य रंगीन वस्त्र पहनने से संयम, ध्यान, अध्ययन आदि की साधना और अच्छी तरह सम्पन्न होती है? इस प्रश्न का कोई समाधान उपलब्ध नहीं है और भगवान् का कोई भी उपदेश ऐसा हो नहीं सकता, जिसके पीछे कोई युक्ति न हो। किन्तु, इस वस्त्रभेद के पीछे कोई युक्ति नहीं है, इससे सिद्ध है कि अचेल और सचेल की उपर्युक्त व्याख्याएँ अशास्त्रप्रसिद्ध एवं अलोकप्रसिद्ध हैं।

श्वेताम्बरसंघ आरंभ से ही श्वेतवस्त्र, श्वेतपट, श्वेताम्बर और सिताम्बर नामों से प्रसिद्ध है। ये नाम ही श्वेताम्बरसम्प्रदाय की इस विशिष्टता का उद्घोष करते हैं

कि श्वेतवस्त्र ही श्वेताम्बर साधुओं और साध्वियों का सम्प्रदायगत या लिंगगत वेश है। अतः 'सचेल' शब्द को 'बहुमूल्य-पंचवर्ण-वस्त्रधारी' अर्थात् 'रंगबिरंगे कीमती वस्त्रधारी साधु' अर्थ का प्रतिपादक मानना श्वेताम्बरसम्प्रदाय के नाम और साधुओं के शरीरशृंगार में राग के अभाव तथा अपरिग्रहमहाव्रत को सन्देहास्पद बना देता है। अतः 'सचेल' शब्द का उपर्युक्त अर्थ प्रामाणिक नहीं है।

३.११. 'नग्न' विशेषण के 'सर्वथा निर्वस्त्र' और 'अल्पवस्त्रयुक्त,' दो अर्थ असंभव

यद्यपि 'आचारांग' और 'स्थानांग' में अचेल शब्द का अर्थ सर्वथा निर्वस्त्र (अनावृत-सर्वांग) ही बतलाया गया है, तथापि व्याकरण के अनुसार 'अल्प' अर्थ सूचित करने के लिए भी 'अ' (नञ्) के साथ 'चेल' शब्द का समास होता है, तब जो 'अचेल' शब्द बनता है, उसका अर्थ 'अल्पचेल' भी होता है। किन्तु 'नग्न' विशेषण का अल्पार्थक 'अ' (नञ्) के साथ समास नहीं है, इसलिए उसका सर्वथा निर्वस्त्र अथवा अनावृत-गुह्यांगवाला अर्थ ही संभव है, अल्पवस्त्रयुक्त अर्थ नहीं। अतः 'तत्त्वार्थसूत्र' में साधुओं के लिए जो नाग्न्यपरीषहजय आवश्यक बतलाया गया है, उसमें नग्न विशेषण से सर्वथा निर्वस्त्र अर्थात् अनावृत-सर्वांगवाला अर्थ ही प्रतिपादित होता है, अल्पवस्त्रयुक्त अर्थ नहीं। इसी प्रकार श्री संघदासगणी ने मध्य के बाईस तीर्थकरों के साधुओं के प्रसंग में 'अचेल' विशेषण को 'नग्न' का पर्यायवाची बतलाया है, अतः यहाँ भी वह 'सर्वथा निर्वस्त्र' (अनावृत-सर्वाङ्ग) अर्थ का ही प्रतिपादक है, 'अल्पवस्त्रयुक्त' अर्थ का नहीं। फलस्वरूप 'नग्न' विशेषण तीर्थकरों के साथ प्रयुक्त होने पर उनके सर्वथा निर्वस्त्र होने की विशेषता बतलाये और साधुओं के साथ प्रयुक्त होने पर उनके अल्पवस्त्रयुक्त होने का वैशिष्ट्य प्ररूपित करे, यह संभव नहीं है। जैसे 'काला' विशेषण कौए के साथ प्रयुक्त होने पर उसके काले होने की विशेषता बतलाये और बगुले के साथ प्रयुक्त कर देने पर उसके सफेद होने की विशेषता बतलाये, यह संभव नहीं है, जैसे 'सुन्दर' विशेषण सुन्दर मनुष्य के साथ संयुक्त होने पर उसके सुन्दर होने का गुण बतलाये और कुरूप मनुष्य के साथ संयुक्तकर देने पर उसके कुरूप होने का गुण बतलाये, यह संभव नहीं है, वैसे ही 'नग्न' विशेषण सर्वथा निर्वस्त्र पुरुष के साथ व्यवहृत होने पर उसके सर्वथा निर्वस्त्र होने का धर्म सूचित करे और अल्पवस्त्रयुक्त के साथ व्यवहृत होने पर उसके अल्पवस्त्रयुक्त होने का धर्म प्ररूपित करे, यह संभव नहीं है। अतः जैसे तीर्थकरों को नग्न कहने से उनका सर्वथा निर्वस्त्र होना सूचित होता है, वैसे ही साधुओं को नग्न कहने से उनका भी सर्वथा निर्वस्त्र होना सूचित होता है। अल्पार्थक नञ् (अ) के साथ जिसका समास नहीं है, उस 'नग्न' विशेषण का इसके अलावा और कोई अर्थ नहीं हो सकता। और कोई अर्थ बतलाना तीर्थकरों को अयुक्तिमत् उपदेश देने का दोषी ठहराना है। तीर्थकरों के वचन अयुक्तिमत् नहीं

हो सकते। युक्तिमत् वचन ही आप्तवचन होता है, अतः वही ग्राह्य है, जैसा कि श्री हरिभद्रसूरि ने लोकतत्त्वनिर्णय में कहा है—

पक्षपातो न मे वीरे न द्वेषः कपिलादिषु।

युक्तिमद्वचनं यस्य तस्य कार्यः परिग्रहः ॥ ३८ ॥

३.१२. सर्वसंकरत्व-दोष की उत्पत्ति

नग्न शब्द नग्न (खुले हुए गुह्यांगवाला) और अनग्न (ढँके हुए गुह्यांगवाला), इन परस्परविरुद्ध दो अर्थों का वाचक नहीं हो सकता। यदि ऐसा हो, तो अधर्म शब्द अधर्म और धर्म दोनों अर्थों का वाचक सिद्ध होगा, पाप शब्द पाप और पुण्य दोनों अर्थों का प्रतिपादक ठहरेगा। तब लोग अधर्म करते हुए भी अपने को धार्मिक मानने लगेंगे, पाप करते हुए भी स्वयं को पुण्यकर्ता समझने लगेंगे। 'नग्न' शब्द को उपर्युक्त परस्परविरुद्ध दो अर्थों का प्रतिपादक मानने पर 'सम्यग्दर्शन' शब्द सम्यग्दर्शन और मिथ्यादर्शन दोनों अर्थों का वाचक सिद्ध होगा, 'सम्यग्ज्ञान' शब्द सम्यग्ज्ञान और मिथ्याज्ञान दोनों अर्थों का प्रतिपादक साबित होगा, 'सम्यक्चारित्र' शब्द सम्यक्चारित्र और मिथ्याचारित्र दोनों अर्थों का प्ररूपक ठहरेगा। इस तरह मोक्षमार्ग शब्द 'संसारमार्ग' अर्थ का भी वाचक बन जायेगा। 'जीव' शब्द 'पुद्गल' अर्थ का भी प्रतिपादक हो जायेगा। इससे जीवादि नौ पदार्थों में कोई भेद नहीं रहेगा, सर्वसंकर-दोष की उत्पत्ति हो जायेगी, जीवादि पदार्थों के भिन्न-भिन्न लक्षण निरर्थक सिद्ध होंगे। फलस्वरूप सम्यग्दर्शन का आधारभूत भेदविज्ञान असंभव हो जायेगा और जीव मिथ्यादृष्टि का मिथ्यादृष्टि और संसारी का संसारी बना रहेगा। इस तरह 'नग्न' शब्द को नग्न (खुले हुए गुह्यांगवाला) तथा अनग्न (ढँके हुए गुह्यांगवाला), इन परस्परविरुद्ध दो अर्थों का वाचक मानने पर उपर्युक्त तात्त्विक अव्यवस्था पैदा हो जायेगी, जो जिनेन्द्र को अभीष्ट नहीं हो सकती थी। अतः सिद्ध है कि नग्न शब्द को नग्न और अनग्न, इन दो परस्परविरुद्ध अर्थों का वाचक मानना जिनोपदिष्ट नहीं है।

३.१३. स्वमत को तीर्थकरोपदिष्ट सिद्ध करने हेतु 'अचेलक' शब्द का विपरीतार्थ-प्ररूपण

श्री जिनभद्रगणी आदि ने जो 'अचेलक' शब्द का विपरीतार्थ-प्ररूपण करनेवाली पूर्वोद्धृत गाथाएँ रची हैं, उनसे यह महान् रहस्य उद्घाटित होता है कि उनके सामने श्वेताम्बरमत को तीर्थकरोपदिष्ट सिद्ध करने का यही एकमात्र उपाय था। 'अचेलक' शब्द का सत्यार्थरूप में प्ररूपण उनके इस प्रयोजन की सिद्धि में बाधक था। तीर्थकर महावीर लोक में अचेलकधर्म के उपदेष्टा के रूप में प्रसिद्ध थे और अचेलक शब्द का सर्वथानिर्वस्त्र अर्थ भी आगमप्रसिद्ध और लोकप्रसिद्ध था। तथा जो अचेलक साधु

श्वेतवस्त्र धारण करने लगे थे, वे ही श्वेताम्बर नाम से प्रसिद्ध हुए थे, इसका भी लोक साक्षी था। अतः इस सचेलकवेश में वे तीर्थंकर महावीर द्वारा उपदिष्ट अचेलकधर्म के अनुयायी साधु सिद्ध नहीं हो सकते थे। और लोकमान्यता के विरुद्ध जाकर वे महावीर को सचेलकधर्म का उपदेशक घोषित कर नहीं सकते थे, तथा महावीर के नाम को छोड़ भी नहीं सकते थे। क्योंकि महावीर के नाम को छोड़ देने से उनका मत अतीर्थंकर-प्रणीत सिद्ध हुए बिना नहीं रहता। वे बड़ी उलझन में पड़ गये। जैसे गर्म दूध के घूँट को न निगल सकते हैं, न उगल सकते हैं, वैसे ही वे महावीर को न तो सचेलकधर्म का उपदेशक घोषित कर सकते थे, न ही उनके नाम को छोड़ सकते थे। इस उलझन से छुटकारा पाने के लिए उनके सामने एक ही रास्ता था। वह था 'अचेलक' शब्द को ज्यों का त्यों स्वीकार कर यह सिद्ध करने का प्रयत्न करना कि 'अचेलक' शब्द 'सर्वथा वस्त्ररहित' (नग्न) अर्थ का वाचक नहीं है, अपितु 'जीर्ण-शीर्ण-अल्प-श्वेतवस्त्रधारी' अर्थ का वाचक है। इससे भगवान् महावीर को अचेलकधर्म का उपदेशक कहते हुए भी यह सिद्ध किया जा सकेगा कि वे वास्तव में सचेलधर्म के उपदेशक थे। ऐसा करने से इतना ही महत्त्वपूर्ण एक और प्रयोजन सिद्ध होता था। वह यह कि तीर्थंकर महावीर के सचेलकधर्म के उपदेशक सिद्ध हो जाने से यह सिद्ध हो जाता है कि अचेलकधर्मानुयायी दिगम्बरजैनमत अतीर्थंकर-प्रणीत निह्वनमत है। इन्हीं दो प्रयोजनों से वे गाथाएँ रची गयीं। किन्तु उन गाथाओं को रचते समय श्री जिनभद्रगणी आदि आचार्य यह भूल गये कि संस्कृत-प्राकृत का कोई भी ज्ञाता 'अचेलक' शब्द के उक्त अर्थ पर विश्वास नहीं करेगा और वह अर्थ मिथ्या होने से तीर्थंकर के वचन अविश्वसनीय सिद्ध होंगे।

इन प्रमाणों से सिद्ध है कि आगम में सचेल साधु के लिए 'अचेल' शब्द का व्यवहार प्रसिद्ध नहीं है। उत्तरवर्ती श्वेताम्बर-टीकाकारों ने 'अचेल' शब्द पर 'सचेल' अर्थ का आरोप किया है, जिससे 'अचेल' शब्द के 'नग्न' अर्थ को झूठा सिद्ध कर श्वेताम्बरमत को तीर्थंकरोपदिष्ट तथा दिगम्बरजैनमत को तीर्थंकरों द्वारा अनुपदिष्ट सिद्ध किया जा सके। उपर्युक्त प्रमाणों से उनका यह अभिप्राय निर्वस्त्र हो जाता है।

श्वेताम्बरपरम्परा को तीर्थंकरप्रणीत और दिगम्बरपरम्परा को अतीर्थंकरप्रणीत सिद्ध करने के लिए 'अचेलक' और 'सचेलक' शब्दों की ऐसी अप्रामाणिक (अतीर्थंकरवचन-भूत) व्याख्याएँ करने का प्रयत्न ही इस बात का बलिष्ठ प्रमाण है कि श्वेताम्बरसाहित्य दिगम्बरपरम्परा से सुपरिचित है, जो दिगम्बरपरम्परा की पूर्ववर्तिता का सबूत है।

लोक में भी सचेल मनुष्य के लिए 'नग्न' शब्द का व्यवहार रूढ़ (प्रसिद्ध) नहीं है तथा कदाचित् सचेल के लिए जो 'नग्न' शब्द का प्रयोग उपचार से किया जाता है, वह सचेल अर्थ का वाचक नहीं होता, बल्कि 'निर्लज्ज,' 'दरिद्र' आदि अर्थों का द्योतक होता है। इन तथ्यों का प्ररूपण आगे स्वतंत्र शीर्षकों (क्र.४ एवं ५) के साथ किया जा रहा है।

४

लोक में भी सचेल के लिए 'नग्न' शब्द का व्यवहार अप्रसिद्ध

श्री जिनभद्रगणि-क्षमाश्रमण एवं श्री संघदासगणि-क्षमाश्रमण ने निम्नलिखित दो दृष्टान्तों से यह सिद्ध करने का यत्न किया है कि लोक में सचेल मनुष्यों के लिए 'अचेलक' या 'नग्न' शब्द का व्यवहार रूढ़ (प्रसिद्ध) है—

१. "जैसे कोई पुरुष नदी पार करते समय भीग जाने के भय से कटिवस्त्र उतारकर सिर पर लपेट लेता है, तो उसके द्वारा वस्त्र का उपभोग किये जाने पर भी लोग उसे अचेल (नग्न) कहते हैं, वैसे ही मुनि वस्त्रधारण करते हुए भी अचेल कहलाते हैं।" (विशे.भा / गा. २६००)।

२. "जैसे कोई बहुछिद्रयुक्त पुरानी साड़ी पहने हुई स्त्री जुलाहे के पास जाकर कहती है कि मुझे शीघ्र नयी साड़ी बुनकर दो, मैं नंगी हूँ, वैसे ही अल्प, जीर्ण और मैले-कुचैले वस्त्र धारण करनेवाले साधु को भी नग्न कहा जाता है।" (विशे.भा./ गा.२६०१)।

दोनों दृष्टान्त अप्रामाणिक

ये दोनों दृष्टान्त अप्रामाणिक हैं, क्योंकि इनसे यह सिद्ध नहीं होता कि सचेल पुरुष या स्त्री को दुनिया के सभी लोग 'नग्न' कहते और समझते हैं। जो पुरुष कटिवस्त्र (धोती) को उतारकर सिर पर लपेट लेता है और नग्न अवस्था में नदी पार करता है, वह वास्तव में नग्न होता है, क्योंकि उसके गुह्यांग खुले रहते हैं। अतः लोग उसे नग्न होने के कारण ही नग्न कहते हैं, सिर पर कटिवस्त्र लपेट लेने के कारण नहीं। इससे सिद्ध है कि वस्त्रधारी के लिए नग्न शब्द का प्रयोग लोकप्रसिद्ध नहीं है, अपितु नग्न के लिए ही 'नग्न' शब्द का प्रयोग लोकप्रसिद्ध है।

तथा बहुछिद्रयुक्त साड़ी पहने हुई स्त्री जुलाहे के पास जाकर स्वयं को नग्न इसलिए नहीं कहती कि छिद्रयुक्त साड़ी पहने हुई स्त्री के लिए 'नग्न' शब्द का प्रयोग लोकप्रसिद्ध है अर्थात् लोक के सभी मनुष्य बहुछिद्रयुक्त-साड़ीधारी स्त्री को नग्न कहते और समझते हैं, बल्कि इसलिए कहती है कि वैसी साड़ी पहनने में उसे

लज्जा का अनुभव होता है, अतः वह मूल्य लेकर भी साड़ी बनाने में देर करनेवाले जुलाहे से शीघ्रता कराना चाहती है।^{२७}

दूसरे लोग उसे नग्न नहीं कह सकते। उदाहरणार्थ, उस स्त्री के स्वयं को नग्न कहने पर यदि जुलाहे के उत्तर की कल्पना की जाय, तो वह उत्तर देता कि “तुम नग्न होतीं, तो अपने घर से निकलकर यहाँ तक न आतीं। लोग तुम्हें पगली कहते और ले जाकर घर में बन्द कर देते। नग्न अवस्था में तो कोई गणिका भी घर से बाहर नहीं निकलती।” इसी प्रकार यदि कोई बालक दूसरे बालक से कहता कि “देखो, वह स्त्री नग्न है”, तो दूसरे बालक को हँसी आ जाती और कहता कि “तुम्हें ‘नग्न’ शब्द का अर्थ नहीं मालूम। नग्न उसे कहते हैं, जिसके शरीर पर कोई वस्त्र नहीं होता। वह स्त्री तो साड़ी पहने हुई है। भले ही बहुछिद्रयुक्त है, फिर भी पहनने लायक है अर्थात् जिन अंगों को ढँके बिना घर से बाहर निकलना संभव नहीं है, वे ढँके हुए हैं। इसलिए वह नग्न नहीं है।”

इसी तरह किसी चोलपट्टधारी श्वेताम्बर साधु को देखकर कोई मनुष्य दूसरे मनुष्य से कहे कि “देखो, दिगम्बरसाधु जा रहे हैं,” तो वह भी हँस पड़ेगा और कहेगा कि “तुम अन्धे हो। ये साधु तो वस्त्र पहने हुए हैं, तुम इन्हें दिगम्बर कहते हो? ये तो श्वेताम्बर साधु हैं। दिगम्बर साधु तो नग्न होते हैं।”

इन दृष्टान्तों से सिद्ध है कि लोक में ‘नग्न’ शब्द सवस्त्र मनुष्य के लिए प्रसिद्ध नहीं है। यदि होता तो श्वेताम्बर ओर दिगम्बर साधुओं में भेद बतलाना असम्भव हो जाता।

लोक में उसी मनुष्य को नग्न कहा जाता है, जिसका कटिप्रदेश वस्त्र से आच्छादित न हो। यदि किसी पुरुष का शरीर मस्तक से नाभि तक और चरणों से घुटनों तक वस्त्र से ढँका है, किन्तु कटिभाग उघड़ा है, जिससे गोपनीय अंग दिखाई देते हैं, तो लोक में वह नग्न ही कहा जाता है। इसके विपरीत यदि गुह्यांग आच्छादित हैं और सम्पूर्ण शरीर उघड़ा है, तो वह नग्न नहीं कहा जाता। हाँ, गुह्यांगों के आवृत होने पर अन्य अंगों की अनावृतता दर्शाने के लिए उन्हीं अंगों को नंगा कहा जाता है, जैसे नंगे सिर (टोपी, साफ़ा आदि से रहित), नंगे पाँव (जूते-चप्पल से रहित) नंगी छाती, नंगी पीठ, नंगी जाँघ आदि। यहाँ तक कि ‘नंगी आँखों से चन्द्र-ग्रहण नहीं देखना चाहिए’ ऐसा भी कहा जाता है। लेकिन जिसका गुह्यप्रदेश अनावृत हो

२७. “यथा वा काचिदविरतिका परिजीर्णवस्त्रपरिधाना प्राक्समर्पितवेतनं तन्तुवायं शाटिका-
निष्पादनालसं ब्रवीति, यथा—जीर्णवस्त्रैः परिहितैर्नग्निनाऽहमस्मि ततस्त्वरस्व हे शलिक!
तन्तुवाय! देहि मे पोतिकां शाटिकाम्।” क्षेमकीर्तिवृत्ति / बृहत्कल्पसूत्र / भाष्यगाथा ६३६६।

उसके गुह्यप्रदेश को नंगा नहीं कहते, बल्कि उस मनुष्य को ही नंगा कहते हैं, इससे सिद्ध है कि मनुष्य के नग्न कहे जाने का हेतु उसके गुह्यप्रदेश का अनावृत होना ही है। श्वेताम्बरमुनि उपाध्याय धर्मसागर जी लिखते हैं कि वस्त्रधारण करने का प्रमुख उद्देश्य असभ्य अवयवों अर्थात् गुह्यांगों का गोपन ही है—“लोकैरपि वस्त्रपरिधानं मुख्यवृत्या असभ्यावयवगोपननिमित्तमेव क्रियते।” (प्रव.परी./वृत्ति/१/२/३१/पृ.९३)।

असभ्य अवयवों के गोपन से लज्जारूप मानवधर्म या लोकानुवृत्तिधर्म का पालन होता है—“वस्त्रधारणे लोकानुवृत्तिधर्मः—स्यात्।” (प्रव.परी./१/२/३०/पृ.९१)। इसलिए वस्त्र भले ही छोटा (स्तोक), पुराना (जीर्ण) और मैलाकुचैला (कुत्सित) हो, उससे यदि असभ्य अवयवों का गोपन होता है और लज्जारूप मानवधर्म की रक्षा होती है, तो उसके धारण के बाद मनुष्य के नग्न कहे जाने का कोई कारण नहीं रहता। इसीलिए स्वयं श्वेताम्बरग्रन्थों में श्वेतपट साधुओं को अल्प, जीर्ण और कुत्सित वस्त्र धारण करनेवाला कहा गया है, किन्तु नग्न, निर्लज्ज या बीभत्स शब्दों से सम्बोधित नहीं किया गया। इसके विपरीत दिगम्बरजैन मुनियों को नग्न, नग्नाट, लज्जाहीन, बीभत्स, भण्डकचेष्टाकारी आदि उपाधियाँ दी गयी हैं। यथा—“वयं पृच्छामः— भो नग्नाट! निजशरीरे तव मूर्च्छास्ति न वा?” (प्रव.परी./वृत्ति १/२/६/पृ. ७१)। अयं पापात्मा कुलवधूनामप्यवाच्यं दर्शयन् न लज्जते। --- नग्नरूपतया बीभत्सं त्वदीयं शरीरमेव। (प्रव.परी./वृत्ति/१/२/६/पृ. ७३)। नग्नस्य ते वेश्यादिजनोपान्त एवोपवेशना-दिकं युक्तं, भण्डकचेष्टायाः तत्रैव युक्तत्वात्। (प्रव.परी./वृत्ति/१/२/३०/पृ. ९५)। यः --- गोपनीय-लिङ्गोपस्थादिकं दर्शयति तस्य पार्श्वे यदि ‘धर्मः’ धर्मप्राप्तिः स्यात् तर्हि कुत्रान्यत्राधर्मः? --- हे नग्नाट! त्वमेव पापात्मा भूर्तिमानधर्म एव।” (प्रव.परी./ वृत्ति/१/२/४२/पृ. १०३ - १०४)।

वैदिक और बौद्ध ग्रन्थों में भी श्वेताम्बर साधुओं के लिए नग्न और अह्नीक (निर्लज्ज) शब्दों का प्रयोग नहीं मिलता, किन्तु निर्ग्रन्थों (दिगम्बरजैन साधुओं) को सर्वत्र नग्न और अह्नीक विशेषणों के साथ वर्णित किया गया है। लोक में पहलवान केवल लँगोट पहन कर सार्वजनिकरूप से कुश्ती का प्रदर्शन करते हैं, उन्हें कोई भी नग्न नहीं कहता। वैदिक सम्प्रदाय के अनेक संन्यासी कौपीन मात्र धारण करते हैं, उन्हें भी कोई नग्न नहीं मानता। दिगम्बरजैन एलकपदस्थ श्रावक भी केवल लँगोटधारी होते हैं, वे भी नग्न नहीं कहे जाते, किन्तु दिगम्बरजैन मुनि को हर कोई नग्न कहता है। ये इस बात के प्रमाण हैं कि लोक में गुह्यांग-गोपन न करनेवाले को ही नग्न कहा जाता है। अतः जिनभद्रगणी जी का यह कथन अप्रामाणिक है कि लोक में अल्प, जीर्ण और मैलाकुचैले वस्त्रधारण करनेवालों के लिए भी ‘नग्न’ शब्द रूढ़ है।

‘रूढ़’ का अर्थ है सर्वमान्य या सर्वजनप्रसिद्ध, जैसे ‘कुशल’ शब्द का व्युत्पत्तिसिद्ध अर्थ है ‘कुशों को तोड़कर लानेवाला’, किन्तु वह ‘दक्ष’ अर्थ में रूढ़ (प्रसिद्ध) है, अर्थात् सभी लोग उससे ‘दक्ष’ अर्थ ही ग्रहण करते हैं, ‘कुश तोड़कर लानेवाला’ अर्थ नहीं। अतः ‘चित्रकला में कुशल’ इस वाक्य को पढ़-सुनकर सभी समझ जाते हैं कि इसका अर्थ है चित्र कला में दक्ष। किन्तु ‘मैंने मार्ग में एक नग्न मनुष्य को देखा है’ ऐसा कहने पर कोई भी श्रोता यह नहीं समझ पायेगा कि मैंने एक फटे-पुराने या अल्प वस्त्रधारी मनुष्य को देखा है। सभी यह अर्थ ग्रहण करेंगे कि मैंने एक निर्वस्त्र अर्थात् खुले गुद्दांगवाले मनुष्य को देखा है। इससे सिद्ध है कि ‘नग्न’ शब्द फटे-पुराने या अल्प वस्त्रधारी मनुष्य के अर्थ में रूढ़ नहीं है, अपितु निर्वस्त्र मनुष्य के ही अर्थ में प्रसिद्ध है।

४.१. रूढ़ार्थ द्वारा मूलमुख्यार्थ का निरसन

यह ध्यान देने योग्य है कि जब कोई शब्द अपने व्युत्पत्तिसिद्ध अर्थ से अर्थात् मूल मुख्यार्थ से भिन्न अर्थ में रूढ़ या प्रचलित हो जाता है, तब उसका व्युत्पत्तिसिद्ध अर्थ (मूल मुख्यार्थ) अप्रचलित हो जाता है। जैसे ‘कुशल’ शब्द ‘दक्ष’ अर्थ में रूढ़ हुआ, तो उसका ‘कुश तोड़कर लानेवाला’ व्युत्पत्तिसिद्ध अर्थ अर्थात् मूलमुख्यार्थ अप्रचलित हो गया। ‘तेल’ शब्द का व्युत्पत्तिसिद्ध अर्थ है तिल से निकला हुआ स्निग्ध द्रव, किन्तु वह भूँगफली, सरसों, अलसी, सोयाबीन, नारियल आदि सभी पदार्थों से निकले हुए स्निग्ध द्रव के अर्थ में रूढ़ हो गया। परिणामस्वरूप उसके व्युत्पत्तिसिद्ध अर्थ का प्रचलन बन्द हो गया और ‘तेल लाओ’ कहने से यह समझना असंभव हो गया कि तिल से निकले हुए स्निग्ध द्रव को लाने के लिए कहा जा रहा है, अतः इस अर्थ को समझाने के लिए ‘तिल का तेल लाओ’ यह कहना आवश्यक हो गया। ‘रुपया’ (रूप्यम्) शब्द का व्युत्पत्तिगत अर्थ रूप्य (चाँदी) से बना हुआ सिक्का है, किन्तु अब स्टील से बने हुए सिक्के और कागज से बने हुए नोटों के अर्थ में रूढ़ हो गया है। अतः इसका ‘चाँदी से बना हुआ सिक्का’ अर्थ अप्रचलित हो गया। इसी प्रकार व्युत्पत्ति के अनुसार सभी पशुओं का वाचक ‘मृग’ शब्द ‘हिरण’ अर्थ में रूढ़ होने पर सभी पशुओं का वाचक नहीं रहा। ‘सिंह’ शब्द ‘हिंस्र’ धातु से वर्ण-विपर्ययपूर्वक व्युत्पन्न हुआ है, जिसका अर्थ है कोई भी हिंसक प्राणी। किन्तु उसमें ‘सिंह’ नामक सर्वाधिक क्रूर और पराक्रमी पशु का अर्थ रूढ़ हो गया, जिससे उसने सभी हिंसक पशुओं के अर्थ का वाचकत्व खो दिया। ‘गो’ शब्द ‘गच्छति अनेन’ इस व्युत्पत्ति के अनुसार ‘गम्’ धातु से निष्पन्न है और मूलतः ‘गमन के साधन’ अर्थ का वाचक है, किन्तु ‘गाय’ अर्थ में रूढ़ हो जाने पर मूल अर्थ के वाचकत्व से हाथ धो बैठा। ऐसे अनगिनत उदाहरण हैं।

रूढार्थ शब्दों के व्युत्पत्तिमूलक अर्थ अर्थात् मूल मुख्यार्थ के अप्रचलित हो जाने से ही अनेक वैयाकरणों और काव्यशास्त्रियों ने रूढार्थ को ही मुख्यार्थ कहा है। काव्यानुशासन के कर्ता प्रसिद्ध श्वेताम्बर वैयाकरण एवं काव्यशास्त्री 'कलिकालसर्वज्ञ' आचार्य हेमचन्द्र (१०८८-११७२ ई०) लिखते हैं—

“कुशलद्विरेफद्विकादयस्तु साक्षात्सङ्केतविषयत्वान्मुख्या एवेति न रूढिर्लक्ष्य-
स्यार्थस्य हेतुत्वेनास्माभिरुक्ता।”^{२८}

अनुवाद—“कुशल, द्विरेफ, द्विक आदि शब्दों के क्रमशः दक्ष, भ्रमर, काक (कौआ) आदि अर्थ (रूढ = लोकप्रसिद्ध होने के कारण) साक्षात् संकेत के विषय होते हैं (मुख्यार्थबाध, तात्पर्यानुपपत्ति आदि के द्वारा उनका परम्परया बोध नहीं होता, साक्षात् बोध होता है), अतः वे मुख्यार्थ ही हैं (लक्ष्यार्थ नहीं)। इसीलिए हमने (आचार्य हेमचन्द्र ने) “मुख्यार्थबाधे निमित्ते प्रयोजने च भेदाभेदाभ्यामारोपितो गौणः” (काव्यानु-शासन १/१५) इस सूत्र में 'रूढि' को लक्ष्यार्थ का हेतु नहीं बतलाया।”

अभिप्राय यह कि व्युत्पत्ति के अनुसार 'कुशल' शब्द का अर्थ है 'कुश तोड़कर लाने वाला व्यक्ति', द्विरेफ का अर्थ है 'दो रेफ या दो रकारवाला शब्द' जैसे रुचिर, 'भ्रमर' आदि शब्द तथा 'द्विक' का अर्थ है 'दो ककारवाला शब्द' जैसे 'कनक', 'काक' (कौआ) आदि शब्द। किन्तु ये शब्द क्रमशः दक्ष व्यक्ति, भ्रमर-नामक प्राणी एवं काक-नामक पक्षी के अर्थ में रूढ (प्रसिद्ध) हैं, अतः मम्मट आदि काव्यशास्त्रियों का मत है कि 'कुशल' आदि शब्दों का मुख्यार्थ (व्युत्पत्ति-मूलक अर्थ) बाधित होने पर उनसे 'दक्ष' आदि अर्थों का बोध होता है, अतः 'दक्ष' आदि अर्थ लक्ष्यार्थ हैं।

आचार्य हेमचन्द्र आदि वैयाकरण एवं काव्यशास्त्री इससे असहमत हैं। उनका कथन है कि शब्द का जो अर्थ रूढ या प्रसिद्ध होता है, वही साक्षात् संकेत का विषय होता है, अर्थात् उसी अर्थ की उस शब्द से बिना किसी व्यवधान के प्रतीति होती है। अतः रूढार्थ ही मुख्यार्थ होता है। इसलिए यदि रूढार्थ को लक्ष्यार्थ भी माना जाय तो अतिप्रसंगदोष उत्पन्न होगा।^{२९}

वैयाकरणों और काव्यशास्त्रियों द्वारा रूढार्थ को ही मुख्यार्थ माने जाने से सिद्ध है कि जिस शब्द में कोई अन्य अर्थ रूढ हो जाता है, उसका व्युत्पत्ति-मूलक मुख्यार्थ

२८. काव्यानुशासन-स्वोपज्ञटीका/अध्याय १/सूत्र १६—“मुख्यार्थसम्बद्धस्तत्वेन लक्ष्यमाणो लक्ष्यः।”

२९. “इदमेव हि शब्दानां मुख्यानां मुख्यत्वं यत्साक्षात् सङ्केतविषयत्वम्। सङ्केते च रूढिरेव कारणम्। ततो यदि रूढिमपेक्ष्य लक्षणा प्रवर्तेत तदातिप्रसङ्गः स्यादिति।” शिवदत्त-काशीनाथकृत व्याख्या/काव्यानुशासन/अध्याय १/सूत्र १४—“साक्षात्सङ्केतविषयो मुख्यः।”

अप्रचलित हो जाता है। अतः 'नग्न' शब्द यदि जीर्ण-शीर्ण या अल्पवस्त्रधारी के अर्थ में रूढ़ हुआ होता, तो उसका निर्वस्त्ररूप अर्थ अप्रचलित हो जाता, किन्तु वह अप्रचलित नहीं हुआ। इसका प्रत्यक्ष प्रमाण यह है कि नग्न शब्द के निर्वस्त्ररूप मुख्यार्थ के प्रचलित होने से ही दिगम्बर-श्वेताम्बर सम्प्रदायों का भेद प्रचलित है। इससे सिद्ध है कि 'नग्न' शब्द सवस्त्ररूप अर्थ में रूढ़ नहीं है। अतः श्री जिनभद्रगणी का यह कथन सत्य नहीं है कि सचेल पुरुष या स्त्री के लिए भी 'नग्न' शब्द का प्रयोग आगम और लोक में रूढ़ है।

४.२. नाग्न्यपरीषह के अयुक्तियुक्त होने का प्रसंग

“यदि नग्न शब्द को 'सचेल' अर्थ में रूढ़ माना जाय, तो नाग्न्यपरीषह को सचेलत्वपरीषह मानना होगा। किन्तु सचेलमुनि को सचेलत्व परीषह संभव नहीं है, क्योंकि श्वेताम्बरशास्त्रों में वस्त्रधारण को तो ही, जुगुप्सा और शीतादि परीषहों के निवारण, लिंगोत्थान के प्रच्छादन एवं संयम की रक्षा का साधन माना गया है।^{३०} अतः जो सचेलत्व, परीषह-निवारण का उपाय है, वह परीषह का कारण नहीं हो सकता। फलस्वरूप नाग्न्यपरीषह को सचेलत्वपरीषह मानने से और सचेलत्वपरीषह के संभव न होने से आगम में नाग्न्यपरीषह का उल्लेख अयुक्तिसंगत सिद्ध होता है। उसके उल्लेख की युक्तिसंगतता 'नग्न' शब्द को 'निर्वस्त्र' का ही वाचक मानने से सिद्ध होती है। अतः सिद्ध है कि 'नग्न' शब्द सचेल-अर्थ में रूढ़ नहीं है।

५

मलधारी हेमचन्द्रसूरि के मत की अयुक्तिमत्ता

उपचरित 'नग्न' शब्द दरिद्रादि अर्थ का प्रतिपादक

विशेषावश्यकभाष्य के कर्ता जिनभद्रगणी जी का कथन है कि सवस्त्र स्त्री या पुरुष को नग्न कहना लोकरूढ़ व्यवहार है, किन्तु वृत्तिकार मलधारी हेमचन्द्रसूरि कहते हैं कि यह उपचार है। (देखिये, इसी प्रकरण का शीर्षक ३.२)। उपचार लोकरूढ़ता के विरुद्ध होता है। सचेल साधु को उपचार से अचेल कहना संभव नहीं है। सचेल को उपचार से अचेल कहने पर 'अचेल' का अर्थ बदल जाता है। वह 'नग्न' अर्थ का वाचक न रहकर निर्लज्ज, असभ्य, दरिद्र आदि अर्थों का प्रतिपादक हो जाता है। उपचार के कुछ नियम होते हैं। वह किसी निमित्त या प्रयोजन के होने पर ही प्रवृत्त होता है और उपचरित शब्द से वही अर्थ व्यक्त हो सकता है, जो उसके मुख्यार्थ

३०. देखिये, आगे शीर्षक ४ एवं ५।

से सम्बद्ध हो, कोई भी अर्थ नहीं। यह उपचार के अर्थ और उसके नियमों पर दृष्टि डालने से स्पष्ट हो जाता है। नीचे उन पर प्रकाश डाला जा रहा है—

५.१. उपचार का अर्थ

आलापपद्धतिकार आचार्य देवसेन ने उपचार का लक्षण इस प्रकार बतलाया है—“अन्यत्र प्रसिद्धस्य धर्मस्यान्यत्र समारोपणमसद्भूतव्यवहारः। असद्भूतव्यवहार एव उपचारः।” (सूत्र २०७-२०८)।

अनुवाद—“किसी वस्तु पर अन्य वस्तु में प्रसिद्ध धर्म का आरोप करना असद्भूतव्यवहार है। असद्भूतव्यवहार ही उपचार कहलाता है।”

मीमांसक मुकुलभट्ट ने अभिधावृत्तिमातृका (पृष्ठ ७-८) में उपचार का लक्षण बतलाते हुए लिखा है—

“द्विविध उपचारः शुद्धो गौणश्च। तत्र शुद्धो यत्र मूलभूतस्योपमानोपमेयभावस्याभावे-नोपमानगत-गुणसदृश-गुणयोगलक्षणासम्भवात् कार्यकारणभावादिसम्बन्धाल्लक्षणया वस्त्वन्तरे वस्त्वन्तरमुपचर्यते। यथा ‘आयुर्घृतम्’ इति। अत्र ह्यायुषः कारणे घृते तद्गतकार्यकारण-भावलक्षणापूर्वकत्वेनायुष्ट्वकार्यं तच्छब्दश्चेत्युभयमुपचरितम्। तस्माच्छुद्धोऽयमुपचारः।”

“गौणः पुनरुपचारो यत्र मूलभूतोपमानोपमेयभावसमाश्रयेणोपमानगत-गुणसदृशगुण-योगलक्षणां पुरःसरीकृत्योपमेये उपमानशब्दस्तदर्थश्चाध्यारोप्यते। स हि गुणेभ्य आगतत्वाद् गौणशब्देनाभिधीयते। यथा ‘गौर्वाहीकः’ इति। अत्र ही गोगतजाड्यमान्द्यादिगुणसदृश-जाड्यमान्द्यादियोगाद् वाहीके गोशब्द-गोत्वयोरुपचारः।”^{३१}

अनुवाद—“उपचार दो प्रकार का होता है : शुद्ध और गौण। जहाँ मूलभूत उपमानोपमेयभाव का अभाव होने से उपमानगत गुणों के समान गुण-योग असम्भव होता है, वहाँ कार्यकारणभावादि-सम्बन्ध के कारण अन्य वस्तु में अन्य वस्तु का उपचार किया जाता है, जैसे ‘आयुर्घृतम्’ (घी आयु है), यहाँ आयु और उसके कारणभूत घी इन दोनों में कार्यकारणभाव विद्यमान है, अतः घी में आयुष्ट्वकार्यरूप अर्थ तथा तद्वाचक शब्द दोनों का उपचार किया गया है। इसलिए यह शुद्धोपचार है।”

“जहाँ मूलभूत उपमानोपमेयभाव के होने से उपमानगत गुणों के समान गुणों का योग होता है, और इस कारण उपमेय पर उपमानशब्द तथा उसके अर्थ का अध्यारोप किया जाता है, वहाँ गौण उपचार होता है। वह उपमानशब्द गुणों के निमित्त से आरोपित

३१. मम्मटकृत काव्यप्रकाश की आचार्य विश्वेश्वरकृत हिन्दी व्याख्या में उद्धृत / द्वितीय उल्लास / कारिका १०, सूत्र १३ / पृ.६० / प्रकाशक-ज्ञानमंडल चाराणसी / १९६० ई.।

होने के कारण गौणशब्द कहलाता है। जैसे 'गौर्वाहीकः' (वाहीकदेशवासी पुरुष बैल है), यहाँ बैल में रहनेवाले जाड्य-मान्द्य आदि गुणों के समान जाड्यमान्द्य आदि गुणों का वाहीक में योग होने से उसमें बैल के वाचक गोशब्द और गोत्वरूप अर्थ का उपचार किया गया है।"

यहाँ भी अन्य वस्तु पर अन्य वस्तु या उसके धर्म का आरोप करने को उपचार नाम दिया गया है। दूसरे शब्दों में, किसी वस्तु पर अन्य वस्तु के वाचक शब्द और अर्थ के आरोप को उपचार कहा गया है। ये आरोपित शब्द और अर्थ गौण-शब्द और गौण-अर्थ अथवा उपचरित-शब्द और उपचरित-अर्थ कहलाते हैं।

श्वेताम्बराचार्य वैयाकरण-काव्यशास्त्री हेमचन्द्र ने भी कहा है—“मुख्यार्थबाधे निमित्ते प्रयोजने च भेदाभेदाभ्यामारोपितो गौणः।” (काव्यानुशासन १/१५)। अर्थात् मुख्यार्थ का बाध तथा निमित्त और प्रयोजन के होने पर भेद और अभेदपूर्वक^{३२} जो आरोपित किया जाता है वह गौण अर्थ कहलाता है। आचार्य हेमचन्द्र उपर्युक्त सूत्र की स्वीपज्ञवृत्ति में कहते हैं—“गुणेभ्य आयतत्वाद्गौणः। तद्विषयः शब्दोऽपि गौणः उपचरित इति चोच्यते।” अर्थात् गुणों के निमित्त से आरोपित होने के कारण उसे गौण अर्थ कहते हैं। उस गौण अर्थ का विषयभूत शब्द भी गौण या उपचरित कहलाता है।

५.२. उपचार के नियम

उपचार के कुछ नियम होते हैं। उन नियमों के अनुसार जब किसी वस्तु पर अन्य वस्तु के धर्म का आरोप किया जाता है, तभी वह उपचार कहलाता है। आचार्य देवसेन ने आलापपद्धति के निम्नलिखित सूत्र (२१२) में उपचार के नियमों का वर्णन किया है—

“मुख्याभावे सति निमित्ते प्रयोजने चोपचारः प्रवर्तते।”

अनुवाद—“वस्तु में जिस धर्म का उपचार किया जाना है, वह धर्म जब उस वस्तु में स्वभावतः न हो तथा उस धर्म के उपचार का कोई सादृश्यादिसम्बन्धरूप निमित्त हो और उपचार करने का कोई प्रयोजन भी हो, तभी उपचार प्रवृत्त होता है।”

जैसे 'यह बालक सिंह है' इस वाक्य में बालक पर सिंह के सिंहत्वरूप धर्म का आरोप किया गया है। बालक स्वभावतः सिंह नहीं है, किन्तु उसमें सिंह के क्रौर्यशौर्यादि गुणों के समान क्रौर्यशौर्यादि गुण हैं, जिनके कारण उस पर सिंहत्व का आरोप किया

३२. “तत्र सादृश्ये निमित्ते भेदेनारोपितो यथा—‘गौर्वाहीकः’। इदं वक्ष्यमाणरूपकालङ्कारस्य बीजम्। अभेदेन यथा—‘गौरैवायम्’ इति। इदमतिशयोक्तिप्रथमभेदस्य (बीजम्)।” काव्यानुशासन-स्वीपज्ञवृत्ति १/१५।

जा सकता है तथा उसमें क्रौर्यशौर्यादि का अतिशय बतलाना वक्ता का प्रयोजन भी है, अतः यह उपचार नियमानुरूप होने से उपचार संज्ञा पाता है। इनमें से एक भी नियम का उल्लंघन होने पर किसी वस्तु पर अन्य वस्तु के धर्म का आरोप उपचार संज्ञा प्राप्त नहीं कर सकता। उपचार के और भी उदाहरण लिये जा सकते हैं, जैसे 'यह लड़का गधा है,' 'वह लड़की तो सरस्वती है,' 'आप मनुष्य नहीं देवता हैं', 'वह इंसान नहीं, शैतान है' इत्यादि। उपचार के ये उदाहरण भी उपर्युक्त तीनों नियमों पर आधारित हैं।

५.३. उपचरितशब्द का मुख्यार्थ असत्य, 'अत एव अग्राह्य

'यह बालक सिंह है' इस उदाहरण में बालक में सिंहशब्द का उपचार किया गया है, अतः यहाँ सिंहशब्द उपचरित है। यतः बालक को सिंह कहना असत्य है, अतः उपचरित शब्द का मुख्यार्थ असत्य होता है। 'उपचरित' विशेषण 'उपचरित' शब्द के मुख्यार्थ की असत्यता, बाधितता या अनुपपन्नता का सूचक है। अतः उपचरित शब्द का मुख्यार्थ अग्राह्य है, जैसे उपर्युक्त उदाहरण में 'सिंह' शब्द का सिंहनामक कूरपशुरूप मुख्यार्थ अग्राह्य है। इसी प्रकार किसी सवस्त्र स्त्री या पुरुष को उपचार से नग्न कहने पर 'नग्न' शब्द का निर्वस्त्ररूप मुख्यार्थ असत्य होता है, अतः वह अग्राह्य है।

५.४. उपचरित शब्द से उपचरित अर्थ ग्राह्य

यतः उपचरित शब्द का मुख्यार्थ असत्य होने से अग्राह्य होता है, अतः उपचरित शब्द का प्रयोग मुख्यार्थ से सम्बद्ध किसी अन्य अर्थ का बोध कराने के लिए किया जाता है। उसे उपचरित अर्थ कहते हैं। मुख्यार्थ न होने से वह शब्द की अभिधाशक्ति द्वारा प्रतिपादित नहीं होता, अतः उसका प्रतिपादन लक्षणाशक्ति से होता है, इसलिए वह लक्ष्यार्थ भी कहलाता है। इसका प्ररूपण प्रसिद्ध काव्यशास्त्री मम्मट ने काव्यप्रकाश की निम्नलिखित कारिका में किया है—

मुख्यार्थबाधे तद्योगे रूढितोऽथ प्रयोजनात्।

अन्योऽर्थो लक्ष्यते यत्सा लक्षणारोपिता क्रिया ॥ २/९ ॥

अनुवाद—“शब्द का जो मुख्यार्थ होता है, वह यदि बाधित या असंगत हो और उस मुख्यार्थ से किसी अन्य अर्थ का सम्बन्ध हो, तो रूढि अथवा प्रयोजनविशेष से वह अन्य अर्थ जिस शब्दशक्ति के द्वारा लक्षित किया जाता है, उसे लक्षणा कहते हैं।”

यतः उपचरित शब्द के ही मुख्यार्थ का बाध होता है, मुख्य शब्द के मुख्यार्थ का नहीं, अतः उपर्युक्त कारिका में उपचरित शब्द के ही मुख्यार्थबाध की बात कही गई है और उपचरित शब्द के मुख्यार्थ से सम्बद्ध अन्य अर्थ के ही लक्षणा द्वारा बोध कराये जाने का कथन किया गया है। वैयाकरणों और काव्यशास्त्रियों के इस कथन से प्रमाणित है कि उपचरित शब्द का प्रयोग मुख्यार्थ से संयुक्त अन्य अर्थ का बोध कराने के लिए ही किया जाता है।

उदाहरणार्थ 'यह बालक सिंह है' इस उपचारकथन में 'सिंह' शब्द उपचरित है, अतः उसका सिंह-नामक-क्रूरपशुरूप मुख्यार्थ बाधित होता है। किन्तु उसके मुख्यार्थ के साथ क्रौर्यशौर्यादिगुण-युक्तरूप अन्य अर्थ सम्बद्ध है। बालक में भी सिंहसदृश क्रौर्यशौर्यादिगुण विद्यमान हैं। अतः इन गुणों की अपेक्षा बालक और सिंह में सादृश्यसम्बन्ध है। तथा वक्ता का प्रयोजन भी यह बतलाना है कि बालक में क्रौर्यशौर्यादि गुणों की अधिकता है। इस प्रयोजन से ही वक्ता बालक को उपचार से सिंह कहता है। इस दृष्टान्त से स्पष्ट हो जाता है कि उपचरित शब्द का प्रयोग उपचरित अर्थ का बोध कराने के लिए ही होता है, अतः उपचरित शब्द से उपचरित अर्थ ही ग्राह्य है। अर्थात् 'यह बालक सिंह है' यहाँ उपचरित 'सिंह' शब्द से यह उपचरित अर्थ ग्रहण करना चाहिए कि बालक अत्यन्त क्रूर और शूर है। जिस बालक को सिंह कहा जाता है, वह मुख्यार्थ की अपेक्षा सिंह नहीं होता, अपितु उपचरित अर्थ की अपेक्षा अर्थात् क्रौर्यशौर्यादिगुण-युक्तता की अपेक्षा सिंह होता है।

दिगम्बरपरम्परा में भी आर्यिकाओं को उपचार से महाव्रती कहा गया है। इसे स्पष्ट करते हुए आचार्य जयसेन कहते हैं कि उपचार में मुख्यार्थ की अपेक्षा कथन नहीं होता। जैसे 'यह देवदत्त अग्नि के समान क्रूर है' इस कथन में देवदत्त को मुख्यार्थ की अपेक्षा (साक्षात्) अग्नि नहीं कहा गया है, अपितु अत्यन्त उग्रस्वभावरूप उपचरित अर्थ की अपेक्षा अग्नि कहा गया है, वैसे ही आर्यिकाओं को उपचारतः महाव्रती कहने से यह सिद्ध नहीं होता कि उन्हें मुख्यार्थ की अपेक्षा महाव्रती कहा गया है, बल्कि 'महाव्रती' शब्द के मुख्यार्थ के साथ जो श्रावकोत्तर-संयम-धारिणीरूप अन्य अर्थ सम्बद्ध है, जिसे उपचरित अर्थ कहते हैं, उसकी अपेक्षा वे महाव्रती सिद्ध होती हैं।

श्रावकों के समान श्राविकाओं में भी उत्कृष्ट (क्षुल्लिका), मध्यम और जघन्य श्रेणियाँ होती हैं। आर्यिका-श्रेणी इनसे उच्च है, क्योंकि आर्यिकाएँ स्त्रीसामर्थ्ययोग्य उच्चतम संयम का पालन करती हैं। महाव्रतों के साथ स्त्रीयोग्य उच्चतम संयम का सादृश्य-सम्बन्ध है। अतः आर्यिकाओं में उसके (स्त्रीयोग्य उच्चतम संयम के) अस्तित्व का बोध कराने के लिए उन्हें उपचार से महाव्रती कहा जाता है। इससे स्त्रियों की उपर्युक्त

श्रेणियों का पारस्परिकभेद स्पष्ट होता है और श्रावक-श्रविकाओं के द्वारा उनकी यथायोग्य विनय की जानी चाहिए, यह अर्थ भी द्योतित होता है। आचार्य जयसेन ने इसे कुलव्यवस्था (स्त्रीसंघव्यवस्था) कहा है और इसे ज्ञापित करने के लिए ही आर्यिकाओं को उपचार से महाव्रती कहने का औचित्य बतलाया है। सार यह कि दिगम्बरपरम्परा में आर्यिकाएँ उपचरित अर्थ की अपेक्षा महाव्रती होती हैं, मुख्यार्थ की अपेक्षा नहीं। अतः उपचरित शब्द से उपचरित अर्थ ही ग्राह्य है।^{३३}

५.५. 'नग्न' शब्द के मुख्य और उपचरित अर्थ

जिस प्रकार 'सिंह' शब्द का मुख्य अर्थ है 'सिंह नामक क्रूर-शूर पशु' तथा उपचरित अर्थ है 'क्रौर्यशौर्यादिगुण-युक्त', उसी प्रकार 'नग्न' शब्द का मुख्य अर्थ है 'वस्त्ररहित-शरीरवाला' तथा उपचरित अर्थ हैं : निर्लज्ज, असभ्य, अश्लीलचेष्टाकारी, उन्मत्त (पागल), दरिद्र आदि। क्योंकि वस्त्रादि-सकल-परिग्रह-त्यागी मुनि के अतिरिक्त निर्लज्जता आदि धर्मों से युक्त मनुष्य ही कदाचित् नग्न हो जाते हैं। अतः नग्न शब्द के मुख्यार्थ के साथ निर्लज्ज, असभ्य आदि अर्थ संयुक्त हैं। इसलिए ये नग्न शब्द के उपचरित अर्थ हैं। जो यथार्थतः नग्न है, उसे नग्न कहने से तो 'नग्न' शब्द निर्वस्त्ररूप मुख्य अर्थ का ही अभिधाशक्ति से प्रतिपादन करता है, किन्तु जो सवस्त्र है, उसे नग्न कहने से वह ('नग्न' शब्द) निर्वस्त्ररूप मुख्यार्थ का प्रतिपादन न कर लक्षणाशक्ति से निर्लज्ज, असभ्य अश्लीलचेष्टाकारी, उन्मत्त, दरिद्र आदि उपचरित अर्थ की प्रतीति कराता है। मुख्य और उपचरित दोनों 'नग्न' शब्दों से निर्वस्त्ररूप मुख्यार्थ का प्रतिपादन नहीं हो सकता, क्योंकि उपचरित—'नग्न' शब्द का निर्वस्त्ररूप मुख्यार्थ बाधित (असंगत) हो जाता है। उपचरित—'नग्न' शब्द से निर्लज्जादि-रूप उपचरित अर्थ का ही प्रतिपादन संभव है। सवस्त्र पुरुष या स्त्री के लिए लोक में 'नग्न' शब्द के ऐसे अनेक उपचरितप्रयोग मिलते हैं; जिनसे 'नग्न' शब्द उपचरित अर्थ का बोध कराता है। जैसे 'नंगा-लुच्चा', 'भूखे-नंगे लोग', 'नंगा नहाये निचोड़े क्या?', 'अपना नंगापन मत दिखलाओ,' 'वह तो नंगई पर उतर आया', 'नंगों से तो खुदा भी डरता है', 'मैं सरे आम तुम्हें नंगा करूँगा', इत्यादि मुहावरों में 'नंगा' शब्द औपचारिक होने से 'निर्वस्त्र' (खुले गुहांगवाला) अर्थ का वाचक नहीं है, अपितु लक्षणा-व्यंजना शक्तियों के द्वारा अत्यन्त निर्लज्ज, अत्यन्त दरिद्र, अत्यन्त नीच आचरण करनेवाला, अत्यन्त लज्जित किये जाने योग्य, इत्यादि अर्थों का प्रतिपादक है। ये उपचरित 'नग्न' शब्द के उपचरित अर्थ हैं।

३३. "अथ मतं-यदि मोक्षो नास्ति तर्हि भवदीयमते किमर्थमर्जिकानां महाव्रतारोपणम्? परिहार-माहतदुपचारेण कुलव्यवस्था-निमित्तम्। न चोपचारः साक्षाद् भवितुमर्हति अग्निवत् क्रूरोऽयं देवदत्त इत्यादिवत्। तथा चोक्तम्-मुख्याभावे सति प्रयोजने निमित्ते चोपाचारः प्रवर्तते।" तात्पर्यवृत्ति/प्रवचनसार/आ.जयसेन-निर्दिष्ट गाथा 'जदि दंसणेण सुद्धा' ३/१३/पृ. २७७-२७८।

किन्तु 'जीर्णवस्त्रधारी' अर्थ उपचरित नग्न शब्द का उपचरित अर्थ नहीं है, क्योंकि 'जीर्णवस्त्रधारित्व' निर्लज्जता आदि के समान नग्न व्यक्ति का कोई गुण-धर्म नहीं है। वह नग्न व्यक्ति में पाया ही नहीं जाता। जो नग्न है, वह जीर्णवस्त्रधारी नहीं हो सकता, जो जीर्णवस्त्रधारी है, वह नग्न नहीं हो सकता। अतः नग्न व्यक्ति में जिस धर्म का आत्यन्तिक अभाव है, वह 'नग्न' शब्द का उपचरित अर्थ नहीं हो सकता। अतः 'नग्न' शब्द की लक्षणाशक्ति से उसका लक्षित होना संभव नहीं है।

इस प्रकार लोक में जैसे अत्यन्त क्रौर्य-शौर्य-गुणवाले बालक को ही उपचार से सिंह कहा जाता है, जैसे अत्यन्त मन्दबुद्धि मनुष्य को ही उपचार से बैल, गधा या उल्लू शब्द से पुकारा जाता है, जैसे अत्यन्त दुष्ट स्त्री को ही उपचार से चुड़ैल नाम दिया जाता है, वैसे ही अत्यन्त निर्लज्ज, दरिद्र, नीच या बेइज्जत वस्त्रधारी मनुष्य को ही उपचार से नग्न या नंगा कहा जाता है। इसलिए यदि लौकिक दृष्टान्तों से सचेल मुनि को उपचार से अचेल या नग्न कहे जाने का औचित्य सिद्ध किया जाय, तो सचेलमुनि को निर्लज्ज, असभ्य, दरिद्र, या विक्षिप्त माने जाने का प्रसंग आता है। श्वेताम्बराचार्यों ने दिगम्बरजैन मुनियों को नग्न होने के कारण निर्लज्ज, बीभत्स, भण्डिकचेष्टाकारी आदि उपाधियों से विभूषित किया ही है, इसके प्रमाण पूर्व (शीर्षक ४.३) में दिये जा चुके हैं। उपचार के इस विपरीत परिणाम से सिद्ध है कि सचेल मुनि को उपचार से अचेल नहीं कहा जा सकता।

यदि यह माना जाय कि तीर्थकरों ने सचेल मुनियों के लिए उपचार से 'अचेल' या 'नग्न' शब्द का व्यवहार किये जाने का उपदेश दिया है, तो इसका यह अभिप्राय होगा कि तीर्थकर सचेल मुनियों में निर्लज्जता, दरिद्रता आदि धर्म द्योतित करना चाहते थे। किन्तु सचेल मुनियों में न तो ये धर्म होते हैं, न ही तीर्थकरों का उक्त अभिप्राय हो सकता है। इससे निर्णीत होता है कि सचेल मुनियों के लिए उपचार से 'अचेल' या 'नग्न' शब्द का व्यवहार तीर्थकरोपदिष्ट नहीं है, अपितु श्वेताम्बरटीकाकारों की देन है और इसका प्रयोजन था 'नग्न' शब्द के 'सर्वथा निर्वस्त्र' अर्थ को झुठलाकर दिगम्बरजैनमत को अतीर्थकरप्रणीत सिद्ध करने का प्रयास। अनभिज्ञतावश टीकाकारों ने यह नहीं सोचा कि सचेल मुनियों को उपचार से नग्न कहकर वे उन्हें निर्लज्ज, दरिद्र आदि कहने का प्रयास कर रहे हैं।

५.६. द्विविध नग्नत्व के आगमप्रमाण उपलब्ध नहीं

१. मोक्षमार्ग के उपदेष्टा भगवान् महावीर की दृष्टि में अचेलत्व अर्थात् नग्नत्व दो प्रकार का था : मुख्य और औपचारिक, इसे सिद्ध करने के लिए विशेषावश्यकभाष्य वृत्तिकार श्री मलधारी हेमचन्द्रसूरि ने कोई आगमप्रमाण नहीं दिया।

२. साधुओं के दस स्थितिकल्प बतलानेवाली 'आचेलक्कुद्देसिय'^{३४} गाथा में ऐसा कोई भी संकेत नहीं है कि वहाँ 'आचेलक्य' शब्द से मुख्य आचेलक्य और औपचारिक आचेलक्य ये दो अर्थ अपेक्षित हैं। यदि ऐसा होता, तो मूल में ही अगली गाथा के द्वारा इसका स्पष्टीकरण कर दिया गया होता।

३. श्वेताम्बर आगमों में जहाँ सचेलत्व का कथन अपेक्षित था, वहाँ 'सचेल' या 'सान्तरोत्तर' शब्दों का ही प्रयोग किया गया है, उपचार से 'अचेल' शब्द का नहीं।^{३५}

४. यदि मोक्षमार्गभूत आचेलक्य के मुख्य और उपचाररूप भेद हों, तो, मोक्ष के भी मुख्य और उपचाररूप भेद होंगे। और औपचारिक आचेलक्यवाले को औपचारिक मोक्ष की ही प्राप्ति होगी, मुख्य (वास्तविक) मोक्ष की नहीं। किन्तु आगम में मोक्ष के मुख्य और औपचारिक भेद नहीं मिलते। इससे सिद्ध है कि आचेलक्य के भी मुख्य और उपचाररूप भेद आगमोक्त नहीं हैं।

५. यदि सचेल को उपचार से अचेल माना जाय तो सचेलत्व (एषणीय वस्त्रधारण करने) को उपचार से अचेलपरीषह मानना होगा। किन्तु वस्त्रधारण करना तो शीतादिपरीषह निवारण का साधन है, अतः उसमें परीषह का लक्षण घटित नहीं होता, फलस्वरूप सचेल मुनि को उपचार से अचेल मानने पर अचेलपरीषह के अभाव का प्रसंग आता है, जो कि आगमविरुद्ध है। इससे सिद्ध होता है कि सचेल को उपचार से अचेल मानना आगमसम्मत नहीं है।

५.७. लोकरूढ़ि एवं उपचार परस्परविरुद्ध

श्वेताम्बराचार्यों ने लोकरूढ़ि एवं उपचार दोनों से सचेल मुनियों के लिए अचेल या नग्न शब्द के प्रयोग की पुष्टि करने का प्रयत्न किया है, किन्तु दोनों परस्पर विरुद्ध हैं। यथा—

१. शब्द में जो अर्थ रूढ़ हो जाता है, वह शब्द का मुख्यार्थ बन जाता है, लेकिन उपचरित अर्थ मुख्यार्थ नहीं बनता। इसलिए रूढ़ अर्थ शब्द को सुनते ही समझ में आ जाता है, किन्तु उपचरित अर्थ समझने की कोशिश करने पर समझ में आता है। कभी-कभी कोशिश करने पर भी समझ में नहीं आता, इसलिए समझदारों से पूछना पड़ता है।

२. रूढ़ शब्द का मुख्यार्थ लोक में सत्य माना जाता है, किन्तु उपचरित शब्द के मुख्यार्थ को सब असत्य मानते हैं।

३४. जीतकल्पभाष्य / गाथा १९७२ (जैनधर्म का यापनीय सम्प्रदाय / पृ. १२६)।

३५. देखिये, इसी अध्याय के प्रथम प्रकरण के शीर्षक ५ एवं ६।

३. रूढार्थ का प्रतिपादन शब्द के अभिधा-व्यापार द्वारा होता है, उपचरित अर्थ का प्रतिपादन लक्षणा-व्यापार के द्वारा।

४. रूढार्थ का बोध मुख्यार्थबाध के व्यवधान के बिना होता है, उपचरित अर्थ का बोध मुख्यार्थबाध के व्यवधानपूर्वक होता है।

५. रूढ अर्थ शब्द में सदा विद्यमान रहता है, उपचरित अर्थ शब्द का उपचार से प्रयोग करने पर ही आता है।

६. रूढ शब्द के प्रयोग से सामान्यवाक्यार्थ का बोध होता है, उपचरित शब्द के प्रयोग से विशेषवाक्यार्थ की प्रतीति होती है। विशेषवाक्यार्थ की प्रतीति कराना ही उपचार का प्रयोजन होता है।

इस प्रकार रूढार्थ और उपचरित अर्थ परस्पर विरुद्ध होते हैं। अतः यदि सचेल स्त्री-पुरुष के लिए नग्न शब्द का प्रयोग लोकरूढ़ माना जाय, तो उसे उपचार से प्रयुक्त नहीं माना जा सकता, और यदि उपचार से प्रयुक्त माना जाय, तो लोकरूढ़ नहीं माना जा सकता। इस तरह सचेल स्त्री-पुरुष के लिए 'नग्न' या 'अचेल' शब्द के प्रयोग के विषय में ये परस्पर विरुद्ध मान्यताएँ एक-दूसरे को असत्य सिद्ध करती हैं।

यहाँ तक प्रस्तुत किये गये ये बहुमुखी विविध प्रमाण उपर्युक्त कल्पनाओं की अप्रामाणिकता को अनेक द्वारों से उद्घाटित कर सिद्ध कर देते हैं कि न तो आगम में सचेल मुनि के लिए 'अचेल' या 'नग्न' शब्द का प्रयोग किया गया है, न ही सचेल स्त्री-पुरुष को नग्न कहना लोकरूढ़ि है और न सचेल मुनि को उपचार से अचेल या नग्न कहा जा सकता है।

'अचेलक' शब्द के प्रति जैसा आकर्षण श्वेताम्बरपरम्परा में दिखायी देता है, वह आश्चर्यकारक है। 'अचेलक' शब्द सवस्त्रमुक्तिप्रतिपादक श्वेताम्बरपरम्परा के विरुद्ध है, तथापि इस परम्परा ने प्रथम और अन्तिम तीर्थंकरों को केवल अचेलकधर्म का और शेष २२ तीर्थंकरों को अचेल और सचेल, दोनों धर्मों का उपदेशक स्वीकार किया है। किन्तु 'अचेलक' शब्द की जैसी मिट्टीपलीद भी श्वेताम्बरपरम्परा ने की है, वह भी अद्भुत है। लोगों को जैनधर्म के इतिहास तथा संस्कृत-प्राकृत एवं लोकभाषा के ज्ञान से सर्वथा शून्य मानते हुए तथा भाषा और व्याकरण के सभी नियमों को ताक पर रखते हुए श्वेताम्बराचार्यों ने यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि 'अचेलक' शब्द वस्तुतः 'सचेल' के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। अतः अचेल मुनि का अर्थ है

सचेल मुनि और अचेलकधर्म का अर्थ है सचेलधर्म। इस प्रकार उन्होंने सचेलत्व का सुख भोगते हुए अपने को तीर्थंकर महावीर द्वारा उपदिष्ट अचेलकधर्म का अनुयायी सिद्ध करके दिखा दिया। उनकी यह अद्भुत कला दिगम्बरमत की प्राचीनता को उजागर करने में अभूतपूर्व साधन बनी है। इसने साबित कर दिया है कि यतः अचेलक शब्द का वास्तविक अर्थ सर्वथा निर्वस्त्र अर्थात् दिगम्बर है, अतः भगवान् महावीर ने वस्तुतः दिगम्बरधर्म का ही उपदेश दिया था, अतः वही मौलिक एवं पूर्ववर्ती है।

६

अचेलत्व के संयमादिघातक^{३६} होने का उद्घोष

पंचमकाल में एकमात्र सचेल स्थविरकल्प को आचरणीय सिद्ध करने के लिए श्वेताम्बराचार्यों ने न केवल जिनकल्प (अचेलत्व) के उच्छेद की घोषणा कर दी, बल्कि अचेलत्व को संयम का घातक और ध्यान-अध्ययन आदि में बाधक भी करार दिया। श्री जिनभद्रगणी कहते हैं कि शरीर को वस्त्र से आवृत न करने पर शीतपरीषह से साधु को आर्तध्यान होता है, जिससे उसका मन ध्यान और अध्ययन में नहीं लगता। शीतनिवारण के लिए यदि वह अग्नि प्रज्वलित करता है, तो उससे तृण और ईंधन में रहनेवाले जीवों का घात होता है, जिससे संयम की विराधना होती है।^{३७} जैसे क्षुधादि से पीड़ित शरीर संयम का हेतु नहीं है, वैसे ही शीत, आतप, दंशमशक आदि से पीड़ित शरीर भी संयम का हेतु नहीं है।^{३८}

वस्त्र के अभाव में ईर्यादि पाँच समितियों का भी पालन नहीं हो पाता।^{३९} ठंड, धूप, हवा, वर्षा आदि उपद्रवों के समय तदनुकूल धृतिसंहनन आदि बल से रहित साधु जल्दी-जल्दी आता-जाता है, जिससे ईर्यासमिति का पालन नहीं होता। पात्र के अभाव में हाथ में रखे हुए सत्तू, दही आदि के गिर जाने के भय से जल्दी-जल्दी लेकर जल्दी-जल्दी खायेगा, जिससे अनेषणा समिति का पालन नहीं हो पायेगा। पात्र न होने पर भूमि पर ही प्रश्रवण (मूत्रोत्सर्ग) और सिंघान (नासिकामलक्षेपण) आदि करने से अनेक जीवों का घात होगा, जिससे परिष्ठापनिका समिति सम्पन्न नहीं होगी

३६. "वस्त्राभावे ये संयमविराधनादयो दोषाः प्रोक्ताः---।" हेम.वृत्ति. / विशेष.भा. / २५८१-८३ / पृ.५१६।

३७. वही / गा. २५७५-७९ / पृ. ५१५।

३८. "यथा क्षुधादिपीडितं शरीरं न संयमहेतुस्तथा शीतातपदंशमशकादिपीडितमपीति बोध्यम्।" प्रवचनपरीक्षा / वृत्ति १/२/२९/पृ.९१।

३९. "वस्त्रपात्राद्युपकरणभावे समितयः ईर्याभाषैषणादानपरिष्ठापनिकालक्षणाः पञ्च समितयो न भवन्ति, तदभावाच्च कुतः संयमः?" वही / १/२/१८/पृ.८१।

और ऐसा करते समय किसी के द्वारा आक्षेप किये जाने पर भाषासमिति का भी ध्यान नहीं रख पायेगा। आदान-निक्षेपण समिति भी वस्त्रपात्रादि के बिना संभव नहीं हैं। समितियों के अभाव में संयम का अभाव होता है।^{४०}

वस्त्र के अभाव में साधु रासभ आदि के समान निर्लज्ज हो जाता है। निर्लज्ज पुरुष चारित्र का पालन कैसे कर सकता है? वस्त्रावृत पुरुष ही लज्जायुक्त होकर ब्रह्मचर्य का पालन करता है, अन्यथा जैसे घोड़ी को देखकर घोड़े की लिंगविकृति हो जाती है, वैसे ही स्त्री को देखकर साधु के भी लिंग में विकार उत्पन्न हो सकता है, जिससे प्रवचनोद्वाह (जिनशासन के अनुयायियों में उत्पन्न विकृति) और अब्रह्मसेवा आदि बहुत से दोष सर्वजनविदित हो सकते हैं। इस तरह अचेलता लज्जा की रक्षा में समर्थ न होने से असंयम का कारण है।^{४१}

अचेलत्व में इन संयमादिविराधक दोषों के होने की घोषणा गुरु आर्यकृष्ण ने शिवभूति के समक्ष की थी, जिसका वर्णन जिनभद्रगणी ने विशेषावश्यकभाष्य में किया है। इससे सिद्ध होता है कि आर्यकृष्ण (ई० प्रथम शताब्दी) के पूर्व दिग्म्बरपरम्परा विद्यमान थी।

७

वस्त्रादि के संयमसाधक होने का प्रतिपादन

जिनभद्रगणी ने आर्यकृष्ण की ओर से अचेलत्व को संयमादि का विराधक घोषित कर वस्त्रपात्रादि को संयम का उपकारी बतलाया है, जिसे वृत्तिकार मलधारी हेमचन्द्रसूरि ने निम्नलिखित शब्दों में स्पष्ट किया है—

“कं नाम संयमोपकारं करोति वस्त्रादिकम्? इति यदि तव मतिः, तर्हि कथ्यते शृणु—सौत्रिकौर्णिककल्पैस्तावत् शीतार्तानां त्राणं, साधूनामार्त्तध्यानापहरणं क्रियते। तथा ज्वलन-तृणादीन्धनगतानां सत्त्वानां त्राणं रक्षणं ‘क्रियते’। --- यदि कल्याः न भवेयुः, तदा शीतार्ताः साधवोऽग्नि-तृणादीन्धन-ज्वलनं कुर्युः। तत्करणे चावश्य-म्भावी तद्गतसत्त्वोपघातः। कल्पैस्तु प्रावृत्तैरेष न भवत्येव, अग्नि-तृणादिज्वलन-मन्तरेणापि शीतार्त्तिनिवृत्तेरिति। तथा “कालचउक्कं उक्कोसए जहन्ने तियं तु बोधव्वं”

४०. “समित्याद्यभावात् संयमाभावः।” प्रवचनपरीक्षा / वृत्ति / १/२/१८/ पृ. ८२।

४१. “वस्त्राभावे च रासभादिवदविशेषेण लज्जाराहित्यं स्यात्। लज्जाराहित्यस्य च कुतश्चारित्र-पालनम्? --- वस्त्रावृतस्य लज्जया ब्रह्मचर्यं स्याद्, अन्यथा वड्वादर्शनाद् वाडवस्येव स्त्रीदर्शनाल्लिङ्गादिविकृत्या प्रवचनोद्वाहाब्रह्मसेवादयो बहवो दोषाः सर्वजनविदिता भवेयुः।” वही/१/२/३०/ पृ. ९१।

इत्यादिवचनात् समस्त-रात्रि-जागरणं कुर्वद्भिः साधुभिश्चत्वारः काला ग्रहीतव्याः। तच्च हिमकणप्रवर्षिणि शीते पतति चतुष्कालं गृह्णतां तेषामृषीणां कल्पाः प्रावृताः सन्तो निर्विघ्नं स्वाध्याय-ध्यानसाधनं कुर्वन्ति, शीतार्थपहरणादिति।” (हेम.वृत्ति / विशेष.भा. / २५७५-७६)।

अनुवाद—“वस्त्रादि संयम के साधक किस प्रकार हैं? सुनिए, सूती और ऊनी कल्पों (शरीर-प्रमाण आवरणों) से शीत से पीड़ित साधुओं की रक्षा होती है, आर्त्तध्यान का निवारण होता है तथा अग्निगत तृण आदि ईंधन में रहनेवाले जीवों की रक्षा होती है। क्योंकि यदि कल्प (आवरण) न हों, तो शीत से पीड़ित साधु अग्नि जलाकर शीत से बचने का प्रयत्न करेंगे जिससे तृणादि ईंधन में रहनेवाले जीवों का घात अवश्यम्भावी है। कल्पों को ओढ़ लेने से अग्नि जलाये बिना भी शीत की पीड़ा का निवारण हो जाता है। तथा आगम के अनुसार समस्त रात्रि में जागरण करनेवाले साधुओं को चार काल ग्रहण करना चाहिए। जो साधु हिमकण बरसानेवाली शीत में चार काल ग्रहण करते हैं, वे कल्पों (सूती-ऊनी चादरों) से आवृत्त होने पर ध्यान और अध्ययन निर्विघ्न सम्पन्न करते हैं, क्योंकि उन्हें शीत की पीड़ा नहीं हो पाती।”

वृत्तिकार आगे लिखते हैं—“तथा यदि साधु की पुरुषेन्द्रिय विकृत है, तो वस्त्रधारण करने से उसकी विकृति ढँक जाती है, जिससे वह लोगों के लिए ग्लानि का कारण नहीं बनता। इसके अतिरिक्त स्त्रियों को देखने से यदि उसके लिंग का उत्थान हो जाता है, तो चोलपट्टक पहनने से वह प्रकट नहीं हो पाता। फलस्वरूप वह लोगों के सामने लज्जित होने से बच जाता है।^{४२} इस तरह उसके लज्जारूप संयम का पालन होता है।^{४३} वस्त्रधारण करने से पूर्व में कहे अनुसार पाँच समितियों का भी पालन होता है।” विशेषावश्यकभाष्यकार ने पात्र की संयमोपकारिता का भी विस्तार से निरूपण किया है।^{४४} इस तरह आर्यकृष्ण ने शिवभूति के समक्ष वस्त्रपात्र की संयमोपकारिता का जो विस्तार से वर्णन किया था उसे जिनभद्रगणी ने विशेषावश्यकभाष्य में अभिलिखित किया है। यह दिगम्बरपरम्परा द्वारा वस्त्रपात्रादि को असंयमकारी कहे जाने की प्रतिक्रिया का फल है। इससे दिगम्बरमत की पूर्ववर्तिता सिद्ध होती है।

४२. वेउव्वेऽवायडे वाइए हीखड्ढे पज्जणणे चेव।

तेसिं अणुगहट्ठा लिंगुदयट्ठा य पट्ठो ओ॥ कल्पभाष्य।

(विशेषावश्यकभाष्य गा. २५७५-७९ की हेमचन्द्रसूरिकृत वृत्ति में उद्धृत।)

४३. “हीर्लज्जा संयमो वा।” (हेमचन्द्रसूरिकृत वृत्ति / विशेषावश्यकभाष्य / गा. २५५३-५७।

४४. विशेषावश्यकभाष्य / गा. २५७५-७९।

८

तीर्थकर इसके अपवाद

शिवभूति की तरफ से प्रश्न उठाया गया है कि यदि वस्त्रपात्रादि संयम के उपकारी हैं, तो जिनेन्द्र ने उन्हें ग्रहण क्यों नहीं किया? इसके उत्तर में गुरु आर्यकृष्ण की ओर से जिनभद्रगणी क्षमाश्रमण कहते हैं—

“जिनेन्द्र अनुपमधृति और अनुपम संहनन के धारी, छद्मावस्था में चतुर्जानी, अतिशयसत्त्वसम्पन्न, अच्छिद्रपाणि और जितसमस्तपरीषह होते हैं, अतः वस्त्रपात्ररहित होने पर भी उन्हें संयमविराधनादि दोष नहीं लगते। फलस्वरूप उनके लिए वस्त्र-पात्रादि उपकरण संयम के साधक नहीं हैं। अतः तीर्थकर वस्त्रपात्रादि ग्रहण नहीं करते। तथापि यह उपदेश देने के लिए कि तीर्थ (मोक्षमार्ग) सवस्त्र ही है, और सवस्त्र साधु ही मोक्षमार्ग में चिरकाल तक होंगे, वे एकवस्त्र लेकर घर से निकलते हैं। जब वह वस्त्र गिर जाता है, तब निर्वस्त्र होते हैं, सदा नहीं। इस तरह जिनेन्द्र भी सर्वथा अचेलक नहीं होते।” (विशे.भा./गा. २५८१-८३)।

९

तीर्थकरों की बराबरी करने का निषेध

शिवभूति कहता है कि जिनेन्द्र भी अचेल थे, इसलिए मैं भी अचेल ही रहूँगा, क्योंकि जैसा गुरु का लिंग होता है, वैसा ही शिष्य का भी होना चाहिए। श्वेतपटधारी या नग्न साधु बुद्ध का शिष्य नहीं कहला सकता।^{४५}

इसे आर्यकृष्ण अनुचित बतलाते हैं। वे कहते हैं—“यदि तीर्थकर के शिष्य होने के कारण उनका वेश तुम्हारे लिए प्रमाण है, तो उनका उपदेश भी तुम्हारे लिए प्रमाण होना चाहिए, क्योंकि गुरु के उपदेश का उल्लंघन करके शिष्य अभीष्ट की सिद्धि नहीं कर सकता। परमगुरु का उपदेश यह है कि जो निरुपम धृति और निरुपम संहनन आदि अतिशय से रहित है, उसे अचेलक कभी नहीं होना चाहिए।”

इस पर शिवभूति कहता है—“जैसे गुरु का उपदेश करणीय है, वैसे ही उनका वेष और चरित भी अवश्य आचरणीय हैं।”

आर्यकृष्ण कहते हैं—“यह अनुचित है, क्योंकि उनका उपदेश ही कार्यसाधक है। जैसे रोगी, वैद्य के उपदेश का पालन करने से ही रोग से मुक्त होता है, उसके

४५. जारिसियं गुरुलिंगं सीसेण वि तारिसेण होयव्वं।

न हि होइ बुद्धसीसो सेयवडो नग्गखवणो वा॥

(विशेषावश्यकभाष्य-गाथा २५८५ की हेमचन्द्रसूरिकृत वृत्ति में उद्धृत)।

वेश और चरित का अनुकरण करने से नहीं, वैसे ही जिनवैद्य के उपदेश का पालन करनेवाला ही कर्मरोग से मुक्त होता है, उनके वेष और चरित का अनुकरण करनेवाला नहीं। जिनेन्द्रवत् योग्यता न रहते हुए भी, जो उनके वेश और चरित का अनुकरण करता है, वह उन्माद आदि का ही पात्र बनता है।”

नग्नमुद्रा धारण कर तीर्थकरों की बराबरी करने का यह निषेध भी दिगम्बरत्व की पूर्ववर्तिता का प्रमाण है, क्योंकि दिगम्बरपरम्परा में ही तीर्थकरगृहीत मार्ग को अनुकरणीय मानकर प्रत्येक मुमुक्षु पुरुष के लिए दिगम्बरवेश अनिवार्यतः ग्राह्य बतलाया गया है।

१०

संयमसाधनभूत वस्त्रादि के मूच्छाहितुत्व का निषेध

दिगम्बरपरम्परा वस्त्रपात्रादि को संयम का साधन नहीं मानती, इसके विपरीत उन्हें मूच्छा का फल और मूच्छा का हेतु मानती है, क्योंकि वे परीषहपीड़ा के न सहे जा सकने के कारण देहसुख की इच्छा से ग्रहण किये जाते हैं। इसका खंडन करने के लिए सचेल स्थविरकल्प के एकान्त समर्थक आर्यकृष्ण वस्त्रपात्रादि को पहले संयम का साधन सिद्ध करने की चेष्टा करते हैं, पश्चात् संयमसाधनों के मूच्छाहितुत्व का निषेध करते हैं। यथा—

वत्थाइं तेण जं जं संजमसाहणमरागदोसस्स।

तं तमपरिग्गहो च्चिय परिग्गहो जं तदुवघाइं ॥ २५७४ ॥ विशेष.भा.।

अनुवाद—“रागद्वेषरहित जीव के वस्त्रादिरूप जो पदार्थ संयम के साधन हैं, वे परिग्रह नहीं हैं, अपितु जो संयम के उपघातक हैं, वे परिग्रह हैं।”

इसे वे देह और आहार के दृष्टान्त द्वारा सिद्ध करने का प्रयत्न करते हैं। वे कहते हैं—“यदि वस्त्रपात्रादि परद्रव्य होने से मूच्छा के हेतु हैं, तो देह और आहार भी परद्रव्य हैं, अतः उन्हें भी मूच्छा का हेतु मानना होगा। यदि तुम कहो कि देह और आहार मोक्ष के साधन होने से मोक्षबुद्धि से ग्रहण किये जाते हैं, अतः उनमें मूच्छा नहीं हो सकती, तो वस्त्रपात्रादि भी मोक्ष के साधन हैं, उन्हें मोक्षसाधन-बुद्धि से ग्रहण करने पर मूच्छा कैसे हो सकती है?”^{४६} अर्थात् वस्त्रपात्रादि संयम के साधन

४६. मुच्छाहेऊ गंथो जइ तो देहाइओ कहमगंथो।

मुच्छावओ कहं वा गंथो वत्थादसंगस्स ॥ २५६२ ॥

अह देहाऽऽहाराइसु न मोक्खसाहणमईए ते मुच्छा।

का मोक्खसाहणेसुं मुच्छा वत्थाइएसुं तो ॥ २५६३ ॥ विशेषावश्यकभाष्य।

होने से ग्रहण किये जाते हैं, अतः उनके ग्रहण से मूर्च्छा नहीं होती, इसलिए वे ग्रन्थ या परिग्रह नहीं हैं।

किन्तु वस्त्रपात्रादि का ग्रहण मूर्च्छा का ही फल है और गृहीत वस्त्रपात्रादि मूर्च्छा के जनक हैं, अतः ग्रन्थ हैं, यह आगे स्पष्ट किया जायेगा। यहाँ केवल यह द्रष्टव्य है कि शिवभूति के गुरु आर्यकृष्ण के द्वारा इस दिगम्बरमान्यता का खण्डन किया जाना कि वस्त्रादि का ग्रहण मूर्च्छा का हेतु है, दिगम्बरमत की पूर्ववर्तिता सिद्ध करता है।

११

कषायादि के हेतु होते हुए भी वस्त्रादि के ग्रन्थत्व का निषेध

शिवभूति दिगम्बरमत के अनुसार वस्त्रपात्रादि को कषाय, भय तथा रौद्रध्यान का हेतु बतलाकार उन्हें परित्याज्य कहता है।^{४७} गुरु आर्यकृष्ण शिवभूति पर आक्षेप करते हुए कहते हैं—“यदि वस्त्रपात्रादि कषाय के हेतु हैं, इसलिए परिग्रह होने से मुमुक्षु को उनका परित्याग कर देना चाहिए, तो तुम्हारा अपना शरीर भी अपने आत्मा के लिए कषाय का हेतु है, अतः वह भी परिग्रह होने से परित्याज्य सिद्ध होता है। अथवा यदि तुम मानते हो कि देह कषायहेतु होते हुए भी मोक्षसाधनबुद्धि से ग्रहण किये जाने पर ग्रन्थ नहीं है, तो वस्त्रपात्रादि भी कषायहेतु होते हुए भी मोक्षसाधनबुद्धि से ग्रहण किये जाने पर ग्रन्थ सिद्ध नहीं होते।” (विशे.भा./गा. २५५८-६१)।

“इसी प्रकार यदि वस्त्रपात्रादि चोरों से भय उत्पन्न करते हैं, तो देह भी सिंहादि हिंस्र पशुओं से भयोत्पत्ति का हेतु है। किन्तु भय का हेतु होते हुए भी यदि धर्मसाधन होने से देह ग्रन्थ नहीं है, तो वस्त्र भी धर्मसाधन होने से ग्रन्थ कैसे हो सकते हैं?” (विशे.भा./गा. २५६८-६९)।

“तथा चोर-डाकुओं से वस्त्रपात्रादि की रक्षा के लिए यदि संरक्षणानुबन्धी रौद्रध्यान उत्पन्न होता है, तो यह सिंह, व्याघ्र, सर्प आदि से देह की रक्षा के लिए भी उत्पन्न होता है। किन्तु ऐसा होते हुए भी यदि धर्मसाधन का अंग होने से देह का संरक्षणानुबन्धविधान प्रशस्त ही है, दोषजनक नहीं, तो धर्मसाधन होने से वस्त्रादि का भी संरक्षणानुबन्धविधान प्रशस्त ही सिद्ध होता है, दोषपूर्ण नहीं।” (विशे.भा./गा. २५७०-७१)।

इस दिगम्बरमत के खण्डन से भी दिगम्बरमत की पूर्ववर्तिता सिद्ध होती है।

४७. “परलोकार्थिना स एव निष्परिग्रहो जिनकल्पः कर्तव्यः, किं पुनरनेन कषायभयमूर्च्छादिदोष-निधिना परिग्रहानर्थेन?” हेमचन्द्रसूरिकृत वृत्ति/विशे.भा./गा. २५५१-५२।

स्वर्ण और युवती के ग्रन्थत्व का निषेध

दिगम्बरमत में हेतु-दृष्टान्त-न्याय से वस्त्रादि को ग्रन्थ सिद्ध किया गया है। यथा—‘वस्त्रादि ग्रन्थ हैं, क्योंकि वे मूर्च्छा के हेतु हैं, जैसे स्वर्ण आदि।’ इसका खण्डन करने के लिए आर्यकृष्ण या उनकी तरफ से श्री जिनभद्रगणी अन्य हेतु और दृष्टान्त से स्वर्ण और स्त्री को भी अग्रन्थ सिद्ध करते हैं। जैसे—‘स्वर्ण और धर्मान्तेवासिनी युवती मेरी है, क्योंकि वह मेरी देह के लिए उपकारी है, जैसे आहार।’ गणी जी का कथन है कि युवती का देहोपकारित्व तो स्पष्ट है, स्वर्ण इसलिए देहोपकारी है कि उससे विष का उपचार होता है। देखिये विशेषावश्यकभाष्य की यह गाथा—

आहारो व्व न गंधो देहत्थं विसघायणट्टाए।

कणगं पि तहा जुवई धम्मंतेवासिणी मे त्ति॥ २५७२॥^{४८}

जिनभद्रगणी जी का आशय यह है कि देह मोक्षसाधन का अंग है और आहार देह का उपकारी है, अतः वह भी मोक्ष का साधन है, इसलिए ये दोनों ग्रन्थ नहीं हैं। इसी प्रकार वस्त्र, पात्र, स्वर्ण, युवती आदि भी मोक्षसाधनभूत देह के उपकारी हैं, अतः ये भी मोक्षसाधन के अंग होने से परिग्रह नहीं हैं—“कनकयुवत्यादयोऽपि न ग्रन्थः, देहार्थत्वात्, आहारवदिति तात्पर्यम्।” (हेम.वृत्ति/विशे.भा./गा.२५७२)। यदि इनमें मूर्च्छा होगी तो परिग्रह कहलायेंगे। किन्तु मोक्षसाधनबुद्धि से ग्रहण करने पर इनमें मूर्च्छा होगी ही नहीं। इस आशय का प्रतिपादन उन्होंने विशेषावश्यकभाष्य की निम्न-लिखित गाथाओं में किया है—

तम्हा किमत्थि वत्थुं गंधोऽगंधो व सव्वहा लोए?

गंधोऽगंधो व मओ मुच्छममुच्छाहिं निच्छयओ॥ २५७३॥

वत्थाइं तेण जं जं संजमसाहणमराग-दोसस्स।

तं तमपरिगहो च्चिय परिगहो जं तदुवघाइं॥ २५७४॥

इन गाथाओं का अभिप्राय वृत्तिकार हेमचन्द्र सूरि ने निम्नलिखित शब्दों में उपन्यस्त किया है—

४८. “अपि च, यदि वस्त्रादिकं ग्रन्थः, मूर्च्छादिहेतुत्वात्, कनकादिवदिति हेतुदृष्टान्तोपन्यासमात्रेणैव वस्त्रादेर्ग्रन्थत्वं साधयति भवान्, तर्हि वयमपि तदुपन्यासमात्रेण कनकादेरप्यग्रन्थत्वं साधयामः। कथम् इत्याह --- कनकं तथा युवतिश्च धर्मान्तेवासिनी मे ममेति बुद्ध्या परिगृह्यतो न ग्रन्थ इति सम्बन्धः, एषा किल प्रतिज्ञा। कुतः? इत्याह—देहार्थमिति कृत्वा, अयं च हेतुः, देहार्थत्वात् देहप्रयोजनत्वात् देहोपकारित्वादित्यर्थः। ननु युवतेर्देहोपकारित्वं किल प्रतीतम्, कनकस्य तु तत् कथम्? इत्याह—‘विसघायणट्टाए त्ति, विषघातकत्वादित्यर्थः—आहारव-दिति दृष्टान्तः।’ हेमचन्द्रसूरिकृत वृत्ति/विशेषावश्यकभाष्य/गा.२५७२।

“तस्मात् किं नाम तद् वस्त्वस्ति लोके यदात्मस्वरूपेण सर्वथा ग्रन्थोऽग्रन्थो वा? नास्त्येवैतदित्यर्थः। ततश्च ‘मुच्छा परिग्रहो वुत्तो इइ वुत्तं महेसिणा’ इत्यादिवचनाद् यत्र वसु-देहाऽऽहार-कनकादौ मूर्च्छा सम्पद्यते तद् निश्चयतः परमार्थतो ग्रन्थः। यत्र तु सा नोपजायते तद्ग्रन्थ इति।” (हेम.वृत्ति / विशे.भा. / गा. २५७३-७४)।

अनुवाद—“लोक में ऐसी कौनसी वस्तु है, जो अपने-आप में सर्वथा ग्रन्थ या अग्रन्थ हो? अर्थात् कोई भी नहीं है। इसलिए ‘भगवान् ने मूर्च्छा को परिग्रह कहा है’ (दशवै.सू.) इस वचन के अनुसार जिन धन, देह, आहार, स्वर्ण आदि (‘आदि’ शब्द से युवती भी गृहीत है) में मूर्च्छा उत्पन्न होती है, वे परमार्थतः ग्रन्थ हैं, जिनमें नहीं होती, वे अग्रन्थ हैं।”

ग्रन्थ (परिग्रह) और अग्रन्थ (अपरिग्रह) की यह परिभाषा सोना-चाँदी, हीरे-मोती और स्त्री के संग को भी अपरिग्रह सिद्ध कर देती है, जो भगवान् के उपदेश के विरुद्ध है। आचारांग में सभी प्रकार के स्थूल-सूक्ष्म, चेतन-अचेतन बाह्य द्रव्य के संग को परिग्रह कहा गया है, यह पूर्व में निर्दिष्ट किया जा चुका है। और युवती का संग, उसकी देहोपकारिता तो ब्रह्मचर्य महाव्रत की उपघातक है। तब वह मोक्ष का साधन कैसे हो सकती है? वह तो नरक का साधन है। अतः वह मूर्च्छा का हेतु न हो, यह तो हो ही नहीं सकता। अतः उपर्युक्त हेतु और दृष्टान्त का प्रयोग कनक और युवती आदि को अग्रन्थ सिद्ध करने में सर्वथा असमर्थ है। निष्कर्ष यह कि उपर्युक्त हेतु-दृष्टान्तन्याय के अनुसार ‘मुच्छा परिग्रहो वुत्तो इइ वुत्तं महेसिणा’ (दशवैकालिक ६/२०) परिग्रह की यह परिभाषा भगवान् के उपदेश के बिलकुल विरुद्ध है। इसका विस्तृत विवेचन आगे किया जायेगा। यहाँ सिर्फ यह द्रष्टव्य है कि उपर्युक्त प्रकार से स्वर्ण, स्त्री आदि के ग्रन्थत्व का निषेध करके परिग्रह की दिगम्बरमान्य परिभाषा का खण्डन किया गया है, जिससे सिद्ध होता है कि दिगम्बरमत शिवभूति और आर्यकृष्ण के पूर्व से चला आ रहा है।

१३

परीषहजय के आगमप्रसिद्ध अर्थ का अपलाप

वस्त्रादि को संयम का साधन मान लेने पर परीषहजय की आगम-प्रतिपादित परिभाषा से विसंवाद होना स्वाभाविक था। शीत, उष्ण, दंशमशक आदि से उत्पन्न पीड़ाओं को समभाव से सहने का नाम परीषहजय है। यह तभी संभव है जब शरीर नग्न हो। आचारांग में भी कहा गया है—

“जो मुनि अचेल विचरण करता है, उसे तृणस्पर्श-परीषह पीड़ित करता है, शीतपरीषह त्रास देता है, उष्णपरीषह सन्ताप देता है, डाँस-मच्छर पीड़ा पहुँचाते हैं और एक या अनेक अनुकूल-प्रतिकूल परीषह आते हैं। उन्हें वह भली-भाँति सहन

करता है। इस प्रकार अचेल मुनि उपकरणों और कर्मों के भार से मुक्त हो जाता है।” (हिन्दी-अनुवाद / शीलांकाचार्यवृत्ति / आचा. / १/७/७ / २२०-२२१)।

भगवती-आराधना की ४२३वीं गाथा की टीका में अपराजित सूरि लिखते हैं—“परीषहसूत्रों (उत्तराध्ययन) में जो शीत, दंशमशक, तृणस्पर्श आदि की पीड़ाओं को सहन करने के वचन हैं, उनसे सिद्ध होता है कि साधु को अचेल (नग्न) रहने का ही उपदेश दिया गया है, क्योंकि सवस्त्र को शीतादि की पीड़ाएँ नहीं होतीं।”^{४९}

किन्तु वस्त्रादि को संयम का उपकारी मान लेने से अचेलत्व का निषेध हो जाता है, जिससे परीषहजय का उपदेश भी असंगत हो जाता है। अतः सवस्त्र रहते हुए भी परीषहजय के उपदेश की संगति बैठाने के लिए परवर्ती श्वेताम्बराचार्यों ने परीषहजय के अर्थ को ही बदल दिया। बोटिक शिवभूति जिनकल्प का पक्ष ग्रहण करते हुए कहता है कि आगम में मुनि को ‘जिताचेलपरीषह’ (नाग्न्यपरीषह को जीतनेवाला) कहा गया है, अतः अचेलत्व ही ग्राह्य है।^{५०}

इसके उत्तर में गुरु आर्यकृष्ण कहते हैं—“यह हम भी जानते हैं कि मुनि जिताचेल-परीषह होता है। किन्तु अचेलपरीषह को जीतने का अर्थ सर्वथा वस्त्रत्याग नहीं है, अपितु अनेषणीय दोष से युक्त वस्त्र के त्याग को अचेलपरीषह-जय कहते हैं। यदि वस्त्र के सर्वथा परित्याग को अचेलपरीषहजय माना जाय तो आहार के भी सर्वथा त्याग को क्षुधा-तृषापरीषहजय मानना होगा। पर ऐसा नहीं है, उद्गमादि दोषों से रहित शुद्ध एषणीय आहार-जल ग्रहण करने पर भी मुनि क्षुधा-तृषापरीषहों को जीतनेवाला कहलाता है। इसी प्रकार एषणीय वस्त्रों का उपयोग करते हुए भी केवल अनेषणीय वस्त्र का परिभोग न करनेवाला मुनि अचेल परीषहजयी कहलाता है।”^{५१}

४९. “इदं चाचेलताप्रसाधनपरं शीतदंशमशकतृणस्पर्शपरीषहसहनवचनं परीषहसूत्रेषु। न हि सचेलं शीतादयो बाधन्ते।” विजयोदयाटीका / भ.आ. / गा. ‘आचेलक्कु’ ४२३ / पृ. ३२६।

५०. जं च जियाचेलपरिसहो मुणी जं च तीहिं ठाणेहिं।

वत्थं धरिज्ज नेगंतओ तओऽचेलया सेया ॥ २५५७ ॥ विशेषावश्यकभाष्य।

अनुवाद—मुनि वही है, जो अचेलपरीषह को जीतता है और अचेल परीषह को वही जीतता है, जो वस्त्र त्याग देता है। तथा तीन स्थितियों में वस्त्र धारण करने की जो (श्वेताम्बरीय) आगम में अनुमति दी गई है, वह ऐकान्तिक नहीं है, अतः अचेलत्व ही श्रेयस्कर है।

५१. “तस्मादनेषणीययादिदोषदुष्टवस्त्रपरिभोगेणैवाजिताचेलपरीषहत्वं भवति।” हेम.वृत्ति / विशे.भा. / गा. २५९४-९७।

अनुवाद—इसलिए अनेषणीयादि दोषों से दूषित वस्त्र का परिभोग करने से ही मुनि परीषहों को न जीतनेवाला होता है।

यहाँ क्षुधातृषापरीषहजय के दृष्टान्त से अचेलपरीषहजय की व्याख्या उचित नहीं है। आहारत्याग का नाम क्षुधातृषापरीषहजय नहीं है, अपितु निर्दोष आहार न मिलने पर अयोग्य आहार ग्रहण न करना और अकाल में भिक्षा की इच्छा न करते हुए क्षुधातृषा की वेदना को समभाव से सहना क्षुधातृषापरीषहजय कहलाता है। (स.सि./ ९/९)। एषणीय आहार के ग्रहण से अनेषणीय आहार का त्याग अपने-आप हो जाता है, उस समय क्षुधावेदना होती ही नहीं है, तब क्षुधापरीषहजय के लिए अवकाश ही नहीं रहता। उसके लिए अवकाश तब रहता है, जब एषणीय आहार न मिले। इस स्थिति में क्षुधा की वेदना होती है और उसे सहने का अवसर मिलता है। अतः एषणीय आहार न मिलने पर अकाल में भिक्षा की इच्छा न करते हुए क्षुधा की वेदना को समभाव से सहना क्षुधातृषापरीषहजय है।

इस प्रकार क्षुधातृषापरीषहजय के लिए आहार का सर्वथा त्याग नहीं किया जाता, किन्तु नाग्न्यपरीषहजय तो नग्नता के बिना संभव ही नहीं है। जब मुनि नग्न रहता है, तब उसके लोकविरुद्ध एवं बीभत्स रूप को देखकर लोग उसकी निन्दा कर सकते हैं, उस पर उपसर्ग कर सकते हैं तथा मुनि को भी स्वयं लज्जा आ सकती है और मन में कामविकार उत्पन्न हुआ, तो शरीर में अभिव्यक्त होने से घोर अपमान का प्रसंग उपस्थित हो सकता है। अतः नग्न रहने पर उपस्थित होनेवाले लोकनिन्दा और उपसर्ग के प्रसंगों को धैर्यपूर्वक सहन करना तथा अपने नग्नरूप को देखकर लज्जित न होना और मन को काम से अभिभूत न होने देना नाग्न्यपरीषहजय है।

सार यह कि वस्त्रादि की संयमोपकारिता के साथ मेल बैठाने के लिए परीषहजय के आगमप्रसिद्ध अर्थ का जो यह अपलाप किया गया है, उसके अर्थ को बदला गया है, उससे दिगम्बरमत की पूर्ववर्तिता सिद्ध होती है, क्योंकि परीषहजय की उक्त परिभाषा दिगम्बरत्व के साथ ही मेल खाती है।

१४

‘यथाजातरूप’ का हास्यास्पद अर्थप्ररूपण

निर्ग्रन्थ मुनि के नग्न-स्वरूप की भ्रान्तिरहित प्रतीति कराने के लिए आचार्य कुन्दकुन्द ने ‘यथाजातरूप-रूप’ शब्द का प्रयोग किया है। उदाहरणार्थ—

जहजायरूवरूवं सुसंजयं सध्वसंगपरिचत्तं।

लिंगं ण परावेक्खं जो मण्णइ तस्स सम्मत्तं ॥ ९१ ॥ मोक्खपाहुड।

‘यथाजातरूप’ शब्द का अर्थ है माता के गर्भ से निकले हुए बालक का रूप—
—“यथाजातरूपं मातुर्गर्भनिर्गतबालकरूपम्” (श्रुतसागरटीका / मो.पा./ गा.९१)। अतः

जैसे माता के गर्भ से निकला हुआ शिशु सर्वथा नग्न होता है, वैसे ही निर्ग्रन्थमुनि सर्वथा नग्न होते हैं। अर्थात् उनके शरीर के किसी भी अंग पर वस्त्र का सद्भाव नहीं होता। वैदिकपरम्परा के 'परमहंसपरिव्राजकोपनिषद्' में भी बतलाया गया है कि कौपीन आदि समस्त परिग्रह का परित्याग कर देने पर यथाजातरूपसदृश रूप प्रकट होता है—“कटिसूत्रं कौपीनं दण्डं कमण्डलुं सर्वमप्यु विसृज्याथ जातरूपधरश्चरेत्।” (ईशाद्यष्टोत्तरशतोपनिषद्/ पृ.४१९)।

किन्तु श्वेताम्बरमुनि श्री कल्याणविजय जी ने व्याकरण, शब्दकोश, शास्त्रप्रमाण और लोकप्रमाण, सबको टुकराकर 'यथाजातरूप' शब्द का मनमाना अर्थ करते हुए लिखा है कि “जैनश्रमण का यथाजातरूप मुखवस्त्रिका, रजोहरण, चोलपट्टक मात्र माना गया है।” (मानव-भोज्य-मीमांसा / पृ.४९२)।

संस्कृतभाषा का थोड़ा सा भी ज्ञान रखनेवाले मनुष्य को मुनि जी के इस अर्थ निरूपण पर हँसी आये बिना नहीं रहेगी, क्योंकि कोई भी बालक शरीर पर मुखवस्त्रिका, रजोहरण और चोलपट्टक धारण किये हुए माता के गर्भ से नहीं निकलता, अतः मुनि जी का इन उपकरणों से युक्त शरीर को जैन श्रमण का यथाजातरूप बतलाना विचित्र प्रतीत होगा। तथा इसे यथाजातरूप मानने पर तीर्थकरों को भी मुखवस्त्रिका, रजोहरण और चोलपट्टक धारण करनेवाला मानना होगा, क्योंकि वे भी यथाजातरूपधर कहे गये हैं। किन्तु मनुष्य न तो मुखवस्त्रिका आदि धारण किये हुए जन्म लेता है, न ही तीर्थकर इन्हें धारण करते हैं। अतः 'यथाजातरूप' का उपर्युक्त अर्थप्ररूपण प्रत्यक्ष प्रमाण के विरुद्ध होने से हास्यास्पद है।

यथाजातरूप शब्द का प्रयोग अपने सम्प्रदाय के सचेल मुनि पर घटाने की लालसा से मुनि जी के द्वारा किया गया यह हास्यास्पद प्रयास सिद्ध करता है कि साधु का यथाजातरूप (सर्वथा निर्वस्त्र रूप) ही तीर्थकरोपदिष्ट है, इसीलिए वह इतना पूज्य और आकर्षक है कि मुनि श्री कल्याणविजय जी जैसे श्वेताम्बर दार्शनिक अपने सम्प्रदाय के सचेल मुनियों को यथाजातरूपधर नाम से प्रसिद्ध करने का लोभ संवरण न कर सके। यथाजातरूप की तीर्थकरोपदिष्टता एवं श्वेताम्बरमुनियों के लिए भी उक्त नाम की स्पृहणीयता इस बात का प्रमाण है कि यथाजातरूपधर दिगम्बरमुनियों की परम्परा तीर्थकरों-जितनी ही प्राचीन है।



तृतीय प्रकरण

वस्त्रादि संयम के साधक नहीं, घातक

श्वेताम्बर आचार्यों ने वस्त्रादि के मूर्च्छाहेतुत्व एवं ग्रन्थत्व का निषेध इस आधार पर किया है कि वे संयम के साधन हैं। उनके अनुसार जो संयम का साधन होता है, वह मूर्च्छा का हेतु नहीं होता, इसलिए ग्रन्थ भी नहीं होता। किन्तु निम्नलिखित कारणों से सिद्ध होता है कि वस्त्रादि संयम के साधन नहीं हैं—

१

वस्त्रादिग्रहण देहसुखसाधनार्थ

श्वेताम्बरसाहित्य में तीन प्रयोजनों से वस्त्रग्रहण करने की छूट दी गई है—१. लिंगविकृति-आच्छादनार्थ, २. कामविकार-निगूहनार्थ और ३. परीषहपीड़ा-निवारणार्थ। परीषह-पीड़ा के निवारण का अर्थ है देहसुख की प्राप्ति, क्योंकि शीतादिपरीषह उत्पन्न होने पर देह को जो प्रतिकूलवेदन होता है वह दुःख है और वस्त्रादि के उपयोग से प्रतिकूलवेदन की निवृत्ति होने पर जो अनुकूलवेदन होता है वह सुख है। कहा भी गया है—“प्रतिकूलवेदनीयं दुःखं, अनुकूलवेदनीयं सुखम्।”

प्रवचनपरीक्षाकार ने भी वस्त्रों को शीत, आतप, वात, दंशमशक आदि से उत्पन्न बाधाओं की चिकित्सा करनेवाली औषधि बतलाया है,^{५२} जिससे ध्वनित होता है कि वस्त्र प्रतिकूल वेदनीयरूप दुःख के निवारक होने से अनुकूलवेदनीयरूप सुख के साधक हैं।

भगवती-आराधना में (जिसे पं० नाथूराम जी आदि विद्वानों ने यापनीयग्रन्थ मानने की भूल की है) कहा गया है—“शरीर इन्द्रियमय है। इन्द्रियमय शरीर के सुख के लिए ही वस्त्रादि ग्रहण किये जाते हैं। अतः जो वस्त्रग्रहण करता है, उसके भीतर इन्द्रियसुख की आकांक्षा है, यह सिद्ध होता है।”^{५३}

भगवती-आराधना के टीकाकार अपराजित सूरि इसे स्पष्ट करते हुए लिखते हैं—“वस्त्र, चादर आदि इन्द्रियसुख के लिए ही ग्रहण किये जाते हैं, क्योंकि उनसे हवा, धूप आदि अनिष्ट स्पर्श का निरोध होता है।”^{५४}

५२. “शीतातपवातदंशमशकदिबाधितस्य शरीरस्य तच्चिकित्सामात्रोपयोगिनि वस्त्रे ---।”

प्रवचन-परीक्षा / वृत्ति / १/२/२८/पृ.८९।

५३. इन्द्रियमयं शरीरं गन्धं गेण्ददि य देहसुखत्वं।

इन्द्रियसुहाभिलासो गन्धगहणेण तो सिद्धो ॥ ११५७ ॥ भगवती-आराधना।

५४. “परिग्रहं च चेलप्रावरणादिकमिन्द्रियसुखार्थमेव गृह्णाति, वातातपाद्यनभिमतस्पर्शनिषेधाय।”

विजयोदयाटीका / भगवती-आराधना / गा.११५७।

सार यह कि देहदुःख की निवृत्ति और देहसुख की प्राप्ति के लिए वस्त्रादि परद्रव्य ग्रहण किये जाते हैं, अतः वस्त्रादिद्रव्य देहसुख के साधन हैं, संयम के नहीं। संयम की साधना तो वस्त्रादि परद्रव्य के उपभोग की निवृत्ति से होती है। इस प्रकार वस्त्रादि-परिग्रह का उपभोग इन्द्रिय-असंयम का कारण है और उसके उपार्जन तथा रक्षण के लिए मनुष्य विभिन्न प्रकार के हिंसादि पाप करता है, इसलिए प्राणि-असंयम का भी कारण है।

दशधर्मों के अन्तर्गत संयमधर्म की विवेचना करते हुए माननीय पं० सुखलालजी संघवी लिखते हैं—“संयम के सत्रह प्रकार हैं, जो भिन्न-भिन्न रूप में हैं : पाँच इन्द्रियों का निग्रह, पाँच अन्नतों का त्याग, चार कषायों का जय, तथा मन, वचन और काय की विरति। इसी प्रकार पाँच स्थावर और चार त्रस ये नौ संयम तथा प्रेक्ष्यसंयम, उपेक्ष्यसंयम, अपहृत्यसंयम, प्रमृज्यसंयम, कायसंयम, वाक्संयम, मनःसंयम और उपकरणसंयम, इस तरह कुल सत्रह प्रकार का संयम है।” (त.सू./वि.स/पा.टि.९/६,पृ.२१०)।

यहाँ संयम के सत्रह प्रकारों में पंचेन्द्रियनिग्रह सर्वप्रथम रखा गया है। इससे सिद्ध होता है कि पंचेन्द्रियनिग्रह संयम की बुनियाद है। पंचेन्द्रियनिग्रह तभी होता है, जब इन्द्रियाँ परीषहों से पीड़ित हों और पीड़ा से निवृत्ति के लिए जिस इष्ट विषय की अपेक्षा हो, उसकी इच्छा भी मन में न आने दी जाय और पीड़ा को समभाव से सह लिया जाय। इस तरह जब स्पर्शन इन्द्रिय को शीतादिजन्य पीड़ा हो रही हो, तब वस्त्रादि का परिभोग न करते हुए शीतादि की पीड़ा को धैर्यपूर्वक सहने से ही स्पर्शनेन्द्रिय का निग्रह होता है। यदि इस समय वस्त्रादि का परिभोग कर लिया जाय, तो इन्द्रियनिग्रह न होकर इन्द्रिय-अनुग्रह हो जायेगा जो असंयम है। अभिप्राय यह कि परीषहपीड़ा की स्थिति में पीड़ानिवारक विषय का परिभोग न करने से ही इन्द्रियनिग्रहरूप संयम फलित होता है। आचारांग में भी कहा गया है कि तीन वस्त्रों में से क्रमशः एक-एक का त्याग करते हुए जब अन्तिम वस्त्र का भी त्याग कर दिया जाता है और साधु अचेल हो जाता है, तब कायक्लेश होने से तप की सिद्धि होती है।^{५५}

यह कहना युक्तिसंगत नहीं है कि यदि साधु वस्त्रधारण नहीं करेगा तो अग्नि जलाकर शीतादिपरीषहजन्य पीड़ा को दूर करने का प्रयत्न करेगा, जिससे जीवहिंसा

५५. क— “अदुवा संतरुत्तरे, अदुवा ओमचेले, अदुवा एगसाडे, अदुवा अचेले, लाषवियं आगममाणे तवे से अभिसमन्नागए भवइ।” आचारांग/१/७/४/२०९-२१०।

ख— “वस्त्रपरित्यागं कुर्वतः साधोस्तपोऽभिसमन्वागतं भवति, कायक्लेशस्य तपोभेदत्वात्।” शीलांकाचार्य-वृत्ति/आचारांग १/७/४/२१०।

होने पर महान् असंयम होगा। युक्तिसंगत इसलिए नहीं है कि ठंड की पीड़ा मिटाने के लिए अग्नि के ताप का भी उपभोग इन्द्रियविषय का उपभोग है, जो इन्द्रियनिग्रह के विरुद्ध है, असंयम है। अतः संयम की सिद्धि के लिए अग्नि के ताप का सेवन भी निषिद्ध है। फलस्वरूप संयमी साधु वस्त्रों के अभाव में अग्नि के ताप का भी उपभोग नहीं कर सकता, जिससे अचेलावस्था में जीवहिंसारूप असंयम की आशंका के लिए स्थान नहीं है। यदि करता है, तो मुनिधर्म की मर्यादा का उल्लंघन करने से मुनि ही नहीं रहता। अग्नि-तापोपभोग-रूप असंयम से बचने के लिए वस्त्रादि-उपभोगरूप असंयम की अनुमति तो मोक्षमार्ग में संभव ही नहीं है, क्योंकि दोनों ही कर्मबन्ध के कारण हैं।

और जैसे अग्नितापसेवन के लिए प्रज्वलित की गई अग्नि हिंसा का कारण है, वैसे ही वस्त्रधारण भी हिंसा का कारण है। 'भगवती-आराधना' में कहा गया है—

“वस्त्रादि-परिग्रह में नाना प्रकार के सम्मूर्च्छन जीव उत्पन्न हो जाते हैं। बाहर से भी आकर जूँ, चींटी, खटमल बगैरह बस जाते हैं।” (भ.आ./गा. 'चेलादीया' ११५२)।

“वस्त्रादि-परिग्रह के ग्रहण करने, रखने, संस्कार करने, बाहर ले जाने, बन्धन खोलने, फाड़ने, झाड़ने, छेदने, बाँधने, ढाँकने, सुखाने, धोने, मलने आदि से जीवों का घात होता है।” (भ.आ./गा. 'आदाणे णिक्खेवे' तथा 'छेदणबंधण'/११५३-५४)।

“यदि वस्त्रादि-परिग्रह से जन्तुओं को अलग किया जाय, तब भी वे ही दोष लगते हैं, क्योंकि उन जन्तुओं को दूर करने पर उनका योनिस्थान (उत्पत्तिस्थान) छूट जाता है और इससे उनका मरण हो जाता है।” (भ.आ./गा. 'जदि वि' ११५५)।

श्वेताम्बरीय ग्रन्थ पिण्डनिर्युक्ति में भी वस्त्रों के उपयोग को हिंसा का कारण बतलाया गया है। कहा गया है कि चीवर धोने में जीवों की हिंसा होती है, अतः वर्षाकाल के पहले ही धो लेना चाहिए। वर्षाकाल के पहले न धोने पर भी अनेक दोष होते हैं। उनमें मैल जमा हो जाता है और वर्षाकाल में जब शीतल कणों का स्पर्श होता है, तब मैल के गीले होने से उसमें 'पनक' नाम के वनस्पति प्रचुररूप से उत्पन्न हो जाते हैं, जिनका घात होने से हिंसा होती है। (मलयगिरिवृत्ति/पिण्डनिर्युक्ति / गा. २३, २५)।

आगे कहा गया है कि पहनने, ओढ़ने और बिछाने के वस्त्रों में षट्पदिकाएँ (जूँ) उत्पन्न हो जाती हैं। उन्हें यत्न से दूसरे वस्त्र में संक्रमित करने के बाद ही वस्त्र धोने चाहिए। (वही/गा. २८)। वस्त्रों को पछाड़कर या कूटकर नहीं धोना चाहिए। धोकर अग्नि के ताप में नहीं सुखाना चाहिये, अन्यथा अग्नि में जल की बूँद गिरने

पर अग्निकाय जीवों की विराधना होती है। वस्त्रों को शोधकर धोना चाहिए। शोधन करने के बाद भी वस्त्रों में कुछ षट्पदिकाएँ रह जाती हैं, जिनका धोते समय मर्दन हो जाता है। फिर भी यदि जीवित बच जाती हैं, तो सूर्य के ताप से मर जाती हैं। अतः उनकी रक्षा के लिए वस्त्रों को छाया में सुखाना चाहिए। छाया या धूप में सूखने के लिए डाले गये वस्त्रों को निरन्तर देखते रहना चाहिये, ताकि चोर न ले जायँ। वस्त्र धोने में इतनी सावधानी बरतने के बाद भी वायुकायिकादि जीवों की विराधना-रूप अथवा जूँ-घातरूप असंयम भी होता ही है। उसकी शुद्धि के लिए प्रायश्चित्त किया जाता है। (वही/गा. ३४)।

इस तरह श्वेताम्बरीय ग्रन्थों से भी सिद्ध है कि वस्त्र असंयम के कारण हैं। उनके पहनने-ओढ़ने, धोने-सुखाने से त्रस और स्थावर जीवों का घात होता है और चोरी का भी भय रहता है, अतः अहिंसा और अपरिग्रह महाव्रतों का घातक होने से वस्त्रपरिभोग संयम का साधन नहीं, अपितु असंयम का साधन है।

दशवैकालिकसूत्र में पात्र को संयम का साधक कहा गया है, वस्त्र को नहीं। वस्त्र को केवल लज्जा का रक्षक बतलाया गया है। यथा—

जंपि वत्थं व पायं वा कंबलं पायपुंछणं।

तंपि संजमलज्जट्टा धारंति परिहरंति अ॥ ६/१९॥

इसकी व्याख्या करते हुए हरिभद्र सूरि कहते हैं—“संयम के लिए पात्रादि ग्रहण किये जाते हैं, क्योंकि उनके बिना संयम का पालन संभव नहीं है। और लज्जा की रक्षा के लिए वस्त्र ग्रहण किया जाता है, क्योंकि उसके बिना स्त्रियों की उपस्थिति में विशिष्ट श्रुतपरिणति आदि से रहित साधु में निर्लज्जता की उत्पत्ति हो सकती है।”^{५६} निर्लज्जता की उत्पत्ति का अर्थ है स्त्रियों को देखकर कामविकार उत्पन्न होने पर लिंगोत्थान हो जाना।^{५७} और लज्जा का अर्थ है वस्त्र द्वारा उसे छिपाना। इस प्रकार दशवैकालिक के अनुसार वस्त्र संयम के उपकारी नहीं है। किन्तु हरिभद्रसूरि ने लज्जा को ही संयम घोषित करके वस्त्र को भी संयम का साधक सिद्ध कर दिया,^{५८} जो युक्तिसंगत नहीं है। वस्त्र कामविकार को छिपाता है, रोकता नहीं। कामविकार को छिपाकर वह साधु को निर्लज्जता से निर्भय बना देता है, जिससे साधु को निःशंक

५६. “संयमलज्जार्थमिति” संयमार्थं पात्रादि, तद्व्यतिरेकेण पुरुषमात्रेण गृहस्थभाजने सति संयम-पालनाभावात्। लज्जार्थं वस्त्रं, तद्व्यतिरेकेणाङ्गनादौ विशिष्टश्रुतपरिणत्यादिरहितस्य निर्लज्ज-तोपपत्तेः।” हरिभद्रवृत्ति / दशवैकालिकसूत्र ६/१९।

५७. हेमचन्द्रसूरिकृत वृत्ति / विशेषावश्यकभाष्य / गा. २५७५-७९।

५८. “अथवा संयम एव लज्जा तदर्थं सर्वमेतद् वस्त्रादि धारयन्ति।” हरि.वृत्ति / दश.वै.सू. ६/ १९।

होकर मानसिक कामसेवन का अवसर मिल जाता है। इसलिए वह संयम का साधक न होकर असंयम की उत्पत्ति में सहायक होता है। भट्ट अकलंक देव ने कहा है कि जो कामविकारजन्य अंगविकृति को छिपाने के लिए कौपीन, फलक या चीवर धारण करते हैं, उनके केवल अंग का संवरण होता है, कर्मों का नहीं।^{५९} अर्थात् वस्त्रधारण मानसिक कामविकार के निरोध में असमर्थ होने के कारण तज्जन्य अशुभ कर्म के संवर में समर्थ नहीं है। अतः वस्त्रधारण संयम का साधक नहीं है, अपितु विघातक है। जो मुनि होते हुए कामविकार से ग्रस्त हो जाते हैं, उन्हें वस्त्रग्रहण कर उसे छिपाने की आवश्यकता नहीं है, अपितु मुनि पद त्यागने की आवश्यकता है। तथा जो यह कहा गया है कि शीतादिपरीषह से पीड़ित साधु समितियों का पालन नहीं कर सकता, वह भी युक्तिसंगत नहीं है, क्योंकि शीतादिपरीषह सहन करना साधु का धर्म है, और उसमें अभ्यस्त साधु समितियों का पालन सम्यग्रूपेण कर सकता है। यह पूर्व में दर्शाया जा चुका है कि हीनसंहननवाला साधु भी परीषहसहन करने में समर्थ होता है। फिर भी यदि यह माना जाय कि वर्तमान में उत्तम संहनन न होने से परीषहजय संभव नहीं है, अतः वस्त्रपरिभोग अनिवार्य है, तो यह भी मानना होगा कि देहसुख के लिए वस्त्ररूप इन्द्रियविषय का परिभोग असंयम है, अतः उससे कर्मबन्ध भी अनिवार्य है। परिणामतः वस्त्रपरिग्रह मोक्ष का मार्ग नहीं है, अपितु संसार का ही मार्ग है। इसलिए जो परीषह सहने में असमर्थ हैं, उन्हें श्रावकधर्म का पालन करते हुए उत्तमसंहनन पाने की प्रतीक्षा करनी चाहिए।

इस तरह सिद्ध है कि वस्त्र संयम के साधक नहीं हैं, अपितु उपघातक हैं, अतः यह कथन मिथ्या सिद्ध हो जाता है कि संयमसाधक होने से वस्त्रधारण परिग्रह नहीं है। भिक्षापात्र भी संयम के लिए आवश्यक नहीं है, क्योंकि सुरचित पाणिपात्र में भी थोड़ा-थोड़ा दुग्धादि तरल पदार्थ ग्रहण करते हुए यत्नाचार पूर्वक सेवन करने से दुग्धादि की बूँदें भूमि पर नहीं गिर पातीं। थोड़ी बहुत गिरती भी हैं, तो मुनि के आहार-स्थान में श्रावक के द्वारा नीचे रखे गये वस्त्र से ढँके हुए चौड़े मुँहवाले वर्तन में गिरती हैं, जिससे भूमिगत सूक्ष्म जीवों के घात का अवकाश नहीं होता। तथा सुरचित पाणिपात्र में दुग्धादि द्रव पदार्थ परिमित मात्रा में ग्रहण किया जाता है, जिससे उसके स्रवित होने की संभावना नहीं रहती, और उसका अच्छी तरह निरीक्षण करना संभव होता है, इस तरह जीवघात के लिए स्थान नहीं रहता। तथा रुग्ण साधुओं को आहारदान करने हेतु अन्य मुनि श्रावकों को संकेत कर देते हैं, जिससे वे स्वयं मुनि की वसतिका में आहार लेकर उपस्थित हो जाते हैं और मुनि को उनके ही

५९. "इतरे पुनर्मनोविक्रियां निरोद्धमसमर्थास्तत्पूर्विकाङ्गविकृतिं निगूहितकामाः कौपीनफलकची-
वराद्यावरणमातिष्ठन्ते अङ्गसंवरणार्थमेव तन्न कर्मसंवरणकारणम्।" तत्त्वार्थराजवार्तिक/९/९।

पाणिपात्र में आहारदान करते हैं। अतः इस प्रयोजन से भी मुनियों को पात्र रखने की आवश्यकता नहीं होती। फिर भी यदि पात्र रखा जाता है, तो उसका प्रयोजन यत्नाचार के कष्ट से बचना ही होता है, अतः वह देहसुख का साधन है, संयम का नहीं।

२

संयमध्यानादि की सिद्धि परीषहजय से

• वस्त्रपरिभोग के समर्थन में यह तर्क दिया गया है कि शीतादिपरीषह उत्पन्न होने पर उससे आर्त्तध्यान का निवारण होता है, जिससे अग्निप्रज्वलन की आवश्यकता न रहने से अहिंसा-संयम का पालन होता है तथा ध्यान और अध्ययन की साधना निर्विघ्न सम्पन्न होती है।^{६०} जैसे क्षुधादिपीड़ित शरीर संयम का साधक नहीं होता, वैसे ही शीत, आतप, दंशमशक आदि से पीड़ित शरीर भी संयम का साधक नहीं है। अतः जैसे क्षुधादि की पीड़ा का निवारण करने के लिए आहार ग्रहण किया जाता है, वैसे ही शीतादि की पीड़ा का निरोध करने के लिए वस्त्रग्रहण आवश्यक है।^{६१}

यह तर्क अत्यन्त अनर्थकर है। इससे स्त्रीसेवन और अनंगक्रीड़ा का भी औचित्य सिद्ध होता है। यदि शीतादि-पीड़ित शरीर संयम, ध्यान, अध्ययन आदि में बाधक है, अत एव वस्त्र के उपयोग से शीतादि की पीड़ा का निवारण आवश्यक है, तो काम से पीड़ित शरीर भी संयम, ध्यान, अध्ययन आदि में बाधक होता है और थोड़ा नहीं, सर्वाधिक बाधक होता है, अतः कामपीड़ा के निवारण के लिए भी स्त्रीसेवन या अनंगक्रीड़ा की आवश्यकता सिद्ध होती है। और स्त्रीदर्शन से साधु के कामविकारग्रस्त हो जाने की संभावना प्रकट की ही गयी है, जिसे छिपाने के लिए वस्त्रग्रहण प्रधानतया आवश्यक बतलाया गया है। वस्त्र द्वारा कामविकार को छिपाने से वह शान्त नहीं

६०. "सौत्रिकौर्णिककल्पैस्तावत् शीतार्तानां त्राणं साधूनामार्तध्यानापहरणं क्रियते।--- कल्पाः प्रावृताः सन्तो निर्विघ्नं स्वाध्यायध्यानसाधनं कुर्वन्ति शीतार्तपहरणादिति।" हेमचन्द्रसूरिकृत वृत्ति / विशेषावश्यकभाष्य / गा. २५७५-७९।

६१. क—“यथा तवेष्टसंयमहेतुशरीरस्य स्थितिहेतवे अशनादिकं गृह्यते तर्हि तादृक्शरीरपरिपालननिमित्तेन वस्त्रादिना किमपराद्धम्? तस्माद्यथा क्षुधादिपीडितं शरीरं न संयमहेतुस्तथा शीतातपदंशमश-कादिपीडितमपीति बोध्यम्।” प्रवचनपरीक्षा / वृत्ति / १/२/२९ / पृ. ९१।

ख—“वस्त्रैः शीतोष्णकालादिषु शीतातपदंशमशकैर्या पीडा तथा रहितस्य सद्धानं धर्मशुक्ललक्षणं स्यात्। वस्त्राभावे च क्षुधाद्यनाकुलस्यापि दुर्ध्यानम् अग्निवृत्त्यादिसेवाभिप्रायेण दुर्ध्यानं, तत्सेवने चासंयमः स्यात्।” प्रवचनपरीक्षा / वृत्ति १/२/३०/पृ. ९१।

हो सकता। और साधु जब तक कामार्त है, तब तक उसके मन का ध्यान-अध्ययन में लगना असंभव है। शीतादि की पीड़ा तो ऋतुविशेष में ही होती है, कामपीड़ा तो कभी भी हो सकती है। अतः कामपीड़ा से पीड़ित होने के अवसर प्रचुर हैं। फलस्वरूप कामपीड़ा से ही ध्यान-अध्ययन में विघ्न के सर्वाधिक अवसरों के उपस्थित होने की संभावना रहती है। तब क्या ध्यान-अध्ययन को संभव बनाने के लिए कामपीड़ा-निवारण हेतु स्त्रीसेवन या अनंगक्रीडा करना उचित है? यदि नहीं, तो कामपीड़ा के निवारण का अन्य क्या उपाय है? धर्म का थोड़ा भी ज्ञान रखनेवाला व्यक्ति कामविजय के अतिरिक्त और कौनसा उपाय बतला सकता है? आगम में यही उपाय बतलाया गया है। मुमुक्षु को सर्वप्रथम सम्यग्दर्शन और वैराग्यपूर्वक श्रावक की ग्यारह प्रतिमाओं का क्रमशः अवलम्बन करते हुए कामपरीषह को सहने का अभ्यास करना चाहिए। अभ्यास हो जाने पर ही दैगम्बरी दीक्षा ग्रहण करना उचित है, अन्यथा नहीं। दैगम्बरी दीक्षा ग्रहण करने के बाद यदि कभी कामपरीषह होता है, तो उसके दोषों का चिन्तन करते हुए उस पर विजय प्राप्त करनी चाहिए। यही ब्रह्मचर्य-महाव्रतरूप संयम का पालन है।

इसी प्रकार आहार में अन्तराय आदि हो जाने पर जो क्षुधातृषापरीषह की पीड़ा होती है तथा शीतादिऋतु में शीत, दंशमशक आदि परीषहों का क्लेश होता है, उसे भी धैर्यपूर्वक सहन कर परीषहजय करना आवश्यक है। परीषहजय ही संयम है। वही ध्यान है, क्योंकि परीषहजय में शीतादि अनिष्ट वस्तु से द्वेष न रहने के कारण समभाव की सृष्टि होती है, जो ध्यान का स्वरूप है। अतः वही निर्जरा का उपाय है। परीषहपीड़ा को धैर्यपूर्वक सहन न कर अशन-वस्त्रादि के उपभोग द्वारा शान्त कर लेने से विषयभोगरूप असंयम की उत्पत्ति होती है, जो कर्मबन्ध का कारण है।

तथा परीषहजय का अभ्यास हो जाने पर ध्यान-अध्ययन भी निर्विघ्न सम्पन्न होते हैं। इसके विपरीत जिसका ध्यान-अध्ययन वस्त्रादिपरद्रव्य के उपभोग पर आश्रित है, उसका अधिकांश समय वस्त्रादि की व्यवस्था में ही लग जाता है, जिससे स्वाध्याय, ध्यान के लिए अवसर ही नहीं रहता। 'भगवती-आराधना' में कहा गया है कि "परिग्रह के ग्रहण, रक्षण और सार-सम्हाल में सदा लगे रहने वाले पुरुष का मन उसी में व्याकुल रहता है, तब स्वाध्याय छूट जाने से शुभध्यान कैसे हो सकता है?"^{६२}

परिग्रहजन्य आकुलताओं को स्पष्ट करते हुए टीकाकार अपराजित सूरि लिखते हैं—“इष्ट परिग्रह को खोजने में कष्ट होता है। वह मिल भी जाय, तो उसके स्वामी

६२. गंधस्स गहण-रक्खण-सारवणाणि णियदं करेमाणो।

विक्खित्तमणो ज्झाणं उवेदि कह मुक्कसज्झाओ ॥ ११५८ ॥ भगवती-आराधना।

को दूँदने में कष्ट होता है। स्वामी मिल जाय, तो उससे याचना करनी पड़ती है। याचना करने पर मिल जाय, तो सन्तोष होता है, न मिले तो मन में दीनता का भाव आता है। मिलने पर उसको लाना, उसका संस्कार करना, उसकी रक्षा करना, इत्यादि कार्यों के कष्ट उठाने पड़ते हैं। इस तरह परिग्रह अनेक आकुलताओं का घर है। परिग्रह का त्यागकर निर्ग्रन्थ बन जाने पर ये आकुलताएँ नहीं रहतीं। फलस्वरूप साधु के ध्यान और स्वाध्याय निर्विघ्न चलते हैं। इस तरह समस्त तपों में ध्यान और स्वाध्याय प्रमुख हैं और परिग्रह का त्याग उनका उपाय है।”^{६३}

‘पिण्डनिर्युक्ति’ में कहा गया है कि वस्त्रों को धोकर छाया में सूखने के लिए डालना चाहिए और इस बात का ध्यान रखना चाहिए की चोर चुराकर न ले जायँ। अब बताइये, जिसका मन वस्त्रों को चोरों से बचाने की चिन्ता में लगा हुआ हो, वह ध्यान में एकाग्र कैसे हो सकता है?

निष्कर्ष यह कि ध्यान और अध्ययन भी वस्त्रादि की पराधीनता से मुक्त होने पर ही संभव हैं। और वस्त्रादि की अधीनता से मुक्ति परीषहजय के अभ्यास से संभव है। तथा जब साधु काम जैसे दुर्निवार परीषह को सहन करने में समर्थ हो सकता है, तब शीतादिपरीषहों की पीड़ा तो उसके सामने बहुत तुच्छ है। कामजयी के लिए शीतादिजय बायें हाथ का खेल है। जो परीषहजय में समर्थ नहीं है, वह ध्यान में भी समर्थ नहीं हो सकता, क्योंकि वस्त्रादि धारण करते हुए भी कोई अन्य वेदना उपस्थित हो जाने पर उसके मन का तुरन्त ध्यान से विचलित हो जाना अवश्यंभावी है। यह पहले ही बतला दिया गया है कि हीन संहननों के होने पर भी आठवें गुणस्थान के नीचे धर्मध्यान संभव है,^{६४} जिससे सिद्ध होता है कि हीनसंहननवाला भी परीषहजय कर सकता है।

इस तरह सिद्ध है कि संयम, ध्यान, स्वाध्याय आदि की सिद्धि परीषहजय से ही संभव है, वस्त्रादि के परिभोग द्वारा परीषहपीड़ा का निवारण करने से नहीं।

३

वस्त्रादिग्रहण इष्टराग-अनिष्टद्वेष का फल

मनुष्य वस्त्रादि-परद्रव्य का ग्रहण तभी करता है, जब उसे शीतादिपरीषहों से द्वेष और उनका निवारण करनेवाले वस्त्रादिपदार्थों से राग होता है। अतः वस्त्रादि का

६३. हिन्दी अनुवाद-विजयोदयाटीका / भ. आ. / गा. ‘संगपरिमग्गणादी’ ११६७।

६४. “अपूर्वगुणस्थानादधस्तनेषु गुणस्थानेषु धर्मध्यानं तच्चादिमत्रिकोत्तमसंहननाभावेऽप्यन्ति-
मत्रिकसंहननेनापि भवति।” ब्रह्मदेववृत्ति / बृहद्द्रव्यसंग्रह / गा. ५७।

ग्रहण रागद्वेष का फल है। और जहाँ इष्ट से राग और अनिष्ट से द्वेष है, वहाँ समभावरूप ध्यान की उत्पत्ति कैसे हो सकती है? ज्ञानार्णवकार कहते हैं—

साम्यमेव परं ध्यानं प्रणीतं विश्वदर्शिभिः।

तस्थैव व्यक्तये नूनं मन्येज्यं शास्त्रविस्तरः ॥ २४/१३ ॥

अनुवाद—“सर्वज्ञ ने साम्य को ही परमध्यान कहा है। शास्त्रों में जो अन्य आचारों का वर्णन है, उनका उद्देश्य साम्य को ही अभिव्यक्त करना है।”

आचार्य कुन्दकुन्द ने इष्टानिष्ट पदार्थों में समभाव रखनेवाले को ही शुद्धोपयोगी अर्थात् वीतरागधर्मध्यानी या शुक्लध्यानी कहा है—“समणो समसुहदुक्खो भणितो सुद्धोवओगो त्ति।” (प्र.सा./१/१४)।

योगी सदा समभाव को ही प्राप्त करने की भावना करता है। यथा—

दुःखे सुखे वैरिणि बन्धुवर्गे योगे वियोगे भवने वने वा।

निराकृताशेषममत्वबुद्धेः समं मनो मेऽस्तु सदापि नाथ ॥ ३ ॥

भावनाद्वात्रिंशतिका।

अभिप्राय यह कि जहाँ शीत, उष्ण, दंशमशक आदि अनिष्ट पदार्थों से द्वेष नहीं होता (अनिष्टवियोग की इच्छा नहीं होती) और वस्त्रादि इष्ट पदार्थों से राग नहीं होता (इष्टसंयोग की इच्छा नहीं होती) वहाँ ही समभावरूप ध्यान की सिद्धि होती है। जहाँ शीतादिपरीषहों से द्वेष होता है (अनिष्टवियोग की इच्छा होती है) और उन्हें दूर करनेवाले वस्त्रादि पदार्थों से राग होता है (इष्टसंयोग की इच्छा होती है) वहाँ समभाव न होने से ध्यान की सिद्धि असंभव है।

४

वस्त्रपात्रादिपरिग्रह मूर्च्छा का फल

चूँकि वस्त्रपात्रादि कथञ्चित् भी संयम के साधन नहीं हैं, वे परीषहपीड़ा-निवारण या देहसुख के लिए ही ग्रहण किये जाते हैं, अतः परीषहपीड़ा-निवारण या देहसुख की इच्छा मूर्च्छा है और वस्त्रपात्रादि का ग्रहण मूर्च्छा का फल। अतः दोनों ही परिग्रह हैं। किन्तु देह और आहार एकान्ततः देहसुख के साधन नहीं हैं, संयम के भी साधन हैं। देह संयम का साक्षात् साधन है और आहार देहधारण या प्राणधारण का साधन होने से संयम का परम्परया साधन है। चूँकि देह इन्द्रियसुख का भी आधार है और आहार क्षुधातृषापरीषहजन्य पीड़ा के निवारण द्वारा देहसुख का भी साधन है, अतः जब इन प्रयोजनों से देह को कायम रखने की और आहार ग्रहण करने की इच्छा की जाती है, तब वह इच्छा मूर्च्छा होती है और देह का संग तथा आहार का ग्रहण

मूर्च्छा के फल। किन्तु जब देह और आहार की इच्छा संयम की साधना के लिए की जाती है, तब न तो वह इच्छा मूर्च्छा होती है, न देह का संग और आहारग्रहण मूर्च्छा के फल। यह बात ध्यान में रखने योग्य है कि आहार प्राणधारण करने का साधन है, किन्तु वस्त्रपात्रादि प्राणधारण के साधन नहीं हैं। इसलिए दोनों में साम्य न होने से आहारग्रहण के औचित्य से वस्त्रपात्रादिग्रहण का औचित्य नहीं ठहराया जा सकता। यदि आहार प्राणधारण का साधन न होता, तो मात्र क्षुधातृषाजन्य पीड़ा के निवारण अर्थात् देहसुख का साधन होने से वह भी वर्जनीय होता, क्योंकि मोक्षसुख के लिए देहसुख का त्याग और कायक्लेश का अंगीकार अनिवार्य बतलाया गया है।

कामविकार-निगूहन के लिए भी वस्त्र की इच्छा करना मूर्च्छा है, क्योंकि यह इच्छा भी नाग्न्यपरीषहजय और स्त्रीपरीषहजय की अक्षमता से उत्पन्न होती है। तथा लिंगविकृतजन्य जुगुप्सा के निवारण के लिए वस्त्र की इच्छा अनावश्यक है, क्योंकि ऐसा पुरुष दैगम्बरी दीक्षा का पात्र ही नहीं है।

यदि कोई पुरुष इन परीषहों को सहने में समर्थ नहीं है, तो वह कर्मों की निर्जरा का भी अधिकारी नहीं है, क्योंकि आगम में निर्जरा के लिए परीषह-सहन अनिवार्य बतलाया गया है—‘मार्गाच्च्यवननिर्जरार्थं परिषोढव्याः परीषहाः’(त.सू./ ९/८)। परीषहजय में असमर्थ पुरुष को श्रावक की ग्यारह प्रतिमाओं का अवलम्बन कर परीषहजय का अभ्यास करना चाहिए। परीषहजय का सामर्थ्य अर्जित हो जाने पर ही दैगम्बरीदीक्षा ग्रहण करनी चाहिए। यदि यह भी संभव न हो, तो सामान्य-श्रावकधर्म के अभ्यास द्वारा परम्परया परीषहजय-योग्य शक्ति के विकास की साधना करनी चाहिए, किन्तु दैगम्बरीदीक्षा ग्रहण करने की अनधिकृत चेष्टा कदापि करणीय नहीं है।

५

परीषह-पीड़ानिवारक वस्तुओं का उपभोग मूर्च्छा का लक्षण

दशवैकालिकसूत्र में कहा गया है कि वस्त्रपात्रादि रखना परिग्रह नहीं है, अपितु उनमें मूर्च्छा होना परिग्रह है। किन्तु उनमें मूर्च्छा है या नहीं इसकी कसौटी क्या है? मूर्च्छा यदि बाह्य प्रवृत्ति में अभिव्यक्त न होती हो, तो मूर्च्छात्यागरूप अपरिग्रह के अणुव्रत और महाव्रतरूप भेद करना संभव नहीं है।

यदि मूर्च्छा का बाह्य वस्तुओं के संग्रह से सम्बन्ध न माना जाय, तो मूर्च्छा के एक-देशत्याग और पूर्णत्याग के भेद का निर्धारण किस आधार पर होगा? यह निर्णय कैसे होगा कि अमुक व्यक्ति ने मूर्च्छा के एकदेशत्याग का व्रत ग्रहण किया है और अमुक ने पूर्णत्याग का व्रत। यदि बाह्यपरिग्रह के त्याग की इसमें बिलकुल भी अपेक्षा न हो, तो अपरिमित धनधान्य का अर्जन, संरक्षण और संस्कार करते हुए

भी कोई कह सकता है कि मैं मूर्च्छा का पूर्ण त्यागी हूँ। और रंचमात्र भी पर द्रव्य का अर्जन-रक्षण आदि न करने वाले दिगम्बरजैन मुनि के भी विषय में कहा जा सकता है कि वह मूर्च्छा का किंचित् भी त्यागी नहीं है।

मूर्च्छा के एकदेशत्याग और पूर्णत्याग का कोई बाह्य लक्षण निर्धारित हुए बिना अपरिग्रहाणुव्रत और अपरिग्रहमहाव्रत का उपदेश भी नहीं दिया जा सकता। अणुव्रतों और महाव्रतों का उपदेश बाह्य द्रव्य के आधार पर ही दिया गया है। जैसे त्रस जीवों की संकल्पी हिंसा मात्र के त्याग को अहिंसाणुव्रत कहा गया है, और त्रस तथा स्थावर जीवों की संकल्पी, आरंभी, उद्योगी और विरोधी, चारों प्रकार की हिंसा के त्याग को अहिंसा महाव्रत नाम दिया गया है। लोकप्रसिद्ध असत्य वचन के त्याग को सत्याणुव्रत और लोक तथा शास्त्र, उभयप्रसिद्ध असत्यवचन के त्याग को सत्यमहाव्रत कहा गया है। धन की परिभाषा में आनेवाली दूसरे की वस्तु को बिना दिये लेने का त्याग अचौर्याणुव्रत है और धन की परिभाषा में न आनेवाली वस्तु के भी अदत्तादान का त्याग अचौर्यमहाव्रत बतलाया गया है। परस्त्री के त्याग को 'ब्रह्मचर्याणुव्रत' संज्ञा दी गई है और स्वस्त्री-परस्त्री दोनों के त्याग को 'ब्रह्मचर्य महाव्रत' संज्ञा। इसी प्रकार क्षेत्र, वास्तु, हिरण्य, सुवर्ण, धन, धान्य, दास-दासी, कुप्य, भाण्ड आदि वस्तुओं के एकदेशत्याग या परिमित करने को अपरिग्रहाणुव्रत कहा गया है और सम्पूर्ण त्याग को अपरिग्रहमहाव्रत। तत्त्वार्थसूत्र के दिगम्बरमान्य और श्वेताम्बरमान्य दोनों पाठों में क्षेत्र, वास्तु आदि उपर्युक्त वस्तुओं के प्रमाण के उल्लंघन को अपरिग्रह-अणुव्रत का अतिचार बतलाया गया है।^{६५} इससे स्पष्ट है कि आगम में क्षेत्रादिबाह्य वस्तुओं के एकदेशत्याग को व्यवहारनय से मूर्च्छा का एकदेशत्याग माना गया है, क्योंकि क्षेत्रादि बाह्य वस्तुओं के एकदेशत्याग से तत्सम्बन्धी अर्जन, रक्षण और संस्काररूप मूर्च्छा का अभाव हो जाता है। पूज्यपाद स्वामी ने 'मूर्च्छा परिग्रहः' (त.सू./७/१७) इस सूत्र की व्याख्या करते हुए बाह्य वस्तुओं के अर्जन, संरक्षण आदि प्रवृत्तियों को मूर्च्छा कहा है।^{६६} इससे यह भी स्पष्ट हो जाता है कि उक्त क्षेत्रादि बाह्य पदार्थों का सर्वथा त्याग, व्यवहारनय से मूर्च्छा का सर्वथा त्याग माना गया है, क्योंकि उनके सर्वथा त्याग से तद्विषयक अर्जन, रक्षण और संस्काररूप मूर्च्छा का पूर्णतः अभाव हो जाता है।

किन्तु बाह्य पदार्थों का त्याग निश्चयनय से मूर्च्छा का त्याग नहीं है, क्योंकि बाह्य पदार्थों का त्याग कर देने पर भी उनकी इच्छा विद्यमान रह सकती है। इसलिए आगम में इच्छाविरमण को अपरिग्रह कहा गया है, जिससे स्पष्ट हो जाता है कि इच्छा

६५. "क्षेत्रवास्तुहिरण्यसुवर्णधनधान्यदासीदासकुप्यप्रमाणातिक्रमाः।" तत्त्वार्थसूत्र/वि.स./७/२९।

६६. "का मूर्च्छा? बाह्यानां गोमहिषमणिमुक्ताफलादीनां चेतनाचेतनानामाभ्यन्तराणां च रागादीना-मुपधीनां संरक्षणार्जनसंस्कारादिलक्षणाव्यापृतिर्मूर्च्छा।" सर्वार्थसिद्धि/७/१७।

का त्याग मूर्च्छा का त्याग है। भगवती-आराधनाकार ने अपरिमित इच्छा से विरत होने को अपरिग्रह-अणुव्रत कहा है।^{६७} इससे सिद्ध होता है कि परिमित इच्छा से भी विरत होना अर्थात् इच्छा का पूर्णत्याग अपरिग्रहमहाव्रत है। इन लक्षणों से मूर्च्छा के एकदेशत्याग और पूर्णत्याग का अर्थ भी स्पष्ट हो जाता है। अर्थात् मूर्च्छा और इच्छा पर्यायवाची हैं। कसायपाहुड^{६८} और समवायांगसुत्त^{६९} (श्वेताम्बर-आगम) में भी इन दोनों को एकार्थक कहा गया है। आचार्य कुन्दकुन्द ने भी 'अपरिग्रहो अणिच्छो' (स.सा./२१०) इस उक्ति द्वारा मूर्च्छा, इच्छा और परिग्रह को समानार्थी निरूपित किया है, जिसे व्याख्याकार अमृतचन्द्रसूरि ने 'इच्छा परिग्रहः' (आ.ख्या/स.सा.२१०) कहकर स्पष्ट किया है। चूँकि मूर्च्छा, इच्छा और परिग्रह पर्यायवाची हैं, इसलिए इच्छा का एकदेशत्याग मूर्च्छा या परिग्रह का एकदेशत्याग है और इच्छा का सर्वथा त्याग मूर्च्छा या परिग्रह का सर्वथा त्याग है। इच्छा का एकदेश त्याग होने पर बाह्य वस्तुओं का एकदेश त्याग स्वतः फलित होता है और इच्छा का सर्वथा त्याग होने पर क्षेत्रादि बाह्य वस्तुओं का और जो परीषहपीड़ा से बचने के लिए आवश्यक होते हैं, उन समस्त पदार्थों का अपने-आप त्याग होना अनिवार्य है। अतः यद्यपि बाह्य वस्तुओं का त्याग मूर्च्छा के अभाव का अनिवार्य लक्षण नहीं है, तथापि उनका अत्याग या ग्रहण मूर्च्छा के सद्भाव का अनिवार्य लक्षण अवश्य है।

अब यह विचारणीय है कि गृहत्यागी मुनि के पास किन पदार्थों के सद्भाव से मूर्च्छा का सद्भाव सूचित होता है? इसकी कसौटी एक ही है, और वह है परीषहपीड़ा-निवारक वस्तुओं का सद्भाव। परीषहपीड़ा-निवारक वस्तुओं का निर्धारण करने पर ज्ञात होता है कि शरीर परीषहपीड़ा-निवारक वस्तुओं में शामिल नहीं है, क्योंकि वह तो परीषहपीड़ा का आधार है। परीषहपीड़ा उसके ही माध्यम से होती है। आहार और औषधि भी उन वस्तुओं में से नहीं हैं, क्योंकि ये प्राणधारण के भी साधन हैं, अतः जब मुनि इन्हें परीषहपीड़ा-निवारण के लिए ग्रहण न कर प्राणधारण के लिए ग्रहण करता है, तब ये परीषहपीड़ा-निवारक नहीं होते। पिच्छी और कमण्डलु स्पष्टतः परीषहपीड़ा-निवारक नहीं है, अपितु संयम और शुद्धि के साधन हैं। इनके अतिरिक्त जितनी भी वस्त्रपात्रादि वस्तुएँ हैं वे शीत, उष्ण, दंशमशक आदि परीषहों की पीड़ा से बचने के साधन हैं, प्राणधारण के नहीं। इसलिए मुनि के पास इनका सद्भाव होने पर मूर्च्छा का सद्भाव सूचित होता है। किसी मुनि के द्वारा इन पदार्थों

६७. पाणवध-मुसावादादत्तादाण-परदारगमणेहिं।

अपरिमिदिच्छादो वि अ अणुव्वयाइं विरमणाइं ॥ २०७४ ॥ भगवती-आराधना।

६८. "इच्छा मुच्छा य गिद्धी य।" कसायपाहुड/गाथा ८९।

६९. "लोभे इच्छा मुच्छा।" समवायांग/समवाय ५२।

का उपभोग किये जाने से यह भी सिद्ध होता है कि वह आहार-ओषधि का भी सेवन प्राणधारण के साथ-साथ परीषहपीड़ा-निवारण के लिए करता है। अतः उसके लिए आहार-ओषधि भी परीषहपीड़ा-निवारक अर्थात् देहसुख-साधक हो जाते हैं, इसलिए देह में उसकी मूर्च्छा सिद्ध होने से देह भी उसके लिए परिग्रह बन जाती है। सार यह कि जो मुनि परीषहपीड़ा-निवारक वस्त्रादि पदार्थों का सेवन करते हैं, उनका वस्त्रादि में मूर्च्छा का भाव नियम से सूचित होता है, भले ही इनका सेवन न करनेवालों में मूर्च्छा का अभाव नियम से सूचित न हो।

इस तरह हम इस निर्णय पर पहुँचते हैं कि दशवैकालिकसूत्र का यह कथन युक्तिसंगत नहीं है कि “साधु संयम और लज्जा के लिए जो वस्त्र, पात्र, कम्बल, पादप्रौंछन आदि रखता है वह परिग्रह नहीं है, अपितु उनमें मूर्च्छा होना परिग्रह है।” इस कथन के युक्तिसंगत न होने का कारण यह है कि ये सब वस्तुएँ परीषहपीड़ा-निवारक हैं, अतः इनका पास में रखा जाना नियम से मूर्च्छा के सद्भाव का सूचक है, ये मूर्च्छा के फल हैं। जब इनका ग्रहण ही मूर्च्छा का फल है, तब इनके होने पर मूर्च्छा न हो, यह असंभव है। अतः वस्त्रपात्रादि का रखना-मात्र परिग्रह है।

६

वस्त्रपात्रादि का संग मूर्च्छा का हेतु

यतः वस्त्रपात्रादि का परिग्रह मूर्च्छा का फल है, अतः मूर्च्छा का जनक है। वस्त्रपात्रादिपरिग्रह से उसके अर्जन, संस्करण और संरक्षण की चिन्ता उत्पन्न होती है। यह मूर्च्छा का लक्षण है। यह तो श्वेताम्बरीय ग्रन्थ पिण्डनिर्युक्ति में भी कहा गया है कि वस्त्रों को धोकर सुखाते समय यह ध्यान रखना चाहिए कि उन्हें चोर चुराकर न ले जायँ। और विशेषावश्यकभाष्य का भी कथन है कि वस्त्रादि की चोरी का भय होने से संरक्षणानुबन्धी रौद्रध्यान होता है, यद्यपि वहाँ उसे मोक्षसाधनभूत-वस्त्रादि निमित्तक मानकर प्रशस्त मान लिया गया है।^{७०}

भगवती-आराधना के टीकाकार अपराजित सूरि ने भी कहा है—“परिग्रह छह प्रकार के जीवों की पीड़ा का मूल तथा मूर्च्छा का निमित्त है, इसलिए समस्त परिग्रह का त्याग पाँचवाँ अपरिग्रह महाव्रत है।”^{७१} और आचार्य कुन्दकुन्द प्रवचनसार में विज्ञापित करते हैं—

७०. “यद्येवम्, तर्हि तथा तेनागमप्रसिद्धेन यतनाप्रकारेणेहापि वस्त्रादौ संरक्षणानुबन्धविधानं कथं न प्रशस्तम्।” हेमचन्द्रसूरिकृत वृत्ति / विशेषावश्यकभाष्य / गा. २५७०-७१।

७१. “परिग्रहः षड्जीवनिकायपीडाया मूलं मूर्च्छानिमित्तं चेति सकलग्रन्थत्यागो भवति इति पञ्चमं व्रतम्।” विजयोदयाटीका / भगवती-आराधना / गा. ‘आचेलक्कु’ ४२३ / पृ. ३३१।

किथ तम्हि णत्थि मुच्छा आरंभो वा असंजमो तस्स।

तथ परदव्वम्मि रदो कधमप्पाणं पसाधयदि॥ ३/२१॥

अनुवाद—“बाह्यपरिग्रह के रहने पर मुनि मूर्च्छा, आरंभ और असंयम से कैसे बच सकता है? और जो परद्रव्य में आसक्त है उसके लिए आत्मा की साधना कैसे संभव है?”

अतः यह मानकर चलना कि वस्त्रपात्रादि संयम के साधन हैं और संयम के साधनों में मूर्च्छा नहीं होती, इसलिए वे ग्रन्थ नहीं हैं, अमनोवैज्ञानिक और अप्रामाणिक है। बोटिक शिवभूति के कथानक में बतलाया गया है कि साधुदीक्षा लेने के बाद उसे राजा ने एक रत्नकम्बल भेंट किया था। उसमें उसे मूर्च्छा (राग) हो गई थी। इसलिए गुरु ने उसे फाड़कर पादप्रौञ्चन बना दिये थे। यह एक मनोवैज्ञानिक तथ्य है कि परद्रव्य का संग मूर्च्छा की उत्पत्ति का निमित्त बनता है। इसी कारण तो मुनियों के लिए स्त्रियों के साथ एकान्त में रहना वर्जित किया गया है। अतः परद्रव्य का संग जितना कम होगा, मूर्च्छोत्पत्ति के अवसर उतने ही कम रहेंगे। इसीलिए परीषहों को सहने का उपदेश दिया गया है, ताकि परीषहजनित कष्टों से बचने के लिए परद्रव्य की इच्छा उत्पन्न न हो और उसका परिग्रह न करना पड़े।

७

वस्त्रपात्रादिसंग भय-कषायादि का हेतु

इसमें सन्देह नहीं कि वस्त्रपात्रादि के संग से उनमें राग उत्पन्न होता है, चोरों से भय पैदा होता है और उनकी रक्षा के लिए संरक्षणानुबन्धी रौद्रध्यान की उत्पत्ति होती है। इसलिए मनःस्थिति के आकुलतामय बने रहने से स्वाध्याय और ध्यान संभव नहीं होते। इस तरह वस्त्रपात्रादि संयम में साधक न होकर बाधक ही होते हैं। वस्त्रादि के भय-कषायादि के हेतु होने की बात आर्यकृष्ण और जिनभद्रगणी भी स्वीकार करते हैं। फिर भी उन्होंने वस्त्रादि के संग को अपरिग्रह सिद्ध करने की चेष्टा की है। वे ‘विशेषावश्यकभाष्य’ में कहते हैं—“भयकषाय आदि तो शरीर के निमित्त से भी उत्पन्न होते हैं, किन्तु वह मोक्षसाधक होता है, अतः भयकषायादि का हेतु होते हुए भी परिग्रह नहीं है। इसी प्रकार वस्त्रपात्रादि भी मोक्षसाधक होते हैं, इसलिए भयादि के हेतु होने पर भी वे परिग्रह नहीं हैं।”^{७२}

७२. गुरुणाऽभिहिओ जइ जं कसायहेऊ परिग्गहो सो ते।

तो सो देहो च्विय ते कसायउप्पत्तिहेउ त्ति॥२५५८॥ शेष अगले पृष्ठ पर...

किन्तु यह तर्क समीचीन नहीं है। क्योंकि, प्रथम तो शरीर सभी के लिए भय-कषाय आदि का कारण नहीं होता। जिन्हें उसमें मूर्च्छा होती है, उन्हीं के लिए होता है। मूर्च्छारहित मुनि न तो शरीर से राग करता है, न सिंहादि हिंस्रपशुओं से भयभीत होता है, न ही उसे शरीर के संरक्षण की चिन्ता होती है। किन्तु वस्त्रादि तो मूर्च्छा के ही कारण हैं, अतः उनमें सभी को मूर्च्छा होती है। फलस्वरूप वे सभी के लिए भयकषायादि के हेतु हैं। दूसरे, शरीर शरीरनामकर्म और आयुकर्म के उदय के कारण जन्म से ही आत्मा के साथ संश्लिष्ट होता है, किन्तु वस्त्रपात्रादि जन्म से आत्मा के साथ संश्लिष्ट नहीं होते। इसलिए आत्मा न तो मूर्च्छा के कारण शरीर को ग्रहण करता है, न ही मूर्च्छा का अभाव होने पर उसे त्यागने में समर्थ होता है, जबकि वस्त्रपात्रादि का ग्रहण मूर्च्छा के ही कारण करता है, और मूर्च्छा का अभाव होने पर उनका परित्याग कर देता है। तीसरे, जो वस्त्रपात्रादि कषाय, भय और रौद्रध्यान के हेतु होने से संसार के कारण हैं, उन्हें मोक्ष का साधन कहना स्वविरोधी कथन है।

निष्कर्षतः वस्त्रपात्रादि संयम के साधक न होकर बाधक ही हैं, अतः उनका ग्रहण परिग्रह ही है, अपरिग्रह नहीं।

८

वस्त्रपरिभोग निर्जराविरोधी

तत्त्वार्थसूत्र में, जो श्वेताम्बरों को भी मान्य है, कहा गया है कि संवर के मार्ग से च्युत न होने के लिए और कर्मों की निर्जरा के लिए परीषहों को समभाव से सहना चाहिए—“मार्गाच्यवननिर्जरार्थं परिषोढव्याः परीषहाः” (९/८)। और आचारांग का कथन है कि नग्न रहने पर ही भिक्षु परीषहों को भलीभाँति सहन करता है और कर्मों के भार से मुक्त हो जाता है। (१/७/७/२२१)। इससे स्पष्ट है कि वस्त्रधारण

अह ते न मोक्खसाहणमईए गंधो कसायहेऊ वि ।
 वत्थाइ मोक्खसाहणमईए सुद्धं कहं गंधो? ॥ २५६१ ॥
 जइ भयहेऊ गंधो तो नाणाईण तदुवघाईहिं ।
 भयमिइ ताइ गंधो देहस्स य सावयाईहिं ॥ २५६८ ॥
 अह मोक्खसाहणमईए न भयहेऊ वि ताणि ते गंधो ।
 वत्थाइ मोक्खसाहणमईए सुद्धं कहं गंधो? ॥ २५६९ ॥
 सारक्खणाणुबंधो रोद्ध्जाणं ति ते मई हुज्जा ।
 तुल्लमियं देहाइसु पसत्थमिह तं तहेहावि ॥ २५७० ॥
 जे जत्तिया पगारा लोए भयहेअवो अविरयाणं ।
 ते चेव य विरयाणं पसत्थभावाण मोक्खाय ॥ २५७१ ॥ विशेषावश्यकभाष्य ।

करने से मुनि परीषहसहन का अवसर खो देता है, फलस्वरूप संवर के मार्ग से च्युत हो जाता है और कर्मों की निर्जरा नहीं कर पाता। इस तरह वस्त्रपरिभोग निर्जराविरोधी है और निर्जराविरोधी होना संयमविरोधी होने का प्रमाण है।

बारह तपों में कायक्लेश को बाह्य तप बतलाया गया है, जो निर्जरा का कारण है। पं० सुखलालजी संघवी लिखते हैं—“ठंड, गरमी या विविध आसनादि द्वारा शरीर को कष्ट देना कायक्लेश कहलाता है।” (त.सू./वि.स./९/१९-२०)। ठंड, गरमी के द्वारा शरीर को कष्ट देना निर्वस्त्र रहने पर ही संभव है, जैसा कि आचारांग में कहा गया है। वस्त्रधारण करने से कायक्लेश नामक तप असंभव हो जाता है, जिससे साधक निर्जरा से वंचित हो जाता है। इस तरह भी वस्त्रपरिभोग निर्जराविरोधी अत एव संयमविरोधी है।

दशधर्मों में संयमधर्म का उपदेश है। उसका पालन पाँच इन्द्रियों के निग्रह से होता है। स्पर्शन इन्द्रिय का निग्रह तब होता है, जब शीतादिजन्य पीड़ा हो रही हो और वस्त्रादि का परिभोग न कर उसे धैर्यपूर्वक सहा जाय। स्थानांगसूत्र में भी कहा गया है कि वस्त्रत्याग से विपुल इन्द्रियनिग्रह होता है।^{७३} वस्त्रपरिभोग करने से स्पर्शन इन्द्रिय का निग्रह नहीं हो पाता, प्रत्युत उसके विषय का सेवन हो जाता है, जिससे कर्मों का संवर न होकर आस्रव-बन्ध होता है। इस रीति से भी वस्त्रपरिभोग संयम-विरोधी है।

९

मोक्षबाधक होने से ही तीर्थकरों द्वारा वस्त्रत्याग

बोटिककथा में आर्यकृष्ण के द्वारा वस्त्रपात्रादि को संयम का उपकारी (साधक) सिद्ध करने का प्रयत्न किया गया है। यहाँ शिवभूति की ओर से प्रश्न उठाया गया है कि यदि वस्त्रपात्रादि संयम के उपकारी हैं, तो तीर्थकरों ने उन्हें ग्रहण क्यों नहीं किया? इसके उत्तर में गुरु आर्यकृष्ण कहते हैं—

“तीर्थकर अनुपम धृति और अनुपम संहनन के धारी, छायावस्था में चतुर्जानी, अतिशयसत्त्वसम्पन्न, अच्छिद्रपाणि और जितसमस्तपरीषह होते हैं, अतः वस्त्रपात्ररहित होने पर भी उन्हें संयमविराधनादि दोष नहीं लगते। फलस्वरूप उनके लिए वस्त्रपात्रादि संयम के साधक नहीं हैं। इस कारण वे वस्त्रपात्रादि ग्रहण नहीं करते।” (विशे.भा./ गा. २५८१-८३)।

७३. “पंचहि ऋणेहि अचेले पसत्थे भवइ। तं जहा—अप्पापडिलेहा, लाषविए पसत्थे, रूवे वेसासिए, तवे अणुणाए, विउले इंदिय-निग्गहे।” स्थानांगसूत्र / ५ / ३ / ३४७।

पर, विचारणीय प्रश्न यह नहीं है कि तीर्थंकर वस्त्र क्यों ग्रहण नहीं करते? वस्त्र तो वे बाल्यकाल से ग्रहण किये ही रहते हैं। विचारणीय प्रश्न तो यह है कि वे प्रव्रज्या के समय वस्त्रों का त्याग क्यों करते हैं? वस्त्रपात्रादि के अभाव में उन्हें संयमविराधनादि दोष नहीं लगते यह ठीक है, पर वस्त्रपात्रादि के सद्भाव में क्या बाधा उत्पन्न होती है, जिससे वे वस्त्र त्याग कर देते हैं? यद्यपि श्वेताम्बरशास्त्रों में यह कहा गया है कि तीर्थंकरों का शरीर वस्त्रों के समान ही उनके प्रभामण्डल से आच्छादित हो जाता है तथा उन्हें शीतादिपरीषहों की पीड़ा नहीं होती, इसलिए अनावश्यक होने के कारण वे वस्त्रधारण नहीं करते।^{७४} किन्तु प्रश्न यह है कि जब वे बाल्यकाल से लेकर प्रव्रज्या के पूर्व तक वस्त्रधारण करते हैं और उन्हें लोगों को यह उपदेश देना भी आवश्यक होता है कि मोक्षमार्ग सवस्त्र ही है, जिसके लिए उन्हें देवेन्द्रोपनीत देवदूष्य बायें कन्धे पर डालना पड़ता है, तब वे अपने पूर्वगृहीत स्वाभाविक वस्त्रों का परित्याग क्यों करते हैं? उनके द्वारा तो सवस्त्र मोक्षमार्ग का उपदेश और भी स्वाभाविक एवं प्रभावशाली बन सकता है। इस प्रश्न का समाधान न तो जिनभद्रगणी जी ने किया है, न किसी श्वेताम्बर-ग्रन्थ में उपलब्ध हुआ है।

तीर्थंकर तो उपर्युक्त गुणों से युक्त होते हैं, चार ज्ञानों के धारी होते हैं, उनका कोई कार्य अयुक्तिसंगत या निष्प्रयोजन नहीं हो सकता। इसलिए यही सिद्ध होता है कि वस्त्रपात्रादि-परिग्रह संयम या मोक्ष में बाधक है, इसीलिए तीर्थंकर उसका त्याग करते हैं। आचार्य कुन्दकुन्द ने सुत्तपाहुड में भी कहा है—

ण वि सिञ्जइ वत्थधरो जिणसासणे जइ वि होइ तित्थयरो।

णग्गो विमोक्खमग्गो सेसा उम्मग्गया सव्वे॥ २३॥

अनुवाद—“जिनशासन में कहा गया है कि वस्त्रधारी पुरुष सिद्धि (मोक्ष) को प्राप्त नहीं होता, भले ही वह तीर्थंकर हो। नग्नत्व ही मोक्ष का मार्ग है, शेष सब संसार के मार्ग हैं।”

वस्त्रग्रहण मोक्ष में बाधक क्यों है? उसका उत्तर आचारांग में दिया गया है। उसमें बतलाया गया है कि वस्त्रादि के परिग्रह से अपध्यान होता है, परीषहजय संभव नहीं होता और तप का अभ्यास असम्भव हो जाता है। तथा स्थानांगसूत्र में वस्त्रत्याग

७४. “जिनेन्द्रा अपि गृहस्थावस्थायां बालभावे तदतिक्रमे च यथोचितं वस्त्रालङ्कारविभूषिता एव भवन्ति, प्रव्रज्याप्रतिपत्यवसरे तु देवेन्द्रोपनीतदेवदूष्यवस्त्रं सवस्त्रपात्रो धर्मो मया प्रज्ञापनीय इति वामस्कन्धोपरि धरन्ति।--- किं च जिनेन्द्राणां गुह्यप्रदेशो वस्त्रेणैव शुभप्रभामण्डले-नाच्छादितो न चर्मचक्षुषां दृग्गोचरीभवति।--- ते हि भगवन्तो --- स्वप्रभामण्डलाच्छादित-देहाः--- जितपरिषहा---।” प्रवचनपरीक्षा/वृत्ति/१/२/३१/पृ.९२-९३।

के पाँच लाभ बतलाये गये हैं—१. प्रतिलेखना अल्प होती है, २. लाघव प्रशस्त होता है, ३. साधु विश्वसनीय बनता है, ४. तप अनुज्ञात (जिानुमत) होता है और ५. विपुल इन्द्रियनिग्रह होता है। वस्तुतः इन कारणों से तीर्थंकर वस्त्र त्याग करते हैं। (देखिये, प्रथम प्रकरण का शीर्षक ७)।

१०

साधारण पुरुषों के लिए भी वस्त्रपात्रादि मोक्ष में बाधक

कर्मसिद्धान्त पक्षपातरहित

श्वेताम्बरशास्त्रों में यह व्यवस्था बतलायी गयी है कि मोक्षयोग्य काल में जो प्रथमसंहननधारी पुरुष होते हैं, वे अचेल जिनकल्प धारण करने के योग्य होते हैं और जो दुर्बल संहननधारी होने से परीषह सहने में असमर्थ हैं अथवा जिन्हें नग्न रहने में लज्जा आती है अथवा पुरुषांग के विकृत होने से लोकनिन्दा का भय होता है, उनमें केवल स्थविरकल्प के ग्रहण की योग्यता होती है। दोनों कल्प मोक्ष के साधक हैं, तथापि मोक्ष के अयोग्य, किन्तु व्रतधारण के योग्य काल में केवल सचेल स्थविरकल्प ही धारण किया जा सकता है, क्योंकि उस समय सभी पुरुष हीनसंहननधारी होते हैं। इस व्यवस्था का उल्लेख निम्नलिखित उद्धरणों में द्रष्टव्य है—

“जिनकल्पिकस्य तावज्जघन्यतो नवमस्य पूर्वस्य तृतीयमाचारवस्तु, उत्कर्ष-तस्त्वसम्पूर्णानि दशपूर्वाणि श्रुतं भवति। प्रथमसंहननो वज्रकुण्डयसमानावष्टम्भश्चायं भवति। स्वरूपेण पञ्चदशस्वपि कर्मभूमिषु, संहतस्त्वकर्मभूमिष्वपि भवति। उत्सर्पिण्यां व्रतस्थस्तृतीयचतुर्थारकयोरेव, जन्ममात्रेण तु द्वितीयारकेऽपि, अवसर्पिण्यां तु जन्मना तृतीयचतुर्थारकयोरेव, व्रतस्थस्तु पञ्चमारकेऽपि, संहरणेन तु सर्वस्मिन्नपि काले प्राप्यते।” (अभि.रा.को./भा.४/पृ. २३८९)।

“क्षेत्रद्वारे जन्मतः, सद्भावतश्च स्थविरकल्पिकाः पञ्चदशस्वपि कर्मभूमिषु भरतैरावतविदेहपञ्चकलक्षणासु भवन्ति। संहरणतः पञ्चदशानां कर्मभूमिनां, त्रिंशताम-कर्मभूमिनामन्यतरस्यां भूमौ भवेयुः। अद्वाकालः तपङ्गीकृत्यावसर्पिण्यां जन्मतः, सद्भा-वतश्च त्रिषु तृतीयचतुर्थपञ्चमारकेषु भवेयुः। --- उत्सर्पिण्यां जन्मतस्त्रिषु द्वितीयतृतीय-चतुर्थेषु आरकेषु सद्भावतस्तु द्वयोस्तृतीय-चतुर्थारकयोर्भवन्ति।” (अभि.रा.को./ भा. ४/ पृ. २३९१)।

“मनःपर्यायज्ञानं, परमावधि --- जिनकल्पः --- एते पदार्थाः जम्बूस्वामिनि व्युच्छिन्नाः जम्बूस्वामिनं यावत् प्रवृत्ताः ---। अस्ति च --- स्थविरकल्पः, कीदृशः? तीर्थप्रवृत्तिहेतुः, सर्वेष्वपि तीर्थेषु अच्छिन्नप्रवृत्तिहेतवः स्थविरकल्पिका एव साधवो

भवन्ति, तेषामेव धर्मोपदेश-प्रव्रज्यादानादावधिकारः, न पुनर्जिनकल्पिका अपि, तेषां धर्मोपदेशदानादावनधिकारात्।” (प्रव.परी/वृत्ति/१/२/१५/पृ.७९-८०)।

“त्रिभिः कारणैर्वस्त्रं धरेत् इति सूत्रेऽपि विहितं प्रतिपादितं यतो यस्मात्, तेनैव प्रकारेण तद्वस्त्रं निरतिशयत्वेन तथाविधधृतिसंहननादिरहितेन साधुनावश्यं धरणी-यमिति। कुतः? इत्याह—यतो यस्माद् निरतिशयत्वेन जिनकल्पायोग्यानां साधूनां ही-कुत्सा-परीषहलक्षणं वस्त्रधरणकारणं पूर्वाभिहितस्वरूपमवश्यमेव सम्भवति, ततो धरणीयमेव वस्त्रम्।” (हेम.वृत्ति/विशे.भा./गा.२६०२-३)।

इन शास्त्रवचनों से श्वेताम्बरपरम्परा की निम्नलिखित मान्यताएँ सामने आती हैं—१. स्थविरकल्प की प्रवृत्ति जिनकल्प के साथ मोक्षयोग्य काल में भी होती है, क्योंकि उस काल में भी अनेक पुरुष जिनकल्प के योग्य नहीं होते अर्थात् उनमें प्रथमसंहनन और नवपूर्ववेदित्व का अभाव होता है। २. मोक्षयोग्यकाल में स्थविरकल्पिक साधु प्रथमसंहनन और नवपूर्ववेदित्व के अभाव में भी मुक्त हो जाते हैं।

उक्त शास्त्रवाक्यों से श्वेताम्बरों की यह मान्यता भी प्रकट होती है कि प्रथमसंहननधारी साधुओं को वस्त्रपात्रादिपरिग्रह त्यागने और परीषहपीड़ा सहने पर मोक्ष होता है तथा हीनसंहननधारी मुनियों को वस्त्रपात्रादि-परिग्रह का उपभोग करने और परीषहपीड़ा से बचकर देहसुख भोगने पर मुक्ति मिलती है।

ये मान्यताएँ तत्त्वार्थसूत्र में प्रतिपादित सिद्धान्तों के प्रतिकूल हैं। उसमें तो प्रथमसंहननधारी के अतिरिक्त अन्यसंहननधारी को मोक्ष के योग्य ही नहीं माना गया है, क्योंकि उसमें मोक्ष के लिए शुक्लध्यान और शुक्लध्यान के लिए प्रथमसंहनन एवं पूर्ववित्त्व अनिवार्य बतलाये गये हैं—“आद्ये शुक्ले ध्याने पृथक्त्ववितर्कैकत्ववितर्के पूर्वविदो भवतः।” (तत्त्वार्थाधिगमभाष्य/९/३९)। ये दोनों योग्यताएँ स्थविरकल्पिकों में नहीं होतीं। इसके अतिरिक्त तत्त्वार्थसूत्र में प्रथमसंहनन और अन्य संहनन के आधार पर अलग-अलग मोक्षमार्गों का प्रतिपादन नहीं है। जैसे उसमें यह उपदेश नहीं है कि प्रथमसंहननवालों को कर्मों का संवर और निर्जरा करने के लिए परीषहों को सहना चाहिए तथा अन्य संहननवालों को इसी कार्य की सिद्धि के लिए परीषहों से बचना चाहिए। उसमें तो सभी के लिए “मार्गाच्च्यवननिर्जरार्थं परिषोढव्याः परीषहाः” (९/८), यह एक ही उपदेश है। अर्थात् चाहे कोई प्रथमसंहननधारी हो या अन्यसंहननधारी संवर और निर्जरा के लिए उसे परीषह सहना अनिवार्य है।

परीषहों से बचने की इच्छा देहसुख की इच्छा है (देखिये, इसी प्रकरण का शीर्षक १) और इच्छा राग है। श्वेताम्बरग्रन्थ प्रशामरति-प्रकरण में भी इच्छा को राग का पर्यायवचन कहा गया है—

इच्छा मूर्च्छा कामः स्नेहो गार्ध्यं ममत्वमभिनन्दः।

अभिलाष इत्यनेकानि रागपर्यायवचनानि ॥ १८ ॥

यदि हीनसंहननवाले का देहसुखराग संवर और निर्जरा का कारण है, तो राग नियमतः आस्रव-बन्ध का हेतु है, यह सिद्ध नहीं होता और अराग की जगह राग संवर-निर्जरा का कारण सिद्ध हो जाता है। इससे जिनेन्द्रदेव का उपदेश ही उलट जाता है। वे वीतरागतीर्थ के उपदेशक न होकर रागतीर्थ के उपदेशक बन जाते हैं। इस विसंगति का प्रसंग आने से सिद्ध है कि सवस्त्र स्थविरकल्प से मोक्ष होने की मान्यता जिनेन्द्रदेव के उपदेश के विरुद्ध है।

आचार्य कुन्दकुन्द ने कर्मबन्ध की प्रणाली पर प्रकाश डालते हुए समयसार में कहा है—

जह णाम कोवि पुरिसो णोहभत्तो दु रेणुबहुलम्मि।

ठाणम्मि ठाइदूण य करेइ सत्थेहि वायामं ॥ २३७ ॥

जो सो दु णोहभावो तम्मि णरे तेण तस्स रयबंधो।

णिच्छयदो विण्णोयं ण कायचेट्ठाहिं सेसाहिं ॥ २४० ॥

एवं मिच्छादिद्वी वट्टन्तो बहुविहास चिट्ठासु।

रायाइ उवओगे कुव्वन्तो लिप्पइ रयेण ॥ २४१ ॥

अनुवाद—“जैसे कोई पुरुष शरीर में तेल लगाकर धूलभरे स्थान में मुद्गर आदि शस्त्रों से व्यायाम करता है, तो उसके शरीर पर जो धूल चिपक जाती है, उसका कारण उसके शरीर पर तेल से उत्पन्न हुआ चिकनापन है, वैसे ही बहुविध प्रवृत्तियों में लिप्त मिथ्यादृष्टि जीव उपयोग में जो रागादि करता है, उसके कारण उसकी आत्मा से कर्मरूपी धूल संश्लिष्ट होती है।”

श्वेताम्बराचार्य उमास्वाति ने भी प्रशमरतिप्रकरण में कुन्दकुन्द के इसी कथन को निम्नलिखित कारिका में दुहराया है—

स्नेहाभ्यक्तशरीरस्य रेणुना श्लिष्यते यथा गात्रम्।

रागद्वेषक्लिन्नस्य कर्मबन्धो भवत्येवं ॥ ५५ ॥

इस प्रकार राग कर्मबन्ध का कारण है और उसका अभाव मोक्ष का। यह कर्मसिद्धान्त (जीव के साथ कर्मों के बन्ध और मोक्ष की कार्यकारणव्यवस्था) अत्यन्त वैज्ञानिक है। जैसे भौतिकविज्ञान के नियम निरपवाद होते हैं अर्थात् निर्धारित परिस्थितियों में उनका परिणाम सभी देशों एवं सभी कालों में एक जैसा होता है, वैसे ही कर्मसिद्धान्त भी निरपवाद है। उसके परिणाम भी नियत परिस्थितियों में सदा और सर्वत्र समान

होते हैं। वह किसी के साथ पक्षपात या रियायत नहीं करता। जीव के भावों और कर्मपुद्गलों के आस्रव-बन्ध तथा संवर-निर्जरारूप परिणामों में निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है। जिसके भी मन में वस्त्रपात्रादि परद्रव्यों को पाने की इच्छा अर्थात् राग उत्पन्न होगा उसके साथ कर्मपुद्गलों का आकर संश्लिष्ट होना अनिवार्य है और जिसके मन से राग विसर्जित हो जायेगा, उससे पुद्गलकर्मों का विश्लिष्ट होना नियत है। जड़ पुद्गलकर्मों में यह विचार करने की शक्ति नहीं होती कि यह जीव उत्तमसंहननवाला है, इसलिए इसे अपने बन्धन में बाँध लूँ, और यह जीव हीनसंहननवाला है, इसलिए इसे माफ कर दूँ।

तत्त्वार्थसूत्र में उत्तमसंहननवालों और हीनसंहननवालों के लिए अथवा तीर्थकरों और साधारण पुरुषों के लिए बन्ध और मोक्ष की अलग-अलग व्यवस्थाएँ नहीं हैं। उसमें जीवमात्र के लिए एक ही व्यवस्था है। जैसे मिथ्यादर्शन-ज्ञान-चारित्र को सभी जीवों के लिए ऐकान्तिकरूप से बन्ध का कारण बतलाया गया है और सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चरित्र को निरपवादरूप से मोक्ष का। मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग सभी जीवों की दृष्टि से आस्रव के हेतु कहे गये हैं और सम्यक्त्व, व्रत, अप्रमाद, अकषाय, समिति, गुप्ति, धर्म, अनुप्रेक्षा, परीषहजय, चारित्र और तप सभी जीवों की अपेक्षा संवर और निर्जरा के हेतु। संवर एवं निर्जरा के इन हेतुओं में किसी अपवाद का विधान नहीं है। वस्त्रपात्रादि के परिग्रह से सभी के परिणाम याचना, मूर्च्छा, रागद्वेष, भय, संरक्षणानुबन्धी रौद्रध्यान तथा देहसुख की लालसा से विकृत हो जाते हैं तथा सभी को वह परीषहजय एवं तप में असमर्थ बना देता है। अतः उत्तमसंहननधारी और हीनसंहननधारी तथा तीर्थकरप्रकृति का बन्ध करनेवाले और न करनेवाले, दोनों प्रकार के साधकों के लिए मोक्षमार्ग एक ही प्रकार का है। फलस्वरूप यदि वस्त्रपात्रादि का परिग्रह तीर्थकरों एवं अन्य प्रथम संहननधारियों (जिनकल्पिकों) के लिए मोक्ष में बाधक है, तो हीनसंहननधारियों (स्थविरकल्पिकों) के लिए भी उसका मोक्ष में बाधक होना अनिवार्य है।

११

लौकिक वैद्य और आध्यात्मिक वैद्य में समानता नहीं

विशेषावश्यकभाष्य में साधारण पुरुषों के लिए जिनकल्प का निषेध करने हेतु वैद्य का दृष्टान्त दिया गया है। कहा गया है कि जैसे वैद्य के द्वारा उपदिष्ट औषधि के सेवन से ही रोगी का रोग दूर होता है, वैद्य की वेशभूषा के अनुकरण से नहीं, वैसे ही तीर्थकरों के उपदेश का अनुसरण करने से ही साधारणपुरुष कर्मरोग से मुक्त होते हैं, तीर्थकरों के नग्नवेश का अनुकरण करने से नहीं।

यहाँ लौकिक वैद्य का दृष्टान्त आध्यात्मिक वैद्य से मेल नहीं खाता। लौकिक वैद्य की वेशभूषा किसी रोग की औषधि नहीं है, किन्तु तीर्थकररूप आध्यात्मिक वैद्य का नग्नवेश कर्मरूप आध्यात्मिक रोग की औषधि है। उस औषधि से तीर्थकरों ने स्वयं अपना कर्मरोग विनष्ट किया था, अतः अपना रोग विनष्ट करने के बाद जब वे आध्यात्मिक वैद्य बने, तब उसी कर्मरोग से ग्रस्त अन्य जीवों को उन्होंने उसी नाग्न्यलिंगरूप औषधि के सेवन का उपदेश दिया। इसके अलावा वे और कोई औषधि बतला ही नहीं सकते थे, क्योंकि उस रोग की और कोई औषधि है ही नहीं। इसीलिए तत्त्वार्थसूत्र में सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्र्य को ही मोक्षमार्ग कहा गया है तथा शीतादि परीषहों के साथ नाग्न्यपरीषह के जय का उपदेश दिया गया है।

शिवभूति को नाग्न्यलिंग ग्रहण करने का निषेध करते हुए आर्यकृष्ण कहते हैं कि जिनकल्प तुम जैसे रथ्यापुरुषों (साधारण आदमियों) के लिए नहीं हैं।^{७५} मैं इसके साथ यह वाक्य जोड़ना चाहता हूँ कि “इसीलिए मोक्ष भी रथ्यापुरुषों के लिए नहीं है।”

१२

सवस्त्रमुक्ति संभव होने पर निर्वस्त्रता केवल क्लेश का कारण

अचेल जिनकल्प और सचेल स्थविरकल्प इन परस्पर विरुद्ध दो मोक्षमार्गों की मान्यता को जन्म देनेवाले आचार्यों ने यह विचार नहीं किया कि इससे जिनेन्द्रदेव का उपदेश कितना अयुक्तियुक्त हो जायेगा! जब वस्त्रधारण करते हुए भी मोक्ष हो सकता है, तब नग्न रहकर शीत, उष्ण, दंशमशक आदि के घोर कष्ट उत्पन्न करनेवाले जिनकल्प का उपदेश देना कहाँ तक युक्तियुक्त कहा जा सकता है? निरर्थक कष्ट उठाने का उपदेश क्या तीर्थकर जैसे परमविवेकशील सर्वज्ञ आत्मा के अनुरूप कहा जा सकता है? यह एक मनोवैज्ञानिक नियम है कि मनुष्य किसी भी कार्य को करने के लिए सदा ऐसा रास्ता ढूँढ़ता है, जिसमें कम से कम कष्ट हो। जब सरल मार्ग से कार्य सिद्ध हो सकता है, तब कोई कठिन मार्ग क्यों अपनायेगा? निरर्थक कष्ट उठानेवाला मनुष्य विवेकशील नहीं कहा जा सकता। कहावत भी है—

अर्के चेन्मधु चिन्देत किमर्थं पर्वतं व्रजेत्।

इष्टास्यार्थस्य संसिद्धौ को विद्वान् यत्नमाचरेत्॥

अनुवाद—“यदि मार्ग के मदार (आक) वृक्ष में ही मधु मिल जाय, तो कोई

७५. “न रथ्यापुरुषकल्पानां भवादृशां जिनकल्पस्तीर्थकरैरनुज्ञात इति।” हेम.वृत्ति / विशे.भा. / गा. २५९२।

पर्वत पर क्यों जायेगा? इच्छित वस्तु यदि बिना प्रयत्न के ही मिल जाय, तो प्रयत्न करने की मूर्खता कौन समझदार आदमी करेगा?"

दिगम्बराचार्य पात्रकेसरी ने कितनी युक्तिसंगत बात कही है—

जिनवर ! न ते मतं पटकवस्त्रपात्रग्रहो
विमृश्य सुखकारणं स्वयमशक्तकैः कल्पितः।
अथायमपि सत्पथस्तव भवेद् वृथा नग्नता
न हस्तसुलभे फले सति तरुः समारुह्यते ॥ ४१ ॥

पात्रकेसरीस्तोत्र।

अनुवाद—“हे जिनवर! वस्त्रधारण करना और भिक्षा के लिए पात्र ग्रहण करना, आपके मत में मान्य नहीं है। ये बातें तो अशक्त लोगों ने सुख का कारण समझकर स्वयं ही कल्पित कर ली हैं। यदि वस्त्रपात्र ग्रहण करना भी आपके मत में मोक्षमार्ग होता, तो नग्नता व्यर्थ हो जाती, क्योंकि जब फल को हाथ से ही तोड़ना सम्भव हो, तब वृक्ष पर कौन चढ़ेगा?”

श्वेताम्बरग्रन्थ प्रवचनपरीक्षा के कर्ता उपाध्याय धर्मसागर जी बोटिक शिवभूति द्वारा स्त्रीमुक्ति का निषेध किये जाने का कारण बतलाते हुए लिखते हैं कि वह जिनकल्प को ही एकमात्र मुक्ति का मार्ग मानता था, अतः उसने नग्नत्व स्वीकार कर लिया, किन्तु अपनी बहिन उत्तरा को नग्न रहने से मना कर दिया, क्योंकि स्त्रियों का नग्न रहना अच्छा नहीं लगता। उसने स्त्रियों के वस्त्रावृत रहने को ही उचित बतलाया। अब यदि वह सबस्त्र स्त्रियों की मुक्ति का प्रतिपादन करता, तो मुक्ति की दृष्टि से सबस्त्र और निर्वस्त्र में कोई भेद न रहता, तब उसका स्वयं का नग्न रहना केवल कष्ट का ही कारण सिद्ध होता। अतः उसने स्त्रीमुक्ति का निषेध कर दिया।^{७६}

इस प्रकार श्वेताम्बर मनीषियों ने भी माना है कि सबस्त्रता से मुक्ति संभव होने पर निर्वस्त्र रहना मात्र एक अर्थहीन कष्टकारक कार्य है। इससे स्पष्ट हो जाता है कि जब वस्त्रधारी साधारण स्त्रीपुरुष भी मुक्त हो सकते हैं, तब तीर्थकरों एवं जिनकल्पिकों के लिए वस्त्रत्याग आवश्यक मानना युक्तिसंगत नहीं है। यह युक्तिसंगत तभी हो सकता है, जब वस्त्रधारण करने से तीर्थकरों एवं जिनकल्पिकों की मुक्ति संभव न हो। और इसकी कल्पना भी नहीं की जा सकती, क्योंकि तीर्थकर और जिनकल्पिक साधारण पुरुषों से इतने गये-बीते (हीन) नहीं हैं, कि जिसमार्ग से साधारण स्त्रीपुरुषों की मुक्ति हो सकती हो, उससे तीर्थकरों और जिनकल्पिकों की मुक्ति न हो। अतः इस बात

७६. प्रवचनपरीक्षा / वृत्ति / पातनिका / १/२/१९/पृ.८२।

में कोई सन्देह नहीं है कि वस्त्रधारण करते हुए यदि साधारण स्त्रीपुरुष मुक्त हो सकते हैं, तो तीर्थकर और जिनकल्पिक भी हो सकते हैं।

फिर भी तीर्थकरों ने सवस्त्रमार्ग ग्रहण नहीं किया। उन्होंने वस्त्रादि का परित्याग कर नग्नत्व को अंगीकार किया और मुक्त्यर्थियों को भी अचेलमार्ग का ही उपदेश दिया, जैसा कि उत्तराध्ययन और पञ्चाशक की पूर्वोद्धृत गाथाओं से विदित होता है। इससे स्पष्ट है कि तीर्थकर सवस्त्रमुक्ति संभव नहीं मानते थे, इसके विपरीत वस्त्रपात्रादि-परिग्रह को संयम, ध्यान आदि में बाधक होने से मोक्ष में बाधक मानते थे। और यह बात तो साधारणबुद्धि में भी आ सकती है कि जब वस्त्रपात्रादि-परिग्रह तीर्थकरों के लिए मोक्ष में बाधक हो सकता है, तब उन जैसी योग्यता न रखनेवाले साधारण स्त्रीपुरुषों के लिए तो और भी अधिक बाधक होगा। यदि वस्त्रादिपरिग्रह मोक्षसाधक होता, तो तीर्थकर उसे ही अंगीकार करते, क्योंकि श्वेताम्बराचार्यों के अनुसार तीर्थकरों को यह उपदेश भी देना आवश्यक होता है कि मोक्षमार्ग सवस्त्र ही है, निर्वस्त्र नहीं, जिसके लिए उन्हें एक देवदूष्य कन्धे पर रखकर प्रव्रजित होना पड़ता है। पर तीर्थकरों ने वस्त्रपात्रादि ग्रहण नहीं किये, बल्कि जो वस्त्रादि बाल्यकाल से धारण करते आ रहे थे, उनका परित्याग कर दिया और नग्न हो गये। इससे सिद्ध है कि स्थविरकल्प (सचेलधर्म) के मोक्षमार्ग होने का उपदेश तीर्थकरों ने नहीं दिया, अपितु वह आगे चलकर कुछ देहसुखाकांक्षी लोगों के द्वारा कल्पित किया गया है।

इससे यह निर्णय आसानी से हो जाता है कि वस्त्रपात्रादि-परिग्रह मोक्ष का साधक नहीं है, अपितु मोक्ष में बाधक है, अतः वह ग्रन्थ ही है, अग्रन्थ नहीं। अत एव श्वेताम्बराचार्यों का यह कथन अयुक्त सिद्ध हो जाता है कि 'वस्त्रपात्रादि संयम और लज्जा के साधन होने से परिग्रह नहीं है, अपितु उनमें मूर्च्छा होना परिग्रह है अथवा वे संयम के साधन हैं, अत एव ग्रन्थ नहीं हैं, अग्रन्थ ही हैं।'

इस प्रकार हम देखते हैं कि आचार्य शय्यंभव (४५२ ई० पू०) से लेकर जिनभद्रगणी-क्षमाश्रमण (७वीं शती ई०) तक सभी आचार्यों ने अपने नवीन मत को पुष्ट करने के लिए दिगम्बरजैन-सिद्धान्तों का खण्डन किया है, जिससे सिद्ध होता है कि दिगम्बरमत उनके समय में प्रचलित था, अतः वह उन आचार्यों से पूर्ववर्ती है।

चतुर्थ अध्याय

चतुर्थ अध्याय

जैनेतर साहित्य में दिगम्बरजैन मुनियों की चर्चा

प्रथम प्रकरण

वैदिकसाहित्य एवं संस्कृतसाहित्य में दिगम्बरजैन मुनि

दिगम्बरजैनमत की प्राचीनता सिद्ध करने के लिए अब मैं जैनेतरसाहित्य से प्रमाण प्रस्तुत कर रहा हूँ। वे ऐसे प्रमाण हैं जो दिगम्बर-श्वेताम्बर परम्पराओं के ग्रन्थों की बजाय दोनों से भिन्न वैदिक और बौद्ध परम्पराओं के ग्रन्थों तथा संस्कृतसाहित्य में उपलब्ध हैं। इस कारण वे सर्वथा तटस्थ हैं। उनमें किसी प्रकार के पक्षपात और कपट की शंका के लिए स्थान नहीं है। उक्त ग्रन्थों तथा संस्कृतसाहित्य में जैनमत की उत्पत्तिविषयक घटनाएँ अवश्य साम्प्रदायिक विद्वेषवश असत्य और घृणोत्पादक रूप से गढ़ी गई हैं, किन्तु जैन मुनियों का जो रूप उनमें वर्णित है वह दिगम्बर और श्वेताम्बर जैनपरम्पराओं के अनुरूप है।

यहाँ वैदिकपरम्परा के ग्रन्थों को वैदिकसाहित्य और बौद्धपरम्परा के ग्रन्थों को बौद्धसाहित्य नाम से अभिहित किया जा रहा है। वैदिकपरम्परा का वर्तमान नाम हिन्दू-परम्परा है। हिन्दूसम्प्रदाय वेदों का अनुयायी है, अतः उसका वास्तविक नाम वैदिक-सम्प्रदाय ही है। 'हिन्दू' शब्द तो प्राचीनकाल में भारत में आनेवाले ईरानियों के द्वारा भारत की सिन्धु नदी को 'हिन्दू' उच्चरित किये जाने के कारण प्रचलित हुआ है। (देखिये, डॉ० रामधारी सिंह 'दिनकर'-लिखित 'संस्कृति के चार अध्याय'/प्रकरण ३/पृष्ठ ७८)। वैदिकपरम्परा के पुराणसाहित्य में वेदानुयायित्व और वेदबाह्यत्व के आधार पर ही धार्मिक सम्प्रदायों का विभाजन किया गया है। पुराणों में जैनों, बौद्धों और चार्वाकों को वेदबाह्य और अवैदिक कहा गया है तथा शेष प्राचीन भारतीय समुदाय को वैदिक। मत्स्यपुराण (३०० ई०) के 'जिनधर्म समास्थाय वेदबाह्यं स वेदवित्' (२४/२७) तथा 'वेदबाह्यान् परिज्ञाय' (२४/४८) इन वाक्यों में जैनधर्म और जैनधर्मानुयायियों को 'वेदबाह्य' विशेषण दिया गया है। इसी सत्य का अनुसरण करते हुए डॉ० बलदेव उपाध्याय 'संस्कृत साहित्य का इतिहास' (पृ. ५९) में लिखते हैं— "राम वैदिक, बौद्ध तथा जैनधर्मों में समभाव से मर्यादा-पुरुष माने गये हैं।" इस तरह उपाध्याय जी ने हिन्दूसम्प्रदाय को वैदिकसम्प्रदाय के नाम से अभिहित किया

है। पं० दलसुख मालवणिया ने लिखा है—“वैदिक दर्शनों के अनुयायी जब छह दर्शनों की चर्चा करते हैं, तब वे छह दर्शनों में केवल वैदिक दर्शनों (न्याय-वैशेषिक, सांख्य-योग और पूर्व एवं उत्तर भीमांसा) का ही समावेश करते हैं। किन्तु, प्रस्तुत ‘षड्दर्शनसमुच्चय’ में वैदिक-अवैदिक सब मिलाकर (दर्शनों की) छह संख्या है।” (षड्दर्शनसमुच्चय/प्रस्ता./पृ.७)। तात्पर्य यह कि न्याय, वैशेषिक आदि छह दर्शन भी वैदिकदर्शन के ही नाम से प्रसिद्ध हैं।

इन प्रमाणों के आधार पर प्रस्तुत अध्याय में वेद, उपनिषद् आदि के अतिरिक्त वेदानुयायी धार्मिकग्रन्थ रामायण, महाभारत तथा पुराण आदि को वैदिक-साहित्य के नाम से अभिहित किया गया है तथा संस्कृत में लिखित जिस साहित्य में साम्प्रदायिक सिद्धान्तों के प्रतिपादन की प्रधानता न होकर काव्यात्मकता की प्रधानता है, उस गद्य-पद्य-नाट्यरूप साहित्य एवं कला-शिल्प-विषयक साहित्य को संस्कृतसाहित्य में परिगणित किया गया है। इन दोनों प्रकार के साहित्यों से एक ही शीर्षक के अन्तर्गत कालक्रमानुसार उद्धरण दिये जा रहे हैं।

वैदिकसाहित्य एवं संस्कृतसाहित्य में ऋग्वेद से लेकर ११वीं शताब्दी ई० तक के बीस से अधिक ग्रन्थों में दिगम्बरजैन मुनियों का उल्लेख किया गया है। एक पुराण में श्वेताम्बर मुनियों की भी चर्चा है। जिन ग्रंथों में ये उल्लेख हैं, उनके रचनाकाल तथा जिन ऐतिहासिक या पौराणिक मानव-पात्रों के साथ उनका वर्णन किया गया है, उनके काल से दिगम्बर-जैनमत की प्राचीनता का निश्चय किया जा सकता है।

दिगम्बरमत के ग्रंथों में बतलाया गया है कि दिगम्बरजैन मुनि यथाजातरूपधर (जन्म के समय जैसा रूप होता है, वैसे सर्वाङ्गनिर्वस्त्र नग्नरूप को धारण करनेवाले) होते हैं, उनके हाथ में मयूरपिच्छी होती है तथा जब कोई उनकी वन्दना करता है, तब वे उसे ‘धर्मवृद्धि हो’ यह आशीर्वाद देते हैं। इसी प्रकार श्वेताम्बरीय ग्रन्थों में श्वेताम्बरमुनि को वस्त्र, पात्र, मुखवस्त्रिका, रजोहरण, कम्बल आदि अनेक उपकरणों का धारी तथा ‘धर्मलाभ’ का आशीर्वाद देनेवाला वर्णित किया गया है। वैदिकसाहित्य एवं संस्कृतसाहित्य में दिगम्बर और श्वेताम्बर मुनि इसी रूप में चित्रित किये गये हैं। इन दोनों साहित्यों को मिश्रित कर उनसे कालक्रमानुसार उदाहरण नीचे दिये जा रहे हैं—

१

ऋग्वेद में वातरशन मुनि, वृषभ, शिशुदेव

वैदिकसाहित्य के प्रमुख ग्रन्थ ऋग्वेद की रचना कम से कम १५०० ई० पू० में मानी गई है। उसमें दिगम्बरजैन मुनियों का उल्लेख मिलता है। इस पर प्रकाश

डालते हुए डॉ० हीरालाल जी जैन भारतीय संस्कृति में जैनधर्म का योगदान नामक ग्रन्थ में लिखते हैं—

“भागवतपुराण के पाँचवें स्कंध के प्रथम छह अध्यायों में ऋषभदेव के वंश, जीवन व तपश्चरण का वृत्तान्त वर्णित है, जो सभी मुख्य-मुख्य बातों में जैन पुराणों से मिलता है। उनके माता-पिता के नाम नाभि और मरुदेवी पाये जाते हैं, तथा उन्हें स्वयंभू मनु की पाँचवी पीढ़ी में इस क्रम से हुए कहा गया है—स्वयंभूमनु, प्रियव्रत, आग्नीध्र, नाभि और ऋषभ। उन्होंने अपने ज्येष्ठ पुत्र भरत को राज्य देकर संन्यास ग्रहण किया। वे नग्न रहने लगे और केवल शरीरमात्र ही उनके पास था। लोगों द्वारा तिरस्कार किये जाने, गाली-गलौच किये जाने व मारे जाने पर भी वे मौन ही रहते थे। अपने कठोर तपश्चरण द्वारा उन्होंने कैवल्य की प्राप्ति की, तथा दक्षिण कर्नाटक तक नाना प्रदेशों में परिभ्रमण किया। वे कुटकाचल पर्वत के वन में उन्मत्त की नाई नग्नरूप में विचरने लगे। बाँसों की रगड़ से वन में आग लग गई और उसी में उन्होंने अपने को भस्म कर डाला।

“भागवतपुराण में यह भी कहा गया है कि ऋषभदेव के इस चरित्र को सुनकर कोंक, बैक व कुटक का राजा अर्हन् कलयुग में अपनी इच्छा से उसी धर्म का संप्रवर्तन करेगा, इत्यादि। इस वर्णन से इसमें कोई सन्देह नहीं रह जाता कि भागवतपुराण का तात्पर्य जैन पुराणों के ऋषभ तीर्थंकर से ही है, और अर्हन् राजा द्वारा प्रवर्तित धर्म का अभिप्राय जैनधर्म से। अतः यह आवश्यक हो जाता है कि भागवतपुराण तथा वैदिक परम्परा के अन्य प्राचीन ग्रन्थों में ऋषभदेव के संबंध की बातों की कुछ गहराई से जाँच-पड़ताल की जाय। भागवतपुराण में कहा गया है कि—

“बर्हिषि तस्मिन्नेव विष्णुदत्त! भगवान् परमर्षिभिः प्रसादितो नाभेः प्रियचिकी-
र्षया तदवरोधायने मेरुदेव्यां धर्मान् दर्शयितुकामो वातरशनानां श्रमणानामृषीणामूर्ध्व-
मस्थिनां शुक्लया तन्वावततार।” (भा.पु./५/३/२०)।

“हे विष्णुदत्त पारीक्षित! यज्ञ में परम ऋषियों द्वारा प्रसन्न किये जाने पर स्वयं श्री भगवान् (विष्णु) महाराज नाभि का प्रिय करने के लिये उनके रनिवास में महाराजी मेरुदेवी के गर्भ में आए। उन्होंने इस पवित्र शरीर से (शुक्लया तन्वा) अवतार वातरशन श्रमण ऋषियों के धर्मों को प्रकट करने की इच्छा से ग्रहण किया।”

“भागवतपुराण के इस कथन में दो बातें विशेष ध्यान देने योग्य हैं, क्योंकि उनका भगवान् ऋषभदेव के भारतीय संस्कृति में स्थान तथा उनकी प्राचीनता और साहित्यिक परंपरा से बड़ा घनिष्ठ और महत्त्वपूर्ण संबंध है। एक तो यह कि ऋषभदेव की मान्यता और पूज्यता के संबंध में जैन और हिन्दुओं के बीच कोई मतभेद नहीं

है। जैसे वे जैनियों के आदि तीर्थंकर हैं, उसी प्रकार वे हिन्दुओं के लिए साक्षात् भगवान् विष्णु के अवतार हैं। उनके ईश्वरावतार होने की मान्यता प्राचीनकाल में इतनी बद्धमूल हो गयी थी कि शिवमहापुराण में भी उन्हें शिव के अट्टाईस योगावतारों में गिनाया गया है (शिवमहापुराण/७/२/९)। दूसरी बात यह है कि प्राचीनता में यह अवतार राम और कृष्ण के अवतारों से भी पूर्व का माना गया है। इस अवतार का जो हेतु भागवतपुराण में बतलाया गया है उससे श्रमणधर्म की परम्परा भारतीय साहित्य के प्राचीनतम ग्रन्थ ऋग्वेद से निःसन्देहरूप से जुड़ जाती है। ऋषभावतार का हेतु वातरशन श्रमण ऋषियों के धर्म को प्रकट करना बतलाया गया है। भागवतपुराण में यह भी कहा गया है कि--'अयमवतारो रजसोपप्लुत-कैवल्योपशिक्षणार्थः' (भा.पु./५/६/१२)।

“अर्थात् भगवान् का यह अवतार रजोगुण से भरे हुए लोगों को कैवल्य की शिक्षा देने के लिए हुआ। किन्तु उक्त वाक्य का यह अर्थ भी संभव है कि यह अवतार रज से उपप्लुत अर्थात् रजोधरण (मलधारण) वृत्ति द्वारा कैवल्यप्राप्ति की शिक्षा देने के लिए हुआ था। जैन मुनियों के आचार में अस्नान, अदन्तधावन, मलपरीषह आदि द्वारा रजोधरण संयम का आवश्यक अंग माना गया है। बुद्ध के समय में भी रजोजल्लिक श्रमण विद्यमान थे। बुद्ध भगवान् ने श्रमणों की आचार-प्रणाली में व्यवस्था लाते हुए एक बार कहा था—

“नाहं भिक्षुवे संघाटिकस्य संघाटिधारणमत्तेन सामञ्जं वदामि, अचेलकस्स अचेलकमत्तेन रजोजल्लिकस्य रजोजल्लिकमत्तेन --- जटिलकस्स जटाधारणमत्तेन सामञ्जं वदामि।” (मज्झिमनिकाय/४०)।

“अर्थात् हे भिक्षुओ! मैं संघाटिक के संघाटी-धारणमात्र से श्रामण्य नहीं कहता, अचेलक के अचेलकत्वमात्र से, रजोजल्लिक के रजोजल्लिकत्व-मात्र से और जटिलक के जटाधारण-मात्र से भी श्रामण्य नहीं कहता।

“अब प्रश्न यह होता है कि जिन वातरशन मुनियों के धर्मों की स्थापना करने तथा रजोजल्लिक वृत्ति द्वारा कैवल्य की प्राप्ति सिखलाने के लिये भगवान् ऋषभदेव का अवतार हुआ था, वे कब से भारतीय साहित्य में उल्लिखित पाये जाते हैं। इसके लिये जब हम भारत के प्राचीनतम ग्रन्थ वेदों को देखते हैं, तो हमें वहाँ भी वातरशन मुनियों का उल्लेख अनेक स्थलों में दिखाई देता है।

“ऋग्वेद की वातरशन मुनियों के संबंध की ऋचाओं में उन मुनियों की साधनाएँ ध्यान देने योग्य हैं। एक सूक्त की कुछ ऋचाएँ देखिये—

मुनयो वातरशनाः पिशंगा वसते मला।
वातस्यानु ध्राजिं यन्ति यद्देवासो अविक्षतः॥

उन्मदिता मौनेयेन वाताँ आ तस्थिमा वयम्।
शरीरेदस्माकं यूयं मर्तासो अभि पश्यथ॥

(ऋग्वेद / १०/१३६/२-३)।

“विद्वानों के नाना प्रयत्न होने पर भी अभी तक वेदों का निस्संदेहरूप से अर्थ बँटाना संभव नहीं हो सका है। तथापि सायणभाष्य की सहायता से मैं उक्त ऋचाओं का अर्थ इस प्रकार करता हूँ—अतीन्द्रियार्थदर्शी वातरशन मुनि मल धारण करते हैं, जिससे वे पिंगल वर्ण दिखाई देते हैं। जब वे वायु की गति को प्राणोपासना द्वारा धारण कर लेते हैं, अर्थात् रोक लेते हैं, तब वे अपनी तप की महिमा से दीप्यमान होकर देवतास्वरूप को प्राप्त हो जाते हैं। सर्व लौकिक व्यवहार को छोड़कर हम मौनवृत्ति से उन्मत्तवत् (उत्कृष्ट आनन्दसहित) वायुभाव (अशरीरी ध्यानवृत्ति) को प्राप्त होते हैं, और तुम साधारण मनुष्य हमारे बाह्य शरीरमात्र को देख पाते हो, हमारे सच्चे आभ्यंतर स्वरूप को नहीं (ऐसा वे वातरशन मुनि प्रकट करते हैं)।

“ऋग्वेद में उक्त ऋचाओं के साथ ‘केशी’ की स्तुति की गई है—

केश्यग्निं केशी विषं केशी बिभर्ति रोदसी।
केशी विश्वं स्वर्दृशे केशीदं ज्योतिरुच्यते॥ (१०/१३६/१)।

“केशी अग्नि, जल तथा स्वर्ग और पृथ्वी को धारण करता है। केशी समस्त विश्व के तत्त्वों का दर्शन कराता है। केशी ही प्रकाशमान ज्योति (केवलज्ञानी) कहलाता है।

“केशी की यह स्तुति उक्त वातरशन मुनियों के वर्णन आदि में की गई है, जिससे प्रतीत होता है कि केशी वातरशन मुनियों के वर्णन के प्रधान थे।

“ऋग्वेद के इन केशी व वातरशन मुनियों की साधनाओं की भागवतपुराण में उल्लिखित वातरशन श्रमण ऋषि, उनके अधिनायक ऋषभ और उनकी साधनाओं की तुलना करने योग्य है। ऋग्वेद के वातरशन मुनि और भागवत के ‘वातरशन श्रमण ऋषि’ एक ही सम्प्रदाय के वाचक हैं, इसमें तो किसी को किसी प्रकार का सन्देह होने का अवकाश नहीं दिखाई देता है। केशी का अर्थ केशधारी होता है, जिसका अर्थ सायणाचार्य ने ‘केशस्थानीय रश्मियों को धारण करनेवाले’ किया है, और उससे सूर्य का अर्थ निकाला है। किन्तु उसकी कोई सार्थकता व संगति वातरशन मुनियों के साथ नहीं बैठती, जिनकी साधनाओं का उस सूक्त में वर्णन है। केशी स्पष्टतः

वातरशन मुनियों के अधिनायक ही हो सकते हैं, जिनकी साधना में मलधारणा, मौनवृत्ति और उन्माद भाव का विशेष उल्लेख है। सूक्त में आगे उन्हें ही 'मुनिर्देवस्य देवस्य सौकृत्याय सखा हितः' (ऋ.वे./१०/१३६/४) अर्थात् देवदेवों के मुनि व उपकारी और हितकारी सखा कहा है। वातरशन शब्द में और मलरूपी वसनधारण करने में उनकी नाग्न्यवृत्ति का भी संकेत है। इसकी भागवतपुराण में ऋषभ के वर्णन से तुलना कीजिये—

“उर्वरितशरीरमात्रपरिग्रह उन्मत्त इव गगनपरिधानः प्रकीर्णकेश आत्मन्यारो-
पिताहवनीयो ब्रह्मावर्तात् प्रवव्राज। जडान्धमूकबधिरपिशाचोन्मादकवदवधूतवेषोऽभि-
भाष्यमाणोऽपि जनानां गृहीतमौनव्रतस्तूष्णीं बभूव। --- परागवलम्बमानकुटिल-
जटिलकपिशकेशभूरिभारोऽवधूतमलिननिजशरीरेण ग्रहगृहीत इवादृश्यत।” (भा.पु./५/
५/२८,२९-३१/पृ.२११)।

“अर्थात् ऋषभ भगवान् के शरीरमात्र परिग्रह बच रहा था। वे उन्मत्त के समान दिगम्बरवेशधारी, बिखरे हुए केशों-सहित आहवनीय अग्नि को अपने में धारण करके ब्रह्मावर्त देश से प्रव्रजित हुए। वे जड़, अन्ध, मूक, बधिर, पिशाचोन्मादयुक्त जैसे अवधूतवेष में लोगों के बुलाने पर भी मौनवृत्ति धारण किए हुए चुप रहते थे। --- सब ओर लटकते हुए अपने कुटिल, जटिल, कपिश केशों के भारसहित अवधूत और मलिन शरीरसहित वे ऐसे दिखाई देते थे, जैसे मानों उन्हें भूत लगा हो।

“यथार्थतः यदि ऋग्वेद के उक्त केशीसंबंधी सूक्त को, तथा भागवतपुराण में वर्णित ऋषभदेव के चरित्र को सन्मुख रखकर पढ़ा जाय, तो पुराण में वेद के सूक्त का विस्तृत भाष्य किया गया सा प्रतीत होता है। वही वातरशन या गगनपरिधानवृत्ति केश-धारण, कपिश वर्ण, मलधारण, मौन और उन्मादभाव समान रूप से दोनों में वर्णित हैं। ऋषभ भगवान् के कुटिल केशों की परम्परा जैन मूर्तिकला में प्राचीनतम काल से आज तक अक्षुण्ण पाई जाती है। यथार्थतः समस्त तीर्थकरों में केवल ऋषभ की ही मूर्तियों के सिर पर कुटिल केशों का रूप दिखलाया जाता है, और वही उनका प्राचीन विशेष लक्षण भी माना जाता है। इस संबंध में मुझे केशरियानाथ का स्मरण आता है, जो ऋषभनाथ का ही नामान्तर है। केसर, केश और जटा एक ही अर्थ के वाचक हैं 'सटा जटाकेसरयोः'। (विश्वलोचनकोश/टान्तवर्ग/३०)। सिंह भी अपने केशों के कारण केसरी कहलाता है। इस प्रकार केशी और केसरी एक ही केशरियानाथ या ऋषभनाथ के वाचक प्रतीत होते हैं। केशरियानाथ पर जो केशर चढ़ाने की विशेष मान्यता प्रचलित है, वह नामसाम्य के कारण उत्पन्न हुई प्रतीत होती है। जैन पुराणों में भी ऋषभ की जटाओं का सदैव उल्लेख किया गया है। पद्मपुराण

(३/२८८) में वर्णन है—‘वातोद्धृता जटास्तस्य रेजुराकुलमूर्तयः’ और हरिवंशपुराण (९/२०४) में उन्हें कहा है—‘सप्रलम्बजटाभार-भ्राजिष्णुः।’ इस प्रकार ऋग्वेद के केशी और वातरशन मुनि, तथा भागवतपुराण के ऋषभ और वातरशन-श्रमण-ऋषि एवं केसरियानाथ ऋषभ तीर्थंकर और उनका निर्ग्रन्थसम्प्रदाय एक ही सिद्ध होते हैं।

“केशी और ऋषभ के एक ही पुरुषवाची होने के उक्त प्रकार अनुमान करने के पश्चात् हठात् मेरी दृष्टि ऋग्वेद की एक ऐसी ऋचा पर पड़ गई, जिसमें वृषभ और केशी का साथ-साथ उल्लेख आया है। वह ऋचा इस प्रकार है—

ककर्दवे वृषभो युक्त आसौद् अवावचीत् सारथिरस्य केशी।

दुधेर्युक्तस्य द्रवतः सहानस ऋच्छन्तिष्वा निष्पदो मुद्गलानीम्॥

(ऋग्वेद/१०/१०२/६)।

“जिस सूक्त में यह ऋचा आई है उसकी प्रस्तावना में निरुक्त के जो ‘मुद्गलस्य हृता गावः’ आदि श्लोक उद्धृत किए गए हैं, उनके अनुसार मुद्गल ऋषि की गौओं को चोर चुरा ले गए थे। उन्हें लौटाने के लिए ऋषि ने केशी वृषभ को अपना सारथी बनाया, जिसके वचन मात्र से वे गौएँ आगे को न भागकर पीछे की ओर लौट पड़ीं। प्रस्तुत ऋचा का भाष्य करते हुए सायणाचार्य ने पहले तो वृषभ और केशी का वाच्यार्थ पृथक् बतलाया है, किंतु फिर प्रकारान्तर से उन्होंने कहा है—

“अथवा, अस्य सारथिः सहायभूतः केशी प्रकृष्टकेशो वृषभः अवावचीत् भ्रशमशब्दयत्” इत्यादि।

“सायण के इसी अर्थ को तथा निरुक्त के उक्त कथा-प्रसंग को भारतीय दार्शनिक परम्परानुसार ध्यान में रखते हुए प्रस्तुत गाथा का मुझे यह अर्थ प्रतीत होता है—

“मुद्गल ऋषि के सारथी (विद्वान् नेता) केशी वृषभ, जो शत्रुओं का विनाश करने के लिए नियुक्त थे, उनकी वाणी निकली, जिसके फलस्वरूप जो मुद्गल ऋषि की गौएँ (इन्द्रियाँ) जुते हुए दुर्धर रथ (शरीर) के साथ दौड़ रही थीं, वे निश्चल होकर मौद्गलानी (मुद्गल की स्वात्मवृत्ति) की ओर लौट पड़ीं।

“तात्पर्य यह कि मुद्गल ऋषि की जो इन्द्रियाँ पराङ्मुखी थीं, वे उनके योगयुक्त ज्ञानी नेता केशी वृषभ के धर्मोपदेश को सुनकर अन्तर्मुखी हो गईं।

“इस प्रकार केशी और वृषभ या ऋषभ के एकत्व का स्वयं ऋग्वेद से ही पूर्णतः समर्थन हो जाता है। विद्वान् इस एकीकरण पर विचार करें। मैं पहले ही कह चुका हूँ कि वेदों का अर्थ करने में विद्वान् अभी पूर्णतः सफल नहीं हो सके हैं। विशेषतः वेदों की जैसी भारतीय संस्कृति में पदप्रतिष्ठा है, उसकी दृष्टि से तो अभी

उनके समझने-समझाने में बहुत सुधार की आवश्यकता है। मुझे आशा है कि केशी, वृषभ या ऋषभ तथा वातरशन मुनियों के वेदान्तगत समस्त उल्लेखों के सूक्ष्म अध्ययन से इस विषय के रहस्य का पूर्णतः उद्घाटन हो सकेगा। क्या ऋग्वेद (४/५८/३) के 'त्रिधा बद्धो वृषभो रोरवीति महादेवो मर्त्यानाविवेश' का यह अर्थ नहीं हो सकता कि त्रिधा (ज्ञान, दर्शन और चारित्र से) अनुबद्ध वृषभ ने धर्म-घोषणा की और वे एक महान् देव के रूप में मर्त्यां में प्रविष्ट हुए? इसी संबंध में ऋग्वेद के शिश्नदेवों (नग्न देवों) वाले उल्लेख भी ध्यान देने योग्य हैं (ऋ० वे०/७/२१/५/ एवं १०/९९/३)। इस प्रकार ऋग्वेद में उल्लिखित वातरशन मुनियों के निर्ग्रन्थ साधुओं तथा उन मुनियों के नायक केशी मुनि का ऋषभदेव के साथ एकीकरण हो जाने से जैनधर्म की प्राचीन परम्परा पर बड़ा महत्वपूर्ण प्रकाश पड़ता है। वेदों के रचनाकाल के सम्बन्ध में विद्वानों के बीच बहुत मतभेद है। कितने ही विद्वानों ने उन्हें ई० सन् से ५००० वर्ष व उससे भी अधिक पूर्व रचा गया माना है। किन्तु आधुनिक पाश्चात्य एवं भारतीय विद्वानों का बहुमत यह है कि वेदों की रचना उसके वर्तमानरूप में ई० पूर्व सन् १५०० के लगभग हुई होगी। चारों वेदों में ऋग्वेद सबसे प्राचीन माना जाता है। अत एव ऋग्वेद की ऋचाओं में ही वातरशन मुनियों तथा 'केशी ऋषभदेव' का उल्लेख होने से जैनधर्म को अपने प्राचीन रूप में ई० पूर्व सन् १५०० में प्रचलित मानना अनुचित न होगा। 'केशी' नाम जैनपरम्परा में प्रचलित रहा, इसका प्रमाण यह है कि महावीर के समय में पार्श्व-सम्प्रदाय के नेता का नाम केशीकुमार था। (उत्तरा.१३)।

“उक्त वातरशना मुनियों की जो मान्यता व साधनाएँ वैदिक ऋचा में भी उल्लिखित हैं, उन पर से हम इस परम्परा को वैदिक परम्परा से स्पष्टतः पृथक् रूप से समझ सकते हैं। वैदिक ऋषि वैसे त्यागी और तपस्वी नहीं थे जैसे ये वातरशना मुनि थे। वे ऋषि स्वयं गृहस्थ हैं, यज्ञसम्बन्धी विधिविधान में आस्था रखते हैं और अपनी इहलौकिक इच्छाओं जैसे पुत्र, धन, धान्य आदि सम्पत्ति की प्राप्ति के लिए इन्द्रादि देवी-देवताओं का आह्वान करते-कराते हैं, तथा इसके उपलक्ष्य में यजमानों से धन-सम्पत्ति का दान स्वीकार करते हैं। किन्तु इसके विपरीत वातरशन मुनि उक्त क्रियाओं में रत नहीं होते। समस्त गृह-द्वार, स्त्री-पुरुष, धन-धान्य आदि परिग्रह, यहाँ तक कि वस्त्र का भी परित्याग कर, भिक्षावृत्ति से रहते हैं। शरीर का स्नानादि संस्कार न कर मलधारण किये रहते हैं। भौनवृत्ति से रहते हैं, तथा अन्य देवी-देवताओं के आराधन से मुक्त आत्मध्यान में ही अपना कल्याण समझते हैं। स्पष्टतः यह उस श्रमणपरम्परा का प्राचीन रूप है, जो आगे चलकर अनेक अवैदिक सम्प्रदायों के रूप में प्रगट हुई और जिनमें से दो अर्थात् जैन और बौद्ध सम्प्रदाय आज तक भी विद्यमान हैं। प्राचीन समस्त भारतीय साहित्य, वैदिक, बौद्ध व जैन तथा शिलालेखों में भी ब्राह्मण

और श्रमण सम्प्रदायों का उल्लेख मिलता है। जैन एवं बौद्ध साधु आज तक भी श्रमण कहलाते हैं। वैदिक परम्परा के धार्मिक गुरु कहलाते थे ऋषि, जिनका वर्णन ऋग्वेद में बारम्बार आया है। किन्तु श्रमणपरम्परा के साधुओं की संज्ञा मुनि थी, जिसका उल्लेख ऋग्वेद में केवल उन वातरशन मुनियों के संबंध को छोड़ अन्यत्र कहीं नहीं आया। ऋषि-मुनि कहने से दोनों सम्प्रदायों का ग्रहण समझना चाहिये। पीछे परस्पर इन सम्प्रदायों का खूब आदान-प्रदान हुआ और दोनों शब्दों को प्रायः एक-दूसरे का पर्यायवाची माना जाने लगा।” (भारतीय संस्कृति में जैनधर्म का योगदान/पृ. ११-१८)।

शिश्रदेव—ऋग्वेद के दो सूक्तों में शिश्रदेवों अर्थात् नग्नदेवों की चर्चा है। यथा—

न यातव इन्द्र जूजुवर्नो न वन्दना शविष्ठ वेद्याभिः।

स शर्धदर्यो विषुणस्य जन्तोर्मा शिश्रदेवा अपि गुर्कृतनः॥ ७/२१॥

अनुवाद—“हे इन्द्र! हे शक्तिमान् देव! न तो दुष्टात्माओं ने हमें अपने कुचक्रों से प्रेरित किया है, न राक्षसों ने। हमारा सच्चा देव हमारे शत्रुओं को वश में करे। शिश्रदेव हमारे पवित्र यज्ञ के समीप न आवें।”

स वाजं यातापदुष्यदा यन्स्वर्षाता परि षदत्सनिष्यन्।

अनर्वा यच्छतदुरस्य वेदो ध्नञ्छिश्रदेवाँ अभि वर्षसा भूत्॥ १०/१९॥

अनुवाद—“वह (इन्द्र) अत्यन्त शुभमार्ग से युद्ध के लिये जाता है। उसने स्वर्ग के प्रकाश को जीतने के लिए अत्यन्त कठिन परिश्रम किया, उसे पाने को वह बहुत उत्सुक था। उसने शिश्रदेवों को मारकर सौ द्वारों वाले दुर्ग की निधि पर अधिकार कर लिया।”

ए० एम० मैक्डानल ने अपने ग्रन्थ वैदिक माइथॉलॉजी में कहा है कि “शिश्रदेवों की पूजा ऋग्वेद के धार्मिक विचारों के प्रतिकूल रही होगी, क्योंकि उन्हें यज्ञस्थल में न आने देने के लिए इन्द्र से प्रार्थना की गयी है। ऋग्वेद में यह भी कहा गया है कि जब इन्द्र ने सौ द्वारोंवाले दुर्ग में खजाने को छिपा हुआ देखा, तब उसने शिश्रदेवों का वधकर उस खजाने पर कब्जा कर लिया।” (देखिये, ‘वैदिक माइथॉलॉजी’ का रामकुमार राय-कृत हिन्दी अनुवाद/पृ. २९६)।

‘शिश्रदेव’ इस नाम वैशिष्ट्य तथा शिश्रदेवों के वेदप्रतिकूल धर्म-दर्शन से स्पष्ट है कि वे नग्न देवों अर्थात् नग्न तीर्थकरों की उपासना करनेवाले निर्ग्रन्थ सम्प्रदाय के लोग थे। पं० कैलाशचन्द्र शास्त्री ने लिखा है कि “प्रायः सभी विद्वानों ने ‘शिश्रदेवाः’ का अर्थ शिश्र को देवता माननेवाले अर्थात् लिंगपूजक किया है। किन्तु इसका एक दूसरा अर्थ भी होता है—शिश्रयुत देवता को माननेवाले अर्थात् जो नंगे देवताओं को

पूजते हैं।” (जै.सा.इ./पू.पी./पृ. १०४)। यह दूसरा अर्थ ही युक्तिसंगत और इतिहास सम्मत है।

२

अथर्ववेद एवं ब्राह्मणग्रन्थों में यति और व्रात्य

“ऋग्वेद में मुनियों के अतिरिक्त यतियों का भी उल्लेख बहुतायत से आया है। ये यति भी ब्राह्मणपरम्परा के न होकर श्रमणपरम्परा के ही साधु सिद्ध होते हैं, जिनके लिये यह संज्ञा समस्त जैनसाहित्य में उपयुक्त होते हुए आज तक भी प्रचलित है। यद्यपि आदि में ऋषियों, मुनियों और यतियों के बीच ढारमेल पाया जाता है और वे समान रूप से पूज्य माने जाते थे, किन्तु कुछ (समय) ही पश्चात् यतियों के प्रति वैदिक परम्परा में महान् रोष उत्पन्न होने के प्रमाण हमें ब्राह्मणग्रंथों में मिलते हैं, जहाँ इन्द्र द्वारा यतियों को शालावृकों (शृगालों व कुत्तों) द्वारा नुचवाये जाने का उल्लेख मिलता है। (तैत्तिरीयसंहिता/२,४,९,२;६,२,७,५ ताण्ड्यब्राह्मण/१४,२,२८;१८,१,९)। किन्तु इन्द्र के इस कार्य को देवों ने उचित नहीं समझा और उन्होंने इसके लिये इन्द्र का बहिष्कार भी किया (ऐतरेय ब्राह्मण ७,२८)। ताण्ड्यब्राह्मण के टीकाकारों ने यतियों का अर्थ किया है ‘वेदविरुद्धनियमोपेत, कर्मविरोधिजन, ज्योतिष्टोमादि अकृत्वा प्रकारान्तरेण वर्तमान’ आदि, इन विशेषणों से उनकी श्रमण-परम्परा स्पष्ट प्रमाणित हो जाती है। भगवद्गीता में ऋषियों, मुनियों और यतियों का स्वरूप भी बतलाया है और उन्हें समानरूप से योगप्रवृत्त माना है। यहाँ मुनि को इन्द्रिय और मन का संयम करनेवाला, इच्छा, भय व क्रोधरहित मोक्षपरायण व सदा मुक्त के समान माना है (भ.गी.५/१८) और यति को काम-क्रोध-रहित, संयत-चित्त व वीतराग कहा है (भ.गी.५/२६, ८/११ आदि)। अथर्ववेद के १५वें अध्याय में व्रात्यों का वर्णन आया है। सामवेद के ताण्ड्य-ब्राह्मण व लाट्यायन, कात्यायन व आपस्तंबीय श्रौतसूत्रों में व्रात्यस्तोमविधि द्वारा उन्हें शुद्ध कर वैदिकपरम्परा में सम्मिलित करने का भी वर्णन है। ये व्रात्य वैदिकविधि से ‘अदीक्षित व संस्कारहीन’ थे। वे अदुरुक्त वाक्य को दुरुक्तीति से, (वैदिक व संस्कृत नहीं, किन्तु अपने समय की प्राकृत भाषा) बोलते थे, वे ‘ज्याहद’ (प्रत्यंचारहित धनुष) धारण करते थे। मनुस्मृति (१०वें अध्याय) में लिच्छवि, नाथ, मल आदि क्षत्रिय जातियों को व्रात्यों में गिनाया है। इन सब उल्लेखों पर सूक्ष्मता से विचार करने से इसमें सन्देह नहीं रहता कि ये व्रात्य भी श्रमणपरम्परा के साधु व गृहस्थ थे, जो वेद-विरोधी होने से वैदिक अनुयायियों के कोप-भाजन हुए हैं। जैनधर्म के मुख्य पाँच अहिंसादि नियमों को व्रत कहा है। उन्हें ग्रहण करनेवाले श्रावक देशविरत या अणुव्रती और मुनि महाव्रती कहलाते हैं। जो विधिवत् व्रत ग्रहण नहीं

करते, तथापि धर्म में श्रद्धा रखते हैं, वे अविरत सम्यग्दृष्टि कहे जाते हैं। इसी प्रकार के व्रतधारी 'ब्रात्य' कहे गये प्रतीत होते हैं, क्योंकि वे हिंसात्मक यज्ञविधियों के नियम से त्यागी होते हैं। इसीलिये उपनिषदों में कहीं-कहीं उनकी बड़ी प्रशंसा भी पाई जाती है, जैसे प्रश्नोपनिषद् में कहा गया है—'ब्रात्यस्त्वं प्राणैर्कर्षिरत्ता विश्वस्य सत्पतिः' (२/११)। शांकरभाष्य में ब्रात्य का अर्थ 'स्वभावत एव शुद्ध इत्यभिप्रायः' किया गया है। इस प्रकार श्रमण-साधनाओं की परम्परा हमें नाना प्रकार के स्पष्ट व अस्पष्ट उल्लेखों द्वारा ऋग्वेद आदि समस्त वैदिक साहित्य में दृष्टिगोचर होती है।" (भारतीय संस्कृति में जैनधर्म का योगदान/पृ.१८-१९)।

इस प्रकार कम से कम १५०० वर्ष ई० पू० में रचित ऋग्वेद में मुनयो वातरशनाः (वायुरूप वस्त्रधारी मुनि) शिश्नदेवाः (नग्नदेव के अनुयायी), यतियों एवं ब्रात्यों के उल्लेखों से सिद्ध है कि दिगम्बरजैन मुनि १५०० वर्ष ई० पू० में विद्यमान थे और वातरशन मुनि शब्द दिगम्बर जैन मुनियों का ही वाचक था, यह छठी शताब्दी ई० के श्रीमद्भागवतपुराण एवं जैनाचार्य जिनसेनकृत 'आदिपुराण' (देखिए, अगला शीर्षक ३) के विवरणों से प्रमाणित है।

३

तैत्तिरीयारण्यक में वातरशन श्रमण

तैत्तिरीय आरण्यक में भी वातरशन श्रमणों का कथन है। उससे ज्ञात होता है कि ऋषियों को जब आत्मविद्या की जिज्ञासा होती थी, तब वे वातरशन श्रमणों के पास जाकर उसका उपदेश प्राप्त करते थे। तैत्तिरीय आरण्यक का निम्नलिखित वक्तव्य इसी तथ्य पर प्रकाश डालता है—

“वातरशना ह वा ऋषयः श्रमणा ऊर्ध्वमन्थी बभूवुस्तानुषयोऽर्थमायंस्तेऽनिलायमचरंस्तेऽनुप्रविशुः कूष्माण्डानि तांस्तेष्वन्वविन्दन श्रद्धया च तपसा च। तानुषयोऽब्रुवन् कया निलायं चरथेति ते ऋषीन्ब्रुवन्मो वोऽस्तु भगवन्तोऽस्मिन् धाम्नि केन वः सपर्यामेति तानुषयोऽब्रुवन् पवित्रं नो ब्रूत येनोरेपसः स्यामेति त एतानि सूक्तान्यपश्यन्।”^१

अनुवाद—“वातरशन-श्रमण-ऋषि ऊर्ध्वमन्थी (परमात्मपद की ओर उत्क्रमण करने वाले) हुए। उनके समीप इतर ऋषि प्रयोजनवश (याचनार्थ) उपस्थित हुए। उन्हें देखकर वातरशन कूष्माण्डनामक मन्त्रवाक्यों में अन्तर्हित हो गये, तब उन्हें अन्य ऋषियों ने श्रद्धा और तप से प्राप्त कर लिया। ऋषियों ने उन वातरशन मुनियों से प्रश्न

१. तैत्तिरीय आरण्यक २/ प्रपाठक ७/ अनुवाक १-२ (तीर्थकर महावीर और उनकी आचार्य परम्परा/ खण्ड ४/ विद्यानन्द मुनि : आद्य मितक्षर/ पा.टि./ पृ. ७)।

किया—“किस विद्या से आप अन्तर्हित हो जाते हैं?” वातरशन मुनियों ने उन्हें अपने अध्यात्मधाम से आए हुए अतिथि जानकर कहा—“हे मुनिजनों! आपको नमस्कार। हम आपकी सपर्या (सत्कार) किससे करें?” ऋषियों ने कहा—“हमें पवित्र आत्मविद्या का उपदेश दीजिये, जिससे हम निष्पाप हो जायँ।”

दिगम्बर जैनाचार्य जिनसेनकृत आदिपुराण में इन्द्र द्वारा एक हजार नामों से भगवान् आदिनाथ की स्तुति की गई है, जिनमें एक नाम ‘वातरशन’ है, जो दिगम्बर, निरम्बर और निर्ग्रन्थ का पर्यायवाची है—“दिग्वासा वातरशनो निर्ग्रन्थेशो निरम्बरः।” (आदि-पुराण/२५/२०४)।

४

निघण्टु (८०० ई० पू०) में श्रमण, दिगम्बर, वातवसन

शब्दसूची, विशेषरूप से वैदिक शब्दसूची को निघण्टु कहते हैं। इसकी व्याख्या महर्षि यास्क ने अपने निरुक्त में की है। इससे स्पष्ट है कि निघण्टु यास्क-विरचित ‘निरुक्त’ से प्राचीन है। “यास्क पाणिनी से प्राचीन हैं। महाभारत के शान्तिपर्व (अध्याय ३४२) में यास्क के निरुक्तकार होने का स्पष्ट निर्देश है—

स्तुत्वा मां शिपिविष्टेति यास्क ऋषिरुदारधीः।

यत्प्रसादादधो नष्टं निरुक्तमभिजग्मवान्॥ ७३॥

इस उल्लेख के आधार पर भी हम यास्क को विक्रम से सात-आठ सौ वर्ष पूर्व मानने के लिए बाध्य होते हैं।”^२

अतः ‘निघंटु’ का रचनाकाल इससे भी पूर्व का है। वाल्मीकि रामायण (५०० ई०पू०) में कहा गया है कि राजा दशरथ के यज्ञ में ब्राह्मण, क्षत्रिय, तापस और श्रमण आहार ग्रहण करते थे—

ब्राह्मणा भुञ्जते नित्यं नाथवन्तश्च भुञ्जते।

तापसा भुञ्जते चापि श्रमणाश्चैव भुञ्जते॥ १४/१२॥

उक्त रामायण की भूषणटीका में ‘निघंटु’ को उद्धृत करते हुए ‘श्रमण’ शब्द का अर्थ ‘दिगम्बर’ और वातवसन (वायु ही है वस्त्र जिसका) बतलाया गया है, यथा—“श्रमणा दिगम्बरा श्रमणा वातवसना इति निघण्टुः।”^३

निघण्टु का यह उद्धरण इस बात का साक्षी है कि ईसा से ८०० वर्ष पहले दिगम्बरजैन मुनियों का अस्तित्व था।

२. आचार्य बलदेव उपाध्याय : वैदिक साहित्य और संस्कृति / पृ. ३५९।

३. पं० अजित कुमार शास्त्री : श्वेताम्बर मत सीमाक्षा / पृ. १७४।

बृहदारण्यकोपनिषद् जो बहुत प्राचीन है, उसमें भी श्रमणों का उल्लेख है—
“श्रमणोऽश्रमणस्तापसोऽतापसः।” (४/३/२२)। अतः यास्क का श्रमणों से परिचित होना स्वाभाविक है।

श्रीमद्भागवतपुराण में भी श्रमणों को ‘वातरशन’ (वायु की रशना अर्थात् कौपीन धारण करनेवाला) कहा गया है—“श्रमणा वातरशना आध्यात्मविद्या विशारदाः।” (११/२/२०)।

५

महाभारत (५००-१०० ई० पू०) में नग्न क्षपणक

सुप्रसिद्ध संस्कृतसाहित्य-इतिहासकार बलदेव उपाध्याय ‘महाभारत’ की ऐतिहासिकता पर प्रकाश डालते हुए लिखते हैं—

“आजकल महाभारत में एक लाख श्लोक मिलते हैं, इसलिए इसे ‘शतसाहस्री-संहिता’ कहते हैं। इसका यह स्वरूप कम से कम डेढ़ हजार वर्ष से अवश्य है, क्योंकि गुप्तकालीन शिलालेख में यह ‘शतसाहस्री संहिता’ के नाम से उल्लिखित हुआ है। विद्वानों का कहना है कि महाभारत का वह रूप अनेक शताब्दियों में विकसित हुआ। बहुत प्राचीनकाल से अनेक गाथाएँ तथा आख्यान इस देश में प्रचलित थे, जिनमें कौरवों तथा पाण्डवों की वीरता का वर्णन किया गया था। अथर्ववेद में परीक्षित का आख्यान उपलब्ध होता है। अन्य वैदिक ग्रन्थों में यत्र-तत्र महाभारत के वीर पुरुषों की गाथाएँ उल्लिखित मिलती हैं। इन्हीं सब गाथाओं और आख्यानों को एकत्र कर महर्षि वेदव्यास ने जिस काव्य का रूप दिया है वही आजकल का सुप्रसिद्ध महाभारत है।”^४

“४४५ ई० (५०२ वि०) के एक शिलालेख में महाभारत का निर्देश इस प्रकार है—‘शतसाहस्र्यां संहितायां वेदव्यासेनोक्तम्।’ इससे प्रतीत होता है कि इससे कम से कम २०० वर्ष पहले इसका अस्तित्व अवश्य होगा। कनिष्क के सभापण्डित अश्वघोष ने वज्रसूची उपनिषद् में हरिवंश के श्लोक तथा स्वयं महाभारत के भी कुछ श्लोक उद्धृत किये हैं। अश्वघोष का समय ई० सन् की प्रथम शताब्दी है। अतः उस समय यह ग्रन्थ हरिवंश के साथ लक्षश्लोकात्मक था, इसमें किसी को सन्देह नहीं हो सकता। आश्वलायन गृह्यसूत्र (३/४/४) में भारत तथा महाभारत का पृथक्-पृथक् उल्लेख किया गया है। बौधायन के गृह्यसूत्र में ‘विष्णुसहस्रनाम’ का स्पष्ट उल्लेख है तथा भगवद्गीता का एक श्लोक प्रमाणरूप से उद्धृत किया गया है। इन दोनों ग्रन्थकारों

४. बलदेव उपाध्याय : संस्कृत साहित्य का इतिहास/पृ. ८१-८२।

की स्थिति ईस्वी के लगभग चार सौ वर्ष पहले मानी जाती है। ये दोनों ग्रन्थकार महाभारत के विस्तृतरूप से परिचित हैं, गीता को भगवान् के वचनरूप से जानते हैं, ययाति के उपाख्यान का निर्देश करते हैं। अतः स्पष्ट है कि मूल महाभारत की रचना इससे (४०० ई०पू० से) कम से कम दो सौ वर्ष पूर्व अवश्य हुई होगी। महाभारत बुद्ध के पहले की रचना है, परन्तु वर्तमान रूप उसे बुद्ध के पीछे प्राप्त हुआ, यही मानना न्यायसंगत है।^५

श्री बी० एन० लूनिया प्राचीन भारतीय संस्कृति में लिखते हैं—“मैक्डानल ने महाभारत का रचनाकाल ५०० ई०पू० और विन्टरनिट्ज ने ४०० ई०पू० माना है। श्री आर० जी० भण्डारकर का मत है कि ईस्वी पूर्व ५०० तक महाभारत एक प्रसिद्ध धार्मिक ग्रन्थ बन चुका था। --- महाभारत के मूलग्रन्थ में अनेक वीरगाथाओं, आख्यानों, धार्मिक तथा दार्शनिक विचारों और उपदेशों को सम्मिलित कर लिया गया। समय-समय पर उसमें अनेक प्रक्षेप जोड़ दिये गये। --- महाभारत के कुछ भागों में भारत में रहनेवाली विदेशी जातियों यूनानी, शक, पह्लव आदि का उल्लेख है। ये जातियाँ भारत में ईस्वी पूर्व पहली और दूसरी शताब्दी में आयीं। इससे प्रकट होता है कि ईसापूर्व की प्रारंभिक सदियों में महाभारत के महाकाव्य में परिवर्तन और परिवर्धन हो गये थे। ईसापूर्व दूसरी शताब्दी में, पतञ्जलिकृत ‘महाभाष्य’ ग्रन्थ के समय में, महाभारत का वर्तमानरूप सर्वविदित था। महाभारत में विष्णु और शैवमतों का विशद विवरण है और ये मत ईसा के बाद की प्रारंभिक सदियों में खूब प्रचलित थे। गुप्तकाल में तो ये अपनी प्रगति के शिखर पर थे। भारत में और भारत के बाहर कम्बोडिया में पाँचवी और छठी शताब्दियों के शिलालेखों में महाभारत का धार्मिक ग्रन्थ के रूप में उल्लेख मिलता है। इससे स्पष्ट है कि ईसवी सन् की पाँचवी शताब्दी के पूर्व ही महाभारत का परिवर्तन और परिवर्द्धन सम्पूर्ण हो चुका था और उसका वह रूप निर्दिष्ट हो चुका था जो आज हमारे सम्मुख प्रस्तुत है। डॉक्टर राधाकुमुद मुकर्जी का मत है कि महाभारत का यह परिवर्द्धित रूप ईसापूर्व की दूसरी शताब्दी तक पूर्ण हो चुका था। अन्य विद्वान् इसे ईस्वी सन् के ३०० वर्ष पूर्व से १०० वर्ष पूर्व के युग में मानते हैं।”^६

निष्कर्ष यह कि ‘महाभारत’ ई० पू० ५०० से ई० पू० १०० के बीच की रचना है। इसमें दिगम्बरजैन मुनि का वर्णन है। प्राचीनकाल में दिगम्बरजैन मुनि ‘क्षपणक’ नाम से प्रसिद्ध थे। ‘क्षपणक’ शब्द भ्वादिगण एवं चुरादिगण की ‘क्षप्’ धातु में ‘ल्युट्’ एवं स्वार्थिक ‘कन्’ प्रत्ययों के योग से निष्पन्न है। भ्वादिगणी ‘क्षप्’ धातु का अर्थ है : संयम, तप, उपवास करना (क्षप् = to be abstinent, fast, do penance—

५. बलदेव उपाध्याय : संस्कृत साहित्य का इतिहास/पृ. ८३-८४।

६. बी.एन. लूनिया : प्राचीन भारतीय संस्कृति/पृ. १५७।

M. Monier Williams : Sanskrit-English Dictionary, मनुस्मृति ५/६९, आप्टेकृत संस्कृत-हिन्दी कोश) तथा चुरादिगणी 'क्षप्' धातु का अर्थ है : फेंकना, त्यागना, नष्ट करना (to throw, क्षपण = destroying, diminishing, suppressing, expelling— M. Monier williams : Sans.-Eng. Dictionary) अतः 'क्षपणक' शब्द संयमी-तपस्वी एवं वस्त्रादि-सकलपरिग्रह-त्यागी दिगम्बरजैन मुनि का वाचक है। छठी शताब्दी ई० के दिगम्बरजैनाचार्य जोइन्दुदेव ने परमात्मप्रकाश के निम्न दोहे में दिगम्बरजैन मुनि के लिए 'क्षपणक' शब्द का प्रयोग किया है—

तरुणउ बूढउ रूयडउ सूरउ पंडिउ दिव्वु।

खवणउ वंदउ सेवडउ मूढउ मण्णइ सव्वु॥ १/८२॥

अनुवाद—“मैं तरुण हूँ, वृद्ध हूँ, रूपवान् हूँ, शूर हूँ, पंडित हूँ, दिव्य हूँ, क्षपणक हूँ, बौद्ध हूँ और श्वेतपट (श्वेताम्बर) हूँ, इस प्रकार शरीर की समस्त अवस्थाओं को मूर्ख जीव अपनी अवस्थाएँ मानता है।”

श्वेताम्बराचार्य हेमचन्द्र (१२वीं शती ई०) ने अपने कोष में 'क्षपणक' शब्द को 'नग्न' का पर्यायवाची बतलाया है—“नग्नो विवाससि मागधे च क्षपणके।”

'विशेषावश्यकभाष्य' के वृत्तिकार श्री हेमचन्द्रसूरि (१२वीं सदी ई०) ने भाष्य की २५८५वीं गाथा की वृत्ति में निम्नलिखित गाथा उद्धृत की है, जिसमें दिगम्बरमुनि को नग्नक्षपणक कहा गया है—

जारिसियं गुरुलिंगं सीसेण वि तारिसेण होयव्वं।

न हि होइ बुद्धसीसो सेयवडो नग्नखवणो वा॥

अनुवाद—“जैसा गुरु का लिंग (वेश) होता है, वैसा ही शिष्य का भी होना चाहिए। बुद्ध का शिष्य श्वेतपटधारी अथवा नग्नक्षपण नहीं हो सकता।”

एक अन्य श्वेताम्बरग्रन्थ प्रवचनपरीक्षा में दश कुपाक्षिकों के नामों में एक 'क्षपणक' नाम भी बतलाया गया है—

खवणय पुण्णिम खरयर पल्लविआ सङ्गुपुण्णिमागमिआ।

पडिमा मुणिअरि वीजा पासो पुण संपई दसमो॥ ८॥

इसकी वृत्ति में 'क्षपणको दिगम्बरः' (प्रव.परी./१/१/८/ पृ.१९) कहकर 'क्षपणक' शब्द का अर्थ स्पष्ट किया गया है।

इसी ग्रन्थ की एक अन्य गाथा में कहा गया है कि क्षपणक स्त्रीमुक्ति का निषेध करनेवाले पुरुष को तीर्थंकर कहते हैं—“एवं खलु तित्थयरं इत्थीमुत्तिं निसेहगं खमणा”

इसे संस्कृतवृत्ति में इस प्रकार स्पष्ट किया गया है—“क्षपणकाः स्त्रीमुक्ति-निषेधकं तीर्थकरं भगन्ति।” (प्रव.परी. / १/१/७१/पृ. ५०)।

वैदिकपरम्परा के ‘महाभारत’ के अतिरिक्त अन्य धार्मिक एवं दार्शनिक ग्रन्थों में भी ‘क्षपणक’ शब्द से ‘दिगम्बरजैन मुनि’ अर्थ ही लिया गया है। यथा—

१. “यत्र क्षपणका इव दृश्यन्ते मलधारिणः” (रुद्रसंहिता / पार्वतीखण्ड, २४/२१)।
२. “नग्नक्षपणकादीनां ---।” (श्रीमद्भगवतगीता / शांकरभाष्य / १८/२२)।
३. “क्षपणस्य वरा पूजा अर्हतो ध्यानमुत्तमम् ॥” २० ॥ (पद्ममहापुराण / भूमिखण्ड)।

संस्कृतसाहित्य के चाणक्यशतक, पञ्चतन्त्र, भुद्राराक्षस, कादम्बरी, हर्षचरित, प्रबोधचन्द्रोदय आदि ग्रन्थों में दिगम्बरजैन मुनि का वर्णन क्षपणक या नग्नक्षपणक नाम से ही किया गया है। इन ग्रन्थों के उदाहरण स्वतन्त्र शीर्षकों में आगे द्रष्टव्य हैं।

जैनतर शब्दकोशों में भी ‘क्षपणक’ शब्द को दिगम्बरजैन मुनि का वाचक बतलाया गया है। यथा—

१. नगनाटो दिग्वासाः क्षपणः श्रमणश्च जीवको जैनः।

आजीवो मलधारी निर्ग्रन्थः कथ्यते सद्भिः ॥ २/१९० ॥

हलायुधकोश।

२. “नग्नो बन्दिक्षपणयोः पुंसि त्रिषु विवाससि।” (मेदिनीकोश / नं. १३)।

३. “निर्ग्रन्थः क्षपणस्तथा।” (कोषकल्पतरुः / ५३)।

४. Kshapanaka = a religious mendicant, (especially a) Jaina mendicant who wears no garments. (M. Monier Williams : Sans.-Eng. Dictionary, p. 326)

प्राकृत भाषाओं के विशेषज्ञ प्रसिद्ध जर्मन विद्वान् डॉ० रिचार्ड पिशल ने अपने ‘प्राकृत भाषाओं का व्याकरण’ नामक ग्रन्थ के ‘विषयप्रवेश’ (पृ. ३१) में लिखा है—“प्रबोधचन्द्रोदय के पेज ४६ से ६४ तक एक क्षपणक आया है, जो दिगम्बर जैन साधु बताया गया है।---लटकमेलक के पेज १२-१५ और २५ से २८ में भी एक दिगम्बर पात्र नाटक में खेल करता है, जो मागधी बोलता है। यह बात ध्यान में रखनी चाहिए कि नाटकों में सर्वत्र ये ‘क्षपणक’ दिगम्बर होते हैं।”

इन प्रमाणों से सिद्ध है कि दिगम्बर, श्वेताम्बर और वैदिक परम्परा के साहित्यों में तथा संस्कृतसाहित्य एवं शब्दकोशों में ‘क्षपणक’ शब्द का प्रयोग दिगम्बरजैन मुनि के अर्थ में किया गया है।

महाभारत के आदिपर्व में महर्षि उत्तङ्क की कथा में नग्न क्षपणक का उल्लेख हुआ है। अर्जुन के पौत्र और अभिमन्यु के पुत्र परीक्षित युधिष्ठिर के बाद हस्तिनापुर के राजा बने। नागराज तक्षक के डसने से उनकी मृत्यु हो गई। परीक्षित के पुत्र जनमेजय पिता की मृत्यु का बदला लेने के लिए सम्पूर्ण सर्पजाति का विनाश करने हेतु सर्पयज्ञ करते हैं। उसमें समस्त सर्प जला दिये जाते हैं, किन्तु आस्तिक ऋषि की कृपा से तक्षक के प्राण बच जाते हैं। इस यज्ञ के कारण ही वैशम्पायन ने जनमेजय को कृष्णद्वैपायन व्यास द्वारा रचित महाभारत की रोचक कथाएँ सुनाई। जनमेजय ने भी ब्रह्महत्या के पाप का प्रायश्चित्त करने के लिए उन कथाओं को ध्यान से सुना (आदिपर्व/अध्याय १/श्लोक ९-११/पृ.२)।

उन कथाओं को वहाँ सूतकुलोत्पन्न लोमहर्षण के पुत्र उग्रश्रवा ने भी सुना। वे पुराणों के ज्ञाता और कथावाचक थे। वे नैमिषारण्य में महर्षि शौनक के द्वादशवर्षीय सत्र में आये। वहाँ एकत्र ऋषियों को उन्होंने महाभारत की कथा सुनाई (आदिपर्व/अध्याय १)। इसी क्रम में वे 'वेद' के शिष्य उत्तङ्क की गुरुभक्ति की कथा सुनाते हैं। उत्तङ्क ने ही जनमेजय को सर्पयज्ञ के लिए प्रोत्साहित किया था (आदिपर्व/अध्याय ३)। कथा इस प्रकार है—

ब्रह्मर्षि उत्तङ्क अपने गुरु वेद को गुरुदक्षिणा देने के लिए गुरुपत्नी की इच्छानुसार राजा पौष्य की महारानी के कुण्डलयुगल माँगने जाते हैं। महारानी दे देती है, किन्तु सावधान करती है कि इन कुण्डलों पर नागराज तक्षक की आँखें गड़ी हुई हैं, अतः आप सावधानी से लेकर जाना। उत्तङ्क 'अब मैं चलता हूँ' कहकर राजा से बिदा लेते हैं और कुण्डल लेकर चल पड़ते हैं। रास्ते में वे अपने पीछे आते हुए एक नग्न क्षपणक (दिगम्बरजैन मुनि) को देखते हैं, जो कभी दिखाई देता है, कभी अदृश्य हो जाता है। कुछ दूर जाकर उत्तंक एक सरोवर के किनारे कुण्डल रख देते हैं और स्नान के लिए जल में प्रविष्ट हो जाते हैं। तभी वह क्षपणक तेजी से आता है और दोनों कुण्डल लेकर भाग जाता है। उत्तंक स्नान-तर्पण कर उस क्षपणक का पीछा करते हैं और उसे पकड़ लेते हैं। पकड़े जाने पर वह क्षपणक का रूप त्याग देता है और अपना वास्तविक (तक्षकनाग का) रूप धारण कर पृथ्वी के बहुत बड़े बिल में घुस जाता है। मूल पाठ इस प्रकार है—

“साधयामस्तावदित्युक्त्वा प्रातिष्ठतोत्तङ्कस्ते कुण्डले गृहीत्वा सोऽपश्यदथ पथि नग्नं क्षणपकमागच्छन्तं मुहुर्मुहुर्दृश्यमानमदृश्यमानं च।

अथोत्तङ्कस्ते कुण्डले संन्यस्य भूमावुदकार्थं प्रचक्रमे। एतस्मिन्नन्तरे स क्षपणकस्त्वरमाण उपसृत्य ते कुण्डले गृहीत्वा प्राद्रवत्।

तमुत्तङ्गोऽभिसृत्य कृतोदककार्यः शुचिः प्रयतो नमो देवेभ्यो गुरुभ्यश्च कृत्वा महता जवेन तमन्वयात्।

तस्य तक्षको दृढमासन्नः स तं जग्राह। गृहीतमात्रः स तद्रूपं विहाय तक्षकस्वरूपं कृत्वा सहसा धरण्यां विवृतं महाबिलं प्रविवेश।” (महाभारत / आदिपर्व / तृतीय अध्याय पृ.५७)।

उपाख्यान का आशय यह है कि नागराज तक्षक ने कुण्डलों का अपहरण करने के लिए नग्न क्षणक अर्थात् दिगम्बरजैन मुनि का रूप धारण किया था, जैसे रावण ने सीता के अपहरण के लिए साधु का वेश धारण किया था। इससे यह ध्वनित होता है कि उस समय दिगम्बरजैन मुनि लोक में आदर और श्रद्धा से देखे जाते थे। इसीलिए धूर्तलोग दूसरों को ठगने के लिए दिगम्बरजैन मुनि का वेश धारण कर लेते थे।

उत्तङ्ग जनमेजय के समकालीन थे। जनमेजय परीक्षित के पुत्र, अभिमन्यु के पौत्र तथा अर्जुन के प्रपौत्र थे। इससे यह तथ्य सामने आता है कि महाभारत में वर्णित उपाख्यान उसकी रचना के पूर्व से श्रुतिपरम्परा में प्रवहमान थे। उन्हें इतिहास और पुराण कहा गया है। उनका मन्थन करके ही व्यास जी ने महाभारत की रचना की थी, जैसा कि उसमें कहा गया है—

इतिहास-पुराणानामुन्मेषं निर्मितं च यत्।

भूतं भव्यं भविष्यं च त्रिविधं कालसंज्ञितम्॥ १/१/६३॥

उत्तङ्गोपाख्यान महाभारत के आदिपर्व के पौष्यपर्व नामक तृतीय अध्याय में वर्णित है, अतः उत्तङ्ग की कथा में नग्न क्षणक का एक पात्र के रूप में वर्णन सिद्ध करता है कि जितने प्राचीन ‘महाभारत’ के (जनमेजय, नागराज तक्षक, ब्रह्मर्षि उत्तंक, महाराज पौष्य आदि)पात्र हैं, उनसे भी अधिक प्राचीन दिगम्बरजैन मुनियों (नग्न क्षणकों) की परम्परा है, तभी तत्कालीन समाज में वे अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह महाव्रतधारी विश्वसनीय साधुओं के रूप में प्रसिद्ध और सुपरिचित थे, जिसके कारण तक्षक उत्तंक को ठगने के लिए दिगम्बरजैन मुनि का रूप धारण करता है और उत्तंक उसे वास्तव में दिगम्बरजैन मुनि समझ कर कुण्डलों के अपहरण से शंकित नहीं होते और आश्वस्त होकर उन्हें सरोवर के किनारे पर रखकर स्नान के लिए जल में प्रविष्ट हो जाते हैं।

यतः उत्तङ्ग परीक्षितपुत्र जनमेजय के समकालीन थे, अतः वे द्वापरयुग में विद्यमान थे। हिन्दूमतानुसार सृष्टिकाल चार युगों में विभाजित किया गया है : सत्

या कृतयुग (अवधि १७,२८,००० वर्ष), त्रेता (१२,९६,००० वर्ष), द्वापर (८,६४,००० वर्ष) और कलियुग (४,३२,००० वर्ष)। वर्तमानयुग कलियुग है। (वामन शिवराम आपटे : संस्कृत-हिन्दीकोश/ 'युगम्')। कलियुग का आरम्भ ईसापूर्व ३१०२ वर्ष की १३ फरवरी को हुआ था (वही/संस्कृत-हिन्दी-कोश/ 'कलि:'). इस कालगणना के अनुसार सिद्ध होता है कि दिगम्बर जैन मुनियों का अस्तित्व द्वापरयुग में अर्थात् आज से लगभग आठ लाख चौसठ हजार वर्ष के पूर्व भी था।

तथा महाभारत में नग्न क्षपणक के उल्लेख से सिद्ध होता है कि दिगम्बरजैन-परम्परा का अस्तित्व 'महाभारत' के रचनाकाल (५०० ई.पू. से १०० ई.पू.) से भी प्राचीन है।

तत्त्वनिर्णयप्रासाद ग्रन्थ के लेखक श्वेताम्बराचार्य मुनि श्री विजयानन्दसूरीश्वर 'आत्माराम' जी (वि० सं० १९१४ के लगभग) ने भी उक्त कथा के आधार पर जैनधर्म को वेदव्यास जी के जन्म से पूर्ववर्ती प्रतिपादित किया है। किन्तु, उन्होंने नग्नक्षपणक को दिगम्बरजैन मुनि न मानकर श्वेताम्बर जिनकल्पिक मुनि माना है, क्योंकि वे भी नग्न रहते थे। पर उनका यह मत पूर्वोद्धृत प्रमाणों के विरुद्ध है। पूर्व में दिगम्बर-साहित्य, श्वेताम्बरसाहित्य, वैदिकसाहित्य, संस्कृतसाहित्य तथा शब्दकोशों से जो उद्धरण प्रस्तुत किये गये हैं, उनसे स्पष्ट है कि भारत के सभी धार्मिक सम्प्रदायों में 'क्षपणक' शब्द दिगम्बरजैन मुनियों के लिए ही प्रसिद्ध था। उपर्युक्त सम्प्रदायों के साहित्य तथा संस्कृतसाहित्य में क्षपणकों को मयूरपिच्छसहित तथा 'धर्मवृद्धि' का आशीर्वाद देते हुए चित्रित किया गया है, जो केवल दिगम्बरजैन मुनि के लक्षण हैं। इससे उपर्युक्त तथ्य में सन्देह के लिए रंचमात्र भी स्थान नहीं रहता। इसकी विस्तार से चर्चा आगे की जायेगी।

६

चाणक्यशतक (४०० ई० पू०) में नग्नक्षपणक

यह नीति के पद्यों का ग्रन्थ है। इसके रचयिता चाणक्य हैं, जो ई० पू० चतुर्थ शताब्दी में सम्राट् चन्द्रगुप्त के प्रधानमंत्री थे। उन्होंने अपने शतक के ११०वें श्लोक में लिखा है—'नग्नक्षपणके देशे रजकः किं करिष्यति' (आपटे-कृत संस्कृत-हिन्दी कोश/पृ. ३१५) अर्थात् जिस देश में नग्नक्षपणक ही रहते हों, वहाँ धोबी का क्या काम? इससे भी सिद्ध होता है कि ईसापूर्व चतुर्थ शताब्दी में दिगम्बरजैनमुनि-परम्परा विद्यमान थी।

पंचतन्त्र (३०० ई०) में नग्नक, क्षपणक, दिगम्बर, धर्मवृद्धि

सुप्रसिद्ध संस्कृतसाहित्य-इतिहासकार पं० बलदेव उपाध्याय लिखते हैं—“पंचतंत्र की कहानियाँ बड़ी प्राचीन हैं। बृहत्कथा (तीसरी शताब्दी) तथा तन्त्राख्यायिका के रूप में उसका मौलिक रूप आज भी हमारे मनन के लिए विद्यमान है। --- ऐतिहासिक तथ्य यह है कि जब षष्ठ शतक में भारत का तथा फारस का घनिष्ठ सम्बन्ध था, तब इन रोचक तथा उपदेशप्रद कथाओं की ओर फारस के न्यायी बादशाह खुशरो नौशेरवाँ (५३१ ई०-५७९ ई०) की दृष्टि आकृष्ट हुई। इसके दरबारियों में एक संस्कृत के ज्ञाता हकीम थे, उनका नाम था बुरजोई। इन्हीं हकीम सा० ने पहले-पहल पञ्चतन्त्र का प्रथम अनुवाद पहलवी (प्राचीन फारसी) भाषा में ५३३ ई० में किया था।”(संस्कृत-साहित्य का इतिहास / पृ. ४२४-४२५)।

पंचतंत्र के सबसे प्राचीन संस्करण में कौटिल्य के अर्थशास्त्र को उद्धृत किया गया है, अतः इसके रचनाकाल की पूर्व सीमा तीसरी शताब्दी ई. पू. कही जा सकती है। हर्टेल पंचतंत्र के प्राचीनतम संस्करण का रचनाकाल दूसरी शती ई० पू० मानते हैं। विंटरनिट्स ने पंचतंत्र के वर्तमान स्वरूप का निर्माणकाल ३००-४०० ई० के आसपास माना है, पर वे यह भी स्वीकार करते हैं कि अपने मूल रूप में यह ग्रन्थ इससे पहले अस्तित्व में आ चुका था।^७

पंचतंत्र के 'अपरीक्षित कारक' में पहली ही कथा मणिभद्र श्रेष्ठी की है जो नग्न क्षपणकों पर आधारित है। मणिभद्र सेठ निर्धन हो जाता है और निर्धनता से दुःखी होकर आत्महत्या का निश्चय कर सो जाता है। स्वप्न में उसके पूर्वपुरुषों द्वारा उपार्जित पद्मनिधि क्षपणकरूप में दर्शन देकर कहती है—“तुम निराश मत होओ। मैं सुबह इसी रूप में तुम्हारे घर आऊँगी। तुम मेरे सिर पर लाठी से प्रहार करना, मैं स्वर्ण बन जाऊँगी। उसे तुम रख लेना।” सुबह ऐसा ही हुआ। क्षपणक प्रकट हुआ और सेठ ने उस पर लाठियों से प्रहार किया। वह स्वर्ण बन गया। सेठ ने उठाकर उसे घर में रख लिया। सेठ की पत्नी ने इस घटना के पूर्व एक नाई को पैर धोने के लिए बुलाया था। उसने यह सारी घटना देख ली। सेठ ने उसे धन और वस्त्र देकर सन्तुष्ट किया और कहा कि तुम यह बात किसी से न कहना।

नाई घर जाकर सोचने लगा कि ये नग्न क्षपणक सिर पर लाठियों का प्रहार करने से स्वर्ण बन जाते हैं। इसलिए मैं भी ऐसा ही करूँगा। प्रातः वह क्षपणकविहार में जाकर प्रधानक्षपणक को 'नमोऽस्तु' निवेदित कर प्रार्थना करता है कि “आज आप

७. डॉ० राधावल्लभ त्रिपाठी : संस्कृत साहित्य का अभिनव इतिहास / पृ. ३४५-३४६।

समस्त मुनियों सहित आहार के लिए मेरे घर पधारें।” प्रधान क्षपणक ने कहा— “हम ब्राह्मणों के समान आमंत्रण करने पर नहीं आते। आहार के समय श्रावकों की बस्ती में जाते हैं और जो श्रावक भक्तिपूर्वक हमारी अभ्यर्थना करता है, उसी के यहाँ आहार ग्रहण करते हैं।” नाई ने कहा—“यह बात मैं जानता हूँ, लेकिन मैंने पुस्तकों के आच्छादन योग्य बहुमूल्य वस्त्र इकट्ठे कर रखे हैं और पुस्तकों का लेखन कराने के लिए लेखकों को देने हेतु धन भी संचित करके रखा है। इसलिए आप कालोचित कार्य करें।” यह कहकर नाई चला गया और घर में एक खैर का लट्ट तैयार कर किवाड़ों के पीछे छिपा दिया। उसके बाद वह पुनः विहार गया और जब वे क्षपणक आहारचर्या के लिए विहार से निकल रहे थे, तब उनसे अपने घर चलने के लिए बड़ी मिन्नतें करने लगा। वे क्षपणक भी वस्त्र और धन के लोभ में अन्य भक्त श्रावकों को छोड़कर उसके घर चल गये। ज्यों ही वे नाई के घर में प्रविष्ट हुए, नाई ने किवाड़ बन्द कर दिये और मुनियों के सिर पर लट्ट मारने लगा। कुछ मुनि तत्काल मर गये और कुछ चीत्कार करते हुए इधर-उधर भागने लगे। चीत्कार सुनकर सिपाही आये और सारा वृत्तान्त जानकर नाई को पकड़कर ले गये और उसे शूली पर चढ़ा दिया। कथा का आवश्यक संस्कृतपाठ नीचे दिया जा रहा है—

“नापितोऽपि स्वगृहं गत्वा व्यचिन्तयत्-नूनमेते सर्वेऽपि नग्नकाः शिरसि दण्डहताः काञ्चनमया भवन्ति। तदहमपि प्रातः प्रभूतानाहूय लगुडैः शिरसि हन्मि, येन प्रभूतं हाटकं मे भवति। एवं चिन्तयतो महता कष्टेन निशा अतिचक्राम। अथ प्रभाते अभ्युत्थाय बृहल्लगुडमेकं प्रगुणीकृत्य क्षपणकविहारं गत्वा जिनेन्द्रस्य प्रदक्षिणत्रयं विधाय जानुभ्यामवनिं गत्वा वक्त्रद्वार-न्यस्तोत्तरीयाञ्चलस्तारस्वरेणेनं श्लोकमपठत्—

जयन्ति ते जिना येषां केवलज्ञानशालिनाम्।

आजन्मनः स्मरोत्यत्तौ मानसेनोषरायितम्॥

सा जिह्वा या जिनं स्तौति तच्चित्तं यज्जिने रतम्।

तावेव च करौ श्लाघ्यौ यौ तत्पूजाकरौ करौ॥

एवं संस्तुत्य ततः प्रधानक्षपणकमासाद्य क्षितिनिहितजानुचरणः ‘नमोऽस्तु , वन्दे’ इत्युच्चार्य लब्धधर्मवृद्ध्याशीर्वादः मुखमालिकानुग्रहलब्धव्रतादेशः उत्तरीयनिबद्धग्रन्थिः सप्रश्रयमिदमाह—“भगवन् अद्य विहरणक्रिया समस्तमुनिसमेतेनास्मद्गृहे कर्तव्या।” स आह—“भोः श्रावक! धर्मज्ञोऽपि किमेवं वदसि? किं वयं ब्राह्मणसमानाः यद् आमन्त्रणं करोषि? वयं सदैव तत्कालपरिचर्याया भ्रमन्तो भक्तिभाजं श्रावकमवलोक्य तस्य गृहे गच्छामः। तेन कृच्छ्रादभ्यर्थितास्तद्गृहे प्राणधारणभात्रामशनक्रियां कुर्मः। तद् गम्य-ताम्। नैवं भूयोऽपि वाच्यम्।”

तच्छ्रुत्वा नापितमाह—“भगवन्! वेद्म्यहं युष्मद्धर्मम्। परं भवतो बहुश्रावका आह्वयन्ति। साम्प्रतं पुनः पुस्तकाच्छादनयोग्यानि कर्पटानि बहुमूल्यानि प्रगुणीकृतानि। तथा पुस्तकानां लेखनाय लेखकानां च वित्तं सञ्चितमास्ते। तत्सर्वथा कालोचितं कार्यम्।” ततो नापितोऽपि स्वगृहं गतः। तत्र च गत्वा खदिरमयं लगुडं सञ्जीकृत्य कपाटयुगलं द्वारि समाधाय सार्धप्रहरैकसमये भूयोऽपि विहारद्वारमाश्रित्य सर्वान् क्रमेण निष्क्रामतो गुरुप्रार्थनया स्वगृहमानयत्। तेऽपि सर्वे कर्पटवित्तलोभेन परिचितान् श्रावकान् परित्यज्य प्रहृष्टमनसस्तस्य पृष्ठतो ययुः। अथवा साध्विदमुच्यते—

एकाकी गृहसन्त्यक्तः पाणिपात्रो दिगम्बरः।

सोऽपि संवाह्यते लोके तृष्णया पश्य कौतुकम्॥”

(पञ्चतन्त्र / अपरीक्षितकारक)

पंचतंत्र की इस कथा से ज्ञात होता है कि ईसा की तीसरी शताब्दी में जैनेतर सम्प्रदाय के लोग भी दिगम्बरजैन मुनियों के प्रति प्रदर्शित किये जानेवाले विनयोपचार, उनके द्वारा दिये जानेवाले आशीर्वाद के प्रकार एवं उनकी आहारचर्या की पद्धति से सुपरिचित थे, जो इस बात का प्रमाण है कि दिगम्बरजैन मुनिपरम्परा ईसा की तीसरी शताब्दी से भी बहुत पहले अस्तित्व में थी।

८

भासकृत 'अविमारक' (३०० ई०) में वस्त्रविहीन श्रमण

महाकवि भास संस्कृत के सुप्रसिद्ध नाटककार हैं। ये कालिदास के पूर्ववर्ती हैं, क्योंकि कालिदास ने अपने 'मालविकाग्निमित्र' नाटक में इनका उल्लेख किया है। ए० बी० कीथ कालिदास का समय ४०० ई० के लगभग मानते हैं, अतः उनके अनुसार भास ३०० ई० के लगभग विद्यमान थे। किन्तु डॉ० बलदेव उपाध्याय ने अन्तरंग और बहिरंग प्रमाणों के आधार पर कहा है कि भास का समय पंचम या चतुर्थ शती विक्रमपूर्व मानना न्यायोचित है।^८ डॉ० राधावल्लभ त्रिपाठी, टी० गणपति शास्त्री, म० म० हरप्रसाद शास्त्री तथा ए० डी० पुसालकर द्वारा प्रस्तुत प्रमाणों के आधार पर भास की स्थिति ईसा से चार या पाँच शताब्दी पूर्व युक्तिसंगत मानते हैं।^९

भास ने अपने नाटक 'अविमारक' में नग्न श्रमण का उल्लेख किया है। विदूषक नलिनिका से कहता है—

८. संस्कृतसाहित्य का इतिहास / पृ.४९१-४९४।

९. संस्कृतसाहित्य का अभिनव इतिहास / पृ.१२७-१२८।

“आम् भोदि! जण्णोपवीदेण बग्घणो, चीवरेण रत्तपडो। जदि वत्थं अवणेमि समणओ होमि।” (पंचम अंक / पृष्ठ १४३)।

अनुवाद—“हाँ, देवि! मैं यज्ञोपवीत धारण करने से ब्राह्मण हूँ, चीवर पहन लूँ तो रक्तपट (बौद्ध) हो जाऊँगा और यदि वस्त्र उतार दूँ तो श्रमण बन जाऊँगा।”

इससे स्पष्ट होता है कि भास के युग में दिगम्बरजैन मुनियों का अस्तित्व था। इतना ही नहीं, उनके समय में दिगम्बरजैन मुनि ही ‘श्रमण’ शब्द से प्रसिद्ध थे और उनके विषय में यह भी स्पष्ट था कि वे अवैदिक थे। यह द्वितीय अंक (पृ. ३०) में चेटी और विदूषक के निम्नलिखित संवाद से ज्ञात होता है। विदूषक से परिहास करते हुए चेटी कहती है कि मैं भोजन का निमंत्रण देने के लिए किसी ब्राह्मण को ढूँढ़ रही हूँ। तब विदूषक, जो कि ब्राह्मण है, कहता है—“भोदि! अहं को समणओ?” (देवि! मैं क्या श्रमण हूँ?)। चेटी परिहास में कहती है—“तुवं किल अवेदिओ” (हाँ, तुम अवैदिक हो)।

इस प्रकार यदि भास का समय ई० पू० चतुर्थ शताब्दी माना जाय, तो दिगम्बरमुनियों का अस्तित्व उसके पूर्व से सिद्ध होता है और यदि तृतीय शताब्दी ई० स्वीकार किया जाय, तब भी यह सिद्ध होता है कि उनकी परम्परा इसके पूर्व से चली आ रही थी और ऋग्वेद तथा महाभारत के उल्लेखों से सिद्ध है कि वह ईसापूर्व-शताब्दियों से प्रवहमान थी।

९

मत्स्यपुराण (३०० ई०) में निष्कच्छ, निर्ग्रन्थ, नग्न

डॉ० रामचन्द्र जी तिवारी ने बतलाया है कि मत्स्यपुराण प्राचीनतम पुराण माना जाता है, क्योंकि केवल इसी में २३६ ई० के आन्ध्रराजवंश का वर्णन है, गुप्तवंश का इसमें उल्लेख नहीं है।^{१०}

इस पुराण में जिनधर्म को विनाश का कारण सिद्ध करने के लिए निम्नलिखित कथा गढ़ी गई है। राजा रजि के पुत्रों ने इन्द्र का साम्राज्य छीन लिया। तब उसने वृहस्पति के पास जाकर प्रार्थना की, कि मुझे मेरा राज्य वापिस दिलाने के लिए कुछ उपाय कीजिए। वृहस्पति ने ग्रहशान्तिविधान तथा पौष्टिक कर्म करके इन्द्र को बलवान् तथा साहसी बना दिया और रजिपुत्रों के पास जाकर उन्हें मोहित कर जैनधर्मावलम्बी बना दिया, जिससे वे वेदत्रयी से च्युत होकर विनाश के योग्य हो गये। तब इन्द्र

१०. कालिदास की तिथि संशुद्धि / पृ. २१२।

ने वज्रप्रहार से उन्हें मार डाला।^{११} इस कथा से जैनधर्म अतिप्राचीन सिद्ध होता है।

कलियुग के दोष बतलाते हुए मत्स्यपुराण (अध्याय १४४) में कहा गया है कि इस युग में राजा लोग अधिकांशतः शूद्रयोनि के होते हैं और काषायवस्त्रधारी (बौद्ध), निष्कच्छ (नग्न) तथा कापालिक आदि पाषण्डियों की प्रवृत्तियाँ बढ़ जाती हैं—

राजानः शूद्रभूयिष्ठाः पाषण्डानां प्रवृत्तयः।

काषायिणश्च निष्कच्छास्तथा कापालिनश्च ह॥ १४४/४०॥

मत्स्यपुराण की अन्य प्रतियों में 'काषायिणश्च' के स्थान में 'नग्नास्तथा च' एवं 'निष्कच्छाः' के स्थान में 'निर्ग्रन्थाः'^{१२} पाठ मिलता है, जिससे स्पष्ट है कि तीसरी शती ई० के पूर्वार्ध में निर्ग्रन्थसम्प्रदाय के नग्न साधु विद्यमान थे।

१०

**विष्णुपुराण (३००-४०० ई०) में नाभि, मेरुदेवी, ऋषभ, भरत,
नग्न, दिगम्बर, बर्हिपिच्छधर, आर्हत, अनेकान्तवाद**

श्री आर० सी० हाजरा ने पुराणों पर महत्त्वपूर्ण शोध कार्य किया है। उन्होंने विष्णुपुराण का रचनाकाल तीसरी-चौथी शताब्दी ई० बतलाया है।^{१३} इसमें मौर्य और नंद राजाओं का विवरण है, गुप्तकालीन राजाओं के नाम नहीं है। पुराणों में प्राचीनता और धर्म तथा दर्शन के निरूपण की प्रामाणिकता के कारण विष्णुपुराण का निर्विवाद महत्त्व है।^{१४} इसके द्वितीय अंश में आद्य जैन तीर्थंकर ऋषभ, उनके माता-पिता नाभि एवं मेरुदेवी तथा पुत्र भरत का वर्णन किया गया है और तृतीय अंश में जैन और बौद्ध सम्प्रदायों का विवरण है।

१०.१. भगवान् ऋषभदेव प्रथम मनु स्वायंभुव के पाँचवें वंशज

विष्णुपुराण (अंश २/अध्याय १) के निम्नलिखित श्लोकों में प्रथम जैन तीर्थंकर भगवान् ऋषभदेव को १.स्वायंभुव मनु, २.प्रियव्रत, ३.आग्नीध्र, ४.नाभि एवं

११. गत्वाऽथ मोहयामास रजिपुत्रान्वृहस्पतिः।

जिनधर्म समास्थाय वेदबाह्यं स वेदवित् ॥ २४/४७ ॥

वेदत्रयीपरिभ्रष्टांश्चकार धिषणाधिपः।

वेदबाह्यान् परिज्ञाय हेतुवादसमन्वितान् ॥ २४/४८ ॥

जघान शक्रो वज्रेण सर्वान्धर्मबहिष्कृतान् ॥ २४/४९ ॥

१२. मत्स्यपुराण / पा. टि. / १४४ / ४० / पृ. ७११।

१३. डॉ. राधावल्लभ त्रिपाठी : संस्कृत साहित्य का अभिनव इतिहास / पृ. ७७।

१४. वही / पृ. ८१।

५. ऋषभ, इस क्रम से स्वायंभुव नामक प्रथम मनु की पाँचवीं पीढ़ी^{१५} में उत्पन्न बतलाया गया है—

श्रीमैत्रेय उवाच—

प्रियव्रतोत्तानपादौ सुतौ स्वायम्भुवस्य यौ।
तथोरुत्तानपादस्य ध्रुवः पुत्रस्त्वथोदितः ॥ २/१/३ ॥
प्रियव्रतस्य नैवोक्ता भवता द्विज! सन्ततिः।
तामहं श्रोतुमिच्छामि प्रसन्नो वक्तुमर्हसि ॥ २/१/४ ॥

श्रीपराशर उवाच—

कर्दस्यात्मजां कन्यामुपयेमे प्रियव्रतः।
सम्राट् कुक्षिश्च तत्कन्ये दशपुत्रास्तथाऽपरे ॥ २/१/५ ॥
महाप्रज्ञा महावीर्यां विनीता दयिता पितुः।
प्रियव्रतसुताः ख्यातास्तेषां नामानि मे शृणु ॥ २/१/६ ॥
आग्नीध्रश्चाग्निबाहुश्च वपुष्मान्द्युतिमांस्तथा।
मेधा मेधातिथिर्भव्यः सवनः पुत्र एव च ॥ २/१/७ ॥
ज्योतिष्मान्दशमस्तेषां सत्यनामा सुतोऽभवत्।
प्रियव्रतस्य पुत्रास्ते प्रख्याता बलवीर्यतः ॥ २/१/८ ॥
मेधाग्निबाहुपुत्रास्तु त्रयो योगपरायणाः।
जातिस्मरा महाभागा न राज्याय मनो दधुः ॥ २/१/९ ॥
निर्मलाः सर्वकालन्तु समस्तार्थेषु वे मुने।
चक्रुः क्रियां यथान्यायमफलाकांक्षिणो हिते ॥ २/१/१० ॥
प्रियव्रतो ददौ तेषां सप्तानां मुनि सत्तम!।
सप्तद्वीपानि मैत्रेय! विभज्य सुमहात्मनाम् ॥ २/१/११ ॥
जम्बूद्वीपं महाभाग! साग्नीध्राय ददौ पिता।
मेधातिथेस्तथा प्रादात्प्लक्षद्वीपं तथापरम् ॥ २/१/१२ ॥
शात्मले च वपुष्मन्तं नरेन्द्रमभिषिक्तवान्।
ज्योतिष्मन्तं कुशद्वीपे राजानं कृतवान्प्रभुः ॥ २/१/१३ ॥
द्युतिमन्तं च राजानं क्रौञ्चद्वीपे समादिशत्।
शाक द्वीपेश्वरं चापि भव्यं चक्रे प्रियव्रतः ॥ २/१/१४ ॥

१५. श्रीमद्भागवतमहापुराण/स्कन्ध ५/अध्याय १-४ में भी इसी क्रम से भगवान् ऋषभदेव को स्वायंभुवमनु की पाँचवीं पीढ़ी में उत्पन्न दर्शाया गया है।

पुष्कराधिपतिं चक्रे सवनं चापि स प्रभुः।
 जम्बूद्वीपेश्वरो यस्तु आग्नीधो मुनिसत्तम ॥ २/१/१५ ॥
 तस्य पुत्रा बभूवस्ते प्रजापतिसमा नव।
 नाभिः किम्पुरुषश्चैव हरिवर्ष इलावृतः ॥ २/१/१६ ॥
 रम्यो हिरण्वान् षष्ठश्च कुरुर्भद्राश्व एव च।
 केतुमालस्तथैवान्यः साधुचेष्टोऽभवन्पुः ॥ २/१/१७ ॥
 जम्बूद्वीप विभागांश्च तेषां विप्र! निशामय।
 पित्रा दत्तं हिमाहं तु वर्षं नाभेस्तु दक्षिणम् ॥ २/१/१८ ॥
 हिमाह्वयं तु वै वर्षं नाभेरासीन्महात्मनः।
 तस्यर्षभोऽभवत्पुत्रो मेरुदेव्यां महाद्युतिः ॥ २/१/१९ ॥
 ऋषभाद्भरतो जज्ञे ज्येष्ठः पुत्रशतस्य सः।
 कृत्वा राज्यं स्वधर्मेण तथेष्ट्वा विविधान्मखान् ॥ २/१/२० ॥
 अभिषिच्य सुतं वीरं भरतं पृथिवीपतिः।
 तपसे स महाभागः पुलहस्याश्रमं ययौ ॥ २/१/२१ ॥
 वानप्रस्थविधानेन तत्रापि कृतनिश्चयः।
 तपस्तेपे यथान्यायमियाज स महीपतिः ॥ २/१/२२ ॥
 तपसा कर्षितोऽत्यर्थं कृशो धमनिसन्ततः।
 नग्नो वीटां मुखे कृत्वा वीराध्वानं ततो गतः ॥ २/१/२३ ॥
 ततश्च भारतं वर्षमेतल्लोकेषु गीयते।
 भरताय यतः पित्रा दत्तं प्रातिष्ठता वनम् ॥ २/१/२४ ॥

अनुवाद

श्री मैत्रेय बोले—

“(हे भगवन्!) स्वायम्भुवमनु के जो प्रियव्रत और उत्तानपाद दो पुत्र थे, उनमें उत्तानपाद के पुत्र ध्रुव के विषय में तो आपने बतला दिया, किन्तु हे द्विज! आपने प्रियव्रत की सन्तान के विषय में कुछ भी नहीं कहा। मैं उसके बारे में सुनना चाहता हूँ, अतः आप प्रसन्न होकर कहिए।”

श्री पराशर बोले—

“प्रियव्रत ने कर्दम की पुत्री से विवाह किया था। उससे उनके सम्राट और कुक्षि नाम की दो कन्याएँ तथा दस पुत्र हुए। प्रियव्रत के पुत्र बड़े बुद्धिमान्, बलवान्,

विनयसम्पन्न और माता-पिता के अत्यन्त प्रिय थे। उनके नाम सुनिये, वे इस प्रकार हैं—आग्नीध्र, अग्निबाहु, वपुष्मान्, द्युतिमान् मेधा, मेधातिथि, भव्य, सवन, पुत्र और ज्योतिष्मान्। प्रियव्रत के ये पुत्र अपने बल-पराक्रम के कारण विख्यात थे। इनमें मेधा, अग्निबाहु और पुत्र, ये तीन योगपरायण तथा अपने पूर्वजन्म का वृत्तान्त जाननेवाले थे। इनकी रुचि राज्य में नहीं थी। ये निर्मलचित्त, कर्मफल की इच्छा से रहित तथा समस्त विषयों में न्यायानुकूल प्रवृत्ति करनेवाले थे।

“हे मुनिश्रेष्ठ! राजा प्रियव्रत ने अपने शेष सात सुमहात्मा पुत्रों को सात द्वीप बाँट दिये। आग्नीध्र को जम्बूद्वीप और मेधातिथि को प्लक्ष नाम का दूसरा द्वीप दिया, शात्मलीद्वीप में वपुष्मान् को अभिषिक्त किया, ज्योतिष्मान् को कुशद्वीप का राजा बनाया, द्युतिमान् को क्रौञ्चद्वीप का शासन सौंपा, भव्य को शाकद्वीप का स्वामित्व प्रदान किया और सवन को पुष्करद्वीप का अधिपति बनाया।

“हे मुनिसत्तम! उनमें जो जम्बूद्वीप के अधीश्वर आग्नीध्र थे, उनके प्रजापति के समान नौ पुत्र हुए : नाभि, किम्पुरुष, हरिवर्ष, इलावृत, रम्य, हिरण्वान्, कुरु, भद्राश्व और केतुमाल। हे विप्र! अब उनके लिए जम्बूद्वीप के जो विभाग किये गये, उन्हें सुनो। पिता (अग्नीध्र) ने दक्षिण की ओर का हिमवर्ष (जिसे अब भारतवर्ष कहते हैं) नाभि को दिया।—

“जिन नाभि को हिमवर्ष दिया गया था, उनके मरुदेवी से महाद्युतिमान् ऋषभ नामक पुत्र हुए। ऋषभ के सौ पुत्र हुए, जिनमें भरत ज्येष्ठ थे। पृथिवीपति ऋषभदेव ने धर्मपूर्वक राज्यशासन किया तथा विविध यज्ञ सम्पन्न किये, पश्चात् अपने वीर पुत्र भरत का राज्यभिषेक कर तप करने के लिए पुलहाश्रम चले गये। उन्होंने वहाँ भी वानप्रस्थविधि से रहते हुए तप एवं यज्ञानुष्ठान किये। तप से सूखकर वे इतने कृश हो गये कि शरीर की धमनियाँ दिखायी देने लगीं। अन्त में अपने मुख में एक पत्थर की बटिया रखकर नग्नावस्था में प्रव्रजित हो गये।”

“यतः पिता ऋषभदेव ने वन जाते समय अपने हिमवर्ष का राज्य भरत को प्रदान किया था, अतः तब से यह हिमवर्ष भारतवर्ष के नाम से प्रसिद्ध हुआ।”^{१६}

‘मनुस्मृति’ (१/६३) में मनुओं की संख्या चौदह^{१७} बतलायी गयी है। उनमें स्वायंभुव मनु प्रथम मनु थे। मनुस्मृति (१/७९) के अनुसार एक मनु का काल (मन्वन्तर)

१६. लिंगपुराण (४७/१९-२५) एवं श्रीमद्भागवतमहापुराण (५/४/ वाक्य ८-९) में भी भगवान् ऋषभदेव के ज्येष्ठपुत्र भरत के नाम से ही ‘भारतवर्ष’ नाम प्रचलित होने का वर्णन है।

१७. १. स्वायंभुव, २. स्वरोचिष, ३. औत्तमि, ४. तामस, ५. रैवत, ६. चाक्षुष, ७. वैवस्वत, ८. सावर्णि, ९. दक्षसावर्णि, १०. ब्रह्मसावर्णि, ११. धर्मसावर्णि, १२. रुद्रसावर्णि, १३. रौच्यद्वैवसावर्णि, और १४. इन्द्रसावर्णि। (वामन शिवराम आपटे : संस्कृत-हिन्दी कोश/‘मनुः’)।

मनुष्यों के तेतालीस लाख, बीस हजार (४३,२०,०००) वर्षों का होता है। इसी को ब्रह्मा का १/१४ दिन मानते हैं, क्योंकि इस प्रकार के १४ कालों का योग ब्रह्मा का एक पूरा दिन होता है। इन चौदह कालों में से प्रत्येक का अधिष्ठातृ-मनु पृथक्-पृथक् है। इस प्रकार के छह काल बीत चुके हैं। इस समय हम सातवें मन्वन्तर में रह रहे हैं।^{१८} इससे फलित होता है कि वैदिक (हिन्दू) शास्त्रों के अनुसार प्रथम स्वायंभुव-मन्वन्तर में उत्पन्न प्रथम तीर्थंकर भगवान् ऋषभदेव आज से लगभग (४३,२०,०००×६=२,५९,२०,०००) ढाई करोड़ वर्ष पहले हुए थे। वे वातरशन-श्रमणधर्म (दिगम्बरमुनिधर्म) के उपदेशक थे।^{१९} इससे सिद्ध होता है कि दिगम्बर जैन-परम्परा वैदिक मान्यता के अनुसार भी कम से कम ढाई करोड़ वर्ष प्राचीन है।

१०.२. दिगम्बरजैनधर्म विष्णुपुराणकार के समय से अतिप्राचीन

यद्यपि विष्णुपुराणकार ने लिखा है कि ऋषभदेव नग्नावस्था में प्रव्रजित हुए थे, तथापि वे इस तथ्य से अनभिज्ञ थे कि ऋषभदेव ही जैनधर्म के प्रथम तीर्थंकर थे अथवा यदि वे इस तथ्य को जानते थे, तो उन्होंने जानबूझकर इसकी उपेक्षा की है और वैदिक धर्म के अतिरिक्त अन्य भारतीय धर्मों को अधर्म सिद्ध करने के लिए जैनधर्म और बौद्धधर्म को 'मायामोह' अर्थात् अज्ञान या अविद्या-जनित दर्शाते हुए अपने अनुयायियों की रक्षा करने में असमर्थ बतलाया है। विष्णुपुराण (अंश ३/अध्याय १६,१७,१८) में मुनि पराशर और शिष्य मैत्रेय के संवाद द्वारा जैनधर्म, बौद्धधर्म और चार्वाकमत की उत्पत्ति इस प्रकार बतलायी गयी है—

पराशर मुनि मैत्रेय को गृहस्थ के सदाचार का उपदेश देते हुए कहते हैं कि नपुंसक, अपविद्ध (सत्पुरुषों द्वारा बहिष्कृत), चाण्डाल, श्वान, नग्न, रजस्वला स्त्री आदि की दृष्टि पड़ जाने पर देवगण तथा पितृगण श्राद्ध में अपना भाग नहीं लेते, अतः किसी धिरे हुए स्थान में श्राद्धकर्म करना चाहिए।^{२०} इस पर मैत्रेय प्रश्न करते हैं—“भगवन्! अपविद्ध और रजस्वला आदि को तो मैं अच्छी तरह जानता हूँ, किन्तु यह नहीं जानता कि 'नग्न' किसे कहते हैं? अतः आप यही बतलाइये कि नग्न कौन कहलाता है?” तब मुनि पराशर उत्तर देते हैं—“हे द्विज! सभी वर्णों की नग्नता को ऋक्, साम और यजुः, यह वेदत्रयी आवृत करती है, अतः जो पुरुष मोह से इसका त्याग कर देता है, वह 'नग्न' संज्ञा प्राप्त करता है”—

१८. देखिए, वही।

१९. देखिये, अगला शीर्षक १५ 'भागवतपुराण (६०० ई.) में वातरशन श्रमण, गगनपरिधान।'

२०. विष्णुपुराण/अंश ३/अध्याय १६/श्लोक १२-१४।

ऋग्यजुस्सामसंज्ञेयं त्रयी वर्णवृत्तिर्द्विज।

एतामुञ्जति यो मोहात्स नग्नः पातकी द्विजः॥ ३/१७/५॥

इसके बाद पराशर मुनि मैत्रेय को 'नग्न' के विषय में वह बात सुनाते हैं, जो पराशर मुनि के पितामह वशिष्ठ ने भीष्म से कही थी। वे कहते हैं कि पूर्वकाल में किसी समय सौ दिव्य वर्ष तक देवों और असुरों में युद्ध हुआ। उसमें 'ह्राद' आदि दैत्यों द्वारा देवगण पराजित हुए। तब उन्होंने भगवान् विष्णु की स्तुति की। उससे प्रसन्न होकर उन्होंने दर्शन दिये। देवों ने भगवान् से प्रार्थना की, कि 'ह्राद' प्रभृति दैत्यों ने ब्रह्माजी की आज्ञा का भी इल्लंघन कर हमारे और त्रिलोकी के यज्ञभाग का अपहरण कर लिया है। वे वर्णधर्म का पालन करनेवाले, वेदमार्गावलम्बी एवं तपोनिष्ठ हैं, अतः हमारे द्वारा उनका वध नहीं हो सकता। इसलिए भगवन्! ऐसा कोई उपाय बतलाइये कि हम उनका वध करने में समर्थ हों। उनके ऐसा कहने पर भगवान् विष्णु ने अपने शरीर से मायामोह को उत्पन्न किया और देवताओं को देकर कहा कि यह मायामोह उन सम्पूर्ण दैत्यों को मोहित कर देगा, जिससे वे वेदमार्ग से च्युत हो जावेंगे। तब तुम उनके वध में समर्थ हो जाओगे।^{२१}

मायामोह देवों के साथ नर्मदा तट पर गया, जहाँ असुरगण तपस्या कर रहे थे। उसने दिगम्बरजैन मुनि का रूप धारण किया अर्थात् नग्नशरीर, मुण्डितकेश और हाथ में मयूरपिच्छी लिये हुए प्रकट हुआ और असुरों से बोला—“हे दैत्यपतियो! आप लोग लौकिक फल की इच्छा से तप कर रहे हैं या पारलौकिक?”—

ततो दिगम्बरो मुण्डो बर्हिपिच्छधरो द्विज।

मायामोहोऽसुरान् श्लक्ष्णामिदं वचनमब्रवीत्॥ ३/१८/२॥

हे दैत्यपतयो ब्रूत यदर्थं तप्यते तपः।

ऐहिकं वाथ पारत्र्यं तपसः फलमिच्छथ॥ ३/१८/३॥

असुर बोले—“हम लोग पारलौकिक फल की कामना से तप कर रहे हैं।” तब दिगम्बरजैन-मुनिवेशधारी मायामोह ने अनेक प्रकार के युक्तिमय उपदेश देकर उन्हें वैदिक मार्ग से च्युत कर दिया। वे उपदेश इस प्रकार थे—“यह धर्म का कारण है और अकारण भी है, यह सद् भी है और असद् भी, यह मुक्ति का मार्ग है और नहीं भी है, यह परमार्थ है और अपरमार्थ भी है, यह कर्तव्य भी है और अकर्तव्य भी, यह ऐसा ही है और ऐसा नहीं भी है, यह दिगम्बरों का धर्म है और यह वस्त्रधारियों का।” मायामोह ने ऐसे अनेक प्रकार के अनेकान्तवाद दर्शाये, जिससे दैत्यों ने अपना वैदिकधर्म छोड़ दिया। उसने दैत्यों से कहा कि आप लोग इस महाधर्म को 'अर्हत'

करें अर्थात् इसका आदर करें, अतः इस धर्म का अवलम्बन करने से वे 'आर्हत' कहलाये। इसके बाद उन्होंने अन्य दैत्यों को इस धर्म में प्रवृत्त किया, और अन्य दैत्यों ने अन्यो को। इस प्रकार थोड़े ही दिनों में दैत्यों ने वेदत्रयी का प्रायः त्याग कर दिया—

एवं प्रकारैर्बहुभिर्युक्तिदर्शनचर्चितैः।
 मायामोहेन ते दैत्या वेदमार्गादपाकृताः॥ ३/१८/८॥
 धर्मायैतदधर्माय सदेतन्न सदित्यपि।
 विमुक्तये त्विदं नैतद्विमुक्तिं सम्प्रयच्छति॥ ३/१८/९॥
 परमार्थोऽयमत्यर्थं परमार्थो न चाप्ययम्।
 कार्यमेतदकार्यं च नैतदेवं स्फुटं त्विदम्॥ ३/२/१०॥
 दिग्वाससामयं धर्मो धर्मोऽयं बहुवाससाम्॥ ३/१८/११॥
 इत्यनेकान्तवादं च मायामोहेन नैकधा।
 तेन दर्शयता दैत्याः स्वधर्मं त्याजिता द्विज॥ ३/१८/१२॥
 अर्हतैतं महाधर्मं मायामोहेन ते यतः।
 प्रोक्तास्तमाश्रिता धर्ममार्हतास्तेन तेऽभवन्॥ ३/१८/१३॥

इसके बाद मायामोह ने रक्तवस्त्र धारणकर अर्थात् बौद्ध बनकर अन्य असुरों को बौद्ध धर्म ग्रहण कराया—

पुनश्च रक्ताम्बरधृङ् मायामोहो जितेन्द्रियः।
 अन्यानाहासुरान् गत्वा मृद्वल्पमधुराक्षरम्॥ ३/१८/१६॥
 स्वर्गार्थं यदि वो वाञ्छा निर्वाणार्थमथासुराः।
 तदलं पशुघातादिदुष्टधर्मैर्निबोधत॥ ३/१८/१७॥
 विज्ञानमयमेवैतदशेषमवगच्छत।
 बुध्यध्वं मे वचः सम्यग्बुधैरेवमिहोदितम्॥ ३/१८/१८॥

मायामोह ने कई असुरों को चार्वाकमत में भी दीक्षित किया, जिससे वे वेदविरोधी बातें करने लगे। जैसे, यदि अनेकों यज्ञों के द्वारा देवत्व-लाभ करके इन्द्र को शमी आदि काष्ठ का ही भोजन करना पड़ता है, तो इससे तो पत्ते खानेवाला पशु ही अच्छा है। यदि यज्ञ में बलि किये गये पशु को स्वर्ग की प्राप्ति होती है, तो यजमान अपने पिता को ही क्यों नहीं मार डालता?—

यज्ञैरनेकैर्देवत्वमवाप्येन्द्रेण भुज्यते।
 शम्यादि यदि चेत्काष्ठं तद्वरं पत्रभुक्पशुः॥ ३/१८/२६॥
 निहतस्य पशोर्यज्ञे स्वर्गप्राप्तिर्यदीष्यते।
 स्वपिता यजमानेन किन्तु तस्मान्न हन्यते॥ ३/१८/२८॥

इस प्रकार दैत्यों के विपरीतमार्ग में प्रवृत्त हो जाने पर देवगण अच्छी तैयारी करके उनके पास युद्ध के लिए उपस्थित हुए और पुनः देवासुरसंग्राम हुआ, जिसमें दैत्यगण देवताओं के द्वारा मारे गये।^{२२}

विष्णुपुराण के उपर्युक्त श्लोकों में 'दिगम्बर', 'मुण्ड', 'मयूरपिच्छधारी', 'दिग्वा-सर्षों का धर्म' तथा 'अनेकान्तवाद' आदि शब्दों के प्रयोग से स्पष्ट है कि पुराणकार ने दिगम्बरजैन मुनि का वर्णन किया है। यद्यपि मायामोह द्वारा दैत्यों को जैनधर्म और बौद्धधर्म में दीक्षित किये जाने की कथा कल्पित है, क्योंकि बौद्धधर्म देवासुरसंग्राम के समय में था ही नहीं, तथापि यह कल्पना तीसरी-चौथी शताब्दी ई० में रचे गये विष्णुपुराण के रचयिता ने की है, इससे स्पष्ट है कि ये धर्म पुराणकार के समय से इतने अधिक प्राचीन थे कि उसने देवासुरसंग्राम के समय में भी बौद्धधर्म का अस्तित्व मान लिया। दिगम्बर जैनधर्म तो भगवान् ऋषभदेव के युग से चला आ रहा था, अतः उसमें दैत्यों के दीक्षित किये जाने की कल्पना असंगत सिद्ध नहीं होती।

११

मुद्राराक्षस नाटक (४००-५०० ई०) में क्षपणक, बीभत्सदर्शन

'मुद्राराक्षस' संस्कृत साहित्य का एक प्रसिद्ध नाटक है। इसके रचयिता विशाखदत्त हैं। विद्वानों ने इनका समय चौथी शताब्दी ई० का उत्तरार्ध और पाँचवी शताब्दी का पूर्वार्ध बतलाया है।^{२३} नाटक में नन्दवंश का अन्त होने पर उसके 'राक्षस' नामक योग्य अमात्य को चाणक्य द्वारा चन्द्रगुप्त का अमात्य बनाये जाने के प्रयत्न की कथा वर्णित है। इसमें चाणक्य अपने इन्दुशर्मा नामक सहपाठी को क्षपणक (दिगम्बरजैन मुनि) का वेश धारण कराकर जीवसिद्धि नाम से गुप्तचर का काम कराता है। वह अमात्य राक्षस का छद्म-मित्र बन जाता है।

चतुर्थ अंक में वह अमात्य राक्षस से मिलने जाता है। अमात्य राक्षस को द्वारपाल सूचना देता है कि ज्योतिषी क्षपणक द्वार पर प्रतीक्षा कर रहे हैं। वैदिक सम्प्रदाय में साम्प्रदायिक कारण से क्षपणक (नग्न जैन मुनि) के दर्शन अशुभ माने जाते थे।

२२. विष्णुपुराण/अंश ३/अध्याय १८/श्लोक ३३-३४।

२३. डॉ. राधावल्लभ त्रिपाठी : संस्कृत साहित्य का अभिनव इतिहास/पृ. २८५।

अतः अमात्य राक्षस अपशकुन का भाव प्रकट करते हुए (आत्मगतम्, अनिमित्तं सूचयित्वा) मन में कहता है—

‘कथं प्रथममेव क्षणकः?’ (क्या शुरू में ही क्षणक आ गया?)

फिर प्रकटरूप से द्वारपाल को आदेश देता है—‘अबीभत्सदर्शनं कृत्वा प्रवेशय’ (बीभत्सरूप को ढँककर भीतर ले जाओ)।

भाव यह है कि नग्न रहने के कारण दिगम्बरजैन मुनि का रूप जैनेतरों को बीभत्स लगता है, इसलिए अमात्य राक्षस द्वारपाल को आदेश देता है कि वह क्षणक को वस्त्र से आच्छादित करके भीतर ले आवे। क्षणक मंच पर प्रवेश करके निम्नलिखित गाथा पढ़ता है—

सासणमलिहन्ताणं पडिवज्जह मोहवाहिवेजाणं।

जे मुत्तमात्तकडुअं पच्छा पत्थं उवदिसन्ति॥ ४/१८॥

अनुवाद—“अज्ञानरूपी रोग का उपचार करनेवाले अरहन्तों के उपदेश को स्वीकार करो, जो क्षण भर के लिए कडुवा, परन्तु बाद में हितकारी होता है।”

वह पंचम अंक में अरहन्तों को प्रणाम करता है—

अलहन्ताणं षणमामि जे दे गंभीलदाए बुद्धीए।

लोउत्तलेहिं लोए सिद्धिं मग्गेहिं गच्छन्दि॥ ५/२॥

अनुवाद—“मैं अरहन्तों को प्रणाम करता हूँ, जो अपनी बुद्धि (ज्ञान) की गम्भीरता के कारण अलौकिक मार्गों के द्वारा मोक्ष प्राप्त करते हैं।”

इससे सिद्ध होता है कि चतुर्थ शताब्दी ई० में जैनेतर समाज दिगम्बरजैन मुनियों एवं उनके धर्म से सुपरिचित था और ‘मुद्राराक्षस’ नाटक के रचयिता विशाखदत्त स्वीकार करते थे कि ई० पू० चौथी शताब्दी में चन्द्रगुप्त और चाणक्य के समय दिगम्बरजैन मुनियों का अस्तित्व था। इस प्रकार जैनेतर भारतीय साहित्य और साहित्यकार इस बात के गवाह हैं कि दिगम्बर जैन परम्परा ई० पू० चतुर्थ शताब्दी के पहले से चली आ रही है।

१२

वायुपुराण (५०० ई०) में नग्न, निर्ग्रन्थ

पुराणों पर महत्वपूर्ण शोधकार्य करने वाले श्री आर० सी० हाजरा ने वायुपुराण का रचनाकाल पाँचवी शताब्दी ई० निर्धारित किया है।^{२४} यह शैव पुराण है। इसमें

२४. वही / पृ. ७७।

गुप्त राजाओं का वर्णन है।^{२५} इसमें कहा गया है कि श्राद्धकर्म को नग्नादि न देख पावें, नहीं तो श्राद्ध की वस्तुएँ न तो पितरों को प्राप्त होती हैं, न पितामहों को—

नग्नादयो न पश्येयुः श्राद्धमेवं व्यवस्थितम्।
गच्छन्ति तैस्तैर्दृष्टानि न पितृन् पितामहान्॥^{२६}

इस पर शंयु प्रश्न करते हैं कि नग्नादि कौन हैं? तब बृहस्पति उत्तर देते हैं—

यद्विश्राधकनिर्ग्रन्थाः शक्या जीवन्ति कर्पटाः॥

ये धर्म नानुवर्तन्ते ते वै नग्नादयो जनाः।

-----॥^{२७}

अनुवाद—“जो श्राद्धादि कार्यों का विरोध करनेवाले और वैदिक धर्म का अनुसरण न करनेवाले निर्ग्रन्थ (दिगम्बरजैन मुनि) आदि हैं, वे नग्नादि कहलाते हैं।”

इस प्रमाण से दिगम्बरजैनमत पाँचवी शताब्दी ई० से पूर्ववर्ती सिद्ध होता है।

१३

वराहमिहिर-बृहत्संहिता (४९० ई०) में नग्न, दिग्वासस् , निर्ग्रन्थ

प्रसिद्ध ज्योतिष-शास्त्री वराहमिहिर का स्थितिकाल विद्वानों ने ४९० ई० के लगभग माना है।^{२८} उन्होंने अपने ग्रन्थ बृहत्संहिता के प्रतिष्ठापनाध्याय में लिखा है—

विष्णोर्भागवतान् मगांश्च सवितुः शम्भोः सभस्मद्विजान्
मातृणामपि मण्डलक्रमविदो विप्रान् विदुर्ब्रह्मणः।
शाक्यान् सर्वहितस्य शान्तमनसो नग्नान् जिनानां विदु-
र्यं यं देवमुपाश्रिताः स्वविधिना तैस्तस्य कार्याः क्रियाः॥ ६०॥^{२९}

अनुवाद—“भागवत विष्णु के, मग सूर्य के, भस्माञ्चित द्विज शम्भु के, मातृमण्डलवेत्ता माताओं के, विप्र ब्रह्मा के, शाक्य बुद्ध के और नग्न ‘जिन’ के उपासक या प्रतिष्ठापक होते हैं। अतः जो जिस देव के उपासक हैं, वे अपनी-अपनी विधि से उसकी प्रतिष्ठादि क्रियाएँ करें।”

२५. वही / पृ. ८१।

२६. वायुपुराण ७८ / २४।

२७. वही / ७८ / ३०-३१।

२८. डॉ. बलदेव उपाध्याय : संस्कृतसाहित्य का इतिहास / पृ. ५०६।

२९. पं. कैलाशचन्द्र शास्त्री : जैन साहित्य का इतिहास / पूर्वपीठिका / पृ. ४७२।

वराहमिहिर ने उपर्युक्त अध्याय में यह भी लिखा है—

आजानुलम्बबाहुः श्रीवत्साङ्गप्रशान्तमूर्तिश्च ।
दिग्वासास्तरुणो रूपवांश्च कार्योऽर्हतां देवः ॥ ४५ ॥^{३०}

अनुवाद—“आर्हतों के देव की प्रतिमा के दोनों बाहु जानुपर्यन्त होने चाहिये, वक्षस्थल पर श्रीवत्स का चिह्न अंकित किया जाना चाहिये, मुखमुद्रा प्रशान्त हो तथा शरीर नग्न, तरुण एवं रूपवान् होना चाहिए।”

वराहमिहिर ने बृहज्जातक में प्रब्रज्यायोग बतलाते हुए जिन सात प्रकार के साधुओं का निर्देश किया है, उनके नाम इस प्रकार हैं : शाक्य, आजीविक, भिक्षु, वृद्ध, चरक, निर्ग्रन्थ और वन्याशन (तापस)—“शाक्याजीविकभिक्षुवृद्धचरका निर्ग्रन्थवन्याशानाः” (१५/१)^{३१} इसकी टीका में भट्टोत्पल (ई० ९५०) ने ‘निर्ग्रन्थ’ का अर्थ ‘नग्नक्षपणक’ किया है—“निर्ग्रन्थो नग्नः क्षपणकः प्रावरणरहितः।”^{३२}

इन उल्लेखों में वराहमिहिर ने जिनेन्द्रदेव के उपासकों को नग्न, आर्हत और निर्ग्रन्थ कहा है। इससे सिद्ध है कि दिगम्बरजैन-परम्परा पाँचवी शताब्दी ई० के पूर्व विद्यमान थी और वराहमिहिर के काल में ‘निर्ग्रन्थ’ शब्द ‘नग्न’ अर्थ का वाचक था।

१४

उत्तरभारत में जैन नाम से दिगम्बर ही सर्वाधिक प्रसिद्ध

एक बात ध्यान देने योग्य है कि वराहमिहिर को श्वेताम्बरसाहित्य में नियुक्तिकार भद्रबाहु का भ्राता माना गया है,^{३३} किन्तु वराहमिहिर ने केवल नगनों को ही जिनों का उपासक बतलाया है, श्वेतपटों को नहीं, जैसा कि उपर्युक्त श्लोक के ‘नग्नान् जिनानां विदुः’ इन वचनों से ज्ञात होता है। उन्होंने पूर्वोक्त ‘बृहज्जातक’ (१५/१) में शाक्य, आजीविक, भिक्षु, वृद्ध, चरक, निर्ग्रन्थ और वन्याशन (तापस), इन सात प्रकार के साधुओं का उल्लेख किया है और ‘लघुजातक’ में इन्हीं का नामान्तर से कथन निम्नलिखित श्लोक में किया है—

तापस-वृद्धश्रावक-रक्तपटाजीवि-भिक्षु-चरकाणाम् ।
निर्ग्रन्थानां चार्कात् पराजितैः प्रच्युतिर्बलभिः ॥ १२/१२ ॥^{३४}

३०. वही / पृ. ४७३।

३१. वही / पृ. ४७१।

३२. वही / पृ. ४७३।

३३. श्री देवेन्द्रमुनिशास्त्री : जैन आगम साहित्य : मनन और मीमांसा / पृ. ४३७।

३४. पं. कैलाशचन्द्र शास्त्री : जैन साहित्य का इतिहास / पूर्वपीठिका / पृ. ४७२।

इसी श्लोक की टीका में इन सप्तविध साधुओं का वर्णन निम्नलिखित नामों से किया गया है—

वानप्रस्थोऽथ कापाली बौद्धः स्यादेकदण्डिनः।
त्रिदण्डी योगिनो नग्नः प्रव्रज्याकादितः क्रमात्॥^{३५}

यहाँ तापस को वानप्रस्थ, वृद्धश्रावक को कापालिक, रक्तपट को बौद्ध, आजीविक को एकदण्डी, भिक्षु को त्रिदण्डी, चरक को योगी और निर्ग्रन्थ को नग्न शब्द से विवेचित किया गया है।

इससे स्पष्ट है कि वराहमिहिर को 'निर्ग्रन्थ' शब्द से भी 'नग्न (दिगम्बर) जैन साधु' अर्थ ही अभिप्रेत था।

यह आश्चर्य की बात है कि श्वेताम्बरसाहित्य में वराहमिहिर को श्वेताम्बराचार्य भद्रबाहु (निर्युक्तिकार) का कनिष्ठ भ्राता माना गया है, किन्तु वराहमिहिर ने केवल नगनों को ही 'जिन' का उपासक कहा है, श्वेतपटों को नहीं, तथा उन्होंने 'निर्ग्रन्थ' 'नग्न' और 'रक्तपट' शब्दों का प्रयोग तो किया है, 'किन्तु श्वेतपट' या 'सिताम्बर' शब्द कहीं भी प्रयुक्त नहीं किया। इसके अतिरिक्त समस्त वैदिक, बौद्ध एवं संस्कृत साहित्य में जैनसाधु के रूप में निर्ग्रन्थों, क्षपणकों, दिग्वाससों और वातरशनों का जितना अधिक उल्लेख हुआ है, उतना श्वेतपटों, सिताम्बरों या श्वेताम्बरों का नहीं हुआ। इससे हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि प्राचीनकाल में दक्षिणभारत की तरह उत्तरभारत में भी दिगम्बर साधु ही जैनसाधु के रूप में सर्वाधिक प्रसिद्ध थे।

१५

भागवतपुराण (६०० ई०) में वातरशन श्रमण, गगनपरिधान

पुराण-विशेषज्ञ श्री आर० सी० हाजर ने भागवतपुराण का रचनाकाल ६०० ई० के लगभग आकलित किया है।^{३५} यह वैदिक परम्परा का सर्वाधिक प्रसिद्ध पुराण है। "वैष्णव धर्म के अनुयायी इसे पाँचवाँ वेद ही मानते हैं। कविता और दर्शन का दुर्लभ मणिकांचनयोग इस पुराण में हुआ है। यह चिन्तन, पाण्डित्य और काव्य की कसौटी माना गया है। कहा भी है—“विद्यावतां भागवते परीक्षा” अर्थात् विद्वानों की परीक्षा भागवत में ही है। विष्णु के अवतारों का वर्णन करते हुए भागवतकार ने सांख्य के प्रवर्तक कपिलमुनि तथा गौतम बुद्ध को भी उनके अवतारों में निरूपित करके धर्म के सम्बन्ध में समन्वय की दृष्टि का परिचय दिया है। पंचम स्कन्ध में ऋषभदेव

३५. डॉ. राधावल्लभ त्रिपाठी / संस्कृतसाहित्य का अभिनव इतिहास / पृ. ७७।

और जड़भरत का चरित्र अत्यन्त प्रेरणास्पद है। भागवत के दसवें और ग्यारहवें स्कन्ध श्रीकृष्ण की लीलाओं के वर्णन के लिए प्रसिद्ध तथा अत्यन्त लोकप्रिय रहे हैं।^{१३६}

यह पूर्व (शीर्षक १) में कहा जा चुका है कि भागवतपुराण के वर्णनानुसार भगवान् विष्णु ने राजा नाभि का प्रिय करने के लिए महारानी मेरुदेवी के गर्भ में ऋषभदेव के रूप में अवतार लिया था, जिसका उद्देश्य था वातरशन-श्रमण-ऋषियों के धर्म (दिगम्बर जैनधर्म) को प्रकट करना—

“बर्हिषि तस्मिन्नेव विष्णुदत्त! भगवान् परमर्षिभिः प्रसादितो नाभेः प्रियचिकीर्षया तदवरोधायने मेरुदेव्यां धर्मान् दर्शयितुकामो वातरशनानां श्रमणानामृषीणामूर्ध्वमस्थिनां शुक्लया तन्वावततार।” (भा.पु./५/३/२०/पृ.२०७-२०८)।

भागवतपुराण का यह भी कथन है कि ऋषभदेव ने महामुनियों को भक्तिज्ञानवैराग्यरूप पारमहंस्य धर्म की शिक्षा देने के लिए अपने ज्येष्ठ पुत्र भरत का राज्याभिषेक कर स्वयं घर में ही समस्त परिग्रह का त्याग कर दिया और उन्मत्त के समान नग्न हो गये, केशों का संस्कार करना छोड़ दिया, जिससे वे अस्तव्यस्त हो गये और इसी हालत में ब्रह्मावर्त से चल पड़े—

“महामुनीनां भक्तिज्ञानवैराग्यलक्षणं पारमहंस्यधर्ममुपशिक्षमाणः स्वतनयशतज्येष्ठं परमभागवतं भगवज्जनपरायणं भरतं धरणिपालनायाभिषिच्य स्वयं भवन एवोर्वरित-शरीरमात्रपरिग्रह उन्मत्त इव गगनपरिधानः प्रकीर्णकेश आत्मन्यारोपिताहवनीयो ब्रह्मावर्तात् प्रवव्राज।” (भा.पु./५/३/२८/पृ.२११)।

इस तरह भागवतपुराण में भी ऋषभदेव को दिगम्बरजैन मुनियों के ही धर्म का प्रवर्तक बतलाया है, श्वेताम्बरजैन मुनियों के धर्म का नहीं। अर्थात् उन्होंने एकान्ततः वातरशन (नग्न) मुनियों के ही धर्म का प्रवर्तन किया था, चेलरशन (सवस्त्र) मुनियों के धर्म का अपवाद रूप से भी प्रवर्तन नहीं किया और ६०० ई० के भागवतपुराणकार ने ऋषभदेव को ही दिगम्बरजैनधर्म का प्रणेता कहा है, आचार्य कुन्दकुन्द को नहीं। इससे सिद्ध है कि दिगम्बरजैन-परम्परा भागवत-पुराण के रचनाकाल से भी बहुत पूर्ववर्ती है, उतनी ही पूर्ववर्ती जितनी भागवतपुराण के रचयिता ने बतलायी है और जैनपुराण भी बतलाते हैं अर्थात् ऋषभदेवकालीन। तथा भागवत के अनुसार ऋषभदेव 'स्वायम्भुव' नाम के प्रथम मनु की पाँचवी पीढ़ी में (स्वायम्भुवमनु, प्रियव्रत, आग्नीध्र, नाभि और ऋषभ) हुए थे। अतः मन्वन्तर-कालगणना के अनुसार दिगम्बरजैनपरम्परा कम से कम ढाई करोड़ वर्ष प्राचीन सिद्ध होती है, यह पूर्व में दर्शाया जा चुका है। (देखिये, शीर्षक १०.१)। पुनः भगवान् ऋषभदेव का जन्म ब्रह्मावर्त में हुआ था,

३६. वही / पृ. ८०।

न कि दक्षिणापथ में, इससे यह सिद्ध होता है कि दिगम्बरजैन-परम्परा का जन्म उत्तरभारत में ही हुआ था, दक्षिणभारत में नहीं। इस प्रकार 'श्रीमद्भागवतमहापुराण' दिगम्बरजैन-परम्परा की ऋषभयुगीन प्राचीनता को प्रमाणित करने वाला महत्त्वपूर्ण वैदिक ग्रन्थ है।

१६

ऋषभदेव का वैदिकधारा पर प्रभाव

विष्णुपुराण और भागवतपुराण से एक और महत्त्वपूर्ण तथ्य सामने आता है। वह यह कि विष्णुपुराण के अनुसार मायामोह ने और भागवतपुराण के अनुसार ऋषभदेव ने एकमात्र नग्नमुनि-मार्ग का ही प्रवर्तन किया था, नग्न और अनग्न (अचेल और सचेल) दोनों प्रकार के मुनिमार्गों का नहीं। वैदिक ऋषियों ने भी भगवान् ऋषभदेव से दिगम्बर-मुनिमार्ग की ही शिक्षा ग्रहण की थी। यह बात भागवतपुराण एवं उपनिषदों से प्रमाणित होती है।

भागवतपुराण के पूर्वोद्धृत वाक्यों में कहा गया है कि विष्णु के अवतार भगवान् ऋषभदेव ने पारमहंस्य धर्म की शिक्षा दी थी, जो भक्तिज्ञानवैराग्यस्वरूप है। पूर्वोद्धृत वाक्यों में यह भी कहा गया है कि भगवान् विष्णु ने वातरशन (दिगम्बर) ऋषियों के धर्म का उपदेश देने के लिए ऋषभदेव के रूप में अवतार लिया था। इससे सिद्ध है कि पारमहंस्य धर्म में दिगम्बरत्व की प्रधानता है। परमहंससाधु की अन्तिम अवस्था अवधूत-अवस्था है, जिसमें वह जड़ के समान, अन्धे-गूँगे और बहिरे के समान तथा पिशाच के समान उन्मादक सा हो जाता है। भागवतपुराण के अनुसार भगवान् ऋषभदेव इस अवस्था में पहुँच गये थे—

“जडान्ध-मूकबधिरपिशाचोन्मादकवदवधूतवेषोऽभिभाष्यमाणोऽपि जनानां गृहीत-मौनव्रतस्तूष्णीं बभूव।” (भा.पु./५/५/२९/पृ. २११)।

जड़ के समान हो जाने का अर्थ है सांसारिक पदार्थों के प्रति प्रतिक्रियारहित हो जाना, वीतराग हो जाना, उनसे सुख-दुःख का अनुभव न करना। मूक के समान हो जाने का मतलब है शुभाशुभवचनप्रवृत्ति न करना, अन्धे होने का अभिप्राय है चक्षु-इन्द्रिय के विषय को देखकर भी न देखना अर्थात् उसमें राग-द्वेष न करना, बधिर होने से तात्पर्य है श्रोत्रेन्द्रिय के विषय को सुनकर भी न सुनना अर्थात् उसमें आसक्त न होना। शरीर से विरक्त हो जाने के कारण परमहंससाधु न तो वस्त्रधारण करता है, न स्नानादि द्वारा शरीर का संस्कार करता है, इसलिए बाल बिखरे रहते हैं, शरीर पर मैल चढ़ जाता है, जिससे वह नंगधडंग, मैले-कुचैले, बीभत्स रूप के कारण पागल (उन्मत या पिशाचग्रस्त मनुष्य) के समान लगता है। यह भी उसके अवधूत

रूप का लक्षण है। भगवान् ऋषभदेव के इस रूप का वर्णन भागवतपुराण में इस प्रकार किया गया है—

“परागवलम्बमान-कुटिल-जटिल-कपिश-केश-भूरिभारोऽवधूतमलिन-निजशरीरेण ग्रहगृहीत इवादृश्यत।” (भा.पु./५/५/३१/पृ. २११)।

यद्यपि भगवान् ऋषभदेव अखिल लोकपालकों के आभूषण थे, तथापि उनके विलक्षण जड़वत् अवधूतीय वेश, भाषा और आचरण से उनका भगवत्प्रभाव परिलक्षित नहीं होता था—

“अथैवमखिल-लोकपाल-ललामोऽपि विलक्षणैर्जडवदवधूतवेषभाषाचरितैरविलक्षित-भगवत्प्रभावो योगिनां साम्परायविधिमनुशिक्षयन् स्वकलेवरं जिहासुरात्मन्यात्मानमसंब्य-वहितमनर्थान्तरभावेनावीक्षमाण उपरतानुवृत्तिरुपरराम।” (भा.पु./५/६/६/पृ. २१२)।

वे बहुत दिनों तक दक्षिण के कर्णाटक आदि देशों में बिखरे हुए बांलों-सहित नग्न विचरण करते रहे—“मुक्तमूर्धजोऽसंवीत एव विचचार।” (भा.पु.५/६/७/पृ. २१२) इसे भागवतपुराणकार ने जडयोगचर्या कहा है—

नाभेरसावृषभ आस सुदेविसूनु-
 यो वै चचार समदृग् जडयोगचर्याम्।
 यत्पारमहंस्यमृषयः पदमामनन्ति
 स्वस्थः प्रशान्तकरणः परिमुक्तसङ्गः ॥ २/७/१० ॥

अर्थात् भगवान् ऋषभदेव की उपर्युक्त वीतराग, शरीरादि से उदासीन, दिगम्बर-चर्या का नाम ही पारमहंस्य, अवधूतसंन्यास एवं जडयोग है। इसके द्वारा उन्हें अनेक ऋद्धियाँ प्राप्त हुईं, जैसे आकाशगमन, मन के समान तीव्रगति, अन्तर्धान, परकायाप्रवेश, दूरग्रहण (इन्द्रियों की सीमा से बाहर के विषय को भी ग्रहण करना) आदि, किन्तु भगवान् ने इनमें रुचि नहीं ली। इसके बाद उन्हें कैवल्य एवं परमानन्द की अवस्था प्राप्त हो गई—

“इति नानायोगचर्याचरणो भगवान् कैवल्यपतिर्ऋषभोऽविरतपरम-महानन्दानुभव आत्मनि सर्वेषां भूतानामात्मभूते भगवति वासुदेव आत्मनोऽव्यवधानानन्तरोदरभावेन सिद्धसमस्तार्थपरिपूर्णां योगैश्चर्याणि वैहायसमनोजवान्तर्धान-परकायप्रवेश-दूरग्रहणादीनि यदृच्छयोपगतानि नाञ्जसा नृप हृदयेनाभ्यनन्दत्।” (भा.पु./५/५/३५/पृ. २११-२१२)।

भगवान् ऋषभदेव के सौ पुत्र थे, जिनमें ज्येष्ठ पुत्र का नाम भरत था। उन्हीं के नाम से इस देश का नाम भारतवर्ष पड़ा—“येषां खलु महायोगी भरतो ज्येष्ठः श्रेष्ठगुण आसीद्येनेदं वर्षं भारतमिति व्यपदिशन्ति।” (भा.पु./५/४/९/पृ. २०८)।

भरत भी महायोगी थे। उन्होंने भी जड़योग, पारमहंस्य अथवा अवधूत-संन्यास ग्रहण किया था, इसलिए वे जड़भरत कहलाये।^{३७} उपनिषदों में उन्हें आठ परमहंस-संन्यासियों में परिगणित किया गया है—“अथ परमहंसा नाम संवर्तकारुणि-श्वेतकेतु-जडभरत-दत्तात्रेय-शुक-वामदेव-हारीतकप्रभृतयोऽष्टौ।”^{३८}

१७

जाबालोपनिषद् में दिगम्बरजैन-मुनिधर्मवत् पारमहंस्यधर्म

भगवान् ऋषभदेव ने जिस दिगम्बरजैनमुनि-धर्मरूप पारमहंस्यधर्म की शिक्षा दी थी उसका स्वरूप जाबालोपनिषद् में वर्णित किया गया है। वह प्रायः दिगम्बर जैन शास्त्रों में वर्णित दिगम्बरजैन-मुनिधर्म से मिलता है। पारिभाषिक शब्दावली भी वही की वही है। यथा—

“तत्र परमहंसा नाम संवर्तकारुणि-श्वेतकेतु-दुर्वासा-ऋभु-निदाघ-जडभरत-दत्तात्रेय-रैवतक-प्रभृतयोऽव्यक्तलिङ्गा अव्यक्ताचारा अनुन्मत्ता उन्मत्तवदाचरन्तस्त्रिदण्डं कमण्डलुं, शिष्यं, पात्रं, जलपवित्रं, शिखां, यज्ञोपवीतं चेत्येतत् सर्वं भूः स्वाहेत्यप्सु परित्यज्या-त्मानमन्विच्छेत्। यथाजातरूपधरो निर्ग्रन्थो निष्परिग्रहस्तत्तद्ब्रह्ममार्गं सम्यक्सम्पन्नः शुद्ध-मानसः प्राणसन्धारणार्थं यथोक्तकाले विमुक्तो भैक्षमाचरन्नुदर-पात्रेण लाभालाभयोः समोभूत्वा शून्यागार-देवगृह-तृणकूट-वल्मीक-वृक्षमूल-कुलालशालाग्निहोत्रगृह-नदी-पुलिन-गिरिकुहर-कन्दर-कोटर-निर्झर-स्थण्डिलेषु तेष्वनिकेतवास्यप्रयत्नो निर्ममः शुक्लध्यानपरायणोऽध्यात्मनिष्ठोऽशुभकर्मनिर्मूलनपरः संन्यासेन देहत्यागं करोति स परमहंसो नाम परमहंसो नामेति।” (जाबालो / ईशाद्यष्टो / पृ.१३१)।

अनुवाद—“संवर्तक, आरुणि, श्वेतकेतु, दुर्वासा, ऋभु, निदाघ, जड़भरत, दत्तात्रेय, रैवतक आदि परमहंस संन्यासी हैं। इनका लिंग (वेश) और आचार स्पष्ट नहीं होता। ये विक्षिप्त नहीं होते, लेकिन विक्षिप्तों जैसा आचरण करते हैं, त्रिदण्ड (परस्पर बँधे तीन दण्ड), कमण्डलु, झोली (शिष्य), पात्र, पानी छानने का वस्त्र (जलपवित्र), शिखा और यज्ञोपवीत (जनेऊ), इन सबको ‘भूः स्वाहा’ यह मन्त्र पढ़ते हुए जल में विसर्जित कर आत्मा का अन्वेषण करते हैं। जो यथाजातरूपधारी (जन्म के समय जैसा रूप होता है, वैसे रूप अर्थात् नग्नरूप का धारी), निर्ग्रन्थ (नग्न), निष्परिग्रह, ब्रह्ममार्ग में सम्यक्सम्पन्न और शुद्धमानस होता है, प्राणधारण करने के लिए निर्धारित काल में भिक्षाचरण करता हुआ उदरपात्र में ही भोजन ग्रहण करता है, भिक्षा मिले

३७. भागवतपुराण / स्कन्ध ५ / अध्याय ७-१४।

३८. भिक्षुकोपनिषद् / ईशाद्यष्टोत्तरशतोपनिषद् / पृ. ३६८।

या न मिले दोनों स्थितियों में समभाव रखता है, सूने घर, देवालय, तृणकूट (घासफूस की झोपड़ी), वल्मीक, वृक्षतल, कुलालशाला (कुम्हार की दहलान), अग्निहोत्रगृह, नदीपुलिन, पर्वत की गुफा, कन्दरा, वृक्ष के कोटर, निर्झर या स्थण्डिल (यज्ञभूमि) में निवास करता है, किसी चीज के प्रति ममत्व नहीं रखता, अध्यात्मनिष्ठ होकर शुक्लध्यान में लीन रहता है और अशुभकर्मों के निर्मूलन का प्रयत्न करता हुआ, संन्यास से देहत्याग करता है, उस साधु का नाम परमहंस है।”

यहाँ ध्यान देने योग्य है कि 'यथाजातरूपधर' 'निर्ग्रन्थ', 'निष्परिग्रह' उदरपात्र से आहारग्रहण, शून्यागार, देवगृह आदि में निवास, 'शुक्लध्यान' तथा संन्यास से देहत्याग (सल्लेखना), ये पारिभाषिक शब्द और आचार केवल दिगम्बरजैन-मुनिधर्म से सम्बन्ध रखते हैं और दिगम्बरजैन-शास्त्रों में ही उपलब्ध होते हैं। 'यथाजातरूपधर', 'निर्ग्रन्थ' और 'शुक्लध्यान' तो ऐसे शब्द हैं, जो 'योग' के सबसे प्राचीन वैदिक ग्रन्थ 'पातंजलयोगदर्शन' में भी प्रयुक्त नहीं हुए हैं। इससे सिद्ध है कि श्रीमद्भागवतपुराण और जाबालोपनिषद् में वर्णित पारमहंस्यधर्म भगवान् ऋषभदेव के द्वारा उपदिष्ट दिगम्बरजैन-मुनिधर्म का ही अनुकृतरूप है।

पारमहंस्यधर्म का यह स्वरूप नारदपरिव्राजकोपनिषद्, परमहंसपरिव्राजकोपनिषद्, तुरीयातीतोपनिषद्, संन्यासोपनिषद्, याज्ञवल्क्योपनिषद् और भिक्षुकोपनिषद् में भी मिलता है।

परमहंसोपनिषत् में परमहंसभिक्षु को आकाशाम्बर (दिगम्बर) कहा गया है—
“स परमहंस आकाशाम्बरो, न नमस्कारो, न स्वाहाकारो, न निन्दा, न स्तुतिर्यादृच्छिको भवेत्स भिक्षुः।” (ईशाद्यष्टोत्तरशतोपनिषद् / पृ.१५०)।

संन्यासोपनिषद् (अनुच्छेद १३) में संन्यासियों के चार भेद वर्णित हैं—“वैराग्यसंन्यासी ज्ञानसंन्यासी ज्ञानवैराग्यसंन्यासी कर्मसंन्यासीति चातुर्विध्यमुपागतः।” (ईशाद्यष्टो / पृ.४१२)। इनमें जो संन्यासी वैराग्यसंन्यास और ज्ञानसंन्यास का अभ्यास तथा अनुभव कर ज्ञानवैराग्यसंन्यास को प्राप्त करने के लिए जातरूपधर (नग्न) हो जाता है वह ज्ञानवैराग्यसंन्यासी कहलाता है—

“क्रमेण सर्वमभ्यस्य सर्वमनुभूय ज्ञानवैराग्याभ्यां स्वरूपानुसन्धानेन देहमात्रावशिष्टः संन्यस्य जातरूपधरो भवति स ज्ञानवैराग्यसंन्यासी।” (संन्यासो. / ईशाद्यष्टो. / १३ / पृ.४१२)।

यद्यपि कहीं-कहीं परमहंस संन्यासी के लिए कौपीनधारण करने का भी विकल्प दिया गया है, किन्तु अन्ततः दिगम्बर होने की अनिवार्यता बतलायी गयी है। संन्यासोपनिषद्

में संन्यासियों के अन्य छह भेदों का वर्णन है—कुटीचक, बहूदक, हंस, परमहंस, तुरीयातीत और अवधूत।^{३९} इनमें प्रथम चार को कौपीनधारी बतलाया गया है और शेष दो को दिगम्बर, यथा—

“परमहंसः शिखायज्ञोपवीतरहितः पञ्चगृहेषु करपात्री एककौपीनधारी शाटी-मेकामेकं वैणवं दण्डमेकशाटीधरो वा भस्मोद्भूलनपरः सर्वत्यागी। तुरीयातीतो गोमुख-वृत्त्या फलाहारी अन्नाहारी चेद् गृहत्रये देहमात्रावशिष्टो दिगम्बरः कुणपवच्छरीर-वृत्तिकः। अवधूतस्त्वनियमः पतिताभिश्चस्तवर्जनपूर्वकं सर्ववर्णेष्वजगरवृत्त्याहारपरः स्वरूपानुसन्धानपरः।” (संन्यासोपनिषद् / ईशाद्यष्टो. १३ / पृ. ४१३)।

नारदपरिव्राजकोपनिषद् (७) में कहा गया है कि कुटीचक दो शाटी धारण करे, बहूदक एक शाटी, हंस एक वस्त्रखंड, परमहंस दिगम्बर रहे या एक कौपीन पहने, तुरीयातीत और अवधूत दिगम्बर रहें—

“शाटीद्वयं कुटीचकस्य, बहूदकस्यैकशाटी, हंसस्य खण्डं, दिगम्बरं परमहंसस्य एककौपीनं वा, तुरीयातीतावधूतयोर्जातरूपधरत्वम्।” (ईशाद्यष्टो / पृ. २७८)।

परमहंसपरिव्राजकोपनिषद् में वर्णन है कि जब अलंबुद्धि (पर्याप्त ज्ञान) हो जाय, तब कुटीचक, बहूदक, हंस अथवा परमहंस सम्बन्धित-मंत्रपूर्वक कटिसूत्र, कौपीन, दण्ड, कमंडलु, आदि सबको जल में विसर्जित कर जातरूपधर (दिगम्बर) हो जाय—

“यदालम्बुद्धिर्भवेत्तदा कुटीचको वा बहूदको वा हंसो वा परमहंसो वा तत्तन्मन्त्रपूर्वकं कटिसूत्रं कौपीनं दण्डं कमण्डलुं सर्वमप्सु विसृज्याथ जातरूपधर-श्चरेत्।” (ईशाद्यष्टो. / पृ. ४१९)।

तुरीयातीतोपनिषद् में कुटीचक अवस्था से तुरीयातीत और अवधूत अवस्थाओं को प्राप्त करने का क्रम इस प्रकार बतलाया गया है—

“सोऽयमादौ तावत्क्रमेण कुटीचको बहूदकत्वं प्राप्य, बहूदको हंसत्वमवलम्ब्य, हंसः परमहंसो भूत्वा स्वरूपानुसन्धानेन सर्वप्रपञ्चं विदित्वा दण्डकमण्डलु-कटिसूत्र-कौपीनाच्छादनं स्वविध्युत्क्रियादिकं सर्वमप्सु संन्यस्य दिगम्बरो भूत्वा विवर्णजीर्ण-वल्कलाजिनपरि-ग्रहमपि सन्त्यज्य तदूर्ध्वममन्त्रवदाचरन् क्षौराभ्यङ्गस्नानोर्ध्वपुण्ड्रादिकं विहाय --- शीतोष्ण-सुखदुःखमानावमानं निर्जित्य वासनात्रयपूर्वकं निन्दानिन्दा-गर्वमत्सरदम्भ-दर्प-द्वेष-कामक्रोधलोभमोह-हर्षामर्षासूयात्मसंरक्षणादिकं दग्ध्वा स्ववपुः कुणपाकारमिव पश्यन्-यत्नेनानियमेन लाभालाभौ समौ कृत्वा गोवृत्त्या प्राण-संधारणं

३९. “स संन्यासः षड्विधो भवति कुटीचक-बहूदक-हंस-परमहंस-तुरीयातीतावधूताश्चेति।”
संन्यासोपनिषद् / अनुच्छेद १३ / ईशाद्यष्टोत्तरशतोपनिषद् / पृ. ४१३।

कुर्वन् यत्प्राप्तं तेनैव निर्लोलुपः --- सर्वदानुन्मत्तो बालोन्मत्त-पिशाचवदेकाकी सञ्चरन्सम्भाषणपरः स्वरूपध्यानेन निरालम्बमवलम्ब्य स्वात्मनिष्ठानुकूलेन सर्वं विस्मृत्य तुरीयातीतावधूतवेषेणाद्वैतनिष्ठापरः प्रणवात्मकत्वेन देहत्यागं करोति यः सोऽवधूतः। स कृतकृत्यो भवतीत्युपनिषत्।” (ईशाद्यष्टो./पृ. ४१०)।

अनुवाद—“सबसे पहले कुटीचक साधु बहूदक अवस्था को प्राप्त करे, फिर बहूदक हंसावस्था का अवलम्बन करे, तदनन्तर हंस, परमहंस अवस्था में पहुँचे। परमहंस होकर स्वरूपानुसन्धान द्वारा सबको प्रपंच समझकर दण्ड, कमंडलु, कटिसूत्र, कौपीन और आच्छादन, इन सब को स्वविधि के अनुसार जल में विसर्जित कर दिगम्बर हो जाय। विवर्ण जीर्ण वल्कल तथा अजिन के परिग्रह का भी त्याग कर दे। तदनन्तर क्षौर, अभ्यङ्ग, (तेलमालिश), स्नान, ऊर्ध्वपुण्ड्र आदि को त्याग दे तथा शीत-उष्ण, सुख-दुःख, मान-अपमान को जीतकर वासनात्रयपूर्वक, निन्दा, अनिन्दा, गर्व, मत्सर, दम्भ, दर्प, द्वेष, काम, क्रोध, लोभ, मोह, हर्ष, अमर्ष, असूया, आत्मसंरक्षणादि को दग्ध कर अपने शरीर को शव के समान समझता हुआ लाभ-अलाभ में समभाव रखते हुए गोचरी द्वारा प्राणधारण करे।---सदा अनुन्मत्त रहे, किन्तु, उन्मत्त एवं पिशाच के समान अकेला भ्रमण करे और किसी से बातचीत न करते हुए स्वरूप में लीन होकर सब को भूल जाय। इस प्रकार तुरीयातीत और अवधूत का वेष धारणकर अद्वैत में निष्ठा रखते हुए, ओंकारध्वनि के साथ जो देहत्याग करता है वह ‘अवधूत’ कहलाता है। वही कृतकृत्य होता है, यह उपनिषत् (आगमवचन) है।”

इस उपनिषत् से स्पष्ट है कि परमहंस को भी अन्ततः कौपीन का परित्याग करना पड़ता है और जब वह कौपीन त्यागकर दिगम्बर हो जाता है, तभी तुरीयातीत एवं अवधूत अवस्थाओं को प्राप्त होकर मोक्ष का पात्र बनता है। इस प्रकार वैदिक संन्यासमार्ग में भी सवस्त्रमुक्ति की वैकल्पिक व्यवस्था नहीं है। यह दिगम्बरजैन-मुनिधर्म के घनिष्ठ प्रभाव का सूचक है। इतना ही नहीं, इस औपनिषदिक संन्यासमार्ग में जो शीतोष्ण सुख-दुःखादि परीषहों को जीतने, कामक्रोधादिकषायों के विसर्जन, अस्नान,^{४०} भूतलशयन,^{४१} करपात्र या पाणिपात्र में आहारग्रहण, एकभुक्ति^{४२} शुक्लध्यान-परायणता, शुभाशुभकर्म-निर्मूलन तथा संन्यासपूर्वक (सल्लेखनापूर्वक) देहत्याग^{४३} के सिद्धान्त हैं, वे भी दिगम्बर-मुनि-चर्या से ही अनुकृत हैं।

४०. “त्रिषवणस्नानं कुटीचकस्य, बहूदकस्य द्विवारं, हंसस्यैकवारं, परमहंसस्य मानसस्नानं तुरीया-तीतस्य भस्मस्नानम् अवधूतस्य वायव्यस्नानम्।” नारदपरिव्राजकोपनिषद् / ईशाद्यष्टो./ पृष्ठ २७८।

४१. “सर्वत्र भूतलशयनः--- परमहंसपरिव्राजको भवति।” परमहंसपरिव्राजकोपनिषद् / ईशाद्यष्टोत्तर-शतोपनिषद् / पृष्ठ ४१९।

४२. “पाणिपात्रश्चरन्योगी नासकृद्मैक्षमाचरेत्” नारदपरिव्राजकोपनिषद् / ईशाद्यष्टो./ पृष्ठ २७३।

४३. “शुभाशुभकर्मनिर्मूलनपरः--- शुक्लध्यानपरायणः--- संन्यासेन देहत्यागं करोति स परम-हंसपरिव्राजको भवति।” परमहंसपरिव्राजकोपनिषद् / ईशाद्यष्टोत्तरशतोपनिषद् / पृ. ४१९।

योग के आद्यप्रवर्तक भगवान् ऋषभदेव

भागवतपुराण एक और महत्त्वपूर्ण तथ्य पर प्रकाश डालता है, वह यह कि भगवान् ऋषभदेव ही योगविद्या के आद्य प्रवर्तक थे। इस पुराण में कहा गया है कि भगवान् विष्णु ने वातरशन (दिगम्बर) ऋषियों के धर्मों को प्रकट करने के लिए भगवान् ऋषभदेव के रूप में अवतार लिया था। उन्होंने पारमहंस्यधर्म और योगियों को साम्प्रदायविधि की शिक्षा दी थी—

“पारमहंस्यधर्ममुपशिक्षमाणः।” (५/५/२८)।

“योगिनां साम्प्रदायविधिमनुशिक्षयन्।” (५/६/६)।

“यो वै चचार समदृग्जडयोगचर्याम्।” (२/७/१०)।

श्रीमद्भागवतपुराण में भगवान् ऋषभदेव को योगेश्वर और नानायोगचर्याचरण कहा गया है—

“भगवान् ऋषभदेवो योगेश्वरः।” (५/४/३)।

“नानायोगचर्याचरणो भगवान् कैवल्यपतिर्ऋषभो---।” (५/५/३५)।

भगवान् ऋषभदेव के ज्येष्ठपुत्र भरत को भी ‘महायोगी’ विशेषण से विभूषित किया गया है—“महायोगी भरतो ज्येष्ठः” (५/४/९)।

भगवान् ऋषभदेव का दूसरा नाम ‘आदिनाथ’ है, क्योंकि वे जैनपरम्परा के चौबीस तीर्थंकरों में आदि तीर्थंकर हैं। इन आदिनाथ ऋषभदेव को वैदिकपरम्परा के प्रसिद्ध योगशास्त्र हठयोगप्रदीपिका में हठयोगविद्या के उपदेशक होने के कारण नमस्कार किया गया है—

श्री आदिनाथाय नमोऽस्तु तस्मै, येनोपदिष्टा हठयोगविद्या।

विभ्राजते प्रोन्नतराजयोगमारोढुमिच्छोरधिरोहिणीव ॥^{४४}

अनुवाद—“मैं श्री आदिनाथ को नमस्कार करता हूँ, जिन्होंने उस हठयोगविद्या की शिक्षा दी, जो उन्नत राजयोग पर आरोहण के लिए नसैनी के समान है।”

४४. श्री हेमचन्द्र मोदी : ‘योगमार्ग’/‘अनेकान्त’ वर्ष १/ किरण ८, ९, १० पृ. ५३७-५३८।

कादम्बरी-हर्षचरित (७वीं शती ई०) में क्षपणक, आर्हत, नगनाटक, मयूरपिच्छधारी

सुप्रसिद्ध संस्कृतगद्यकवि बाणभट्ट राजा हर्ष (६०६-६४७ ई०) के समकालीन थे। इन्होंने अपने प्रसिद्ध गद्यकाव्य 'कादम्बरी' और 'हर्षचरित' में दिगम्बर जैन मुनियों के उल्लेख किये हैं। कादम्बरी के पूर्वभाग में शबरसेना का वर्णन करते हुए बाणभट्ट ने मोरपंख धारण किये हुए शबरों की उपमा मयूरपिच्छी धारण करनेवाले दिगम्बरजैन मुनियों से दी है—“कैश्चित् क्षपणकैरिव मयूरपिच्छधारिभिः।”^{४५}

टीकाकार श्वेताम्बरचार्य श्री भानुचन्द्रगणी ने इसकी व्याख्या करते हुए लिखा है—“क्षपणकैरिव दिगम्बरैरिव मयूराणां बर्हिणां पिच्छानि छदानि धरन्तीत्येवंशीला धारिणस्तैः। भिल्ला अपि हतमयूरपिच्छधारिणो भवन्तीति श्लेषः।”

आचार्य रामनाथ शर्मा 'सुमन' एवं राजेन्द्र कुमार शास्त्री ने भी ऐसी ही व्याख्या की है—“कैश्चित् क्षपणकैः इव = जैनैः दिगम्बरैः इव। मयूरपिच्छवाहिभिः = मयूराणां शिखिनां पिच्छानि कलापान् वहन्ति धारयन्ति तच्छीलाः तैः।” (कादम्बरी / प्रकाशक-साहित्य भण्डार, मेरठ)।

हर्षचरित (चौखम्बा विद्याभवन वाराणसी १९९८ ई०) में भी कई जगह दिगम्बरजैन मुनियों का निर्देश किया गया है—“जैनैः आर्हतैः पाशुपतैः पाराशरिभिः।” (उच्छ्वास २ / पृ. १०३)। “शिक्षितक्षपणकवृत्तय इव वनमयूरपिच्छचयानुच्चिन्वन्तः।” (उच्छ्वास २ / पृ. ८३-८४)। “अभिमुखमाजगाम शिखिपिच्छलाञ्छनो नगनाटकः।” (उच्छ्वास ५ / पृ. २६१-२६२)।

इन उद्धरणों में बाणभट्ट ने दिगम्बरजैन मुनियों को 'मयूरपिच्छधारी', 'क्षपणक' 'आर्हत', 'जैन' और 'नगनाटक' (नग्नभ्रमण करनेवाला) शब्दों से निर्दिष्ट किया है।

हर्षचरित के निम्नलिखित कथन में दिगम्बरजैन मुनियों को 'आर्हत' नाम से तथा श्वेताम्बरमुनियों को 'श्वेतपट' नाम से वर्णित किया है—“तरुमूलानि निषेव-माणैर्वीतरागैराहृतैर्मस्करिभिः श्वेतपटैः पाण्डुरभिक्षुभिर्भागवतैर्वर्णिभिः केशलुञ्चनैः कापिलैर्जैर्नैर्लोक्यातिकैः।” (उच्छ्वास/८ / पृ. ४२२-४२३)।

श्री शङ्करकवि ने इसकी व्याख्या इस प्रकार की है—“अर्हन्देवता येषां ते आर्हतास्तैर्नग्नक्षपणकैः। मस्करिभिः परिव्राजकैः। श्वेतपटैः श्वेतोर्णाकम्बलिवासोभिः नग्नक्षपणकभेदैः। पाण्डुरभिक्षुभिस्त्यक्तकाषायैः।”

४५. कादम्बरी / पूर्वभाग / पृ. १०६ / प्रकाशक-मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली।

२०

भर्तृहरि-वैराग्यशतक (७०० ई०) में पाणिपात्र, दिगम्बर

भर्तृहरि ईसा के सातवें शतक के कवि थे। उनके शतकत्रय बहुत प्रसिद्ध हैं: नीतिशतक, श्रृंगारशतक और वैराग्यशतक। यद्यपि वे शिवभक्त थे, तथापि उन्होंने वैराग्य-शतक में स्वयं शम्भु को सम्बोधित करते हुए 'पाणिपात्र दिगम्बर मुनि' बनने की भावना व्यक्त की है—

एकाकी निःस्पृहः शान्तः पाणिपात्रो दिगम्बरः।
कदा शम्भो! भविष्यामि कर्मनिर्मूलनक्षमः॥ ८७॥

वैराग्यशतक के एक अन्य श्लोक में वे कहते हैं—

पाणिः पात्रं पवित्रं भ्रमणपरिगतं भैक्षमक्षय्यमन्नं,
विस्तीर्णं वस्त्रमाशादशकमचपलं तल्पमस्वल्पमुर्वी।
येषां निःसङ्गताङ्गीकरण-परिणतस्वात्मसन्तोषिणस्ते,
धन्याः संन्यस्तदैन्यव्यतिकरनिकराः कर्म निर्मूलयन्ति॥ ९६॥

अनुवाद—“वे धन्य हैं, जिनका हाथ ही पवित्र भिक्षापात्र है, भ्रमण द्वारा प्राप्त भिक्षा ही जिनका अक्षय भोजन है, विस्तीर्ण दशों दिशाएँ ही जिनका अचंचल वस्त्र है, विशाल पृथ्वी ही जिनकी शय्या है, जो अनासक्त हो जाने से स्वात्म सन्तुष्ट रहते हैं तथा दैन्यभाव का त्यागकर कर्मों का विनाश करते हैं।”

भर्तृहरि का दिगम्बरजैन मुनियों के प्रति यह बहुमान सूचित करता है कि उनके समय में उत्तरभारत में दिगम्बर जैन मुनि बड़ी संख्या में विहार करते थे और उनकी चर्चा बहुत प्रभावशाली थी।

२१

(वैदिक) पद्ममहापुराण में निर्ग्रन्थ, क्षपण

(वैदिक) पद्ममहापुराण में राजा वेन का उपाख्यान आया है। वह चौदह मनुओं में से 'स्वायम्भुव' नामक प्रथम मनु का वंशज था। विष्णुपुराण में उसकी वंश-परम्परा इस प्रकार बतलायी गयी है : ब्रह्मा की आत्मा से उत्पन्न स्वायम्भुव मनु > उत्तानपाद > ध्रुव > शिष्टि > रिपु > चाक्षुष > मनु (छठे मनु, जो चाक्षुष के पुत्र होने के कारण 'चाक्षुषमनु' कहलाये) > कुरु > अङ्ग > वेन > पृथु।^{४६} इस तरह राजा

४६. विष्णुपुराण/अंश १/अध्याय ७/श्लोक १६-१९, अंश १/अध्याय ११/श्लोक १-३, अंश १/अध्याय १३/श्लोक १-९।

वेन स्वायम्भुव मनु की वंशपरम्परा में 'अंग' का पुत्र और 'पृथु' (वैन्य) का पिता था।^{४७}

राजा वेन चाक्षुष (छठे) मन्वन्तर और वैवस्वत (सातवें) मन्वन्तर के सन्धिकाल में हुआ था, जैसा कि निम्नलिखित वाक्यों में कहा गया है—“चाक्षुष-वैवस्वतयोर्मन्वन्तरयोः सन्धौ लोकोऽयं प्रजापालविरहेण भृशमसीदत्। तत्र ऋषयः समेत्य मन्त्रथाञ्चक्रिरे धर्मज्ञं जयपण्डितं वेनमुपलभ्य तं पृथ्वीराज्येऽभिषिचिचुः। स च धर्मतः प्रजाः स्वाः प्रजा इव चिरं शशास यावदस्य सुशङ्खर्षेः शापान्तविपर्ययो नाभूत्।”^{४८}

अनुवाद—“चाक्षुष और वैवस्वत-मन्वन्तरों के सन्धिकाल में प्रजापालक के अभाव में प्रजा बड़ी दुःखी थी। तब ऋषियों ने मिलकर सलाह की और धर्मज्ञ, जयपण्डित वेन को पृथ्वी के राज्य पर अभिषिक्त कर दिया। उसने प्रजा का धर्मपूर्वक अपनी ही सन्तान के समान चिरकाल तक पालन किया, जब तक कि सुशंख ऋषि के शाप से उसकी बुद्धि विपरीत नहीं हो गयी।”

मनुओं की संख्या १४ बतलायी गयी है। एक मनु का काल मनुष्यों के ४३ लाख, बीस हजार (४३,२०,०००) वर्षों का होता है। इस समय सातवाँ मन्वन्तर (सातवें मनु वैवस्वत का काल) चल रहा है। इससे सिद्ध होता है कि राजा वेन आज से कई हजार वर्ष पहले हुआ था।

विष्णुपुराण में कहा गया है कि “मृत्यु की 'सुनीथा' नाम को जो प्रथम पुत्री थी, वह 'अंग' के साथ व्याही गयी थी। उसी से वेन का जन्म हुआ। वह 'मृत्यु' की कन्या का पुत्र अपने मातामह (नाना) के दोष से स्वभाव से ही दुष्टप्रकृति का था। ऋषियों द्वारा राज पद पर अभिषिक्त किये जाते ही उसने घोषणा कर दी कि कोई भी मनुष्य न यज्ञ करे, न दान, न हवन। मेरे अलावा यज्ञ का भोक्ता और कौन हो सकता है? मैं ही यज्ञपति प्रभु हूँ।” (विष्णुपुराण/अंश १/अध्याय १३/श्लोक ११-१४)।

ऋषियों ने उसे बहुत समझाया, किन्तु जब वह नहीं माना, तब क्रुद्ध होकर उन्होंने मन्त्रपूत कुशों से उसका वध कर दिया। (वहीं/अंश १/अध्याय १३/श्लोक २६-२९)।

'श्रीमद्भागवतपुराण' (स्कन्ध ४/अध्याय १४/श्लोक १-४६) एवं 'महाभारत' (शान्तिपर्व/अध्याय ५९/श्लोक ९९-१००) में भी राजा वेन का ऐसा ही चरित्र और

४७. वही/अंश १/अध्याय १३/श्लोक ११, ३८-३९।

४८. पद्ममहापुराण/भाग १-सृष्टिखण्ड/भूमिका : प्रो. डॉ. चारुदेव शास्त्री/पृ. १६।

इसी रीति से उसकी मृत्यु का वर्णन किया गया है। किन्तु, पद्ममहापुराण में उसके वध का वर्णन नहीं है, अपितु यह वर्णन है कि ऋषियों ने उसके दाहिने हाथ का मन्थन किया, जिससे उसके पृथु नामक पुत्र की उत्पत्ति हुई। वह अत्यन्त ज्ञानी और दयालु था। उसके पुण्यप्रसाद से राजा वेन धर्म और अर्थ का ज्ञाता हो गया और चक्रवर्तीपद प्राप्त कर उसका उपभोग करने के बाद भगवान् विष्णु की कृपा से वैष्णवलोक में पहुँच गया। (पद्ममहापुराण/ भाग २/ भूमिखण्ड/ अध्याय ३८ श्लोक ३८-४१)।

इन अनेक पुराणों और 'महाभारत' में राजा वेन की कथा वर्णित होने से सिद्ध है कि वह एक प्रसिद्ध और उल्लेखनीय चरित्रवाला राजा था। उसके यज्ञादि-वैदिकधर्मविरोधी चरित्र से ज्ञात होता है कि उसने जैनधर्म स्वीकार कर लिया था। इसकी पुष्टि उपर्युक्त वैदिक पद्ममहापुराण से होती है। किन्तु उक्त पुराण के कर्त्ता ने जैनधर्म को हेय सिद्ध करने के लिए एक काल्पनिक कथा गढ़कर उसे इस तरह प्रस्तुत किया है, जैसे वह धर्म नहीं, अपितु पाप हो और जैसे राजा वेन ने उसे जानबूझकर ग्रहण नहीं किया था, अपितु सुशंख ऋषि के पूर्वशाप-वश बुद्धि भ्रष्ट हो जाने के कारण ग्रहण किया था। (वैदिक) पद्ममहापुराण के कर्त्ता ने पद्ममहापुराण (भाग २/ खण्ड २-भूमिखण्ड/ अध्याय ३७-३८) में वेन-कथा का वर्णन इस प्रकार किया है—

जब अंग का पुत्र और स्वायंभुव मनु का वंशज राजा वेन शासन कर रहा था तब एक पुरुष छद्मलिंग धारण करके आया। उसका स्वरूप नग्न था, शरीर विशाल था, सिर मुड़ा हुआ था और देह से महाप्रभा प्रस्फुटित हो रही थी। उसकी काँख में मयूरपिच्छी दबी हुई थी, हाथ में नारियल से निर्मित कमंडलु था और वह वैदिक धर्म में दोष दर्शानेवाला असत् शास्त्र पढ़ रहा था—

पुरुषः कश्चिदायातश्छद्मलिङ्गधरस्तदा ।
 नग्नरूपो महाकायः शिरोमुण्डो महाप्रभः ॥ २/२/३७/५ ॥
 मार्जनीं शिखिपत्राणां कक्षायां स हि धारयन् ।
 गृहीतं पानपात्रं तु नारिकेलमयं करे ॥ २/२/३७/६ ॥
 पठमानो ह्यसच्छास्त्रं वेदधर्मविदूषकम् ।
 यत्र वेनो महाराजस्तत्रायातस्स्वरात्विः ॥ २/२/३७/७ ॥

वह पापी, राजा वेन की राजसभा में प्रविष्ट हो गया। उसे देखकर वेन ने प्रश्न किया—“तुम कौन हो? यहाँ क्यों आये हो? तुम्हारा धर्म क्या है? तुम्हारा आचार क्या है? सब बतलाओ।” तब वह पुरुष उत्तर देता है—

अर्हन्तो देवता यत्र निर्ग्रन्थो दृश्यते गुरुः ।
 दया चैव परो धर्मस्तत्र मोक्षः प्रदृश्यते ॥ २/२/३७/१७ ॥
 दर्शनेऽस्मिन् सन्देह आचारान्प्रवदाम्यहम् ।
 यजनं याजनं नास्ति वेदाध्ययनमेव च ॥ २/२/३७/१८ ॥
 नास्ति सन्ध्या तपो दानं स्वधास्वाहाविवर्जितम् ।
 हव्यकव्यादिकं नास्ति नैव यज्ञादिका क्रिया ॥ २/२/३७/१९ ॥
 पितृणां तर्पणं नास्ति नातिथिवैश्वदेवकम् ।
 क्षपणस्य वरा पूजा अर्हतो ध्यानमुत्तमम् ॥ २/२/३७/२० ॥
 अयं धर्मसमाचारो जैनमार्गो प्रदृश्यते ।
 एतत्ते सर्वमाख्यातं निजधर्मस्य लक्षणम् ॥ २/२/३७/२१ ॥

अनुवाद—“हम अर्हन्त को देवता और निर्ग्रन्थ मुनि को गुरु मानते हैं, अहिंसा हमारा परमधर्म है और मोक्ष की प्राप्ति परमलक्ष्य। हमारे धर्म में यजन-याजन नहीं होता, न ही वेदों का अध्ययन। न हम सन्ध्या करते हैं, न (ब्राह्मणों जैसा) तप और दान। हम स्वाहापूर्वक हवि-प्रदान भी नहीं करते और स्वधापूर्वक पितरों का तर्पण नहीं करते। अतिथियों का स्वागत-सत्कार भी इसमें आवश्यक नहीं होता, न विश्वेदेवों को बलि प्रदान की जाती है। हमारे धर्म में क्षपणक (दिगम्बर मुनि) की पूजा और अर्हन्त का ध्यान ही श्रेष्ठ माना जाता है। ये ही हमारे धर्म के लक्षण हैं।”

उस महापापी जैन पुरुष के द्वारा इस प्रकार सम्बोधित किये जाने पर राजा वेन ने उसके चरणों में नमस्कार कर वैदिकधर्म का परित्याग कर दिया और जैनधर्म स्वीकार कर लिया। अपने पिता अंग के रोकने पर भी वह नहीं माना। उसके शासन में सम्पूर्ण प्रजा वैदिकधर्म को छोड़कर पापमय हो गई—

एवं सम्बोधितो वेनः पापभावं गतः किल ।
 पुरुषेण तेन जैनेन महापापेन मोहितः ॥ २/२/३८/१ ॥
 नमस्कृत्य ततः पादौ तस्यैव च दुरात्मनः ।
 वेदधर्मं परित्यज्य सत्यधर्मादिकां क्रियाम् ॥ २/२/३८/२ ॥
 सुयज्ञानां निवृत्तिः स्याद्वेदानां हि तथैव च ।
 पुण्यशास्त्रमथो धर्मस्तदा नैव प्रवर्तितः ॥ २/२/३८/३ ॥
 सर्वपापमयो लोकः सञ्जातस्तस्य शासनात् ।
 नैव यागाश्च वेदाश्च धर्मशास्त्रार्थमुत्तमम् ॥ २/२/३८/४ ॥

न दानाध्ययनं विप्रास्तस्मिञ्छासति पार्थिवे।
 एवं धर्मप्रलोपोऽभूमहत्पापं प्रवर्तितम् ॥ २/२/३८/५ ॥
 अङ्गेन वार्यमाणस्त्वन्यथा कुरुते भृशम्।
 न ननाम पितुः पादौ मातुश्चैव दुरात्मवान् ॥ २/२/३८/६ ॥

यह पद्ममहापुराण छठी शती ई० के बाद रचा गया है और इसमें दिगम्बरजैन मुनि द्वारा हजारों वर्ष पूर्व हुए स्वायंभुव मनु के वंशज तथा राजा अंग के पुत्र वेन को जैनधर्म में दीक्षित किये जाने का वर्णन है। इससे सिद्ध है वैदिक पुराणकार दिगम्बरजैनधर्म को बहुत प्राचीनकाल से चला आया हुआ मानते थे। यदि उसका प्रवर्तन विक्रम की छठी शताब्दी में हुआ होता और आचार्य कुन्दकुन्द ने किया होता, तो छठी शताब्दी ई० के बाद के वैदिक पुराणकार उसे इतने प्राचीन होने का श्रेय न देते और छठी शताब्दी के बाद के किसी हिन्दू राजा को कुन्दकुन्द नाम के पुरुष द्वारा जैनधर्म में दीक्षित किये जाने की कथा वर्णित करते।

यहाँ यह ध्यान देने योग्य है कि राजा वेन को जिस मुनि के द्वारा जैनधर्म की दीक्षा दिये जाने की बात कही गई है, उसे नग्न, मयूरपिच्छीधारी और हाथ में नारिकेलमय कमण्डलु लिये हुए बतलाया गया है तथा उसे 'क्षपणक' एवं 'निर्ग्रन्थ' शब्दों से सम्बोधित किया गया है, इससे सुनिश्चित होता है कि वह श्वेताम्बरमत का जिनकल्पी साधु नहीं था, अपितु दिगम्बर जैन साधु ही था और वैदिक मतानुयायी समाज में दिगम्बरजैन मुनि ही 'क्षपणक' एवं 'निर्ग्रन्थ' नामों से प्रसिद्ध थे।

२२

कूर्मपुराण (७०० ई०) में निर्ग्रन्थ

कूर्मपुराण ई० सन् ७०० में रचित माना गया है। इसमें दो भाग हैं: पूर्वार्ध और उत्तरार्ध। द्वितीयभाग अर्थात् उत्तरार्ध के इक्कीस वें अध्याय में कहा गया है—

वृद्धश्रावकनिर्ग्रन्थाः पञ्चरात्रविदो जनाः।
 कापालिकाः पाशुपताः पाषण्डा ये च तद्विधाः ॥ २/२१/३२ ॥
 यस्याश्नन्ति हवींष्येते दुरात्मानस्तु तामसाः।
 न तस्य तद्भवेच्छाब्दं प्रेत्य चेह फलप्रदम् ॥ २/२१/३३ ॥

अनुवाद—“वृद्धश्रावक (दिगम्बरजैन-धर्मावलम्बी एलक-क्षुल्लक),^{४९} निर्ग्रन्थ (दिगम्बरजैन मुनि), पञ्चरात्र-ग्रंथों के पाठी, कापालिक, पाशुपत तथा इसी प्रकार के

४९. 'एलक' शब्द शुद्ध है, 'ऐलक' नहीं। पं० हीरालाल जी जैन सिद्धान्तशास्त्री ने ऐलक शब्द को 'अचेलक' का प्राकृतरूप माना है। वे कहते हैं कि 'कगचजतदपयवां प्रायो लुक' (हैम

अन्य पाषण्ड, जिसके श्राद्ध में हविभक्षण करते हैं, उसके लिए किया गया श्राद्ध इस लोक और परलोक में फलप्रद नहीं होता।”

प्राकृतशब्दानुशासन/८/१/१७७) इस नियम के अनुसार ‘अचेलक’ के ‘च्’ का लोप हो जाने पर ‘अ’ शेष रहा और ‘अएलक’ इस स्थिति में वृद्धिसन्धि (अ+ए=ऐ) होने पर ‘ऐलक’ पद बन गया। नजूसमास में ‘अ’ (नच्) से ‘ईषद्’ अर्थ लेने पर ‘ऐलक’ शब्द अल्पवस्त्रधारी (केवल एक कौपीनधारी) उत्कृष्ट (एकादशप्रतिमावलम्बी) श्रावक का अर्थ देता है। (देखिये, वसुनन्दि-श्रावकाचार/भारतीय ज्ञानपीठ काशी/१९५२ ई०/प्रस्तावना/पृ०६३)। क्षुल्लक श्री जिनेन्द्र वर्णी ने भी ‘जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश’ (भाग १/पृ.४६८-६९) में पण्डित जी के इस मत का उल्लेख कर इसे मान्यता प्रदान की है। किन्तु, पण्डित जी का यह मत समीचीन नहीं है। उपर्युक्त नियम के अनुसार ‘च्’ का लोप होने से अवशिष्ट ‘ए’ उद्वृत्त स्वर है। अतः ‘स्वरस्योद्वृत्ते’ (हैम प्राकृतशब्दानुशासन/८/१/८) सूत्र के अनुसार पूर्ववर्ती ‘अ’ के साथ उसकी सन्धि नहीं हो सकती, जैसे निशाचरः > निसाअरो, रजनीचरः > रचणीअरो। अतः प्राकृत में ‘ऐलक’ शब्द नहीं बन सकता। यदि सन्धि मानी भी जाय तो भी प्राकृत में ‘ऐ’, ‘औ’ स्वरों का अस्तित्व न होने से ‘ऐलक’ शब्द सिद्ध होना असंभव है। प्राकृत ग्रन्थों में संस्कृत ‘अचेलक’ का ‘अएलक’ या ‘ऐलक’ रूप मिलता भी नहीं है, सर्वत्र ‘च्’ ज्यों का त्यों उपलब्ध होता है, यथा—‘अचेलमणहाणं’ (प्र.सा/गा.३/८), ‘आचेलकमणहाणं’ (मूला./गा.३), ‘आचेलक्कुद्देसिय’ (भ.आ./गा. ४२३), ‘अचेलगो य जो धम्मो’ (उत्त. सूत्र/२३/२९)। अतः ‘ऐलक’ शब्द न तो प्राकृतभाषा का शब्द है, न ही संस्कृत का। संस्कृत में ‘एलक’ शब्द उपलब्ध होता है, किन्तु उसका अर्थ एडक (मेढ़ा) है (आप्टेकृत संस्कृत-हिन्दी-कोश)।

इसके अतिरिक्त अल्पचेलक-अर्थ में ‘अचेलक’ शब्द का प्रयोग तो श्वेताम्बर-आगमों में भी नहीं हुआ है, दिगम्बर-आगमों में होने का तो प्रश्न ही नहीं उठता। उत्तरवर्ती श्वेताम्बर वृत्तिकारों ने अवश्य मुनियों की सचेलता को आगमोक्त सिद्ध करने के लिए ‘अचेलक’ शब्द को अल्पचेलक-अर्थ में प्रयुक्त बतलाने की चेष्टा की है, किन्तु वह असमीचीन है। (देखिये, अध्याय ३/प्रकरण १/शीर्षक ६)। यदि दिगम्बरमत में भी ‘अचेलक’ शब्द को ‘अल्पचेलक’ अर्थ का प्रतिपादक माना जाय, तो मुनि के लिए विहित ‘आचेलक्य’ मूलगुण से ‘अल्पचेलत्व’ मूलगुण अर्थ प्रतिपादित होने से कोई तर्क नहीं रोक सकता, जिससे दिगम्बरजैन-मत में भी सवस्त्रमुक्ति की मान्यता का सिद्ध होना अनिवार्य है। अतः ‘अचेलक’ शब्द को अल्पचेलक अर्थ का प्रतिपादक किसी भी तरह नहीं माना जा सकता।

प्राचीन ग्रन्थों में ग्यारहवीं प्रतिमा के क्षुल्लक-ऐलक ये दो भेद भी नहीं मिलते। आचार्य कुन्दकुन्द ने उत्कृष्ट श्रावकों के लिंग को उत्कृष्ट लिंग कहा है, किन्तु क्षुल्लक-ऐलक शब्दों का प्रयोग नहीं किया (सुत्तपाहुड/गा.२१)। स्वामी समन्तभद्र ने भी क्षुल्लक-ऐलक भेद किये बिना ग्यारहवीं-प्रतिमाधारी श्रावक को चेलखण्डधरः कहा है और

कूर्मपुराण (पूर्वार्ध/अध्याय ३०) के निम्नलिखित श्लोक में भी निर्ग्रन्थों का उल्लेख है। यह मत्स्यपुराण के पूर्वोक्त श्लोक से साम्य रखता है—

काषायिणोऽथ निर्ग्रन्थास्तथा कापालिकाश्च ये।

वेदविक्रयिणाश्चान्ये तीर्थविक्रयिणः परे॥ १/३०/१६॥

अनुवाद—“(कलियुग उपस्थित होने पर) कोई काषायवस्त्रधारी (बौद्ध) साधु होगा, कोई निर्ग्रन्थ (नग्न) तथा कोई कापालिक, कोई वेदों का विक्रय करेगा और कोई तीर्थों का।”

टीकाकार प्रभाचन्द्र ने इसका अर्थ कौपीन (लँगोटी) मात्र धारण करनेवाला किया है तथा उसे 'आर्य' शब्द से अभिहित किया है—“चेलखण्डधरः कौपीनमात्रवस्त्रखण्डधारकः आर्यलिङ्गधारीत्यर्थः।” (र.क.श्रा./ कारिका १४७)। पं० आशाधर जी ने भी उसे 'आर्य' कहा है। (सा.ध./ ७/४८)।

सर्वप्रथम ७वीं शती ई० के रविषेणकृत पद्मपुराण (१००/३२-४१) में कौपीन-अंशुकधारी उत्कृष्ट श्रावक के लिए 'क्षुल्लक' शब्द का प्रयोग किया गया है। तत्पश्चात् १०वीं शती ई० के हरिषेणकृत 'बृहत्कथाकोश' में भी 'क्षुल्लक' शब्द व्यवहृत हुआ है। (७३. यशोधर-चन्द्रमती कथानक/श्लोक २३७-२३८)। किन्तु १२वीं शती ई० के आचार्य वसुनन्दी ने अपने श्रावकाचार (गाथा ३०१-३१०) में क्षुल्लक-ऐलक शब्दों का प्रयोग न कर एकादशप्रतिमाधारी उत्कृष्ट श्रावकों के प्रथमोत्कृष्ट और द्वितीयोत्कृष्ट, ये दो भेद किए हैं। सर्वप्रथम १६वीं शती ई० में पं० राजमल्ल जी ने अपनी लाटीसंहिता (६/५५) में द्वितीयोत्कृष्ट श्रावक के लिए ऐलक शब्द का प्रयोग किया है—“उत्कृष्टः श्रावको द्वेधा क्षुल्लकश्चैल-कस्तथा।” इससे यह निर्णय युक्तिसंगत प्रतीत होता है कि 'चेलखण्डधरः' के साथ लोक में 'खण्डचेलकः' शब्द भी प्रचलित हुआ और प्राकृत के नियमानुसार स्वरमध्यग 'च्' का लोप होने पर 'खंडऐलक' शब्द का विकास हुआ। पश्चात् प्रयत्नलाघव की प्रवृत्तिवश केवल 'ऐलक' शब्द का प्रयोग होने लगा। संस्कृत में शिव और परशुराम के अर्थ में 'खण्डपरशुः' शब्द उपलब्ध होता है। (आप्टेकृत संस्कृत-हिन्दी कोश)। 'खण्डचेलकः' ऐसा ही शब्द है। अथवा आर्य शब्द आर्यक > आरक > एरक > ऐलक, इस तरह 'ऐलक' रूप में विकसित हुआ है। 'ऐलक' शब्द का 'ऐलक'-रूप में प्रचलन सन्धिविच्छेद करनेवालों की कृपा से हुआ है। 'लाटीसंहिता' में 'ऐलक' शब्द का प्रयोग केवल तीन स्थानों में सन्धिपूर्वक हुआ है, यथा-क्षुल्लकश्चैलकः (६/५५) तत्रैलकः (६/५६), चैलकस्य (६/५८)। यहाँ तीनों जगह च+ऐलकः, तत्र+ऐलकः, च+ऐलकः इस प्रकार सन्धिविग्रह किया जाना चाहिए, किन्तु च+ऐलकः, तत्र+ऐलकः ऐसा विच्छेद कर लिया गया, जो समीचीन नहीं है। उच्चारण भी 'ऐलक' ही किया जाता है, 'ऐलक' (अइलक) नहीं।

२३

ब्रह्माण्डपुराण में नग्न, निर्ग्रन्थ

ब्रह्माण्डपुराण (उपोद्घातपाद ३/अध्याय १४) में भी कहा गया है कि श्राद्धकर्म में नगनादि के दर्शन नहीं करना चाहिए। नगनादि में वृद्धश्रावकों, निर्ग्रन्थों, बौद्धों, जीवकों और कार्पटों की गणना की गई है—

नगनादयो न पश्येयुः श्राद्धकर्म व्यवस्थितम्।
 गच्छन्त्येतैस्तु दृष्टानि न पितृश्च पितामहान् ॥ ३/१४/३४ ॥
 सर्वेषामेव भूतानां त्रयी संवरणं स्मृतम् ॥ ३/१४/३५ ॥
 ता ये त्यजन्ति सम्मोहात्ते वै नगनादयो जनाः ॥ ३/१४/३६ ॥
 वृद्धश्रावकनिर्ग्रन्थाः शाक्या जीवककार्पटाः ॥ ३/१४/३९ ॥
 ये धर्मं नानुवर्तन्ते ते वै नगनादयो जनाः ॥ ३/१४/४० ॥

इन श्लोकों में वेदत्रयीरूप आवरण का परित्याग कर देनेवालों को 'नगनादि' कहा गया है। ध्यान देने योग्य है कि यहाँ सब के लिए 'नगनाः' शब्द का प्रयोग न कर 'नगनादयः' का प्रयोग किया गया है। यह स्पष्ट करता है कि 'नग्न' शब्द से 'निर्ग्रन्थ' संकेतित किये गये हैं और 'आदयः' पद से वृद्धश्रावक, शाक्य (बौद्ध) आदि।

२४

लिङ्गपुराण में नग्न ऋषभ

इस पुराण के प्रथमभाग के अन्तर्गत भारतवर्षकथन नामक सैंतालीसवें अध्याय में भारतवर्ष नाम की उत्पत्ति का हेतु बतलाते हुए कहा गया है—

नाभेर्निर्गर्गं वक्ष्यामि हिमाङ्केस्मिन्निबोधत।
 नाभिस्त्वजनयत्पुत्रं मरुदेव्यां महामतिः ॥ १/४७/१९ ॥
 ऋषभं पार्थिवश्रेष्ठं सर्वक्षत्रस्य पूजितम्।
 ऋषभाद् भारतो जज्ञे वीरः पुत्रशताग्रजः ॥ १/४७/२० ॥
 सोऽभिषिच्यथा ऋषभो भरतं पुत्रवत्सलः।
 ज्ञानवैराग्यमाश्रित्य जित्वेन्द्रियमहोरगान् ॥ १/४७/२१ ॥
 सर्वात्ममनात्मनि स्थाप्य परमात्मानमीश्वरम्।
 नग्नो जटी निराहारो चीरीध्वान्तगतो हि सः ॥ १/४७/२२ ॥^{५०}

५०. 'चीरीध्वान्तगतः' होना चाहिए। 'चीरि' का अर्थ है = नेत्रों पर पड़ा हुआ आवरण (वामन शिवराम आपटे : संस्कृत-हिन्दी-कोश)।

निराशस्त्यक्तसन्देहः शैवमाप परं पदम्।
 हिमाद्रेर्दक्षिणं वर्षं भारताय न्यवेदयत्॥ १/४७/२३॥
 तस्मात्तु भारतं वर्षं तस्य नाम्ना विदुर्बुधाः।
 भरतस्यात्मजो विद्वान् सुमतिर्नामधार्मिकः॥ १/४७/२४॥
 बभूव तस्मिन्स्तद्राज्यं भरतः सन्यवेशयत्।
 पुत्रसङ्क्रामितश्रीको वनं राजा विवेश सः॥ १/४७/२५॥

अनुवाद—“हिमालय से चिह्नित इस देश के महाराज नाभि के वंश का वर्णन करता हूँ, उसे सुनो। महामति नाभि ने मरुदेवी से ‘ऋषभ’ नामक पुत्र को उत्पन्न किया, जो राजाओं में श्रेष्ठ और समस्त क्षत्रियों में पूजित थे। ऋषभ से सौ पुत्रों में ज्येष्ठ भरत का जन्म हुआ। पुत्रवत्सल ऋषभ ने भरत का राज्याभिषेक किया और ज्ञानवैराग्य का आश्रय लेकर, इन्द्रियरूपी महाविषधरों पर विजय प्राप्त कर, आत्मा को ही परमात्मा या ईश्वर मानकर नग्न और जटाधारी हो, निराहार रहने लगे और इस प्रकार चीरिजनित (ज्ञानरूपी नेत्रों पर पड़े हुए परदे से उत्पन्न) अन्धकार से मुक्त एवं इच्छातीत और सन्देहातीत होकर मोक्षपद प्राप्त कर लिया। यतः उन्होंने हिमालय के दक्षिण में विद्यमान वर्ष (देश) भरत को दे दिया था, इसलिए भरत के नाम पर उसका नाम ‘भारतवर्ष’ पड़ा। भरत के सुमति नाम का धार्मिक पुत्र हुआ। उसे उन्होंने अपना राज्य सौंप दिया और वन को चले गये।”

लिङ्गपुराण के इन श्लोकों में भगवान् ऋषभदेव को स्पष्ट रूप से ‘नग्न’ बतलाया गया है, जिससे सिद्ध होता है कि जैनेतर भारतीय सम्प्रदायों में जैन तीर्थंकर अचेलतीर्थ के प्रवर्तक के रूप में ही प्रसिद्ध थे। इससे दिगम्बरों की इस मान्यता की पुष्टि होती है कि भगवान् महावीर ने सर्वथा अचेल निर्ग्रन्थसंघ का ही प्रवर्तन किया था।

लिङ्गपुराण (भाग १/अध्याय ३४) में नग्नता को लेकर एक बहुत ही महत्त्वपूर्ण श्लोक कहा गया है—

इन्द्रियैरजितैर्नग्नो दुकूलेनापि संवृतः।
 तैरेव संवृतो गुप्तो न वस्त्रं कारणं स्मृतम्॥ १/३४/१४॥

अनुवाद—“जिसने इन्द्रियों पर विजय प्राप्त नहीं की है, वह वस्त्रों से आच्छादित होने पर भी नग्न (निर्लज्ज) है, किन्तु जिसने इन्द्रियों को वश में कर लिया है, वह नग्न रहते हुए भी अनग्न (लज्जावान्) है। अर्थात् वस्त्रधारण करने से कोई सलज्ज नहीं बनता और वस्त्रत्याग देने से निर्लज्ज नहीं होता।”

एक अन्य श्लोक में कहा गया है—

जटिनो मुण्डिनश्चैव नग्ना नाना प्रकारिणः।

सम्पूज्याः शिववन्नित्यं मनसा कर्मणा गिरा ॥ १/३४/३१ ॥

अनुवाद—“जो नाना प्रकार के जटाधारी या मुण्डी नग्न साधु हैं, वे शिव के समान मन, वचन और कर्म से पूजनीय हैं।”

इस उक्ति के द्वारा लिङ्गपुराण में दिगम्बरजैन मुनियों के प्रति भी आदरभाव सूचित किया गया है।

ब्रह्माण्डपुराण के द्वितीय (अनुषङ्ग) पाद के अन्तर्गत २७वें अध्याय में भी उपर्युक्त भाववाले दो श्लोक मिलते हैं—

नग्ना एव हि जायन्ते देवता मुनयस्तथा।

ये चान्ये मानवा लोके सर्वे जायन्त्यवाससः ॥ २/२७/११८ ॥

इन्द्रियैरजितैर्नग्ना दुकूलेनापि संवृताः।

तैरेव संवृतो गुप्तो न वस्त्रं कारणं स्मृतम् ॥ २/२७/११९ ॥

इन श्लोकों में सभी देव-मानवों को जन्म से नग्न ही बतलाया गया है और मुनियों को भी प्रमुखतः नाग्न्यलिङ्गवाला ही कहा गया है तथा यह मनोवैज्ञानिक तथ्य उद्घाटित किया गया है कि इन्द्रियों का संवरण ही वास्तविक आवरण है।

२५

न्यायकुसुमाञ्जलि (१८४ ई०) में निरावरण, दिगम्बर

इस प्रसिद्ध न्यायग्रंथ के कर्ता उदयनाचार्य १८४ ई० में हुए थे। इस ग्रन्थ में पृष्ठ १६ पर उन्होंने निरावरण जैन मुनियों को ‘दिगम्बर’ शब्द से अभिहित किया है—“निरावरणा इति दिगम्बराः।”^{५१}

२६

न्यायमञ्जरी (१००० ई०) में दिगम्बर

इस ग्रन्थ के लेखक जयन्तभट्ट का काल १००० ई० के लगभग है। वे पृष्ठ १६७ पर लिखते हैं—

“क्रिया तु विचित्रा प्रत्यागमं भवतु नाम। भस्मजटापरिग्रहो दण्डकमण्डलुग्रहणं वा रक्तपटधारणं वा दिगम्बराणां वावलम्ब्यतां कोऽत्र विरोधः।”^{५२}

५१. पं० अजितकुमार शास्त्री : श्वेताम्बरमत-समीक्षा / पृ. १६८।

५२. वही / पृ. १६८।

अनुवाद—“क्रिया तो अलग-अलग मतों में भिन्न-भिन्न होती है। अतः भस्म लगायी जाय, जटा रखी जाय, दंड-कमण्डलु ग्रहण किया जाय अथवा रक्तपट धारण किये जायें या दिगम्बरत्व का ही अवलम्बन किया जाय, इसमें क्या विरोध है?”

इस कथन में जयन्तभट्ट ने रक्तपटधारी बौद्धभिक्षुओं के साथ दिगम्बरधारी दिगम्बर-जैन मुनियों का उल्लेख किया है।

२७

‘प्रबोधचन्द्रोदय’ (१०६५ ई०) में विमुक्तवसन, क्षणक, दिगम्बर

इस नाटक की रचना चन्देल राजा कीर्तिवर्मा के शासनकाल में कृष्णमिश्र नाम के दण्डी परिव्राजक ने की थी। कहते हैं कि सन् १०६५ ई० में यह उक्त राजा के सामने खेला भी गया था।^{५३} इसमें साम्प्रदायिक विद्वेषवश जैन और बौद्ध धर्मों को घृणितरूप में प्रस्तुत किया गया है। यह कल्पना की गई है कि इन धर्मों की सृष्टि ‘महामोह’ ने लोगों को वैदिकधर्म से च्युत करने के लिए की थी। इसमें ‘महामोह’, ‘मिथ्यादृष्टि’, ‘शान्ति’, ‘श्रद्धा’, ‘करुणा’ आदि भावों का मानवीकरण (personification) किया गया है। तृतीय अङ्क में ‘शान्ति’ और ‘करुणा’ ‘श्रद्धा’ को ढूँढ़ती हैं। उन्हें सन्देह होता है कि ‘श्रद्धा’ ‘महामोह’ के भय से पाषण्डों (जैन और बौद्ध धर्मों) के घरों में छिप कर रह रही है, अर्थात् ‘महामोह’ के वशीभूत हो लोग जैन और बौद्ध धर्मों में श्रद्धा करने लगे हैं। अतः वे उसे वहीं ढूँढ़ने का विचार करती हैं। इतने में एक दिगम्बरजैन मुनि दिखाई देते हैं।

‘करुणा’ भयभीत होकर ‘शान्ति’ से कहती है—“सखि! राक्षसो राक्षसः।”

‘शान्ति’ पूछती है—“कोऽसौ राक्षसः?” (कहाँ है राक्षस?)

‘करुणा’ कहती है—“सखि! पश्य पश्य। य एष गलन्मलपिच्छिल-बीभत्स-दुःप्रेक्ष्य-छविः, उल्लुञ्चित-चिकुर-विमुक्तवसनदुर्दर्शनः, शिखिशिखण्डपिच्छिकाहस्त इत एवाभिवर्तते।”^{५४} (सखि! देखो, देखो, यह है राक्षस, जिसका शरीर मैल से लिप्त होने के कारण घिनौना दिखाई दे रहा है, जो लुञ्चितकेश और वस्त्ररहित (नग्न) होने से बीभत्स लगता है तथा हाथ में मयूरपंखों की पिच्छिका लिए हुए है। वह इसी तरफ आ रहा है।)

५३. रामधारीसिंह दिनकर : संस्कृति के चार अध्याय / पृ. २१०।

५४. प्रबोधचन्द्रोदय / अंक ३ / पृ. ११५।

फिर वे दोनों परस्पर उसके राक्षस न होकर पिशाच या नारकी होने की शंका करती हैं। किन्तु अन्त में 'शान्ति' देखकर और सोचकर कहती है—“आः ज्ञातम्। महामोहप्रवर्तितोऽयं दिगम्बरसिद्धान्तः। तत्सर्वथा दूरे परिहरणीयमस्य दर्शनम्।”^{५५} (अच्छा, अच्छा, समझ गई। यह तो 'महामोह' द्वारा प्रवर्तित दिगम्बरसिद्धान्त है। तब तो इसके दर्शन दूर से ही परित्याज्य हैं।) यह कहकर मुँह फेर लेती है।

आगे चलकर उस क्षपणक (दिगम्बरजैन मुनि) का एक बौद्ध भिक्षु से वार्तालाप होता है। क्षपणक कहता है—“अरेरे भिक्षुक! इतस्तावत्। किमपि पृच्छामि।” (अरे भिक्षुक! इधर तो आओ। कुछ पूछना चाहता हूँ।)

भिक्षुक क्रुद्ध होकर कहता है—“आः पाप पिशाचाकृते! किमेवं प्रलपसि?” (अरे पापी, पिशाच के समान भयंकर सूरतवाले! क्या बकवास करता है?)

क्षपणक उत्तर देता है—“अरे मुञ्च क्रोधम्। शास्त्रगतं पृच्छामि।” (अरे भाई क्रोध छोड़ो। मैं शास्त्र की बात पूछना चाहता हूँ।)

भिक्षु व्यंग्य करता है—“अरे क्षपणक! शास्त्रकथामपि वेत्सि त्वम्?”^{५६} (अरे क्षपणक! तू शास्त्रकथा भी जानता है?)

आगे चलकर क्षपणक बौद्ध भिक्षु को उपदेश देता है—“तत् प्रियं ते विस्रब्धं भणामि। बुद्धानुशासनं परिहृत्यार्हतानुशासनमेवानुसृत्य दिगम्बरमतमेव धारयतु भवान्।”^{५७} (मैं तुम्हें प्रिय और विश्वसनीय सलाह देता हूँ। तुम बौद्धधर्म को छोड़, आर्हतधर्म (जैनधर्म) को अपनाकर दिगम्बरमत ही धारण कर लो।)

इसके बाद क्षपणक का एक कापालिक से वार्तालाप होता है। कापालिक कहता है—“अरे क्षपणक! धर्मं तावदस्माकमवधारय।”^{५८} (अरे क्षपणक! तुम मेरा धर्म ग्रहण कर लो।)

यहाँ यह ध्यान देने योग्य है कि मयूरपिच्छीधारी दिगम्बरजैन मुनि को बौद्ध भिक्षु और कापालिक 'क्षपणक' शब्द से सम्बोधित करते हैं, जिससे सिद्ध है कि दिगम्बरजैन मुनि ही 'क्षपणक' कहलाते थे।

इस प्रकार हम देखते हैं कि वैदिकयुग से लेकर ईसा की ग्यारहवीं शताब्दी तक के वैदिक एवं संस्कृत साहित्य में दिगम्बरजैन मुनियों के उल्लेख मिलते हैं।

५५. वही/अंक ३/पृ. ११६।

५६. वही/अंक ३/पृ. १२४।

५७. वही/अंक ३/पृ. १२६।

५८. वही/अंक ३/पृ. १३०।

अतः दिगम्बरजैन-परम्परा वैदिककाल (कम से कम १५०० ई० पू०) से पूर्ववर्ती सिद्ध होती है।

२८

‘क्षपणक’ का अर्थ श्वेताम्बर-जिनकल्पी मुनि नहीं

‘महाभारत’ के उत्तङ्कोपाख्यान में जो ‘नग्नक्षपणक’ का वर्णन है उसका प्रमाण देते हुए श्वेताम्बराचार्य श्री विजयानन्द सूरीश्वर ‘आत्माराम’ जी (ई० सन् १९२० के लगभग) ने भी अपने ग्रन्थ ‘तत्त्वनिर्णयप्रासाद’ में प्रातिपादित किया है कि “जैनमत वेदसंहिता और वेदव्यास से पहले का सिद्ध होता है।” (पृष्ठ ५१४)।

किन्तु जिस ‘नग्नक्षपणक’ के उल्लेख के आधार पर यह सिद्ध होता है, उसे उन्होंने दिगम्बरजैन मुनि न मानकर श्वेताम्बर-जिनकल्पी मुनि माना है, क्योंकि वे भी नग्न रहते थे। श्री ‘आत्माराम’ जी लिखते हैं—

“इस लेख से भी यही सिद्ध होता है कि जैनमत वेदसंहिता से भी पूर्व विद्यमान था, क्योंकि ‘नग्नक्षपणक’ इस शब्द का यह अर्थ है क्षपणक नाम का साधु। साथ में ‘नग्न’ इस विशेषण से जैनमत का साधु सिद्ध होता है। जैनमत में दो प्रकार के साधु होते हैं: स्थविरकल्पी और जिनकल्पी। जिनकल्पी आठ प्रकार के होते हैं, जिनमें कई जिनकल्पी ऐसे होते हैं, जो रजोहरण, मुखवस्त्रिका के बिना अन्य कोई वस्त्र नहीं रखते हैं और प्रायः जंगल में ही रहते हैं। तथा टीकाकार नीलकण्ठ जी ने भी ‘क्षपणक’ पद का अर्थ पाषंडभिक्षु करा है।” (तत्त्वनिर्णय-प्रासाद/पृ. ५१४)।

‘आत्माराम’ जी की इस मान्यता का कारण यह है कि वे आवश्यकनिर्युक्ति आदि के वर्णनानुसार दिगम्बरजैनमत की उत्पत्ति बोटिक शिवभूति के द्वारा वीर-निर्वाण संवत् ६०९ (ई० सन् ८२) में की गई मानते हैं। (त.नि.प्रा./पृ. ५४२-५४३)। अतः इसके बहुत पहले रचे गये ‘महाभारत’ में जो ‘नग्नक्षपणक’ का उल्लेख मिलता है, उसे दिगम्बरजैन मुनि मानने से आवश्यकनिर्युक्ति का वचन मिथ्या सिद्ध होता है। इस धर्मसंकट के कारण उन्हें महाभारतोल्लिखित ‘नग्नक्षपणक’ को श्वेताम्बर-जिनकल्पी मुनि कहने के लिए बाध्य होना पड़ा। किन्तु उनकी यह मान्यता सर्वथा प्रमाणविरुद्ध है। पूर्व (शीर्षक ५) में ऐसे अनेक उद्धरण प्रस्तुत किये गये हैं, जिनसे सिद्ध होता है कि दिगम्बर, श्वेताम्बर और वैदिकपरम्परा के साहित्य, संस्कृतसाहित्य एवं शब्दकोशों में ‘नग्नक्षपणक’ शब्द दिगम्बरजैन मुनि के लिए ही प्रयुक्त किया गया है। सबसे महत्त्वपूर्ण बात यह है कि स्वयं श्वेताम्बरग्रन्थों में क्षपणक को स्त्रीमुक्ति-विरोधी दिगम्बर-जैन मुनि कहा गया है,

यथा—“क्षपणकाः स्त्रीमुक्तिनिषेधकं तीर्थकरं भणन्ति।”^{५९} इसके अतिरिक्त क्षपणक और श्वेताम्बर-जिनकल्पिक साधु के स्वरूपभेद से भी उपर्युक्त तथ्य की पुष्टि होती है। स्वरूप की भिन्नता का बोध निम्नलिखित तथ्यों से होता है—

१. वैदिकसाहित्य, संस्कृतसाहित्य तथा शब्दकोशों में क्षपणक को निर्वस्त्र एवं नग्न बतलाया गया है, जब कि श्वेताम्बर-जिनकल्पियों में वस्त्रलब्धियुक्त-जिनकल्पी लौकिक वस्त्र धारण न करते हुए भी नग्न नहीं दिखते थे, क्योंकि उनकी नग्नता लब्धिजन्य आवरण से ढँक जाती थी। तथा वस्त्रलब्धिरहित जिनकल्पियों के लिए नग्नता को छिपाने एवं शीतादि का निवारण करने हेतु एक, दो या तीन प्रावरण धारण करने की अनुमति दी गयी थी, क्योंकि श्वेताम्बरमत में नग्न दिखने को निर्लज्जता एवं असंयम का हेतु माना गया है।^{६०}

२. संस्कृतसाहित्य में क्षपणक को मयूरपिच्छधारी कहा गया है—“कैश्चित् क्षपणकैरिव मयूरपिच्छधारिभिः।”^{६१} जब कि श्वेताम्बर-जिनकल्पी मुनि वस्त्रनिर्मित रजोहरण धारण करते थे।

३. श्वेताम्बर जिनकल्पी साधु मुखवस्त्रिका भी पहनते थे,^{६२} किन्तु वैदिकपरम्परा के ग्रन्थों एवं संस्कृतसाहित्य में कहीं भी क्षपणक को मुखवस्त्रिका धारण किये हुए नहीं बतलाया गया है, जब कि शिवमहापुराण में श्वेताम्बर (सवस्त्र) मुनि को तुण्डवस्त्रधारक (मुखवस्त्रिकाधारी) कहा गया है। (देखिये, अगला शीर्षक)।

४. वन्दना करने पर श्वेताम्बर साधु ‘धर्मलाभ हो’ यह आशीर्वाद देते हैं और दिग्म्बर साधु ‘धर्मवृद्धि हो’ यह कहते हैं।^{६३} पञ्चतन्त्र की पूर्वोक्त कथा में प्रधान क्षपणक को नमस्कार करने पर नाई ‘धर्मवृद्धि’ का आशीर्वाद प्राप्त करता है।

५. श्वेताम्बरीय ग्रन्थों में कहा गया है कि जम्बूस्वामी के निर्वाण के पश्चात् (वीर निर्वाण के ६२ वर्ष बाद) जिनकल्प का विच्छेद हो गया। (विशे.भा./गा. २५९३)। अर्थात् पुरुषों में जिनकल्प धारण करने योग्य शक्तियों की उत्पत्ति बन्द हो गयी। अतः जिनकल्पी (लब्धिजन्य-देहावरणधारी या कटिंवस्त्ररहित-वस्त्रपात्रधारी अथवा जिनलिंग-

५९. प्रवचनपरीक्षा-वृत्ति १/१/७१-७५/पृ. ५०।

६०. प्रवचनपरीक्षा-वृत्ति १/२/३१/पृ. ९३-९४ तथा हेम.वृत्ति/विशे.भा./गा. २५८४, २५९१।

६१. कादम्बरी/पूर्वभाग/पृ. १०६।

६२. प्रवचनपरीक्षा/वृत्ति/१/२/३१/पृ. ९४।

६३. “श्वेताम्बराणां रजोहरणमुखवस्त्रिकालोच्चादिलिङ्गं चोलपट्टकल्पादिको वेषः --- वन्द्यमाना धर्मलाभमाचक्षेत। --- दिग्म्बराः वन्द्यमाना धर्मवृद्धिं भणन्ति।” षड्दर्शनसमुच्चय / त.र.दी. वृत्ति/अधिकार ४/पृ. १६०-१६१।

धारी) साधुओं की परम्परा का अन्त हो गया। केवल स्थविरकल्पी (कटिवस्त्रसहित-वस्त्रपात्रधारी) साधुओं की परम्परा शेष रही। फलस्वरूप 'महाभारत' की रचना के समय (५०० ई० पू० से १०० ई० पू०) श्वेताम्बर-सम्प्रदाय में केवल कटिवस्त्रसहित-वस्त्रपात्रधारी साधुओं का ही अस्तित्व था। अतः यदि श्वेताम्बर जिनकल्पी साधुओं को 'विशेषावश्यकभाष्य' एवं 'प्रवचनपरीक्षा' के वचनों के विरुद्ध भी नग्न (पुरुषचिह्न को खुला रखनेवाला) मान लिया जाय और उक्त ग्रन्थों में क्षपणकों की जो स्त्रीमुक्ति-निषेधक विशेषता बतलायी गयी है तथा संस्कृतसाहित्य में उनके मयूरपिच्छीधारण करने तथा धर्मवृद्धि का आशीर्वाद देने के जो लक्षण बतलाये गये हैं, उन्हें भी अस्वीकार कर क्षपणक का मनमाना लक्षण बना लिया जाय, तो भी 'महाभारत' की रचना के समय श्वेताम्बर-जिनकल्पी साधुओं का अस्तित्व नहीं था, इसलिए उन्हें 'क्षपणक' शब्द से अभिहित किये जाने का प्रश्न ही नहीं उठता।

इन प्रमाणों से सिद्ध होता है कि 'महाभारत' में 'नग्नक्षपणक' नाम से दिगम्बरजैन मुनि का ही उल्लेख है।

२९

श्वेताम्बर साधु 'श्वेतपट' या 'सिताम्बर' नाम से प्रसिद्ध

शिवमहापुराण में श्वेताम्बर साधु

जैन-जैनेतरों में श्वेताम्बरसाधु 'श्वेतवस्त्र' या 'श्वेतपट' नाम से प्रसिद्ध थे, क्योंकि वे श्वेतवस्त्र धारण करते थे। सर्वप्रथम सम्राट् अशोक के समय में अथवा ई० पू० प्रथम शताब्दी में रचित माने जानेवाले बौद्धग्रन्थ अपदान में सेतवत्थ (श्वेतवस्त्र) नाम से 'श्वेतपट' साधुओं का उल्लेख मिलता है। इसका विस्तार से वर्णन इसी अध्याय के द्वितीय प्रकरण में द्रष्टव्य है। पाँचवीं शताब्दी ई० के कदम्बवंशीय राजा श्रीविजयशिव-मृगेशवर्मा के ताम्रपत्रलेख में निर्ग्रन्थश्रमणसंघ के प्रतिपक्षी के रूप में श्वेतपटश्रमण-संघ की चर्चा हुई है। सातवीं शती ई० के आदि में बाणभट्ट द्वारा रचित 'कादम्बरी' और 'हर्षचरित' में 'शिखिपिच्छ-लाञ्छन' एवं 'नगनाटक' विशेषणों से क्षपणकों (दिगम्बरजैन मुनियों) का तथा 'श्वेतपट' नाम से श्वेताम्बर मुनियों का उल्लेख किया गया है। छठी शती ई० के दिगम्बराचार्य जोइन्दुदेव ने 'परमात्मप्रकाश' में 'क्षपणक' और 'श्वेतपट' (सेवडड) इन दो सम्प्रदायों के मुनियों का नाम लिया है। 'विशेषावश्यकभाष्य' के वृत्तिकार मलधारी हेमचन्द्रसूरि ने २५८५वीं गाथा की वृत्ति में एक पुरानी गाथा उद्धृत की है, उसमें भी 'क्षपणक', 'बुद्ध' और 'श्वेतपट' (सेयवडो) इन तीन सम्प्रदायों के मुनियों का कथन किया गया है। इन सबके प्रमाण पूर्व में 'महाभारत' शीर्षक के अन्तर्गत दिये जा चुके हैं। ४७३ ई० के विमलसूरिकृत 'पउमचरिय' में 'सिताम्बर'

(सियंबर) शब्द से श्वेताम्बरों का अभिधान किया गया है। यथा—

पेच्छइ परिभमंतो दाहिणदेसे सियंबरं पणओ।
तस्स सगासे धम्मं सुणिरुण तओ समाढत्तो ॥ २२/७८ ॥

अनुवाद—“राज्यच्युत राजा सौदास को दक्षिणदेश में भ्रमण करते हुए श्वेताम्बरमुनि के दर्शन होते हैं। उनसे वह धर्म का श्रवण कर श्रावकव्रत ग्रहण करता है।”

‘हलायुधकोश’ (अभिधानरत्नमाला) में जहाँ दिग्म्बर-जैनमुनि को ‘क्षपण’, ‘निर्ग्रन्थ’ और ‘मलधारी’ कहा गया है, वहीं रजोहरण एवं श्वेतवस्त्र धारण करनेवाले मुनि का ‘सिताम्बर’ नाम बतलाया गया है—

रजोहरणधारी च श्वेतवासाः सिताम्बराः ॥ २/१८९ ॥
नगनाटो दिग्वासाः क्षपणः श्रमणश्च जीवको जैनाः।
आजीवो मलधारी निर्ग्रन्थः कथ्यते सद्भिः ॥ २/१९० ॥

वैदिकपरम्परा के शिवमहापुराण में जैनमतोत्पत्ति की कल्पित कथा प्रस्तुत करते हुए श्वेताम्बरमुनियों की चर्चा की गयी है, किन्तु वहाँ उन्हें अरिहन् कहा गया है, क्षपणक या निर्ग्रन्थ नाम प्रयुक्त नहीं किया गया। प्रमाण के लिए कथा का सम्बन्धित अंश नीचे दिया जा रहा है—

त्रिपुरवासी दैत्यों का वध करने के लिए उनके धर्म में विघ्न उपस्थित करना आवश्यक था। इस हेतु भगवान् विष्णु ने अपने शरीर से एक मायामय पुरुष की सृष्टि की। उसका सिर मुड़ा हुआ था, शरीर पर मैले वस्त्र थे, हाथ में गुम्फिपात्र (काष्ठनिर्मित पात्र) और पुंजिका (रजोहरण) विद्यमान थी तथा मुख वस्त्रखण्ड से आच्छादित था—

असृजच्च महातेजाः पुरुषं स्वात्मसम्भवम्।
एकं मायामयं तेषां धर्मविघ्नार्थमच्युतः ॥
मुण्डिनं म्लानवस्त्रं च गुम्फिपात्रसमन्वितम्।
दधानं पुञ्जिकां हस्ते चालयन्तं पदे पदे ॥
वस्त्रयुक्तं तथा हस्तं क्षीयमाणं मुखे सदा।
धर्मेति व्याहरन्तं हि वाचा विक्लवया मुनिम् ॥^{६४}

वह मुंडी विष्णु के समक्ष उपस्थित हुआ। विष्णु ने कहा—“तुम्हारा नाम ‘अरिहन्’

६४. शिवमहापुराण / रुद्रसंहिता / युद्धखण्ड / अध्याय ४ / श्लोक १-३ / पृ. ४३२।

होगा। तुम मायाबल से सोलह हजार मायामय शास्त्रों की अपभ्रंशभाषा में रचना करो, जो श्रौत और स्मार्त आचार के विरुद्ध तथा वर्णाश्रम-व्यवस्था से रहित हों और कर्मसिद्धान्त-प्रधान हों—

अरिहन्नाम ते स्यात्तु ह्यन्यानि च शुभानि च।
 स्थानं वक्ष्यामि ते पश्चाच्छृणु प्रस्तुतमादरात्॥
 मायिन्मायामयं शास्त्रं तत्षोडशसहस्रकम्।
 श्रौतस्मार्तविरुद्धं च वर्णाश्रमविवर्जितम्॥
 अपभ्रंशमयं शास्त्रं कर्मवादमयं तथा।
 रचयेति प्रयत्नेन तद्विस्तारो भविष्यति॥^{६५}

उस मुण्डी ने अपने जैसे चार शिष्यों की रचना की तथा उन्हें मायामय शास्त्र पढ़ाये। वे चारों मुण्डी पाषण्ड (वेदविरुद्ध) धर्म के अनुयायी थे, हाथ में पात्र लिए हुए थे, वस्त्र से मुख आच्छादित किये हुए थे, शरीर पर मैले वस्त्र थे, और 'धर्मलाभ हो' ऐसा आशीर्वाद दे रहे थे। हाथ में वस्त्रखण्ड निर्मित मार्जनी (रजोहरण) विद्यमान थी तथा जीवहिंसा के भय से धीरे-धीरे चल रहे थे—

चत्वारो मुण्डिनस्तेऽथ धर्मं पाषण्डमाश्रिताः।
 हस्ते पात्रं दधानाश्च तुण्डवस्त्रस्य धारकाः॥
 मलिनान्येव वासांसि धारयन्तो ह्यभाषिणः।
 धर्मो लाभः परं तत्त्वं वदन्तस्त्वतिहर्षतः॥
 मार्जनीं धियमाणश्च वस्त्रखण्डविनिर्मिताम्।
 शनैः शनैश्चलन्तो हि जीवहिंसाभयाद् ध्रुवम्॥^{६६}

यहाँ विष्णु के द्वारा रचे गये मायामय पुरुष को मैलेवस्त्र, काष्ठनिर्मितपात्र, रजोहरण एवं मुखवस्त्रिका धारण किये हुए तथा धर्मलाभ का आशीर्वाद देते हुए दिखलाया गया है। ये श्वेताम्बरमुनि के लक्षण हैं। शिवमहापुराण के कर्ता ने इन लक्षणोंवाले उक्त पुरुष को 'अरिहन्' नाम से सम्बोधित किया है, किन्तु 'क्षपणक' या 'निर्ग्रन्थ' नाम प्रयुक्त नहीं किया। इन उदाहरणों से सिद्ध है कि जैन-जैनेतर सम्प्रदायों में श्वेताम्बर मुनि 'श्वेतवस्त्र', 'श्वेतपट' और 'सिताम्बर' नामों से ही प्रसिद्ध थे, 'क्षपणक' या 'निर्ग्रन्थ' नाम से नहीं।

६५. वही/श्लोक ९-११/पृ. ४३२।

६६. वही/श्लोक २८-३०/पृ. ४३३।

‘क्षपणक’ शब्द यापनीयसाधु का भी वाचक नहीं

जैसा कि पूर्व (अध्याय २/प्र.२/शी.३) में कहा गया है, मुनि श्री कल्याणविजय जी ने ‘क्षपणक’ (खमण) का अर्थ यापनीय साधु माना है। (‘क्षपणक’ का प्राकृतरूप ‘खमण’ है। देखिये, अ.४/प्र.१/शी.५/प्र.परी./गा.७१)। अब यहाँ इतिहासकार श्वेताम्बर मुनियों की स्वच्छन्द कपोलकल्पनाओं का मनोरंजक दृश्य उपस्थित होता है। एक मुनिश्री कहते हैं कि ‘क्षपणक’ शब्द का अर्थ श्वेताम्बर-जिनकल्पी मुनि है, दूसरे कहते हैं कि वह यापनीयसाधु का पर्यायवाची है। इससे सिद्ध है कि दोनों मान्य मुनियों ने प्रमाणों के आधार पर नहीं, अपितु मनःकल्पनाओं के आधार पर कल्पित इतिहास रचने की चेष्टा की है। यदि बात प्रमाणों के आधार पर की जाती, तो दोनों मुनियों का एक ही निष्कर्ष होता, परस्पर विरुद्ध नहीं।

सत्य यह है कि ‘क्षपणक’ शब्द यापनीयसाधु का भी वाचक नहीं है। इसके निम्नलिखित कारण हैं—

१. समस्त प्राचीन श्वेताम्बरग्रन्थों में एक स्वर से स्त्रीमुक्तिविरोधी दिगम्बरजैन मुनियों को ही ‘बोटिक’ और ‘क्षपणक’ कहा गया है, इसलिए मुनि कल्याणविजय जी का यह कथन सर्वथा मनःकल्पित है कि दक्षिण भारत में जाने पर बोटिक अर्थात् दिगम्बरजैन ‘यापनीय’ और ‘क्षपणक’ (खमण) नाम से प्रसिद्ध हुए। (श्र.भ.म./पृ.३०१)। ‘क्षपणक’ नाम से तो वे पहले से ही प्रसिद्ध थे। ‘यापनीय’ नाम से प्रसिद्ध हुए, इसका कोई साहित्यिक या शिलालेखीय प्रमाण नहीं है। दक्षिणभारत में यापनीयसम्प्रदाय की नवीन उत्पत्ति हुई थी, वह भी श्वेताम्बरसम्प्रदाय से ही। इसका सप्रमाण प्रतिपादन ‘यापनीयसंघ का इतिहास’ नामक अध्याय में द्रष्टव्य है।

२. भारतीय साहित्य में ‘क्षपणक’ शब्द का प्रयोग यापनीयों की उत्पत्ति के बहुत पहले से मिलता है। महाभारत की रचना ई. पू. ४०० से ई. पू. १०० के बीच हुई है। उसमें नग्नक्षपणक का उल्लेख है, जबकि ‘यापनीय’ शब्द का उल्लेख पाँचवीं शताब्दी ई० के पूर्व भारतीय साहित्य के किसी भी ग्रन्थ या शिलालेख में नहीं मिलता। सर्वप्रथम उल्लेख सन् ४७०-४९० के बीच लिखे गये दक्षिणभारत के कदम्बवंशीय राजा मृगेशवर्मा के हल्सी-दानपत्र (लेख क्र. ९९) में हुआ है। उसमें लिखा है कि उक्त राजा ने यापनीयों, निर्ग्रन्थों और कूर्चकों को भूमिदान किया था।^{६७} इस उल्लेख के आधार पर यदि यापनीयसंघ को दान दिये जाने योग्य लोकमान्यता और राजमान्यता

६७. “श्रीविजयपलाशिकायां यापनीयनिर्ग्रन्थकूर्चकानां --- दत्तवान्।” जै.शि.सं./ मा.च/ भा.२।

पाने के लिए ७० वर्ष का समय भी आवश्यक माना जाय तो उसका उत्पत्तिकाल ४०० ई० से पूर्व सिद्ध नहीं होता। डॉ० सागरमल जी ने भी पाँचवी शताब्दी ई० में ही उसकी उत्पत्ति मानी है। इससे सिद्ध है कि मुनि जी का यह कथन सर्वथा कपोलकल्पित है कि बोटिकों के लिए 'यापनीय' और 'क्षपणक' शब्दों का प्रयोग दक्षिण भारत में जाने पर हुआ था। चूँकि भारतीय साहित्य में 'क्षपणक' शब्द का प्रयोग यापनीयों की उत्पत्ति के बहुत पहले से होता आ रहा था, अतः सिद्ध है कि 'क्षपणक' शब्द यापनीयसाधु का पर्यायवाची नहीं है, अपितु दिगम्बर जैनमुनियों का ही नामान्तर है। इसलिए पाँचवी शती ई० के बहुत पूर्व रचे गये 'महाभारत', 'चाणक्यशतक', 'पंचतंत्र' आदि ग्रन्थों में जो क्षपणकों की चर्चा है, वह यापनीय साधुओं की नहीं, अपितु दिगम्बरजैन साधुओं की ही है।

३. श्वेताम्बर मुनियों के समान यापनीय मुनि भी वन्दना किये जाने पर 'धर्मलाभ' का आशीर्वाद देते थे, दिगम्बरों के समान 'धर्मवृद्धि' का नहीं। 'षड्दर्शनसमुच्चय' के टीकाकार गुणरत्नसूरि ने कहा है—“गोप्यास्तु वन्द्यमाना धर्मलाभं भणन्ति। गोप्या यापनीया इत्यऽप्युच्यन्ते।” (पृष्ठ १६१)। किन्तु 'पंचतंत्र' की पूर्वोक्त कथा में प्रधान क्षपणक नापित को 'धर्मवृद्धि' का आशीर्वाद देते हैं। यह क्षपणक के दिगम्बर जैनमुनि होने का अकाट्य प्रमाण है।

इन प्रमाणों से सिद्ध है कि 'क्षपणक' यापनीय साधु का नामान्तर नहीं है, अपितु दिगम्बरजैन साधु का पर्यायवाची है। अतः 'महाभारत' आदि वैदिकपरम्परा के ग्रन्थों में 'क्षपणक' शब्द से दिगम्बरजैन साधुओं का ही वर्णन किया गया है।

३१

दिगम्बरजैन मुनि और आजीविक साधु में भेद

यह भी नहीं कहा जा सकता कि 'महाभारत' आदि वैदिक परम्परा के ग्रन्थों में 'क्षपणक' शब्द का प्रयोग आजीविक साधुओं के लिए किया गया है। इस प्रकार के कथन की संभावना और अयुक्तिमत्ता को समझने के लिए श्वेताम्बरमुनि श्री कल्याणविजय जी के निम्नलिखित वक्तव्य का अनुशीलन करना आवश्यक है। वे लिखते हैं—

“नन्दीसूत्र के उल्लेखानुसार पूर्वश्रुत में आजीविक और त्रैराशिक मतानुसारी सूत्रपरिपाटी का वर्णन होने से डॉ० हार्नले का कथन है कि जिन आजीविक और त्रैराशिकों का नन्दी में उल्लेख है, वे गोशालक से बदल कर महावीर के पास गये हुए आजीविक थे। ये दोनों सम्प्रदाय निर्ग्रन्थसम्प्रदाय से पृथक् नहीं थे। उनका यह भी कथन है कि वर्तमान दिगम्बरजैन-संघ उन्हीं आजीविक और त्रैराशिकों का उत्तराधिकारी है। इसके प्रतिपादन में वे कहते हैं—

१. "महावीर के साथ गोशालक का झगड़ा हुआ, उस समय जो आजीविक भिक्षु महावीर से जा मिले थे, उन्होंने अपना नागन्याचार कायम रक्खा था।

२. "आजीविक और त्रैराशिकों के मत का पूर्वश्रुत में वर्णन होने से ये निर्ग्रन्थ सम्प्रदाय के वर्तुल के बाहर के नहीं हो सकते।

३. "आजीविक नग्न होते थे और दिगम्बर भी नग्न होते हैं।

४. "आजीविक एक दण्ड रखते थे और दिगम्बर भी रखते हैं।

५. "तामिल भाषा में 'आजीविक' शब्द का अर्थ दिगम्बर होता है।

६. "शीलाङ्काचार्य के लेख से आजीविक और दिगम्बर एक साबित होते हैं।

७. "दसवीं सदी के कोषकार हलायुध ने दिगम्बरों को आजीविक लिखा है।"

(श्र.भ.म./पृ.२७५-२७६)।

डॉ० हार्नले के इन तर्कों की मीमांसा करते हुए मुनि जी लिखते हैं—

१. "डॉ० महोदय के 'महावीर से जा मिलने वाले आजीविक भिक्षु निर्ग्रन्थसंघ में मिलने के बाद भी नग्न ही रहे थे' इस कथन में कुछ भी प्रमाण नहीं है।

२. "पूर्वश्रुत में उल्लेख होने से ही आजीविक और त्रैराशिकों को निर्ग्रन्थसंघ के वर्तुल के भीतर मान लेना भी युक्तिसंगत नहीं है, क्योंकि पूर्वश्रुत दृष्टिवाद का एक भाग होने से उसमें अन्य दार्शनिकों के मत का उल्लेख होना कोई नयी बात नहीं है। दृष्टिवाद में प्रत्येक दर्शन की आलोचना-प्रत्यालोचना होना स्वाभाविक है। आजीविक और त्रैराशिकों के सिद्धान्त अधिकांश में जैनसिद्धान्तों से मिलते जुलते थे, इस वास्ते सूत्र-विभाग में इनके मतानुसारी सूत्रों का होना कुछ अस्वाभाविक या आश्चर्यजनक नहीं है। और इस कारण से ही इनको निर्ग्रन्थसंघ में मान लेना ठीक नहीं।

३. "आजीविक और दिगम्बर दोनों नग्न होने से भी एक नहीं हो सकते। आजीविकों की ही तरह पूरणकश्यप और उसके अनुयायी भी नग्न रहते थे, तो क्या नग्नता के नाते इनको भी उन दोनों से अभिन्न मान लिया जायगा? कभी नहीं। वर्तमान समय में निरंजनी आदि अनेक वैष्णव साधुओं की जमातें नग्न रहती हैं, फिर भी यह कभी नहीं कह सकते कि दिगम्बरजैन साधु इनसे अभिन्न हैं।

४. "दिगम्बर जैनों के एक दण्ड रखने के विधान की बात भी हम सत्य नहीं मान सकते। जहाँ तक हमें ज्ञात है दिगम्बरजैन साधु किसी भी तरह का दण्ड नहीं रखते और न ऐसा करने का उनके शास्त्रों में विधान ही है।

५. “तामिल भाषा में आजीविक शब्द का अर्थ ‘दिगम्बर’ करने से भी आजीविक और दिगम्बरजैन एक नहीं हो सकते, क्योंकि उस प्रदेश में आजीविकों का अधिक प्रचार था और वे निरन्तर नग्न ही रहते थे, इस कारण वे वहाँ दिगम्बर भी कहलाते होंगे। परन्तु इस शब्दार्थ मात्र से दिगम्बरजैन और आजीविक अभिन्न सिद्ध नहीं हो सकते। नग्न रहने से हर कोई दिगम्बर कहा जा सकता है, पर इससे वह दिगम्बरजैन ही है यह मान लेना युक्तिसंगत नहीं।

६. “शीलाकाचार्य ने ‘आजीविक’ का पर्याय ‘दिगम्बर’ किया तो इससे भी उनकी नग्नता मात्र प्रकट होती है, न कि दिगम्बरजैनों से अभिन्नता।

७. “हलायुध ने अभिधानरत्नमाला में दिगम्बरजैनों को आजीविक कह दिया, इससे भी वे अभिन्न सिद्ध नहीं किये जा सकते। कोषकार कुछ प्रामाणिक इतिहासकार नहीं होते कि वे जो कुछ लिखें प्रमाणसिद्ध ही लिखें। अपने समय में जिस शब्द का जो अर्थ किया जाता हो, उसे उस अर्थ में लिख देना, इतना ही कोषकारों का कर्तव्य होता है। हलायुध के समय में दिगम्बरजैनों को जैनेतर लोग आजीविक नाम से भी पहचानते होंगे, इस कारण कोषकार ने उन्हें आजीविक भी लिख दिया, पर इतने ही से वे आजीविक नहीं हो सकते।

“ऊपर हमने देखा कि डॉ० हार्नले के दिये हुए प्रमाणों में एक भी प्रमाण ऐसा नहीं, जो दिगम्बरजैनों को ही आजीविक अथवा त्रैराशिक सिद्ध कर सके। इसके अतिरिक्त दिगम्बरों को त्रैराशिक मानने में किसी प्रकार की दार्शनिकमान्यता-विषयक सादृश्य भी नहीं है। यदि दिगम्बरजैन ही त्रैराशिक होते, तो इनमें भी सत्, असत्, सदसत्, नित्य, अनित्य, नित्यानित्य इत्यादि त्रैराशिक-सम्मत तीन राशि की और तीन नय की मान्यता होती, पर ऐसा कुछ भी नहीं है। (श्र.भ.म./पृ.२७६-२७८)।

“श्वेताम्बर-जैनसंघ के अनेक नये-पुराने ग्रन्थों में दिगम्बर-सम्प्रदाय का उल्लेख और वर्णन है, पर कहीं भी इनको श्वेताम्बरों ने ‘आजीविक’ अथवा ‘त्रैराशिक’ नहीं कहा। भाष्यों और चूर्णियों में सर्वत्र इनको ‘बोडिय’ (बोटिक) इस नाम से व्यवहृत किया है। दसवीं सदी के बाद के ग्रन्थों में आशाम्बर, दिगम्बर, दिक्पट इत्यादि नामों का इनके लिये प्रयोग हुआ है। कहीं भी आजीविक अथवा त्रैराशिक ये शब्द दिगम्बरजैनों के लिए प्रयुक्त नहीं हुए। यदि वे एक होते, तो सबसे पहले श्वेताम्बरजैन ही उनको गोशालक-शिष्य कहकर तिरस्कृत करते, क्योंकि उनके सबसे अधिक निकटवर्ती वे ही थे। पर वैसे कहीं भी उल्लेख नहीं किया। इसके विपरीत श्वेताम्बर ग्रन्थकारों ने दिगम्बर और आजीविकों का भिन्न-भिन्न उल्लेख किया है। उदाहरण के तौर पर हम यहाँ ओघनिर्युक्ति-भाष्य की एक गाथा का अवतरण देंगे, जिसमें आजीविक और दिगम्बरों का अलग-अलग उल्लेख है।

“साधु वर्षा-चातुर्मास्य के लिए ग्राम में प्रवेश करें, उस समय होने वाले अपशकुनों का वर्णन करते हुए उक्त भाष्यकार कहते हैं—

चक्रधरंमि भमाडो, भुक्खापारो य पंडुरंगमि।

तच्चन्निअ रुहिरपनं, बोडियमसिए धुवं मरणं ॥ १०७ ॥

“अर्थात् (ग्राम में प्रवेशक करते समय) चक्रधर भिक्षु सामने मिले, तो चातुर्मास्य में भटकना पड़े, पांडुरंग आजीविक भिक्षु सामने मिले, तो भूख और मार सहन करनी पड़े बौद्ध भिक्षु के सामने मिलने पर खून गिरे और बोटिक (दिगम्बरजैन) तथा असित-भौत नामक भिक्षुओं के सामने मिलने पर निश्चित मरण हो।

“उपर्युक्त गाथा में आजीविकों के लिए पांडुरंग और दिगम्बरों के लिए बोडिय नाम प्रयुक्त हुए हैं। यदि वे दोनों एक ही होते तो उनका भिन्न-भिन्न नामों से उल्लेख करने की कुछ भी आवश्यकता नहीं रहती।

“इन सब बातों का विचार करने पर यह बात निश्चित हो जाती है कि दिगम्बरजैन मूल निर्ग्रन्थसंघ का ही एक विभाग है। आजीविक या त्रैराशिकों से इसका कुछ भी सम्बन्ध नहीं। (श्र.भ.म./ पृ.२७८-२७९)।

३२

आजीविकों का इतिहास

प्रसंगवश आजीविकों के इतिहास पर प्रकाश डालते हुए मुनि श्री कल्याणविजय जी लिखते हैं—

“अब हम आजीविकों के इतिहास पर दृष्टिपात करेंगे। बौद्ध महावंश में लंका के राजा ‘पांडुकाभय’ के आजीविकों के लिये एक मकान बनवाने का उल्लेख है। यदि महावंशकार का यह कथन ठीक हो तो ई० स० पूर्व पाँचवीं सदी के अंतिम चरण तक आजीविक लंका तक पहुँच गये थे, यही कहना चाहिये।

“उपलब्ध साधनों में आजीविकों के सम्बन्ध में सबसे प्राचीन उल्लेख तो गया के पास बर्बर पहाड़ की एक गुफा की दीवार पर खुदे हुए अशोक के एक लेख में है। इसमें लिखे मुजब यह लेख महाराजा अशोक के राज्य में तेरहवें वर्ष में खोदा गया था। इस लेख का भाव यह है—“राजा प्रियदर्शी ने अपने राज्य के तेरहवें वर्ष में यह गुफा आजीविकों को अर्पण की।”

“दूसरा उल्लेख इसी महाराज अशोक के शासनस्तंभों में के सातवें स्तम्भ पर राज्य के २८वें वर्ष में खुदे हुए लेख में आता है, जो इस प्रकार है—“मैंने योजना

की है कि मेरे धर्म-महामात्र बौद्ध संघ के, ब्राह्मणों के, आजीविकों के, निर्ग्रन्थों के और वास्तविक भिन्नतावाले कुछ पाषण्डों के कार्य में व्याप्त हो जायँगे।

“तीसरा प्राचीन उल्लेख नागार्जुन की गुफा की दीवारों पर खुदे हुए अशोक के पुत्र दशरथ के लेख में आता है, जो इस प्रकार है—‘यह गुफा महाराज दशरथ ने राजगद्दी पर आने के बाद तुरन्त आचन्द्रार्क निवास के लिए सम्मान्य आजीविकों को अर्पण की।’

“पहले जो आजीविकों के पास कालकाचार्य के निमित्तशास्त्र पढ़ने की बात कही गई है, उससे सिद्ध है कि विक्रम-पूर्व प्रथम शताब्दी में दक्षिण भारत में आजीविकों का खासा प्रचार था। आजीविकों का एक विचित्र वृत्तान्त सदजीरो सुगुइर (Sadajiro Suguira) ‘हिन्दू लोजिक ऐज प्रीजर्व इन चाइना एण्ड जापान’ नामक छोटे ग्रन्थ में आता है।

“उपोद्धात के पृष्ठ सोलह पर ग्रन्थकार कहता है—‘चीनी और जापानी ग्रन्थकर्ता बार-बार इन महासम्प्रदायों में (अर्थात् सुप्रसिद्ध छः भारतीय सम्प्रदायों में) दो विशेष सम्प्रदायों का समावेश करते हैं जो ‘निकेन्दब्री’ और ‘अशिविक’ के नाम से पहिचाने जाते हैं और एक दूसरे से बिलकुल मिलते-जुलते हैं। ये दोनों मानते हैं कि पापी जीवन का दण्ड जल्दी या देरी से चुकाना ही पड़ता है और इससे बचना अशक्य होने से जैसे भी हो यह जल्दी ही चुकाना अच्छा है, जिससे कि भावी जीवन आनन्द में निर्गमन हो सके। इस प्रकार इनके विचार तापसिक थे। उपवास, मौन, अचलासन और आकंठ अपने को दबाये रखना ये इनकी तपस्या के बोधक थे। सम्भवतः ये सम्प्रदाय जैन अथवा किसी अन्य हिन्दू सम्प्रदाय की प्रशाखायें थीं।’

“उक्त लेख में उल्लिखित ‘निकेन्दब्री’ और ‘अशिविक’ क्रमशः निर्ग्रन्थव्रती और आजीविक हैं, इसमें कुछ भी संशय नहीं है।

“बृहज्जातक के प्रब्रज्यायोग-प्रकरण में वराहमिहिर ने जो सात भिक्षुवर्ग बताये हैं, उनमें आजीविक भी शामिल हैं।

“विक्रम की सातवीं सदी की कृति निशीथचूर्णि में ‘आजीविक’ शब्द का परिचय देते हुए चूर्णिकार जिनदासगणि महत्तर लिखते हैं—‘आजीविक गोशालक-शिष्य होते हैं, जो पंडरभिक्षुक भी कहलाते हैं।’ ओषधनिर्युक्ति-भाष्यकार भी आजीविकों का पांडुरंग नाम से व्यवहार करते हैं, जैसा कि पहले बताया जा चुका है।

“अनुयोगद्वार चूर्णि में ‘पंडरंग’ शब्द का पर्याय बताते हुए चूर्णिकार कहते हैं—‘पंडरंगा सा (सस) रक्खा’ अर्थात् ‘पंडरंग’ का अर्थ ‘सरजस्क’ भिक्षु है।

“दसवीं सदी के प्रसिद्ध जैन टीकाकार आचार्य शीलांक ने एकदण्डियों को शिवभक्त बताया है।” (श्र.भ.म./पृ. २७९-२८०)।

“ग्यारहवीं शताब्दी के टीकाकार भट्टोत्पल ने बृहज्जातक की टीका में ‘आजीविकों’ का अर्थ ‘एकदण्डी’ किया है और उन्हें ‘नारायण’ का भक्त लिखा है।

“उपर्युक्त प्रमाणों और नामोल्लेखों से जो निष्कर्ष निकलता है, उसका सार यह है कि बृहज्जातक के उल्लेख से पाया जाता है कि वराहमिहिर के समय अर्थात् विक्रम की छठी शताब्दी के उत्तरार्ध तक आजीविक विद्यमान थे और वे ‘आजीविक’ नाम से ही पहचाने जाते थे।

“निशीथचूर्णि और ओघनिर्युक्ति के भाष्यकार के समय विक्रम की सातवीं शताब्दी में आजीविक ‘गोशालकशिष्य’ के नाम से प्रसिद्ध होने पर भी ‘पाण्डुरभिक्षु’ अथवा ‘पाण्डुरंगभिक्षु’ कहलाने लगे थे।

“अनुयोगद्वारचूर्णि में ‘पंडुरंग’ शब्द का पर्याय ‘सरजस्क’ लिखा है। इससे हमें उनका ‘पाण्डुरंग’ यह नाम प्रचलित होने का कारण भी समझ में आ जाता है। आजीविक भिक्षु नग्न रहते थे, इस कारण संभव है कि शीतनिवारणार्थ शैव संन्यासियों की तरह इन्होंने भी अपने शरीर पर भस्म या किसी तरह की सफेद धूल (रजस्) लगाना शुरू कर दिया हो और इससे वे पांडुरंग (भूरे रंगवाले) या ‘पांडुराङ्ग’ (धूसर शरीरवाले) कहलाने लगे हों। कुछ भी हो, पर यह तो निश्चित है कि इन नामों के साथ ही आजीविक नये धर्म-सम्प्रदायों के निकट पहुँच चुके थे और इसका परिणाम वही हुआ जो होना चाहिये था। विक्रम की आठवीं सदी में पहुँच कर आजीविक अपना अस्तित्व खो बैठे। वे हमेशा के लिए शैव और वैष्णव सम्प्रदायों में मिलकर उन्हीं नामों से प्रसिद्ध हो गये। आचार्य शीलाङ्क इनको शैव और भट्टोत्पल नारायणभक्त बताते हैं, उसका यही कारण है।

“दक्षिण भारत में तथा अन्यत्र आज तक निरंजनी आदि नग्न संन्यासियों की जमातें जो दृष्टिगोचर होती हैं, हमारे ख्याल से ये उसी नामशेष आजीविक संप्रदाय के अवशेष हैं।

“अब हम एक शंका का निराकरण कर के इस लेख को पूरा करेंगे।

“विक्रम की आठवीं शताब्दी में ही आजीविक सम्प्रदाय नामशेष हो गया था’ हमारे इस कथन पर प्रश्न हो सकता है कि यदि आठवीं शताब्दी में ही आजीविकों की समाप्ति हो गई होती, तो विक्रम की तेरहवीं सदी के चौथे और चौदहवीं सदी के पहले चरण में चोलराजा ‘राज’ के द्वारा पेरुमाल के मन्दिर की दीवारों पर खुदवाये

गये संवत् १२९५-१२९६, १३०० और १३१६ के शिलालेखों में आजीविकों पर कर लगाने का उल्लेख कैसे होता?

“उत्तर यह है कि उक्त लेखों में आजीविकों पर कर लगाने का जो उल्लेख है, वह गोशालकशिष्य आजीविकों के लिये नहीं, किन्तु आजीविकों के सादृश्य से पिछले समय में ‘आजीविक’ नामप्राप्त ‘दिगम्बर’ जैनों के लिये है।

“दक्षिण भारत आजीविक और दिगम्बरजैन दोनों ही का मुख्य विहारक्षेत्र था। यही नहीं, दोनों ही सम्प्रदायवाले दिगम्बर और अवैदिक भिक्षु थे। इस कारण सर्वसाधारण में उन दोनों का भेद समझना सहज नहीं था। लोग आजीविकों को दिगम्बर समझ लेते थे और दिगम्बरों को आजीविक भी। परन्तु जब से खरे आजीविक आजीविक मिटकर पंडुरंगादि नामों से प्रसिद्ध हो वैष्णवादि सम्प्रदायों में मिल गये, तब से आजीविक नाम केवल दिगम्बरजैनों के लिये ही रह गया। धनञ्जय दिगम्बरजैनों के आजीविक नाम से प्रसिद्ध होने की जो बात कहता है, उसका कारण भी इससे समझ में आ जाता है, क्योंकि उस समय से बहुत पहले ही वास्तविक आजीविकों का अस्तित्व मिट चुका था और नग्न भिक्षुओं के लिये सुप्रसिद्ध ‘आजीविक’ नाम का प्रयोग नग्न भिक्षुओं के नाते दिगम्बरजैन साधुओं के लिये रूढ़ हो गया था। राजा ‘राज’ के लेखों में दिगम्बरजैनों के लिये जो ‘आजीविक’ शब्द प्रयुक्त हुआ है, उसका यही कारण है।” (श्र.भ.म./पृ.२८०-२८२)।

मुनि जी के कथन का सार यह है कि डॉ० हार्नले, कोषकार हलायुध तथा चोलराजा के राज्य की जनता ने नग्नता की समानता के कारण दिगम्बरसाधुओं को आजीविकसाधु मान लिया, जो गलत था। वे सर्वथा भिन्न-भिन्न सम्प्रदायों के साधु थे। मुनि जी ने आजीविक साधुओं के लक्षण इस प्रकार बतलाये हैं—

१. वे मक्खलिपुत्र गोशालक के अनुयायी थे।
२. नग्न रहते थे, एक दण्ड रखते थे और शरीर पर भस्म लगाते थे।
३. पाणिपात्र में भोजन लेकर ग्रहण करते थे एवं केशलोच भी करते थे, किन्तु मयूरपिच्छी नहीं रखते थे।^{६८}
४. शिवभक्त एवं नारायणभक्त थे।
५. साहित्य और शिलालेखों में दिगम्बरों और आजीविकों का अलग-अलग उल्लेख हुआ है।

६८. श्रमण भगवान् महावीर / पृ. २५९-२७५ तथा पं. कैलाशचन्द्र शास्त्री : जैन साहित्य का इतिहास / पूर्वपीठिका / पृ. ४६३।

आजीविक साधु की भी 'क्षपणक' संज्ञा संभव नहीं

चूँकि 'आजीविक' बहुत प्राचीन सम्प्रदाय था और इस सम्प्रदाय के साधु भी नग्न रहते थे, इसलिए डॉ० हार्नले के समान कोई आधुनिक विद्वान् यह भी कह सकता है कि 'महाभारत' आदि में 'क्षपणक' शब्द का प्रयोग आजीविक साधुओं के लिए किया गया है। किन्तु यह कथन सर्वथा असंगत होगा। इसके निम्नलिखित कारण हैं—

१. 'क्षपणक' शब्द नग्न मुनिमात्र का वाचक नहीं है, बल्कि सम्प्रदायविशेष के अर्थात् दिगम्बरजैन सम्प्रदाय के नग्न मुनि का वाचक है। श्वेताम्बरग्रन्थों में आजीविक साधुओं को 'आजीविक' और 'पाण्डुरंग' (भस्मलिप्त श्वेतांगवाला) शब्दों से उल्लिखित किया गया है, 'बोटिक' या 'क्षपणक' शब्द से नहीं। संस्कृतसाहित्य में 'क्षपणक' को 'जिन' या 'अरहन्त' का अनुयायी, मयूरपिच्छीधारी, 'धर्मवृद्धि' का आशीर्वाद देनेवाला आदि विशेषणों के साथ वर्णित किया गया है, जो दिगम्बरजैन साधु के विशिष्ट लक्षण हैं। अतः 'क्षपणक' शब्द दिगम्बरजैन मुनि के ही अर्थ में प्रयुक्त हुआ है।

हाँ, 'आजीविक' शब्द का प्रयोग अवश्य, नाग्न्य-सादृश्य के कारण भ्रमवश चोलराजा (१३-१४वीं शताब्दी ई०) के शिलालेखों में दिगम्बरजैन साधुओं के लिए किया गया है, किन्तु आजीविकों के लिए क्षपणक, बोटिक या निर्ग्रन्थ शब्द का प्रयोग कहीं भी नहीं हुआ है। यदि एक भी ग्रन्थ या अभिलेख में 'पाण्डुरंग' (भस्मलिप्त श्वेतशरीर) तथा 'एकदण्डधारी' विशेषणों के साथ किसी नग्न साधु के लिए 'क्षपणक' शब्द का प्रयोग मिल जाय, तो माना जा सकता है कि 'क्षपणक' शब्द नग्नमुनिमात्र का वाचक है और उससे 'आजीविक' साधु का भी बोध होता है। इसी प्रकार एक भी ग्रन्थ में 'रजोहरण' और 'मुखवस्त्रिका' के चिह्नों के साथ 'क्षपणक' शब्द का व्यवहार उपलब्ध होने पर यह स्वीकार किया जा सकता है कि 'क्षपणक' शब्द श्वेताम्बर-जिनकल्पी मुनि का भी बोधक है। तथैव एक भी ग्रन्थ में 'धर्मलाभ' के आशीर्वाचन सहित किसी नग्न मुनि के लिये 'क्षपणक' शब्द प्रयुक्त हुआ दिखाई दे, तो यह मानने में संकोच नहीं हो सकता कि यापनीयसाधु भी क्षपणक कहलाते थे। किन्तु किसी भी ग्रन्थ या शिलालेख में उपर्युक्त लक्षणों के साथ 'क्षपणक' शब्द का प्रयोग उपलब्ध नहीं होता। सर्वत्र 'नग्न', 'आर्हत', 'जिनानुयायी' 'मयूरपिच्छधारी' एवं 'धर्मवृद्धि' का आशीर्वाद देनेवाला इन विशेषणों में से ही किसी विशेषण के साथ 'क्षपणक' शब्द का प्रयोग मिलता है। अतः यह निर्विवादरूप से सिद्ध होता है कि 'क्षपणक' शब्द से सर्वत्र दिगम्बरजैन मुनि का ही वर्णन किया गया है, 'आजीविक' आदि का नहीं।

३४

‘निर्ग्रन्थ’ शब्द केवल दिगम्बर जैन साधुओं के लिए प्रसिद्ध

‘क्षपणक’ शब्द के समान ‘निर्ग्रन्थ’ शब्द का प्रयोग भी दिगम्बरजैन-साहित्य वैदिकसाहित्य, बौद्धसाहित्य, संस्कृतसाहित्य, शब्दकोशों और अभिलेखों में केवल दिगम्बरजैन मुनियों के लिए हुआ है। इसका सप्रमाण प्रतिपादन द्वितीय अध्याय के षष्ठ प्रकरण में किया गया है तथा प्रस्तुत अध्याय में भी इसके प्रमाण विस्तारपूर्वक द्रष्टव्य हैं।



द्वितीय प्रकरण

बौद्धसाहित्य में दिगम्बरजैन मुनि

१

प्राचीन बौद्धसाहित्य में दिगम्बरजैन मुनियों का उल्लेख

श्वेताम्बरमुनि श्री कल्याणविजय जी ने लिखा है कि “बौद्धों के प्राचीन शास्त्रों में नग्न जैन साधुओं का कहीं उल्लेख नहीं है और विसाखावत्थु, धम्मपद-अट्टकथा, दिव्यावदान आदि में जहाँ नग्न निर्ग्रन्थों का उल्लेख मिलता है, वे ग्रन्थ उस समय के हैं, जब कि यापनीयसंघ और आधुनिक सम्प्रदाय तक प्रकट हो चुके थे। डायोलोग्स ऑव् बुद्ध नामक पुस्तक के ऊपर से बौद्ध ग्रन्थों में वर्णित कुछ आचार भगवान् महावीर और महात्मा बुद्ध नामक पुस्तक (पृष्ठ ६१-६५) में दिये गये हैं, जिनमें ‘नग्न’ रहने और हाथ में खाने का भी उल्लेख है। पुस्तक के लेखक बाबू कामताप्रसाद की दृष्टि में ये आचार प्राचीन जैन साधुओं के हैं, परन्तु वास्तव में यह बात नहीं है। मज्झिमनिकाय में साफ-साफ लिखा गया है कि ये आचार आजीविक संघ के नायक गोशालक तथा उनके मित्र नन्दवच्छ और किस्ससंकिच्च के हैं, जिनका बुद्ध के समक्ष निगंथश्रमण सच्चक ने वर्णन किया था।”^{६९}

यद्यपि मुनि जी का यह कथन सत्य है कि बाबू कामताप्रसाद जी ने उपर्युक्त पुस्तक में जिन आचारों को जैन साधुओं का आचार बतलाया है, वे वस्तुतः आजीविक साधुओं के आचार हैं,^{७०} तथापि यह कथन सत्य नहीं है कि प्राचीन बौद्ध शास्त्रों में नग्न जैन साधुओं का कहीं उल्लेख नहीं है। सर्वप्रथम तो प्राचीन बौद्धसाहित्य में अनेकत्र निगण्ठनातपुत्त या निगण्ठनाटपुत्त (निर्ग्रन्थ ज्ञातपुत्र) के नाम से भगवान् महावीर की तथा निगण्ठ शब्द से उनके अनुयायी साधुओं की चर्चा की गई है और ‘निर्ग्रन्थ’ शब्द ‘नग्न’ या ‘अचेलक’ के अर्थ में शास्त्रप्रसिद्ध और लोकप्रसिद्ध है, यह द्वितीय अध्याय के षष्ठ प्रकरण में सप्रमाण सिद्ध किया जा चुका है। इसके अतिरिक्त अंगुत्तरनिकाय नामक प्राचीन (ईसापूर्ववर्ती) बौद्धग्रन्थ में निर्ग्रन्थों को अहिरिका (अहीक = निर्लज्ज) कहकर उनके नग्न रहने का द्योतन किया गया है। इस प्रकार बौद्धों के प्राचीन साहित्य में सर्वत्र नग्न जैन मुनियों का ही उल्लेख है, श्वेताम्बर जैन मुनियों

६९. श्रमण भगवान् महावीर / पृ. ३३०-३३१।

७०. “सेय्यथीदं-नन्दो वच्छो, किंसो सङ्किच्चो, मक्खलि गोसालो—एते हि, भो गोतम! अचेलका, मुत्ताचारा, हत्थापलेखना ---।” महासच्चकसुत्तं / मज्झिमनिकाय / १. मूलपण्णासक / पृ. २९२ / बिहार राजकीय पालि प्रकाशन मण्डल।

की चर्चा तो एक ही स्थान पर है। आगे बौद्धसाहित्य के उन प्रसंगों को उपस्थित किया जा रहा है, जिनमें निर्ग्रन्थों और उनके नग्नत्व की चर्चा की गई है।

१.१. अंगुत्तरनिकाय में निर्ग्रन्थों की नग्नता का द्योतन

प्राचीन बौद्धसाहित्य 'त्रिपिटक' नाम से प्रसिद्ध है। २९ वर्ष ईसा पूर्व श्रीलंका में राजा वट्टगामिनी के समय में प्रथम बार त्रिपिटकों को लिपिबद्ध किया गया।^{७१} 'अंगुत्तरनिकाय' त्रिपिटकों में सुत्तपिटक का चौथा ग्रन्थ है। अतः उसकी प्राचीनता प्रामाणित है। उसमें एक 'निगण्ठसुत्त' है, जिसमें निर्ग्रन्थों के दस असद्धर्मों (दोषों) का वर्णन किया गया है। उनमें एक निर्लज्जता नामक असद्धर्म भी बतलाया गया है। सुत्त का वह अंश इस प्रकार है—

“दसहि भिक्खवे असद्धम्मेहि समन्नागता निगण्ठा। कतमेहि दसहि? अससद्धा भिक्खवे निगण्ठा। दुस्सीला भिक्खवे निगण्ठा। अहिरिका भिक्खवे निगण्ठा। ---” (अंगुत्तरनिकाय / भा.४ / आकङ्खवग्गो / निगण्ठसुत्त)।

अनुवाद—“भिक्षुओ! निर्ग्रन्थों में दस असद्धर्म हैं। कौन से दस असद्धर्म? भिक्षुओ! निर्ग्रन्थ श्रद्धारहित हैं। भिक्षुओ! निर्ग्रन्थ दुःशील हैं। भिक्षुओ! निर्ग्रन्थ अह्रीक (निर्लज्ज) हैं।”

यहाँ अह्रीकता (निर्लज्जता) नामक असद्धर्म का उल्लेख कर निर्ग्रन्थों की नग्नता का द्योतन किया गया है, क्योंकि लोक में नग्न रहना निर्लज्जता का लक्षण माना गया है। श्वेताम्बर-साहित्य में भी कहा गया है—

“तिहिं ठाणेहिं वत्थं धरेज्जा। तं जहा-हिरिपत्तियं, दुगुंछापत्तियं, परीसह-पत्तियं।” (स्था.सू./३/३/३४७/पृ.१५०)।

अनुवाद—“तीन कारणों से वस्त्रधारण करना चाहिए : ही (लज्जा) का अनुभव होने पर, जुगुप्सा की प्रतीति होने पर तथा परीषह-सहन की सामर्थ्य न होने पर।”

प्रवचनपरीक्षा नामक श्वेताम्बरग्रन्थ में दिगम्बर मुनियों की निन्दा करते हुए कहा गया है—“वस्त्राभावे च रासभादिवदविशेषेण लज्जाराहित्यं स्यात्। (१/२/३०/पृ.९१)। अर्थात् वस्त्रधारण न करने पर गर्दभ आदि पशुओं के समान निर्लज्जता प्रकट होती है।”

इसी कारण बौद्धसाहित्य और श्वेताम्बरसाहित्य में दिगम्बरजैन मुनियों को अह्रीक कहा गया है। बौद्ध वंशसाहित्य के दाठावंस (१३वीं शताब्दी ई०) में भी निगण्ठों

७१. जातकपालि / भा.२ / प्रस्ता./ पृ.११ / विपश्यना विशोधन विन्यास, इगतपुरी, १९९८ ई०।

को अह्नीक कहे जाने का उदाहरण मिलता है। यथा—

इमे अहिरिका सव्वे सद्धादिगुणवज्जिता ।
थद्धा सठा च दुप्पञ्चा सग्गमोक्खविबन्धका ॥ ८८ ॥

इति सो चिन्तयित्वाण गुहसीवो नराधिपो ।
पव्वाजेसि सकारट्ठा निगण्ठे ते असेसके ॥ ८९ ॥^{७२}

बौद्ध नैयायिक कमलशील ने भी जैनों का 'अह्नीक' नाम से उल्लेख किया है—“अह्नीकादयश्चोदयन्ति” (स्याद्वादपरीक्षा प्र./ तत्त्वसंग्रह/पृ. ४८६)। 'वाचस्पति अभिधानकोष' में भी 'अह्नीक' शब्द का अर्थ 'दिगम्बरजैन मुनि' बतलाया गया है—“अह्नीकः क्षपणके तस्य दिगम्बरत्वेन लज्जाहीनत्वात् तथात्वम्।” 'हेतुविन्दुतर्कटीका' में जैनमुनि के धर्म का निर्देश 'क्षपणक' और 'अह्नीक' नाम से हुआ है तथा श्वेताम्बराचार्य श्री वादिदेवसूरि ने अपने 'स्याद्वादरत्नाकर' ग्रन्थ (पृ. २३०) में दिगम्बर जैनों का उल्लेख 'अह्नीक' शब्द से किया है।^{७३}

इन उदाहरणों से स्पष्ट हो जाता है कि अंगुत्तरनिकाय में नग्नत्वजन्य निर्लज्जता-रूप असद्धर्म (बौद्धों के अनुसार) के कारण ही निर्ग्रन्थों को अहिरिका (अह्नीक) कहा गया है। श्वेताम्बर मुनियों को 'अहिरिका' कहे जाने का कोई कारण ही नहीं है। अतः अंगुत्तरनिकाय जैसे प्राचीन बौद्धग्रन्थ में भी दिगम्बरजैन मुनियों के लिए ही 'निर्ग्रन्थ' शब्द का प्रयोग हुआ है। प्राचीन बौद्धसाहित्य में निर्ग्रन्थों के लिए अचेलक शब्द का भी व्यवहार हुआ है। अंगुत्तरनिकाय (भा.३) के 'छळभिजातिसुत्त' में पूरण कस्सप ने अचेलक साधुओं के श्वेतवस्त्रधारी श्रावकों को हरिद्राभिजातीय बतलाया है। ये अचेलक साधु आजीविक सम्प्रदाय के नहीं थे, क्योंकि आजीविकों को पूरण कस्सप ने उसी सुत्त में शुक्ल और परमशुक्ल अभिजातियों में वर्गीकृत किया है। अतः सिद्ध है कि उक्त अचेलक साधु निर्ग्रन्थ ही थे। तथा अंगुत्तरनिकाय (भा.३) के उसी 'छळभिजातिसुत्त' में श्वेतवस्त्रधारी श्रावक अचेलकों के श्रावक कहे गये हैं—“गिही ओदातवसना अचेलसावका” और दीघनिकाय (भा.३) के 'पासादिकसुत्त' में उन्हें निगण्ठनाटपुत्त का श्रावक बतलाया गया है—“निगण्ठस्स नाटपुत्तस्स सावका गिही ओदातवसना।” इससे भी सिद्ध है कि प्राचीन बौद्धसाहित्य में निर्ग्रन्थ साधुओं को नग्न ही माना गया है। ये इस बात के प्रमाण हैं कि प्राचीन बौद्धसाहित्य (त्रिपिटकों) में प्रचुरता से नग्न जैन साधुओं का उल्लेख मिलता है। अतः मुनि श्री कल्याणविजय जी का यह दावा मिथ्या सिद्ध हो जाता है कि बौद्धों के प्राचीन शास्त्रों में नग्न जैन

७२. कामताप्रसाद जैन : दिगम्बरत्व और दिगम्बर मुनि/ पा.टि./ पृ. ५१ से उद्धृत।

७३. देखिए , कामताप्रसाद जैन : दिगम्बरत्व और दिगम्बर मुनि/ पृ. ४५।

साधुओं का कहीं उल्लेख नहीं है। सत्य यह है कि सम्पूर्ण बौद्धसाहित्य में 'निर्ग्रन्थ' शब्द से श्वेताम्बर साधुओं का उल्लेख कहीं भी नहीं मिलता। उनका उल्लेख 'श्वेतवस्त्र' (श्वेतपट) शब्द से हुआ है। इसका प्रमाण नीचे दिया जा रहा है।

१.२. 'अपदान' ग्रन्थ में श्वेतवस्त्र मुनियों का उल्लेख

सुत्तपिटक में पाँच निकाय हैं: दीघनिकाय, मज्झिमनिकाय, संयुत्तनिकाय, अङ्गुत्तर-निकाय और खुद्दकनिकाय। श्री भरतसिंह उपाध्याय ने पालिसाहित्य का इतिहास नामक ग्रन्थ में बतलाया है कि खुद्दकनिकाय प्रथम चार निकायों के बाद का प्रणयन या संकलन है (पृ. २००, २०२)। इस निकाय में सम्राट् अशोक के समय में बुद्धपरिनिर्वाण के २३६ वर्ष बाद पाटलिपुत्र में हुई तृतीय संगीति तक परिवर्धन होते रहे (पृ. ८५, २०२)। खुद्दकनिकाय में १५ ग्रन्थ हैं। इनमें भाषा और विषय दोनों की दृष्टि से धम्मपद, सुत्तनिपात, उदान और इतिवुत्तक कालक्रम की अपेक्षा पूर्ववर्ती हैं (पृ. २०३)। इनके बाद जातक और धेरधेरी गाथाओं का स्थान आता है (पृ. २०४)। तत्पश्चात् कालक्रम में बुद्धवंस, चरियापिटक, निदेस, अपदान, पटिसम्भदामग्ग, विमानवत्थु, पेतवत्थु एवं खुद्दकपाठ का स्थान है (पृ. २०७)। किन्तु इनमें जो अधिक उत्तरकालीन हैं, वे भी अशोक के काल (ई० पू० ३री शती) से उत्तरवर्ती नहीं हैं (पृ. २०४)। इनका लिपिबद्धीकरण अवश्य ईसापूर्व २९ में हुआ है।

उपर्युक्त ग्रन्थ के अनुसार अपदान (संस्कृत 'अवदान') अशोककालीन रचना है (पृ. २०६)। "यह खुद्दकनिकाय के उत्तरकालीन ग्रन्थों में से है। इसमें बौद्ध भिक्षुओं और भिक्षुणियों के पूर्वजन्म के महान् कृत्यों का वर्णन है। जातक के समान इसकी भी कहानी के दो भाग होते हैं: एक अतीत जन्मसम्बन्धी और दूसरा वर्तमान (प्रत्युत्पन्न) जीवन-सम्बन्धी। अपदान दो भागों में विभक्त है: धेर अपदान और धेरी अपदान। धेर अपदान में ५५ वर्ग हैं और प्रत्येक वर्ग में १० अपदान हैं। धेरी अपदान में ४ वर्ग हैं और प्रत्येक वर्ग में १० अपदान हैं। इसी ग्रन्थ पर संस्कृत बौद्धसाहित्य का अवदानसाहित्य अधिकांशतः आधारित है।" (पृ. २९८)।

अपदान ग्रन्थ के धेरी अपदान भाग में द्वितीय वर्गान्तर्गत तृतीय अपदान में भद्रा कुण्डलकेसी नामक युवती की प्रव्रज्याकथा का वर्णन है, जिसमें बतलाया गया है कि श्रेष्ठिपुत्री भद्रा, सत्तुक नामक एक चोर युवक से विवाह कर लेती है। लेकिन वह चोर युवक भद्रा की हत्या कर उसके आभूषण लेकर भाग जाना चाहता है। इसके लिए वह बहाना बनाकर भद्रा को एक पर्वत पर ले जाता है। किन्तु, वहाँ भद्रा को उसकी दुरभिसन्धि का पता चल जाता है। अतः वह स्वयं ही उसे पर्वत से ढकेलकर मार डालती है और श्वेतवस्त्र-मुनियों के पास जाकर प्रव्रज्या ग्रहण कर

लेती है। प्रव्रज्या-ग्रहण करने का वर्णन निम्नलिखित गाथाओं में किया गया है—

तदाहं पातयित्वान गिरिदुग्गमिह सत्तुकं।
सन्तिकं सेतवत्थानं उपेत्वा पब्बजिं अहं॥ ३६॥

सण्डासेन च केसे मे लुञ्जित्वा सब्बसो तदा।
पब्बजित्वान समयं आचिक्खिसु निरन्तरं॥ ३७॥

अनुवाद—“तब मैंने दुर्गम पर्वत पर से सत्तुक (नामक चोर पति) को नीचे ढकेलकर मार डाला और श्वेतवस्त्रधारियों के पास जाकर प्रव्रजित हो गयी। उन्होंने सँड़सी से मेरे सभी बालों का लुंचन कर मुझे प्रव्रज्या प्रदान की, पश्चात् निरन्तर धर्मोपदेश देने लगे।”

यहाँ द्रष्टव्य है कि श्वेताम्बर साधुओं को केवल ‘श्वेतवस्त्रधारी’ (सेतवत्थानं=श्वेतवस्त्राणाम्, श्वेतानि वस्त्राणि येषां तेषाम्) शब्द से अभिहित किया गया है। उसके साथ ‘निगण्ठ’ विशेष्य का प्रयोग नहीं है। इससे सिद्ध है कि प्राचीन बौद्धसाहित्य में श्वेताम्बर मुनि ‘श्वेतवस्त्र’ या ‘श्वेतपट’ शब्द से प्रसिद्ध थे, ‘निगण्ठ’ (निर्ग्रन्थ) शब्द से नहीं। ‘निगण्ठ’ शब्द दिगम्बरजैन मुनियों के लिए ही प्रयुक्त होता था, जैसा कि उनके लिए अहिरिक (अहीक) शब्द के प्रयोग से स्पष्ट है।

श्वेताम्बर मुनियों के लिए ‘श्वेतवस्त्र’ या ‘श्वेतपट’ नाम के प्रयोग की परम्परा उनकी उत्पत्ति के समय से ही देखने को मिलती है, जिसके प्रथम दर्शन प्राचीन बौद्धसाहित्य के उपर्युक्त ग्रन्थ में होते हैं।

२

बुद्धकालीन छह अन्यतीर्थिकों में भगवान् महावीर

गौतम बुद्ध के समय में बौद्धसम्प्रदाय के अतिरिक्त छह अन्य सम्प्रदाय भी थे, जिनके प्रवर्तकों के नाम बौद्धग्रन्थ ‘दीघनिकाय’ में इस प्रकार बतलाये गये हैं—

“एकमन्तं निसिन्नो खो सुभदो परिव्वाजको भगवन्तं एतदवोच—“येमे, भो गोतम, समणब्राह्मणा सङ्घिनो गणिनो गणाचरिया जाता यसस्सिनो तित्थकरा साधुसम्मता बहुजनस्स, सेय्यथिदं-पूरणो कस्सपो, मक्खलि गोसालो, अजितो केशकम्बलो, पकुधो कच्चायनो, सज्जयो बेलट्टपुत्तो, निगण्ठो नाटपुत्तो, सब्बेते सकाय पटिञ्जाय अब्भञ्जिसु? सब्बेव न अब्भञ्जिसु ? उदाहु एकच्चे अब्भञ्जिसु एकच्चे न अब्भञ्जिसु’ ति?” (सुभदपरिव्वाजकवत्थु / महापरिनिब्बानसुत्त / दीघनिकायपालि / भा.२ / पृ. ४०२)।

अनुवाद—“एक ओर बैठे उस सुभद्र परिव्राजक ने भगवान् से प्रश्न किया— ‘भो गौतम! सभी श्रमण-ब्राह्मण, संघी, गणी, गणाचार्य, ज्ञानी, यशस्वी, तीर्थकर, समाज में सम्मानित, जैसे पूरण काश्यप, मक्खलि गोसाल, अजित केशकम्बल, प्रकुध

कात्यायन, संजय वेलट्टिपुत्र एवं निगण्ठनाटपुत्र, क्या ये सभी अपने उपदेश में बताये गये (प्रतिज्ञात) सिद्धान्तों को स्वयं साक्षात्कार करके जानते हैं? या सभी नहीं जानते? या इनमें से कुछ जानते हैं, कुछ नहीं जानते?"

इन छह सम्प्रदायप्रवर्तकों में निर्ग्रन्थसम्प्रदाय के प्रणेता तीर्थंकर महावीर का उल्लेख निगण्ठनाटपुत्र नाम से किया गया है। उनके नाम में निगण्ठ (निर्ग्रन्थ) शब्द का प्रयोग सूचित करता है कि वे बौद्धसम्प्रदाय में अपरिग्रहात्मक अचेलधर्म के प्रणेता के रूप में प्रसिद्ध थे।

३

अजातशत्रु के एक मंत्री द्वारा निगण्ठनाटपुत्र की प्रशंसा

एक बार पूर्णिमा की रात्रि में राजा अजातशत्रु अपने अमात्यों के साथ छत पर बैठा हुआ था। उसने इच्छा प्रकट की, कि इस समय किसी श्रमण या ब्राह्मण से धर्मचर्चा की जाय, जिससे चित्त प्रमुदित हो उठे? तब उसके किसी मंत्री ने पूर्णकाश्यप की प्रशंसा की, किसी ने मक्खलि गोसाल की, किसी ने अजितकेशकम्बल की, किसी ने प्रकृध कात्यायन की, किसी ने सञ्जयवेलट्टिपुत्र की, किसी ने निगण्ठनाटपुत्र की और जीवक कौमारभृत्य (वैद्य) ने गौतमबुद्ध की। निगण्ठनाटपुत्र (भगवान् महावीर) की प्रशंसा करने वाला मंत्री कहता है—

“अयं, देव, निगण्ठो नाटपुत्तो सङ्घी चैव गणी च गणाचरियो च, जातो, यसस्सी, तित्थकरो, साधुसम्मतो बहुजनस्स, रत्तञ्जू, चिरपब्बजितो, अद्दगतो, वयोअनुप्पत्तो। तं देवो निगण्ठं नाटपुत्तं पयिरुपासतु। अप्पेव नाम देवस्स निगण्ठं नाटपुत्तं पयिरुपासतो चित्तं पसीदेय्या” ति। (सामञ्जफलसुत्तं / छ अञ्जतित्थिया / दीघनिकाय-पालि / भा.१ / पृ. ५३)।

अनुवाद—“देव! ये निगण्ठनाटपुत्र आजकल अपने बृहत् शिष्यसंघ से घिरे रहते हैं, ये गणी हैं, गणाचार्य हैं, तत्त्वज्ञानी हैं, लोकविख्यात हैं, तीर्थंकर (स्वतंत्र मत के प्रतिपादक) हैं, समाज में प्रतिष्ठित हैं, चिर प्रव्रजित हैं और अन्य आचार्यों से वृद्ध भी हैं। अच्छा हो कि देव! उनके पास चलकर धर्मचर्चा करें। हो सकता है, इस धर्मचर्चा से आपका मन प्रमुदित हो उठे।”

४

बुद्धेतर छह तीर्थिकों में निर्ग्रन्थ के आचार का निरूपण

अजातशत्रु उपर्युक्त छह आचार्यों को छोड़कर गौतम बुद्ध के पास जाता है और उनसे श्रामण्य का फल पूछता है। बुद्ध कहते हैं कि इस प्रश्न का उत्तर तुमने किसी

अन्य श्रमण-ब्राह्मण से पूछा है? तब अजातशत्रु उपर्युक्त छह आचार्यों के मत का निरूपण करता है। वह बतलाता है कि पूरण काश्यप अक्रियवादी है, क्योंकि वह मानता है कि हिंसा, असत्य भाषण, चोरी, परस्त्रीगमन आदि करने-कराने से न कोई पाप होता है, न दान, यज्ञ आदि करने से कोई पुण्य। मक्खलिगोसाल अहेतुवादी है। वह कहता है कि प्राणियों के सुख-दुःख का कोई कारण नहीं है। वे भाग्य या संयोग से ही हुआ करते हैं। अजितकेशकम्बल उच्छेदवादी है। उसकी मान्यता है कि न कोई पुण्य होता है, न पाप, न उनका कोई अच्छा-बुरा फल होता है, न स्वर्ग है, न नरक, न आत्मा, न मोक्ष। देहपात के बाद सब नष्ट हो जाता है। मरने के बाद कुछ भी नहीं रहता। प्रकृथ कात्यायन अकृतवाद का प्रणेता है। वह मानता है कि संसार के पदार्थ अचल और निष्क्रिय हैं। वे किसी को सुख-दुःख उत्पन्न करने में समर्थ नहीं हैं। संजयवेलट्टिपुत्त अनिश्चयवादी है। परलोक के विषय में पूछने पर वह कहता है—“यदि मैं समझूँ कि परलोक है, तभी न मैं आपको बताऊँ कि परलोक है। परन्तु मैं ऐसा भी नहीं कहता, मैं वैसा भी नहीं कहता, मैं अन्यथा (दूसरी तरह से) भी नहीं कहता, मैं यह भी नहीं कहता कि यह नहीं है, मैं यह भी नहीं कहता कि यह नहीं नहीं है। परलोक नहीं है, परलोक है भी और नहीं भी, परलोक न है, न नहीं है।” (सामञ्जफलसुत्त / छ तित्थियवादा / दीघनिकायपालि/ भा.१/ पृ. ५७-६५)।

इन पाँच दार्शनिकों के मतों का निरूपण करने के बाद राजा अजातशत्रु गौतम बुद्ध से कहता है कि इसी प्रकार एक बार मैंने निर्गठनाटपुत्त के पास जाकर श्रमणभाव के पालन का फल पूछा। तब वे बोले—“इध, महाराज! निगण्ठो चातुयामसंवरसंवृतो होति। कथं च, महाराज! निगण्ठो चातुयामसंवरसंवृतो होति? इध, महाराज! निगण्ठो सब्बवारिवारितो च होति, सब्बवारियुत्तो च, सब्बवारिधुत्तो च, सब्ब-वारिफुटो च। एवं खो, महाराज! निगण्ठो चातुयामसंवरसंवृतो होति। यतो खो, महाराज! निगण्ठो एवं चातुयामसंवरसंवृतो होति, अयं वुच्चति, महाराज! निगण्ठो गतत्तो च यतत्तो च ठितत्तो चा ति।” (सामञ्जफलसुत्त / छ तित्थियवादा / दीघनिकायपालि/ भा. १/पृ.६३)।

अनुवाद—“महाराज! निर्ग्रन्थ (जैन साधु) चार संवरों (संयमों) से संवृत (संयत) रहता है। महाराज! निर्ग्रन्थ चार संवरों से संवृत कैसे रहता है? महाराज! निर्ग्रन्थ १. जल के व्यवहार का अधिक से अधिक वारण करता है (ताकि जल में रहने वाले सूक्ष्म जीवों का हनन न हो), २. सभी प्रकार के पापों को धो डालने में तत्पर रहता है, ३. सभी प्रकार के पापों के निवारण से धुतपाप (पापरहित) होता है और ४. भविष्य में होने वाले पापों के निवारण में लगा रहता है। महाराज! इस प्रकार

निर्ग्रन्थ चार संवनों से संवृत रहता है। इसीलिए लोक में निर्ग्रन्थ को संसार के विषयों का अनिच्छुक (गतत्तो), संयमी (यतत्तो) और स्थिरवृत्ति (ठितत्तो) कहा जाता है।”

५

तीर्थंकर महावीर की 'निर्ग्रन्थ' संज्ञा क्यों?

उपर्युक्त सात सम्प्रदायों के प्रणेताओं में पाँच नग्न नहीं रहते थे, इसलिए वे निर्ग्रन्थ नाम से प्रसिद्ध नहीं हुए। मक्खलिगोसाल (आजीविक सम्प्रदाय का प्रवर्तक) और तीर्थंकर महावीर नग्न रहते थे, तथापि मक्खलिगोसाल अहेतुवादी था अर्थात् वह मानता था कि प्राणियों के सुख-दुःख का कोई कारण नहीं है, वे मात्र संयोगजन्य हैं, अतः दुःखनिवृत्ति और सुखप्राप्ति के लिए रागद्वेषादि विकारों के परित्याग का उसके मत में कोई भी स्थान न होना स्वाभाविक है। इसलिए उसका नग्न रहना अपरिग्रहसिद्धान्त पर आधारित नहीं था। फलस्वरूप वह 'निर्ग्रन्थ' संज्ञा का पात्र नहीं हुआ। केवल भगवान् महावीर का नाग्यव्रत अपरिग्रह-सिद्धान्त से प्रसूत था, अतः वे ही 'निर्ग्रन्थ' विशेषण के अधिकारी हुए।

६

अन्यतीर्थिकवत् नग्न रहने का निषेध

पूर्वोक्त छह बौद्धेतर दार्शनिकों को बौद्धसाहित्य में अन्यतीर्थिक या तीर्थिक कहा गया है।^{७४} उनमें आजीविक (मक्खलिगोसाल के अनुयायी साधु) और निर्ग्रन्थ नग्न रहते थे, शेष अन्यतीर्थिक बौद्ध भिक्षुओं से भिन्न वेषभूषा धारण करते थे। गौतम बुद्ध अपने भिक्षुओं को इन तीर्थिकों का वेष धारण करने से सदा मना करते थे। महावग्ग की नग्गिकपटिक्खेपकच्चा में कहा गया है—

“एक समय कोई भिक्षु नग्न होकर भगवान् (गौतम बुद्ध) के पास गया। पास में जाकर बोला—भगवान् ने (आपने) अनेक प्रकार से इच्छाओं को अल्प करने वाले, सन्तुष्ट, सल्लेख (तपस्वी), धृत (अनासक्त), प्रसन्न, अपरिग्रही एवं पौरुषवान् भिक्षु की प्रशंसा की है। भन्ते! यह नग्नता साधक को उपर्युक्त गुणों के विकास में सहायक होती है। अतः अच्छा हो, भन्ते! कि आप भिक्षुओं को नग्न रहने की अनुमति दे दें। भगवान् ने उस भिक्षु के कथन की निन्दा करते हुए कहा—‘ओ निकम्मे आदमी! तेरा यह कथन अयुक्त है, अनुचित है, अप्रतिरूप (अननुकूल) है, भ्रमणाचार के विरुद्ध है, अतः अविहित एवं अकरणीय है। मोघपुरुष! तूने तीर्थिकों (अन्यतीर्थिकों) के द्वारा

७४. क—“छ अञ्जतित्थिया” सामञ्जफलसुत्तं/दीघनिकायपालि/ भा.१/पृ.५२।

ख—“अञ्जतित्थिया परिब्बाजिका”/महासीहनादसुत्त/वही/पृ.१८४।

अपनायी जाने वाली नग्नता कैसे स्वीकार कर ली? तत्पश्चात् भगवान् ने भिक्षुओं को एकत्र कर स्पष्ट आदेश दिया—‘भिक्षुओ! किसी भी भिक्षु को तीर्थिकों के समान नग्नता नहीं अपनानी चाहिए। जो अपनायेगा उसे स्थूलात्यय दोष लगेगा।’ पालिमूल इस प्रकार है—

“तेन खो पन समयेन अञ्जतरो भिक्खु नग्गो हुत्वा येन भगवा तेनुपसङ्कमि। उपसङ्कमित्वा भगवन्तं एतदोवाच—“भगवा, भन्ते! अनेकपरियायेन अप्पिच्छस्स सन्तुड्डस्स सल्लेखस्स धुतस्स पासादिकस्स अपचयस्स विरियारम्भस्स वण्णवादी। इदं, भन्ते! नग्गियं अनेक-परियायेन अप्पिच्छताय सन्तुड्डिताय सल्लेखाय धुतत्ताय पासादिकाय अपचयाय विरियारम्भाय संवत्तति। साधु भन्ते! भगवा भिक्खूनं नग्गियं अनुजानातू” ति। विगरहि बुद्धो भगवा—“अननुच्छविकं मोघपुरिस! अननुलोमिकं, अप्पत्तिरूपं, अस्सामणकं, अकप्पियं, अकरणीयं। कथं हि नाम त्वं मोघपुरिस! नग्गियं तित्थियसमादानं समादियि-स्ससि? नेतं मोघपुरिस! अप्पसन्नानं वा पसादाय --- पे० ---।” विगरहित्वा धम्मिं कथं कत्वा भिक्खू आमन्तेसि—“न, भिक्खवे! नग्गियं तित्थियसमादानं समादियितब्बं। यो समादियेय्य आपत्ति थुल्लच्चयस्सा” ति। (नग्गिकपटिकखेपकथा / चीवरक्खन्धक / विनयपिटक-महावग्गपालि / पृ. ४९१-९२)।

यहाँ नग्न होकर आये भिक्षु के द्वारा इच्छाओं को अल्प करनेवाले नग्नत्व के अपनाने का समर्थन निश्चितरूप से निर्ग्रन्थों के नग्नत्व की ओर संकेत करता है, क्योंकि आजीविकों के अहेतुवादी होने से उनका नग्नत्व अपरिग्रहसिद्धान्त का प्रतिपादक नहीं था।

७

नग्नता एवं कुशचीरादि धारण करने का निषेध

इसी प्रकार कोई भिक्षु कुशचीर (कुशनिर्मित वस्त्र) पहन कर आया, कोई वल्कलचीर और कोई फलकचीर। कोई केशों से बना कम्बल ओढ़कर आया और कोई बालकम्बल ओढ़कर। कोई उलूकपंखनिर्मित वस्त्र धारण करके आया और कोई मृगचर्म। और प्रत्येक ने इन के धारण करने से वही लाभ बतलाये जो पूर्व में नग्न रहने से बतलाये गये थे। किन्तु भगवान् बुद्ध ने सबकी पूर्ववत् निन्दा की और भिक्षुओं को आमंत्रित कर आदेश दिया—‘भिक्षुओ! ये मृगचर्म आदि तीर्थिकों की पहचान हैं, इन्हें धारण नहीं करना चाहिए। जो धारण करेगा उसे स्थूलात्यय दोष लगेगा।’^{७५}

७५. “न भिक्खवे! अजिनक्खिपं तित्थियधजं धारेतब्बं। यो धारेय्य आपत्ति थुल्लच्चयस्सा ति।”
कुसचीरादि-पटिकखेपकथा / चीवरक्खन्धक / विनयपिटक-महावग्गपालि / पृ. ४९२।

यहाँ नग्न रहना और कुश आदि के वस्त्र धारण करना अन्यतीर्थिक (बौद्धेत सम्प्रदायों के) साधुओं के लक्षण बतलाये गये हैं। उनमें नग्नता केवल निर्ग्रन्थों और आजीविकों का लक्षण थी। अतः स्पष्ट है कि बुद्ध ने आजीविकों और निर्ग्रन्थों की ही नग्नता के अनुकरण का निषेध किया है।

८

एकसाटक-सम्प्रदाय निर्ग्रन्थ-सम्प्रदाय से भिन्न

'उदानपालि' का प्रमाण

श्वेताम्बर मुनि श्री कल्याणविजय जी ने श्वेताम्बर-सम्प्रदाय को प्राचीन सिद्ध करने के लिए बौद्धसाहित्य से एक भ्रान्तिमूलक प्रमाण प्रस्तुत किया है। वे लिखते हैं—

“अब हम देखेंगे कि श्वेताम्बर-सम्प्रदाय की प्राचीनता को सिद्ध करने वाले कुछ प्रमाण भी उपलब्ध होते हैं या नहीं?

“बौद्धों के प्राचीन पालिग्रन्थों में आजीविकमत के नेता गोशालक के कुछ सिद्धान्तों का वर्णन मिलता है, जिसमें मनुष्यों की कृष्ण, नील, लोहित, हारिद्र, शुक्ल और परमशुक्ल ये छः अभिजातियाँ बताई गई हैं। इनमें से दूसरी नीलाभिजाति में बौद्धभिक्षुओं और तीसरी लोहिताभिजाति में निर्ग्रन्थों का समावेश किया है। इस स्थल में निर्ग्रन्थों के लिए प्रयुक्त बौद्धसूत्र के शब्द इस प्रकार हैं—“लोहिताभिजाति नाम निग्गंथा एकसाटकात्ति वदति।” अर्थात् एक चीथड़ेवाले निर्ग्रन्थों को वह लोहिताभिजाति कहता है। (अंगुत्तरनिकाय/भाग ३/पृ.३८३)।

“इस प्रकार गोशालक ने निर्ग्रन्थों के लिए जो यहाँ एक चीथड़ेवाले यह विशेषण प्रयुक्त किया है और इसी प्रकार दूसरे स्थलों में भी अतिप्राचीन बौद्ध लेखकों ने जैन निर्ग्रन्थों के लिए एकसाटक विशेषण लिखा है, इससे सिद्ध होता है कि बुद्ध के समय में भी महावीर के साधु एक वस्त्र अवश्य रखते थे, तभी अन्य दार्शनिकों ने उनको उक्त विशेषण दिया है।

“कट्टर साम्प्रदायिक दिगम्बर यह 'एक साटक' विशेषण उदासीन निर्ग्रन्थ श्रावकों के लिए प्रयुक्त होने की संभावना करते हैं, परन्तु उन्हें यह मालूम नहीं कि बौद्ध त्रिपिटकों में 'निग्गन्थ' शब्द केवल निर्ग्रन्थ साधुओं के लिए प्रयुक्त हुआ है, श्रावकों के लिए नहीं। जहाँ कहीं भी जैन श्रावकों का प्रसंग आया है, वहाँ सर्वत्र 'निग्गंठस्स नाथपुत्तस्स सावका' (निर्ग्रन्थ ज्ञातपुत्र के श्रावक) अथवा निग्गंठसावक (निर्ग्रन्थों के श्रावक) इस प्रकार श्रावक शब्द का ही उल्लेख हुआ है, न कि 'निग्गंथ' शब्द का। इसलिए 'निग्गंठ' शब्द का 'श्रावक' अर्थ लगाना कोरी हठधर्मी है।” (श्र.भ.म./पृ.३२२)।

यहाँ मेरा पहला निवेदन यह है कि मुनिजी ने अंगुत्तरनिकाय के उद्धरण को यथावत् प्रस्तुत नहीं किया, अपितु शब्दों में परिवर्तन करके प्रस्तुत किया है। दूसरी बात यह है कि छह अभिजातियों का सिद्धान्त आजीविक-मत के नेता गोशालक का नहीं, अपितु अक्रियवादी पूरण काश्यप का है। प्रमाणार्थ में उक्त सिद्धान्त को ज्यों का त्यों उद्धृत कर रहा हूँ—

“एकमन्तं निसिन्नो खो आयस्मा आनन्दो भगवन्तं एतदोवाच—“पूरणेन, भन्ते! कस्सपेन छळभिजातियो पञ्जत्ता—तण्हाभिजाति पञ्जत्ता, नीलाभिजाति पञ्जत्ता, लोहिताभिजाति पञ्जत्ता, हलिदाभिजाति पञ्जत्ता, सुक्काभिजाति पञ्जत्ता, परमसुक्काभिजाति पञ्जत्ता।

“तत्रिदं भन्ते! पूरणेन कस्सपेन तण्हाभिजाति पञ्जत्ता, ओरब्भिका सूकरिका साकुणिका मागविका लुद्धा मच्छघातका चोरा चोरघातका बन्धनागारिका ये वा पनञ्जे पि केचि कुरुरकम्मन्ता।

“तत्रिदं भन्ते! पूरणेन कस्सपेन नीलाभिजाति पञ्जत्ता, भिक्खु कण्ठकवुत्तिका ये वा पनञ्जे पि केचि कम्मवादा किरियावादा।

“तत्रिदं भन्ते ! पूरणेन कस्सपेन लोहिताभिजाति पञ्जत्ता, निगण्ठा एकसाटका।

“तत्रिदं भन्ते! पूरणेन कस्सपेन हलिदाभिजाति पञ्जत्ता, गिही ओदातवसना अचेलक-सावका।

“तत्रिदं भन्ते! पूरणेन कस्सपेन सुक्काभिजाति पञ्जत्ता, आजीवका आजीव-किनियो।

“तत्रिदं भन्ते! पूरणेन कस्सपेन परमसुक्काभिजाति पञ्जत्ता, नन्दो यच्छो किसो सङ्खिच्चो मक्खलि गोसालो। पूरणेन, भन्ते! कस्सपेन इमा छळभिजातियो पञ्जत्ता ति।” (छळभिजातिसुत्त/अंगुत्तरनिकायपालि ६, ७, ८ निपात/भा.३/पृ. ९३-९४)।

यहाँ प्रत्येक अनुच्छेद में पूरण कस्सप नाम दुहराया गया है। इस प्रकार सात बार इस नाम की आवृत्ति हुई है, फिर भी मुनि जी ने ‘छह अभिजातियों’ के सिद्धान्त को मक्खलि गोशालक द्वारा प्रणीत बतलाया है। दूसरी बात यह है कि पूरण कस्सप द्वारा प्रज्ञप्त पहली अभिजाति का नाम तण्हाभिजाति (तृष्णाभिजाति) है, किन्तु मुनिजी ने उसके स्थान में कृष्णाभिजाति नाम लिखा है। कृष्णाभिजाति तो गौतम बुद्ध द्वारा प्रज्ञप्त छह अभिजातियों में से है।^{७६} तीसरी बात यह है कि अंगुत्तरनिकाय का मूल पालिपाठ इस प्रकार है—

७६. “अहं खो पनानन्द छळभिजातियो पञ्जापेमि।---इध पनानन्द एकच्चो कण्हाभिजातियो---।” (छळभिजातिसुत्त/अंगुत्तरनिकायपालि/६, ७, ८ निपात/भा. ३/पृ. ९४)।

“तत्रिदं भन्ते! पूरणेन कस्सपेन लोहिताभिजाति पञ्जत्ता, निगण्ठा एकसाटका।”

संस्कृत छाया—तत्रेदं भन्ते! पूरणेन काश्यपेन लोहिताभिजातिः प्रज्ञप्ता, निर्ग्रन्था एकशाटकाः।

हिन्दी अनुवाद—भन्ते! उक्त छह अभिजातियों में पूरण काश्यप ने निर्ग्रन्थों और एकवस्त्रधारी साधुओं को लोहिताभिजाति का बतलाया है।

किन्तु मुनि जी ने उपर्युक्त मूलपाठ के स्थान में निम्नलिखित पाठ लिखा है—
“लोहिताभिजाति नाम निगगंथा एकसाटकाति वदति।” और इसका यह अर्थ बतलाया है—
“एक चीथड़ेवाले निर्ग्रन्थों को वह लोहिताभिजाति कहता है।”

यहाँ द्रष्टव्य है कि जो शब्द मुनि जी के द्वारा बौद्धसूत्र के शब्द बतलाये गये हैं, वे बौद्धसूत्र से अर्थात् अंगुत्तरनिकाय के उपर्युक्त मूलपाठ से शब्द और वाक्य दोनों दृष्टियों से बहुत भिन्न हैं। उदाहरणार्थ, मुनि जी ने अपने वाक्य में ‘नाम’ शब्द का प्रयोग किया है, किन्तु मूलपाठ में ‘नाम’ शब्द नहीं है। मुनि जी ने ‘निगगंथा’ शब्द लिखा है, जबकि मूलपाठ में ‘निगण्ठा’ पद है और पालिभाषा में ‘निगगंथा’ रूप बनता ही नहीं है। मुनि जी ने ‘वदति’ क्रिया का प्रयोग किया है, जबकि मूलपाठ में ‘पञ्जत्ता’ क्रिया है और मूलपाठ में ‘पूरणेन कस्सपेन पञ्जत्ता’ इस प्रकार वाक्यरचना कर्मवाच्य रूप है, जबकि मुनि जी ने ‘वदति’ क्रिया का प्रयोग कर वाक्य को कर्तृवाच्य में परिवर्तित कर दिया है। मुनि जी ने ‘एकसाटका’ के साथ ‘ति’ अव्यय प्रयुक्त किया है, जबकि मूलपाठ में उसका अभाव है। इससे लगता है मुनि जी ने मूलग्रन्थ देखने का कष्ट नहीं उठाया और किसी से सुनकर उपर्युक्त वाक्य लिख दिया है। अस्तु।

यहाँ ध्यान देने योग्य मुख्य बात यह है। कि लोहिताभिजाति के उदाहरण में जो ‘निगण्ठा एकसाटका’ पद आये हैं उनमें ‘एकसाटका’ पद ‘निगण्ठा’ का विशेषण नहीं है, बल्कि दोनों स्वतंत्र पद हैं और भिन्न-भिन्न सम्प्रदायों के साधुओं के वाचक हैं। ‘निगण्ठा’ पद तीर्थंकर महावीर के अनुयायी नग्न साधुओं का वाचक है और ‘एकसाटका’ पद ‘एकसाटक’-सम्प्रदाय के साधुओं का, जो एक वस्त्र धारण करने के कारण इस नाम से प्रसिद्ध थे।

किन्तु उक्त पदों के साथ ‘निगण्ठा एकसाटका च’ इस प्रकार भिन्नव्यक्तिसूचक च अव्यय का प्रयोग न होने से बाबू कामताप्रसाद जी एवं श्वेताम्बरमुनि श्री कल्याणविजय जी ने ‘एकसाटका’ पद को ‘निगण्ठा’ का विशेषण मानकर दोनों पदों को निर्ग्रन्थ सम्प्रदाय के ही साधकों का वाचक मान लिया है। बाबू कामताप्रसाद जी ने उनसे ‘निर्ग्रन्थसम्प्रदाय के क्षुल्लक नामक उत्कृष्ट श्रावक’ अर्थ ग्रहण किया है,^{७७} क्योंकि

७७. भगवान् महावीर और महात्मा बुद्ध / पृ. ६०-६१, २१०।

ये एकवस्त्रधारी होते हैं, जब कि मुनि कल्याणविजय जी ने 'श्वेताम्बर साधु' अर्थ लिया है।

ये दोनों अर्थ युक्तिसंगत नहीं हैं। 'अंगुत्तरनिकाय' के कर्त्ता ने छहों अभिजातियों के उदाहरण में कहीं भी 'च' अव्यय का प्रयोग नहीं किया है, जबकि वे भिन्न-भिन्न प्रकार के मनुष्यों के वाचक हैं। जैसे उन्होंने शुक्लाभिजाति में 'आजीवका आजीवकिनियो' उदाहरण दिये हैं। यहाँ 'च' अव्यय का प्रयोग नहीं है, फिर भी ये दोनों पद भिन्न-भिन्न व्यक्तियों के वाचक हैं। 'आजीवका' पद आजीवक (आजीविक-देखिये, पा.टि.८८) सम्प्रदाय के साधुओं या गृहस्थों का वाचक है तथा 'आजीवकिनियो' पद इस सम्प्रदाय की साध्वियों या गृहस्थ स्त्रियों का। इसी प्रकार तण्हाभिजाति के 'लुहा मच्छघातका चोरा चोरघातका बन्धनागारिका' इन उदाहरणों में भी 'च' अव्यय प्रयुक्त नहीं है, तथापि ये भिन्न-भिन्न प्रकार के क्रूरकर्मा मनुष्यों के सूचक हैं। 'नन्दो वच्छो, किसो सङ्गिच्चो, मक्खलिगोसालो' ये परमशुक्लाभिजाति के मनुष्यों के उदाहरण हैं। ये भी 'च' अव्यय के बिना ही अलग-अलग व्यक्तियों का अर्थ प्रकट करते हैं। 'निगण्ठा एकसाटका' इसी प्रकार का प्रयोग है। यहाँ भी 'च' अव्यय का प्रयोग नहीं है, फिर भी दोनों पद स्वतंत्र हैं और भिन्न-भिन्न सम्प्रदायों के साधुओं का बोध कराते हैं। 'निगण्ठ' पद दिगम्बरजैन सम्प्रदाय के साधुओं का बोध कराता है और 'एकसाटक' (एकशाटक) पद एकशाटकसम्प्रदाय के साधुओं का। इस सम्प्रदाय के साधु केवल एकवस्त्र धारण करते थे, इसलिए उनका सम्प्रदाय 'एकशाटक' नाम से प्रसिद्धि को प्राप्त हुआ था। उदानपालि सुत्तपिटक के खुद्दकनिकाय का प्राचीन ग्रन्थ है। उसके निम्नलिखित कथन से यह बात एकदम स्पष्ट हो जाती है—

“तेन खो पन समयेन सत्त च जटिला, सत्त च निगण्ठा, सत्त च अचेलका, सत्त च एकसाटका, सत्त च परिव्वाजका, परूळ्हकच्छनखलोमा खारिविविधमादाय भगवतो अविदूरे अतिक्कमन्ति।” (सत्तजटिलसुत्त / जच्चन्धवग्गो / उदानपालि / पृ. १४३)।

अनुवाद—“(जब गौतम बुद्ध शाम के समय ध्यान में लीन बैठे हुए थे) उस समय सात जटिल (जटाधारी साधु), सात निर्ग्रन्थ (निर्ग्रन्थसम्प्रदाय के साधु), सात अचेलक (अचेलक=आजीवक-सम्प्रदाय के साधु), सात एकशाटक (एकवस्त्रधारी-सम्प्रदाय के साधु) और सात परिव्राजक (परिव्राजक-सम्प्रदाय के साधु), जिनकी काँख, नख और लोम बढ़े हुए थे तथा जो विविध उपकरण लिए हुए थे, आकर भगवान् बुद्ध के पास बैठ गये।”

इस कथन में एकशाटक साधुओं को निर्ग्रन्थों से पृथक् निर्दिष्ट किया गया है, इससे स्पष्ट है कि 'एकशाटक' 'निर्ग्रन्थ' का विशेषण नहीं, अपितु निर्ग्रन्थादि से भिन्न

सम्प्रदाय के साधुओं का वाचक है। अतः मुनि श्री कल्याणविजय जी ने 'निगण्ठा एकसाटका' इस उल्लेख से जो यह अर्थ निकाला है कि बुद्ध के समय में निर्ग्रन्थ साधु एक वस्त्र अवश्य रखते थे, अतः यह उल्लेख श्वेताम्बर-सम्प्रदाय की प्राचीनता का प्रमाण है, वह सर्वथा गलत है। उक्त उल्लेख में 'निर्ग्रन्थ' शब्द 'एकशाटक' विशेषण से रहित है, अतः सिद्ध है कि प्राचीन बौद्ध-साहित्य में 'निर्ग्रन्थ' साधु निर्ग्रन्थ रूप (नग्नरूप) में ही वर्णित हैं। इससे दिगम्बरजैन-सम्प्रदाय की प्राचीनता प्रमाणित होती है। फलस्वरूप मुनि कल्याणविजय जी का यह दावा भी गलत सिद्ध हो जाता है कि प्राचीन बौद्ध साहित्य में नग्न जैन साधुओं का उल्लेख कहीं भी नहीं है। और जो दावा उन्होंने निम्नलिखित वक्तव्य में किया है, वह भी आँधे मुँह गिर जाता है। वे प्रो० जैकोबी के कथन को प्रामाणिक मानने का दावा करते हुए लिखते हैं—

“बौद्धों की अर्वाचीन जातककथाओं में निर्ग्रन्थ श्रमणों को 'नग्न निर्ग्रन्थ' लिखा देखकर कोई कह दे कि 'प्राचीन निर्ग्रन्थ भी नग्न होते थे' तो ऐसे आंशिक ज्ञानवालों के कथन से प्राचीन श्रमणों की नग्नता साबित नहीं हो सकती। जिन्होंने बौद्धों के सबसे प्राचीन पालिग्रन्थों और प्राचीन जैनसूत्रों का तलस्पर्शी अध्ययन किया है, ऐसे विद्वानों की सम्मति ही इस विषय में अधिक विश्वसनीय हो सकती है। डॉक्टर हर्मन जैकोबी इसी प्रकार के विद्वान् हैं और इन्होंने जैनसूत्रों की प्रस्तावना में प्राचीन बौद्ध ग्रन्थों के उल्लेखों से यह बात अच्छी तरह सिद्ध कर दी है कि प्राचीन निर्ग्रन्थ श्रमण एक वस्त्र रखते थे। इसीलिए बौद्ध लोग इन्हें 'एकसाटक' कहा करते थे।” (श्र.ध.म./ पृ.३१८-३१९)।

यहाँ मुनि जी ने प्राचीन बौद्धसाहित्य में 'एकसाटक' (एकशाटक) शब्द के प्रयोग को निर्ग्रन्थ श्रमणों के एकवस्त्रधारी होने का प्रमाण इसलिए माना है कि प्राचीन बौद्धसाहित्य के तलस्पर्शी अध्येता डॉ० जैकोबी ने ऐसा कहा है। किन्तु जैकोबी के अध्ययन की तलस्पर्शिता पर उदानपालि का उपर्युक्त प्रमाण प्रश्नचिन्ह लगा देता है। उदानपालि के उपर्युक्त उद्धरण से सिद्ध है कि 'एकशाटक' निर्ग्रन्थों का विशेषण नहीं, अपितु एक स्वतंत्रसम्प्रदाय का नाम है, अतः उसे निर्ग्रन्थों का विशेषण मानकर प्राचीन निर्ग्रन्थों को एक वस्त्र रखनेवाला घोषित करना भ्रान्तिपूर्ण निष्कर्ष है। अतः मुनि जी का जैकोबी के निष्कर्ष को प्रामाणिक मानने का दावा भी धराशायी हो जाता है।

जैकोबी के सभी निष्कर्ष सही हों यह मुनि श्री कल्याणविजय जी भी नहीं मानते। वे लिखते हैं—“उत्तराध्ययनसूत्र के उपोद्घात में प्रो० जैकोबी ने आजीविक और निर्ग्रन्थों के आचारों की एकता बताई है, पर वास्तव में इन दोनों सम्प्रदायवालों के आचारों में बहुत बड़ा अन्तर था। यद्यपि मज्झिमनिकाय में आजीविकों के कठिनतम तप और भिक्षा के नियमों का वर्णन है, तथापि सब आजीविक भिक्षुओं द्वारा सदाकाल

ये ही नियम पालन किये जाते थे, यह मान लेना भूल होगी।" (श्र.भ.म./पृ.२६७-२६८)।

यही भूल जैकोबी ने प्राचीन निर्ग्रन्थों को 'एकवस्त्र रखनेवाला' मानने में की है, तथा किसी अँग्रेज विद्वान् ने ओदातवसना का अर्थ 'श्वेतवस्त्रवाला' किया है, इससे असहमत होने के कारण मुनि कल्याणविजय जी ने टिप्पणी की है कि "अँग्रेज कोई केवली नहीं हैं, जो उनके कहने से अवदात (ओदात) का अर्थ श्वेत ही मान लिया जाय और अन्यवर्ण न माना जाय।" (श्र.भ.म./पृ.३२३)।

मुनि जी की यह टिप्पणी में जैकोबी के विषय में भी दुहराना चाहता हूँ कि जर्मन विद्वान् कोई केवली नहीं हैं, जो उनके कहने से 'एकसाटक' पद को 'निर्ग्रन्थ' का विशेषण मान लिया जाय। वस्तुतः वह एक स्वतंत्र सम्प्रदाय का नाम था।

९

निर्ग्रन्थों के लिए भी 'अचेलक' शब्द का प्रयोग

'उदानपालि' के पूर्वोक्त उद्धरण में निर्ग्रन्थों और अचेलकों का अलग-अलग निर्देश है, इससे यह नहीं समझ लेना चाहिए कि अचेलक (आजीविक) सम्प्रदाय के ही मुनि नग्न रहते थे, निर्ग्रन्थ सम्प्रदाय के नहीं। दोनों सम्प्रदायों के मुनि नग्न रहते थे, किन्तु 'निर्ग्रन्थ' शब्द दिगम्बर जैन साधुओं के लिए रूढ़ हो चुका था। अतः उनसे भिन्नता का बोध कराने के लिए आजीविक (आजीविक) सम्प्रदाय के साधु 'अचेलक' शब्द से अभिहित किये जाने लगे। 'उदानपालि' के पूर्वोक्त उद्धरण में 'अचेलक' शब्द आजीवकों के लिए ही प्रयुक्त हुआ है। बौद्धों में निर्ग्रन्थों का नग्न रहना तो 'निर्ग्रन्थ' (ग्रन्थरहित = वस्त्रादिपरिग्रहरहित) शब्द से ही प्रसिद्ध था।

तथापि बौद्धसाहित्य में निर्ग्रन्थों के लिए भी 'अचेलक' शब्द का प्रयोग हुआ है, इसके अनेक प्रमाण हैं। अंगुत्तरनिकाय (भा.३) के छळभिजातिसुत्त में पूरण कस्सप ने अचेलक साधुओं के श्वेतवस्त्रधारी श्रावकों को हरिद्राभिजातीय बतलाया है—

“पूरणेन कस्सपेन हलिद्वाभिजाति पञ्चत्ता, गिही ओदातवसना^{७८} अचेल-
कसावका।”^{७९}

ये अचेलक साधु आजीविक (आजीविक) सम्प्रदाय के नहीं थे, क्योंकि आजीवकों को पूरण कस्सप ने शुक्ल और परमशुक्ल अभिजातियों में परिगणित किया है।^{७९}

७८. ओदातवसन = श्वेतवस्त्रधारी / भदन्त आनन्द कौसल्यायन-कृत पालि-हिन्दी कोश / पृ. ८१।

७९. देखिये, अंगुत्तरनिकायपालि भा.३ का पूर्वोद्धृत अंश (अध्याय ४/प्र.२/शी.८)।

अतः सिद्ध है कि उपर्युक्त वाक्य में निर्ग्रन्थों को ही 'अचेलक' शब्द से अभिहित किया गया है।

दूसरा प्रमाण यह है कि 'अंगुत्तरनिकाय' के उपर्युक्त वाक्य में श्वेतवस्त्रधारी गृहस्थ अचेलकों के श्रावक कहे गये हैं और 'दीघनिकाय' के निम्नलिखित वाक्य में वे निगण्ठनाटपुत्र (भगवान् महावीर) के श्रावक बतलाये गये हैं—

“निगण्ठस्स नाटपुत्तस्स सावका गिही ओदातवसना।” (पासादिकसुत्त / दीघ-निकायपालि / भा. ३ / पृ. ६८३)।

इससे बिलकुल स्पष्ट है कि प्राचीन बौद्धसाहित्य में 'निर्ग्रन्थों' का कथन 'अचेलक' शब्द से भी हुआ है।

तीसरा प्रमाण यह है कि मज्झिमनिकाय (प्रथम भाग) में निर्ग्रन्थपुत्र सच्चक एवं दीघनिकाय (प्रथम भाग) में अचेल काश्यप का प्रसंग है। 'निर्ग्रन्थपुत्र' विशेषण से ज्ञात होता है कि सच्चक निर्ग्रन्थसम्प्रदाय के श्रावक का पुत्र था तथा 'अचेल' विशेषण सूचित करता है कि काश्यप नग्न साधु थे। ये दोनों गौतम बुद्ध के समक्ष अचेलक आजीवक साधुओं के अशोभनीय आचार का वर्णन करते हैं। यदि अचेल काश्यप स्वयं आजीवक साधु होते तो, ऐसा न करते। इससे सिद्ध है कि वे निर्ग्रन्थसम्प्रदाय के साधु थे। इसके अतिरिक्त निर्ग्रन्थपुत्र सच्चक और अचेल काश्यप दोनों आजीवकों के अशोभनीय आचार का वर्णन करते हैं, इससे भी दोनों का समान (निर्ग्रन्थ) सम्प्रदाय से सम्बद्ध होना सूचित होता है। यह इस बात का प्रमाण है कि प्राचीन बौद्ध साहित्य में निर्ग्रन्थ साधुओं को भी 'अचेलक' विशेषण दिया गया है।

निर्ग्रन्थपुत्र सच्चक और अचेल काश्यप आजीवकों के जिस अशोभनीय आचार का वर्णन करते हैं, उसे निर्ग्रन्थपुत्र सच्चक तो स्पष्ट शब्दों में आजीवकों का आचार कहता है, अचेल काश्यप स्पष्ट शब्दों में नहीं कहते, पर वह सच्चक द्वारा वर्णित आचार से अक्षरशः साम्य रखता है, इससे सिद्ध है कि वह आजीवकों का ही आचार है। दोनों के द्वारा वर्णित आचार नीचे उद्धृत किया जा रहा है।

१०

निर्ग्रन्थपुत्र सच्चक द्वारा वर्णित आजीवकों का आचार

निर्ग्रन्थ सच्चक का गौतम बुद्ध के साथ इस प्रकार वार्तालाप होता है—

“एकमन्तं निसिन्नो खो सच्चको निगण्ठपुत्तो भगवन्तं एतदवोच—सन्ति भो गोतम! एके समणब्राह्मणा कायभावनानुयोगमनुयुत्ता विहरन्ति, नो चित्तभावनं—।”

“किन्ति पन ते, अग्गिवेस्सन! कायभावना सुता” ति?

“सेय्यथीदं—नन्दो वच्छो, किसो सङ्किच्चो, मक्खलि गोसालो—एते हि भो गोतम! अचेलका मुत्ताचारा हत्थापलेखना, न एहिभदन्तिका न तिट्ठभदन्तिका, न अभिहटं, न उद्दिस्सकतं, न निमन्तनं सादियन्ति, ते न कुम्भिमुखा पटिग्गण्हन्ति, न कळोपिमुखा पटिग्गण्हन्ति, न एळकमन्तरं न दण्डमन्तरं न मुसलमन्तरं, न द्विन्नं भुज्जमानानं, न गम्भिनिया न पायमानाय न पुरिसन्तरगताय, न सङ्कित्तीसु, न यत्थ सा उपट्ठितो होति, न यत्थ मक्खिका सण्डसण्डचारिनी, न मच्छं न मंसं न सुरं न मरेयं न थुसोदकं पिवन्ति। ते एकागारिका वा होन्ति एकालोपिका, द्वागारिका वा होन्ति द्वाल्लोपिका— पे०— सत्तागारिका वा होन्ति सत्तालोपिका। एकस्सा पि दत्तिया यापेन्ति, द्वीहि पि दत्तीहि यापेन्ति— पे०— सत्तहि पि दत्तीहि यापेन्ति। एकाहिकं पि आहारं आहारेन्ति, द्वीहिकं पि आहारं आहारेन्ति— पे०— सत्ताहिकं पि आहारं आहारेन्ति। इति एवरूपं अद्धमासिकं पि परियायभत्त-भोजनानुयोगमनुयुत्ता विहरन्ती” ति।

“किं पन ते अग्गिवेस्सन! तावतकेनेव यापेन्ती” ति?

“नो हिदं, भो गोतम! अप्पेकदा, भो गोतम! उळारानि उळारानि खादनीयानि खादन्ति, उळारानि उळारानि भोजनानि भुज्जन्ति, उळारानि उळारानि सायनीयानि सायन्ति, उळारानि उळारानि पानानि पिवन्ति। ते इमं कायं बलं गाहेन्ति नाम, ब्रूहेन्ति नाम, मेदेन्ति नामा” ति।

“यं खो ते, अग्गिवेस्सन! पुरिमं पहाय पच्छा, उपचिनन्ति, एवं इमस्स कायस्स आचयापचयो होति।” (महासच्चकसुत्त / मज्झिमनिकायपालि / १. मूल पण्णासक / पृ. ३२६-३२८/ बौद्धभारती, वाराणसी)।

अनुवाद

एक ओर बैठे हुए निर्ग्रन्थपुत्र सच्चक ने भगवान् (गौतम बुद्ध) से कहा—“हे गौतम! कुछ श्रमण-ब्राह्मण ऐसे हैं, जो कायसाधना में लगे रहते हैं, चैतसिक साधना नहीं करते।”

गौतम ने पूछा—“भो अग्निवेश! ८० तुमने कैसी कायसाधना के विषय में सुना है?”

सच्चक बोला—“जैसे नन्द वत्स, कृश सांकृत्य, मक्खलि गोशाल, ये नग्न रहते हैं, स्वच्छन्द आचरण करते हैं, भोजन के बाद हस्तापलेखना करते हैं अर्थात् हाथ

८०. सच्चक का नामान्तर।

चाटते हैं।^{८१} वे बुलाकर दी गई भिक्षा नहीं लेते, 'ठहरिये' कहकर दी गई भिक्षा नहीं लेते, दूसरे के द्वारा लायी गयी भिक्षा नहीं लेते, अपने उद्देश्य से बनाई गई भिक्षा नहीं लेते, निमंत्रित करके दी गई भिक्षा नहीं लेते, हाँड़ी से उड़ेलकर दी गई भिक्षा नहीं लेते, कड़ाही से उड़ेलकर दी गई भिक्षा नहीं लेते, दो पटरों, दो दण्डों और दो मूसलों के बीच से लायी गयी भिक्षा नहीं लेते, भोजन करते हुए दो व्यक्तियों के बीच से लायी गयी भिक्षा नहीं लेते, गर्भिणी और दूध पिलाती हुई स्त्री से भिक्षा नहीं लेते, दो पुरुषों के बीच से आती हुई स्त्री से भिक्षा ग्रहण नहीं करते, चन्दा करके भिक्षा देनेवाली स्त्रियों (सङ्कित्तीसु) से भिक्षा नहीं लेते, जहाँ कुत्ता (सा=श्व) खड़ा होता है, वहाँ से भिक्षा नहीं लेते, जहाँ मक्खियाँ भिनभिना रही हों, वहाँ से भिक्षा नहीं लेते, मांस-मछली, सुरा, मैरेय और तुषोदक (चावल से बनी शराब) ग्रहण नहीं करते। वे एक ही घर से भिक्षा लेते हैं या एक ही ग्रास खाते हैं, दो घरों से भिक्षा लेते हैं या दो ग्रास खाते हैं, सात घरों से भिक्षा लेते हैं या सात ग्रास खाते हैं। वे एक कलछुल-भिक्षा से भी निर्वाह कर लेते हैं, दो कलछुल-भिक्षा से भी और सात कलछुल-भिक्षा से भी। वे एक दिन में एक बार भी आहार करते हैं, दो दिन में एक बार भी और सात दिन में एक बार भी। कभी-कभी पन्द्रह-पन्द्रह दिनों के बाद भी आहार लेते हैं।"

गौतम बुद्ध पूछते हैं—“हे अग्निवेश! क्या इतने से ही उनका निर्वाह हो जाता है?

सच्चक उत्तर देता है—“ऐसा नहीं है गौतम! वे कभी-कभी प्रभूतमात्रा^{८२} में खाद्य पदार्थ खाते हैं, प्रभूतमात्रा में भोज्य पदार्थों का भोजन करते हैं, प्रभूतमात्रा में स्वाद्य पदार्थों का स्वाद लेते हैं और प्रभूतमात्रा में पेय पदार्थों का पान करते हैं। इससे उनके शरीर की शक्ति बढ़ती रहती है, वे पुष्ट एवं बलवान् होते रहते हैं।

गौतम कहते हैं—“यह तो पहले त्याग करना और फिर ग्रहण करना है। इस तरह तो शरीर कभी दुबला और कभी मोटा हो जाता है।” (अनुवादक : स्वामी द्वारिकादास शास्त्री)। इस आचार को निर्ग्रन्थपुत्र सच्चक ने स्पष्टशब्दों में नन्द वत्स, कुश सांकृत्य और मक्खलि गोशाल का आचार बतलाया है, जो आजीविक-सम्प्रदाय के थे।

८१. हत्थापलेखना = भोजन के बाद हाथ चाटना (पालि-हिन्दी कोश)।

८२. उक्कारानि-उक्कारानि (उदारानि-उदारानि) = प्रभूत मात्रा में (पालि-हिन्दी कोश)।

११

अचेल काश्यप द्वारा वर्णित आजीविकों का आचार

एक बार अचेल काश्यप गौतम बुद्ध के पास जाकर पूछते हैं—“भो गौतम! लोग कहते हैं कि श्रमण गौतम सभी प्रकार की तपश्चर्याओं की निन्दा करते हैं।^{८३} आप बतलायें कि श्रमणब्राह्मणों के ये आचार श्रमणभाव और ब्राह्मणभाव के द्योतक हैं या नहीं?”^{८४} तपश्चात् वे श्रमणब्राह्मणों के आचार का इस प्रकार वर्णन करते हैं—

“अचेलको होति मुत्ताचारो, हत्थापलेखनो, न एहिभद्दन्तिको, नतिट्टुभद्दन्तिको, नाभिहटं, न उद्दिस्सकतं न निमन्तनं सादियति। सो न कुम्भिमुखा पटिग्गण्हाति, न कळोपिमुखा पटिग्गण्हाति, न एळकमन्तरं, न दण्डमन्तरं, न मुसलमन्तरं, न द्विनं भुज्जमानानं, न गब्भिनिया, न पायमानाय, न पुरिसन्तरगताय, न सङ्कित्तीसु, न यत्थ सा उपट्टितो होति, न यत्थ मक्खिका सण्डसण्डचारिनी, न मच्छं न मसं, न सुरं न मेरयं न थुसोदकं पिवति। सो एकागारिको वा होति एकालोपिको, द्वागारिको वा होति द्वालोलोपिको, सत्तागारिको वा होति सत्तालोपिको; एकिस्सा पि दत्तिया यापेति, द्वीहि पि दत्तीहि यापेति, सत्तहि पि दत्तीहि यापेति; एकाहिकं पि आहारं आहारेति, द्वीहिकं पि आहारं आहारेति, सत्ताहिकं पि आहारं आहारेति; इति एवरूपं अद्धमासिकं पि परियायभत्तभोजनानुयोगमनुयुत्तो विहरति।” (महासीहनादसुत्त / दीघनिकायपालि / भा.१ / पृ.१७६-१७७)।

गौतम बुद्ध इस आचार को श्रमण-ब्राह्मणत्व से शून्य बतलाते हैं।^{८५} उन्होंने भी कुछ समय के लिए इस आचार को अपनाया था। वे अपने शिष्य सारिपुत्र को यह बात सुनाते हुए कहते हैं—

“तत्रास्सु मे इदं, सारिपुत्त, तपस्सिताय होति-अचेलको होमि मुत्ताचारो हत्थापलेखनो, न एहिभद्दन्तिको, न तिट्टुभद्दन्तिको, नाभिहटं, न उद्दिस्सकतं न निमन्तनं सादयामि --- इति एवरूपं अद्धमासिकं पि परियायभत्तभोजनानुयोगमनुयुत्तो विहरामि।” (महासीहनादसुत्त / मज्झिमनिकायपालि / १. मूलपण्णासक / पृ. ११८-११९ बौद्धभारती, वासणसी)।

८३. “एकमन्तं ठितो खो अचेलो कस्सपो भगवन्तं एतदवोच—“सुतं मेतं, भो गोतम! समणो गोतमो सब्बं तपं गरहति।” महासीहनादसुत्त / दीघनिकायपालि / भाग १ / पृ. १७२।

८४. “इमे पि खो, आवुसो गोतम! तपोपक्कमा एतेसं समणब्राह्मणानं सामञ्जसङ्घता च ब्रह्मञ्ज-सङ्घता च।” महासीहनादसुत्त / दीघनिकायपालि / भाग १ / पृ. १७६।

८५. वही / पृ. १७८।

तुलना करने पर हम पाते हैं कि निर्ग्रन्थपुत्र सच्चक और अचेल कस्सप दोनों के द्वारा वर्णित आचार शब्दशः साम्य रखते हैं। अतः अचेल कस्सप द्वारा वर्णित आचार भी आजीविक साधुओं का ही है। बाबू कामताप्रसाद जी ने इसे निर्ग्रन्थों का आचार बतलाया है,^{८६} जिसका मुनि श्री कल्याणविजय जी ने खण्डन किया है। वे लिखते हैं—

“मञ्जिमनिकाय में साफ-साफ लिखा गया है कि ये आचार आजीविकसंघ के नायक गोशालक तथा उनके मित्र नन्दवच्छ और किस्ससंकिच्च के हैं जिनका बुद्ध के समक्ष निगंथश्रमण सच्चक ने वर्णन किया है।” (श्र.भ.म./पृ. ३३१)।

यद्यपि बाबू कामताप्रसाद जी ने निर्ग्रन्थपुत्र सच्चक द्वारा वर्णित आचार को नहीं, अपितु अचेल कस्सप द्वारा वर्णित आचार को निर्ग्रन्थ मुनियों का आचार कहा है,^{८६} तथापि वह आजीविक साधुओं का ही आचार है, जैसाकि ऊपर दर्शाये गये साम्य से स्पष्ट है। इसीलिए, मुनि जी का उसे आजीविकसंघ के साधुओं का आचार कहना उचित ही है।

किन्तु मुनि जी का यह कथन युक्तिसंगत नहीं है कि “यदि निर्ग्रन्थ जैन श्रमण सच्चक स्वयं अचेलक और हाथ में भोजन करनेवाला होता तो, वह आजीविक भिक्षुओं का ‘हाथ चाटनेवाला’ आदि कहकर उपहास कभी न करता। इससे भी जाना जाता है कि महावीर के साधु वस्त्रपात्र अवश्य रखते थे।” (श्र.भ.म./पृ.३२३)।

मुनि जी का यह कथन प्रत्यक्षप्रमाण से बाधित है, क्योंकि अचेल कस्सप (‘अचेलो कस्सपो’—पा.टि.८३) ने अचेलक होते हुए भी अचेलक आजीविकों को ‘हाथ चाटने वाला’ आदि कहा है। इससे द्योतित होता है कि अचेल कस्सप यद्यपि स्वयं अचेलक थे, और पाणितलभोजी भी थे, तथापि भोजन के अनन्तर वे हाथ नहीं चाटते थे, न स्वच्छन्द आचरण करते थे और न ही वे उन साधुओं में से थे, जो कभी-कभी पन्द्रह-पन्द्रह दिनों तक भोजन नहीं करते थे, किन्तु कभी-कभी खाद्य, स्वाद्य, भोज्य और पेय पदार्थों का अतिगुधता से सेवन करते थे। निर्ग्रन्थपुत्र सच्चक और अचेल कस्सप ने आजीविकों की इन्हीं अशोभनीय प्रवृत्तियों को अनुचित बतलाया है, अचेलत्व और पाणितलभोजित्व को नहीं। अतः आजीविक साधुओं की उक्त अशोभनीय और लोलुपतापूर्ण प्रवृत्तियों को दर्शाने से निर्ग्रन्थपुत्र सच्चक और अचेल कस्सप का सचेल श्वेताम्बर-साधु होना सिद्ध नहीं होता। चूँकि दोनों ने आजीविकों के अशोभनीय और लोलुपतापूर्ण आचार का वर्णन किया है, इससे सिद्ध होता है कि वे एक ही सम्प्रदाय के थे। अचेल कस्सप तो निर्ग्रन्थसम्प्रदाय के नग्न साधु ही थे, निर्ग्रन्थपुत्र सच्चक

८६. भगवान् महावीर और महात्मा बुद्ध/पृ. ६१।

निर्ग्रन्थसम्प्रदाय का श्रावक था, क्योंकि उसके साथ जुड़े निर्ग्रन्थपुत्र विशेषण में 'पुत्र' शब्द का प्रयोग हुआ है। इस प्रमाण से भी सिद्ध होता है कि प्राचीन बौद्धसाहित्य में निर्ग्रन्थों को 'अचेलक' शब्द से भी अभिहित किया गया है। इस प्रमाण से मुनि कल्याणविजय जी का यह निष्कर्ष मिथ्या सिद्ध हो जाता है कि महावीर के साधु वस्त्रपात्र अवश्य रखते थे।

१२

निर्ग्रन्थसम्प्रदाय के श्रावक की भी 'निर्ग्रन्थ' संज्ञा

दीघनिकाय (भा.३/पासादिकसुत्त) के "निगण्ठस्स नाटपुत्तस्स सावका गिही ओदात-वसना" (महावीर के श्वेतवस्त्रधारी गृहस्थ श्रावक) इस कथन के आधार पर बाबू कामता प्रसाद जी ने 'निगण्ठा एकसाटका'^{८७} का अर्थ एक श्वेतवस्त्रधारी निर्ग्रन्थ श्रावक किया है।

इस पर मुनि कल्याणविजय जी ने दो आपत्तियाँ की हैं। पहली तो यह कि 'निगण्ठा' शब्द निर्ग्रन्थसाधु का वाचक है, न कि निर्ग्रन्थश्रावक का। दूसरी यह कि 'अवदात' (ओदात) का अर्थ श्वेत नहीं, उज्वल अथवा स्वच्छ होता है।

'निगण्ठ' शब्द के अर्थ के विषय में वे लिखते हैं कि "बौद्ध त्रिपिटकों में 'निगन्थ' शब्द केवल निर्ग्रन्थ साधुओं के लिए प्रयुक्त हुआ है, श्रावकों के लिए नहीं। जहाँ कहीं भी जैन श्रावकों का प्रसंग आया है, वहाँ सर्वत्र 'निगंठस्स नाथपुत्तस्स सावका' (निर्ग्रन्थ ज्ञातपुत्र के श्रावक) अथवा निगंठसावक (निर्ग्रन्थों के श्रावक) इस प्रकार 'श्रावक' शब्द का ही उल्लेख हुआ है, न कि 'निगन्थ' शब्द का। इसलिए 'निगंठ' शब्द का 'श्रावक' अर्थ लगाना कोरी हठधर्मी है।" (श्र.भ.म./पृ.३२२)।

मुनि जी का यह कथन समीचीन नहीं है। बौद्ध त्रिपिटकों में 'निगण्ठ' शब्द का प्रयोग निर्ग्रन्थसम्प्रदाय के साधु और श्रावक अथवा निर्ग्रन्थ श्रमण और उनके अनुयायी श्रावक दोनों के लिए हुआ है। सुत्तपिटकगत मज्झिमनिकाय (प्रथमभाग) के 'चूळसच्चकसुत्त' एवं 'महासच्चकसुत्त' में सच्चक को 'निगण्ठपुत्त' (निर्ग्रन्थपुत्र) कहा गया है। निगण्ठपुत्त का अर्थ निर्ग्रन्थमुनि का पुत्र नहीं हो सकता, क्योंकि मुनि सन्तान उत्पन्न नहीं करते। अतः उसका अर्थ है निर्ग्रन्थों के अनुयायी श्रावक का पुत्र। जैसे वर्तमान में दिगम्बरजैन-सम्प्रदाय के श्रावक भी दिगम्बरजैन कहलाते हैं, वैसे ही प्राचीनकाल में निर्ग्रन्थसम्प्रदाय के श्रावक भी निर्ग्रन्थ कहलाते थे, क्योंकि उस समय 'जैनसम्प्रदाय'

८७. देखिए, इसी प्रकार का शीर्षक क्र.८, छळभिजातिसुत्त / अंगुत्तरनिकायपालि (६,७,८ निपात/भा.३/पृ.९३-९४) का उद्धृत अंश।

‘निर्ग्रन्थसम्प्रदाय’ के नाम से ही प्रसिद्ध था। आजीविक सम्प्रदाय के साधु और श्रावक भी ‘आजीविक’ नाम से ही जाने जाते थे। अशोक के दिल्ली (टोपरा) स्तम्भाभिलेख में ब्राह्मणों, आजीविकों एवं निर्ग्रन्थों का उल्लेख हुआ है।^{८८} वहाँ ‘आजीविक’ (या ‘आजीवक’) और ‘निर्ग्रन्थ’ शब्दों से केवल नग्न साधु अर्थ अपेक्षित नहीं है, अपितु सम्प्रदाय-विशेष के नग्नसाधुओं से अधिप्राय है। अतः ये नाम उस समय सम्प्रदाय-विशेष के भी वाचक थे। इसलिए बौद्ध पिटकसाहित्य में निर्ग्रन्थसम्प्रदाय के श्रमण और श्रावक दोनों के लिए ‘निगण्ट’ संज्ञा का प्रयोग हुआ है।

मुनि श्री कल्याणविजय जी ने निर्ग्रन्थपुत्र सच्चक को ‘निर्ग्रन्थ जैन श्रमण सच्चक’ कहा है (श्र.भ.म./पृ.३२३), यह भ्रान्तिपूर्ण है। सम्पूर्ण बौद्धसाहित्य में निर्ग्रन्थश्रमण को कहीं भी ‘निर्ग्रन्थपुत्र’ शब्द से सम्बोधित नहीं किया गया। भगवान् महावीर को भी ‘निगण्टपुत्र’ नहीं कहा गया, अपितु ‘निगण्टनातपुत्र’ कहा गया है, जिसका अर्थ है नाथपुत्र (नाथवंशीय) या ज्ञातृपुत्र (ज्ञातृवंशीय) निर्ग्रन्थ श्रमण। इस पर प्रकाश डालते हुए पं० कैलाशचन्द्र जी शास्त्री लिखते हैं—

“दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनों इस बात से सहमत हैं कि महावीर कुण्डपुर या कुण्डग्राम के राजा सिद्धार्थ के पुत्र थे। और सिद्धार्थ दिगम्बरीय उल्लेखों के अनुसार णाह-वंश^{८९} या नाथवंश के क्षत्रिय थे और श्वेताम्बरीय उल्लेखों के अनुसार णायकुल के थे।^{९०} इसी से महावीर को णायकुलचन्द्र और णायपुत्र कहा है।

“णाह, णाय, णात ये सब शब्द एक ही अर्थ के वाचक हैं। इसी से ‘बुद्धचर्या’ में भी राहुल जी ने नाटपुत्र का अर्थ ज्ञातृपुत्र और नाथपुत्र दोनों किया है। अतः दिगम्बरों के अनुसार महावीर नाथपुत्र थे, तो श्वेताम्बरों के अनुसार ज्ञातृपुत्र थे। अतः बौद्धग्रन्थों में निर्दिष्ट णातपुत्र अवश्य ही जैनतीर्थङ्कर महावीर हैं। उस समय जाति और देश के आधार पर इस तरह के नामों के व्यवहार करने का चलन था। जैसे बुद्ध को शाक्यपुत्र कहा है, क्योंकि वे शाक्यवंश के थे और उनका जन्म शाक्य देश (कपिलवस्तु) में हुआ था। इसी से उनके अनुयायी श्रमण शाक्यपुत्रीय-श्रमण कहे जाते थे (बुद्धचर्या/

८८. “बाभनेसु आजीविकेसु पि मे कटे इमे वियापटा होहंतीति। निगंठेसु पि मे कटे इमे वियापटा होहंति।” जैनशिलालेखसंग्रह / माणिकचन्द्र / भा.२ / लेख क्र. १।

८९. क— कुण्डपुरपुरवरिस्सर सिद्धत्थक्खत्तियस्स णाहकुले।

तिसिलाए देवीए देवीसदसेवमाणए ॥ २३ ॥ जयधवला / क.पा. / भा.१ / पृ. ७८।

ख— णाहोग्गवंसेसु वि वीर-पासा ॥ ४ / ५५७ ॥ तिलोयपण्णत्ती।

ग— उग्रनाथौ पार्श्ववीरौ। (दशभक्ति / पृ. २४८)।

९०. “णातपुत्ते महावीरे एवमाहजिणुत्तमे।” सूत्रकृतांग १ / १ / १।

पृष्ठ ५५१)। इसी तरह महावीर भी अपनी जाति तथा वंश के आधार पर णाटपुत्र कहे जाते थे और उनके अनुयायी निर्ग्रन्थ 'नाथपुत्रीय निर्गंठ' कहे जाते थे (बुद्धचर्या/ पृ. ४८१)" (जै.सा.इ./ पू.पी./ पृ. २२३-२२४)।

इस कथन से स्पष्ट होता है कि निर्ग्रन्थश्रमणों के अनुयायी श्रावक का पुत्र होने से ही सच्चक को निर्ग्रन्थपुत्र कहा गया है, न कि स्वयं के निर्ग्रन्थश्रमण होने से। यदि स्वयं निर्ग्रन्थ श्रमण होता तो उसे निर्ग्रन्थ ही कहा जाता, निर्ग्रन्थपुत्र नहीं। सच्चक के निर्ग्रन्थ श्रावक होने के अन्य प्रमाण भी हैं, यथा—

१. भगवान् बुद्ध से वाद करते समय सच्चक के माथे से पसीने की बूँदें टपकने लगती हैं और उसके उत्तरासंग (उत्तरीय=दुपट्टे) को भेद कर भूमि पर गिर जाती हैं। उसकी इस दशा को सूचित करते हुए बुद्ध उससे कहते हैं—“तुहं खो पन, अग्गिवेस्सन, अप्पेकच्चाणि सेदफुसितानि नलाटामुत्तानि, उत्तरासङ्गं विनिभिन्दित्वा भूमियं पतिट्ठितानि।” (चूळसच्चकसुत्त / मज्झिमनिकायपालि / १. मूलपण्णासक / पृ. ३२१ / बौद्ध भारती, वाराणसी)।

इससे ज्ञात होता है कि सच्चक दुपट्टा ओढ़े हुआ था और दुपट्टा ओढ़ने से सिद्ध होता है कि वह अधोवस्त्र भी धारण किये होगा। इससे उसका एक शाटक (एकवस्त्रधारी) न होना सूचित होता है। यह पहला प्रमाण है कि सच्चक न तो मुनि श्री कल्याणविजय जी की मान्यतानुसार एक वस्त्रधारी श्वेताम्बर साधु था, न बाबू कामताप्रसाद जी के मतानुसार निर्ग्रन्थ सम्प्रदाय का 'एलक' नामक उत्कृष्ट श्रावक, अपितु वह एक सामान्य गृहस्थ था।

२. सच्चक गौतम बुद्ध को भोजन के लिए अपने बगीचे में आमन्त्रित करता है और नाना प्रकार के स्वादिष्ट व्यंजन बनवाकर बुद्ध तथा उनके सम्पूर्ण भिक्षुसंघ को अपने हाथ से परोसकर भोजन कराता है। यह बात निम्नलिखित शब्दों में कही गई है—

“अथ खो सच्चको निगण्ठपुत्तो सके आरामे षणीतं खादनीयं भोजनीयं पटियादापेत्वा भगवतो कालं आरोचापेसि—“कालो, भो गोतम, निट्ठितं भत्तं” ति। अथ खो भगवा पुब्बण्हसमयं निवासेत्वा पत्तचीवरमादाय येन सच्चकस्स निगण्ठ-पुत्तस्स आरामो तेनुपसङ्कमि। उपसङ्कमित्वा पज्जते आसने निसीदि सद्धिं भिक्खुसङ्केन। अथ खो सच्चको निगण्ठपुत्तो बुद्धप्पमुखं भिक्खुसङ्गं षणीतेन खादनीयेन भोजनीयेन सहत्था सन्तप्पेसि सम्पवारेसि।” (चूळसच्चकसुत्त / मज्झिमनिकायपालि / १. मूलपण्णासक/ पृ. ३२५ / बौद्ध-भारती, वाराणसी)।

किसी निर्ग्रन्थ श्रमण का न तो अपना कोई घर होता है, न कोई बागबगीचा, न इतना धनधान्य और नौकर-चाकर आदि परिग्रह कि एक बहुत बड़े भिक्षुसंघ को भोजन करा सके। यह सब एक गृहस्थ के ही हो सकता है। कोई श्रमण किसी को अपने हाथ से भोजन भी नहीं परोसता। अतः यह दूसरा प्रमाण है कि सच्चक श्रमण नहीं था, एक सामान्य गृहस्थ था।

४. निर्ग्रन्थश्रमण तो क्या, वह निर्ग्रन्थश्रावक का पुत्र होते हुए भी स्वयं निर्ग्रन्थों का अनुयायी नहीं था, क्योंकि वह गौतम बुद्ध से स्वयं कहता है कि मैंने मक्खलि गोसाल, अजित केसकम्बल, प्रकुध कात्यायण, सञ्जय वेलट्टपुत्त के अलावा निगण्ठनाटपुत्त से भी शास्त्रार्थ (वाद) किया था—

“अभिजानामहं, भो गौतम, मक्खलिं गोसालं --- पे०--- अजितं केसकम्बलं --- पकुधं कच्चायनं--- सञ्जयं बेलट्टपुत्तं ---निगण्ठं नाटपुत्तं वादेन वादं समारभिता। सो पि मया वादेन वादं समारब्धो अञ्जेनञ्जं पटिचरि, बहिब्धा कथं अपनापेसि, कोपं च दोसं च अप्पच्चयं च पात्वाकासि।”(महासच्चकसुत्त / मज्झिमनिकायपालि / १. मूलपण्णासक / पृ. ३४५ / बौद्धभारती, वाराणसी)।

जो भगवान् महावीर से भी शास्त्रार्थ कर सकता है, वह उनका शिष्य भी नहीं हो सकता, तब उनके निर्ग्रन्थसम्प्रदाय का श्रमण होने की तो बात ही दूर। बाबू कामताप्रसाद जी ने भी भगवान् महावीर और महात्मा बुद्ध नामक ग्रन्थ में कहा है कि “सच्चक एक जैनी का पुत्र होते हुए भी जैन नहीं है।” (पृ. २०१)। उन्होंने यह भी लिखा है कि “सच्चक का यह कथन तथ्य नहीं रखता कि उसने महावीर स्वामी को वाद (शास्त्रार्थ) में परास्त किया था, क्योंकि वह स्वयं महात्मा बुद्ध से ‘वाद’ में पराजित हुआ है।” (पृ. २०१)।

उपर्युक्त प्रमाणों से सिद्ध होता है कि निगण्ठपुत्त सच्चक निर्ग्रन्थों के अनुयायी श्रावक का पुत्र था, और निर्ग्रन्थश्रावक का पुत्र होते हुए भी स्वयं निर्ग्रन्थश्रावक नहीं था, अपितु एक अनिर्ग्रन्थ गृहस्थ था। उसकी विशेषता सिर्फ यह थी कि वह वादपण्डित अर्थात् शास्त्रार्थप्रवीण था।^{११} अतः मुनि कल्याणविजय जी की यह मान्यता भ्रान्तिपूर्ण है कि सच्चक श्रमण था।

चूँकि सच्चक निर्ग्रन्थ श्रमण नहीं था, और न किसी निर्ग्रन्थ श्रमण का पुत्र हो सकता था, फिर भी उसे निर्ग्रन्थपुत्र कहा गया है, इससे स्पष्ट है कि वह निर्ग्रन्थों

११. “तेन खो पन समयेन सच्चको निगण्ठपुत्तो वेसालियं पटिवसति भस्सप्पवादको पण्डितवादो साधुसम्मतो बहुजनस्स।” चूळसच्चकसुत्त / मज्झिमनिकायपालि / १. मूलपण्णासक / पृ. ३१३.५ बौद्धभारती, वाराणसी।

के अनुयायी श्रावक का पुत्र था। यह इस बात का प्रमाण है कि बौद्ध-त्रिपिटक-साहित्य में निर्ग्रन्थसम्प्रदाय के श्रावकों को भी 'निर्ग्रन्थ' शब्द से सम्बोधित किया गया है।

इसका बहुत स्पष्ट प्रमाण जातक-अट्टकथा (तृतीय भाग) की चूलकालिङ्ग-जातकवण्णना में मिलता है। इसमें न केवल निर्ग्रन्थश्रावक को 'निर्ग्रन्थ' शब्द से अभिहित किया गया है, अपितु निर्ग्रन्थश्राविका के लिए भी 'निर्ग्रन्थी' शब्द व्यवहृत हुआ है। यथा—

“विवरथिमासं द्वारन्ति इदं सत्था जेतवने विहरन्तो चतुन्नं परिब्बाजिकानं पब्बज्जं आरब्भ कथेसि। वेसालियं किर लिच्छविराजूनं सत्त सहस्सानि सत्त सतानि सत्त च लिच्छवी वसिंसु। ते सब्बेपि पुच्छापटिपुच्छाचित्तका अहेसुं। अथेको पञ्चसु वादसतेसु ब्यत्तो निगण्ठो वेसालियं सम्पापुणि, ते तस्य सङ्गहं अकंसु। अपरापि एवरूपा निगण्ठी सम्पापुणि। राजानो द्वेपि जने वादं कारेसुं, उभोपि सदिसाव अहेसुं। ततो लिच्छवीनं एतदहोसि “इमे द्वेपि पटिच्च उप्पन्नो पुत्तो ब्यत्तो भविस्सती” ति। तेसं विवाहं कारेत्वा द्वेपि एकतो वासेसुं। अथ नेसं संवासमन्वाय पटिपाटिया चतस्सो दारिकायो एको च दारको जायि। दारिकानं 'सच्चा', 'लोला', 'अवधारिका', 'पटिच्छादा' ति नामं अकंसु दारकस्य 'सच्चको' ति। ते पञ्चपि जना विञ्जुतं पत्ता मातितो पञ्च वादसतानि, पितितो पञ्च वादसतानीति वादसहस्सं उग्गण्हंसु। मातापितरो दारिकानं एवं ओवदिंसु—“सचे कोचि गिही तुम्हाकं वादं भिन्दिस्सति, तस्स पादपरिचारिका भवेय्याथ। सचे पब्बजितो भिन्दिस्सति, तस्स सन्तिके पब्बजेय्या था” ति। अपरभागे मातापितरो कालमकंसु। तेसु कालकतेसु सच्चकनिगण्ठो तत्थेव वेसालियं लिच्छवीनं सिप्यं सिक्खापेन्तो वसि।” ९२

यह केवल प्रासंगिक पालिमूल यहाँ दिया गया है। सम्पूर्ण कथा का श्री भदन्त आनन्द कौसल्यायन-कृत हिन्दी अनुवाद नीचे दिया जा रहा है। उन्होंने इसे चुल्लकालिङ्ग-जातक नाम से वर्णित किया है।

चुल्लकालिङ्ग-जातक

वैशाली में सात हजार सात सौ सात लिच्छवी-राजा रहते थे। वे सभी शास्त्रार्थ-कुशल थे। एक बार एक पाँच सौ वादों (मतों) में पंडित निर्ग्रन्थ वैशाली पहुँचा। उन्होंने उसका आदर-सत्कार किया। एक दूसरी उसी तरह की निर्ग्रन्थी भी आ पहुँची। राजाओं ने दोनों का शास्त्रार्थ कराया। दोनों बराबर रहे। तब लिच्छवियों ने

९२. चूलकालिङ्गजातकवण्णना/खुदकनिकाये जातक-अट्टकथा/भा.३/पृ. १-२/विपश्यना विशोधन विन्यास इगतपुरी, सन् १९९८ ई.।

सोचा—‘इन दोनों से उत्पन्न पुत्र मेधावी होगा।’ उन्होंने दोनों का विवाह कराकर, उन्हें एक जगह बसाया। दोनों के सहवास से क्रमशः चार लड़कियाँ और एक लड़का पैदा हुआ। लड़कियों का सच्चा, लोला, अववादका (अवधारिका) और पटाचारा (पाटिच्छादा) नाम रखा गया तथा लड़के का सच्चक। उन पाँचों ने बड़े होने पर माता से पाँच सौ वाद और पिता से पाँच सौ वाद, इस प्रकार एक हजार वाद सीख लिये। माता-पिता ने लड़कियों को यह नसीहत दी कि यदि कोई गृहस्थ तुम्हें शास्त्रार्थ में हरा दे, तो उसकी चरण-दासियाँ बन जाना और यदि कोई प्रव्रजित हरा दे तो उसके पास प्रव्रजित हो जाना। समय-बीतने पर माता-पिता चल बसे।

उनके मरने पर सच्चक निर्ग्रन्थ वहीं वैशाली में लिच्छवियों को शिल्प (विद्या) सिखाता हुआ रहने लगा। बहनों ने जम्बु-शाखा ले, शास्त्रार्थ के लिए नगर-नगर घूमना आरम्भ किया। श्रावस्ती पहुँच उन्होंने नगर-द्वार पर शाखा गाड़ दी और बालकों से कहा कि जो हमसे शास्त्रार्थ कर सके, वह गृहस्थ हो या प्रव्रजित, इस बालू की ढेरी को पाँव से बिखेर कर इस जम्बु-शाखा को पाँव से ही कुचल दे। यह कहकर वे भिक्षार्थ नगर में गईं।

आयुष्मान् सारिपुत्र बिना बुहारी जगह को बुहार कर खाली घड़ों में पानी भर, और रोगियों की सेवा कर दिन चढ़ने पर भिक्षार्थ निकले। उन्होंने वह शाखा देखी, और लड़कों से पूछा। लड़कों के बतलाने पर उन्होंने उसे लड़कों से ही गिरवाकर कुचलवा दिया और उनसे कहा कि जिन्होंने यह शाखा गाड़ी हो, वे भोजन समाप्त कर जेतवन की ड्योढ़ी पर आकर मुझसे मिलें। भिक्षा से लौट कर भोजनान्तर वे विहार की ड्योढ़ी पर ही रहे। उन परिव्राजिकाओं ने भी भिक्षा से लौट, उस शाखा को मर्दित देखकर पूछा—

“इसे किसने कुचला?”

“सारिपुत्र स्थविर ने। यदि तुम शास्त्रार्थ करना चाहो, तो विहार की ड्योढ़ी पर जाओ।”

बच्चों से यह सुन, वे फिर नगर में गईं और जनता को इकट्ठा कर विहार की ड्योढ़ी पर पहुँची। वहाँ उन्होंने स्थविर से एक हजार प्रश्न पूछे। स्थविर ने उत्तर देकर पूछा—

“और भी कुछ जानती हो?”

“स्वामी! नहीं जानती।”

“मैं कुछ पूछूँ?”

“स्वामी पूछें। जानती होंगी, तो कहेंगी।”

स्थविर ने पूछा—“एक बात क्या है?”

वे नहीं बता सकीं, तब स्थविर ने बताया। इस पर वे बोलीं—

“स्वामी! हमारी पराजय हुई। आपकी जय हुई।”

“अब क्या करोगी?”

“हमारे माता-पिता ने हमसे कहा था कि यदि गृहस्थ से पराजित हुई, तो उसकी गृहिणी बन जाना और यदि प्रव्रजित से पराजित हुई, तो उनके पास प्रव्रजित हो जाना। आप हमें प्रव्रजित करें।”

स्थविर ने ‘अच्छा’ कहकर उन्हें उत्पलवर्णा स्थविरी के पास प्रव्रजित कराया। सभी शीघ्र ही अर्हत्व को प्राप्त हुईं।

भिक्षुओं ने धर्मसभा में चर्चा की—आयुष्मानो! सारिपुत्र स्थविर ने चारों परिव्राजिकाओं का सहायक हो, सभी को अर्हत्व प्राप्त करा दिया।^{१३}

इस कथा में निर्ग्रन्थसम्प्रदाय के शास्त्रार्थकुशल श्रावक-श्राविका को ‘निर्ग्रन्थ’ और ‘निर्ग्रन्थी’ शब्दों से सम्बोधित किया गया है। वे श्रमण और श्रमणी नहीं थे, यह इसी बात से सिद्ध है कि वैशाली के शास्त्रार्थनिपुण ‘सात हजार सात सौ सात’ लिच्छवी राजागणों और अन्य धर्मवृद्ध लोगों ने, जो संभवतः निर्ग्रन्थसम्प्रदाय के ही रहे होंगे, उनका विवाह कराना उचित समझा और वे निर्ग्रन्थ-निर्ग्रन्थी भी इसके लिए तैयार हो गये। यदि वे मुनि और आर्यिका होते, तो पहले तो स्वयं ऐसा पापकर्म करने में लज्जित होते, पुनः यदि वे निर्लज्ज होकर ऐसा कदम उठाते, तो वैशाली के शास्त्रार्थकुशल लिच्छवी-राजागण और अन्य धर्मवृद्ध उन्हें ऐसा करने से रोकते, क्योंकि धर्म और सामाजिक मर्यादाओं की रक्षा करने का उत्तरदायित्व उन पर था। अतः वे श्रावक-श्राविका ही थे, फिर भी उनके लिए ‘निर्ग्रन्थ’ और ‘निर्ग्रन्थी’ शब्दों का प्रयोग किया गया है। इसके अतिरिक्त उनसे जो चार पुत्रियों के अतिरिक्त एक ‘सच्चक’ नाम का पुत्र उत्पन्न हुआ था, वह वैशाली में रहकर ही लिच्छवियों को शिल्प सिखाने लगा था, जिससे सूचित होता है कि वह गृहस्थ ही था। उसके लिए भी कथा में ‘निर्ग्रन्थ’ शब्द का प्रयोग किया गया है। संभवतः सच्चक वही निर्ग्रन्थपुत्र सच्चक है, जिसका वर्णन ‘मञ्जिमनिकायपालि’ (भा.१) के ‘महासच्चकसुत’ में हुआ है। ये प्रयोग इस

१३. अनुवादक : भदन्त आनन्द कौसल्यायन / चुल्लकालिंगजातक / परिच्छेद ४ / जातक / तृतीय खण्ड / पृ. १७२-१७३ / हिन्दी साहित्य सम्मेलन प्रयाग, सन् १९९० ई।

बात के प्रमाण हैं कि बौद्धसाहित्य में निर्ग्रन्थसम्प्रदाय के श्रावकों को भी 'निर्ग्रन्थ' शब्द से सम्बोधित किया गया है, क्योंकि अन्य सम्प्रदायों से उनकी भिन्नता दर्शाने के लिए इसके अतिरिक्त और कोई शब्द ही नहीं था। इसलिए मुनि श्री कल्याणविजय जी का यह कथन समीचीन नहीं है कि बौद्धसाहित्य में सर्वत्र जैन श्रावकों का कथन 'निगंठसावक' या 'निगंठस्स नाथपुत्तस्स सावका' शब्दों से हुआ है, 'निगण्ठ' शब्द से भी हुआ है, यह उपर्युक्त प्रमाणों से सिद्ध है।

१३

'ओदातवसन' का अर्थ श्वेतवस्त्रधारी

मुनि श्री कल्याणविजय जी की दूसरी आपत्ति यह है कि 'ओदातवसन' में 'ओदात' (अवदात) का अर्थ श्वेत नहीं, अपितु उज्वल अथवा स्वच्छ है और उज्वल श्वेत भी हो सकता है और अन्यवर्ण भी। (श्र.भ.म./पृ.३२३)। किन्तु संस्कृत-हिन्दीकोश तथा पालि-हिन्दीकोश में 'ओदात' एवं 'अवदात' का अर्थ श्वेत भी मिलता है। प्रसिद्ध बौद्ध विद्वान् श्री भदन्त आनन्द कौसल्यायन ने अपने पालि-हिन्दीकोश में 'ओदातवसन' का अर्थ एकमात्र 'श्वेतवस्त्रधारी' ही किया है।

तथा सम्राट् अशोक के सारनाथ-लघुस्तम्भलेख में लिखा है कि जो भिक्षु या भिक्षुणी संघ में भेद उत्पन्न करेगा, उसे अवदातवस्त्र धारण कराकर एकान्त स्थान में रखा जायेगा—“भिखू वा भिखुनि वा संघं भाखति से ओदातानि दुसानि सनंधापयि या आनावाससि आवासयिये।”^{१४}

यहाँ ध्यान देने योग्य है कि बौद्ध भिक्खु लाल रंग के वस्त्र पहनते थे, आज भी पहनते हैं। उन्हें संघभेद करने के दण्डस्वरूप अवदात दूष्य (वस्त्र) धारण कराकर अलग रखने की चेतावनी दी गई है। क्या यहाँ लाल रंग के वस्त्रों को उज्वल करके पहनाने का आशय है? ऐसा करना दण्ड होगा या पुरस्कार? वस्तुतः रक्तपट बौद्ध भिक्खु-भिक्खुनियों का धार्मिक वेश है। उसे छीनकर श्वेतवस्त्र पहनाने से ही बहिष्काररूप दण्ड फलित हो सकता है। अतः यहाँ अवदातवस्त्र से श्वेतवस्त्र अर्थ ही अभिप्रेत है।

तात्पर्य यह कि उपर्युक्त धार्मिक प्रकरणों में 'अवदातवस्त्र' शब्द श्वेतवस्त्र अर्थ का ही वाचक है। अतः दीघनिकायपालि (भा. ३) के 'पासादिकसुत्त' में कथित “ये पि निगण्ठस्स नाटपुत्तस्स सावका गिही ओदातवसना” इस वाक्य का “महावीर के श्वेतवस्त्रधारी गृहस्थ श्रावक” यह अर्थ स्वीकार करना सर्वथा उचित है।

१४. सारनाथ-लघुस्तम्भलेख / 'भारतीय पुरालेखों का अध्ययन': डॉ. शिवरूप सहाय/ पृ. १३.५५।

‘दिव्यावदान’ में निर्ग्रन्थ-श्रमण का नग्नरूप

‘दिव्यावदान’ संस्कृत में लिखित प्राचीन बौद्धग्रन्थ है। विद्वानों ने इसका रचनाकाल प्रथम शताब्दी ई० माना है।^{१५} इसकी सर्वप्रथम खोज श्री बी. एच. हॉजसन (Hodgson) ने नेपाल में की थी। और इसका पहला सम्पादन कैम्ब्रिज विश्वविद्यालय के संस्कृत के प्रोफेसर श्री एफ० बी० कावेल (Cowell) एवं व्याख्याता श्री आर० ए० नील (Neil) ने रोमनलिपि में किया है। इस ग्रन्थ की भाषा मिश्र (Hybrid) संस्कृत है, क्योंकि इसमें पालिभाषा के शब्दों और प्रयोगों का मिश्रण है। इसमें अपाणिनीय प्रयोग भी अनेकत्र हैं, तथा ऐसे अनेक शब्द मिलते हैं जिनका प्रयोग संस्कृतसाहित्य में उपलब्ध नहीं होता। कई शब्द ऐसे हैं, जिनका व्यवहार अपरिचित अर्थ में किया गया है। ये ग्रन्थ की प्राचीनता के लक्षण हैं। इनका विस्तार से विवेचन श्री ‘कावेल’ और ‘नील’ ने ‘दिव्यावदान’ की भूमिका में किया है।

‘दिव्यावदान’ में एक ‘प्रतिहार्यसूत्र’ नाम की कथा है, जिसमें निर्ग्रन्थ श्रमणों को नग्नवेशधारी बतलाया गया है। कथा का सार यह है कि निर्ग्रन्थ श्रमण ‘पूरण काश्यप’ गौतम बुद्ध से ऋद्धिप्रातिहार्य-प्रदर्शन (चमत्कार-प्रदर्शन) की प्रतिस्पर्धा में पराजित और यक्ष द्वारा उत्पन्न आतंक से भयभीत होकर भाग जाता है तथा गले में बालुकाघट बाँधकर शितिका नामक पुष्पकरिणी में कूदकर आत्महत्या कर लेता है। उसके अनुयायी निर्ग्रन्थ-श्रमण उसे ढूँढ़ते हुए मार्ग में एक गणिका को देखकर पूछते हैं—“क्या तुमने पूरण निर्ग्रन्थ को देखा है, जिसका शरीर धर्मवस्त्र से आवृत था?” गणिका कहती है—“वह तो शितिका पुष्पकरिणी में डूबकर मर गया।” निर्ग्रन्थ श्रमण कहते हैं—“ऐसा मत कहो। वह तो धर्मवस्त्र से शरीर को आवृत कर धर्माचरण करनेवाला मुनि है।” गणिका कहती है—

“वह अज्ञानी पुरुष बुद्धिमान् कैसे हो सकता है, जो लोगों के सामने नग्न होकर गाँव में घूमता-फिरता है, जिसका ‘धर्म’ लिंग का प्रदर्शन करना है (‘यस्यायमीदृशो धर्मः पुरस्ताल्लम्बते दशा’) उसके तो दोनों कान राजा को छूरे से कटवा देने चाहिए।”

वे निर्ग्रन्थ श्रमण ‘शितिका’ नामक पुष्पकरिणी (सरोवर) पर जाते हैं और देखते हैं कि पूरण काश्यप उसमें मरा पड़ा है। वे उसके शव को पुष्पकरिणी से निकालते हैं और एक तरफ छोड़कर चले आते हैं। कथा का प्रासंगिक संस्कृत मूलपाठ नीचे दिया जा रहा है—

१५. बलदेव उपाध्याय : संस्कृत साहित्य का इतिहास / पृ. ४३७।

“अथ पूरणो निर्ग्रन्थो बालुकाघटं कण्ठे बद्ध्वा शितिकायां पुष्करिण्यां^{९६} पतितः। स तत्रैव कालगतः। अथ ते निर्ग्रन्थाः पूरणं मृगयमाणाः प्रतिमार्गे गणिकां दृष्ट्वा पृच्छन्ति— भद्रे! कञ्चित् त्वमद्राक्षीर्गच्छन्तमिह पूरणं धर्मशाटप्रतिच्छन्नं कटच्छत्रतभोजनम्? गणिका प्राह—

आपायिको नैरयिको मुक्तहस्तावचारकः।
स्वेताभ्यां^{९७} पाणिपादाभ्यां एष ध्वंसति पूरणः॥
भद्रे मैवं वोचस्त्वं नैतत्तव सुभाषितम्।
धर्मशाटप्रतिच्छन्नो धर्म सञ्चरते मुनिः॥

गणिका प्राह—

कथं स बुद्धिमान् भवति पुरुषो व्यञ्जनावितः।
लोकस्य पश्यतो योऽयं ग्रामे चरति नग्नकः॥
यस्यायमीदृशो धर्मः पुरस्ताल्लम्बते दशा।
तस्य वै श्रवणौ राजा क्षुरप्रेणावकृन्ततु॥

अथ ते निर्ग्रन्था येन शितिका पुष्करिणी तेनोपसङ्क्रान्ताः। अद्राक्षुस्ते निर्ग्रन्थाः पूरणं काश्यपं पुष्करिण्यां मृतं कालगतम्। दृष्ट्वा च पुनः पुष्करिण्या उद्धृत्यैकान्ते छोरयित्वा प्रकान्ताः।”^{९८}

यहाँ जिस पूरण काश्यप की चर्चा है, वह अक्रियवादी पूरण काश्यप से भिन्न है, क्योंकि अक्रियवादी पूरण काश्यप निर्ग्रन्थसम्प्रदाय का नहीं था, किन्तु यह निर्ग्रन्थसम्प्रदाय का था।

इस कथा में बतलाया गया है कि निर्ग्रन्थ पूरण काश्यप के अनुयायी निर्ग्रन्थ उसके शव को पुष्करिणी से निकालकर एकतरफ छोड़कर चले जाते हैं। यह निर्ग्रन्थ मुनियों के अन्तिम संस्कार की वही विजहना प्रथा है, जिसका वर्णन ‘भगवती-आराधना’ में किया गया है। इस प्रथा के उल्लेख की समानता से ‘भगवती-आराधना’ ग्रन्थ भी ‘दिव्यावदान’ के समान ही प्राचीन सिद्ध होता है।

प्रथम शताब्दी ई० में रचित ‘दिव्यावदान’ में निर्ग्रन्थ मुनियों के नग्नरूप का वर्णन होने से सिद्ध है कि प्राचीन बौद्धसाहित्य में दिगम्बर जैन मुनियों का उल्लेख है।

९६. ‘पुष्करिण्यां’ होना चाहिए।

९७. ‘श्वेताभ्यां’ होना चाहिए।

९८. The Divyāvadāna , pp.165-166.

धम्मपद-अट्टकथा में निर्ग्रन्थ का नग्नरूप

अट्टकथा-साहित्य की रचना चौथी-पाँचवी शताब्दी ई० में हुई है। धम्मपद-अट्टकथा के रचयिता बुद्धघोष हैं। इसमें एक विसाखावत्थु नाम की कथा है, जिसमें निर्ग्रन्थों को नग्नरूप में वर्णित किया गया है। कथा इस प्रकार है—

“मिगारसेट्टिपि पुत्तस्स आवाहमङ्गलं करोन्तो धुरविहारे वसन्तम्मि तथागतं अमन-सिकरित्वा दीघरत्तं नगमसमणकेसु पतिट्टितेन पेमेन चोदियमानो “मय्हं अय्यानम्मि सक्कारं करिस्सामी” ति एकदिवसं अनेकसतेसु नवभाजनेसु निरुदकपायासं पचापेत्वा पञ्चसते अचेलके निमन्तापेत्वा अन्तोगेहं पवेसत्वा, “आगच्छतु मे सुणिसा, अरहन्ते वन्दतू” ति विसाखाय सासनं पहिणि। सा ‘अरहन्तो’ ति वचनं सुत्वा सोतापन्ना अरियसाविका हट्टतुट्टा हुत्वा तेसं भोजनद्वानं आगन्त्वा ते ओलोकेत्वा, “एवरूपा हिरोतप्पविरहिता अरहन्ता नाम न होन्ति, कस्मा मं ससुरो पक्कोसापेसी” ति, ‘धी, धी’ ति सेट्टिं गरहित्वा अत्तनो वसनद्वानमेव गता। अचेलका तं दिस्वा सब्बे एकप्पहारेनेव सेट्टिं गरहिंसु—“किं त्वं गहपति, अञ्जं नालत्थ, समणस्स गोतमस्स साविकं महाकाळकण्णिं इध पवेसेसि, वेगेन नं इमस्मा गेहा निक्काङ्गापेही” ति। सो ‘न सक्का मया इमेसं वचनमतेनेव निक्काङ्गापेतुं, महाकुलस्स सा धीता’ ति चिन्तेत्वा, “अय्या, दहरा नाम जानित्वा वा अजानित्वा वा करेय्युं, तुम्हे तुण्ही होथा” ति ते उय्योजेत्वा सयं महारहे आसने निसीदित्वा सुवण्णपातियं निरुदकं मधुपायासं परिभुञ्जि।

“तस्मिं समये एको पिण्डपातिकत्थेरो पिण्डाय चरन्तो तं निवेशनं पाविसि। विसाखा ससुरं बीजयमाना ठिता तं दिस्वा ‘ससुरस्स आचिक्खित्तुं अयुत्तं’ न्ति यथा सो थेरं पस्सति, एवं अपगन्त्वा अट्टासि। सो पन बालो थेरं दिस्वापि अपस्सन्तो विय हुत्वा अधोमुखो भुञ्जतेव। विसाखा ‘थेरं दिस्वापि मे ससुरो सञ्जं न करोती’ ति जत्वा, “अतिच्छथ भन्ते, मय्हं ससुरो पुराणं खादती” ति आह। सो निगण्ठेहि कथितकाले अधिवासेत्वापि ‘पुराणं खादती’ ति वुत्तक्खणेयेव हत्थं अपनेत्वा, “इमं पायासं इतो नीहरथ, एतं इमस्मा गेहा निक्कङ्कथ, अयं मं एवरूपे मङ्गलकाले असुचिखादकं नाम करोती” ति आह।”^{९९}

अनुवाद

“मिगार सेठ अपने पुत्र के विवाह का मंगल (उत्सव) कर रहा था। यद्यपि पड़ौस के विहार में तथागत (बुद्ध) निवास करते थे, तो भी उनकी उपेक्षा कर सेठ ने नग्न श्रमणों के प्रेम से प्रेरित हो ‘मैं आर्यों का भी सत्कार करूँगा’ ऐसा सोचकर

९९. विसाखावत्थु/क्र.८/खुदकनिकाये धम्मपद-अट्टकथा/भाग १/पृ. २२३-२२४।

एक दिन सैकड़ों नये वर्तनों में जलरहित खीर पकवाई और पाँच सौ नगनमुनियों को आमंत्रित कर घर के भीतर प्रवेश करवाया। मुनियों के आने पर सेठ ने विशाखा (पुत्रवधू) के पास आदेश भिजवाया कि वह आकर मुनियों को प्रणाम करे। विशाखा 'मुनि' नाम सुनकर बहुत प्रसन्न हुई और भोजनशाला में आयी, किन्तु नगन मुनियों को देखकर सोचने लगी कि मुनि तो ऐसे लज्जा-भयरहित नहीं होते। मेरे ससुर ने मुझे क्यों बुलवाया? 'छी-छी' इस प्रकार सेठ की निन्दा करती हुई अपने आवास में चली गयी। नगन मुनि उसे देखकर एक साथ सेठ की निन्दा करने लगे—'धिक्कार है गृहपति! क्या तुम्हें और कोई नहीं मिली, जो तुम श्रमण गौतम की श्राविका को घर में ले आये? इसे तुरन्त घर से निकालो।' सेठ सोचने लगा—'इनके कहने मात्र से मैं इसे नहीं निकाल सकता। यह बड़े कुल की बेटा है।' यह सोचकर वह मुनियों से बोला—'आर्य! यह बालिका है, जाने-अनजाने में यह ऐसा कर बैठी। आप ही शान्त रहें' इस प्रकार समझा-बुझाकर सेठ ने उन्हें बिदा किया और स्वयं बहुमूल्य आसन पर बैठकर स्वर्णपात्र में निर्जल मधुर खीर खाने लगा।

“उसी समय एक भिक्षु भिक्षा के लिए भ्रमण करता हुआ उसके घर में प्रविष्ट हुआ। विशाखा ससुर को पंखा झल रही थी। उसने सोचा—'ससुर को बतलाना ठीक नहीं है, स्वयं ही भिक्षु को देख लेंगे।' किन्तु सेठ भिक्षु को देखकर भी अनदेखा करता हुआ नीचे मुँह किये हुए भोजन करता रहा। विशाखा ने यह देखकर कि मेरे ससुर भिक्षु को देखकर भी उसकी ओर ध्यान नहीं दे रहे हैं, भिक्षु से कहा—'भन्ते! आप जायँ, मेरे ससुर 'पुराना' खा रहे हैं।' जिस सेठ ने पहले विशाखा को निर्ग्रन्थों से क्षमा करा दिया था, उसने इस समय 'पुराना खा रहे हैं (बासी खा रहे हैं) ये वचन सुनते ही भोजन से हाथ हटा लिया और सेवकों से बोला—'यह खीर ले जाओ और इसे (विशाखा को) इस घर से निकाल दो। यह मुझे इस मंगल अवसर पर अशुचिभक्षण करा रही है।'”

यह उपर्युक्त पालि उद्धरण का अनुवाद है। इसके बाद विशाखा स्पष्ट कर देती है कि “पुराना खा रहे हैं इस कथन का आशय यह था कि मेरे ससुर पूर्वार्जित पुण्यों का ही भोग कर रहे हैं, इस समय भिक्षा न देकर नया पुण्य अर्जित करने से वंचित हो रहे हैं।” बाद में अपनी पुत्रवधू विशाखा की प्रेरणा से बुद्ध का उपदेश सुनकर सेठ बुद्ध का अनुयायी बन जाता है और विशाखा को अपनी माता मान लेता है।

इस कथा में निर्ग्रन्थों को स्पष्ट शब्दों में नग्नश्रमण कहा गया है और विशाखा, जो कि बुद्धोपासक परिवार से आयी थी, मुनियों के नग्नरूप को देखकर उन्हें लज्जाभय

से रहित कहकर अमुनि घोषित कर देती है और प्रणाम किये बिना ही चली जाती है, इससे भी सिद्ध हो जाता है कि उत्तरकालीन बौद्धसाहित्य में भी निर्ग्रन्थमुनि नग्नरूप में ही वर्णित हैं।

१६

निर्ग्रन्थ में अवास्तविक आचरण का चित्रण

बुद्ध के प्रति विशाखा की अनन्य भक्ति दर्शाने के लिए निर्ग्रन्थों के प्रति उसका तीव्र घृणाभाव दर्शाना आवश्यक था। इसका अवसर उपस्थित करने के लिए धम्मपद-अट्टकथा के कर्ता बुद्धघोष ने निर्ग्रन्थों को ऐसा आचरण करते हुए दिखाया है, जो वास्तविकता के विरुद्ध है। निर्ग्रन्थ मुनि भोजन का निमन्त्रण स्वीकार नहीं करते, अपितु नियत समय पर आहार के लिए स्वयं ही श्रावकों के घरों के सामने से निकलते हैं। उस समय जो भी श्रावक उनका भक्तिपूर्वक प्रतिग्रहण करता है और उनके द्वारा ग्रहण किया गया अभिग्रह (वृत्तिपरिसंख्यान=आहारसम्बन्धी नियमविशेष) यदि वहाँ पूर्ण होता है, तो उसी के घर में खड़े होकर पाणिपात्र में आहार ग्रहण करते हैं। किन्तु बुद्धघोष ने लिखा है कि मिगारश्रेष्ठी ने पाँच सौ निर्ग्रन्थों को भोजन के लिए आमन्त्रित किया और घर में प्रवेश कराया। यदि बुद्धघोष निर्ग्रन्थों को भोजन का निमन्त्रण स्वीकार करनेवाला न दर्शाते, तो पाँच सौ मुनियों का एक घर में आहार के लिए एक साथ प्रवेश युक्तिसंगत सिद्ध न होता और वैसा न होने पर विशाखा के द्वारा पाँच सौ निर्ग्रन्थों का अपमान किया जाना संभव न होता। अतः इसे संभव बनाने के लिए बुद्धघोष ने निर्ग्रन्थों को निमन्त्रण देने पर भोजन के लिए आनेवाले साधुओं के रूप में चित्रित किया है, जो वास्तविकता के विरुद्ध है। ऐसा एक उदाहरण धम्मपद-अट्टकथा की 'निगंठवत्थु अट्टकथा' में भी मिलता है। कथा इस प्रकार है—

“अलज्जितायेति इमं धम्मदेसनं सत्था जेतवने विहरन्तो निगण्ठे आरब्भ कथेसि। एकस्मिञ्चि दिवसे भिक्खू निगण्ठे दिस्वा कथं समुट्ठापेसुं, “आवुसो, सब्बसो अप्पटि-च्छन्नेहि अचेलकेहि इमे निगण्ठा वरतरा, ये एकं पुरिमपस्समि ताव पटिच्छादेन्ति, सहिरिका मञ्जे एते” ति। तं सुत्वा निगण्ठा “न मयं एतेन कारणेन पटिच्छादेम, पंसुरजादयो पन पुग्गला एव, जीवित्तिन्द्रियपटिबद्धा एव, ते नो भिक्खाभाजनेसु मा पतिंसूति इमिना कारणेन पटिच्छादेमा” ति वत्त्वा तेहि सद्धिं वादपटिवादवसेन बहुं कथं कथेसुं। भिक्खू सत्थारं उपसङ्गमित्त्वा निसिन्नकाले तं पवत्ति आरोचेसुं। सत्था, “भिक्खवे, अलज्जितब्बेन लज्जित्त्वा, लज्जितब्बेन अलज्जमाना नाम दुग्गतिपरायणाव होन्ती” ति वत्त्वा धम्मं देसन्तो इमा गाथा अभासि—

अलज्जिताये लज्जन्ति, लज्जिताये न लज्जेरे।

मिच्छादिद्विसमादाना, सत्ता गच्छन्ति दुग्गतिं ॥ ३१६ ॥

अभये भयदस्सिनो, भये चाभयदस्सिनो।

मिच्छादिद्विसमादाना, सत्ता गच्छन्ति दुग्गतिं न्ति ॥ ३१७ ॥ धम्मपद।

“तथ अलज्जिताये ति अलज्जितब्बेन। भिक्खाभाजनञ्चि अलज्जितब्बं नाम, ते पन तं पटिच्छादेत्वा विचरन्ता तेन लज्जन्ति नाम। लज्जितायेति अपटिच्छन्नेन हिरिकोपीनङ्गेन लज्जितब्बेन। ते पन तं अपटिच्छादेत्वा विचरन्ता लज्जिताये न लज्जन्ति नाम। तेन तेसं अलज्जितब्बेन लज्जितं लज्जितब्बेन अलज्जितं तुच्छगहणभावेन च अज्जथागहणभावेन च मिच्छादिद्वि होति। तं समादियित्वा विचरन्ता पन ते मिच्छादिद्विसमादाना सत्ता निरयादिभेदं दुग्गतिं गच्छन्तीति अत्थो। अभयेति भिक्खाभाजनं निस्साय रागदोस-मोह-मानदिद्वि-किलेसदुच्चरितभयानं अनुप्पज्जनतो भिक्खाभाजनं अभयं नाम, भयेन तं पटिच्छादेन्ता पन अभये भयदस्सिनो नाम। हिरिकोपीनङ्गं पन निस्साय रागादीनं उप्पज्जनतो तं भयं नाम, तस्स अपटिच्छादनेन भये चाभयदस्सिनो। तस्स तं अयथागहणस्स समादिन्ता मिच्छा-दिद्विसमादाना सत्ता दुग्गहिं गच्छन्तीति अत्थो।”^{१००}

अनुवाद

“अलज्जिताये” इत्यादि धर्मदेशना शास्ता ने जेतवन में विहार करनेवाले निर्ग्रन्थों को लक्ष्य में रखकर की है। एक दिन (बौद्ध) भिक्षु निर्ग्रन्थों को देखकर चर्चा करने लगे—“मित्रो, सर्वथा नग्न रहनेवाले साधुओं से ये निर्ग्रन्थ अच्छे हैं, क्योंकि ये सामने का भाग ढँके रहते हैं। इसलिए लगता है कि ये सहीक (लज्जावान्) हैं। यह सुनकर निर्ग्रन्थ बोले—“हम इस कारण (लज्जा के कारण) नहीं ढँकते हैं, प्रत्युत धूल आदि भी जीव (पुद्गल)^{१०१} ही हैं, वे जीवन और इन्द्रियों से संयुक्त ही हैं, वे हमारे भिक्षापात्रों में न गिर जायँ, इस कारण हम ढँकते हैं।” ऐसा कहने के बाद उनके साथ बहुत देर तक वादविवाद हुआ।

“जब शास्ता (गुरु) बैठे हुए थे, तब भिक्षुओं ने उनके पास जाकर, इस घटना की सूचना दी। शास्ता बोले—“भिक्षुओ! जो लज्जा न करने योग्य कार्य में लज्जा करते हैं और लज्जा करने योग्य कार्य में लज्जा नहीं करते, वे दुर्गति के पात्र होते हैं।” यह कहकर धर्म का उपदेश देते हुए उन्होंने ये गाथाएँ कहीं—

१००. निगण्ठवत्थु / क्र.८ / खुदकनिकाये धम्मपद-अट्टकथा / भाग २ / पृ. २७९-२८०।

१०१. पालिभाषा में ‘पुद्गल’ (पुद्गल) का अर्थ ‘जीव’ है।

“जो प्राणी लज्जा न करने योग्य कार्य में लज्जा करते हैं और लज्जा करने योग्य कार्य में लज्जा नहीं करते, वे मिथ्या दृष्टि का अवलम्बन करने से दुर्गति को प्राप्त होते हैं।” (गाथा ३१६)।

“जो प्राणी भय न करने योग्य कार्य में भय करते हैं और भय करने योग्य कार्य में भय नहीं करते, वे मिथ्या दृष्टि का आश्रय करने से दुर्गति को प्राप्त होते हैं।” (गाथा ३१७)।

“अलज्जिताये इस गाथा का अभिप्राय इस प्रकार है—भिक्षापात्र लज्जा का कारण नहीं है, किन्तु वे निर्ग्रन्थ उसे प्रच्छादित करके विचारण करते हैं अर्थात् भिक्षापात्र का दूसरों को दिखना उनके लिए लज्जा कारण होता है। किन्तु अनावृत पुरुषचिह्न (लिंग) लज्जा का कारण है, फिर भी वे निर्ग्रन्थ उसे बिना ढँके ही विचरण करते हैं। यह लज्जा की बात है, किन्तु वे उससे लज्जित नहीं होते। इस प्रकार जो कार्य लज्जा के योग्य नहीं है, उससे वे लज्जित होते हैं। और जो लज्जा के योग्य है उससे लज्जित नहीं होते। यह अन्यथाग्रहणभाव मिथ्या दृष्टि है। इस मिथ्या दृष्टि को ग्रहण कर विचरण करते हुए वे प्राणी नरकादि दुर्गति को प्राप्त होते हैं।”

“अभये इस गाथा का अर्थ इस प्रकार है—भिक्षापात्र के निमित्त से राग, द्वेष, मोह, मान, क्लेश, दुश्चरित्र आदि के भय उत्पन्न नहीं होते, इसलिए भिक्षापात्र भय का कारण नहीं है, तथापि भय का कारण समझकर उसे वे प्रच्छादित करते हैं। इस प्रकार अभय में भी वे भय देखते हैं। इसके विपरीत पुरुषेन्द्रिय (हिरिकोपीनङ्ग—हीकौपीनाङ्ग=लज्जाजनक गुप्ताङ्ग) के निमित्त से रागादि की उत्पत्ति होती है, अतः वह भय का कारण है। फिर भी वे उसे ढँकते नहीं है। इस तरह वे भय में अभय देखते हैं। इस मिथ्या दृष्टि के आश्रय से प्राणी दुर्गति में जाते हैं।”

इस अट्टकथा में निर्ग्रन्थों (दिगम्बरजैन मुनियों) को भिक्षापात्रधारी बतलाया गया है, जो वास्तविकता के विरुद्ध है। दिगम्बरजैन मुनि भिक्षापात्र नहीं रखते, वे पाणितलभोजी होते हैं इसके विपरीत जो भिक्षापात्र रखते हैं, वे श्वेताम्बर मुनि नग्न नहीं रहते। वस्त्रलब्धियुक्त जिनकल्पी श्वेताम्बर मुनियों का शरीर अलौकिक वस्त्र से आच्छादित बतलाया गया है और वस्त्रलब्धि-रहित जिनकल्पियों की नग्नता एक, दो या तीन कल्पों (प्रावरणों) के धारण करने से अदृष्टिगोचर कही गयी है। स्थविरकल्पी श्वेताम्बर मुनि तो प्रावरणों के अतिरिक्त चोलपट्ट भी धारण करते थे। इस प्रकार कोई भी श्वेताम्बर मुनि नग्न नहीं रहता था। श्वेताम्बरग्रन्थों में मुनि का नग्न रहना असंयम और निर्लज्जता का कारण माना गया है।^{१०२} इसलिए यदि इस कथा में भिक्षापात्र के वर्णन से श्वेताम्बर

१०२. देखिये, द्वितीय अध्याय / तृतीय प्रकरण / शीर्षक ३.३.१ ‘जिनकल्पी भी सचेत और अनग्न।’

मुनियों का कथन माना जाय, तो उन्हें नग्नरूप में वर्णन करना श्वेताम्बर-मुनिधर्म के विरुद्ध है, फलस्वरूप इस कथा में उनका कथन नहीं माना जा सकता। यतः सम्पूर्ण बौद्धसाहित्य में 'निर्ग्रन्थ' शब्द से दिगम्बरजैन मुनियों का ही वर्णन किया गया है, अतः इस अट्टकथा में दिगम्बरजैन मुनियों का ही कथन है, यह निर्विवाद है। तथा अन्य किसी भी स्थान पर निर्ग्रन्थों को भिक्षापात्रधारी नहीं बतलाया गया है, इससे सिद्ध है कि बुद्धघोष ने "जो प्राणी लज्जा न करने योग्य कार्य में लज्जा करते हैं और लज्जा करने योग्य कार्य में लज्जा नहीं करते, वे दुर्गति को प्राप्त होते हैं", बुद्ध के इस उपदेश को किसी प्रसंग से जोड़ने के लिए निर्ग्रन्थों का प्रसंग कल्पित किया है। और "जो लज्जा करने योग्य कार्य में लज्जा नहीं करते" यह तो निर्ग्रन्थों पर स्वधर्मतः घटित हो जाता है, किन्तु "जो लज्जा का कारण नहीं है, उसमें लज्जा करते हैं" यह स्वधर्मतः घटित नहीं होता। अतः इसे घटित करने के लिए बुद्धघोष ने उनके साथ भिक्षापात्र ग्रहण करने का धर्म अपने मन से जोड़ दिया है। और विचित्र बात यह है कि जब वे निर्ग्रन्थों के मुख से स्वयं कहलवा रहे हैं कि भिक्षापात्र को हम लज्जा के कारण नहीं ढँकते, अपितु उसमें जीव न गिर जायँ, इसलिए ढँकते हैं, फिर भी यह मान लिया गया है कि वे भिक्षापात्र को लज्जा के ही कारण वस्त्र से ढँकते हैं। और भिक्षापात्र को ढँकने, न ढँकने में लज्जा, अलज्जा का प्रश्न ही नहीं उठता, क्योंकि वह कोई अश्लील अशोभनीय वस्तु नहीं है। अतः वे निर्ग्रन्थ लज्जा के कारण भिक्षापात्र को वस्त्र से ढँकते हैं, यह कल्पना ही, असंगत है। यह भी एक विचित्र बात है कि अट्टकथा-लेखक पहले यह भ्रम पैदा करते हैं कि निर्ग्रन्थों ने अपने गोपनीय अंग को वस्त्र से आच्छादित कर रखा है, बाद में यह स्पष्ट करते हैं कि गोपनीय अंग नहीं, अपितु भिक्षापात्र वस्त्र से ढँका गया है। इसके अतिरिक्त ये निर्ग्रन्थ सर्वथा नग्न थे, फिर भी यह तुलना की गई है कि सर्वथा नग्न रहनेवाले साधुओं से गोपनीय अंग को प्रच्छादित करनेवाले ये निर्ग्रन्थ अच्छे हैं, सहीक (लज्जावान्) मालूम होते हैं। ये विसंगतियाँ एवं मिथ्या कथन सिद्ध करते हैं कि अट्टकथा-लेखक ने अपने प्रयोजन को सिद्ध करने के लिए निर्ग्रन्थों के साथ उन आचरणों को भी जोड़ दिया है, जो वास्तविकता के विरुद्ध हैं।

१७

बौद्धसाहित्य में वस्त्रधारी निर्ग्रन्थों का उल्लेख नहीं

पालि-त्रिपिटक में तो 'निर्ग्रन्थ' शब्द से दिगम्बरजैन मुनि का ही चित्रण किया गया है, बौद्ध-अट्टकथाओं में भी ऐसा ही उपलब्ध होता है। किन्तु श्वेताम्बरमुनि श्री नगराज जी ने धम्मपद-अट्टकथा की 'निगंठवत्थु' एवं 'कुण्डलकेसीथेरीवत्थु' में तथा

थेरीगाथा-अट्टकथा की 'भद्राकुण्डलकेसा-थेरीगाथा वण्णना' में वस्त्रधारी निर्ग्रन्थों की चर्चा होने की बात कही है। 'निगंठवत्थु' की समीक्षा करते हुए वे लिखते हैं—

“इस घटना-प्रसंग में निगण्ठों के वस्त्रधारण की चर्चा है, पर यह स्पष्ट नहीं होता कि किस प्रकार का वस्त्र वे धारण करते थे और उसका क्या प्रयोजन था? पर, इससे इतना तो स्पष्ट होता ही है कि बौद्धपरम्परा को सचेतक और अचेतक, दोनों ही प्रकार के निगण्ठों का परिचय है।” (आगम और त्रिपिटक: एक अनुशीलन/ खं.१/पृ.४३९)।

धम्मपद-अट्टकथा (८/३) और थेरीगाथा-अट्टकथा (९) की 'कुण्डलकेसी-थेरीवत्थु' या 'भद्राकुण्डलकेसा-थेरीगाथा-वण्णना' की समीक्षा में मुनि जी कहते हैं—

“प्रसंग बहुत ही सरस व घटनात्मक है। बुद्ध की प्रमुख शिष्या का पहले निगंठसंघ में दीक्षित होना, एक विशेष बात है। केशलुंचन व श्वेतवस्त्रधारी निगण्ठों का उल्लेख ऐतिहासिक महत्त्व का है।” (आगम और त्रिपिटक : एक अनुशीलन/ खण्ड/१/पृ.४४७)।

उक्त कथाओं में वस्त्रधारी या श्वेतवस्त्रधारी निर्ग्रन्थों की चर्चा होने की बात सर्वथा मिथ्या है। उनमें निगंठों के वस्त्रधारी होने का कथन कहीं भी नहीं है। धम्मपद-अट्टकथा की 'निगंठवत्थु' कथा में तो इस तथ्य का स्पष्टीकरण पूर्व में किया जा चुका है। अन्य दो कथाओं में भी निगण्ठों के साथ 'वस्त्रधारी' विशेषण के अभाव के प्रमाण नीचे दिये जा रहे हैं।

१७.१. कुण्डलकेसित्थेरीवत्थु

इस कथा का वर्णन धम्मपद-अट्टकथा के आठवें सहस्रवर्ग (सहस्सवग्गो) में तीसरे क्रम (८/३) पर तथा थेरीगाथा-अट्टकथा में नौवें क्रम पर है। दोनों में कथा समान है, केवल श्रेष्ठिपुत्री भद्रा के दीक्षासम्प्रदाय दोनों में भिन्न-भिन्न बतलाये गये हैं। धम्मपद-अट्टकथा में वर्णित कथा का सार इस प्रकार है—

कुछ राजपुरुष एक चोर युवक को पकड़कर वधस्थल ले जा रहे थे। श्रेष्ठिपुत्री भद्रा उसे देखकर मोहित हो जाती है और उसके साथ विवाह के लिए माता-पिता से हठ करती है। पिता राजपुरुषों को एक हजार मुद्राएँ देकर चोर को छोड़ा लेता है और उसके साथ पुत्री का विवाह कर देता है। चोर युवक ससुराल में ही रहने लगता है। भद्रा सदा आभूषणों से लदी रहती थी। चोर युवक के मन में विचार आता है कि किसी बहाने उसे चौरप्रपात पर्वत पर ले जाकर मार डाला जाय और आभूषण लेकर भाग जाया जाय। वह भद्रा को पर्वत पर ले जाता है। पर्वत पर पहुँचने

पर जब भद्रा को अपने पति के षड्यन्त्र का पता चलता है, तब वह उसे ही पर्वत से ढकेलकर मार डालती है और आभूषण वहीं छोड़कर भाग आती है। किन्तु फिर लोकापवाद के भय से घर नहीं जाती और परिव्राजकों के आश्रम में जाकर प्रव्रज्या ग्रहण कर लेती है। बाद में वह बौद्धधर्म में दीक्षित हो जाती है। वहाँ उसका नाम कुण्डलकेसी रख दिया जाता है। परिव्राजकों के आश्रम में जाकर भद्रा के प्रव्रज्या ग्रहण करने के वृत्तान्त का मूल पाठ नीचे दिया जा रहा है—

“सापि चोरं पपाते खिपित्वा चिन्तेसि, “सचाहं गेहं गमिस्सामि, ‘सामिको ते कुहिं’ ति पुच्छिस्सन्ति। सचाहं एवं पुट्ठा—‘मारित्ते मे’ ति वक्खामि, ‘दुब्बिनीते सहस्सं दत्त्वा तं आहरापेत्त्वा इदानि नं मारेसी’ ति मं मुखसत्तीहि विज्झिस्सन्ति, ‘आभरणत्थाय सो मं मारेतुकामो अहोसी’ ति वुत्तेपि न सद्वहिस्सन्ति, अलं मे गेहेना’ ति तत्थेवाभरणानि छुट्टेत्त्वा अरज्जं पविसित्त्वा अनुपुब्बेन विचरन्ती एकं परिब्बाजकानं अस्समं पत्त्वा वन्दित्त्वा—‘महं भन्ते, तुम्हाकं सन्तिके पब्बज्जं देथा’ ति आह। अथ नं पब्बाजेसु।” (धम्मपद-अट्टकथा/भा.२/८/३/पृ.३२६)।

अनुवाद—“उसने भी चोर को प्रपात में गिराकर सोचा कि अब यदि मैं घर लौटती हूँ, तो लोग पूछेंगे कि तुम्हारा स्वामी कहाँ है? यदि मैं कहूँगी कि उसे मैंने मार डाला, तो वे कहेंगे कि दुष्टे! हजार मुद्राएँ देकर तो उसके साथ घर बसाया था, आज उसे भी मार डाला? ऐसा कहकर वे मुझ पर कटाक्ष करेंगे। यदि मैं कहूँगी कि वह आभूषणों के लिए मुझे मार डालना चाहता था, तो वे मेरी बात पर विश्वास नहीं करेंगे। इसलिए मेरा घर न जाना ही उचित है। यह सोचकर उसने आभूषण वहीं छोड़ दिये और वन में प्रवेश कर विचरण करती हुई परिव्राजकों के एक आश्रम में पहुँची। वहाँ परिव्राजकों को प्रणाम कर वह बोली—“भन्ते! मुझे अपने धर्म में प्रव्रज्या दीजिए। उन्होंने उसे प्रव्रज्या दे दी।”

थेरीगाथा-अट्टकथा में यह अंश इस प्रकार है—“ततो भद्रा चिन्तेसि, ‘न सक्का मया इमिना नियामेन गेहं गन्तुं, इतोव गन्त्वा एकं पब्बज्जं पब्बजिस्सामी’ ति निगण्ठारामं गन्त्वा निगण्ठे पब्बज्जं याचि। अथ नं ते आहंसु ‘केन नियामेन पब्बज्जा होतू’ ति? ‘यं तुम्हाकं पब्बज्जाय उत्तमं, तदेव करोथा’ ति। ते ‘साधू’ ति तस्सा तालट्टिना केसे लुज्चित्त्वा पब्बाजेसुं। पुन केसा वड्डन्ता कुण्डलावट्टा हुत्त्वा वड्डेसुं। ततो पट्टाय कुण्डलकेसाति नाम जाता।” (थेरीगाथा-अट्टकथा / ९-भद्राकुण्डलकेसा थेरीगाथा-वण्णना / पृ.११२)।

अनुवाद—“तब भद्रा ने सोचा कि मैं इस दशा में (पति की हत्या करने के बाद) घर नहीं जा सकती। यहाँ से जाकर प्रव्रज्या ग्रहण करूँगी। यह सोचकर निर्ग्रन्थों के आश्रम में गयी और उनसे प्रव्रज्या की याचना की। वे उससे बोले—“किस नियम

(विधि) से प्रव्रज्या दी जाय?" उसने कहा—"आपकी प्रव्रज्या में जो उत्तम है, वही कीजिए। उन्होंने कहा—"ठीक है" और तालट्टि से उसके केशों का लुञ्चन कर प्रव्रज्या दे दी। उसके बाद उसके केश बढ़ते हुए कुण्डलाकार (धुँघराले) हो गये। तब से उसका नाम कुण्डलकेसा पड़ गया।"

कुछ समय बाद वह गौतम बुद्ध के पास जाकर प्रव्रज्या ले लेती है और अपनी पूर्व प्रव्रज्या की सदोषता का वर्णन करती हुई कहती है—

लूनकेसी पङ्कधरी एकसाटी पुरे चरिं।

अवज्जे वज्जमतिनी वज्जे चावज्जदस्सिनी ॥ १०७ ॥ थेरीगाथा।

अनुवाद—“मैं पूर्व में केशों का लुञ्चन कर, मैल धारण कर और एक साड़ी पहनकर निर्दोष को सदोष और सदोष को निर्दोष मानती हुई विचरण करती रही।”

इस गाथा की व्याख्या थेरीगाथा-अट्टकथा के कर्ता ने इस प्रकार की है—
“तत्थ लूनकेसीति लूना लुञ्चिता केसा मय्हन्ति लूनकेसी, निगण्ठेसु पब्बज्जाय तालट्टिना लुञ्चितकेसा, तं सन्धाय वदति। पङ्कधरीति दन्तकट्टस्स अखादनेन (दातौन को न चबाने से) दन्तेसु मल पङ्कधारणतो पङ्कधरी। एकसाटीति निगण्ठचारित्तवसेन एकसाटिका। पुरे चरिन्ति (चरिं इति) पुब्बे निगण्ठी हुत्वा एवं विचरि। अवज्जे वज्जमति-नीति न्हानुच्छादन-दन्तकट्ट-खादनादिके अनवज्जे सावज्जसज्जी। वज्जे चावज्जदस्सि-नीति मानमक्ख-पलास-विपल्लासादिके सावज्जे अनवज्जदिट्ठी।” (थेरीगाथा-अट्टकथा / ९-भद्दकुण्डलकेसा-थेरीगाथावण्णना / पृ.११९)।

अनुवाद—“निर्ग्रन्थों की प्रव्रज्या में केशों का लुञ्चन होता है, उसी को ध्यान में रखकर भद्रा अपने को लूनकेशी कहती है। दातौन (दन्तकाष्ठ) न करने के कारण दाँतों में मैल लग जाने से पङ्कधरी हो गई थी। निर्ग्रन्थसम्प्रदाय में साध्वी (आर्यिका) के लिए एक ही साड़ी धारण करने का नियम है, इसलिए वह एकसाटी धारण करती थी। पूर्व में निर्ग्रन्थी (आर्यिका) होकर वह इस वेश में विचरण करती थी। स्नान, उच्छादन (शरीर को रगड़ना), दन्तधावन आदि निर्दोष कार्यों को वह दोषपूर्ण मानती थी और अभिमान, परनिन्दा (मक्ख) ईर्ष्या (पलास), वचन पर स्थिर न रहना (विपल्लास) आदि दोषपूर्ण कार्यों को निर्दोष समझती थी।”

इनमें से प्रथम कथा में तो यह कहा गया है कि भद्रा कुण्डलकेशी ने परिवाज्रकों से प्रव्रज्या ग्रहण की थी, निर्ग्रन्थों का तो कहीं नाम भी नहीं आया। दूसरी कथा में निर्ग्रन्थों से प्रव्रज्या ग्रहण करने का कथन है, किन्तु सम्पूर्ण कथा में निर्ग्रन्थों के साथ ‘श्वेतवस्त्रधारी’ विशेषण का कहीं भी उल्लेख नहीं है। इसलिए मुनि श्री नगराज

जी ने जो यह अनुवाद किया है कि "वह (भद्रा) पर्वत से नीचे उतरकर श्वेतवस्त्रधारी निगण्ठों के संघ में प्रव्रजित हो गयी" मूलकथा के सर्वथा विपरीत है।

१७.२. मुनि श्री नगराज जी के भ्रम का कारण

वस्तुतः यही कथा खुद्दकनिकाय के अपदान नामक ग्रन्थ में भी आयी है, जिसका वर्णन धेरी २.३.१-५४ में किया गया है। उसमें १ से ५४ गाथाओं में भद्रा उपर्युक्त कथा का आत्मकथा के रूप में वर्णन करती है। इस कथा में कहा गया है कि भद्राकुण्डलकेशी ने 'श्वेतवस्त्र मुनियों' (सेतवत्थानं) के पास जाकर प्रव्रज्या ग्रहण की—

तदाहं पातयित्वान गिरिदुग्गम्हि सत्तुकं।
सन्निकं सेतवत्थानं उपेत्या पब्बजिं अहं॥ ३६॥
सण्डासेन च केसे मे लुञ्चित्वा सब्बसो तदा।
पब्बजित्वान समयं आचिक्खिंसु निरन्तरं॥ ३७॥

अनुवाद—“उस दुर्गम पर्वत से सत्तुक ('सत्तुक' नाम के चोर पति) को नीचे गिराकर मैं 'श्वेतवस्त्रों' (श्वेतपटों अर्थात् श्वेताम्बर मुनियों) के पास जाकर प्रव्रजित हो गयी। मेरे सभी केश सँड़सी से लुचिंत कर मुझे दीक्षित कर दिया गया। तत्पश्चात् वे निरन्तर धर्मोपदेश देने लगे।”

'अपदान' की ये समस्त ५४ गाथाएँ 'धेरीगाथा-अट्टकथा' की 'भद्राकुण्डलकेशी-धेरीगाथा-वण्णना' (क्र.९) में निम्नलिखित वाक्यों के अनन्तर उद्धृत की गयी हैं—“सत्था तस्सा जाणपरिपाकं जत्वा—

सहस्समपि चे गाथा अनत्थपदसंहिता।
एकं गाथापदं सेय्यो यं सुत्वा सुपसम्मती ति॥

इमं गाथमाह। गाथापरियोसाने यथाटिताव सह पटिसम्भिदाहि अरहत्तं पापुणि। तेन वुत्तं अपदाने (अप./धेरी/२.३.१-५४)—

पदमुत्तरो नाम जिनो सब्बधम्मान पारगू।
इतो सतसहस्सम्हि कप्पे उप्पज्जि नायको॥ १॥

यह 'अपदान' (धेरी २.३) की पहली गाथा है। इसके बाद शेष ५३ गाथाएँ उद्धृत हैं। इन्हीं के अन्तर्गत उपर्युक्त 'तदाहं पातयित्वान' आदि दो गाथाएँ (३६-३७) उद्धृत हैं।

इस प्रकार “भद्राकुण्डलकेशी अपने पति को पर्वत से नीचे ढकेलने के बाद श्वेतवस्त्र मुनियों के पास जाकर प्रव्रज्या ग्रहण करती है” ये वचन अपदान में वर्णित

कथा में कहे गये हैं, थेरीगाथा-अट्टकथा की कथा में नहीं। 'थेरीगाथा-अट्टकथा' की कथा में तो यह कहा गया है कि वह (भद्रा) निर्ग्रन्थों के आश्रम में जाकर प्रव्रज्या लेती है—“निगण्ठारामं गत्वा निगण्ठे पब्बज्जं याचि।” यहाँ 'निगण्ठ' शब्द के साथ 'श्वेतवस्त्र' विशेषण नहीं है, न ही 'अपदान' में वर्णित ३६वीं गाथा में सेतवत्थ (श्वेतवस्त्रवाले) शब्द के साथ निगण्ठ विशेष्य है। इसी प्रकार धम्मपद-अट्टकथा में वर्णित 'कुण्डलकेसी' वृत्तान्त में बतलाया गया है कि भद्रा परिव्राजकों के आश्रम में जाकर प्रव्रज्या ग्रहण करती है। इस तरह तीनों कथाओं में भद्रा को परिव्राजक, निर्ग्रन्थ और श्वेतपट, इन तीन अलग-अलग सम्प्रदायों में प्रव्रज्या ग्रहण करते हुए और बाद में उन्हें छोड़कर बौद्धमत में प्रव्रजित होते हुए चित्रित किया गया है। इसका प्रयोजन था बौद्धमत के अतिरिक्त अन्य मतों को हीन सिद्ध करना।

किन्तु मुनि श्री नगराज जी ने 'अपदान' की कथा में वर्णित श्वेतवस्त्र-मुनियों और थेरीगाथा-अट्टकथा की कथा में उल्लिखित निर्ग्रन्थ-मुनियों को अभिन्न समझकर यह मान लिया है कि बौद्धसाहित्य में श्वेतवस्त्रधारी निर्ग्रन्थ मुनियों का उल्लेख है। उनकी यह धारणा भ्रान्तिपूर्ण है, क्योंकि 'वस्त्रधारी' शब्द और 'निर्ग्रन्थ' शब्द दिन और रात के समान परस्परविरुद्धार्थी हैं। पूर्व में जैन, वैदिक और बौद्ध साहित्य, संस्कृतसाहित्य एवं शब्दकोशों से उद्धरण देकर सिद्ध किया गया है कि 'निर्ग्रन्थ' शब्द ऐकान्तिकरूप से नग्नमुद्राधारी मुनि का वाचक है। तथा कदम्बवंशीय राजा श्रीविजय-शिवमृगेशवर्मा का देवगिरि-ताम्रपत्रलेख (क्र. ९८) इस तथ्य का पक्का सबूत है कि भारतीय इतिहास में 'निर्ग्रन्थ' और 'श्वेतपट' नाम के परस्परभिन्न दो सम्प्रदाय प्रसिद्ध थे, क्योंकि ऐतिहासिक प्रसिद्धि के बिना अभिलेखों में उनका भिन्न सम्प्रदायों के रूप में उल्लेख नहीं हो सकता। और जैसा राजा श्रीविजयशिवमृगेशवर्मा के ताम्रपत्रलेख में उनकी भिन्नता का उल्लेख है, वैसा किसी भी अभिलेख एवं भारत के किसी भी सम्प्रदाय के साहित्य में उनके एकत्व का उल्लेख उपलब्ध नहीं है। अर्थात् जो निर्ग्रन्थ है, उसके श्वेतपट होने का उल्लेख उपलब्ध नहीं है और जो श्वेतपट है, उसके निर्ग्रन्थ होने का उल्लेख अनुपलब्ध है। अतः मुनि श्री नगराज जी की यह धारणा कि बौद्धसाहित्य में श्वेतवस्त्रधारी निर्ग्रन्थ मुनियों का उल्लेख है, इतिहासविरुद्ध धारणा है।

तथा भद्रा को जो 'एकशाटी' विशेषण दिया गया है, वह भी इस बात का प्रमाण है कि भद्रा दिगम्बरजैन-सम्प्रदाय की आर्यिका पद पर दीक्षित हुई थी, क्योंकि दिगम्बर-सम्प्रदाय में ही आर्यिकाओं के लिए केवल एक साड़ी पहनने का नियम है। दिगम्बर-सम्प्रदाय की क्षुल्लिका भी दो वस्त्रधारण करती है। तथा श्वेताम्बर-सम्प्रदाय में आर्यिका का जिनकल्पी होना निषिद्ध है, और जब उस सम्प्रदाय के जिनकल्पी

साधु भी एक से तीन तक सूती-ऊनी प्रावरण (चादर) रखते थे तथा स्थविरकल्पी साधु तीन प्रावरणों के अतिरिक्त चोलपट्ट भी धारण करते हैं, तब साध्वियों के केवल एक-साड़ी-धारी होने का तो प्रश्न ही नहीं उठता। श्वेताम्बरमुनि श्री कल्याणविजय जी ने भी लिखा है कि “इनके (श्रमणियों के) लिए शास्त्रकारों ने अनेक प्रकार के विशेष वस्त्र माने हैं, जिनसे कि इनकी मान-मर्यादा और शीलसम्पत्ति की रक्षा हो।” (मानव-भोज्य-मीमांसा/पृ.४९२)। अतः एकशाटीधारी भद्राकुण्डलकेसा ऐकान्तिकरूप से नग्न रहनेवाले निर्ग्रन्थों के ही सम्प्रदाय की थी, इसमें सन्देह के लिए स्थान नहीं है। इससे भी सिद्ध है कि श्वेरीगाथा-अद्भुतथा की कुण्डलकेसाकथा में केवल निर्ग्रन्थ मुनियों का उल्लेख है और अपदान की कुण्डलकेसाकथा में केवल श्वेतवस्त्रधारी मुनियों का। श्वेतवस्त्रधारी निर्ग्रन्थों का उल्लेख किसी भी कथा में नहीं है।

१८

आर्यशूरकृत जातकमाला में निर्ग्रन्थश्रमण का नग्नरूप

आर्यशूर ने संस्कृत में ‘जातकमाला’ नामक ग्रन्थ की रचना की है। उनका कालनिर्धारण करते हुए श्री सूर्यनारायण चौधरी लिखते हैं—“अजन्ता की पत्थर की दीवारों पर जातकमाला के क्षान्तिवादी, मैत्रीबल, महाहंस, रुस, शिवि, महाकपि, महिष आदि जातकों के दृश्य चित्रित हुए हैं और दृश्यपरिचय के लिए उन जातकों से उपयुक्त श्लोक भी उद्धृत हुए हैं। श्लोकों के अभिलेख की लिपि छठी शती की है। इससे अनुमान होता है कि ५वीं शती में जातकमाला की ख्याति हो चुकी थी।”^{१०३} डॉ० बलदेव उपाध्याय ने भी यही लिखा है और वे आगे कहते हैं—“कहा जाता है कि आर्यशूर ने कर्मफल के ऊपर एक सूत्र लिखा था, जिसका चीनी अनुवाद ४३४ ई० में हुआ था। यदि दोनों आर्यशूर एक ही अभिन्न व्यक्ति हों, तो इनका समय पंचम शतक से पूर्व चतुर्थ शतक में अनुमानसिद्ध माना जा सकता है। अजन्ता की दीवारों में चित्रित होने से भी इनका समय पंचम शतक में निश्चयेन सिद्ध होता है।”^{१०४}

आर्यशूर ने जातकमाला में एक कुम्भजातक का वर्णन किया है, जिसमें गौतमबुद्ध अपने एक पूर्वजन्म में देवों के इन्द्र होते हैं। देवेन्द्र होते हुए भी वे मनुष्यों का उपकार करना नहीं छोड़ते। एक बार जब वे मनुष्यलोक का निरीक्षण कर रहे थे, तब उन्होंने देखा कि सर्वमित्र नामक राजा को मद्यपान की लत लग गई है। वे उसे उस लत से मुक्त करना चाहते हैं। इसके लिए वे साधु के वेश में एक घड़ा लेकर राजा की सभा में आते हैं तथा पूछते हैं कि इस सुन्दर घड़े को कौन खरीदना चाहता

१०३. जातकमाला/भूमिका/पृष्ठ ८/मोतीलाल बनारसीदास/सन् २००१।

१०४. संस्कृत साहित्य का इतिहास/पृ. २१५।

है? यह एक ऐसी विक्रेय वस्तु से भरा है, जिसे पीकर मुनष्य लज्जा खो देता है और निर्ग्रन्थ के समान वस्त्र पहनने के कष्ट से मुक्त होकर जनाकीर्ण रास्तों पर लड़खड़ाते हुए चलता है—

पीत्वोचितामपि जहाति वयात्मलज्जां निर्ग्रन्थवद्वसनसंयमखेदमुक्तः।

धीरं चरेत्यथिषु पौरजनाकुलेषु सा पण्यतामुपगता निहितात्र कुम्भे॥ १५॥

इस प्रकार चतुर्थ शताब्दी ई० की आर्यशूरकृत जातकमाला (बौद्ध ग्रन्थ) में भी निर्ग्रन्थ साधुओं को नग्न ही बतलाया गया है।

१९

'दिव्यावदान' के रचनाकाल में यापनीयों का उदय नहीं

मुनि श्री कल्याणविजय जी ने लिखा है—“बौद्धों के प्राचीन शास्त्रों में नग्न जैन साधुओं का कहीं उल्लेख नहीं है और विसाखावत्थु, धम्मपद-अट्टकथा, दिव्यावदान आदि में जहाँ नग्न निर्ग्रन्थों का उल्लेख मिलता है, वे ग्रन्थ उस समय के हैं, जब कि यापनीयसंघ और आधुनिक सम्प्रदाय तक प्रकट हो चुके थे।” (श्र.भ.भ/पृ.३३०)।

मुनिजी का यह कथन प्रमाणविरुद्ध और अतर्कसंगत है। अट्टकथाओं का रचनाकाल अवश्य चौथी-पाँचवीं शताब्दी ई० है, किन्तु 'दिव्यावदान' का रचनाकाल विद्वानों ने प्रथम शताब्दी ई० माना है, यह पूर्व में स्पष्ट किया जा चुका है। पाँचवीं शती ई० के पूर्व किसी भी शिलालेख में और श्वेताम्बराचार्य श्री हरिभद्रसूरिकृत 'ललितविस्तरा' के पूर्ववर्ती किसी भी ग्रन्थ में यापनीयसंघ का उल्लेख नहीं है। अतः यह किसी भी प्रमाण से सिद्ध नहीं होता कि 'दिव्यावदान' की रचना के पूर्व अर्थात् ई० प्रथम शताब्दी के पहले यापनीयसम्प्रदाय का उदय हो चुका था। जिस बोटिकसम्प्रदाय को मुनि जी ने यापनीयसम्प्रदाय का पूर्वरूप माना है, उसका उदय भी वीर निर्वाण के ६०९ वर्ष बाद अर्थात् ई० सन् ८२ में बतलाया गया है, इसी प्रथम शताब्दी के पूर्व नहीं। और वह यापनीयसम्प्रदाय का पूर्वरूप नहीं था, अपितु दिगम्बरजैन-सम्प्रदाय ही था, यह द्वितीय अध्याय में सिद्ध किया जा चुका है। यापनीयसम्प्रदाय की उत्पत्ति पाँचवीं शताब्दी ई० के प्रारंभ में सिद्ध होती है। अतः मुनि जी द्वारा जो यह अवधारणा पैदा करने की कोशिश की गई है कि 'दिव्यावदान' में जिन नग्न निर्ग्रन्थों का उल्लेख है, वह यापनीय-सम्प्रदाय के साधुओं का उल्लेख है, दिगम्बरजैन-सम्प्रदाय के साधुओं का नहीं, सर्वथा प्रमाणविरुद्ध है। यह अतर्कसंगत भी है, क्योंकि 'यापनीय' और 'निर्ग्रन्थ' भिन्न-भिन्न सम्प्रदायों के नाम हैं, यह पाँचवीं शती ई० के राजा मृगेशवर्मा के हल्सी-अभिलेख (क्र.९९) से स्पष्ट है। निर्ग्रन्थों और श्वेतपटों से अलग पहचान कराने के

लिए 'यापनीय' नाम प्रचलित हुआ था। यदि निर्ग्रन्थों और यापनीयों को अभिन्न मान लिया जायेगा, तो बौद्धसाहित्य में जहाँ-जहाँ 'निर्ग्रन्थ' शब्द का प्रयोग हुआ है, वहाँ-वहाँ उसे 'यापनीय' अर्थ का वाचक मानना होगा। और तब 'निगण्ठनाटपुत्त' (भगवान् महावीर) और 'यापनीयनाटपुत्त' में कोई भेद न रहेगा। भगवान् महावीर भी यापनीय-सम्प्रदाय के सिद्ध होंगे और तब या तो निर्ग्रन्थ-सम्प्रदाय का अस्तित्व असत्य सिद्ध होगा अथवा यापनीय-सम्प्रदाय का। अतः मुनि जी का कथन मूल पर कुठाराघात करनेवाला है। वह निर्ग्रन्थ-सम्प्रदाय के पृथक् अस्तित्व का ही लोप कर देता है। इस प्रकार मुनि जी का यह कथन प्रमाणविरुद्ध एवं तर्कविरुद्ध है कि 'दिव्यावदान' में जिन नग्न निर्ग्रन्थों का उल्लेख है वे निर्ग्रन्थ सम्प्रदाय के नहीं, अपितु यापनीय-सम्प्रदाय के हैं। यतः मुनि जी का कथन प्रमाणविरुद्ध एवं तर्कविरुद्ध है, अतः सिद्ध है कि 'दिव्यावदान' में निर्ग्रन्थ (दिगम्बरजैन) सम्प्रदाय के ही नग्नश्रमणों का उल्लेख किया गया है।

इसी प्रकार बौद्धों का अट्टकथा-साहित्य यद्यपि पिटकसाहित्य से अर्वाचीन है, तथापि उसमें भी जिन निर्ग्रन्थों (नग्न मुनियों) का उल्लेख है, वे निर्ग्रन्थसम्प्रदाय के ही हैं, यापनीय-सम्प्रदाय के नहीं, यह भी उपर्युक्त प्रमाण एवं तर्क से सिद्ध होता है।

२०

निर्णीतार्थ

इस प्रकार ईसापूर्व-शताब्दियों में रचित ऋग्वेद, महाभारत आदि वैदिकसाहित्य तथा अंगुत्तरनिकाय, मञ्जिमनिकाय, दीघनिकाय, उदानपालि आदि बौद्धसाहित्य में नग्न निर्ग्रन्थ श्रमणों (दिगम्बरजैन मुनियों) की चर्चा होने से सिद्ध है कि सवस्त्रमुक्ति, स्त्रीमुक्ति आदि की विरोधी दिगम्बरजैन-परम्परा वैदिकयुग से पूर्ववर्ती, भगवान् महावीर से पूर्ववर्ती, गौतम बुद्ध से पूर्ववर्ती, ईसा से पूर्ववर्ती, बोटिक शिवभूति से पूर्ववर्ती, यापनीयसंघ से पूर्ववर्ती और आचार्य कुन्दकुन्द से पूर्ववर्ती है। वह भगवान् ऋषभदेव के युग से अविच्छिन्न चली आ रही है। अतः जैनेतर साहित्य में उपलब्ध इन बाह्य प्रमाणों से भी सिद्ध हो जाता है कि—

१. दिगम्बरमत का प्रवर्तन बोटिक शिवभूति ने ईसा की प्रथम शताब्दी में या कुन्दकुन्द ने विक्रम की छठी शताब्दी में किया था, ये दोनों मत कपोलकल्पित हैं।

२. अतः कुन्दकुन्द को दिगम्बरमत-प्रवर्तक सिद्ध करने के लिए जो बोटिकमत को यापनीयमत बतलाया गया है और कुन्दकुन्द के प्रथमतः उसमें दीक्षित होने और

पश्चात् उससे अलग होकर दिगम्बरमत स्थापित करने की बात कही गयी है, उसकी कपोलकल्पितता स्वतः उद्घाटित हो जाती है।

३. इसी प्रकार भगवान् महावीर ने ऐकान्तिक अचेलधर्म का उपदेश न देकर सचेलाचेलधर्म का उपदेश दिया था और उत्तरभारत में एकमात्र वही परम्परा विद्यमान थी तथा उसके ही विभाजन से श्वेताम्बर और यापनीय सम्प्रदाय उत्पन्न हुए थे, दिगम्बर-सम्प्रदाय की स्थापना तो विक्रम की छठी शती में दक्षिण भारत में आचार्य कुन्दकुन्द के द्वारा की गई थी, ये अवधारणाएँ भी अपने-आप मिथ्या सिद्ध हो जाती हैं।

महान् आश्चर्य तो यह है कि जिन आदरणीय श्वेताम्बराचार्यों एवं विद्वानों ने इन कल्पित मतों का आरोपण किया है, उन्होंने जैनेतर (वैदिक, संस्कृत एवं बौद्ध) साहित्य के उपर्युक्त उल्लेखों पर दृष्टिपात नहीं किया, जिनसे दिगम्बरजैन-परम्परा की अति प्राचीनता सिद्ध होती है। उन पर दृष्टिपात किये बिना ही अथवा उन्हें प्रच्छादित कर इन इतिहासविरुद्ध मतों की कल्पना कर डाली। मुनि श्री विजयानन्द सूरीश्वर 'आत्माराम' जी ने अवश्य 'महाभारत' का अनुशीलन कर 'नग्नक्षपणक' के उल्लेख का अन्वेषण किया, किन्तु दुर्भाग्य से उन्होंने अपने ही सम्प्रदाय के शास्त्रों में उपलब्ध प्रमाणों की अवहेलना कर उसे श्वेताम्बरपरम्परा का, जिनकल्पी मुनि घोषित कर दिया, जब कि सभी श्वेताम्बरीय एवं दिगम्बरीय शास्त्र तथा वैदिक, बौद्ध एवं संस्कृत ग्रन्थ एक स्वर से 'क्षपणक' शब्द का अर्थ 'दिगम्बर जैन मुनि' बतला रहे हैं। और मुनि श्री आत्माराम जी ने भी केवल 'महाभारत' का ही अनुशीलन किया, उपरिनिर्दिष्ट अन्य जैनेतर पुराण, संस्कृत नाटक, काव्य आदि तथा विशाल बौद्ध साहित्य के अध्ययन का कष्ट नहीं उठाया।

मुनि श्री कल्याणविजय जी तथा अन्य आधुनिक श्वेताम्बर विद्वानों ने महाभारत के उक्त उल्लेख पर भी ध्यान नहीं दिया, विभिन्न पुराण, पंचतंत्र, काव्य-नाटक, अंगुत्तर-निकाय, मज्झिमनिकाय, दीर्घनिकाय आदि बीस से अधिक अन्य जैनेतर एवं संस्कृत ग्रन्थों के अनुशीलन की तो बात ही दूर। ऐसा लगता है कि उन्होंने जान-बूझकर 'क्षपणक', 'निर्ग्रन्थ', 'अह्नीक', 'अचेल' आदि 'दिगम्बरजैनमुनि'-विषयक उल्लेखों को अन्धकार में रखने की चेष्टा की है, क्योंकि इनसे दिगम्बरजैन-परम्परा वैदिकयुग से भी पूर्ववर्ती सिद्ध होती है, जब कि वे इसे विक्रम की छठी शती (पंचम शताब्दी ई०) में आचार्य कुन्दकुन्द द्वारा प्रवर्तित सिद्ध करना चाहते थे।

जैनेतर भारतीय साहित्य में उपलब्ध ये उल्लेख दिगम्बरमत की प्राचीनता के ऐसे तटस्थ और स्पष्ट प्रमाण हैं, जिनमें पक्षपात या किसी प्रकार के कपट की शंका स्वप्न में भी नहीं की जा सकती। इन प्रमाणों से श्वेताम्बर मुनियों एवं पण्डितों द्वारा

दिगम्बरजैनमत को अर्वाचीन सिद्ध करने के लिए कल्पित किये गये पूर्वोक्त समस्त मिथ्यामत धराशायी हो जाते हैं, उनके कपोलकल्पित होने का यथार्थ प्रकट हो जाता है और दिगम्बरजैन-परम्परा की अतिप्राचीनता का सूर्य काल्पनिक मतों की घटाओं से मुक्त होकर चमकने लगता है।

पञ्चम अध्याय

पंचम अध्याय

पुरातत्त्व में दिगम्बर-परम्परा के प्रमाण

प्रथम प्रकरण

श्वेताम्बर-परम्परा में नग्न जिनप्रतिमाओं का निर्माण असंभव

१

शुभप्रभामंडल से तीर्थकरों का नग्नत्व अदृश्य

पुरातत्त्व में भी दिगम्बर-परम्परा की प्राचीनता के प्रमाण उपलब्ध होते हैं। वे प्रमाण हैं अभिलेख एवं उत्खनन आदि में प्राप्त हुई तीर्थकरों की प्राचीन नग्न मूर्तियाँ। श्वेताम्बर-परम्परा में तीर्थकरों की नग्न प्रतिमाओं का निर्माण असंभव है, क्योंकि वे मानते हैं कि यद्यपि तीर्थकर कटिवस्त्र धारण नहीं करते, तथापि उनकी नग्नता दृष्टिगोचर नहीं होती। उनकी दृष्टि में नग्नता दिखना अश्लीलता और निर्लज्जता है, इससे स्त्रियों में कामविकार की उत्पत्ति हो सकती है। इसलिए श्वेताम्बरमत में यह कल्पना की गई है कि यद्यपि तीर्थकर वस्त्रधारण नहीं करते, तथापि उनका शरीर शुभप्रभामंडल से आच्छादित हो जाता है, जिससे उनके गुह्यांग दिखाई नहीं देते। इसके अतिरिक्त वे एक इन्द्रोपनीत वस्त्र (देवदूष्य) कन्धे पर डालकर ही प्रव्रजित होते हैं, ताकि लोगों को यह उपदेश दिया जा सके कि मोक्षमार्ग सवस्त्र ही है। तीर्थकरों के कन्धे पर देवदूष्य वस्त्र के स्थितिकाल के विषय में मतभेद है। सत्तरिसयठाणावृत्ति में कहा गया है कि भगवान् महावीर के कन्धे पर वह देवदूष्य वस्त्र एकवर्ष-एकमास तक स्थित रहा, पश्चात् गिर गया, किन्तु शेष तेईस तीर्थकरों के कन्धे पर जीवनपर्यन्त स्थित रहा।^१ इसके विपरीत श्री जिनभद्रगणि-क्षमाश्रमण का कथन है कि सभी तीर्थकरों के स्कन्ध से वह कभी न कभी च्युत हो जाता है और तब वे सर्वथा अचेल हो

१. “सक्को य लक्खमुल्लं सुरदूसं ठवदू सव्वजिणखंधे।

वीरस्स वरिसमहियं सया वि सेसाण तस्स ठिई॥ १५९॥

शक्रश्च लक्षमूल्यं देवदूष्यं वस्त्रं सर्वजिनस्कन्धे स्थापयति। तत् श्रीवीरस्य साधिकं वर्षं स्थितम्। उक्तं च कल्पसूत्रे ‘संवच्छरं साहिअं मासं जाव चीवरधारी होत्थ ति।’ मासैकेनाधिकं वर्षं श्रीवीरेण वस्त्रं धृतम्। शेषजिनानां त्रयोविंशतेरपि तीर्थकृतां, सदाऽपि यावज्जीवमपि तस्य वस्त्रस्य स्थितिर्ज्ञेयेति।” सत्तरिसयठाणा-वृत्ति / द्वार ७३ / अभिधान राजेन्द्र कोश / भाग ४ / पृष्ठ २२८६।

जाते हैं। (देखिये, अध्याय ३/प्र.१/शी.२)। इस तरह श्वेताम्बर-परम्परा में तीर्थंकर का वेश अनग्न और किञ्चित् सचेत होता है। अतः उनकी मूर्तियाँ भी अनग्न और कथञ्चित् सचेत ही बनाई जाती हैं। श्वेताम्बरग्रन्थ 'प्रवचनपरीक्षा' के कर्ता उपाध्याय धर्मसागर जी (१५७२ ई०)^२ ने इस पर विस्तार से प्रकाश डाला है। सर्वप्रथम मैं उनके उन वचनों को उद्धृत करता हूँ, जिनमें उन्होंने नग्नता के दोष बतलाते हुए यह सिद्ध किया है कि तीर्थंकर नग्न रहते हुए भी नग्न नहीं दिखते, अत एव नग्नताजन्य दोषों से मुक्त रहते हैं—

लोआणुवृत्तिधम्मो लज्जा तह बंभचेररक्खा य।

सीआतवदंस-मसग-पीडारहिअस्स सञ्ज्ञाणं ॥ ३० ॥

वस्त्रधरणे लोकानुवृत्तिधर्मः प्रथमो गुणो लोकप्रतीतः। तत्र लोको मर्त्यलक्षणो, न तु तिर्यगादिस्तस्य लज्जादिनिमित्तं वस्त्रधारणासम्भवात्, तस्यानुवृत्तिः अनादिसिद्ध आचार-स्तल्लक्षणो धर्मः सत्यापितः स्यादित्यर्थः। तथा लज्जा ब्रीडा संयमो वा अर्थात् सा रक्षिता भवेत्। वस्त्राभावे च रासभादिवदविशेषेण लज्जाराहित्यं स्यात्। लज्जारहितस्य च कुतश्चारित्रपालनम्? चकारः समुच्चयार्थः, ब्रह्मव्रतरक्षा च—वस्त्रावृतस्य लज्जया ब्रह्मचर्यं स्याद् अन्यथा वडवादर्शनाद् वाडवस्येव स्त्रीदर्शनाल्लिङ्गादिविकृत्या प्रवचनोद्ग्राहब्रह्म-सेवादयो बहवो दोषाः सर्वजनविदिता भवेयुः। तथा वस्त्रैः शीतोष्णकालादिषु शीतातप-दंशमशकैर्या पीडा तथा रहितस्य सद्ग्यानं धर्मशुक्ललक्षणं स्याद् वस्त्राभावे च क्षुधाद्यना-कुलस्यापि दुर्ध्यानम् अग्निटृणादिसेवाभिप्रायेण दुर्ध्यानं, तत्सेवने चासंयमः स्यादिति गाथार्थः। अथ पुनरपि गुणानाह—

पवयणखिंसा परवग्गमोहुदयवारणं च वत्थेहिं।

तस-थावराण जयणा पत्तेहिं तहेव विण्णेआ ॥ ३१ ॥

प्रवचनखिंसा—अहो! एते मुण्डाः पापात्मानः अस्मदीयपुत्रीवध्वादीन् स्वजनान् प्रत्यवाच्यं दर्शयन्तोऽपि न लज्जन्ते। अतो मास्मद्गृहादौ प्रविशन्तिवति वचोभिः प्रवचनहीला। तथा 'परवर्गस्य' पुरुषापेक्षया परवर्गः स्त्रीवर्गस्तस्य मोहोदयः। प्रायः स्त्रीपुरुषयोरयमेव स्वभावः यद्वस्त्रानावृतं परवर्गं दृष्ट्वा मोहोदयो भवत्येव, ततः प्रवचनखिंसा च परवर्गवेदो-दयश्चेति द्वन्द्वस्तयोर्निवारणं वस्त्रेणैव स्यात्। अन्येऽपि वस्त्रादिसाधुनेपथ्यजन्याः पर्षद्धर्म-प्राप्तिहेतवो रूपवस्त्रादय आचार्यगुणाः स्वधिया योज्याः।

ननु जिनेन्द्र-जिनकल्पिकादयो वस्त्रादिरहिता एव भवन्ति, तेषां च कथमेते गुणा इति चेन्मैवं, जिनेन्द्रादीनामपि लोकानुवृत्त्यादिकारण-सद्भावे वस्त्रसद्भावस्यैवास्माकं सम्मतत्वात्। तत्कथमिति चेच्छुणु—जिनेन्द्रा अपि गृहस्थावस्थायां बालभावे तदतिक्रमे च

२. डॉ० जगदीशचन्द्र जैन : प्राकृतसाहित्य का इतिहास / पृ.२८७।

यथोचितं वस्त्रालङ्कारभूषिता एव भवन्ति। प्रब्रज्याप्रतिपत्त्यवसरे तु देवेन्द्रोपनीत-
देवदूष्यवस्त्रं सवस्त्रपात्रो धर्मो मया प्रज्ञापनीय इति वामस्कन्धोपरि धरन्ति, यदागमः—
“सव्वेऽपि एगदूसेण निग्गया जिणवरा चउव्वीसं” ति श्री आव. निर्यु. (२२७)।
परिधानभावस्तु तेषां सत्यपि नाग्न्ये पुण्योत्कर्षोदयात् कुत्सनीयत्वाभावात् प्रत्युत
सुभगत्वाच्च, उक्तं च—

अनध्ययनविद्वांसो निर्द्रव्यपरमेश्वराः।

अनलकङ्कारसुभगाः पान्तु युष्माञ्जिनेश्वराः॥ इति

किं च जिनेन्द्राणां गुह्यप्रदेशो वस्त्रेणैव शुभप्रभामण्डलेनाच्छादितो न चर्मचक्षुषां
दृग्गोचरीभवति। यदुक्तम्—

अण्णोसिं मोहोदयहेउअभावो सुहाणुबंधाओ।

गुत्तिदिअथा य गुणा अणन्नतुल्ला मुणेअव्वा॥ १११६॥

इति श्रीधर्मसंग्रहणीसूत्रे। तद्वृत्तिर्यथा—अन्येषां च स्त्र्यादीनां तद्रूपदर्शनानन्तरं
मोहोदयहेतुत्वाभावः गुप्तेन्द्रियतेति गुप्तलिङ्गता चकारोऽनुक्तसमुच्चये, तेनान्येऽपि निश्छिद्र-
पाणिपात्रादयो द्रष्टव्याः। तथाचोक्तं—“ते हि भगवन्तो निरुपमधृति-संहनना गूढेन्द्रियाः
स्वप्रभामण्डलाच्छादितदेहाः ज्ञानातिशय-सम्पत्समन्विताः निश्छिद्रपाणिपात्राः जितपरिषहा”
इत्यादि, एवंरूपादिगुणा अनन्यतुल्या ज्ञातव्या इति श्रीधर्मसंग्रहणीवृत्तौ।

तस्माद्वस्त्रापरिधानादिनिमित्तं जुगुप्सनीयावाच्यावयवादिदर्शनं, तच्च तीर्थकृतां न
सम्भवति। अतः ‘कारणाभावात् कार्यस्याभाव’ इति न्यायात् वस्त्रापरिधानेऽपि
तीर्थकृतां न लोकानुवृत्त्यादिगुणविलोयः, लोकैरपि वस्त्रपरिधानं मुख्यवृत्त्या असभ्यावयव-
गोपननिमित्तमेव क्रियते मर्त्यामर्त्यलोकस्य लज्जया लज्जनीयावयवगोपनस्वभावाद्।”
(प्रव.परी./ वृत्ति/१/२/३०-३१/पृ. ९१-९३)।

सारांश-अनुवाद

“वस्त्रधारण करने से लोकाचाररूप धर्म का पालन होता है, और लज्जा अर्थात्
संयम की रक्षा होती है। वस्त्र-धारण न करने पर मनुष्य गर्दभ आदि के समान निर्लज्ज
हो जाता है। निर्लज्ज पुरुष चारित्र का पालन कैसे कर सकता है? वस्त्रधारी में लज्जा
होती है, जिससे ब्रह्मचर्य पलता है। अन्यथा जैसे घोड़ी को देखने से घोड़े के लिंग
में विकार उत्पन्न हो जाता है, वैसे ही स्त्री को देखने से मुनि के लिंगादि में विकार
उत्पन्न हो जाने पर जिनशासन की निन्दा होने के साथ अब्रह्मसेवन आदि बहुत से
दोष सर्वजन-विदित हो सकते हैं। तथा वस्त्रधारण करने से शीतोष्णकाल में शीतादि
की पीड़ा न होने से धर्मध्यान और शुक्लध्यान निर्बाध सम्पन्न होते हैं। नग्न रहने

पर क्षुधादि से पीड़ित न होते हुए भी शीतादि की बाधा से तथा उसके निवारण हेतु अग्नि प्रज्वलित करने की इच्छा से दुर्ध्यान होता है तथा अग्निसेवन से असंयम होता है।

“नग्न मुनियों को देखकर लोग सोचते हैं—“अरे! ये मुण्डे, पापी हमारी बहू-बेटियों को मुँह से नाम न लेने योग्य अंग (लिंग) दिखलाते हुए लज्जित नहीं होते। इन्हें हम घर में नहीं घुसने देंगे।” ऐसे दुर्वचनों से जैनधर्म का अपमान होता है तथा नग्न पुरुष को देखकर स्त्रियों में कामविकार की उत्पत्ति होती है, क्योंकि यह स्त्री-पुरुष का स्वभाव ही है। इस दोष का निवारण भी वस्त्रधारण करने से ही होता है।

“प्रश्न—तीर्थंकर और जिनकल्पिक साधु भी वस्त्ररहित होते हैं, उनमें ये गुण कैसे संभव हैं? अर्थात् उनमें नग्नताजन्य दोषों का अभाव कैसे सम्भव है?

“उत्तर—तीर्थंकरादि में भी लोकाचाररूप धर्म का सद्भाव होने से हम उनमें वस्त्र का सद्भाव मानते हैं। यह कैसे? सुनिए, तीर्थंकर भी गृहस्थावस्था में समुचित वस्त्राभूषणों से विभूषित होते हैं, किन्तु प्रव्रज्या के समय (वस्त्राभूषणों का परित्याग कर देने पर भी) इन्द्र द्वारा लाये गये देवदूष्य वस्त्र को बायें कन्धे पर इस अभिप्राय से डाल लेते हैं कि मुझे वस्त्रपात्रमय धर्म का उपदेश देना है। आगम में कहा भी गया है कि ‘चौबीसों तीर्थंकर एक वस्त्र लेकर प्रव्रजित हुए थे’ (आवश्यकनिर्युक्ति/ गाथा २२७)। नग्न होने पर भी पुण्योत्कर्ष के उदय से उनमें बीभत्सता के अभाव और सौन्दर्य के सद्भाव से वस्त्रधारी जैसा स्वरूप विद्यमान होता है। कहा भी गया है—“जो बिना अध्ययन के ही विद्वान् हैं, बिना धन के ही परमेश्वर हैं और बिना अलंकारों के ही मनोहर हैं, वे जिनेन्द्र आपकी रक्षा करें।” इसका कारण यह है कि तीर्थंकरों का गुह्यप्रदेश उनके शुभप्रभामंडल से वस्त्रवत् ही आच्छादित रहता है, जिससे वह चर्मचक्षुवालों को दिखाई नहीं देता। फलस्वरूप उनके रूप को देखकर स्त्रियों में कामविकार की उत्पत्ति नहीं होती। इस प्रकार वस्त्रपरिधान के अभाव में भी तीर्थंकरों में लोकाचाररूप धर्म का अभाव नहीं होता, अतः वे वस्त्रधारिवत् ही होते हैं।”

इस कथन का समर्थन समवायांग (समवाय ३४) के इस वचन से भी होता है—“पछन्ने आहारनिहारे अदिस्से मंसचक्खुणा” अर्थात् तीर्थंकर का आहार और नीहार (मल-मूत्र-विसर्जन) प्रच्छन्न होता है, चर्मचक्षुओं से दिखाई नहीं देता। नीहार के दिखाई न देने से गुह्यांग का दिखाई न देना स्वतः सिद्ध है, कहा भी गया है—“भगवतो नाग्न्यादर्शनवत् पुरीषाद्यदर्शनस्याप्युपपत्तेः” (अभि.रा.को.३/६५७)। अर्थात् भगवान् में जैसे नाग्न्य दिखाई न देने का अतिशय होता है, वैसे ही मलमूत्रादि-विसर्जन के अदृश्य

रहने का भी अतिशय होता है। समवायांग (३४ वें समवाय) में तीर्थंकर के जो चौंतीस अतिशय वर्णित हैं, उनमें से १९ वें अतिशय में तीर्थंकर में अप्रियरूप का अभाव बतलाया गया है। यह अप्रियरूप जुगुप्सोत्पादक नग्नरूप ही है, जो तीर्थंकरों में अतिशय के प्रभाव से अदृश्य हो जाता है। श्वेताम्बरमत में यह मानना अनिवार्य है कि तीर्थंकरों की नग्नता अदृश्य रहती है, क्योंकि उसमें मल्ली को स्त्री मानते हुए उनका तीर्थंकर होना भी माना गया है। इससे बहुत बड़ी विसंगति सामने आयी। एक ओर दिगम्बरमत के समान श्वेताम्बरमत में भी आर्यिका के लिए नाग्न्यलिंग (अचेलत्व) का निषेध किया गया है—“नो कम्पङ्ग निग्गंथीए अचेलियाए हुंतए” (बृहत्कल्पसूत्र / उद्देश ५ / सूत्र १६)। दूसरी ओर यह कहा गया है कि सभी तीर्थंकर वस्त्राभूषण त्याग कर अचेल हो जाते हैं और यद्यपि एक वस्त्र कन्धे पर डालकर प्रव्रजित होते हैं, तथापि उसके च्युत हो जाने पर अचेल ही रहते हैं। (देखिये, अध्याय ३/प्र.१/शी.२)। सभी तीर्थंकरों में मल्ली भी आ जाते हैं। इससे यह समस्या खड़ी हुई कि मल्ली को यदि स्त्री माना जाता है, तो स्त्रियों के लिए नग्नता का निषेध होने से, उनका तीर्थंकर होना अनुपपन्न होता है और यदि तीर्थंकर माना जाता है, तो उनका स्त्री होना अनुपपन्न होता है, क्योंकि तीर्थंकर नग्न होते हैं और स्त्रियाँ नग्न नहीं हो सकतीं। अतः मल्ली के स्त्रीत्व और तीर्थंकरत्व, दोनों की उपपत्ति के लिए भी यह मानना आवश्यक था कि तीर्थंकरों की नग्नता उनके अतिशयजन्य शुभप्रभामण्डल से अदृश्य रहती है। श्वेताम्बरसाहित्य में उत्कृष्ट जिनकल्पियों के भी नाग्न्य के अदृश्य रहने का उल्लेख है—“जिनकल्पिकानामेकावतरित्वप्रघोषमाश्रित्य तथा च तेषां वस्त्राभावे नाग्न्यदर्शनाभावमाश्रित्याक्षराणि तु शास्त्रे दृष्टानि न स्मरन्तीति ॥ ४२ ॥” (सेनप्रश्न / उल्लास १ / अभि.रा.को. / ६ / ८७८)। इसके अतिरिक्त सभी तीर्थंकरों का वस्त्रसहित ही प्रव्रजित होना बतलाया गया है—“सव्वेऽपि एगदूषेण निग्गया जिणवरा चउव्वीसं” (आव.निर्यु. / गा.२२७)।

२

प्राचीन श्वेताम्बर-जिनप्रतिमाएँ गुह्यांग-रचना-रहित

अभिप्राय यह कि अपने शुभप्रभामण्डल से गुह्यप्रदेश (लिंग एवं नितम्ब) के आच्छादित रहने के कारण ही तीर्थंकर नग्नताजन्य दोषों से मुक्त और लोकानुवृत्त्यादि गुणों से युक्त रहते हैं। अतः श्वेताम्बरों के लिए वे इसी रूप में पूज्य हो सकते हैं, लज्जा-संयम-ब्रह्मचर्यादि गुणों के भंजक, लोकनिन्दित, बीभत्स नग्नरूप में नहीं। इससे सिद्ध है कि पूजा के लिए उनकी प्रतिकृति (प्रतिमा) भी इसी रूप में अर्थात् गुह्यप्रदेश के प्रदर्शन से रहित तथा देवदूष्य वस्त्र से अंशतः आच्छादितरूप में ही निर्मित

की जा सकती थी। जिस प्रतिमा में गुह्यप्रदेश दृष्टिगोचर हो रहा हो, वह श्वेताम्बर-मान्य तीर्थंकर प्रतिमा नहीं हो सकती थी। अतः प्राचीनकाल में श्वेताम्बरपरम्परा में तीर्थंकरों की प्रतिमाएँ अप्रकट-गुह्य-प्रदेशवाली अर्थात् गुह्यांगरचनारहित ही बनती थीं। प्रवचनपरीक्षाकार ने इस तथ्य का उद्धाटन निम्नलिखित शब्दों में किया है—

उज्जिंतगिरिखिवाए सासणसुरिकहणमित्थ संजायं।
 जो मण्णइ नारीणं मुत्तिं तस्सेव तित्थमिणं ॥ ६५ ॥
 तत्तो विसन्नचित्ता खमणा पासंडिआ विगयआसा।
 निअ - निअठाणं पत्ता पब्भट्टा दाणमाणेहिं ॥ ६६ ॥
 मा पडिमाण विवाओ होहिति विचिंतिऊण सिरिसंघो।
 कासी पल्लवचिंधं नवीणपडिमाण पयमूले ॥ ६७ ॥
 तं सोऊणं रुट्ठो दुट्ठो खमणोऽवि कासि नगिणत्तं।
 निअपडिमाणं जिणवरविगोवणं सोऽवि गयसन्नो ॥ ६८ ॥
 तेणं संपइ-पमुह-प्पडिमाणं पल्लवकणं नत्थि।
 अत्थि पुण संपईणप्पडिमाण विवायकालाओ ॥ ६९ ॥
 पुव्विं जिणपडिमाणं नगिणत्तं नेव नविअ पल्लवओ।
 तेणं नागारेणं भेओ उभएसि संभूओ ॥ ७० ॥

प्रवचनपरीक्षा / १ / २ / पृ. ११४-११६

अनुवाद

“एक बार गिरनारतीर्थ के स्वामित्व को लेकर श्वेताम्बरों और दिगम्बरों में विवाद हुआ। उसमें श्वेताम्बरों ने शासनदेवी के मुख से कहलवा दिया कि जो सम्प्रदाय नारीमुक्ति को मानता है, यह तीर्थ उसी का है। यह सुनकर दिगम्बर निराश होकर अपने-अपने घर चले गये। उसके बाद श्वेताम्बरसंघ ने यह सोचकर कि प्रतिमाओं के लिए आगे कोई विवाद न हो, नवीन प्रतिमाओं के पादमूल में पल्लवचिह्न (वस्त्रपट्टिका का आकार) बनाना शुरू कर दिया। यह जानकर दुष्ट खमण (दिगम्बर) क्रुद्ध हो गये और संघ का कुछ बिगाड़ सकने में असमर्थ होने के कारण वे भी अपनी नवीन जिनप्रतिमाओं में नगनत्व की अर्थात् दृश्यमान लिंगादि-अवयवों की रचना कराने लगे और यह नहीं सोचा कि प्रतिमाओं को नगनाकार बनाने से उनमें जिनेन्द्र का स्वरूप अदृश्य हो जायेगा।

(अभिप्राय यह कि दिगम्बरों ने सोचा कि हमारी जिनप्रतिमाओं से भिन्नता दर्शाने के लिए श्वेताम्बरों ने अपनी जिनप्रतिमाओं में पल्लवचिह्न बनाने का निर्णय किया

है, अतः हम भी श्वेताम्बर-जिनप्रतिमाओं से अपनी जिनप्रतिमाओं की भिन्नता प्रकट करने के लिए उनमें कोई चिन्ह बनायेंगे। ऐसा सोचकर ईर्ष्याभाव से उन्होंने अपने अधिकार में विद्यमान जिनप्रतिमाओं में नग्नत्व आरोपित कर दिया। चूँकि श्वेताम्बरमुनि स्वयं वस्त्र धारण करते थे, इसलिए उन्होंने जिनप्रतिमाओं में वस्त्र का चिन्ह बनाया और दिगम्बरमुनि नग्न रहते थे, अतः उन्होंने प्रतिमाओं को नग्न बनाया।^३

“इस प्रकार महाराज सम्प्रति आदि के द्वारा बनवाई गयीं प्राचीन प्रतिमाओं में तो पल्लवाङ्कन (अञ्चलचिह्न) नहीं है, किन्तु गिरनारपर्वत पर दिगम्बरों के साथ हुए विवाद के बाद बनायी गयी आधुनिक प्रतिमाओं में पल्लवचिह्न विद्यमान है।^४ तात्पर्य यह कि विवाद के पूर्व निर्मित जिनप्रतिमाओं में नग्नत्व भी नहीं था और अञ्चलचिह्न भी नहीं था, इस कारण आकार की दृष्टि से उनमें श्वेताम्बर-दिगम्बर का भेद नहीं था। दोनों सम्प्रदायों की जिनप्रतिमाओं का आकार एक जैसा था।”^५

प्रवचनपरीक्षाकार ने यह नहीं बतलाया कि दिगम्बरश्वेताम्बरों में यह प्रतिमाविवाद वीरनिर्वाण के कितने वर्ष बाद हुआ। किन्तु श्वेताम्बर-परम्परा में सबसे प्राचीन सवस्त्र-प्रतिमा जीवन्तस्वामी (भगवान् महावीर) की है, जो छठी शती ई० में निर्मित हुई थी। उसके बाद सन् ६८७ ई० में भगवान् ऋषभदेव की सवस्त्र प्रतिमा का निर्माण हुआ। (देखिये, इसी अध्याय का तृतीय प्रकरण)। इससे संकेत मिलता है कि प्रवचनपरीक्षाकार द्वारा वर्णित प्रतिमाविवाद ईसा की छठी शती में हुआ होगा। किन्तु दिगम्बरपरम्परा के अनुसार यह विवाद ईसा की चौदहवीं शताब्दी में हुआ था, जैसा कि प्रथम शुभचन्द्रकृत गुर्वावली (ती.म.आ.प./४/ पृ.३९९) के निम्न पद्यों से ज्ञात होता है—

३. “निजानां स्वायत्तानां जिनप्रतिमानां नग्नत्वं दृश्यमानलिङ्गाद्यवयवत्वमकार्षात् स ‘विगतसंज्ञो’ नगनाकारकरणेन जिनेन्द्रविगोपनं भविष्यति नवेति विचारणाशून्यः। अयं भावः—अहोऽस्मिन्निश्रितप्रतिमाकारतो भिन्नाकारकरणाय यदि श्रीसङ्केत पल्लवचिह्नमकारि, करिष्यामस्तर्हि वयमपि श्वेताम्बर-प्रतिमातो भिन्नत्वकरणाय किञ्चिच्चिह्नमिति विचिन्त्य मत्सरभावेन जिनप्रतिमानां नग्नत्वं विहितम्। श्वेताम्बरेण स्वयं वस्त्रधारित्वात् वस्त्रं चिह्नं कृतं, दिगम्बरेण स्वयं नग्नत्वान्गनत्वमेवेति गाथार्थः।” प्रवचनपरीक्षा/वृत्ति १/२/६८/पृ.११६।

४. “विवादात् पूर्वकालभाविनीनां त्रिखण्डाधिपति-सम्प्रति-नृपप्रभृतिनिर्मापितानां जीर्णप्रतिमानां पल्लवाङ्कनम् अञ्चलचिह्नं नास्ति, पुनः साम्प्रतीन-प्रतिमानाम् आधुनिकजिनप्रतिमानां पल्लवचिह्नमिति। साम्प्रतीनत्वं कुत इत्याह ‘विवायकालाउ’ त्ति उज्जयन्तगिरिमाश्रित्य (दिगम्बरैः सह) विवादकालादिति।” वही / १/२/६९/पृ. ११६।

५. “विवादात् पूर्वकालं जिनप्रतिमानां नैव नग्नत्वं, नापि च पल्लवकः अञ्चलचिह्नं, तेन कारणेन आकारेण जिनप्रतिमानामुभयेषां श्वेताम्बरदिगम्बराणां भेदो भिन्नत्वं ‘न सम्भूतो’ नासीत्, सदृश आकार आसीदिति गाथार्थः।” वही / १/२/ ७०/ पृ. ११६-११७।

पद्मनन्दी गुरुर्जातो बलात्कारगणाग्रणीः
 पाषाणघटिता येन वादिता श्रीसरस्वती।
 उज्जयन्तगिरौ तेन गच्छः सारस्वतोऽभवत्
 अतस्तस्मै मुनीन्द्राय नमः श्रीपद्मनन्दिने ॥ ६३ ॥

इन पद्यों में कहा गया है कि भट्टारक पद्मनन्दी ने गिरनारपर्वत पर सरस्वती की पाषाण प्रतिमा से यह कहलवा दिया था कि दिगम्बरमत ही प्राचीन है। 'दि इण्डियन एण्टिक्वेरी' में प्रकाशित सरस्वतीगच्छ की 'डी' पट्टावली के अनुसार ये पद्मनन्दी वि० सं० १३७५ में भट्टारकपद पर आसीन हुए थे। (देखिए, अध्याय ८ / प्रकरण ३ / शीर्षक १), किन्तु संयुक्त ए-बी पट्टावली (क्र० ८४) में इन्हें वि० सं० १३८५ में पट्टारूढ़ बतलाया गया है। (देखिए, अध्याय ८ / प्रकरण २ / शीर्षक १)। इस प्रकार दिगम्बरमतानुसार उक्त प्रतिमाविवाद ईसा की १४ वीं शताब्दी में हुआ था।

पं० नाथूराम जी प्रेमी का कथन है कि "आचार्य कुन्दकुन्द का भी एक नाम पद्मनन्दी है, अत एव पीछे के लेखकों ने इस शास्त्रार्थ और विजय का मुकुट कुन्दकुन्द को भी पहना दिया है, परन्तु यह बड़ा भारी भ्रम है। ये पद्मनन्दी १४ वीं शताब्दी के एक भट्टारक हैं।" (जै. सा. इ. / प्र. सं. / पा. टि. / पृ. २४५)।

फिर भी यदि श्वेताम्बरपरम्परा में उपलब्ध प्राचीनतम सवस्त्र जिनप्रतिमा के निर्माणकाल के आधार पर यह मान लिया जाय कि उपर्युक्त प्रतिमाविवाद ईसा की छठी शताब्दी में हुआ था, तो यह मानना होगा कि प्रवचनपरीक्षाकार के अनुसार छठी शती ई० के पूर्व बनाई जाने वाली जिनप्रतिमाएँ वस्त्रधारण न करते हुए भी नग्न नहीं होती थीं, अर्थात् कायोत्सर्गमुद्रामय प्रतिमाओं में लिंगनितम्बादि गुह्यांगों की रचना नहीं की जाती थी और पद्मासनमुद्रामय जिनप्रतिमाओं में लिंग के स्वतः अदृश्य रहने से केवल नितम्ब-जंघादि का आकार नहीं बनाया जाता था, दोनों प्रकार की प्रतिमाओं में गुह्यांगोंवाला भाग सपाट रखा जाता था, क्योंकि यदि सपाट न रखकर लिंग-नितम्बादि का आकार बनया जाता और वस्त्राच्छादित न दिखलाया जाता, तो नग्नत्व का दृष्टिगोचर होना अनिवार्य था। इससे सूचित होता है कि स्त्रीतीर्थकर मल्ली की प्रतिमा स्तन-योनि नितम्ब आदि स्त्रीचिह्नों से रहित होती थी और शेष तीर्थकरों की प्रतिमाएँ लिंग-नितम्बादि पुरुषचिह्नों से रहित। प्रवचनपरीक्षाकार के कथनानुसार विवाद होने पर दिगम्बरों ने ही उनपर लिंग-नितम्बादि का आकार बनाना आरंभ किया था।

प्रवचनपरीक्षाकार के इस कथन के आधार पर पं० नाथूराम जी प्रेमी ने भी निष्कर्ष निकाला है कि "पूर्वोक्त-विवाद के पहले (दिगम्बर-श्वेताम्बर) दोनों (सम्प्रदायों) की प्रतिमाओं में भेद नहीं था और इस कारण दोनों एकत्र होकर अपनी उपासनावृत्ति को चरितार्थ करते थे।" (जै. सा. इ. / प्र. सं. / पृ. २४१)।

यह निष्कर्ष सर्वथा प्रमाणविरुद्ध एवं अयुक्तिसंगत है, क्योंकि प्रथम तो कायोत्सर्गमुद्रा में ऐसी कोई जिनप्रतिमा आज तक उपलब्ध नहीं हुई है, जिसमें पुरुषचिह्न (लिंग) दृश्यमान न हो और पद्मासनमुद्रा में भी ऐसी जिनप्रतिमा प्राप्त नहीं हुई, जिसमें नितम्ब-जंघादि के नग्न आकार की रचना न की गयी हो, अर्थात् कटि के नीचे का भाग सपाट हो। दूसरे, ऐसी प्रतिमा दिगम्बरों के लिए जिनबिम्ब के रूप में मान्य नहीं हो सकती थी, क्योंकि सर्वसंगपरित्याग का प्रतीकभूत नाग्न्य ही दिगम्बरों के लिए जिनलिंग होता है, अतः उसी को प्रतिबिम्बित करनेवाली प्रतिमा उनके लिए जिनबिम्ब के रूप में पूज्य हो सकती है। इसके अतिरिक्त सिन्धुसभ्यता-काल से लेकर छठी शती ई० तक की जितनी भी जिनप्रतिमाएँ उपलब्ध हुई हैं, वे सब नग्न हैं, अर्थात् कायोत्सर्गमुद्रामय प्रतिमाएँ पुरुषचिह्न से युक्त हैं और पद्मासन-प्रतिमाओं में नितम्ब-जंघादि का नग्न आकार बनाया गया है। पद्मासनमुद्रा में नितम्बों के अनावृत होने तथा कटि में वस्त्रपट्टिका बाँधने योग्य सूत्रचिह्न न होने से लिंग का अनावृत होना अर्थात् प्रतिमा का नग्न होना सूचित होता है। अतः “प्रतिमा-विवाद से पूर्व दोनों सम्प्रदायों की जिनप्रतिमाएँ न नग्न होती थीं, न पल्लवचिह्नयुक्त, अतः दोनों में भेद नहीं था,” यह मान्यता सर्वथा प्रमाणविरुद्ध एवं अयुक्तिसंगत है। श्वेताम्बरों द्वारा निर्मापित जिनप्रतिमाएँ भले ही अनग्न और पल्लवचिह्नरहित होती हों, किन्तु दिगम्बरों द्वारा निर्मापित जिनप्रतिमाएँ नियमतः नग्न होती थीं।

किन्तु, दूसरी ओर प्रेमी जी मुनि जिनविजय जी के (जैनहितैषी भाग १३/अंक ६ में व्यक्त) शब्दों को उद्धृत करते हुए कहते हैं कि मथुरा के कंकाली टीले में जो लगभग दो हजार वर्ष की प्राचीन प्रतिमाएँ मिली हैं, वे नग्न हैं और उन पर जो लेख हैं, वे श्वेताम्बर-कल्पसूत्र की स्थविरावली के अनुसार हैं। इससे सिद्ध होता है कि प्राचीनकाल में दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनों की प्रतिमाएँ नग्न होती थीं। (जै.सा. ३./प्र.सं./पृ.२४१)।

आश्चर्य है कि प्रेमी जी ने इन दोनों परस्परविरुद्धमतों को कैसे स्वीकार कर लिया! प्रवचनपरीक्षाकार कहते हैं कि दिगम्बरों और श्वेताम्बरों की प्राचीन जिन प्रतिमाएँ न नग्न होती थीं, न सवस्त्र। मुनि जिनविजय जी का कथन है कि प्राचीनकाल में दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनों की जिनप्रतिमाएँ नग्न होती थीं। प्रेमी जी ने इन दोनों मतों को सत्य मान लिया, जो असम्भव है। इनमें से प्रथम मत में यह असत्य है कि दिगम्बरों की भी प्राचीन जिनप्रतिमाएँ नग्न नहीं होती थीं। दूसरे मत में यह असत्य है कि प्राचीन श्वेताम्बर-जिनप्रतिमाएँ भी नग्न होती थीं। पहले मत की असत्यता के प्रमाण ऊपर दिये जा चुके हैं। दूसरे मत की असत्यता का प्रमाण यह है कि जैसे दिगम्बर-परम्परा में अनग्न या अंचलिकायुक्त जिनप्रतिमा को जिनबिम्ब नहीं माना जाता,

वैसे ही श्वेताम्बर-परम्परा में नग्न जिनप्रतिमा को जिनबिम्ब स्वीकार नहीं किया गया है। 'विशेषावश्यकभाष्य' और 'प्रवचनपरीक्षा' आदि ग्रन्थों में मुनियों के नग्नत्व को अश्लीलता, निर्लज्जता और रासभादि पशुओं के समान असभ्यता का लक्षण माना गया है, उसे लोकानुवृत्ति-धर्म के विरुद्ध, संयम एवं ब्रह्मचर्य का विनाशक तथा स्त्रियों में कामविकार का जनक बतलाया गया है, इसीलिए श्वेताम्बर-आगमों में यह कल्पना की गयी है कि तीर्थंकरों का नग्न शरीर उनके अतिशयजन्य शुभप्रभामण्डल से आच्छादित हो जाता है, फलस्वरूप वह उपर्युक्त दोषों का हेतु नहीं रहता। अतः उनकी ऐसी ही प्रतिमा (जिसकी नग्नता शुभप्रभामण्डल से आच्छादित हो) जिनबिम्ब मानी जा सकती है। जो प्रतिमा इससे विपरीत हो अर्थात् जिसमें लिंग, नितम्ब आदि गुह्यांग दिखाई दे रहे हों, वह प्रतिमा श्वेताम्बरमतानुसार अश्लीलता, निर्लज्जता, असभ्यता आदि की प्रकाशक और कामविकार की जनक होने से जिनबिम्ब नहीं कहला सकती, अत एव वह श्वेताम्बरों के लिए दर्शनीय एवं पूजनीय नहीं हो सकती। 'तत्त्वनिर्णयप्रासाद' ग्रन्थ के कर्ता श्वेताम्बर मुनि श्री आत्माराम जी ने ऐसी प्रतिमा का जिनबिम्ब होना अस्वीकार किया है और उसे अपूज्य बतलाया है। (देखिए, अगला शीर्षक ३)। अतः यह निर्विवाद है कि मथुरा के कंकाली टीले से उपलब्ध प्राचीन जिनप्रतिमाएँ नग्न होने के कारण श्वेताम्बरों द्वारा प्रतिष्ठापित नहीं हैं। और यतः वे श्वेताम्बरों द्वारा प्रतिष्ठापित नहीं हैं, इसलिए यह सुनिश्चित है कि उन पर उत्कीर्ण गण-गच्छादि भले ही कल्पसूत्र की स्थविरावली से साम्य रखते हों, श्वेताम्बरसंघ से सम्बन्धित नहीं हैं, अपितु तत्कालीन अर्धफालक संघ से सम्बद्ध हैं। (देखिए, अगले शीर्षक ६ एवं ८)। इस प्रकार यह मान्यता असत्य सिद्ध हो जाती है कि प्राचीनकाल में दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनों की जिनप्रतिमाएँ नग्न होती थीं। सत्य यह है कि केवल दिगम्बरों की ही जिनप्रतिमाएँ, जैसे वर्तमानकाल में नग्न बनायी जाती हैं, वैसे ही प्राचीनकाल में भी नग्न बनायी जाती थीं और श्वेताम्बरों की जिनप्रतिमाएँ पहले गुह्यांगरहित निर्मित की जाती थीं, बाद में सवस्त्र या अंचलिकायुक्त निर्मित की जाने लगीं।

३

श्वेताम्बरमतानुसार नग्न जिनप्रतिमा जिनबिम्ब नहीं

जैसा कि ऊपर कहा गया है श्वेताम्बरमत नाग्न्यलिंग को जिनलिंग नहीं मानता। इसका स्पष्टीकरण तत्त्वनिर्णयप्रासाद ग्रन्थ के कर्ता श्वेताम्बर मुनि श्री आत्माराम जी ने इस प्रकार किया है—

(दिगम्बरों की ओर से) "प्रश्न—जिनवर की प्रतिमा को लिंग का आकार करना चाहिए, क्योंकि भगवान् तो दिनरात वस्त्ररहित ही होते हैं। इस वास्ते जिस जिनप्रतिमा

को लिंग का आकार न होवे, सो जिनप्रतिमा ही नहीं है। क्योंकि जिनवर के रूपसमान ही जिनबिम्ब बनाना चाहिए, अन्यथा ध्यान में विलम्ब होता है। इस वास्ते वस्त्रादिक की शोभा करे, स्थिर ध्यान नहीं हो सकता है।

(श्वेताम्बरों की ओर से) “उत्तर—जिनेन्द्र के तो अतिशय के प्रभाव से लिंगादि नहीं दीखते हैं और प्रतिमा के तो अतिशय नहीं है, इस वास्ते तिस के लिंगादि दीख पड़ते हैं, तो फिर जिनवर-समान तुमारा माना जिनबिम्ब कैसे सिद्ध हुआ? अपितु नहीं सिद्ध हुआ। और तुमारे मत के खड़े-योगासन-लिंगवाली प्रतिमा के देखने से स्त्रियों के मन में विकृति (विकार) होने का भी संभव है, जैसे सुन्दर भग-कुचादि-आकारवाली स्त्री की मूर्ति देखने से पुरुष के मन में विकृति होवे है। और लिंग देखने से जिनप्रतिमा सुभग भी नहीं दीखती है। और उदयपुर के जिले में बागड़देश में तुमारे मत के लिंगाकार-प्रकटवाले नेमीश्वरादि के खड़े योग के ऐसे बिम्ब हैं कि जिनके दर्शन करने वास्ते सगे बहिन-भाई भी प्रायः साथ एक काल में नहीं जाते हैं। और अन्य-मतवाले भी ऐसे बिम्ब को देख के उपहास्य करते हैं। यद्यपि महादेव का केवल लिंग ही अन्य-मतवाले पूजते हैं, परन्तु जिसने यह शिवजी का लिंग है, ऐसा नहीं सुना है, वो लिंग को प्रथम ही देखने से नहीं जान सकता है कि यह किस का लिंग है, किन्तु केवल अव्यक्त एक पत्थर की लम्बी सी पिण्डी दीखती है। तथापि, प्रायः संन्यासी लोक, नग्न होने से तिसके दर्शन नहीं करते हैं, ऐसा सुनते हैं। और तुमने तो पुरुषाकार प्रतिमा के वृषणों के ऊपर ऐसा लिंगाकार बनाया है कि जिसको जो कोई देखेगा, तिसको ही अच्छा नहीं लगेगा, तो फिर जिनवर-समान तुमारा जिनबिम्ब किसतरें सिद्ध हुआ?” (तत्त्वनिर्णयप्रासाद/पृ. ५८६-५८७)।

४

मुनि कल्याणविजय जी : मथुरा की प्राचीन जिनप्रतिमाएँ अनग्न

मुनि श्री आत्माराम जी का यह कथन कि जिनेन्द्र के तो अतिशय के प्रभाव से लिंगादि नहीं दीखते, श्वेताम्बर-मान्यता है, दिगम्बर-मान्यता नहीं। दिगम्बर-मतानुसार तीर्थकर के चौतीस अतिशय होते हैं, किन्तु उनमें ऐसा कोई अतिशय नहीं होता, जिससे उनके लिंगादि दिखाई न दें। दिगम्बरमत तीर्थकर के लिंगादि को दृश्यमान ही मानता है, अतः जिनप्रतिमा में लिंगादि का आकार बनाये जाने पर ही वह जिनबिम्ब (‘जिन’ का प्रतिरूप अर्थात् ‘जिन’ के समान) बन पाती है। हाँ, श्वेताम्बरमत के अनुसार ऐसी जिनप्रतिमा जिनबिम्ब नहीं है, इससे मैं सहमत हूँ और इसी से यह सिद्ध होता है कि मथुरा के कंकालीटीले से उपलब्ध कुषाणकालीन नग्न जिनप्रतिमाएँ श्वेताम्बरों द्वारा प्रतिष्ठापित नहीं हैं। क्योंकि जो नग्न जिन प्रतिमाओं को जिनबिम्ब ही न मानते

हों, वे उनका निर्माण और प्रतिष्ठापन कैसे करा सकते हैं? और वे उनके लिए पूज्य कैसे हो सकती हैं? सुप्रसिद्ध श्वेताम्बर मुनि श्री कल्याणविजय जी इस तथ्य से अवगत थे, इसलिए उन्होंने उन प्रतिमाओं को नग्न मानने से ही इनकार कर दिया। वे लिखते हैं—

“मथुरा के स्तूप में से निकली हुई जैन प्रतिमाओं के सम्बन्ध में कतिपय विद्वानों का कथन है कि वे दिगम्बर मूर्तियाँ हैं, यह कथन यथार्थ नहीं। क्योंकि आज से २००० वर्ष पहले मूर्तियाँ इस प्रकार से बनाई जाती थीं कि गद्दी पर बैठी हुई तो क्या, खड़ी मूर्तियाँ भी खुले रूप में नग्न नहीं दिखती थीं। उनके वामस्कन्ध से देवदूष्य वस्त्र का अंचल दक्षिण जानु तक इस खूबी से नीचे उतारा जाता था कि आगे तथा पीछे का गुह्य भाग उससे आवृत हो जाता था और वस्त्र भी इतनी सूक्ष्म रेखाओं से दिखाया जाता था कि ध्यान से देखने से ही उसका पता लग सकता था। विक्रम की छठवीं तथा सातवीं शती की खड़ी जिनमूर्तियाँ इसी प्रकार से बनी हुईं आज तक दृष्टिगोचर होती हैं, परन्तु उसके परवर्ती समय में ज्यों-ज्यों दिगम्बरसम्प्रदाय व्यवस्थित होता गया त्यों-त्यों उसने अपनी जिनमूर्तियों का अस्तित्व पृथक् दिखाने के लिए जिनमूर्तियों में भी प्रकटरूप से नग्नता दिखलाना प्रारम्भ कर दिया। गुप्तकाल से बीसवीं शती तक कि जितनी भी जिनमूर्तियाँ दिगम्बरसम्प्रदाय द्वारा बनवाई गई हैं, वे सभी नग्न हैं। मथुरा के स्तूप में से भी गुप्तकाल में बनी हुई इस प्रकार की नग्न मूर्तियों के कतिपय नमूने मिले हैं, परन्तु वे सभी विक्रम की आठवीं शती के बाद की हैं, कुषाणकाल की नहीं। मथुरा के स्तूप में से निकले हुए कई आयागपट्ट तथा प्राचीन जिनप्रतिमाओं के छायाचित्र हमने देखे हैं, उनमें नग्नता का कहीं भी आभास नहीं मिलता और यह भी सत्य है कि उन मूर्तियों के ‘कच्छ’ तथा ‘अंचलि’ आदि भी नहीं होते थे, क्योंकि श्वेताम्बर मूर्तियों की यह पद्धति विक्रम की ग्यारहवीं शती के बाद की है।

“इसके अतिरिक्त मथुरा के स्तूप में से एक जैनश्रमण की मूर्ति मिली है, जिस पर ‘कण्ह’ नाम खुदा मिलता है। ये ‘कण्ह’ आचार्य, दिगम्बर-सम्प्रदाय-प्रवर्तक शिवभूति मुनि के गुरु कृष्ण हों, तो आश्चर्य नहीं, क्योंकि वह मूर्ति अर्धनग्न होते हुए भी उसके कटिभाग में प्राचीन निर्ग्रन्थ श्रमणों द्वारा नग्नता ढाँकने के निमित्त रक्खे जाते ‘अग्रावतार’ नामक वस्त्रखण्ड की निशानी देखी जाती है। यह ‘अग्रावतार’ प्रसिद्ध स्थविर आर्यरक्षित के समय तक श्रमणों में व्यवहृत होता था। बाद में धीरे-धीरे छोटा कटिवस्त्र जिसे ‘चुल्लपट्टक’ (छोटा पट्टक) कहते थे, श्रमण कमर में बाँधने लगे, तब से प्राचीन ‘अग्रावतार वस्त्रखण्ड’ व्यवहार में से निकल गया।” (पट्टावलीपराग/पृ.४४-४५)।

मुनि जी का मत प्रवचनपरीक्षाकार के मत से मिलता है। मुनि श्री आत्माराम जी का भी यही मत है। इसलिए इसमें सन्देह नहीं रह जाता कि कोई भी नग्न जिनप्रतिमा, चाहे वह प्राचीन हो या अर्वाचीन, श्वेताम्बर-परम्परा की नहीं है। इसलिए मुनि श्री जिनविजय जी एवं पं० नाथूराम जी प्रेमी का यह कथन समीचीन नहीं है कि 'प्राचीन काल में दिगम्बर और श्वेताम्बर, दोनों की जिन-प्रतिमाएँ नग्न होती थीं।'

५

मथुरा की प्राचीन जिन प्रतिमाएँ नग्न ही हैं

किन्तु मथुरा के कंकाली टीले से प्राप्त कुषाणकालीन जिनप्रतिमाओं की नग्नता प्रत्यक्ष प्रमाण से सिद्ध है, अतः उनके नग्न होने से इनकार नहीं किया जा सकता। इसीलिए मुनि श्री जिनविजय जी ने कहा है कि वे नग्न हैं। 'उत्तरभारत में जैनधर्म' ग्रन्थ के लेखक श्री चिमनलाल जैचंद शाह ने भी लिखा है—“इसी प्रकार की जैनतीर्थकरों की मूर्तियाँ मथुरा के अवशेषों में भी प्राप्त हैं। वे मूर्तियाँ एक वर्ग-रूप से दिगम्बर शैली की ही हैं” (पृष्ठ २१०)। सिद्धान्ताचार्य पं० कैलाशचन्द्र जी शास्त्री भी लिखते हैं—“जैनमूर्तिकला से भी नग्नता का ही समर्थन होता है। एक भी प्राचीन जैनमूर्ति ऐसी नहीं मिली है, जो वस्त्र हो अथवा जिसके गुह्यप्रदेश में वस्त्र का चिह्न अंकित हो। मथुरा के कंकाली टीले से प्राप्त सभी मूर्तियाँ नग्न हैं। सुप्रसिद्ध इतिहासज्ञ श्री वीसेण्ट स्मिथ ने 'दी जैन स्तूप एण्ड अदर एन्टीकुटीस् ऑफ मथुरा' नामक पुस्तक प्रकाशित की थी। उसमें बहुत सी जिन-प्रतिमाओं के चित्र भी दिये हैं, जिनमें कुछ प्रतिमाएँ बैठी हुई हैं और कुछ खड़ी हुई हैं। बैठी हुई मूर्तियों पर वस्त्र का कोई चिह्न दृष्टिगोचर नहीं होता। परन्तु खड़ी मूर्तियाँ स्पष्ट रूप से नग्न हैं, और उनमें अंकित लेखों में जो गण, गच्छ आदि दिये हुए हैं, वे श्वेताम्बरग्रन्थ कल्पसूत्र की स्थविरावली के अनुसार दिये हुए हैं।” (जै. सा. इ. / पू. पी. / पृ. ४८३)।

६

वे श्वेताम्बरपरम्परा की प्रतिमाएँ नहीं हैं

यद्यपि मथुरा की कुषाणकालीन जिनप्रतिमाओं में से कुछ पर वैसे ही गण-गच्छ उत्कीर्ण हैं, जैसे श्वेताम्बरग्रन्थ कल्पसूत्र की स्थविरावली में उल्लिखित हैं, तथापि वे प्रतिमाएँ श्वेताम्बर-परम्परा की नहीं हैं। यह इसी से सिद्ध है कि वे नग्न हैं और नग्न जिनप्रतिमाओं को श्वेताम्बरमत जिनबिम्ब नहीं मानता, अतः एव वे श्वेताम्बरों के लिए पूज्य नहीं हैं। इसे युक्तिपूर्वक सिद्ध करते हुए बहुश्रुत विद्वान् पं० अजितकुमार जी शास्त्री लिखते हैं—

“मथुरा के कंकाली टीले से निकली हुई उक्त प्राचीन प्रतिमाओं के विषय में श्वेताम्बरी सज्जनों का कहना है कि डॉक्टर फूहरर के कथनानुसार ये समस्त प्रतिमाएँ श्वेताम्बरीय हैं, अतः हमारा श्वेताम्बर-सम्प्रदाय दिगम्बर-सम्प्रदाय से प्राचीन है। ऐसा ही श्वेताम्बर मुनि आत्माराम जी ने अपने तत्त्वनिर्णयप्रासाद^६ ग्रन्थ में लिखा भी है। किन्तु श्वेताम्बरी सज्जनों की ऐसी धारणा बहुत भूलभरी हुई है। क्योंकि प्रथम तो इन प्रतिमाओं में से एक दो के सिवाय प्रायः सब ही नग्न हैं। उनके शरीर पर वस्त्र का चिह्न रंचमात्र भी नहीं है। इस कारण दिगम्बरीय मूर्ति-विधान के अनुसार वे दिगम्बरी ही हैं। यदि वे श्वेताम्बरी होतीं, तो उन पर कम से कम चोलपट्ट (कंदोरा-लँगोट) का चिह्न तो अवश्य होता। किन्तु उन पर वह बिलकुल भी नहीं है। इस कारण नियमानुसार वे प्रतिमाएँ दिगम्बरी ही हैं।

“यदि प्रतिमाओं पर के लेख में ‘कोट्टिकगण’ शब्द लिखा हुआ होने के कारण उन प्रतिमाओं को श्वेताम्बरीय कहने का साहस किया जावे, तो भी गलत है, क्योंकि प्रतिमाओं के निर्माण के समय में कोट्टिकगण श्वेताम्बरीय होता तो प्रतिमाओं की आकृति भी अन्य श्वेताम्बरी मूर्तियों के अनुसार होती। श्वेताम्बर-बन्धुओं को या तो अपने शास्त्रों में यह दिखलाना चाहिए कि अरहन्त-प्रतिमा का आकार नग्न रूप में होता है, वस्त्र का लेशमात्र भी उसके ऊपर नहीं होता, तो तदनुसार वस्त्र, मुकुट, कुण्डल आदि चिह्नोंवाली जो मूर्तियाँ आज श्वेताम्बरों के यहाँ प्रचलित हैं, वे श्वेताम्बरीय नहीं ठहरती हैं। अथवा वस्त्रसहित मूर्तियों का निर्माण ही श्वेताम्बर-सम्प्रदाय के शास्त्रानुसार होता है, ऐसा यदि श्वेताम्बर कहें, तो इन मथुरा से निकली हुई नग्न मूर्तियों को श्वेताम्बरीय मूर्ति मानने की भूल हृदय से निकाल देनी चाहिए। नग्न मूर्ति और वह श्वेताम्बरीय हो, ऐसा परस्परविरुद्ध कथन हास्यजनक भी है।” (श्वेताम्बरमत-समीक्षा/ पृ. १७८)।

शास्त्री जी का कथन युक्तियुक्त है। जब श्वेताम्बर-आगमों में दर्शाये गये जिनरूप के अनुसार श्वेताम्बरपरम्परा में नग्न जिनप्रतिमा का निर्माण ही नहीं हो सकता, क्योंकि वह जिनप्रतिमा नहीं कहला सकती, तब मथुरा के कंकाली टीले में उपलब्ध नग्न जिनप्रतिमाएँ श्वेताम्बरप्रतिमाएँ नहीं हो सकतीं। और इस कारण उन प्रतिमाओं के पादपीठ पर उत्कीर्ण गण, शाखा आदि के नाम भी श्वेताम्बरपरम्परा से सम्बद्ध नहीं हो सकते, भले ही वैसे ही नाम कल्पसूत्र की स्थविरावली में मिलते हों। उक्त प्रतिमाओं के अधोभाग में मूर्तित साधुओं का वेश श्वेताम्बरसाधुओं का नहीं, अपितु अर्धफालकसाधुओं का है, अतः सिद्ध होता है कि वे अर्धफालकसम्प्रदाय के द्वारा प्रतिष्ठापित की गयी

६. त्रयस्त्रिंशः स्तम्भः / पृ. ६१८-६२३।

थीं, अतः एव उन पर उत्कर्ण गण, शाखा आदि के नाम भी अर्धफालकसम्प्रदाय से ही सम्बद्ध हैं।^७

७

गर्भपरिवर्तन की घटना का उत्कीर्णन

बूहलर (Buhler), फूहरर (Fuhler), स्मिथ (Smith), आदि पाश्चात्य पुरातत्त्वविदों की व्याख्या के आधार पर श्वेताम्बर विद्वानों का कथन है कि मथुरा के कुषाणकालीन शिल्प में भगवान् महावीर के गर्भ-परिवर्तन की घटना का उत्कीर्णन है, अतः उसका सम्बन्ध श्वेताम्बर सम्प्रदाय से है। (जै.ध.या.स./पृ.१५)। किन्तु पाश्चात्य पुरातत्त्वविदों की व्याख्या समीचीन नहीं है। उक्त शिल्प में श्रीकृष्ण की माता देवकी एवं श्रेष्ठिनी अलका के पुत्रों की अदला-बदली का चित्रण है। इस तथ्य का उद्धाटन सुप्रसिद्ध इतिहासविद् डॉ० ज्योतिप्रसाद जी जैन ने अपने एक पुराने शोध-आलेख में किया है, जो 'जैनसन्देश' के शोधार्क ३३ में प्रकाशित हुआ था और कुछ समय पूर्व उसका पुनः प्रकाशन 'शोधदर्श-४८' (नवम्बर २००२ ई०) में हुआ है। उसे ज्यों का त्यों नीचे उद्धृत कर रहा हूँ।

डॉ० ज्योतिप्रसाद जैन का लेख

मथुरा की नैगमेश-मूर्तियाँ और कृष्णजन्म

“जैन पुराणशास्त्रों में हिरण, मेंढे अथवा अज (बकरा) जैसे मुखवाले एक देवता का उल्लेख नैगमर्षि, नैगमेश, नैगमेय, नैगमेशिन हरिणिगमिसि, हरिनैगमिसि, हारि इत्यादि नामों से विभिन्न ग्रन्थों में हुआ है। मथुरा के कंकाली टीले से प्राप्त शृंग-शक-कुषाणकालीन प्राचीन जैन अवशेषों में भी इस देवता के कई मूर्ताङ्कन मिले हैं, जिनमें से एक पर भगवनेमेसो (भगवान् नैगमेश) नाम भी अंकित है (देखिये, एपीग्रेफिका इण्डिका/भाग २/पृ. ३१४/चित्रफलक २)। इस देवता को देवराज इन्द्र का अनुचर, एक स्थान में इन्द्र की पैदल सेना का कप्तान बताया जाता है और शिशुओं के जन्म, पोषण और संरक्षण से उसका विशेष संबंध है, ऐसा विश्वास किया जाता है। ब्राह्मण (हिन्दू) परम्परा में भी नवजात शिशुओं की हितकामना के लिए इस देवता की पूजा, मानता की जाती है। कहीं-कहीं उसके दो रूपों—एक शुभ एवं कल्याणकर और दूसरा अशुभ एवं अनिष्टकर का भी संकेत मिलता है।

“जैनपरम्परा में दिगम्बर आम्नाय के हरिवंशपुराण एवं महापुराणान्तर्गत उत्तर-पुराण में तथा श्वेताम्बर-आम्नाय के नेमिनाथचरित्र और त्रिषष्टिशलाका-पुरुष-चरित

७. देखिये, अगला शीर्षक ८।

में कृष्णजन्म के प्रसंग से इस देवता का विशेष तथा सर्वप्रथम उल्लेख हुआ है। जिनसेन सूरि पुनाट द्वारा ७८३ ई० में रचित हरिवंशपुराण में प्राचीन क्षत्रियों के सुप्रसिद्ध हरिवंश का विस्तृत वर्णन हुआ है। उस वंश में उत्पन्न शूर की सन्तति में शौरिपुर (आगरा के निकट) नरेश अन्धकवृष्णि के दशपुत्रों में सबसे बड़े समुद्रविजय थे और सबसे छोटे वसुदेव। समुद्रविजय के पुत्र अरिष्टनेमि (नेमिनाथ) बाईसवें तीर्थङ्कर थे, और वसुदेव के पुत्र कृष्ण जैनपरम्परा के त्रिषष्टिशलाका-पुरुषों में प्रसिद्ध त्रिखण्डचक्रवर्ती नारायण थे, उनके ज्येष्ठ भ्राता बलराम भी शलाकापुरुष थे। स्वयं वसुदेव कामदेवोपम सुन्दर, सुरूप, सबके प्रिय, अत्यन्त पराक्रमी और साहसी थे। वस्तुतः हरिवंशपुराण के मुख्य नायक वसुदेव ही हैं। वसुदेव की पत्नी देवकी भोजकवंशी उग्रसेन की पुत्री और मथुराधिप कंस की भगिनी थी। स्वयं कंस प्रतापी मगधनरेश जरासंध का जामाता था। कंस दुष्ट, अत्याचारी एवं पितृद्रोही था। उसकी पत्नी भी दुष्ट प्रकृति की थी। कंस ने अपने उपकारक बहनोई वसुदेव और बहिन देवकी को अपने बंदीगृह में डाल रखा था और वहीं देवकी के छह शिशुओं का जन्म हुआ, जिन्हें कंस ने जन्मते ही शिला पर पटक कर मार दिया, क्योंकि यह भविष्यवाणी हो चुकी थी कि देवकी-पुत्र द्वारा कंस का पतन एवं संहार होगा, तथापि देवकी की सातवीं संतान कृष्ण की गुप्तरूप से गोकुल में नन्दगोप के यहाँ उसे पहुँचाकर रक्षा कर ली गई और अन्ततः भविष्यवाणी सत्य सिद्ध हुई। इन समस्त तथ्यों के विषय में जैन एवं ब्राह्मणीय अनुश्रुतियाँ प्रायः पूर्णतया एक मत हैं। दिगम्बर-श्वेताम्बर परम्पराओं में तो कोई विशेष मतभेद है ही नहीं।

“परन्तु जो बात ब्राह्मणीय कृष्णचरित्र में कहीं नहीं दृष्टिगोचर होती, किन्तु जैनों के उभय सम्प्रदायों के साहित्य में प्रायः एक सी प्राप्त होती है, वह है उपर्युक्त नैगमेश नाम के देवता द्वारा, इन्द्र की आज्ञा से, देवकी की कृष्ण के पूर्व जन्मी छह संतानों की सुरक्षा। हरिवंशपुराण (सर्ग ३३, श्लोक १६७-१७३ तथा सर्ग ३५, श्लोक ४-८) के अनुसार देवकी के वासुदेव (कृष्ण) से पूर्व क्रम से उत्पन्न उक्त छहों पुत्रों में से प्रत्येक को जन्मते ही इन्द्र के आज्ञाकारी हारि अपरनाम सुनैगम नामक देव ने मथुरा में कंस के बंदीगृह से ले जाकर भद्रिलपुर नाम के नगर में सुदृष्टि नामक सेठ की अलका नामक पत्नी के पास पहुँचा दिया, जहाँ उनका पुत्रवत् लालन-पालन हुआ।

“वस्तुतः अलका ने भी उसी-उसी समय युगल पुत्रों को जन्म दिया था, जो जन्मते ही मर गये। वह देव उन मृत पुत्रों को लाकर देवकी के पास लिटा देता था। देवकी और अलका, दोनों को ही इस शिशु-परिवर्तन के विषय में कुछ भी पता नहीं था, और कंस अलका द्वारा प्रसूत उक्त मृत पुत्रों के शवों को ही देवकी

की सन्तान समझकर शिला पर पटक कर मार डालने से संतुष्ट हो जाता था। आचार्य गुणभद्र (लगभग ८५० ई०) कृत उत्तरपुराण (पर्व ७० श्लोक ३८४-३९०, तथा पर्व ७१, श्लोक २९३-६८) में भी प्रायः यही कथा दोहराई गई है, किन्तु देव का उल्लेख 'नैगमर्ष' और 'नैगमर्षि' नाम से किया गया है। श्वेताम्बर नेमिनाथचरित्र, हरिभद्र-सूरिकृत नेमिनाथचरित (पद्यांक २२७५-२२८५) एवं आचार्य हेमचन्द्रकृत त्रिषष्टि-शलाकापुरुष-चरित में भी नैगमेश नामक इस देव का कृष्णजन्म के इस प्रसंग में प्रायः ऐसा ही वर्णन हुआ है। केवल नामादिक कहीं-कहीं कुछ भिन्न हैं।

“मथुरा यदुवंशियों की प्रसिद्ध प्राचीन नगरी है, कृष्ण की जन्मभूमि एवं लीलाभूमि है, कृष्ण के ही सगे ताऊजात भाई एवं अत्यन्त स्नेहभाजन तीर्थङ्कर नेमिनाथ का भी यह प्रसिद्ध तीर्थ माना जाता है (देखें, जिनप्रभसूरि-कृत 'विविधतीर्थकल्प')। मथुरा के उसी कंकाली टीला स्थल से प्रायः उसी प्राचीन काल (शक-कुषाण) की कई प्रतिमाएँ तीर्थकर नेमिनाथ की ऐसी प्राप्त हुई हैं, जिनमें तीर्थकर के आजू-बाजू कृष्ण और बलराम की मूर्तियाँ अंकित हैं। इस प्रकार की मूर्तियाँ अन्यत्र सुनने में नहीं आयी हैं। अस्तु, मथुरा से प्राप्त उक्त नैगमेश मूर्तियों या मूर्त्तिकों का सम्बन्ध देवकी और अलका के नवजात शिशुओं की अदला-बदली से ही है, इस विषय में हमें कोई सन्देह प्रतीत नहीं होता।

“आधुनिक युग में बूहलर, फूहरर, स्मिथ आदि कतिपय प्रारम्भिक पुरातत्त्वविदों ने मथुरा की उक्त नैगमेश मूर्तियों का सम्बन्ध भ्रमवश भगवान् महावीर के जन्म के साथ जोड़ दिया, और उत्तरवर्ती प्रायः सभी तद्विषयक लेखकों ने आँख मीचकर उसी भ्रान्त धारणा का अनुसरण किया। इन मूर्त्तिकों में एक भी अभिलेख अथवा अन्य संकेत ऐसा नहीं है, जो देवकी-पुत्रों के जन्म के प्रसंग के साथ उनका सम्बन्ध स्थापित करने में बाधक हो, या महावीरजन्म के साथ उन्हें जोड़ने में साधक हो।

“श्वेताम्बरपरम्परा में मान्य कल्पसूत्र में ऐसी कथा आती है कि महावीर का जीव देवलोक से चलकर देवनन्दा नाम की ब्राह्मणी के गर्भ में आया। इन्द्र को जब यह बात ज्ञात हुई, तो उसने सोचा यह तो अनुचित हुआ, तीर्थकर को तो क्षत्रियाणी के ही गर्भ से उत्पन्न होना चाहिये। अत एव इन्द्र की आज्ञा से हरिनैगमेशी नामक देव ने देवनन्दा के उदर से त्रिशला के उदर में गर्भस्थ महावीर का स्थानान्तरण कर दिया। दिगम्बरपरम्परा में तो गर्भापहरण- सम्बन्धी इस कथा का कहीं कोई लेशमात्र भी संकेत नहीं है। उसके तो सिद्धान्त, मान्यताएँ और अनुश्रुतियाँ, सभी से यह कल्पना बाधित है। स्वयं श्वेताम्बर-परम्परा के भी कई प्राचीनतर आगम एवं आगमिक ग्रन्थों में ऐसे कथन प्राप्त होते हैं, जो या तो इस मान्यता के साधक नहीं हैं अथवा विरोधी

हैं। अनेक वर्तमान श्वेताम्बर विद्वान् भी गर्भापहरणवाली मान्यता को अप्राकृतिक मानते हैं तथा उसे साम्प्रदायिक विद्वेष से प्रेरित एक उत्तरकालीन क्षेपक समझते हैं।

“बूहलर (उपर्युक्त एपी. इंडि.), स्मिथ (दी जैन स्तूप, पृ.२५-२६) तथा कनिंघम (ए.एस.आई. रिपोर्ट भा. २०, पृ. ३६) ने इनमें से जिस नैगमेश-मूर्त्तिकन का विशेषरूप से उल्लेख किया है, वह देवराज इन्द्र की सभा में नैगमेश द्वारा अपने कर्म की सफलता की सूचना देने का दृश्य भी हो सकता है, महिला शची (इन्द्राणी) हो सकती है, दृश्यांकित बालक के हाथ की पीछी (?) या वस्त्र (?) उसके चरम-शरीरी होने का प्रतीक है, जैसा कि देवकी के उक्त छहों पुत्रों के सम्बन्ध में भविष्यवाणी थी। इस शिलापट्ट के पृष्ठ भाग में जो उत्सव का दृश्य अंकित है वह भद्रिलपुर में अलका सेठानी के घर तेजस्वी पुत्रों के जन्मोत्सव का दृश्य है।

“नैगमेश के मथुरा से प्राप्त चार-पाँच मूर्त्तिकनों में से एक में देव खड़ा है और उसके कन्धों पर तथा दोनों हाथ पकड़े हुए पाँच-छह बालक अंकित हैं। यह दृश्य भी देवकी द्वारा प्रसूत और अलका द्वारा लालित-पालित उक्त छह चरमशरीरी (उसी भव में निर्वाण प्राप्त कर सिद्ध परमात्मा बननेवाले) तेजस्वी बालकों की रक्षा कर पाने से हर्षित हुए, उछलते-कूदते नैगमेश का प्रतीत होता है।

“अभी हाल में, पूज्य मुनि श्री विद्यानन्द जी ने इस दृश्य को बालक महावीर द्वारा पराभूत किये जाने पर, उनकी परीक्षा करने के लिए आये संगम नामक देव का महावीर के साथी बालकों के साथ क्रीडारत होने के समय का अनुमान किया है।

“मथुरा की उपर्युक्त नैगमेशी-मूर्त्तियों एवं मूर्त्तिकनों को देखकर, उनका निरीक्षण-परीक्षण करके तथा तत्सम्बन्धी अध्ययनों, साहित्योल्लेखों एवं अनुश्रुतियों का अध्ययन कर हमें तो यही लगता है कि उनका सम्बन्ध भगवान् महावीर के कथित गर्भापहरण की घटना के साथ तो नहीं है और इस बात की प्रायः शत-प्रतिशत संभावना है कि उनका सम्बन्ध स्वयं मथुरा में अत्याचारी कंस के बन्दीगृह में देवकी द्वारा प्रसूत शिशुओं की इन्द्र की आज्ञा से नैगमेश द्वारा अलका सेठानी की गोद में स्थानान्तरण करके रक्षा करने से है।” (शोधदर्श-४८)।

इससे भी स्पष्ट हो जाता है कि मथुरा के कुषाणकालीन शिल्प का सम्बन्ध श्वेताम्बर-सम्प्रदाय से नहीं है।

८

कुछ जिनप्रतिमाओं का सम्बन्ध अर्धफालक-सम्प्रदाय से

मथुरा की कुषाणकालीन नग्न जिनप्रतिमाओं में से कुछ का सम्बन्ध जैनों के एक अर्धफालक-सम्प्रदाय से भी है, जो श्वेताम्बर नहीं था, अपितु अन्तिम श्रुतकेवली भद्रबाहु के समय में द्वादशवर्षीय-दुर्भिक्षजनित परिस्थितियों के परिणामस्वरूप दिगम्बरसंघ से उद्भूत हुआ था, जिसके कुछ साधु पुनः दिगम्बर हो गये, कुछ साधु जम्बूस्वामी के निर्वाण के बाद उत्पन्न हुए श्वेताम्बरसंघ में विलीन हो गये और कुछ अर्धफालक ही बने रहे। अर्धफालक का अर्थ है आधा वस्त्र। आधे वस्त्र को बायीं कलाई पर लटकाकर या बीच से हाथ में पकड़ कर अपनी नग्नता को ढँकनेवाले जैन साधुओं को बृहत्कथाकोशकार हरिषेण ने अर्धफालक साधुओं की संज्ञा दी है। (देखिए, षष्ठ अध्याय)।

मथुरा की सभी जिन प्रतिमाएँ पूर्णतः निर्वस्त्र हैं। किन्तु किसी-किसी जिनप्रतिमा के पादपीठ या आयागपट्ट पर ऐसे साधु की मूर्ति भी उत्कीर्ण है, जो नग्न है, किन्तु उसके बायें हाथ की कलाई पर अर्धफालक लटक रहा है, या बीच से हाथ में पकड़कर लटकाया गया है, जिससे किसी की जननेन्द्रिय आवृत है, किसी की नहीं। किन्तु नितम्बभाग तो सभी का खुला हुआ है। इससे सूचित होता है कि वे नग्न जिनप्रतिमाएँ ऐसे जैनसम्प्रदाय के साधुओं द्वारा प्रतिष्ठित करायी गयी थीं, जो न तो यह मानते थे कि तीर्थंकर देवदूष्य वस्त्र लेकर प्रव्रजित होते हैं, न यह स्वीकार करते थे कि उनकी नग्नता स्वप्रभामण्डल से आवृत रहती है, और न जो नग्नत्व को अश्लील, बीभत्स, निर्लज्जताजनक, लोकमर्यादा-विरुद्ध एवं स्त्रियों में कामविकारोत्पादक मानते थे, अपितु उसे वीतरागता एवं जितेन्द्रियता की अभिव्यक्ति मानते थे। यह एकमात्र दिगम्बरों की मान्यता है, किन्तु उत्कीर्ण साधुओं का वेश दिगम्बर नहीं है। इससे प्रतीत होता है कि वे उन्हीं साधुओं में से थे, जो पहले दिगम्बर थे, किन्तु द्वादशवर्षीय-दुर्भिक्षजन्य परिस्थितियों के फलस्वरूप अर्धफालक धारण करने लगे थे और न तो पुनः दिगम्बर हुए, न श्वेताम्बर-सम्प्रदाय में शामिल हुए, अपितु स्वतंत्र बने रहे, तथापि उन्होंने तीर्थंकरों के दिगम्बरमान्य नग्न वेश को अमान्य नहीं किया। वे उस समय भी तीर्थंकरों की नग्न प्रतिमा का ही निर्माण कराते थे और उसकी पूजा करते थे।

माननीय डॉ० ज्योतिप्रसाद जी जैन ने भी मथुरा के पाषाणशिल्प को अर्धफालक सम्प्रदाय से सम्बद्ध माना है। किन्तु उन्होंने उसकी उत्पत्ति द्वादशवर्षीय दुर्भिक्ष के परिणाम-स्वरूप न मानकर ई० पू० द्वितीय शताब्दी में मथुरा के कणहश्रमण द्वारा की गई मानी

है और इसका उद्देश्य दिगम्बर-श्वेताम्बर सम्प्रदायों में एकत्व स्थापित करना बतलाया है। वे भारतीय इतिहास : एक दृष्टि नामक ग्रन्थ में लिखते हैं—

“नन्द और मौर्यकाल में मथुरा में जैनधर्म की क्या स्थिति रही, निश्चय से नहीं कहा जा सकता। ४थी शती ई० पू० में द्वादशवर्षीय दुर्भिक्ष के कारण उत्तरापथ के जैनसंघ का एक बड़ा भाग अन्तिम श्रुतकेवली भद्रबाहु की अध्यक्षता में दक्षिण देश को विहार कर गया था। दुर्भिक्ष की समाप्ति पर भी उनमें से अधिकांश साधु वहीं रह गये और उनका संगठन कालान्तर में मूलसंघ के नाम से प्रसिद्ध हुआ। मगध में ही जो साधु रह गये थे, उन्होंने स्थूलभद्र और उनके शिष्यों के नेतृत्व में अपना पृथक् संगठन कर लिया। दुर्भिक्ष के समय आपद्धर्म के रूप में इन मागधी साधुओं ने जो शिथिलाचार ग्रहण कर लिया था, वह शनैः शनैः रूढ़ होता गया और कालान्तर में दिगम्बर-श्वेताम्बर-सम्प्रदायभेद का कारण बना। मथुरा आदि मगध से दूरस्थ प्रदेश दुष्काल के प्रकोप से उतने त्रस्त नहीं हुए थे, अतः यहाँ के जैन साधु कर्णाटकी (दक्षिणी) और मागधी (उत्तरी) दोनों ही धाराओं से अपने आचार-विचार में विलक्षण रहे।” (पृ.१०३)।

“मथुरा के जैनसंघ ने दिगम्बर-श्वेताम्बर उभय सम्प्रदायों की पूर्वज उपर्युक्त दोनों धाराओं से पृथक् रहकर प्रसिद्ध गुरुओं अथवा स्थानों के नाम पर अपने गण, शाखा, कुल, गोष्ठ आदि स्थापित करके अपना स्वतन्त्र संगठन किया। शृंग-शक-कुषाणकाल (लगभग ई० पू० २०० से ई० सन् २०० पर्यन्त) में मथुरा के इस जैनसंघ ने अभूतपूर्व उन्नति की।” (पृ.१०३)।

“यही कारण है कि जैनसंघ की अपने आपको मौलिक कहनेवाली दिगम्बरों एवं श्वेताम्बरों की पूर्वोक्त दोनों धारयें, जब कि अपने बीच सम्प्रदायभेद की खाई को उत्तरोत्तर गहरी करती जा रही थीं, मथुरा के जैन गुरु स्वयं इन दोनों से पृथक् रहकर भी समन्वय का ही प्रयत्न करते थे। अतः दोनों ही परम्पराओं में मथुरा के अनेक गुरु समान रूप से समादृत हुए और मथुरा का तत्कालीन धर्म दोनों सम्प्रदायों के बीच की कड़ी सिद्ध हुआ। यहीं और इसी काल में कन्हश्रमण के नेतृत्व में उस अर्द्धफालक-सम्प्रदाय का अस्थायी उदय हुआ, जो एक छोटा सा खण्डवस्त्र ग्रहण करने का विधान करके दोनों दलों के बीच समझौता कराना चाहता था।” (पृ. १०४-१०५)।

डॉ० ज्योतिप्रसाद जी जैन का यह मत भी घटित हो सकता है, किन्तु इसके पीछे कोई साहित्यिक आधार नहीं है। जब कि द्वादशवर्षीय दुर्भिक्ष के समय अर्द्धफालक-सम्प्रदाय की उत्पत्ति हरिषेणकृत ‘बृहत्कथाकोश’ तथा रत्ननन्दीकृत ‘भद्रबाहुचरित’ से

समर्थित है। अतः अर्धफालक-सम्प्रदाय की उत्पत्ति का यह काल और कारण अधिक युक्तिसंगत है।

श्री चिमनलाल जैचन्द शाह ने मथुरा के शिल्प में तीर्थकरों के नग्नत्व और साधुओं के सचेतलत्व आदि के अंकन को दिगम्बर-श्वेताम्बर-विभाजन के पूर्ववर्ती अविभक्त निर्ग्रन्थसंघ के स्वरूप का प्रतिबिम्ब बतलाया है। वे लिखते हैं—“मथुरा की शिल्पकला का विचार करते हुए पता लगता है कि महावीर के गर्भापहार के शिल्प में महावीर को नग्न दिखलाया गया है। इस प्रकार मथुरा के एक ही शिल्प में दिगम्बरों की नग्नता की मान्यता और श्वेताम्बरों के गर्भापहार की मान्यता दोनों ही आ जाती हैं। इससे यह देखा जा सकता है कि ई० सन् की पहली सदी तक तो दोनों सम्प्रदायों का पन्थभेद निश्चय ही उत्पन्न नहीं हुआ था।” (उत्तरभारत में जैनधर्म / पृ.६६)।

माननीय शाह की यह मीमांसा समीचीन नहीं है। जम्बूस्वामी के पश्चात् दिगम्बरों और श्वेताम्बरों की आचार्यपरम्पराओं में आयी हुई भिन्नता से सिद्ध है कि दिगम्बर-श्वेताम्बर-पन्थभेद अन्तिम अनुबद्ध केवली जम्बूस्वामी (वीर नि० सं० ६२, ई० पू० ४६५) के निर्वाण के पश्चात् ही हो गया था।^८ इसलिए मथुरा का प्रथम शती ई० का शिल्पांकन दिगम्बर-श्वेताम्बर-पन्थभेद के पूर्व का नहीं हो सकता। वह ई० पू० चतुर्थ शती में हुए दिगम्बर-अर्धफालक-पन्थभेद के बाद का ही है, जैसा कि ऊपर प्रतिपादित किया गया है।

“जैनधर्म का यापनीय सम्प्रदाय” ग्रन्थ के अन्त में मथुरा के प्राचीनपाषाण-शिल्प के चित्र दिये हुए हैं। उनमें चित्रसंख्या १ में विद्याचारी मुनि का अंकन है, जो नग्न होते हुए भी बायीं कलाई पर वस्त्र लटकाये हुए है, तथापि उसका पुरुषचिह्न दिखाई दे रहा है। चित्र संख्या ७ में एक स्तूप के दोनों ओर दो-दो तीर्थकर प्रतिमाएँ पद्मासन मुद्रा में विराजमान हैं और उनके नीचे शिलापट्ट पर एक नग्न मुनि की मूर्ति उत्कीर्ण है, जो बायें हाथ में एक वस्त्र पकड़कर सामने लटकाये हुए है, जिससे उसकी पुरुषेन्द्रिय आच्छादित है। दाहिने हाथ में कोई झोली सी (संभवतः भिक्षापात्र) पकड़कर कन्धे पर टाँगे हुए है, जिसे कुछ पुरातत्त्वविदों ने सम्मार्जनी या प्रतिलेखन कहा है। उसके दायीं ओर एक स्त्री तथा बायीं ओर तीन स्त्रियों की आकृति खुदी हुई है। साधु के नीचे ‘कण्ह’ (कृष्ण) शब्द उत्कीर्ण है।

सिद्धान्ताचार्य पं० कैलाशचन्द्र जी शास्त्री ने इसे अर्द्धफालक-सम्प्रदाय के साधु का अंकन माना है। हरिषेण ने बृहत्कथाकोश में कहा है कि अन्तिम श्रुतकेवली भद्रबाहु के समय उत्पन्न हुए द्वादशवर्षीय दुर्भिक्ष के समय जो साधु दक्षिणभारत न जाकर

८. देखिये, षष्ठ अध्याय : ‘दिगम्बर-श्वेताम्बरभेद का इतिहास।’

सिन्धु देश चले गये थे, वे आहारप्राप्ति में होनेवाली बाधाओं के कारण नग्नत्व को आच्छादित करने के लिए अर्धफालक धारण करने लगे थे।^९ इन्हीं साधुओं के सम्प्रदाय का नाम अर्धफालक-सम्प्रदाय पड़ा। पं० कैलाशचन्द्र जी लिखते हैं—

“यद्यपि हरिषेण से पहले किसी ग्रन्थ में इस सम्प्रदाय का कोई निर्देश अभी तक नहीं मिला है, किन्तु मथुरा के कंकाली टीले से प्राप्त जैन अवशेषों में से एक शिलापट्ट^{१०} में एक जैन साधु बिल्कुल उसी रूप में अंकित है, जिस रूप का निर्देश कथाकोश में किया गया है^{११} और उसे जैनयति कृष्ण की मूर्ति बतलाया है।” (जै.सा.इ./पू.पी./पृ. ३८२-३८३)।

“श्री बूहलर ने (इण्डि० ऐण्टि०, जि० २, पृ० ३१६) लिखा था—नेमिष देवता के बाएँ घुटने के पास एक छोटी सी आकृति नंगे मनुष्य की है, जो बाएँ हाथ में वस्त्र होने से तथा दाहिना हाथ ऊपर को उठा होने से एक साधु मालूम होता है।

“लखनऊ संग्रहालय के तत्कालीन अध्यक्ष डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल ने उक्त शिलापट्ट के सम्बन्ध में लिखा था—‘पट्ट के ऊपरी भाग में स्तूप के दो ओर चार तीर्थकर हैं, जिनमें से तीसरे पार्श्वनाथ (सर्पफणालंकृत) और चौथे संभवतः भगवान् महावीर हैं। पहले दो ऋषभनाथ और नेमिनाथ हो सकते हैं। पर तीर्थकर मूर्तियों पर न कोई चिह्न है और न वस्त्र। पट्ट में नीचे एक स्त्री और उसके सामने एक नग्न श्रमण खुदा हुआ है। वह एक हाथ में सम्मार्जनी और बाएँ हाथ में एक कपड़ा (लँगोट) लिए हुए है, शेष शरीर नग्न है। (जै.सि.भा./भाग १०/कि.२/पृ. ८० का फुटनोट)।

“चित्र के देखने से यह स्पष्ट ज्ञात होता है कि कण्ह ने बाएँ हाथ से वस्त्रखण्ड को मध्य से पकड़ा हुआ है और सामने करके उससे उन्होंने अपनी नग्नता मात्र को छिपाया हुआ है। संभवतः श्वेताम्बर-सम्प्रदाय के पूर्वज अर्धफालक-सम्प्रदाय का यही रूप था। यह संभव है कि उसे अर्धफालक सम्प्रदाय नाम से न कहा जाता हो और दिगम्बरों ने ही वस्त्रखण्ड रखने के कारण उन्हें यह नाम दे दिया हो।” (जै. सा. इ./पू. पी./पृ. ३८३-३८४)।

९. देखिए, वही।

१०. यह शिलापट्ट लखनऊ के संग्रहालय में सुरक्षित है।

११. यावन्न शोभनः कालः जायते साधवः स्फुटम्।

तावच्च वामहस्तेन पुरः कृत्वाऽर्धफालकम् ॥ ५८ ॥

भिक्षापात्रं समादाय दक्षिणेन करेण च।

गृहीत्वा नक्तमाहारं कुरुष्वं भोजनं दिने ॥ ५९ ॥ (१३१-भद्रबाहुकथानक/हरिषेण : बृ.क.को.)।

डॉ० सागरमल जी ने अर्धफालक-सम्प्रदाय के अस्तित्व से इनकार किया है और इस प्रकार के साधुसम्प्रदाय को संघभेद (श्वेताम्बर-यापनीय-भेद) के पूर्व का मूल निर्ग्रन्थ सम्प्रदाय माना है। वे लिखते हैं—“पुनः मथुरा के प्राचीन शिल्प में मुनि के हाथ की कलाई पर लटकते हुए वस्त्र का अंकन भी मिलता है, जिससे वे अपनी नग्नता छिपाये हुए हैं। यह तथ्य इस शिल्प को दिगम्बर-परम्परा से पृथक् करता है। किन्तु मथुरा का जैनशिल्प यापनीय भी नहीं कहा जा सकता, क्योंकि यापनीय-परम्परा की उत्पत्ति किञ्चित् परवर्ती है। इस शिल्प में आर्य कृष्ण (अज्ज कण्ह) का, जिनके शिष्य शिवभूति से ‘आवश्यक मूलभाष्य’ में बोटिक या यापनीय-परम्परा का विकास माना गया है, नामोल्लेखपूर्वक अंकन उपलब्ध होता है। पं० कैलाशचन्द्र जी शास्त्री ने इसे अर्धफालक-सम्प्रदाय का माना है, किन्तु इस सम्प्रदाय के अस्तित्व का दसवीं शती के पूर्व का कोई भी साहित्यिक या अभिलेखीय साक्ष्य नहीं है। पं० नाथूराम जी प्रेमी के अनुसार ऐसा कोई सम्प्रदाय ही नहीं था। यह मात्र संघभेद के पूर्व की स्थिति है।” (जै.ध.या.स./पृ.१५-१६)।

वे आगे भी लिखते हैं—“ईसा की प्रथम-दूसरी शती में निर्ग्रन्थपरम्परा के मुनियों में वस्त्रादि उपकरणों की स्थिति क्या थी, इसका पुरातात्विक प्रमाण हमें इसी काल के मथुरा के अंकनों में मिलता है। --- मुनियों के जो अंकन हैं, उनमें उनके हाथ में मुखवस्त्रिका/वस्त्रखण्ड तथा कलाई पर तह किया हुआ कम्बल प्रदर्शित है, जिससे किन्हीं अंकनों में उनकी नग्नता छिप गई है और किन्हीं में वह नहीं भी छिपी है। किन्तु कोई भी मुनि वस्त्रधारण किये हुए प्रदर्शित नहीं है। अभिलेखों में इन मुनियों के नाम, गण, शाखा, कुल आदि का जो उल्लेख है, उनकी पुष्टि कल्पसूत्र-पट्टावली से होती है। अतः स्पष्ट है कि ये अंकन उत्तर भारत में सचेल और अचेल परम्परा के विभाजन के पूर्व की स्थिति के सूचक हैं।” (जै.ध.या.स./पृ.४७२)।

डॉक्टर सा० का यह कथन प्रमाणविरुद्ध है। इसके निम्नलिखित प्रमाण हैं—

१. अचेलपरम्परा के विभाजन से सचेलपरम्परा की उत्पत्ति तो जम्बूस्वामी के निर्वाण के पश्चात् ही हो गयी थी। (देखिये, षष्ठ अध्याय)। वीर निर्वाण सं० ६०९ (ई० सन् ८२) में जिन आर्यकृष्ण के संघ में बोटिक शिवभूति ने दीक्षा ग्रहण की थी, वह श्वेताम्बरसंघ ही था, क्योंकि उस संघ के सभी साधु चौदह उपकरणधारी स्थविरकल्पिक थे। उस समय श्वेताम्बरग्रन्थों में वर्णित जिनकल्पिक साधुओं का अस्तित्व नहीं था, इसीलिए तो आर्यकृष्ण शिवभूति से यह कह सके कि जिनकल्प का विच्छेद हो चुका है। इसके अतिरिक्त अशोककालीन बौद्धग्रन्थ अपदान में श्वेतवस्त्रधारी साधुओं के सम्प्रदाय का उल्लेख है। इन प्रमाणों से सिद्ध है कि मथुरा के कुषाणकालीन

शिल्प में मूर्तित अर्धफालकधारी साधुओं का सम्प्रदाय श्वेताम्बरसम्प्रदाय से पूर्ववर्ती नहीं था, अपितु बाद में उदित हुआ था।

२. उक्त शिल्प में मूर्तित एक साधु के बायें हाथ में एक वस्त्रखण्ड लटक रहा है और कन्धे पर पीछे की तरफ रजोहरण या झोली टँगी हुई है, जिसे साधु ने दायें हाथ से पकड़ रखा है। इनके अलावा उसके पास और कोई उपकरण नहीं है। शरीर पर कटिवस्त्र और मुँह पर मुखवस्त्रिका तक नहीं है। डॉक्टर सा० का कथन है कि इस साधु के वेश से सूचित होता है कि ईसा की प्रथम-द्वितीय शताब्दी में श्वेताम्बर और यापनीय संघों के उदय के पूर्व भगवान् महावीर के अनुयायी जैनश्रमण इतने ही उपकरण रखते थे। अर्थात् डॉक्टर सा० के मतानुसार मथुराशिल्प में मूर्तित जैनसाधु प्राक्श्वेताम्बर-सचेलाल-निर्ग्रन्थसंघ के साधु थे।

यह कथन तथ्य के विपरीत है, क्योंकि बोटिककथा के अनुसार ईसा की प्रथमशती में स्थविरकल्पिक साधु विद्यमान थे। वे तीन सूती-ऊनी प्रावरण, कटिवस्त्र (चोलपट्ट), मुखवस्त्रिका, रजोहरण, सात प्रकार का पात्रनियोग और एक मात्रक, इस प्रकार चौदह उपकरण रखते थे। तथा जिस जिनकल्प का विच्छेद होना माना गया है, उसे अपनानेवाले साधुओं को भी कटिवस्त्र और मात्रक छोड़कर शेष बारह उपकरणों का धारी बतलाया गया है। आचारांग में भी नग्न रहने में लज्जा का अनुभव करनेवाले एवं शीतादिपरीषह-सहन में असमर्थ साधुओं को कटिवस्त्र तथा आवश्यकतानुसार एक से लेकर तीन तक सूती-ऊनी कल्प (प्रावरण) ग्रहण करने की अनुमति दी गयी है। वीरनिर्वाण-संवत् ७२ में आचार्य शय्यम्भव-कृत दशवैकालिकसूत्र में भी संयम और लज्जा की रक्षा के लिए साधु के द्वारा वस्त्र, पात्र, कम्बल और पादप्रौंछन का उपभोग किया जाना आगमोक्त बतलाया गया है। प्राचीन ग्रन्थ उत्तराध्ययन में भी उपर्युक्त उपकरणों एवं मुखवस्त्रिका के ग्रहण किये जाने का विधान है। (उत्तरा.१७/९,२६/२३—जै.ध.या.स/पृ. ४७०/पा.टि.२)।

इस प्रकार ईसा की प्रथम शती में श्वेताम्बरग्रन्थ-वर्णित साधु अनेक उपकरण रखते थे। किन्तु मथुराशिल्प में मूर्तित साधु इन बहुविध उपकरणों से रहित हैं। उनके शरीर पर कटिवस्त्र और मुँह पर मुखवस्त्रिका भी नहीं है। अतः वे श्वेताम्बरग्रन्थों में वर्णित स्थविरकल्पिक या जिनकल्पिक साधु नहीं हैं, अपितु किसी अन्य जैनसम्प्रदाय के साधु हैं। वस्त्र को कटि पर लपेट कर नहीं, अपितु हाथ पर लटका कर नग्नता को ढँकने का प्रयत्न करनेवाले साधुओं के उस सम्प्रदाय को आचार्य हरिषेण ने बृहत्कथाकोश के भद्रबाहुकथानक में अर्धफालकसंघ कहा है—

अर्धफालकसङ्गस्ते महादेवि न शोभनः।

न चायं वस्त्रसंवीतो न नग्नः सविडम्बनः॥ ७४॥

३. डॉक्टर सा० ने मथुराशिल्प में मूर्तित केवल अर्धफालक एवं रजोहरण या झोलीधारी साधु को उत्तरभारतीय-सचेलाचेल-निर्ग्रन्थसंघ के साधुओं का प्रतिनिधि मानकर कहा है कि श्वेताम्बर और यापनीय संघों के रूप में विभाजन के पूर्व उत्तर-भारतीय-सचेलाचेल-निर्ग्रन्थसंघ के साधु अल्प-उपकरणधारी थे। किन्तु यह उनके ही पूर्वकथन के विरुद्ध है। उन्होंने पूर्व में लिखा है—

“वस्तुतः महावीर के धर्मसंघ में जब वस्त्रपात्रादि में वृद्धि होने लगी और अचेलकत्व की प्रतिष्ठा क्षीण होने लगी, तब उससे अचेलता के पक्षधर यापनीय और सचेलाचेल के पक्षधर श्वेताम्बर, ऐसी दो धाराएँ निकलीं।” (जै.ध.या.स./पृ.२४)।

इस प्रकार एक जगह वे उत्तरभारतीय-सचेलाचेल-निर्ग्रन्थसंघ को अल्प-उपकरणधारी बतलाते हैं और दूसरी जगह बहु-उपकरणधारी। इसके अतिरिक्त वे उसे अचेल भी कहते हैं और सचेल भी।

किन्तु मथुरा के कुषाणकालीन शिल्प में मूर्तित साधुओं में न तो अचेलत्व के दर्शन होते हैं (क्योंकि उनके हाथ में अर्धफालक है), न ही वस्त्रपात्रादि उपकरणों की वृद्धि के। उनके पास केवल दो उपकरण हैं। अतः डॉक्टर सा० के स्वकीय वचनों से सिद्ध होता है कि मथुरा के कुषाणकालीन शिल्प में मूर्तित साधुसम्प्रदाय वह सम्प्रदाय नहीं है, जिससे उनके अनुसार सचेलाचेल के पक्षधर श्वेताम्बरसंघ का और अचेलता के पक्षधर यापनीयसंघ का उद्भव हुआ। श्वेताम्बरसम्प्रदाय का उद्भव जम्बूस्वामी के निर्वाण के पश्चात् ऐकान्तिक अचेलमार्गी निर्ग्रन्थसंघ से हुआ था और अर्धफालक-सम्प्रदाय उसी निर्ग्रन्थसंघ से ईसापूर्व चतुर्थ शताब्दी में द्वादशवर्षीय दुर्भिक्ष के परिणामस्वरूप उद्भूत हुआ था, जिसका अस्तित्व कुषाणकाल (ईसा की प्रथम-द्वितीय शताब्दी) तक बना रहा। (देखिये, षष्ठ अध्याय)।

डॉ० सागरमल जी ने लिखा है कि उक्त मुनिमूर्तियों के हाथ में मुखवस्त्रिका है, किन्तु मुखवस्त्रिका तो मुख पर होती है। उसी अवस्था में वह मुनिलिंग मानी जा सकती है अर्थात् मूर्ति के श्वेताम्बरीय होने की पहचान बन सकती है। हाथ में रखा हुआ वस्त्रखण्ड मुखवस्त्रिका ही है, यह कैसे सिद्ध होगा? तथा हाथ में वस्त्रखण्ड है भी नहीं। जिस मूर्ति को आर्यकृष्ण की प्रतिकृति कहा गया है, उसके एक हाथ की कलाई पर आगे की ओर तह किया हुआ अर्धफालक झूल रहा है और दूसरा हाथ कन्धे के ऊपर है, जिसमें पीछे की तरफ रजोहरण या झोली लटक रही है। मुखवस्त्रिका कहला सकने योग्य वस्त्रखण्ड किसी भी हाथ में नहीं है और मुख पर भी नहीं है। अन्य साधु-मूर्तियों के भी हाथ या मुँह पर मुखवस्त्रिका नहीं है। अतः डॉक्टर सा० का यह कथन प्रत्यक्ष प्रमाण से असिद्ध होता है कि मथुराशिल्प की मुनिमूर्तियों के हाथ में मुखवस्त्रिका है।

यदि ईसा की प्रथम-द्वितीय शताब्दी में मथुराशिल्प में मूर्तित अर्धफालकधारी साधुओं के वेश को श्वेताम्बरसम्प्रदाय को जन्म देनेवाले सम्प्रदाय का वेश माना जाय, तो श्वेताम्बर-सम्प्रदाय का उत्पत्तिकाल तृतीय शताब्दी ई० सिद्ध होता है, जिससे स्वयं डॉक्टर सा० का यह पूर्वमत बाधित हो जाता है कि श्वेताम्बरसम्प्रदाय की उत्पत्ति विक्रमसंवत् १३६ या १३९ अर्थात् ई० सन् ७९ या ८२ में हुई थी। उन्होंने निम्नलिखित कथन में इस मत को प्रामाणिक माना है—

“दिगम्बरपरम्परा में जैनसंघ के इस विभाजन की सूचना देनेवाला कोई प्राचीन ग्रन्थ नहीं है, मात्र ई० सन् ९४२ (वि० सं० ९९९) में देवसेन द्वारा रचित दर्शनसार है। इस ग्रन्थ के अनुसार विक्रम की मृत्यु के १३६ वर्ष पश्चात् सौराष्ट्रदेश की वलभी नगरी में श्वेताम्बरसंघ की उत्पत्ति हुई। इसमें यह भी कहा गया है कि श्रीकलश नामक श्वेताम्बरमुनि से विक्रमसंवत् २०५ में कल्याण में यापनीय संघ उत्पन्न हुआ। चूँकि 'दर्शनसार' आवश्यकमूलभाष्य की अपेक्षा पर्याप्त परवर्ती है, अतः उसके विवरणों की प्रामाणिकता स्वीकार करने में विशेष सतर्कता की आवश्यकता है, फिर भी इतना निश्चित है कि जब आवश्यकमूलभाष्य और दर्शनसार दोनों ही वि० सं० १३६ अथवा १३९ या वीरनिर्वाण संवत् ६०६ या ६०९ में संघभेद की घटना का उल्लेख करते हैं, तो एक-दूसरे से पुष्टि होने के कारण इस तथ्य को अप्रामाणिक नहीं माना जा सकता कि विक्रमसंवत् की प्रथम शती के अन्त या द्वितीय शताब्दी के प्रारम्भ में जैनों में स्पष्टरूप से संघभेद हो गया था।” (जै. ध. या. स. / पृ. १७)।

इस कथन में डॉक्टर सा० ने स्वयं इस मान्यता को प्रामाणिक माना है कि श्वेताम्बर-सम्प्रदाय की उत्पत्ति विक्रम सं० १३६ या १३९ अर्थात् ईसवी सन् ७९ या ८२ में हुई थी। किन्तु इस सम्प्रदाय की उत्पत्ति ईसा की तृतीय शती में सिद्ध करनेवाले उनके उपर्युक्त मत से उनका ही यह पूर्वमत बाधित हो जाता है और इस पूर्वमत से उनका उपर्युक्त उत्तरमत असंगत उहरता है। इस तरह एक-दूसरे को बाधित करनेवाले इन परस्पर विरोधी मतों से डॉक्टर सा० के ये दोनों मत अप्रामाणिक सिद्ध होते हैं। अतः दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनों परम्पराओं के आगमों में मान्य होने से यही मत प्रामाणिक सिद्ध होता है कि श्वेताम्बरमत की उत्पत्ति जम्बूस्वामी के निर्वाण के पश्चात् ही हो गयी थी (देखिये, षष्ठ अध्याय), फलस्वरूप प्रथम-द्वितीय शताब्दी ई० के मथुराशिल्प में मूर्तित अर्धफालकधारी साधुओं का सम्प्रदाय श्वेताम्बर सम्प्रदाय से उत्तरवर्ती था और यतः अर्धफालकधारी साधुओं का वेश श्वेताम्बरसाधुओं के वेश से भिन्न था तथा उनके उपकरणों की संख्या भी श्वेताम्बरसाधुओं के उपकरणों से अत्यल्प थी, इससे सिद्ध कि उनका सम्प्रदाय श्वेताम्बरसम्प्रदाय से पृथक् था।

दसवीं सदी ई० से पूर्व के किसी ग्रन्थ या अभिलेख में अर्धफालकसम्प्रदाय का उल्लेख भले न हो, किन्तु मथुरा का उपर्युक्त शिल्प ईसा की प्रथम शताब्दी में उसके अस्तित्व का बोध प्रत्यक्ष रूप से कराता है। भले ही उसे अर्धफालक नाम से सम्बोधित न किया जाय, पर लक्षण तो शिल्प में उसी के विद्यमान हैं। अतः यद्यपि अर्धफालक-सम्प्रदाय के कुछ साधु अपनी उत्पत्ति के कुछ समय बाद ही दिगम्बरसंघ में वापिस लौट आये थे और कुछ साधु श्वेताम्बरसंघ में शामिल हो गये, तथापि उनका एक वर्ग कुषाणकाल तक और संभवतः उसके बाद भी कुछ समय तक अर्धफालक-सम्प्रदाय के रूप में स्वतंत्र बना रहा। यद्यपि वह अर्धफालक धारण करता था, तो भी उसके सिद्धान्त श्वेताम्बर-सिद्धान्तों से काफी भिन्न थे।

नग्नत्व के विषय में अर्धफालक-सम्प्रदाय की मान्यताएँ इतनी प्रतिकूल नहीं थीं, जितनी श्वेताम्बरों की हैं। तीर्थकर प्रतिमाओं के नग्नरूप को वे बीभत्स, अश्लील, निर्लज्जता-जनक एवं स्त्रियों में कामविकारोत्पादक नहीं मानते थे, अपितु वीतरागता, निस्संगता, शिशुवत् निर्विकारता एवं आत्मिक सौन्दर्य को अभिव्यक्त करनेवाला मानते थे। वह उन्हें साक्षात् जिनबिम्ब प्रतीत होता था, अतः वह उनके लिए पूज्य था। इसीलिए वे नग्न जिन प्रतिमाओं का प्रतिष्ठापन कराते थे और उनकी पूजा करते थे। अपनी नग्नता भी अर्धफालक साधुओं को सर्वथा अश्लील और निर्लज्जता-जनक प्रतीत नहीं होती थी, इसलिए अर्धफालक धारण करने से नितम्बभाग के खुले रह जाने पर उन्हें संकोच नहीं होता था। इसके विपरीत श्वेताम्बर-सम्प्रदाय तीर्थकरों की नग्न प्रतिमाओं को अश्लील, बीभत्स, निर्लज्जता-जनक एवं स्त्रियों में काम विकारोत्पादक मानता है तथा उन्हें जिनबिम्ब स्वीकार नहीं करता। इस कारण वे श्वेताम्बरों के लिए अपूज्य हैं। इसीलिए वे न तो नग्न जिनप्रतिमाओं की प्रतिष्ठा कराते हैं, न ही उनको पूजते हैं। श्वेताम्बरसाधु अपने गुह्यांगों का रंचमात्र भी अनावृत रहना अश्लील मानते हैं, इसलिए प्रारंभ में वे चोलपट्टक के द्वारा गुह्यांग को पूर्णतः ढँक कर रखते थे, किन्तु धीरे-धीरे दो वस्त्रों के द्वारा कण्ठ से लेकर घुटनों तक का भाग आच्छादित रखने लगे हैं। यह अर्धफालक-सम्प्रदाय का श्वेताम्बर-सम्प्रदाय से महान् सैद्धान्तिक मतभेद था। यतः मथुरा के कुषाणकालीन शिल्प में नग्न जिनप्रतिमाओं के नीचे अर्धफालकधारी साधुओं का ही अंकन है, कटिवस्त्र एवं प्रावरणधारी श्वेताम्बर साधुओं का नहीं, इससे सिद्ध है कि मथुरा का कुषाणकालीन शिल्प श्वेताम्बर-सम्प्रदाय से सम्बन्ध नहीं रखता, अपितु अर्धफालक-सम्प्रदाय से सम्बन्धित है। जिन नग्न जिनप्रतिमाओं के नीचे अर्धफालकधारी साधु की आकृति निर्मित नहीं है, उनका सम्बन्ध दिगम्बरजैन-परम्परा से है।

निष्कर्ष यह कि नग्न जिनप्रतिमाएँ दिगम्बर-परम्परा की देन हैं। उन्हें ईसापूर्व चतुर्थ शताब्दी में द्वादशवर्षीय दुर्भिक्ष के परिणामस्वरूप दिगम्बरसंघ से उद्भूत हुए अर्धफालक सम्प्रदाय ने अपना लिया था, जिसका प्रमाण मथुरा की उपर्युक्त जिनप्रतिमाएँ हैं और ईसा की चौथी शती में श्वेताम्बरसंघ से उत्पन्न हुए यापनीयसम्प्रदाय ने भी नग्न जिनप्रतिमाओं को अंगीकृत कर लिया था। यह श्रुतसागरसूरि के यापनीयों को लक्ष्य कर किये गये इस कथन से सिद्ध है कि पाँच जैनाभासों द्वारा प्रतिष्ठित नग्नमूर्ति भी अपूज्य है—“या पञ्चजैनाभासैरञ्चलिकारहितापि नग्नमूर्तिरपि प्रतिष्ठिता भवति सा न वन्दनीया न चार्चनीया च (बो.पा./ टीका/ ग.१०)। प्रेमी जी ने भी लिखा है—“श्रुतसागर के इस वचन से मालूम होता है कि यापनीयों द्वारा प्रतिष्ठित प्रतिमाएँ नग्न होती थीं, क्योंकि उनके विश्वास के अनुसार यापनीय पाँच जैनाभासों के अन्तर्गत हैं।” (जै.सा.इ./ द्वि.सं./ पा.टि./ पृ. ५९)। श्वेताम्बर-सम्प्रदाय के द्वारा आरम्भ में ऐसी जिन प्रतिमाओं का निर्माण कराया गया, जो वस्त्रयुक्त न होते हुए भी नग्न नहीं दिखती थीं अर्थात् उनमें पुरुषचिह्न (तीर्थकर मल्ली के प्रसंग में स्त्री चिह्नों) की रचना नहीं की जाती थी। आगे चलकर उनके सामने अंचलिका रखी जाने लगी। कालान्तर में प्रतिमा को देवदूष्य वस्त्र से आच्छादित किया जाने लगा। तत्पश्चात् वीतराग जिनप्रतिमा राजसी वेशभूषा से अलंकृत की जाने लगी। इस प्रकार नग्न जिनप्रतिमा का सम्बन्ध श्वेताम्बर-परम्परा से कभी नहीं रहा। श्वेताम्बर-मस्तिष्क में नग्न जिनप्रतिमा की कल्पना आ ही नहीं सकती, क्योंकि उनकी मान्यता है कि तीर्थकर अपने प्रभामंडल के कारण नग्नरूप में दिखते ही नहीं हैं।

९

छठी शती ई० के पूर्व श्वेताम्बरसंघ में

अनग्न-अचेल जिनप्रतिमा की पूजा

प्रस्तुत अध्याय का जब लिपिसंशोधन चल रहा था, तब श्रमण पत्रिका (जुलाई-दिसम्बर २००५) में माननीय डॉ० सागरमल जी का एक लेख पढ़ने को मिला, जिसका शीर्षक था ‘जिनप्रतिमा का प्राचीन स्वरूप : एक समीक्षात्मक चिन्तन!’ इसमें मेरे एक पूर्वलेख की समीक्षा की गयी थी, जो जिनभाषित (मई २००३) के सम्पादकीय आलेख के रूप में प्रकाशित हुआ था और जिसका शीर्षक था ‘दिगम्बरों की जिनप्रतिमा की पहचान के प्रमाण।’

डॉक्टर सा० ने अपने लेख में कहा है—“भाई रतनचन्द्र जी का यह कथन सत्य है कि ईसा की छठी शताब्दी से पहले जितनी भी जिनप्रतिमाएँ उपलब्ध हुई हैं, वे सब सर्वथा अचेल और नग्न हैं। उनका यह कथन भी सत्य है कि सवस्त्र

जिनप्रतिमाओं का अंकन लगभग छठी-सातवीं शताब्दी से ही प्रारम्भ होता है। किन्तु इसके पूर्व की स्थिति क्या थी, इस सम्बन्ध में वे प्रायः चुप हैं। यदि श्वेताम्बरपरम्परा का अस्तित्व उसके पूर्व में भी था, तो वे किन प्रतिमाओं की पूजा करते थे?" ('श्रमण'/ जुलाई-दिसम्बर २००५/पृ ६६-६७)। तत्पश्चात् डॉक्टर सा० ने मथुरा के कंकाली टीले से उपलब्ध ईसा की प्रथम-द्वितीय शताब्दी की जिनप्रतिमाओं पर जो कुल, शाखा, गण आदि उत्कीर्ण हैं, उनके आधार पर कहा है कि वे श्वेताम्बराचार्यों द्वारा प्रतिष्ठापित की गयी थीं और छठी शताब्दी ई० के पूर्व तक श्वेताम्बर भी दिगम्बरों की तरह नग्न जिनप्रतिमाओं की प्रतिष्ठापना एवं उपासना करते थे। इतना ही नहीं वे लिखते हैं कि "इन ऐतिहासिक साक्ष्यों से मैं इस निर्णय पर पहुँचा हूँ कि ईसा की छठी शती तक दोनों ही परम्पराओं के मन्दिर और मूर्तियाँ एक ही होते थे।" (वही/पृ.६८)।

डॉक्टर सा० की पहली मान्यता का निरसन पूर्व में किया जा चुका है। उसके अप्रामाणिक होने का सबसे बड़ा प्रमाण यह है कि श्वेताम्बर-आगमों के अनुसार तीर्थकरों की नग्नता अतिशय के प्रभाव से प्रच्छादित रहती है, जिससे उनका नग्नरूप दिखाई नहीं देता। अतः उनकी प्रतिमा भी अनग्न बनायी जाने पर ही जिनप्रतिमा कहला सकती है। तत्त्वनिर्णयप्रासाद के कर्ता श्वेताम्बरमुनि श्री आत्माराम जी के वचन पूर्व (इसी प्रकरण के शीर्षक ३) में उद्धृत किये जा चुके हैं, जिनमें उन्होंने कहा है कि "जिनेन्द्र के तो अतिशय के प्रभाव से लिंगादि दिखाई नहीं देते, किन्तु दिगम्बरों के द्वारा निर्मापित जिनप्रतिमा में लिंगादि दिखाई देते हैं, अतः वह जिनबिम्ब सिद्ध नहीं होती।" दिगम्बरपरम्परा में भी यही मान्यता है कि जिनप्रतिमा जिनसदृश होने पर ही जिनबिम्ब कहलाती है और वन्दनीय होती है। पं० बनारसीदास जी ने बाणारसीविलास में कहा है—

जिनप्रतिमा जिन सारिसी कही जिनागम माहिं।

रंचमात्र दूषण लगै बंदनीक सो नाहिं॥

(‘विद्वज्जनबोधक’/पृ.३४५ से उद्धृत)

चूँकि मथुरा की उक्त जिनप्रतिमाएँ अनग्न नहीं हैं, अपितु नग्न हैं, अतः वे श्वेताम्बरमान्य जिनरूप के अनुसार श्वेताम्बरीय जिनप्रतिमाएँ नहीं हैं। वे अर्धफालकसंघ द्वारा प्रतिष्ठापित की गयी थीं।

डॉक्टर सा० ने भी स्वीकार किया है कि तीर्थकरों की नग्नता अतिशय के प्रभाव से अदृश्य रहती है, तथापि उन्हें नग्न प्रतिमा के निर्माण में कोई विसंगति दिखाई नहीं देती। वे लिखते हैं—“प्रो० रतनचन्द्र जी ने ‘प्रवचनपरीक्षा’ का एक उद्धरण भी दिया है। उनका यह कथन है कि जिनेन्द्र भगवान् का गुह्यप्रदेश शुभप्रभामण्डल

के द्वारा वस्त्र के समान ही आच्छादित रहता है और चर्मचक्षुओं के द्वारा दिखाई नहीं देता। वस्तुतः तीर्थकरों के सम्बन्ध में यह कल्पना अतिशय के रूप में ही की जाती है। लेकिन चाहे श्वेताम्बरपरम्परा हो या दिगम्बरपरम्परा, अतिशयों की यह कल्पना तीर्थकरों के वैशिष्ट्य को ही सूचित करने के लिए प्रचलित हुई है। फिर चाहे यह बात तीर्थकर के सम्बन्ध में सत्य हो, किन्तु मूर्ति के सम्बन्ध में सत्य नहीं है। वैज्ञानिक सत्य यह है कि यदि मूर्ति नग्न है, तो वह नग्न ही दिखायी देगी।” (वही/ पृ.६४-६५)।

पर, प्रश्न यह है कि तीर्थकर की मूर्ति नग्न होगी ही क्यों? जब उनकी नग्नता अतिशय के प्रभाव से आच्छादित हो जाती है, तब मूर्ति में नग्नता का प्रदर्शन क्यों किया जायेगा? जिस अशोभनीय नग्नरूप को आच्छादित करने के लिए अतिशय की कल्पना की गयी है, वह अशोभनीय रूप जिनप्रतिमा में प्रदर्शित क्यों किया जायेगा? जिनेन्द्र भगवान् की नग्नता दिखायी नहीं देती, इसलिए उनकी प्रतिमा भी ऐसी ही बनायी जानी चाहिए, जिसमें नग्नता दिखाई न दे। इस तरह मूर्ति अनग्न होगी, तो अनग्न ही दिखाई देगी। डॉक्टर सा० के तर्क से ऐसा लगता है कि तीर्थकर के अनग्न दिखाई देने पर भी उनकी मूर्ति अपने-आप नग्न बन जाती है, इसलिए वे मूर्ति में नग्न ही दिखायी देते हैं। किन्तु तीर्थकर की मूर्ति अपने-आप नहीं बनती, शिल्पी से बनवाने पर बनती है। अतः यदि शिल्पी से अनग्न बनवायी जाय, तो वह अनग्न ही बनेगी और तब वह अनग्न ही दिखायी देगी। श्वेताम्बरमत में स्त्रीतीर्थकर (मल्ली) की दृष्टि से भी तीर्थकर के गुह्यांगों के अदृश्य रहने की कल्पना एवं उनकी प्रतिमा का गुह्यांगरहित बनाया जाना अपरिहार्य है। इससे स्पष्ट हो जाता है कि मथुरा की नग्न जिनप्रतिमाओं के निर्मापक श्वेताम्बराचार्य नहीं थे, क्योंकि यदि वे होते, तो श्वेताम्बर-आगमों के अनुसार वे अनग्न दिखायी देनेवाले ‘जिन’ की अनग्न दिखायी देनेवाली ही प्रतिमा बनवाते। अतः सिद्ध है कि उक्त नग्न जिनप्रतिमाओं के निर्माता अर्धफालकसम्प्रदाय के आचार्य थे।

मथुरा की उक्त प्रतिमाओं के श्वेताम्बरों द्वारा निर्मापित न होने का दूसरा प्रमाण यह है कि उनके पादपीठ में मूर्तित साधुओं का वेश श्वेताम्बरागमों में वर्णित तत्कालीन साधुओं के वेश के अनुरूप नहीं है। इसका भी स्पष्टीकरण पूर्व में किया जा चुका है। उसे श्वेताम्बरसाधुओं के पूर्वज साधुओं का वेश नहीं माना जा सकता, क्योंकि श्वेताम्बर-सम्प्रदाय का उदय जम्बूस्वामी के निर्वाण के पश्चात् ही हो गया था। इसके प्रमाण षष्ठ अध्याय में द्रष्टव्य हैं।

९.१. छठी शती ई० के पूर्व भी सभी संघों के मन्दिर अलग-अलग थे

मथुरा की प्राचीन प्रतिमाओं को श्वेताम्बर-प्रतिमा सिद्ध करने के लिए डॉक्टर सा० कहते हैं कि छठी शती ई० के पूर्व तक दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनों एक

ही मन्दिर में नग्न जिनप्रतिमाओं की पूजा-उपासना करते थे। इसकी पुष्टि के लिए उन्होंने लिखा है—“पटना के लोहानीपुर-क्षेत्र से मिली जिनप्रतिमा इस तथ्य का स्पष्ट प्रमाण है कि जैनपरम्परा में महावीर के निर्वाण के लगभग १५० वर्ष पश्चात् ही जिनप्रतिमाओं का निर्माण प्रारम्भ हो गया था। साथ ही यह भी सत्य है कि ईसवी-पूर्व तीसरी-चौथी शताब्दी से लेकर ईसा की छठी शताब्दी तक श्वेताम्बर और दिगम्बर मान्यताओं के अनुरूप अलग-अलग प्रतिमाओं का निर्माण नहीं होता था। श्वेताम्बर-दिगम्बर-परम्परा के भेद के बाद भी लगभग चार सौ साल का इतिहास यही सूचित करता है कि वे सब एक ही मन्दिर में पूजा-उपासना करते थे। हल्सी के अभिलेख से यह स्पष्ट हो जाता है कि वहाँ श्वेतपट्टमहाश्रमणसंघ, निर्ग्रन्थ महाश्रमणसंघ और यापनीयसंघ, तीनों ही उपस्थित थे, किन्तु उनके मन्दिर और प्रतिमाएँ भिन्न-भिन्न नहीं थे। राजा ने अपने दान में यह उल्लेख किया है कि इस ग्राम की आय का एक भाग जिनेन्द्र-देवता के लिए, एक भाग श्वेतपट्टमहाश्रमणसंघ हेतु और एक भाग निर्ग्रन्थमहाश्रमणसंघ के हेतु उपयोग किया जाय। यदि उनके मन्दिर व मूर्ति भिन्न-भिन्न होते, तो ऐसा उल्लेख संभव नहीं होता।” (‘श्रमण’/जुलाई-दिसम्बर २००५ / पृ. ६६)।

डॉक्टर सा० का यह कथन समीचीन नहीं है। छठी शती ई० के पूर्व भी विभिन्न जैन सम्प्रदायों के द्वारा अपने-अपने जिनमन्दिर बनवाने तथा राजाओं के द्वारा भी बनवाकर किसी एक सम्प्रदाय को सौंपने की प्रथा थी। ई० सन् ३७० के नोणमंगल-ताम्रपत्रलेख (क्र० ९०) के अनुसार मृदुकोत्तूरदेश के पेब्बोलल्लग्राम में मूलसंघ (निर्ग्रन्थसंघ) ने अर्हदायतन (जैनमन्दिर) का निर्माण कराया था और उसे गंगकुल के राजा माधववर्मा ने भूमि और कुमारपुर ग्राम दान किया था। (देखिये, आगे प्रकरण ४)।

नोणमंगल के ही ४२५ ई० के ताम्रपत्रलेख (क्र० ९४) में कहा गया है कि आचार्य चन्द्रनन्दी जिसके प्रमुख थे, उस मूलसंघ के द्वारा उरनूर नामक स्थान में अर्हदायतन बनवाया गया, जिसे राजा कोङ्गणिवर्मा ने कोरिकुन्ददेश का वेन्नेल्करनि गाँव प्रदान किया था। (देखिये, आगे प्रकरण ४)।

लगभग ४९० ई० के हल्सी-अभिलेख (क्र० १०३) में लिखा है कि कदम्बरराजवंश के महाराजा हरिवर्मा ने सिंहसेनापति के पुत्र मृगेश द्वारा पलाशिका में निर्मापित अर्हदायतन की आष्टाहिकपूजा एवं सर्वसंघ के भोजन के लिए ‘वसुन्तवाटक’ नामक गाँव कूर्चकों के वारिषेणाचार्यसंघ के हाथ में चन्द्रक्षान्त को प्रमुख बनाकर दान किया—

“महाराजः श्रीहरिवर्मा --- पलाशिकायां भारद्वाजसगोत्रसिंहसेनापति-सुतेन मृगेशेन कारितस्यार्हदायतनस्य प्रतिवर्षमाष्टाहिकमहामह-सततच (?) रूपलेपन-

क्रियात्थं तदवशिष्टं सर्व्वसङ्गभोजनायेति---कुन्दूरविषये वसुन्तवाटकं---कूर्च्वकानाम् वारिषेणाचार्यसङ्ग्रहस्ते चन्द्रक्षान्तं प्रमुखं कृत्वा दत्तवान्।” (हल्सी-अभिलेख क्र. १०३/ जै.शि.सं./ मा.च./ भा.२)।

लगभग इसी समय के देवगिरि-अभिलेख (क्र.१०५) में कदम्बवंश की दूसरी शाखा के युवराज देववर्मा के द्वारा त्रिपर्वत के ऊपर का कुछ क्षेत्र अरहन्त भगवान् के चैत्यालय के भग्नसंस्कार (मरम्मत), पूजा और प्रभावना के लिए यापनीयसंघ को दान किये जाने का उल्लेख है। यथा—

“---- देववर्म्मयुवराजः --- अर्हन्तः भगवतः चैत्यालयस्य भग्नसंस्कारार्च्वन-पहिमार्थं यापनीय (स)-ङ्घेभ्यः सिद्धकेदारे --- द्वादश निवर्त्तनानि क्षेत्रं दत्तवान्।” (देवगिरि-अभिलेख क्र./ १०५ / जै. शि. सं. / मा. च. / भा.२)।

इसी प्रकार सन् ४८८ ई० के अल्तेम (कोल्हापुर)-अभिलेख में उल्लेख किया गया है कि चालुक्य नरेश जयसिंह के सामन्त सेन्द्रकवंशी सामियार ने अलक्तकनगर में एक जिनेन्द्रायतन बनवाया और उसकी पूजा आदि के लिए यापनीयसंघ के कनकोपलसम्भूत-वृक्षमूलगण के आचार्य जिननन्दी को कुछ भूमि और ग्राम दान किये। यथा—

“अलक्ताभिधाननगर्या --- जिनेन्द्रायतनं भक्त्याकारयत् --- तज्जिनमन्दिरो-पमक्रिये क्षेत्रं ददौ---कनकोपलसम्भूत-वृक्षमूलगणान्वये --- जिननन्द्याचार्यसूर्याय नगरांशत-लभोगांश्च प्रददौ।” (अल्तेम-अभिलेख/ क्र.१०६/ जै. शि. सं./ मा.च./ भा.२)।

इसी समय के या इससे कुछ पूर्व के हल्सी-अभिलेख (क्र० १०४) में स्पष्ट लिखा है कि महाराज हरिवर्मा ने पलाशिकानगर में स्थित चैत्यालय की पूजा, संस्कार (मरम्मत) आदि के लिए ‘मरदे’ नामक ग्राम का दान किया था। वह चैत्यालय अहरिष्टि नाम के श्रमणसंघ की सम्पत्ति था और उस पर आचार्य धर्मनन्दी की आज्ञा चलती थी—

“श्री हरिवर्म्मा---पलाशिकाधिष्ठाने अहरिष्टि-समाह्वय-श्रमणसङ्घवस्तुनः धर्मानन्द्याचार्याधिष्ठितप्रामाण्यस्य चैत्यालयस्य पूजासंस्कारनिमित्तं साधुजनोपयोगार्थञ्च --- मरदे ग्रामं दत्तवान्।” (हल्सी-अभिलेख/ क्र. १०४/ जै. शि. सं./ मा. च./ भा.२)।

अँगरेजी अनुवाद---“--- the temple which was the property of the sect of Śramaṇas called Aharisṭi and the authority of which was superintended by the Āchārya Dharmanandī.” (Sanskrit And old Canarese Inscriptions, No. XXXVI, The Indian Antiquary, vol.VI-1877, p.32).

इन अभिलेखों से स्पष्ट होता है कि ईसा की छठी शती के पहले भी विभिन्न जैनसंघ अपने-अपने पृथक् मन्दिर बनवाते थे और राजा-महाराजा भी जिनमन्दिर बनवाकर किसी एक संघ को उसका अधिकार सौंप देते थे।

मृगेशवर्मा के हल्सी-अभिलेख (क्र.१९ / ४७०-४९० ई०) में केवल यह उल्लेख है कि उसने श्रीविजयपलाशिका में एक जिनालय का निर्माण कराया और यापनीयों, निर्ग्रन्थों तथा कूर्चकों को भूमिदान किया। उसमें मन्दिर की व्यवस्था किसी संघविशेष के आचार्य को सौंपने का निर्देश नहीं है, तथापि पूर्वोक्त उदाहरणों को देखते हुए वह जिनालय इन तीन संघों में से किसी न किसी संघ के आचार्य के अधिकार में रहा होगा। (अभिलेख का मूलपाठ अध्याय २ के प्रकरण ६ में द्रष्टव्य है)।

इसी प्रकार श्रीविजयशिवमृगेशवर्मा के देवगिरि-अभिलेख (क्र.१८) में पूर्वनिर्मित जिनमन्दिर तथा श्वेतपटमहाश्रमणसंघ एवं निर्ग्रन्थमहाश्रमणसंघ को कालवंगग्राम का एक-एक भाग प्रदान किये जाने का वर्णन है, किन्तु उक्त जिनमन्दिर पर किस संघ का अधिकार था, इसका उल्लेख नहीं किया गया है। तथापि उपर्युक्त उदाहरणों से सिद्ध है कि उसका भी स्वामित्व श्वेतपटमहाश्रमणसंघ या निर्ग्रन्थमहाश्रमणसंघ के हाथ में रहा होगा। जब मूलसंघ अपने मन्दिर अलग बना रहा हो, यापनीय, कूर्चक और अहरिष्टि संघों को राजा-महाराजा अलग-अलग मन्दिर बनवाकर सौंप रहे हों, जिन पर केवल उन्हीं संघों की आज्ञा चलती हो, तब श्वेतपटश्रमणसंघ, यदि मूर्तिपूजक था, तो जिनमन्दिर अलग से न बनवाये या राजाओं के द्वारा बनवाकर उसे प्रदान न किये जायँ, ऐसा नहीं हो सकता था। मानवस्वभावगत साम्प्रदायिक प्रतिस्पर्धा की दौड़ में ऐसा होना असंभव है। अतः यदि तत्कालीन श्वेतपटश्रमणसंघ मूर्तिपूजक था, तो अवश्य ही उसके भी मन्दिर पृथक् रहे होंगे और उनमें श्वेताम्बर-आगम-कथित जिनरूप को प्रतिबिम्बित करनेवाली जिनप्रतिमाएँ प्रतिष्ठापित की गयी होंगी।

श्रीविजयशिवमृगेशवर्मा ने एक ही जिनालय को कालवंग ग्राम का एक भाग दान में दिया था, इससे यह सिद्ध नहीं होता कि उस स्थान में एक ही जिनमन्दिर था। मन्दिर तो वहाँ दोनों संघों के रहे होंगे, किन्तु राजा ने संघों में तो वहाँ उपस्थित दोनों संघों को दान दिया था, परन्तु मन्दिरों में केवल उस संघ के मन्दिर को दिया था, जिसका वह स्वयं अनुयायी था। जिस संघ का वह अनुयायी था, उसके प्रति उसका विशेष अनुराग होना स्वाभाविक था।

इन शिलालेखीय प्रमाणों से डॉक्टर सा० की यह मान्यता मिथ्या सिद्ध होती है कि छठी शती ई० के पूर्व दिगम्बर, श्वेताम्बर, यापनीय, कूर्चक आदि संघों के मन्दिर और प्रतिमाएँ भिन्न-भिन्न नहीं थीं।

१.२. परस्परविरोधी-मान्यतावालों की एक ही मन्दिर में पूजा-उपासना असंभव

डॉक्टर सा० की उपर्युक्त मान्यता अयुक्तिसंगत एवं अव्यवहार्य भी है। जिन संघों के साधुओं का सवस्त्रमुक्ति, स्त्रीमुक्ति, केवलिभुक्ति आदि की मान्यताओं के समर्थन और विरोध के गंभीर मतभेद के कारण साथ-साथ रहना दूभर हो गया था, जिनमें एक साधुसंघ तीर्थंकर मल्लिनाथ को स्त्री मानता था और दूसरा पुरुष, जो एक-दूसरे के आगमों को स्वकल्पित बतलाते थे और एक-दूसरे के मत को मिथ्यामत, उनका किसी एक मन्दिर में प्रतिदिन पूजा-उपासना करना संभव नहीं था। क्योंकि धार्मिक विरोधियों का धार्मिक स्थल और धार्मिक क्रियाओं में दैनिक सान्निध्य धार्मिक मतभेदों की याद दिलाता है और उन्हें प्रकट होने का अवसर देता है, जिससे विवाद और कलह अवश्यम्भावी है। तथा सामूहिक मन्दिर और उसे दान में मिली सम्पत्ति स्वामित्व के संघर्ष को जन्म देती है, जो हिंसात्मक प्रवृत्तियों में परिणत हो जाता है। इसलिए विभक्त हुए विरोधी सम्प्रदाय ऐसे अवसरों को टालते हैं, अर्थात् अपने पूजा-उपासना के स्थान भी अलग कर लेते हैं। इन स्थानों को अलग करना कठिन नहीं होता। एक ही श्रीमन्त अनुयायी या भक्त राजा संघप्रमुख का संकेत पाते ही नया मन्दिर खड़ा कर देता है। ऐसे उदाहरण हम पूर्वोद्धृत अभिलेखों में देख चुके हैं। अतः ईसा की छठी शती के पूर्व विभिन्न संघों के सामने ऐसी कोई समस्या नहीं थी कि उन्हें कलहकारणभूत एक ही मन्दिर में पूजा-उपासना के लिए मजबूर होना पड़ता। इसलिए डॉ० सागरमल जी तथा अन्य विद्वानों की यह धारणा कि छठी शती ई० के पूर्व तक दिगम्बर और श्वेताम्बर एक ही मन्दिर में पूजा-अर्चना करते थे, उपर्युक्त शिलालेखीय प्रमाणों, साम्प्रदायिक मनोविज्ञान एवं श्रीमन्तों तथा राजाओं के मन्दिर निर्माण-सम्बन्धी औदार्यपूर्ण इतिहास के विरुद्ध है।

१.३. पूर्वकाल में श्वेताम्बरसंघ अनग्न-अचेल-जिनप्रतिमा का पूजक

अब प्रश्न उठता है कि जब श्वेताम्बरसम्प्रदाय में नग्न जिनप्रतिमाओं का निर्माण हो नहीं सकता था और सवस्त्र प्रतिमाओं का निर्माण छठी शती ई० से शुरू हुआ है, तब उसके पूर्व वे कैसी प्रतिमाओं का पूजन करते थे? डॉक्टर सा० ने यही प्रश्न अपने उपर्युक्त लेख में उठाया है।

बीसवीं शती ई० के स्थानकवासी-परम्परा के श्वेताम्बराचार्य हस्तीमल जी ने अनेक प्रमाणों से यह सिद्ध करने का प्रयास किया है कि छठी शती ई० के पूर्व श्वेताम्बरसंघ में मूर्तिपूजा का प्रचलन ही नहीं था। यद्यपि वे अमूर्तिपूजक स्थानकवासी-परम्परा के थे, तथापि उनके तर्क विचारणीय हैं। (देखिये, आगे प्रकरण ३, शीर्षक २)। उपर्युक्त शिलालेखों से भी यह तथ्य सामने आता है कि छठी शती ई० के

पूर्व मूलसंघ (निर्ग्रन्थसंघ) ने अपने मन्दिर बनवाये और यापनीय, कूर्चक तथा अहरिष्टि संघों को राजाओं ने मन्दिर बनवाकर दिये, किन्तु श्वेतपटश्रमणसंघ द्वारा न तो स्वयं मन्दिर बनवाये जाने का उल्लेख किसी शिलालेख में है, न ही किसी राजा द्वारा बनवाकर उसे दिये जाने की चर्चा है। इससे श्वेताम्बराचार्य हस्तीमल जी की इस मान्यता को बल मिलता है कि छठी शती ई० के पूर्व श्वेताम्बरपरम्परा में मूर्तिपूजा का प्रचलन नहीं था। तथापि मेरी मान्यता यह है कि छठी शती ई० के पूर्व भी श्वेताम्बरपरम्परा में मूर्तिपूजा का प्रचलन रहा होगा और जिनप्रतिमा का स्वरूप बिलकुल वैसा ही रहा होगा, जैसा कि श्वेताम्बर-आगमों में 'जिन' का रूप बतलाया गया है, अर्थात् गुह्यांगदर्शन-रहित। श्वेताम्बरमुनि उपाध्याय धर्मसागर जी ने गिरनार-विवाद के पूर्व श्वेताम्बरपरम्परा में बनायी जानेवाली जिनप्रतिमाओं का स्वरूप ऐसा ही बतलाया है। (देखिये, पूर्वशीर्षक २ एवं ३)। डॉ० सागरमल जी ने भी प्रवचनपरीक्षा के कर्ता उपाध्याय धर्मसागर जी के कथन को समीचीन माना है। वे लिखते हैं—

“प्रवचनपरीक्षा में उपाध्याय धर्मसागर जी का यह कथन कि गिरनार पर्वत के स्वामित्व को लेकर जो विवाद उठा उसके पूर्व पद्मासन की जिनप्रतिमाओं में न तो नग्नत्व का प्रदर्शन होता था और न वस्त्रचिह्न बनाया जाता था, समीचीन लगता है।” (‘श्रमण’/ जुलाई-दिसम्बर २००५ / पृ.६५)।

किन्तु डॉक्टर सा० ने उपाध्याय धर्मसागर जी के कथन को यथावत् प्रस्तुत नहीं किया। उन्होंने जिनप्रतिमाओं के साथ 'पद्मासन' विशेषण जोड़ दिया है, जब कि 'प्रवचनपरीक्षा' में पद्मासन और खड्गासन का भेद नहीं किया गया है। उसमें जिनप्रतिमा-मात्र के अनग्न और अंचलिकारहित बनाये जाने की बात कही गयी है। अतः उपाध्याय धर्मसागर जी के कथनानुसार खड्गासन (कायोत्सर्ग-मुद्रामय) जिनप्रतिमाएँ भी अनग्न और अंचलिकारहित बनायी जाती थीं। (देखिये, पादटिप्पणी ३, ४ एवं ५)। वस्तुतः पद्मासनप्रतिमा में तो नग्नत्व पद्मासन के ही कारण अदृश्य रहता है। नग्नत्व को अदृश्य बनाने की आवश्यकता तो खड्गासन में ही होती है। यदि डॉक्टर सा० ने उपाध्याय धर्मसागर जी के कथन को श्वेताम्बर-आगम-सम्मत होने के कारण समीचीन माना है, तो उनका यह कथन भी समीचीन मानना होगा कि गिरनार-विवाद के पूर्व खड्गासन-जिनप्रतिमाओं में भी नग्नत्व का प्रदर्शन नहीं होता था, क्योंकि यह कथन भी श्वेताम्बर-आगमसम्मत है।

इस प्रकार उपाध्याय धर्मसागर जी के कथन से डॉक्टर सा० के इस प्रश्न का समाधान हो जाता है कि छठी शती ई० के पूर्व श्वेताम्बरपरम्परा में कैसी जिनप्रतिमाओं की पूजा होती थी?



द्वितीय प्रकरण

दिगम्बर जिनप्रतिमाओं के निर्माण का इतिहास

१

मोहेन-जो-दड़ो की जिनप्रतिमाएँ

जब हम नगनमुद्रामय दिगम्बर-जिनप्रतिमाओं के निर्माण के इतिहास पर दृष्टि डालते हैं, तब वह ईसा से २४०० वर्ष पहले की सिन्धुघाटीय सभ्यता पर जाकर ठहरती है। सन् १९२० से १९२७ तक सिन्धुप्रान्त (वर्तमान पाकिस्तान) के मोहेन-जो-दड़ो नामक स्थान में तथा पश्चिमी पंजाब (वर्तमान पाकिस्तान) के हड़प्पा नामक स्थान में किये गये उत्खनन से अत्यन्त प्राचीन सभ्यता के अवशेष मिले हैं, जिनमें जैन संस्कृति के अवशेष भी हैं।^{१२} मोहेन-जो-दड़ो में प्राप्त अवशेषों का काल पुरातत्त्वविदों ने ईसा पूर्व २४०० वर्ष के आस-पास आकलित किया है। यहाँ के उत्खनन में ऐसी मृन्मुद्राएँ (मिट्टी की सीलें) प्राप्त हुई हैं, जिन पर कायोत्सर्गमुद्रा में नासाग्रदृष्टिसहित ध्यान करते हुए एक नगन योगी की आकृति उत्कीर्ण है। सुप्रसिद्ध पुरातत्त्वविद् स्व० रायबहादुर प्रो० रामप्रसाद चन्दा ने इसकी जैन तीर्थंकर भगवान् ऋषभदेव की प्रतिमा के रूप में पहचान की है। वे अपने एक महत्त्वपूर्ण-शोध आलेख में लिखते हैं—

“Not only the seated deities engraved on some of Indus Seals are in Yoga posture and bear witness to the prevalence of Yoga in the Indus Valley in the remote age, the standing deities on the Seals also show Kāyotsarga posture of Yoga” (p.159).

“The Kāyotsarga (dedication of the body) posture is peculiarly Jaina. It is a posture, not of sitting, but of standing. In the Ādipurāṇa, Book XVIII, Kāyotsarga posture is described in connection with the penances of Ṛṣabha or Vṛṣabha, the first Jina of the Jinās” (p.158).

“A standing image of Jina Ṛṣabha in Kāyotsarga posture on a stele showing four such images assignable to the second century A.D. in Curzon Museum of Archaeology, Mathurā, is reproduced in Fig. 12. Among the Egyptian sculptures of the time of the early dynasties (III-VI) there are standing statues with arms hanging on two sides. But though these early Egyptian statues, and the archaic Greek Kouros show nearly the same pose, they lack the feeling of abandon that characterizes the standing figures on

१२. मुनि कान्तसागर : 'खंडहरों का वैभव' (दिनकर : संस्कृति के चार अध्याय/पृ. १०९ पर उल्लेख)।

the Indus Seals and Images of Jinas in the Kāyotsarga posture. The name Rṣabha means bull, and the bull is the emblem of Jina Rṣabha.”(p.159)¹³

अनुवाद

“सिन्धुघाटी की अनेक सीलों में उत्कीर्ण देवमूर्तियाँ न केवल बैठी हुई योगमुद्रा में हैं और सुदूर अतीत में सिन्धुघाटी में योग के प्रचलन की साक्षी हैं, अपितु खड़ी हुई देवमूर्तियाँ भी हैं, जो कायोत्सर्गमुद्रा को प्रदर्शित करती हैं।” (पृ. १५९)।

“कार्योत्सर्ग (देह-विसर्जन) मुद्रा विशेषतया जैन मुद्रा है। यह बैठी हुई नहीं, खड़ी हुई है। ‘आदिपुराण’ के अठारहवें अध्याय में जिनों में प्रथम-जिन ऋषभ, या वृषभ की तपश्चर्या के प्रसंग में कायोत्सर्गमुद्रा का वर्णन हुआ है।” (पृ. १५८)।

“कर्जन म्यूजियम ऑफ आर्किओलॉजी, मथुरा में सुरक्षित एक प्रस्तर-पट्ट पर उत्कीर्ण चार मूर्तियों में से एक ऋषभ जिन की खड़ी हुई मूर्ति कायोत्सर्गमुद्रा में है (इस लेख की आकृति १२)। यह ईसा की द्वितीय शताब्दी की है। मिस्र के आरम्भिक राजवंशों के समय की शिल्प-कृतियों में भी दोनों ओर हाथ लटकाये खड़ी कुछ मूर्तियाँ प्राप्त हैं। यद्यपि इन प्राचीन मिस्री मूर्तियों और यूनान की कुराई मूर्तियों की मुद्राएँ भी वैसी ही हैं, तथापि वह देहोत्सर्गजनित निःसंगता, जो सिन्धुघाटी की सीलों पर अंकित मूर्तियों तथा कायोत्सर्ग ध्यानमुद्रा में लीन जिनबिम्बों में पायी जाती है, इनमें अनुपस्थित है। वृषभ का अर्थ है बैल और यह बैल वृषभ या ऋषभ जिन का चिह्न (पहचान) है।” (पृ. १५९)।^{१३}

प्रो० चन्दा के इस मत को मान्यता देते हुए डॉ० राधाकुमुद मुकर्जी ने लिखा है—

“उन्होंने (प्रो० चन्दा ने) ६ अन्य मुहरों पर खड़ी हुई मूर्तियों की ओर भी ध्यान दिलाया है। फलक १२ और ११८ आकृति ७ (मार्शलकृत मोहेंजोदड़ो) कायोत्सर्ग नामक योगासन में खड़े हुए देवताओं को सूचित करती है। यह मुद्रा जैन योगियों की तपश्चर्या में विशेषरूप से मिलती है, जैसे मथुरा-संग्रहालय में स्थापित तीर्थंकर श्री ऋषभ-देवता की मूर्ति में। ऋषभ का अर्थ है बैल, जो आदिनाथ का लक्षण है। मुहर संख्या F.G.H. फलक दो पर अंकित देवमूर्ति में एक बैल ही बना है, संभव है यह ऋषभ का ही पूर्वरूप हो। यदि ऐसा हो तो शैवधर्म की तरह जैनधर्म का मूल भी ताम्रयुगीन सिन्धुसभ्यता तक चला जाता है। इससे सिन्धुसभ्यता एवं ऐतिहासिक

13. ‘Sind Five Thousand Years Ago’ by Ramprasad Chanda; Modern Review, Calcutta, August, 1932; pp. 158, 159. (एलाचार्य मुनि विद्यानन्द : मोहन-जो-दड़ो : जैन परम्परा और प्रमाण / आवरण पृष्ठ ४ से उद्धृत)।

भारतीय सभ्यता के बीच की खोई हुई कड़ी का भी एक उभय-साधारण सांस्कृतिक परम्परा के रूप में कुछ उद्धार हो जाता है।” (हिन्दूसभ्यता / पृ. २३-२४)।^{१४}

काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के भूतपूर्व प्रोफेसर श्री प्राणनाथ विद्यालंकार भी इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि सिन्धुघाटी में प्राप्त कायोत्सर्ग-प्रतिमाएँ तीर्थंकर ऋषभदेव की हैं। उन्होंने मृन्मुद्राओं पर अंकित लिपि को पढ़ने का दावा करते हुए यह भी कहा है कि सील क्रमांक ४४९ पर ‘जिनेश्वर’ शब्द का उल्लेख है—

“It may also be noted that inscription on the indus seal No. 449 reads according to decipherment Jinesh.” (Indian Historical Quarterly, Vol. VIII, No. 250)¹⁵

विश्रुत वैदिक विद्वान् डॉ० मंगलदेव शास्त्री ने भारत की दो सांस्कृतिक धाराओं—वैदिकधारा और श्रमणधारा के पारस्परिक भेद का विवेचन करते हुए लिखा है—“ऋषि-सम्प्रदाय और मुनि-सम्प्रदाय के सम्बन्ध में, संक्षेप में, हम इतना ही कहना चाहते हैं कि दोनों की दृष्टियों में हमें महान् भेद प्रतीत होता है। जहाँ एक का झुकाव (आगे चलकर) हिंसामूलक मांसाहार और तन्मूलक असहिष्णुता की ओर रहा है, वहीं दूसरी का अहिंसा तथा तन्मूलक निरामिषता तथा विचार-सहिष्णुता (अथवा अनेकान्त-वाद) की ओर रहा है। --- इनमें से एक मूल में वैदिक और दूसरी मूल में प्राग्वैदिक प्रतीत होती है।”^{१६} इसका समर्थन करते हुए सुप्रसिद्ध इतिहासविद् एवं राष्ट्रकवि स्व० श्री रामधारीसिंह ‘दिनकर’ लिखते हैं—“इस अनुमान की पुष्टि इस बात से भी होती है कि महंजोदरो की खुदाई में योग के प्रमाण मिले हैं और जैनमार्ग के आदि तीर्थंकर श्री ऋषभदेव थे, जिनके साथ योग और वैराग्य की परम्परा उसी प्रकार लिपटी हुई है, जैसे कालान्तर में, वह शिव के साथ समन्वित हो गयी। इसी दृष्टि से कई जैन विद्वानों का यह मानना अयुक्तियुक्त नहीं दीखता कि ऋषभदेव, वेदोल्लिखित होने पर भी, वेद-पूर्व हैं।” (संस्कृति के चार अध्याय / पृ.३३)।

‘दिनकर’ जी एक स्थान पर और लिखते हैं—“ऋषभदेव की कृच्छ्र साधना का मेल ऋग्वेद की प्रवृत्तिमार्गी धारा से नहीं बैठता। वेदोल्लिखित होने पर भी ऋषभदेव वेद-पूर्व परम्परा के प्रतिनिधि हैं। जब आर्य इस देश में फैले, उससे पहले ही यहाँ वैराग्य, कृच्छ्र साधना, योगाचार और तपश्चर्या की प्रथा प्रचलित हो चुकी थी। इस प्रथा का एक विकास जैनधर्म में हुआ और दूसरा शैवधर्म में। ऋषभदेव भी योगिराज

१४. पं. कैलाशचन्द्र शास्त्री : जैन साहित्य का इतिहास / पूर्वपीठिका / पृ.१०२ से उद्धृत।

१५. मुनि श्री प्रमाणसागरकृत ‘जैनधर्म और दर्शन’ पृष्ठ ३४ से उद्धृत।

१६. भारतीय संस्कृति का विकास : वैदिक धारा / पृ. ११-१२

के रूप में अभिहित हुए हैं। उनके योगयुक्त व्यक्तित्व से शंकर के योगीरूप का काफी सामीप्य है। महंजोदरो में योग-प्रथा सूचक जो निशान मिले हैं, उनका सम्बन्ध जैन और शैव, दोनों ही परम्पराओं से जोड़ा जा सकता है।^{१७}

अन्य अनेक सुप्रसिद्ध इतिहासकारों एवं पुरातत्त्वज्ञों ने इसी प्रकार के विचार व्यक्त किये हैं। यथा—

श्री वाचस्पति गेरौला—“श्रमणसंस्कृति का प्रवर्तक जैनधर्म प्राग्वैदिक धर्म है। मोहनजोदड़ो से उपलब्ध ध्यानस्थ योगियों की मूर्तियों की प्राप्ति से जैनधर्म की प्राचीनता निर्विवाद सिद्ध होती है। वैदिक युग में ब्राह्मणों और श्रमण-ज्ञानियों की परम्परा का प्रतिनिधित्व भी जैनधर्म ने ही किया है। धर्म-दर्शन, संस्कृति और कला की दृष्टि से भारतीय इतिहास में जैनों का विशेष योग रहा है।”^{१८}

डॉ० एम० एल० शर्मा—“मोहनजोदड़ो से प्राप्त मुहर पर जो चिह्न अंकित है, वह भगवान् ऋषभदेव का है। यह चिह्न इस बात का द्योतक है कि आज से पाँच हजार वर्ष पूर्व योगसाधना भारत में प्रचलित थी और उसके प्रवर्तक जैनधर्म के आदि तीर्थंकर ऋषभदेव थे। सिन्धुनिवासी अन्य देवताओं के साथ ऋषभदेव की पूजा करते थे।”^{१९}

श्री विश्वम्भर सहाय प्रेमी—“शुद्ध ऐतिहासिक दृष्टि से यदि इस प्रश्न पर विचार करें तो भी यह मानना ही पड़ता है कि भारतीय सभ्यता के निर्माण में आदिकाल से ही जैनियों का हाथ था। मोहनजोदड़ो की मुद्राओं में जैनत्व-बोधक चिह्नों का मिलना तथा वहाँ की योगमुद्रा ठीक जिनमूर्तियों के सदृश होना इस बात का प्रमाण है कि तब ज्ञान और ललित कला में जैनी किसी से पीछे नहीं थे।”^{२०}

डॉ० विशुद्धानन्द पाठक एवं पं० जयशंकर मिश्र—“विद्वानों का अभिमत है कि यह धर्म प्रागैतिहासिक और प्राग्वैदिक है। सिन्धुघाटी की सभ्यता से मिली योगमूर्ति तथा ऋग्वेद के कतिपय मंत्रों में ऋषभ तथा अरिष्टनेमि जैसे तीर्थंकरों के नाम इस विचार के मुख्य आधार हैं। भागवत और विष्णुपुराण में मिलनेवाली जैन तीर्थंकर ऋषभदेव की कथा भी जैनधर्म की प्राचीनता व्यक्त करती है।”^{२१}

१७. संस्कृति के चार अध्याय / पृ. ११०

१८. भारतीयदर्शन / पृ. ९३ (मुनि श्री प्रमाणसागरकृत 'जैनधर्म और दर्शन' / पृ. ३५ से उद्धृत)।

१९. भारत में संस्कृति और धर्म / पृ. ६२ (मुनि श्री प्रमाणसागर : 'जैनधर्म और दर्शन' / पृ. ३५ से उद्धृत)।

२०. हिमालय में भारतीय संस्कृति / पृ. ४७ (मुनि श्री प्रमाणसागर : 'जैनधर्म और दर्शन' / पृ. ३५ से उद्धृत)।

२१. भारतीय इतिहास और संस्कृति / पृ. १९९-२०० (मुनि श्री प्रमाणसागर : 'जैनधर्म और दर्शन' पृ. ३५ से उद्धृत)।

श्री पी० आर० देशमुख—“जैनों के पहले तीर्थंकर सिन्धु सभ्यता से ही थे। सिन्धुजनों के देव नग्न होते थे। जैन लोगों ने उस सभ्यता / संस्कृति को बनाये रखा और नग्न तीर्थंकरों की पूजा की।”^{२२}

सुप्रसिद्ध दिगम्बर जैनमुनि आचार्य विद्यानन्द जी अपने शोधपूर्ण आलेख ‘मोहन-जो-दड़ो : जैन परम्परा और प्रमाण’ में लिखते हैं—“जैनधर्म की प्राचीनता निर्विवाद है। प्राचीनता के इस तथ्य को हम दो साधनों से जान सकते हैं : पुरातत्त्व और इतिहास। जैन पुरातत्त्व का प्रथम सिरा कहाँ है, यह तय करना कठिन है, क्योंकि मोहन-जो-दड़ो की खुदाई में ऐसी कुछ सामग्री मिली है, जिसने जैनधर्म की प्राचीनता को आज से कम से कम ५००० वर्ष आगे धकेल दिया है। सिन्धुघाटी से प्राप्त मुद्राओं के अध्ययन से स्पष्ट हुआ है कि ‘कायोत्सर्गमुद्रा’ जैनों की अपनी लाक्षणिकता है। प्राप्त मुद्राओं की तीन विशेषताएँ हैं : कायोत्सर्गमुद्रा, ध्यानावस्था और नग्नता (दिगम्बरत्व)। मोहन-जो-दड़ो की सीलों पर योगियों की जो कायोत्सर्गमुद्रा अंकित है, उसके साथ वृषभ भी है। ‘वृषभ’ ऋषभनाथ का चिह्न है” (पृ. ११-१२)।

२

हड़प्पा-जिनप्रतिमा

हड़प्पा के उत्खनन में भी जैन संस्कृति के चिह्न प्राप्त हुए हैं। वहाँ एक ऐसी मस्तकविहीन नग्न मानव-मूर्ति मिली है जो कायोत्सर्गमुद्रा में ध्यानस्थ है।^{२३} वह लोहानीपुर (पटना, बिहार) में प्राप्त मौर्यकालीन तीर्थंकर-प्रतिमा से अत्यन्त साम्य रखती है। पुरातत्त्वविदों ने उसे जैन तीर्थंकर की प्रतिमा माना है। केन्द्रीय पुरातत्त्व विभाग के भूतपूर्व महानिदेशक श्री टी० एन० रामचन्द्रन् ने उसका गहन अध्ययन कर सिद्ध किया है कि वह आद्य जैन तीर्थंकर ऋषभदेव की प्रतिमा है। उन्होंने अपने विचार HARAPPA AND JAINISM नामक शोधलेख में व्यक्त किये हैं।^{२३} इस लेख का अनुवाद श्री जयभगवान् जी एडवोकेट ने किया था, जो अनेकान्त मासिक (वर्ष १४/किरण ६/जनवरी १९५७) में प्रकाशित हुआ था। लेख के महत्त्वपूर्ण अंशों का अनुवाद नीचे प्रस्तुत किया जा रहा है।

२२. इंडस सिविलिजेशन ऋग्वेद एण्ड हिन्दू कल्चर / पृ. ३४४ (मुनि श्री प्रमाणसागर : ‘जैनधर्म और दर्शन’/पृ. ३७ से उद्धृत)।

२३. देखिए , इसी अध्याय के अन्त में विस्तृत सन्दर्भ।

हड़प्पा और जैनधर्म

श्री टी० एन० रामचन्द्रन्

“सिन्धुघाटी-सभ्यता के महान् स्मृतिचिह्न उसकी प्रस्तर-कलाकृतियाँ हैं। अब तक हड़प्पा से १३ मूर्तियाँ प्रकाश में आयी हैं, जिनमें दो सुप्रसिद्ध और बहुचर्चित लघुप्रतिमाएँ भी हैं। इन दो लघुप्रतिमाओं ने प्राचीन भारतीयकला सम्बन्धी आधुनिक मान्यताओं में एक क्रान्ति ला दी है। ये दोनों प्रतिमाएँ ऊँचाई में ४ इंच से भी कम हैं और मस्तक-हस्त-पाद-विहीन पुरुष-कबन्ध के रूप में हैं। दोनों में ग्रीवा और कन्धों के स्थान पर अलग से बनाए हुए मस्तक और बाहु जोड़ने के लिए रन्ध्र बने हुए हैं। ये दोनों मूर्तियाँ २४०० से २००० ईसापूर्व की आँकी गयी हैं। इनमें एक प्रतिमा नर्तक की है, दूसरी यथाजात-नग्न-मुद्रावाले एक सुदृढ़काय युवा की है।

“नर्तकप्रतिमा इतनी सजीव और नवीन है कि यह मोहेनजोदड़ो-कालीन मूर्तियों के निर्जीव विधिविधानों से नितान्त अछूती है। यह भी नग्न-मुद्राधारी मालूम होती है। इससे इस सुझाव को समर्थन मिलता है कि यह उत्तरकालीन नटराज अर्थात् नाचते-शिव का प्राचीन प्रतिरूप है। सभी कलाविशेषज्ञों का मत है कि विशुद्ध सादगी और सजीवता की अपेक्षा यूनानी कलायुग से पहले कोई भी ऐसी मूर्ति निर्मित नहीं हुई, जिसकी तुलना इन दो महत्त्वशाली मूर्तियों से की जा सके।

“नग्नमुद्राधारी तरुण की प्रस्तरमूर्ति भी प्राचीन भारतीय कला के इस मौलिक तथ्य की साक्षी है कि भारतीय कला का विकास अकृत्रिम प्रकृति से उतना ही सुसम्बद्ध है, जितना कि अपने सामाजिक वातावरण और लोकोत्तर आदर्शों से। यह कला आध्यात्मिक गुणों एवं रचनात्मक शक्तियों से सम्पन्न ऐसी दिव्यता की प्रतीक है, जो बाहर विकीर्ण न होकर अन्तर्मुख शान्ति का सम्पादन करती है। वास्तव में यही वह तत्त्व है जिसकी अभिव्यक्ति हम जैनों के उपास्यदेव तीर्थकरों में पाते हैं, जिसके कारण मैसूर प्रदेश के श्रवणबेलगोल, कारकल और वेणूर में स्थित उनकी प्रतिमाएँ लोगों का ध्यान आकृष्ट करती हैं। अपनी समस्त इन्द्रियों के व्यापार का मन-वचन-काय की गुप्ति द्वारा नियन्त्रण किये हुए, अपनी समस्त विभूतियों और सृष्टिकारक शक्तियों का अहिंसा के सुदृढ़ एवं कोमल सूत्र द्वारा वशीकरण किये हुए और ऋतुओं की कटुताओं के प्रति अपने कायिक अङ्गोपाङ्गों का व्युत्सर्ग किये हुए मैसूर प्रदेश के श्रवणबेलगोल-स्थित बाहुबली की महान् मूर्ति के समान जैन तीर्थकरों और जैन सन्तों की सभी मूर्तियाँ अपने पुरातन और निर्ग्रन्थ यथाजात नग्नरूप में मानव-मानव को यह देशना कर रही हैं कि अहिंसा ही समस्त मानवी दुःखों के निवारण का एक मात्र उपाय है। ये ‘अहिंसा परमो धर्मः’ का साक्षात् पाठ पढ़ा रही हैं।

“हड़प्पा की मूर्ति के उपर्युक्त गुणविशिष्ट-मुद्रा में होने के कारण यदि हम उसे जैनतीर्थंकर अथवा ख्याति-प्राप्त तपोमहिमायुक्त जैन सन्त की प्रतिमा कहें, तो इसमें कुछ भी असत्य न होगा। यद्यपि इसके निर्माणकाल २४००-२००० ईसापूर्व के विषय में कुछ पुरातत्त्वज्ञों द्वारा सन्देह प्रकट किया गया है, परन्तु इसकी स्थापत्यशैली में कोई भी ऐसी बात नहीं है जो इसे मोहेन-जो-दड़ो की मृन्मय मूर्तियों एवं वहाँ की उत्कीर्ण मोहरों पर अंकित बिम्बों से पृथक् कर सके। इस स्थल पर इस मूर्ति-सम्बन्धी सर मौर्टिमेर ह्वीलर के विचार, जो INDUS VALLEY CIVILISATION (CAMBRIDGE HISTORY OF INDIA. 1953) के पृष्ठ ६६ पर प्रकाशित हुये हैं, उद्धृत करने योग्य हैं—

“इन दोनों मूर्तियों में, जो अपने उपलब्ध रूप में चार इंच से भी कम ऊँचाईवाले पुरुषाकार कबन्ध हैं, ऐसी सजीवता और उल्लास भरा है, जो ऊपर वर्णित रचनाओं में तनिक भी देखने को नहीं मिलता। इनकी ये विशेषताएँ इतनी स्वस्थ और परिपुष्ट हैं कि अभी इन्हें सिंधुयुग की कहने और सिद्ध करने में कुछ आपत्ति सी दीख पड़ती है। दुर्भाग्य से वे वैधानिक उपाय, जो इनके अन्वेषकों द्वारा प्रयुक्त हुए हैं, उत्खात भूमि के विभिन्न स्तरों की गहराई सम्बन्धी तथ्यों के सन्तोषजनक सबूत प्राप्त कराने में अपर्याप्त रहे हैं और उनका यह कथन कि इन मूर्तियों में से एक नर्तक की मूर्ति हड़प्पा के अन्न-भण्डारवाले स्तर से प्राप्त हुई और दूसरी उसी के समीपवर्ती स्थान के लगभग ४ फुट १० इंच नीचेवाले स्तर से मिली, बाह्य हस्तक्षेपकी संभावना का निराकरण नहीं करता। इन मूर्तियों को उत्तरकालीन कहना भी कठिनाई से खाली नहीं है। यह संदेह तभी दूर हो सकता है, जब अधिक अन्वेषणों द्वारा इस क्षेत्र के विभिन्न स्तरों से प्राप्त वस्तुओं का समुचित अभिलेखों की सहायता से तुलनात्मक अध्ययन किया जावे।”

“श्री ह्वीलर की अन्तिम टिप्पणी से यह स्पष्ट है कि इन मूर्तियों को उत्तरकालीन कहना उतना ही कठिन है, जितना कि इन्हें ईसापूर्व तीसरी सहस्राब्दी का न कहना। इस तरह दोनों पक्षों की युक्तियाँ समकक्ष हैं।

आइये, अब हम इन मूर्तियों के स्वाश्रित (Subjective) और पराश्रित (Objective) महत्त्व की जाँच करें। इसके स्वाश्रित महत्त्व का अध्ययन तो हम पहले ही कर चुके हैं। यह एक सीधे खड़े हुए नग्न देवता की प्रतिमा है, जिसके कन्धे पीछे को ढले हुए हैं और इसके साफ-सुथरे रचे अवयव ऐसा व्यक्त करते हैं कि इस ढले पिण्ड के भीतर चेतना एक सुव्यवस्थित और सुसंयत क्रम से काम कर रही है। जननेन्द्रिय की स्थिति संयमभाव को इस तरह प्रदर्शित कर रही है कि इन्द्रियविजयी ‘जिन’ की अवधारणा का अनायास ही आभास हो जाता है। इसके मुकाबले में मोहेन-

जोदड़ो की ईसापूर्व तीसरी सहस्राब्दी की उस उत्कीर्ण मुहर का अध्ययन किया जा सकता है, जिस पर गैंडा, भैंसा, सिंह, चीता, हाथी आदि पशुओं, पक्षियों और मनुष्यों के बीच में ध्यानस्थ बैठे हुए रुद्र-पशुपति-महादेव की मूर्ति रचनात्मक स्फूर्ति की ऊर्ध्वमुखी प्रेरणा को व्यक्त करती हुई ऊर्ध्व-रेतस्-मुद्रा में अंकित है। मोहेन-जो-दड़ो की मुहर पर अंकित देवता के स्वरूप की व्याख्या ऋग्वेद की निम्न ऋचाओं से पूर्णतया होती है-

ब्रह्मा देवानां पदवीः कवीनामृषिर्विप्राणां महिषो मृगाणाम्।

श्येनो गृध्राणां स्वधितिर्वनानां सोमः पवित्रमत्येति रेभन् ॥ ९/९/६६ ॥

अनुवाद—“देवताओं में ब्रह्मा, कवियों में नेता, विप्रों में ऋषि, पशुओं में भैंसा, पक्षियों में बाज, शस्त्रों में कुल्हाड़ा, सोम पवित्र (छलनी) में से गाता हुआ जाता है।”

त्रिधा बद्धो वृषभो रोरवीति महोदेवो मर्त्यानाविवेश ॥ ४/५८/३ ॥^{२४}

अनुवाद—“मन-वचन-काय तीनों योगों से संयत वृषभ ने घोषणा की कि महादेव मर्त्यों में आवास करता है।”

“रुद्रः पशूनामधिपतिः।”

अनुवाद—“रुद्र पशुओं का अधिपति अर्थात् अधिनायक व प्रेरक है।”

“मोहेन-जो-दड़ो वाली मुहर के उपर्युक्त ऋग्वेदीय विवरण के प्रकाश में इस विचारणीय नग्न मूर्ति की ऋग्वेद के माध्यम से पहचान करना आसान होगा।

“इस निबन्ध का लेखक जब मई, जून, जुलाई १९५६ के महीनों में एक पुरातात्विक गवेषणादल को अफगानिस्तान ले जा रहा था, तो उसे यूअनच्चांग (६००-६५४ ई० सन्) के उन यात्रावृत्तान्तों की सचाई की जाँच करने के लिए अनेक अवसर प्राप्त हुए, जो अफगानिस्तान तथा अन्यस्थान-सम्बन्धी विविध वैज्ञानिक और मानवीय उपयोग की बातों से भरपूर हैं। उसने होसिना, गजनी व गजना, हजारा व होसल के जो विवरण दिये हैं, ये बड़े ही महत्त्व के हैं। वह कहता है कि वहाँ बहुत से बुद्धेतर तीर्थिक हैं जो ‘क्षुन’ देव की पूजा करते हैं। जो कोई उस नग्न देवता की श्रद्धा से आराधना

२४. “यजुर्वेद के पुरुष सूक्त ३१-१७ में कहा गया है कि ‘तन्मर्त्यस्य देवत्वमजानमग्ने’ अर्थात् उस आदिपुरुष वृषभ ने सबसे पहिले मर्त्यदशा में देवत्व की प्राप्ति की। स्वयं देवत्व की प्राप्ति करके ही उसने घोषणा की थी कि महादेवत्व मर्त्यों में ही आवास करता है। मर्त्यों से बाहर कहीं और देवत्व की कल्पना करना व्यर्थ है। इन्ही श्रुतियों के आधार पर ईशा० उप० में कहा गया है—‘ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत्’ अर्थात् जगत् में जितने भी जीव हैं, वे सब ईश्वर के आवास हैं।” अनुवादक।

करते हैं, उनकी अभिलाषाएँ पूरी हो जाती हैं। दूर और निकटवर्ती सभी स्थानों के जन उनके प्रति बहुत अधिक भक्ति का प्रदर्शन करते हैं। छोटे और बड़े सभी समानरूप से उसका दर्शन पाकर धार्मिक उत्साह से भर जाते हैं। वे तीर्थिक अपने मन, वचन और काय का संयम करके स्वर्गीय आत्माओं से उन पवित्र मन्त्रों का लाभ करते हैं, जिनके द्वारा वे आधि-व्याधियों की रोकथाम और रोगियों की चिकित्सा करते हैं। क्षुनदेव (शुन अथवा शिशुनदेव) संभवतः वे तीर्थिकर अथवा उनके अनुयायी थे, जिन्होंने अहिंसा-सन्देश के लिए सुविख्यात जैनधर्म के सिद्धान्तों को प्रकाशित किया।

“यूअनच्चांग के यात्रावृत्तान्त अफगानिस्तान तक में जैनधर्म के प्रसार की साक्षी देते हैं। बुद्ध भगवान् की जीवनचर्या के अध्ययन से पता लगता है कि उनके विरोधी छह महान् तीर्थिक थे : पूर्णकश्यप, अजितकेश, गोशाल, कात्यायन, निर्ग्रन्थ-नाथपुत्र और संजय। उक्त तालिका में गोशाल आजीविकपन्थ का प्रवर्तक गोशाल है और निर्ग्रन्थ-नाथपुत्र २४ वें जैनतीर्थिक महावीर का नाम है। इस प्रकार यूअनच्चांग के दिये हुए ‘क्षुनदेव’ के वृत्तान्त से स्पष्ट है कि वह संभवतः नग्न जैन तीर्थिकर की ओर ही संकेत कर रहा है। तीर्थिक शब्द भी तीर्थिकर का ही द्योतक है। अफगानिस्तान में जैनधर्म के प्रसार की बात निःसन्देह एक नई खोज है। ‘क्षुन’ शब्द (संभवतः ‘शुन’, ‘शिन’) ‘शिशुनदेव’ का ही रूपान्तर है। जब हम ऋग्वेद के काल की ओर देखते हैं तो हमें पता लगता है कि ऋग्वेद दो सूक्तों में ‘शिशुन’ शब्द द्वारा नग्न देवताओं की ओर संकेत करता है। इन सूक्तों में शिशुनदेवों से अर्थात् नग्नदेवों से यज्ञों की सुरक्षा के लिए इन्द्र का आह्वान किया गया है—

न यातव इन्द्र जूजुबुनों न वन्दना शविष्ठ वेद्याभिः।

स शर्धदर्यो विषुणास्य जन्तोर्मा शिशुनदेवा अपि गुर्हंतं नः ॥ ७/२१/५ ॥

अनुवाद—“हे इन्द्र! हे शक्तिमान् देव! न तो दुष्टात्माओं ने हमें अपने कुचक्रों से प्रेरित किया है, न राक्षसों ने। हमारा सच्चा देव हमारे शत्रुओं को वश में करे। शिशुनदेव हमारे पवित्र यज्ञ के समीप न आवें।”

स वाजं यातापदुष्यदा यन्त्स्वर्षाता परि षदत्सनिष्यन्।

अनर्वा यच्छतदुरस्य वेदो ञ्जिश्नदेवाँ अधि वर्षसा भूत् ॥ १०/१९/३ ॥

अनुवाद—“वह (इन्द्र) अत्यन्त शुभ मार्ग से युद्ध के लिए जाता है। उसने स्वर्ग के प्रकाश को जीतने के लिए कठिन परिश्रम किया, उसे पाने को वह बहुत उत्सुक था। उसने चालाकी से शिशुनदेवों को मारकर शतद्वारोंवाले दुर्ग की निधि पर अधिकार कर लिया।”

श्री मेकडॉनल अपनी पुस्तक VEDIC MYTHOLOGY के पृष्ठ १५५ पर कहते हैं कि शिशुदेव की पूजा ऋग्वेद के धार्मिक विचारों के विरुद्ध रही होगी, क्योंकि इन्द्र से प्रार्थना की गई है कि वह शिशुदेवों को यज्ञों के पास फटकने न दे। ऋग्वेद में यह भी कहा गया है कि इन्द्र ने जब चोरी से शतद्वारोंवाले दुर्ग में निधिकोषों को देखा, तब उसने शिशुदेवों का वध कर दिया और उन पर कब्जा कर लिया।

“ये दोनों ऋचाएँ हमारे सामने इस सचाई को व्यक्त कर देती हैं कि हड़प्पा की नग्नमूर्ति में हम सम्भवतः जैनतीर्थंकर के उस विशिष्ट कायोत्सर्गमुद्रा में दर्शन कर रहे हैं, जो आगे चलकर श्रवणबेलगोल, कारकल, वेणूर आदि की जिन प्रतिमाओं में अमर बना दी गयी।

“किसी को आश्चर्य हो सकता है कि उत्तरकालीन तीर्थंकर-प्रतिमाओं में जैसी कायोत्सर्गमुद्रा निर्मित हुई है, वैसी क्या मोहेन-जो-दड़ो और हड़प्पा के काल (तीन हजार वर्ष ईसापूर्व) में बनायी जा सकती थी? निश्चितरूप से बनायी जा सकती थी, क्योंकि जैनों के मूलसिद्धान्त ‘अहिंसा’ की सिद्धि के लिए आवश्यक पूर्ण नग्नता का अवलम्बन और बाह्यपदार्थों से रागद्वेष का परित्याग ऐसी ही मुद्रा की ओर ले जा सकते हैं। यही वह मुद्रा है जिसे हम हड़प्पा की उपर्युक्त प्रतिमा में पाते हैं। इस प्रकार उपर्युक्त विचारधारा अतिप्राचीनकाल से अविच्छिन्नरूप में चली आ रही है। इस मूर्ति में एक भी ऐसी शैल्युक्त विशेषता नहीं है जो हमारी उक्त धारणा को संदिग्ध बना सके, या हमें भ्रान्त कर सके। इसके अतिरिक्त इस मूर्ति की नग्नमुद्रा वेदोक्त महादेव-रुद्र-पशुपति की उस ऊर्ध्वरेतस्-मुद्रा से, जो मोहेन-जो-दड़ो की मुहर पर अंकित है, बिलकुल भिन्न है।^{२५}

“ऋषभदेव नग्न अवस्था में रहते थे, यह एक निर्विवाद लोकप्रसिद्ध सत्य है, क्योंकि पूर्ण नग्नता मानसिक पवित्रता के लिए अनिवार्य होने के कारण जैनधर्म का मूल सिद्धान्त है। इसलिये यह मूर्ति, जिसका विवरण ऊपर दिया गया है, प्राचीनतम जैन संस्कृति का एक सुन्दर गौरवपूर्ण प्रतीक है।”^{२६}

डॉ० काशीप्रसाद जायसवाल ने भी हड़प्पा से प्राप्त उपर्युक्त प्रतिमा को तीर्थंकर ऋषभदेव की प्रतिमा माना है। उनका मत है कि पटना के पास लोहानीपुर से प्राप्त तीर्थंकर महावीर की मूर्ति भारत की सबसे प्राचीन मूर्ति है। हड़प्पा की नग्न मूर्ति और इस जैन मूर्ति में समानता है। इनकी विशेषता है योग मुद्रा।^{२७}

२५. देखिए , Cambridge History of India, 1953, plate XXIII.

२६. देखिए , मूल लेख (अंग्रेजी भाषा में) इसी अध्याय के अन्त में ‘विस्तृत सन्दर्भ’ के अन्तर्गत।

२७. ‘द इंडस वैली सिविलिजेशन एण्ड ऋषभदेव’: वी० जी० नैयर/ पृ. १ (‘मुनि श्री प्रमाणसागर : जैनधर्म और दर्शन’/ पृ. ३६ से उद्धृत)।

डॉ० हीरालाल जैन लिखते हैं—“जहाँ तक मूर्तिनिर्माण, आकृति व भावाभिव्यंजन के आधार पर तुलनात्मक अध्ययन किया जा सकता है, उस पर से लोहानीपुर की मस्तकहीन नग्न मूर्ति व हड़प्पा से प्राप्त मस्तकहीन नग्न मूर्ति में बड़ा साम्य पाया जाता है और पूर्वोत्तर परम्परा के आधार से हड़प्पा की मूर्ति वैदिक व बौद्ध मूर्ति-प्रणाली से सर्वथा विसदृश व जैनप्रणाली के पूर्णतया अनुकूल सिद्ध होती है।”^{२८}

डॉ० यू० पी० शाह का कथन है कि हड़प्पा में उपलब्ध मस्तकविहीन प्रतिमा यद्यपि लोहानीपुर-जिनप्रतिमा से आश्चर्यजनक साम्य रखती है, तथापि उसमें दोनों कन्धों के सामने दो गोलाकार बड़े छिद्र हैं, जो अभी तक उपलब्ध किसी भी जिनप्रतिमा में नहीं हैं। अतः संभव है कि वह किसी प्राचीन यक्ष की प्रतिमा हो।^{२९}

किन्तु कन्धों के सामने गोलाकार छिद्रों का होना प्राचीन यक्षप्रतिमा का लक्षण है, इसका कोई प्रमाण नहीं है। डॉ० शाह ने उक्त प्रतिमा का लोहानीपुर की जिनप्रतिमा से आश्चर्यजनक साम्य तो स्वीकार किया है, किन्तु ऐसी किसी प्राचीन यक्षप्रतिमा का उदाहरण नहीं दिया, जिसके साथ उसका वैसा ही साम्य हो। अतः स्पष्ट है कि उन्होंने बिना किसी प्रमाण के ही उसके यक्षप्रतिमा होने की संभावना व्यक्त की है।

यह ध्यान देने योग्य है कि उक्त प्रतिमा के कण्ठप्रदेश में भी गोलाकार बृहद् छिद्र है। इससे ज्ञात होता है कि यह हड़प्पायुग में प्रतिमानिर्माण की एक शैली थी। अर्थात् कण्ठभाग और कन्धों में छिद्र बनाकर उनमें अलग से मस्तक और हाथ जोड़े जाते थे। उक्त प्रतिमा के कन्धे टूटे नहीं हैं, अपितु अखण्ड हैं, इससे भी इस तथ्य की पुष्टि होती है कि हाथ उससे टूटकर अलग नहीं हुए हैं, अपितु उसमें बने हुए छिद्रों में या तो फँसाये नहीं गये हैं, या उनसे निकलकर अलग हो गये हैं। अतः प्रतिमा में उक्त छिद्रों का होना उसके जिनप्रतिमा होने में बाधक नहीं है।

इसके अतिरिक्त प्रतिमा में दो ही भुजाओं के लिए स्थान होना, अधिक के लिए न होना तथा शरीर का सर्वथा नग्न होना, कहीं भी वस्त्र, आभूषण या शस्त्रादि का कोई चिह्न न होना भी इस बात का सूचक है कि वह सर्वपरिग्रह-मुक्त वीतराग योगी की प्रतिमा है, किसी संसारी मनुष्य या विषयसुखासक्त देवयोनि के जीव की नहीं।

२८. भारतीय संस्कृति में जैनधर्म का योगदान / पृ. ३४२।

२९. “The mutilated red-Stone Statuette from Harappa assigned to the chalcolithic age is surprisingly analogous in style to the Mauryan torso of Jin figure from Lohanipur, Bihar, but has in addition two large circular depression on shoulder-fronts unlike any Jaina sculpture discovered hitherto. Very probably it represents some ancient yaksha.” Dr. U.P. Shah : Studies in Jaina Art, p.4, also see p.41.

यह संभव है कि यक्षपूजा सिन्धुसम्यता-जितनी प्राचीन हो, किन्तु लोहानीपुर-जिनप्रतिमा से अत्यन्त साम्य रखने वाली उक्त प्रतिमा यक्ष की है, यह सिद्ध नहीं होता। जिनप्रतिमा से साम्य रखने के कारण वह जिनप्रतिमा होने की ही गवाही देती है।

इस प्रकार मोहेन-जो-दड़ो और हड़प्पा से प्राप्त कायोत्सर्ग-मुद्रामय नग्न जिन-प्रतिमाओं से प्रमाणित है कि सवस्त्रमुक्ति-निषेधक निर्ग्रन्थ (दिगम्बरजैन) परम्परा ईसा से ३००० वर्ष पहले विद्यमान थी।

३

कलिंग-जिनप्रतिमा

ईसा से १७० वर्ष पूर्व^{३०} कलिंग (उड़ीसा) में महामेघवाहन खारवेल नामक जैन राजा हुआ था। उसने खण्डगिरि-उदयगिरि (कुमरगिरि और कुमारीगिरि) नामक पहाड़ियों पर मुनियों की ध्यान-साधना के लिए अनेक गुफाएँ बनवाई थीं। उनमें से हाथीगुम्फा नामक गुफा में राजा खारवेल का एक शिलालेख है, जिसमें लिखा है कि उसने मगध पर आक्रमण कर वहाँ के राजा बृहस्पतिमित्र (पुष्यमित्र)^{३१} से अपने पैरों की वन्दना करवाई और कलिंगजिन (भगवान्-ऋषभदेव) की उस प्रतिमा को वापिस ले आया, जिसे नन्दराज (नन्दिवर्द्धन)^{३२} उठाकर ले गया था। लेख का वह अंश इस प्रकार है—

“मागधानां च विपुलं भयं जनेतो हथी सुगंगीय पाययति। मागधं च राजानं बहस-तिमितं च पादे वंदायति। नंदराजनीतं च कलिंगजिनं संनिवेशं --- गहरतनानि पडिहारेहिं अंगमागधवसुं च नेयाति।”^{३३}

संस्कृत छाया—“मागधानां च विपुलं भयं जनयन् हस्तिनः सुगाङ्गेयं प्रापयति। मागधं च राजानं बृहस्पतिमित्रं पादौ वन्दयति। नन्दराजनीतं च कलिङ्गजिनसन्निवेशं ---गृहरत्नानि प्रतिहारैः अंगमागधवसूनि च नाययति।”

३०. श्री काशीप्रसाद जायसवाल : श्रीखारवेल-प्रशस्ति और जैनधर्म की प्राचीनता ('अनेकान्त' / वर्ष १ / किरण ४ / वी.नि.सं. २४५६ / पृ. २४२)।

३१. श्री काशीप्रसाद जायसवाल के अनुसार बृहस्पतिमित्र संभवतः पुष्यमित्र के आठ बेटों में से था और मगध का प्रान्तीय शासक था। (वही / पृ. २४२)।

३२. वही / पृ. २४२।

३३. चन्द्रकान्तबाली शास्त्री : खारवेल प्रशस्ति : पुनर्मूल्यांकन / पृ. १४।

अनुवाद—“खारवेल ने मगधवासियों को अत्यन्त भयभीत करते हुए हाथियों को सुगांगेय (प्रासाद) पर पहुँचाया और मगध के राजा बृहस्पतिमित्र से अपने पैरों की वन्दना करायी तथा नन्दराज द्वारा ले जायी गयी कलिंग-जिन की प्रतिमा एवं गृहरत्न आदि अंग-मगध के धन को ले आया।”

यह नन्दराज नन्दवंश का द्वितीय सम्राट् था। इसकी ऐतिहासिक तिथि पर प्रकाश डालते हुए डॉ० ज्योतिप्रसाद जी जैन लिखते हैं—

“महावीर संवत् ६० (ई० पू० ४६७) में मगध में एक नये वंश का प्रारंभ हुआ, जिसे नन्दवंश कहते हैं और जो लगभग १५० या १५५ वर्ष पर्यन्त सत्तारूढ़ रहा। --- इस नवीन वंश के प्रथम सम्राट् का नाम भिन्न-भिन्न अनुश्रुतियों में शिशुनाग, काकवर्ण, कालाशोक, नन्दिवर्धन, अवन्तिवर्धन, ब्रात्यनन्दी, महानन्दी आदि मिलता है, जिसमें कई एक विभिन्न नामों का समीकरण कर दिया गया प्रतीत होता है। ऐसा लगता है कि उसका नाम ब्रात्यनन्दी शिशुनाग था और वह पूर्व नरेश का पुत्र आदि न होकर कोई दूर का सम्बन्धी था, किन्तु था मूल शैशुनाग वंश से ही सम्बन्धित। डॉ० काशीप्रसाद जायसवाल को पटना के निकट उसकी एक मूर्ति भी मिली थी, जिस पर उन्होंने ‘वात्ता’ या ‘ब्रात्यनन्दी’ शब्द पढ़ा था। यह नाम उसके ब्रात्यक्षत्रिय होने का समर्थक है और शिशुनाग नाम श्रेणिक के वंश से उसके सम्बन्धित होने का। न्याय्य उत्तराधिकारी न होने से नन्दी नाम वंशपरिवर्तन का सूचक हुआ। वह और उसके वंशज पूर्व-नन्दों के नाम से भी प्रसिद्ध हैं। उसने १८ वर्ष पर्यन्त (ई० पू० ४४९ तक) राज्य किया प्रतीत होता है। मगध साम्राज्य की एकता, विस्तार एवं शक्ति उसके समय में पूर्ववत् बनी रही।

“इसका उत्तराधिकारी नन्दिवर्धन काकवर्ण कालाशोक था। ई० पू० ४४९-४०७ तक ४२ वर्ष उसने राज्य किया। वह इस वंश का सर्वमहान् और प्रतापी नरेश था। महावीर संवत् १०३ (ई० पू० ४२४) में उसने कलिंग की विजय की थी और उस राष्ट्र के इष्टदेवता कलिंग-जिन (या अग्रजिन, अर्थात् तीर्थंकर ऋषभदेव) की मूर्ति को वह वहाँ से उठा लाया था और उसे उसने अपनी राजधानी में स्थापित किया था। खारवेल के हाथीगुफा-शिलालेख से यह तथ्य प्रकट है। ---

“उसके उपरान्त उसका पुत्र महानन्दिन् राजा हुआ, जिसने लगभग ४० वर्ष राज्य किया। यह भी अपने पिता के समान शक्तिशाली एवं प्रतापी नरेश था। --- महानन्दिन् के उपरान्त मगध में फिर एक घरेलू राज्यक्रान्ति हुई। --- इस परिस्थिति का लाभ उठाकर एक साहसी एवं चतुर युवक महापद्म ने राज्य-सिंहासन हस्तगत कर लिया। उसके अन्य नाम सर्वार्थसिद्धि और उग्रसेन (यूनानी लेखकों का एग्रेमेज)

मिलते हैं। कुछ लोग भ्रम से उसे धनानन्द या घनानन्द भी कह देते हैं, किन्तु यह नाम उसका नहीं वरन् उसके ज्येष्ठ पुत्र युवराज हिरण्यगुप्त या हरिगुप्त का अपरनाम रहा प्रतीत होता है। --- इसका वंश उत्तरनन्द या नवनन्द-वंश कहलाता है। उसके आठ पुत्र थे और क्योंकि अपने अन्तिम वर्षों में उसने राज्यकार्य अपने उन धनानन्द आदि पुत्रों को ही सौंप दिया था, इस कारण भी इस वंश के लिए नवनन्द नाम प्रयुक्त होता है। --- ई० पू० ३६३ में महापद्म ने राज्य हस्तगत किया था और लगभग ३४ वर्ष राज्य करने के उपरान्त ई० पू० ३२९ में उसने राज्य कार्य से प्रायः अवकाश ले लिया था और राज्यकार्य अपने धनानन्द आदि आठ पुत्रों को संयुक्तरूप में सौंप दिया था, किन्तु सर्वकार्य उसके ही नाम से चलता था। बारह वर्ष पर्यन्त यह व्यवस्था चालू रही, अन्त में ई० पू० ३१७ के लगभग चाणक्य एवं चन्द्रगुप्त के कौशल से नन्दवंश का पतन हुआ और मौर्यवंश की स्थापना हुई।” (भारतीय इतिहास एक दृष्टि/ पृ.६२-६५)।

इस प्रकार नंदराज या नन्दिवर्धन ने कलिंग-जिनप्रतिमा का अपहरण ई० पू० ४२४ में किया था, जिससे सिद्ध होता है कि उसका निर्माण ‘कलिंगजिन’ नाम से प्रसिद्ध होने के लिए कम से कम ५० वर्ष पूर्व अर्थात् ४७५ ई० पू० में तो हुआ ही होगा। और उसके दिगम्बर-प्रतिमा होने में भी कोई सन्देह नहीं किया जा सकता, क्योंकि उसका निर्माण चन्द्रगुप्त मौर्य के अस्तित्वकाल से काफी पहले हुआ था, जब कि श्वेताम्बर-शैली की प्राचीन जिनप्रतिमाओं (जो न नग्न होती थीं, न सवस्त्र) का निर्माण श्वेताम्बर-साहित्य के अनुसार सर्वप्रथम सम्राट् सम्प्रति (ई० पू० २२३-२१५) ने कराया था^{३४} जो चन्द्रगुप्त मौर्य के पौत्र अशोक का पौत्र था। सम्प्रति के विषय में आचार्य हेमचन्द्र ने कहा है कि उसने सारे जम्बूद्वीप में जैनमन्दिर बनवाये थे।^{३५} वृहत्कल्पभाष्य में भी यही कहा गया है।^{३६}

इसके अतिरिक्त खण्डगिरि-उदयगिरि, परम्परा से दिगम्बरजैनों का ही तीर्थक्षेत्र रहा है और उसमें १२ वीं शताब्दी ई० तक नग्न जिनप्रतिमाओं का ही निर्माण होता आया है। गुफाओं की दीवारों पर पद्मासन और कायोत्सर्ग दोनों मुद्राओं में नग्न जिनबिम्ब ही उत्कीर्ण हैं, जब कि नग्नत्वरहित (पुरुषचिहरहित) अथवा देवदूष्ययुक्त या

३४. देखिए , इसी अध्याय का प्रकरण १ / शीर्षक २ / प्रवचनशरीक्षा / गाथा ६९।

३५. चिमनलाल जैचंद शाह : उत्तरभारत में जैनधर्म / पृष्ठ १२५।

३६. “The Mauryan ruler Samprati is hailed by traditions as a great patron of the Jainas and builder of numerous (Jaina) temples. No archaeological evidence is however available to day.” *Bṛhat-kalpa-Bhāṣya*, Vol. III, gāthās 3285-89, pp. 917-21. (Dr. U.P. Shah : Studies in Jaina Art, p.6).

अंचलिकायुक्त जिनप्रतिमा के कहीं दर्शन नहीं होते, न ही ऐसी कोई जिनप्रतिमा वहाँ है, जो न नग्न हो, न सवस्त्र। यह इस बात का प्रमाण है कि खण्डगिरि-उदयगिरि आरम्भ से ही दिगम्बर-परम्परा का तीर्थक्षेत्र रहा है, अत एव कलिंग-जिन-प्रतिमा का भी दिगम्बर-प्रतिमा होना सुनिश्चित है।

इसकी पुष्टि अन्य प्रमाणों से भी होती है। उनका संकेत ७५ वर्ष पूर्व लिखे गये लेख में बाबू छोटेलाल जी जैन ने किया है। वे लिखते हैं—“इस २१०० वर्ष के प्राचीन जैन शिलालेख से स्पष्ट पता चलता है कि मगधाधिपति पुष्यमित्र के पूर्वाधिकारी राजा नन्द श्रीऋषभदेव की प्रतिमा कलिंगदेश से मगध ले गये थे और वह प्रतिमा खारवेल ने नन्दराजा के ३०० वर्ष बाद पुष्यमित्र से प्राप्त की। जब एक पूज्य वस्तु ३०० वर्षों से जिस राजघराने में सावधानी से रखी हुई चली आई है, तो अवश्य ही मगध के नन्द राजागण उसे पूजते थे। यदि और कोई वस्तु होती, तो इतने दीर्घकाल में अवश्य ही किसी न किसी तरह विलीन हो जाती। ‘मुद्राराक्षस’ नाटक में भी यह उल्लेख है कि नन्दराज और उसके मन्त्री ‘राक्षस’ को विश्वास में फाँसने के लिए एक दूत को क्षपणक बनाकर चाणक्य ने भेजा था। कोषग्रन्थों में ‘क्षपणक’ का अर्थ दिगम्बरजैन साधु है तथा ‘महाभारत’ में भी ‘नग्नक्षपणक’ का व्यवहार हुआ है। इससे नन्दराजा जैन थे और वह प्रतिमा (श्री आदिनाथ की) भी अवश्य दिगम्बर थी।”^{३७}

४

लोहानीपुर-जिनप्रतिमा

पटना (बिहार) के लोहानीपुर मुहल्ले से प्राप्त जिनप्रतिमा भी अत्यन्त प्राचीन है। यह भी मस्तकविहीन है और बिलकुल वैसी ही है, जैसी हड़प्पा से प्राप्त जिनप्रतिमा है। (देखिये, इसी अध्याय के अन्त में विस्तृत सन्दर्भ) इसकी प्राचीनता पर प्रकाश डालते हुए सुप्रसिद्ध पुरातत्त्वविद् एवं इतिहासकार डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल लिखते हैं—

“सिन्धुघाटी में दो नग्न मूर्तियाँ मिली हैं। इनमें से एक कायोत्सर्गमुद्रा में स्थित पुरुषमूर्ति है। दूसरी को भी अब तक पुरुषमूर्ति कहा जाता है, किन्तु ध्यान से देखने पर ज्ञात होता है कि वह नृत्यमुद्रा में स्त्रीमूर्ति है। अभी पहली मूर्ति की पहचान किस प्रकार की जाय यह महत्त्वपूर्ण प्रश्न बना ही रहता है। --- किन्तु जैन और कुछ जैनैतर विद्वान् भी पुरुषमूर्ति की नग्नता और कायोत्सर्गमुद्रा के आधार पर इसे ऐसी प्रतिमा समझते हैं, जिसका सम्बन्ध किसी तीर्थकर से रहा है। किन्तु सिन्धु-

३७. ‘महाराज खारवेल’/ ‘अनेकान्त’/ वर्ष १/ किरण ५/ चैत्र, वीर नि.सं.२४५६, पृ. २८६।

लिपि पढ़े बिना इस विषय में निश्चय से कुछ कहना कठिन है। किन्तु एक दूसरा प्रमाण, जो सन्देहरहित है, सामने आ जाता है। वह पटना के लोहानीपुर मुहल्ले से प्राप्त एक नग्न कायोत्सर्ग-मूर्ति है। उस पर मौर्यकालीन ओप या चमक है। और श्री काशीप्रसाद जायसवाल से लेकर आज तक के सभी विद्वानों ने उसे तीर्थकर-प्रतिमा ही माना है, उस दिशा में वह मूर्ति अब तक की उपलब्ध सभी बौद्ध तथा ब्राह्मणधर्म-सम्बन्धी मूर्तियों से प्राचीन ठहरती है। कलिंगाधिपति खारवेल के हाथी-गुम्फा-शिलालेख से भी ज्ञात होता है कि कुमारी-पर्वत पर जिनप्रतिमा का पूजन होता था। इन संकेतों से इंगित होता है कि जैनधर्म की यह ऐतिहासिक परम्परा और अनुश्रुति अत्यन्त प्राचीन थी।^{३८}

डॉ० यू० पी० शाह ने भी लोहानीपुर-जिनप्रतिमा की प्राचीनता पर निम्नलिखित शब्दों में प्रकाश डाला है—

“That the Jina-Image was in worship in the Mauryan Age is evidenced by the find of the highly polished torso of a Jina Image from Lohānipur near Patnā and this further lends support to the view that an image of Mahāvira was carved in his life-time.---

“Jayaswal's discovery of a Mauryan torso of a Jina figure from Lohānipur (fig.2)³⁹ proves on the one hand the authenticity of Jaina traditions on image worship and on the other hand the existence in Magadhā of an earlier model for Jina images of early Christian centuries.----

“The Jina image definitely preceded the Buddha image as a cult-object.

“Lohānipur is a continuation of the Mauryan sites at Kumrahar and Bulandibāg near Patnā. Along with this highly polished torso were revealed from the foundations of a square temple (8'10" x 8'10") a large quantity of Mauryan bricks, a worn silver punch-marked coin and another unpolished later torso of a Jina in the kāyotsarga pose. Evidently, both the torsos represented some Tirthankaras and the foundations are the earliest known site of a Jaina temple. A mutilated head of the Mauryan period, discovered by Banerji-Shastri from the same site probably belonged to another Jaina sculpture.⁴⁰ ---

३८. प्राक्कथन, पृ. १०/ जैन साहित्य का इतिहास / पूर्वपीठिका / पं० कैलाशचन्द्र शास्त्री ।

39. Journal of Bihar and Orissa Research Society, XXIII. i.,pl.i-iv. The second torso probably belongs to the Gupta period according to Banerji-Shastri in a subsequent issue of the same Journal (vide Vol. XXVI. 2. 120 ff.)

40. Banerji-Shastri, Mauryan Sculptures from Lohānipur Patnā, Journal of the Bihar and Orissa Research Society, XXVI. 2. 120 ff.

“Of the Mauryan age, no other Jaina relic is known ⁴¹ except a group of caves in Barābara and Nāgārjuni hills ⁴² Bihār, dedicated by Aśoka and Daśaratha for the use of Ājivika sect whose leader, Mañkhaliputta Gosāla, was once a disciple and later a great rival of Mahāvīra. The Mauryan ruler Samprati is hailed by traditions as a great patron of the Jainas and builder of numerous (Jaina) temples.⁴³ No archaeological evidence is however available today.” (Studies In Jaina Art, pp.5-6).

इस प्रकार इन पुरातत्त्वविदों के अनुसार लोहानीपुर की जिनप्रतिमा मौर्यकालीन है। डॉ० काशीप्रसाद जी जायसवाल ने भी उसे ईसा से ३०० वर्ष पूर्व का अर्थात् मौर्ययुगीन ही माना है। इसका उल्लेख करते हुए डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल लिखते हैं—“१४ फरवरी १९३७ को पटना जंक्शन स्टेशन से एक मील की दूरी पर लोहियापुर से पृथ्वी खोदते समय जो ढाई फुट ऊँचा नग्न मूर्तिखण्ड मिला है और आजकल पटना अजायबघर में रक्खा हुआ है, वह डॉ० काशीप्रसाद जायसवाल के मतानुसार उपलब्ध जैनमूर्तियों में प्राचीनतम जैनमूर्ति है और ईसा से लगभग ३०० वर्ष पूर्व पुरानी है। डॉ० जायसवाल का उपर्युक्त मत २० फरवरी १९३७ वाले ‘सर्चलाइट’ में प्रकाशित और ‘जैन ऐंटिक्वेरी’ जून १९३७ में उद्धृत हुआ है।”^{४४}

यह कायोत्सर्ग-मुद्रामय नग्न जिनप्रतिमा इस बात की गवाही देती है कि दिगम्बर जैन-परम्परा ईसा के तीन सौ वर्ष पूर्व विद्यमान थी।

५

कांस्य जिनप्रतिमा

मुम्बई के प्रिंस आफ वेल्स संग्रहालय में भगवान् पार्श्वनाथ की एक बहुत पुरानी कांस्य प्रतिमा सुरक्षित है। प्रतिमा नग्न और कायोत्सर्ग मुद्रा में है। इसका पादपीठ नष्ट हो गया है और यह कहाँ से प्राप्त हुई है, इसका उल्लेख वहाँ उपलब्ध नहीं है। प्रतिमा का दाहिना हाथ और नागफण खंडित है, किन्तु नाग के शरीर के मोड़

41. A fragmentary inscription found by Mahāmahopādhyāya G.H. Oza, from Bārli (Ajmer District) refers to majjhamikā (Mādhyamikā), modern Nagarī near Chitor, and the year 84 of Mahāvīra's nirvāṇa. See Indian Antiquary, LVIII . 229. But the reading Virāt or Vīrāya is disputable, see, Sarkar, D.C., Bārli Fragmentary Stone Inscription, JBORS. Vol. 37, March 1951.

42. Kuraishi, List of Ancient Monuments protected under Act VII of 1904 in the Bihar and Orissa Provinces (1938), 33 ff.

43. Br̥hat-Kalpa-Bhāṣya, Vol. III, gāthās 3285-89, pp. 917-21.

४४. सम्पादकीय टिप्पणी / भारतीय संस्कृति, पुरातत्त्व और इतिहास विभाग / प्रेमी अभिनन्दन ग्रन्थ / पृ. २७९।

पृष्ठ भाग में पैरों से लगाकर ऊपर तक स्पष्ट दिखाई देते हैं। इसकी आकृति लोहानीपुर और हड़प्पा की मस्तकहीन कायोत्सर्ग-प्रतिमाओं से बहुत साम्य रखती है। विद्वानों का मत है कि यह मूर्ति मौर्यकालीन होनी चाहिए और वह ईसापूर्व प्रथम शताब्दी से बाद की तो हो ही नहीं सकती।^{४५}

६

मथुरा-जिनप्रतिमाएँ

मथुरा के देवनिर्मित स्तूप अर्थात् कंकालीटीले की खुदाई से उपलब्ध कुषाणकालीन जिनप्रतिमाओं (प्रथम-द्वितीय शती ई०) का विवरण पूर्व (प्रकरण १/शी.४-८) में दिया जा चुका है। वहाँ से जितनी भी जिनप्रतिमाएँ मिली हैं, वे सब नग्न हैं। अतः वे नग्नत्व-विरोधी श्वेताम्बर-सम्प्रदाय द्वारा प्रतिष्ठापित तो हैं ही नहीं, यह निर्विवाद है। वे दिगम्बर और अर्धफालक सम्प्रदायों द्वारा पृथक्-पृथक् रूप से प्रतिष्ठापित की गई थीं। जिन नग्न प्रतिमाओं के पादपीठ या आयागपट्ट में अर्धफालकधारी नग्न साधुओं की प्रतिकृतियाँ हैं, वे अर्धफालक-सम्प्रदाय द्वारा प्रतिष्ठापित की गई थीं और जिनमें उनका अभाव है, वे दिगम्बरसम्प्रदाय द्वारा प्रतिष्ठापित हुई थीं।

कोट्टिकगण आदि गण-गच्छों का उस समय दिगम्बरों में भी होना संभव है और अर्धफालक सम्प्रदाय में भी। डॉ० सागरमल जी ने अपने ग्रन्थ **जैनधर्म की ऐतिहासिक विकासयात्रा** में बतलाया है कि कल्पसूत्र की स्थविरावली में **गोदासगण** और उसकी **ताम्रलिप्तिका**, **कोटिवर्षीया**, **पौण्ड्रवर्धनिका** और **दासीकर्याटिका**, इन चार शाखाओं का उल्लेख है और कहा है कि इनका सम्बन्ध दक्षिणप्रस्थित श्रुतकेवली भद्रबाहु की अचेलक निर्ग्रन्थपरम्परा से था। (देखिये, अध्याय ६ / प्रकरण २ / शीर्षक २)। इससे कोट्टिकगण आदि का भी सम्बन्ध भद्रबाहु की अचेलक निर्ग्रन्थपरम्परा से मानना अयुक्तिमत् प्रतीत नहीं होता। अतः जिन प्रतिमाओं पर उनका उल्लेख है, वे दिगम्बर और अर्धफालक दोनों में से किसी भी सम्प्रदाय की हो सकती हैं। यह अवश्य है कि अर्धफालक-सम्प्रदाय आगे चलकर श्वेताम्बरों में विलीन हो गया।

यतः अर्धफालक-सम्प्रदाय दिगम्बर-सम्प्रदाय से ही उद्भूत हुआ था, और श्वेताम्बरों के विपरीत वह नग्न जिनप्रतिमाओं के निर्माण, प्रतिष्ठापन एवं दर्शन-पूजन को अनुचित नहीं मानता था, न ही इससे उसके किसी सिद्धान्त का विरोध होता था, अतः दिगम्बर-जिनप्रतिमाओं को भी उसने दिगम्बरों से ही अपनाया था। इसलिए

४५. क-Dr. U. P. Shah : Studies in Jain Art, pp.8-9.

ख-डॉ० हीरालाल जैन : भारतीय संस्कृति में जैनधर्म का योगदान/पृ.३५०-३५१।

अर्धफालक-सम्प्रदाय द्वारा प्रतिष्ठापित दिगम्बर-जिनप्रतिमाओं से भी सिद्ध होता है कि दिगम्बर-परम्परा कुषाणकाल (प्रथम शताब्दी ई०) से पूर्व विद्यमान थी।

७

गुप्तकालीन जिनप्रतिमाएँ

डॉ० हीरालाल जी जैन इस काल की प्रतिमाओं का परिचय देते हुए लिखते हैं—“यह युग ईसा की चौथी शती ई० से प्रारंभ होता है। इस युग की ३७ प्रतिमाओं का परिचय मथुरा-संग्रहालय की सूची में कराया गया है। --- गुप्तसम्राट् कुमारगुप्त प्रथम के काल में गुप्त सं० १०६ की बनी हुई विदिशा के समीप की उदयगिरि की गुफा में उत्कीर्ण वह पार्श्वनाथ की मूर्ति भी इस काल की मूर्तिकला के लिए ध्यान देने योग्य है। दुर्भाग्यतः मूर्ति खण्डित हो चुकी है, तथापि उसके ऊपर का नागफण अपने भयंकर दाँतों से बड़ा प्रभावशाली और अपने देव की रक्षा के लिए तत्पर दिखाई देता है। उत्तरप्रदेश के कहाऊँ नामक स्थान से प्राप्त गुप्त सं० १४१ के लेख-सहित वह स्तम्भ भी यहाँ उल्लेखनीय है, जिसमें पार्श्वनाथ की तथा अन्य चार तीर्थंकरों की प्रतिमाएँ उत्कीर्ण हैं। इसी काल की अनेक जैन प्रतिमाएँ ग्वालियर के पास के किले, बेसनगर, बूढ़ी चँदेरी व देवगढ़ आदि अनेक स्थानों से प्राप्त हुई हैं।”^{४६} ये सब जिनप्रतिमाएँ नग्न होने से दिगम्बर-सम्प्रदाय की हैं। अतः इनसे चतुर्थ शताब्दी ई० में भी दिगम्बर-परम्परा के अस्तित्व का बोध होता है।

८

बाहुबली की प्रतिमाएँ

बाहुबली की सभी प्रतिमाएँ कायोत्सर्ग मुद्रा में हैं और पूर्णतः नग्न हैं। उनका परिचय डॉ० हीरालाल जी जैन ने इस प्रकार दिया है—“बादामी की मूर्ति लगभग सातवीं शती में निर्मित साढ़े सात फुट ऊँची है। दूसरी प्रतिमा ऐलोरा के ‘छोटे कैलाश’ नामक जैन शिला-मन्दिर की इन्द्रसभा की दक्षिणी दीवार पर उत्कीर्ण है। इस गुफा का निर्माणकाल लगभग ८ वीं शती माना जाता है। तीसरी मूर्ति देवगढ़ के शान्तिनाथ-मन्दिर (८६२ ई०) में है। --- किन्तु इन सबसे विशाल और सुप्रसिद्ध मैसूर राज्य के अन्तर्गत श्रवणबेलगोला के विन्ध्यगिरि पर विराजमान वह मूर्ति है, जिसकी प्रतिष्ठा गंगनरेश राजमल्ल के महामंत्री चामुण्डराय ने १०-११ वीं शती में कराई थी। यह मूर्ति ५६ फुट ३ इंच ऊँची है। --- इसी मूर्ति के अनुकरण पर कारकल में सन् १४३२ ई० में ४१ फुट ६ इंच ऊँची तथा वेणूर में १६०४ ई० में ३५ फुट ऊँची

४६. भारतीय संस्कृति में जैनधर्म का योगदान/पृ. ३४६-३४७।

अन्य दो विशाल पाषाण मूर्तियाँ प्रतिष्ठित हुईं। ---- किन्तु जो ब्रॉन्ज-धातु-निर्मित मूर्ति अब प्रकाश में आई है, वह उपर्युक्त समस्त प्रतिमाओं से प्राचीन अनुमान की जाती है। उसका निर्माणकाल सम्भवतः सातवीं शती व उसके भी कुछ वर्ष पूर्व प्रतीत होता है।^{४७}

इनके अतिरिक्त मध्यप्रदेश के खजुराहो, अहार, भोजपुर, कुण्डलपुर, नैनागिरि आदि तीर्थों में दसवीं शती ई० से लेकर पन्द्रहवीं शती तक की प्राचीन नग्न जिन प्रतिमाएँ पद्मासन और कायोत्सर्ग मुद्राओं में विद्यमान हैं।

इस प्रकार ३००० ई० पू० से लेकर आज तक प्रत्येक ऐतिहासिक युग में निर्मित नग्न जिनप्रतिमाएँ उपलब्ध होती हैं। अब श्वेताम्बर-परम्परा की सवस्त्र जिनप्रतिमाओं के इतिहास पर दृष्टिपात किया जाय।

४७. वही / पृ.३५३-३५४।



तृतीय प्रकरण

श्वेताम्बर सवस्त्र-जिनप्रतिमाओं के निर्माण का इतिहास

१

ईसा की छठी शताब्दी से

श्वेताम्बरीय सवस्त्राभूषण जिनप्रतिमाओं के निर्माण का इतिहास जीवन्त स्वामी की प्रतिमाओं के निर्माण से शुरू होता है। भगवान् महावीर की राजमुकुट एवं राजसी वस्त्राभूषणों से अलंकृत, कायोत्सर्ग-मुद्रा में अवस्थित प्रतिमाएँ श्वेताम्बरसाहित्य में 'जीवन्त स्वामी की प्रतिमा' नाम से प्रसिद्ध हैं।^{४८} "आवश्यकचूर्णि, निशीथचूर्णि एवं वासुदेवहिंडी में उल्लेख मिलता है कि कुमारकाल में तीर्थंकर महावीर जब अपने राजप्रासाद में धर्मध्यान किया करते थे, तभी उनकी एक चन्दन की प्रतिमा निर्मित करायी गयी थी, जो वीतभय-पट्टन (सिन्धु-सौवीर) के नरेश उदयन के हाथ आ लगी। उज्जयिनी के राजा प्रद्योत ने उसके स्थान पर वैसी ही काष्ठप्रतिमा बनाकर रख दी, और मूल प्रतिमा को अपने राज्य में ले आया तथा विदिशा में प्रतिष्ठित करा दी, जहाँ वह दीर्घकाल तक पूजी जाती रही। वह इतनी लोकप्रिय हुई कि उसके अनुकरण पर जीवन्तस्वामी की मूर्ति बनवाने की प्रथा चल पड़ी। इस साहित्यवर्णित प्रथा के अस्तित्व की पुष्टि अकोटा (बड़ौदा जनपद) में प्राप्त जीवन्त स्वामी की ब्रौजधातु-निर्मित दो प्रतिमाओं से होती है। उनमें से एक पर लेख है, जिसमें उसे 'जीवन्त-सामि-प्रतिमा' कहा गया है, और यह उल्लेख है कि इसे चन्द्रकुल की नागेश्वरी श्राविका ने दान किया था। लिपि के स्वरूप से यह छठी शती ई० के मध्यभाग (५५० ई०) की अनुमानित की गई है। ये दोनों मूर्तियाँ कायोत्सर्ग ध्यान मुद्रा में हैं, किन्तु शरीर पर वस्त्राभूषण और अलंकरण राजकुमारोचित है। मस्तक पर ऊँचा मुकुट है, जिसके नीचे दोनों कन्धों पर केशकलाप झूल रहा है। गले में हारादि, कानों में कुण्डल, दोनों बाहुओं पर चौड़े भुजबन्ध व हाथों में कड़े और कटिबन्ध आदि आभूषण हैं। मुँह पर स्मित व प्रसादभाव झलक रहा है। भावाभिव्यक्ति व अलंकरण में गुप्तकालीन व तदुत्तरशैली का प्रभाव स्पष्ट है।"^{४९}

"धातु की सवस्त्र जिन-प्रतिमा राजपूताने में सिरोही जनपद के अन्तर्गत वसन्तगढ़

48. "The tradition of Jivantsvāmi-images (i.e. images of Mahāvīra standing in meditation with a crown and ornaments on his person)" --- / Dr. U. P. Shah : 'Studies In Jaina Art', p.4.

४९. क-डॉ० हीरालाल जैन : भारतीय संस्कृति में जैनधर्म का योगदान / पृ.३५१-३५२।

ख-डॉ० यू० पी० शाह : स्टडीज इन जैन आर्ट / पृ. ४।

नामक स्थान से मिली है। यह ऋषभनाथ की खड्गासन प्रतिमा है, जिस पर सं० ७४४ (ई० ६८७) का लेख है। इसमें धोती का पहनावा दिखाया गया है। धोती की सिकुड़न बाएँ पैर पर विशेषरूप से दिखायी गयी है। इससे संभवतः कुछ पूर्व की वे पाँच धातुप्रतिमाएँ हैं, जो वलभी से प्राप्त हुई हैं, और प्रिंस ऑफ वेल्स संग्रहालय में सुरक्षित हैं। ये प्रतिमाएँ भी सवस्त्र हैं, किन्तु इनमें धोती का प्रदर्शन वैसे उग्ररूप में नहीं पाया जाता, जैसा वसन्तगढ़ की प्रतिमा में। इस प्रकार की धोती का प्रदर्शन पाषाणमूर्तियों में भी किया गया पाया जाता है, जिसका एक उदाहरण रोहतक (पंजाब) में पार्श्वनाथ की खड्गासन मूर्ति है। प्रिंस ऑफ वेल्स संग्रहालय की चाहरडी (खानदेश) से प्राप्त हुई आदिनाथ की प्रतिमा १०वीं शती की धातुमय मूर्ति का एक सुन्दर उदाहरण है।^{५०}

इस प्रकार श्वेताम्बर-साहित्य के अनुसार श्वेताम्बर-परम्परा में तीर्थंकर महावीर के जीवनकाल में ही सवस्त्र जिनप्रतिमाओं का निर्माण प्रारम्भ हो गया था और 'प्रवचनपरीक्षा' ग्रन्थ के कर्ता का मत है कि सम्राट् सम्प्रति (ई० पू० २३२-१९०) तथा उत्तरवर्ती राजाओं ने ऐसी जिनप्रतिमाओं का निर्माण कराया था, जिनमें पुरुषचिह्न या स्त्रीचिह्न की रचना नहीं होती थी, अतः वस्त्ररहित होते हुए भी वे नग्न दिखाई नहीं देती थीं। आगे चलकर तीर्थंकरों की अंचलिकायुक्त प्रतिमाएँ बनने लगीं। किन्तु मुनि कल्याणविजय जी कहते हैं कि आज से २००० वर्ष^{५१} पहले बनाई जानेवाली प्रतिमाओं पर देवदूष्य वस्त्र इस प्रकार फैलाया जाता था कि उनकी नग्नता पूरी तरह ढँक जाती थी।

इन उल्लेखों से सिद्ध है कि श्वेताम्बर-परम्परा में नग्न जिन प्रतिमाओं का निर्माण कभी नहीं किया गया। और क्योंकि श्वेताम्बरमतानुसार महावीर के जीवनकाल में ही श्वेताम्बर-सम्प्रदाय सवस्त्र जिनप्रतिमाओं का निर्माण कराने लगा था और सम्प्रति आदि राजाओं ने अनग्न एवं निर्वस्त्र प्रतिमाएँ बनवाई थीं, अतः डॉ० यू० पी० शाह का यह कथन वास्तविकता से परे है कि कुषाणकाल तक दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनों की जिनप्रतिमाएँ नग्न होती थीं और उसके बाद ही उनमें भिन्नता आयी है।^{५२} यह कथन इसलिए भी अयुक्तियुक्त है कि जो श्वेताम्बर बन्धु नग्न जिनप्रतिमाओं को जिनबिम्ब ही न मानते हों और उनके दर्शन को कामविकार की उत्पत्ति का

५०. डॉ० हीरालाल जैन : भारतीय संस्कृति में जैनधर्म का योगदान / पृ. ३५१

५१. अब २१०० वर्ष पहले।

५२. "All the figures of Tirthankaras are nude, showing that the difference between images of the Digambaras (sky-clad, worshipping nude images) and the Śvetambaras (white-robed, adoring Tirthankara figures wearing a lower garment) was posterior to the Kuṣāṇā period." (Studies In Jaina Art, p.11).

कारण मानते हों, वे उनका दर्शन-पूजन कैसे कर सकते हैं? तथा श्वेताम्बरों के मस्तिष्क में नग्न जिनप्रतिमा की कल्पना आ ही नहीं सकती, क्योंकि उनके अनुसार 'जिन' नग्न दिखाई ही नहीं देते।

२

प्राचीन श्वेताम्बरपरम्परा में मूर्तिपूजा का अभाव

दूसरी ओर आधुनिकयुग के प्रसिद्ध श्वेताम्बराचार्य श्री हस्तीमल जी मानते हैं कि श्वेताम्बर-आगमों में मूर्तिपूजा का विधान ही नहीं किया गया है, न ही प्राचीनकाल में श्वेताम्बर-परम्परा में मन्दिरों और मूर्तियों का निर्माण किया गया। अपने मत का प्रतिपादन करते हुए हुए वे जैनधर्म का मौलिक इतिहास के तृतीय भाग में लिखते हैं—

“दर्शनप्राभृत के टीकाकार दिगम्बराचार्य श्रुतसागर सूरि ने दर्शनप्राभृत की टीका में जो यापनीयपरम्परा की मान्यताओं का दिग्दर्शन किया है, उसमें यापनीयों के लिये लिखा है “रत्नत्रयं पूजयन्ति।” इससे यह प्रतीत होता है कि प्रारम्भिक काल में यापनीय साधु-साध्वी, श्रावक-श्राविका गण रत्नत्रय की पूजा करते थे, न कि मूर्तिपूजा। एक स्थान में नियत निवास प्रारम्भ करने के पश्चात् चैत्यवासियों की देखा-देखी सम्भवतः यापनीयों में भी मूर्तिपूजा का प्रचलन प्रारम्भ हुआ हो, ऐसा अनुमान किया जाता है। जैनज्म इन अरली मीडिएवल कर्नाटक नामक अपनी पुस्तक में रामभूषणप्रसाद सिंह ने लिखा है—

“Naturally the early Jainas did not practice image worship, which finds no place in the Jaina canonical literature. The early Digambara texts from Karnataka do not furnish authentic information on this point, and the description of their मूल गुण and उत्तर गुण meant for lay worshippers do not refer to image worship. But idol worship first appeared in the early centuries of the christian era, and elaborate rules were developed for performing the different rituals of Jaina worship during early mediaval times.”⁵³

“मूर्ति पूजा के सम्बन्ध में एक नहीं, अपितु अनेक निष्पक्ष विद्वानों का अभिमत है कि प्राचीन काल में जैन धर्मावलम्बियों में मूर्तिपूजा का प्रचलन नहीं था। यापनीयों के विषय में श्रुतसागर के “रत्नत्रयं पूजयन्ति” इस उल्लेख से यही अनुमान लगाया जाता है कि एक मात्र आध्यात्मिक भावपूजा में अटूट आस्था रखनेवाले जैनों में समय

53. रामभूषणप्रसाद सिंह : 'जैनज्म इन अरली मीडिएवल कर्नाटक' / पृ. २३/ मोतीलाल बनारसीदास दिल्ली, सन् १९७५।

की पुकार के अनुसार प्रारम्भ में रत्नत्रय की एवं तत्पश्चात् चरणयुगल और अन्ततोगत्वा मूर्ति की पूजा प्रचलित हुई हो।" (जै.ध.मौ.इ./ भा.३ / पृ. २२०-२२१)।

“इस तरह यापनीयपरम्परा ने रत्नत्रय की पूजा, तीर्थकरों के चरणचिह्नों की पूजा और मूर्तिपूजा को किस-किस समय किस क्रम से अपनाया, इस प्रश्न के समाधान के लिये आगमिक काल से लेकर यापनीयसंघ के एक सुदृढ़ संघ के रूप में उभरने और कतिपय प्रदेशों में श्वेताम्बरसंघ और दिगम्बरसंघ से भी अपेक्षाकृत अधिक लोकप्रिय बनने के समय तक की ऐतिहासिक घटनाओं पर पूर्णतः निष्पक्ष होकर सूक्ष्मदृष्टि से विचार करना होगा। इस सन्दर्भ में निम्नलिखित तथ्य विचारणीय हैं—

“१. आचारंग आदि सभी आगमों में से किसी एक भी आगम में चतुर्विध तीर्थ के साधु-साध्वी, श्रावक अथवा श्राविका वर्ग के लिये समुच्चय रूप से अथवा व्यक्तिगत रूप से इस प्रकार का एक भी उल्लेख गहन खोज के अनन्तर भी नहीं उपलब्ध होता, जिसमें यह कहा गया हो कि व्रत, नियम, प्रत्याख्यान, पौषध, उपवास, स्वाध्याय आदि आत्मोत्थान के दैनन्दिन कार्यों के समान, मूर्तिपूजा, मन्दिरनिर्माण आदि कार्य भी प्रत्येक साधक के लिये अथवा सभी साधकों के लिये परमावश्यक अथवा अनिवार्य कर्त्तव्य हैं।

“२. पाँचवें अंगशास्त्र भगवतीसूत्र (व्याख्याप्रज्ञप्ति) में गणधर इन्द्रभूति द्वारा पूछे गये ३६००० प्रश्नों एवं भगवान् महावीर द्वारा दिये गये उत्तरों का विशद वर्णन है। आध्यात्मिक अभ्युत्थान से सम्बन्ध रखनेवाला एक भी विषय इन प्रश्नोत्तरों में अछूता नहीं रहा है। आत्मोन्नति-विषयक सभी तथ्यातथ्यों का विवेचन इन प्रश्नोत्तरों में समाविष्ट है। इस तरह सभी प्रकार की जिज्ञासाओं का शमन एवं सन्देहों का निवारण करनेवाले उन ३६ हजार प्रश्नोत्तरों में कहीं एक में भी जिनमन्दिर के निर्माण, उसके अस्तित्व अथवा जिनमूर्ति की पूजा का कोई उल्लेख नहीं है।

“३. भगवतीसूत्र के दूसरे शतक में तुंगिया नगरी के श्रमणोपासकों के सुसमृद्ध जीवन, उनकी धर्म के प्रति प्रगाढ़ आस्था, उनके धार्मिक कार्यकलापों आदि का विशद वर्णन किया गया है। उसमें भी जिनमन्दिर अथवा जिनमूर्ति की पूजा का कहीं नामोल्लेख तक नहीं है। भगवतीसूत्र में एतद्विषयक विवरण निम्नलिखित रूप में हैं—

“तत्थ णं तुंगियाए नयरीए बहवे समणोवासया परिवसंति अड्ढा, दिता, वित्थिन विपुल भवणा सयणासण-जाणा वाहणइण्णा बहुधण बहुजायरूव-रयया, आयोग-पयोगसंपउत्ता, विच्छड्डियविपुल-भत्तापाण, बहुदासीदास-गो-महिस-गवेलयप्पभूया, बहुजणस्स अपरिभूया, अभिगयजीवाजीवा, उबलद्धपुण्णपावा, आसव-संवर-निज्जर-किरिया-अहिकरण-बंध मोक्खकुसला, असहेज्ज देवासुरनाग-सुवण्ण-जक्ख-रक्खस-किन्नर-किंपुरिस-गरुल-गंधव्व-

महोरगाइएहिं देवगणेहिं निगंथाओ पावयणाओ अणतिक्कमणिज्जा, णिगंथे पावयणे निस्सं-
किया निक्कंखिया, निवितिगिच्छा, लद्धद्धा, गहियद्धा, पुच्छियद्धा, अभिगयद्धा विणिच्छियद्धा
अट्टिमिंजपेमा-अणूरागरत्ता, अयमाउसो! निगंथे पावयणे अट्टे अयं परमट्टे, से अणट्टे
असियफलहा, अवंगुयदुवारा, चियत्तंतेउरधरप्पवेसा, बहूहिं सीलव्वय-गुण-वेरमण-पच्चक्खण-
पोसहोववासेहिं चाउद्दसट्टमुदिट्ट-पुण्णमासिणीसु परिपुण्णं पोसहं सम्मं अणुपालेमाणां; समणे
निगंथे फासुएसणिज्जेणं असणपाणखाइम-साइमेणं, वत्थपडिग्गह-कंबल-पायपुंछणेणं, पीठ-
फलग सेज्जासंधारएणं, ओसह-भेसज्जेण पडिलाभेमाणा अहापडिग्गहिएहिं तवोकम्मैहिं
अप्पाणं भावेमाणा विहरंति।”

“अर्थात् तुंगिया नगरी में बहुत से श्रमणोपासक रहते थे। वे धनसम्पन्न और वैभवशाली थे। उनके भवन बड़े विशाल एवं विस्तीर्ण थे। वे शयन, आसन, यान, वाहन से सम्पन्न थे। उनके पास विपुल धन, चाँदी तथा सोना था। वे रुपया ब्याज पर देकर बहुत सा धन अर्जित करते थे। वे अनेक कलाओं में निपुण थे। उन श्रमणोपासकों के घरों में अनेक प्रकार के भोजन-पान आदि तैयार किये जाते थे। वे लोग अनेक दास-दासियों, गायों, भैंसों एवं भेड़ों आदि से समृद्ध थे। वे जीव-अजीव के स्वरूप को एवं पुण्य और पाप को सम्यग्रूपेण जानते थे। वे आस्रव, संवर, निर्जरा, क्रिया, अधिकरण, बंध और मोक्ष के स्वरूप से अवगत थे। देव, असुर, नाग, सुवर्ण, यक्ष, राक्षस, किन्नर, किंपुरुष, गरुड़, गन्धर्व, महोरग आदि तक उन्हें निर्ग्रन्थ-प्रवचन से नहीं डिगा सकते थे। निर्ग्रन्थ-प्रवचन में वे शंकारहित, आकांक्षारहित और विचिकित्सारहित थे। शास्त्र के अर्थ को उन्होंने ग्रहण किया था, अभिगत किया था और समझबूझ कर उसका निश्चय किया था। निर्ग्रन्थ-प्रवचन के प्रति उनके रोम-रोम में प्रेम व्याप्त था। वे केवल एक निर्ग्रन्थ प्रवचन के अतिरिक्त शेष सबको निष्प्रयोजन मानते थे। उनकी उदारता के कारण उनके द्वार सदा सब के लिये खुले रहते थे। वे जिस किसी के घर अथवा अन्तःपुर में जाते, वहाँ प्रीति ही उत्पन्न करते। शीलव्रत, गुणव्रत, विरमण, प्रत्याख्यान, पौषध एवं उपवासों के द्वारा चतुर्दशी, अष्टमी, अमावस्या और पूर्णमासी के दिन वे पूर्ण पौषध का पालन करते। श्रमण निर्ग्रन्थों को प्रासुक एवं कल्पनीय अशन-पान-खाद्य-स्वाद्य, वस्त्र, पात्र, कम्बल, पादप्रोच्छन (रजोहरण), आसन, फलक, शय्या, संस्तारक, औषध और भेषज से प्रतिलाभित करते हुए वे यथाप्रतिगृहीत तप कर्म द्वारा आत्मध्यान में लीन हो विचरण करते रहते थे।

“उपर्युद्धृत इस पाठ में तुंगियानगरी के उन आदर्श श्रमणोपासकों की दिनचर्या की प्रत्येक धार्मिक क्रिया का विशद विवरण दिया हुआ है, किन्तु मूर्तिपूजा अथवा जिनमन्दिर का कहीं कोई उल्लेख नहीं है। “जिनप्रतिमा जिनसारिखी (सदृशी)” जैसी मान्यता का जैनधर्म में यदि उस समय किंचिन्मात्र भी स्थान होता, तो संसार के समस्त

जीवों पर करुणा कर उनके हित के लिये सर्वज्ञ, सर्वदर्शी श्रमण भगवान् महावीर द्वारा तीर्थप्रवर्तनकाल में दिये गये अमोघ उपदेशों के आधार पर गणधरों द्वारा ग्रथित जैनगमों में मूर्तिपूजा, मन्दिरनिर्माण आदि का साधु-साध्वी-वर्ग के लिये न सही, किन्तु श्रावक-श्राविका-वर्ग के लिये तो अवश्यमेव आवश्यक कर्तव्य के रूप में उल्लेख होता।

“४. मूलागमों में आनन्द, कामदेव, शंख, पोखली, उदायन आदि श्रावक-रत्नों के पौषधोपवासों, श्रावक की एकादश प्रतिमारूप कठोर व्रत-धारणा, सुपात्रदान, पौषधशालागमन आदि विभिन्न धर्मकृत्यों का विस्तृत विवरण है, किन्तु कहीं पर भी यह उल्लेख नहीं है कि वे एक बार भी किसी देवमन्दिर में गये हों अथवा उनके द्वारा किसी जिन-प्रतिमा की स्थापना या पूजा की गई हो।

“मूल आगमों में श्री कृष्ण द्वारा की गई धर्म-दलाली एवं उस उत्कृष्ट धर्म-दलाली के परिणामस्वरूप तीर्थकर-नामगोत्रोपार्जन का उल्लेख है। इसी तरह मगधसम्राट् बिम्बसार श्रेणिक द्वारा अमारी पटह-घोषणा एवं धर्मदलाली का तथा उस धर्मदलाली के फलस्वरूप उनके भी तीर्थकरनाम-गोत्रकर्म के उपार्जन का पाठ आया है। साथ ही प्रदेशी राजा द्वारा दानशाला खोलने आदि सुकृत्यों का स्पष्टरूप से उल्लेख है। परन्तु इनमें से किसी के भी द्वारा जिनप्रतिमा की पूजा करने अथवा जिनमन्दिर के निर्माण कराये जाने का कहीं कोई नाममात्र के लिये भी उल्लेख नहीं है।

“५. मूल आगमों में त्रिकालदर्शी प्रभु महावीर ने आदर्श श्रावकों के घरों की भौतिक विपुल ऋद्धि-सिद्धि का भी वर्णन किया है, अनेक नगरों का वर्णन किया है, पर इन वर्णनों में जिनप्रतिमा और जिनमन्दिर का कहीं नामोल्लेख तक नहीं है। यदि उस समय जैनधर्म की मूल परम्परा में मूर्तिपूजा का कोई स्थान होता, तो उन आदर्श श्रावकों के घरों में अथवा नगरों के प्रांगणों में कहीं न कहीं तो जिनमन्दिर अथवा जिनप्रतिमा के अस्तित्व का उल्लेख अवश्य ही होता। जिनप्रतिमा की पूजा की बात तो दूर, वस्तुतः श्रावकों के घरों और नगरों तक में जिनमन्दिरों-जिनप्रतिमाओं के अस्तित्व तक का उल्लेख नहीं है। इससे यही प्रमाणित होता है कि जैनधर्म की मूल परम्परा में प्रारम्भ में मूर्तिपूजा के लिये कहीं कोई स्थान नहीं था। जैनधर्म का तीर्थप्रवर्तनकाल में कैसा स्वरूप था, उस समय जैनधर्म में क्या मान्य था और क्या अमान्य, क्या-क्या करणीय था और क्या-क्या अकरणीय, एतद्विषयक तथ्य आगमों से ही प्राप्त किये जा सकते हैं। जिस प्रकार कि हीरा हीरे की खान से ही उपलब्ध हो सकता है, पन्ने अथवा माणिक्य की खान से नहीं, ठीक उसी प्रकार जैनधर्म की मान्यताओं अथवा जैनधर्म के मूल विशुद्ध स्वरूप के सम्बन्ध

में प्रामाणिक तथ्य जैन आगमों से ही उपलब्ध हो सकते हैं, न कि अन्य ग्रन्थों अथवा साहित्य से।

“६. जैनागम वस्तुतः भगवान् महावीर की देशनाओं के आधार पर गणधरों द्वारा ग्रथित किये गये, यह एक निर्विवाद एवं सर्वसम्मत तथ्य है। मूल आगमों में, आचारांग आदि ११ अंगशास्त्र, जो 'निगंठ पाक्यण', 'गणिपिटक' आदि नामों से विख्यात हैं और जो जैनधर्म के सिद्धान्तों, जैनधर्म की मान्यताओं के परम प्रामाणिक, मूल आधार माने जाते हैं, उनमें मूर्तिपूजा का, जिनमन्दिरों के निर्माण का जब कहीं नामोल्लेख तक नहीं है, तो इसका सीधा सा अर्थ यही होता है कि तीर्थंकर भगवान् महावीर ने अपनी प्रथम देशना से लेकर अन्तिम देशना तक में जिनप्रतिमा की प्रतिष्ठापना करने, मन्दिर निर्माण करने और जिनप्रतिमा की पूजा करने के सम्बन्ध में कभी एक भी शब्द अपने मुखारविन्द से नहीं कहा। इस बात से तो प्रत्येक जैन पूर्णतः सहमत होगा कि वीतराग सर्वज्ञ तीर्थंकर प्रभु श्रमण भगवान् महावीर की देशनाओं का एक-एक शब्द सभी जैनों के लिये सदा शिरोधार्य और परम मान्य है। यदि संसार के भव्य प्राणियों के लिये जिन-प्रतिमा की पूजा करना निःश्रेयस्कर होता, तो 'जगजीव हियदयदुयाए' चतुर्विध धर्मतीर्थ की स्थापना करते समय साधु, साध्वी, श्रावक अथवा श्राविकावर्ग में से सभी के लिये अथवा किसी वर्गविशेष के लिये जिनप्रतिमा की पूजा का भी स्पष्ट शब्दों में उसी प्रकार विस्तृत रूप से उपदेश देते, जिस प्रकार कि मुक्तिप्राप्ति के लिये परमावश्यक अन्यान्य कर्तव्यों का उपदेश दिया था। आगमों में चतुर्विध तीर्थ के कर्तव्यों के रूप में मूर्तिपूजा का कहीं कोई उल्लेख नहीं है, इससे यही फलित होता है कि सर्वज्ञ, सर्वदर्शी, तीर्थंकर भगवान् महावीर ने अपनी किसी भी देशना में मूर्तिपूजा करने अथवा मन्दिर-निर्माण करने का उपदेश नहीं दिया।

“७. जैनधर्म अथवा आगम-सम्बन्धी निर्वाणोत्तरकालीन प्रमुख ऐतिहासिक घटनाओं पर भी यदि निष्पक्षरूपेण दृष्टिपात किया जाय, तो यही तथ्य प्रकाश में आता है कि पहली आगमवाचना के समय से लेकर चौथी आगमवाचना तक की कालावधि में आगमानुसार विशुद्ध श्रमणाचार, श्रावकाचार एवं धर्म के मूल अध्यात्मप्रधान स्वरूप का पालन करनेवाले जैनसंघ में मूर्तिपूजा एवं मन्दिरादि के निर्माण का प्रचलन नहीं हुआ था।

“८. पहली आगमवाचना वीर नि० सं० १६० के आस-पास आर्य स्थूलभद्र के तत्त्वावधान में पाटलिपुत्र में हुई। इस पहली आगमवाचना के सम्बन्ध में जैनवाङ्मय में कोई क्रमबद्ध विस्तृत विवरण वर्तमान काल में उपलब्ध नहीं होता। तित्थोगालीपइन्ध नामक प्राचीन ग्रन्थ में अतिसंक्षेपतः केवल इतना ही विवरण उपलब्ध होता है कि

भीषण दुष्काल के समाप्त हो जाने पर भारत के सुदूरस्थ विभिन्न भागों में गये हुए साधु पुनः पाटलिपुत्र में लौटे। दुष्कालजन्य संकटकालीन स्थिति में शास्त्रों के अनभ्यास के परिणामस्वरूप श्रुतपरम्परा से कण्ठस्थ शास्त्रों के जिन पाठों को श्रमण भूल गये थे, उन पाठों को परस्पर एक-दूसरे से सुनकर उन्होंने शास्त्रों के ज्ञान को पुनः व्यवस्थित किया। पाटलिपुत्र में हुई इस प्रथम आगमवाचना में एकादशांगी को पूर्ववत् व्यवस्थित एवं सुरक्षित कर लिया गया, किन्तु बारहवें अंग दृष्टिवाद को व्यवस्थित करने में वह श्रमणसंघ पूर्णरूपेण असफल ही रहा, जो कि पाटलिपुत्र में एकत्रित हुआ था। उस समय समस्त श्रमणसंघ में चौदह पूर्वों के ज्ञान के धारक एक मात्र अन्तिम श्रुतकेवली आचार्य भद्रबाहु ही अवशिष्ट रह गये थे, परन्तु वे उस समय नेपाल प्रदेश में महाप्राणध्यान की साधना में निरत थे।

“इस प्रकार की स्थिति में बड़े विचार विनिमय के अनन्तर महामेधावी युवावय के श्रमण स्थूलभद्र को ५०० अन्य मेधावी मुनियों के साथ भद्रबाहु की सेवा में रहकर चतुर्दश पूर्वों का ज्ञान प्राप्त करने और इस प्रकार श्रुतज्ञान की रक्षा करने के हेतु संघादेश से नेपाल भेजा गया। आचार्य भद्रबाहु उस समय उस अद्भुत चमत्कारी महाप्राण की साधना में निरत थे, जिसकी साधना के अनन्तर साधक अन्तर्मुहूर्त में ही सम्पूर्ण द्वादशांगी का परावर्तन (पुनरावर्तन) करने में समर्थ हो जाता है।^{५४} इस प्रकार की महती साधना में निरत रहने के उपरान्त भी आचार्य भद्रबाहु को संघादेश शिरोधार्य कर उन साधुओं को पूर्वों की वाचना देना प्रारम्भ करना पड़ा। महामुनि स्थूलभद्र के अतिरिक्त शेष सब मुनि पूर्वों की वाचना लेने में असमर्थ रहे। स्थूलभद्र ने लगभग ८ पूर्वों की वाचना नेपाल में रहते हुए आचार्य भद्रबाहु से ली और नौवें तथा दशवें पूर्व की वाचना नेपाल से पाटलिपुत्र की ओर भद्रबाहु के विहार काल में तथा पाटलिपुत्र में ली। दश पूर्वों की वाचना पूर्ण होने पर दर्शनार्थ आई हुई अपनी बहिनों महासाध्वी यक्षा एवं यक्षदिन्ना को मुनि स्थूलभद्र ने अपनी विद्या का चमत्कार बताया। इस घटना के परिणाम स्वरूप आचार्य भद्रबाहु ने महामुनि स्थूलभद्र जैसे सुपात्र शिष्य को भी अन्तिम चार पूर्वों के ज्ञान के लिये अपात्र घोषित कर दिया। संघ द्वारा अनुनय-विनयपूर्ण अनुरोध करने पर उन्होंने महामुनि स्थूलभद्र को अन्तिम चार पूर्वों की केवल मूलपाठ की ही वाचना दी, अर्थसहित वाचना फिर भी नहीं दी।

५४. “यह कोई असम्भव अथवा असाध्य नहीं, दुस्साध्य अवश्य है, क्योंकि स्वप्नशास्त्रियों के अभिमतानुसार लम्बे से लम्बा स्वप्न वस्तुतः कतिपय इने-गिने क्षणों का ही होता है। सुषुप्त्यवस्था में कुछ ही क्षणों के स्वप्न में प्राणी वर्षों में देखे जा सकनेवाले दृश्य देख लेता है, इससे अनुमान किया जाता है कि महाप्राण ध्यान में यह संभव हो सकता है।” (जैनधर्म का मौलिक इतिहास/ भाग ३/ पृ. २२६-२३३)।

“प्रथम आगमवाचना की इस ऐतिहासिक घटना से दो तथ्य प्रकाश में आते हैं। प्रथम तो यह कि उक्त प्रथम आगमवाचना में आगमों के परम्परागत पाठों को जिस प्रकार यथावस्थित रूप में व्यवस्थित किया गया था, उसी रूप में वे आगम पाठ समय-समय पर हुई दूसरी, तीसरी और चौथी आगम-वाचनाओं में व्यवस्थित किये जाते रहे। और दूसरा यह तथ्य प्रकाश में आता है कि प्रथम आगमवाचना के समय तक भी जैन धर्मसंघ में मूर्तिपूजा का प्रचलन नहीं हुआ था। यदि उस समय मूर्तिपूजा का प्रचलन हो गया होता, तो उस काल की मूर्तियाँ, मन्दिर अथवा उनके अवशेष अवश्यमेव ही कहीं न कहीं उपलब्ध होते।

“९. द्वितीय आगमवाचना वीर नि० सं० ३२९ में कलिंगराज महामेघवाहन खारवेल के प्रयास से कुमारीपर्वत पर हुई। उस आगमवाचना-सम्बन्धी उपलब्ध प्राचीन ऐतिहासिक तथ्यों से भी यही प्रकट होता है कि वीर नि० सं० ३२९ तक भी जैनसंघ में मूर्तिपूजा का अथवा मन्दिर-निर्माण का प्रचलन नहीं हुआ था। उस आगमवाचना के अनन्तर कुमारीपर्वत पर खारवेल महामेघवाहन द्वारा सुविहित परम्परा के श्रमणों के संघहित के कार्यों पर विचार-विमर्श करने हेतु एकत्र होने और बैठने के लिये एक संघायन के निर्माण का, निषद्या पर जाप की व्यवस्था करने का, यापकों की भृति निश्चित करने का तथा महारानी के लिये कुमारीपर्वत पर निषद्या के पास एक विशाल एवं भव्य विश्रामभवन बनवाये जाने का तो उल्लेख उपलब्ध होता है, किन्तु किसी मूर्ति की स्थापना करने का, पूजा करने का अथवा मन्दिर के निर्माण का कोई उल्लेख उपलब्ध नहीं होता।”

“१०. तीसरी आगमवाचना वीर नि० सं० ८३० में इक्कीसवें वाचनाचार्य आर्य स्कन्दिल के तत्त्वावधान में मथुरा में हुई और जिस प्रकार चौथी अन्तिम आगमवाचना के समय देवर्द्धिक्षमाश्रमण को समस्त आगमों को पुस्तकारूढ़ करने के लिये वीर नि० सं० ९८० से ९९४ तक अर्थात् लगभग १४-१५ वर्षों तक वल्लभी में रहना पड़ा, उसी प्रकार आर्य स्कन्दिल भी वीर नि० सं० ८३० से ८४० तक आगमवाचना को सम्पन्न करने के लिए मथुरा में रहे। यदि जैनसंघ में सर्वसम्मतरूप से मूर्तिपूजा का प्रचलन हो गया होता, तो आर्य स्कन्दिल जैसे युगप्रवर्तक एवं श्रुतशास्त्र की रक्षा करनेवाले महान् आचार्य के १० वर्ष तक मथुरा में ही रहने की अवधि में निश्चित रूप से अनेक मूर्तियों की प्रतिष्ठा और जिनमंदिरों का निर्माण उनके तत्त्वावधान में हुआ होता। पर स्थिति इससे बिल्कुल भिन्न है। उस अवधि की बात तो दूर, उस पूरे शतक में एक भी जिनमूर्ति अथवा जिनमन्दिर के निर्माण का उल्लेख कहीं नहीं मिलता।

५५. “हाथीगुंफा में उपलब्ध कलिंगराज महामेघवाहन खारवेल के शिलालेख की पंक्ति सं० १५ और १६।”

“आर्य स्कन्दिल का नाम जैन इतिहास में अमर रहेगा। श्रुतशास्त्र की रक्षा कर उन्होंने संसार पर अविस्मरणीय अनुपम उपकार किया है। श्वेताम्बर-परम्परा के सभी गणों, गच्छों एवं सम्प्रदायों के अनुयायी सर्वसम्मत रूप से समवेत स्वर में उन्हें अपना महान् उपकारी पूर्वाचार्य मानते हैं। देवर्द्धिगणि-क्षमाश्रमण ने भी नन्दिसूत्र के आदिमंगल में आपको प्रगाढ़ श्रद्धापूर्वक निम्नलिखित भावभरे शब्दों में वन्दन किया है—

जेसिमिमो अणुओगो पयरइ अज्जावि अह्णभरहम्मि।
बहुनगर निगयजसे ते वंदे खंडिलायरिए॥ ३३॥

इसी प्रकार एक अज्ञातकर्तृक प्राचीन गाथा में भी आर्य स्कन्दिलाचार्य द्वारा की गई श्रुतरक्षा का उल्लेख उपलब्ध होता है। वह प्राचीन गाथा इस प्रकार है—

दुभिव्खंमि पणट्टे पुणरवि मिलिय समणसंघाओ।
मिहुराए अणुओगो पवइयो खंडिलो सूरि॥

“अपने युग के लोकपूज्य, महान् अनुयोगप्रवर्तक, आगममर्मज्ञ, श्रुतशास्त्र के रक्षक आचार्य स्कन्दिल के मानस में यदि जिनमन्दिरनिर्माण अथवा मूर्तिपूजा के प्रति किञ्चित्मात्र भी स्थान अथवा आकर्षण होता तो उनके एक ही परोक्ष इंगित पर दश वर्ष के उनके मथुरावास काल में सहस्रों जिनमूर्तियों और सैकड़ों जिन मन्दिरों का निर्माण हो जाता और कंकाली टीले की खुदाई में अथवा मथुरा के विभिन्न स्थलों में पुरातत्त्व-विभाग द्वारा की गई खुदाइयों में उन मूर्तियों एवं मन्दिरों के अथवा शिलालेखों के अवशेष न्यूनाधिक मात्रा में अवश्यमेव पुरातत्त्व विभाग को प्राप्त होते। पर ऐसा कुछ भी नहीं हुआ। कंकाली देवी का मन्दिर और जैन-बौद्ध स्तूप आचार्य स्कन्दिल के मथुरा प्रवास से पहले ही भूलुंठित हो कंकाली टीले का रूप धारण कर गये हों, इस प्रकार की आशंका को भी वहाँ से प्राप्त ऐतिहासिक एवं पुरातात्विक अवशेषों ने निर्मूल कर दिया। क्योंकि आर्य स्कन्दिल के स्वर्गस्थ होने के ६०-६४ वर्ष पश्चात् का एक शिलालेख, जिस पर संवत् --- ९९ (कनिष्क संवत् २९९) तदनुसार वीर नि० सं० ९०४ उट्टंकित है, कंकाली टीले की खुदाई करते समय उपलब्ध हुआ है। महान् प्रभावक आचार्य स्कन्दिल लगभग वीर नि० सं० ८३० से ८४० तक लगभग १० वर्ष तक मथुरा में रहे पर उनके किसी भी श्रमणोपासक अथवा श्रमणोपासिका ने वीर निर्वाण की ८वीं शताब्दी से ९ वीं शताब्दी के अन्त तक अर्हत्-मूर्ति की प्रतिष्ठा अथवा अर्हत्-मन्दिर का निर्माण नहीं करवाया, यह एक निर्विवाद तथ्य मथुरा के कंकाली टीले एवं अन्यान्य स्थानों से उपलब्ध शिलालेखों से प्रकट होता है।

“आर्य स्कन्दिल ने जिस समय मथुरा में आगमवाचना की, ठीक उसी समय आचार्य नागार्जुन ने भी दक्षिण आदि सुदूरस्थ प्रान्तों के मुनिसंघों को वल्लभी में एकत्रित

कर आगम वाचना की। आर्य स्कन्दिल की भाँति आचार्य नागार्जुन को भी उस आगमवाचना, उस अनुयोगप्रवर्तन के समय लगभग १० वर्ष तक तो वल्लभी में रहना ही पड़ा होगा। आचार्य नागार्जुन भी यदि मूर्तियों एवं मन्दिरों के निर्माण तथा मूर्तिपूजा के पक्षधर होते तो उनके समय की उनके श्रमणोपासकों द्वारा प्रतिष्ठापित मूर्तियों और मन्दिरों के अवशेष-शिलालेख आदि कहीं न कहीं अवश्यमेव उपलब्ध होते। परन्तु आज तक भारत के किसी भाग में इस प्रकार का न कोई शिलालेख ही उपलब्ध हुआ है और न कोई मूर्ति अथवा मन्दिर का अवशेष ही।

“आर्य स्कन्दिल से लगभग ५०० वर्ष पूर्व हुए कलिंगसम्राट् महामेघवाहन खार्वेल भिक्खुराय के कुमारीपर्वत की हाथीगुम्फा में उद्वृकित कराये गये शिलालेख से भी यह तथ्य प्रकाश में आता है कि उसके शासनकाल तक जैनधर्म-संघ में मूर्तिपूजा एवं मन्दिरनिर्माण का प्रचलन नहीं हुआ था।^{५६} खार्वेल का यह शिलालेख जैनधर्म के सम्बन्ध में अब तक प्रकाश में आये हुए शिलालेखों में सबसे प्राचीन और सबसे बड़ा शिलालेख है। इसमें आज तक अन्यत्र कहीं उपलब्ध नहीं हुए महत्वपूर्ण ऐतिहासिक तथ्यों के साथ-साथ खार्वेल द्वारा अपने १३ वर्षों (वीर नि० सं० ३१६ से ३२९ तक) के शासनकाल में किये गये सभी महत्वपूर्ण कार्यों का विवरण दिया गया है।” (जै. ध. मौ. इ. / भा.३ / पृ.२२६-२३३)।

“इस पूरे अभिलेख में एक भी नये जिनमन्दिर के निर्माण का, किसी एक भी प्राचीन जिनमन्दिर के जीर्णोद्धार का, मूर्ति की प्रतिष्ठा का अथवा मूर्ति की पूजा का कहीं नाममात्र के लिए भी उल्लेख नहीं है। इस अभिलेख में कलिंगपति महामेघवाहन खार्वेल को प्रजा के क्षेम-कुशल के लिये सदा सतत निरत रहने के कारण ‘क्षेमराज’, राज्य, राजकोष और प्रजा की सुख-समृद्धि में सदा अभिवृद्धि करते रहने के कारण वर्द्धराज, भिक्षुओं, जैन श्रमणों का परम भक्त रहने के कारण भिक्षुराज और मगधराज पुष्यमित्र के अत्याचारों से जैनधर्म की अथवा जैनधर्मावलम्बियों की रक्षा करने के कारण धर्मराज की विशिष्ट उपाधियों से विभूषित किया गया है। जिस प्रकार प्रगाढ़ विष्णुभक्ति के परिणामस्वरूप हिन्दू वैष्णवपरम्परा के पुराणों में महाराज अम्बरीष को परमभागवत के पद से विभूषित किया गया है, उसी प्रकार कलिंगपति खार्वेल को भी उनकी उत्कट अर्हद्भक्ति को देखते हुए यदि परमार्हत पद से विभूषित किया जाय, तो कोई अतिशयोक्ति नहीं होगी। इस प्रकार के परमार्हत जिनशासनसेवा आदि

५६. आचार्य हस्तीमल जी ने हाथीगुम्फाभिलेख में ‘कलिंगजिन’ के उल्लेख को जिनप्रतिमा का उल्लेख नहीं माना है। जिस पंक्ति में यह उल्लेख है, उस बारहवीं पंक्ति का अर्थ उन्होंने इस प्रकार किया है—“और मगध के --- धन को भी वह खार्वेल ले गया।” (जै. ध. मौ. इ. / भा. ३ / पृ. २३५)।

धार्मिक कार्य-कलापों में अत्यधिक रुचि रखनेवाला महाराजा खारवेल अपने तेरह वर्षों के शासनकाल में राजप्रासादों, नगरद्वारों, नगर-प्राकार, फव्वारों, तालों, बाँधों, बाग-बगीचों, उपवनों का जीर्णोद्धार, पुनर्निर्माण, संस्कार तो करवाये, नृत्यगीत, वाद्य, नाटक, उत्सव, संगोष्ठियों का आयोजन कर नगरनिवासियों का मनोरंजन करे, राजसूययज्ञ के अनुष्ठान के पश्चात् अनेक प्रकार के जनकल्याणकारी कार्य करे, ब्राह्मणों को विपुलतर महार्घ्य या चल-अचल सम्पत्ति का दान करे, अड़तीस लाख मुद्राओं के व्यय से महाविजय-प्रासाद का निर्माण करवाये, केतुभद्र यक्ष की तिक्तकाष्ठ से बनी अतिविशालकाय मूर्ति को नगर में महोत्सवपूर्वक निकाले, अर्हत्-निषद्या (अर्हत्-समाधि) पर याप-जापकों द्वारा प्राणिमात्र के कुशलक्षेम के लिए जाप करवाये। याप-जापकों को राजभृतियाँ प्रदान कर उन्हें उसी प्रकार जप-जाप में निरत रहने की आज्ञा दे और अपनी पट्टमहिषी वृष्टि के लिए अर्हत्-समाधि के पास ही पचहत्तर लाख मुद्राएँ व्यय कर रत्नजटित स्तम्भोंवाला अतिरमणीय अतिविशाल विश्रामागार बनवाये, पर एक भी मूर्ति की प्रतिष्ठा न करे, एक भी मन्दिर का निर्माण अथवा जीर्णोद्धार न करे, किसी जिनमूर्ति अथवा जिनमन्दिर की पूजा आदि के लिए एक भी राजभृति प्रदान न करे, तो इससे यही सिद्ध होता है कि खारवेल के शासनकाल तक जैनधर्म में मूर्तिपूजा और मन्दिरनिर्माण का न केवल प्रचलन ही नहीं हुआ था, अपितु मूर्तिपूजा के लिये धर्मकृत्यों में विधिविधान न होने के कारण किसी भी जैनधर्मात्मन् के मन, मस्तिष्क एवं हृदय में इनके लिये कोई स्थान भी नहीं था। यदि खारवेल के शासनकाल तक जैन धर्मावलम्बियों में मूर्तिपूजा का प्रचलन हो गया होता, तो जहाँ खारवेल ने सुविहित-परम्परा के श्रमणों के लिए संघायन का निर्माण करवाया, अर्हत्-समाधि (निषद्या) पर क्षेम-कुशल हेतु जप-जाप करनेवालों के लिए राजभृतियाँ प्रदान कीं, महारानी के लिये यदा कदा उस रमणीय पवित्र पर्वत पर आगमन के अवसरों पर विश्राम हेतु अर्हत्-समाधि-स्थल के समीप भव्य विश्रामागार बनवाया, उसी प्रकार वहाँ वे एक न एक जिनमन्दिर का निर्माण एवं मूर्ति की प्रतिष्ठा अवश्य करवाते और उनकी नियमित पूजा-व्यवस्था हेतु पुजारियों के लिये भूमिदान, ग्रामदान आदि के रूप में राजभृति की व्यवस्था निश्चितरूप से करते एवं शिलालेख में अन्यान्य कार्यों का जिस प्रकार क्रमशः उल्लेख किया गया है, उसी प्रकार इन आत्यन्तिक महत्त्व के कार्यों का भी निश्चितरूप से उल्लेख किया जाता। इस शिलालेख की १७वीं पंक्ति में खारवेल को सर्वदेवायतन-संस्कारक बताया गया है। यदि उसके राज्यकाल तक जैनों अथवा बौद्धों में मूर्तिपूजा एवं मन्दिरनिर्माण का प्रचलन हो गया होता, तो वे जैन एवं बौद्ध मन्दिर भी तूफान में अवश्यमेव क्षतिग्रस्त होते और खारवेल तूफान में क्षतिग्रस्त हुए प्रासाद, प्राकार, राजमहल, उपवन, फव्वारों आदि की तरह उन जैन मन्दिरों व बौद्ध मन्दिरों का जीर्णोद्धार भी अवश्य करवाता। इतना ही नहीं, यदि खारवेल के समय तक जैनों अथवा बौद्धों में मूर्तिपूजा एवं मन्दिरनिर्माण

का प्रचलन हो गया होता, तो खारवेल जैसा परमार्हत एवं जैनधर्म के प्रति प्रगाढ़ निष्ठा रखनेवाला राजा कलिंग की राजधानी में और कुमारीपर्वत पर एक दो जैन मन्दिरों का नव्य-भव्य निर्माण तो अवश्यमेव ही करवाता। किन्तु शिलालेख साक्षी है कि ऐसा कुछ भी नहीं किया गया।

“खारवेल के इस शिलालेख से प्रकाश में आये इन तथ्यों पर इतिहासज्ञ स्वयं विचारकर निर्णय करें कि वे किस सत्य की ओर इंगित कर रहे हैं।

“खारवेल के इस शिलालेख से एक यह तथ्य भी प्रकाश में आता है कि वीरनिर्वाण से लेकर इस शिलालेख के उदुंकनकाल (वीर नि० सं० ३७९) तक मूर्तिपूजा और मन्दिरनिर्माण का प्रचलन बौद्धों में भी नहीं हुआ था। यदि उपर्युक्त अवधि में बौद्धों में मूर्तिपूजा अथवा मन्दिरनिर्माण का प्रचलन हो गया होता, तो मौर्य सम्राट् अशोक जैसा अपने समय का बौद्धधर्म का सबसे बड़ा उपासक राजा कलिंगविजय के पश्चात् कलिंग में किसी भव्य बौद्ध मन्दिर अथवा प्रतिमा का निर्माण अवश्य करवाता और सर्वधर्मों के देवायतनों के संस्कार के विरुद्ध से विभूषित खारवेल उस मन्दिर का जीर्णोद्धार अवश्यमेव करवाता तथा उस जीर्णोद्धार का उल्लेख इस शिलालेख में निश्चित रूप से होता। इसी प्रकार उपर्युक्त अवधि में किसी समय जैनधर्म में भी मूर्तिपूजा अथवा मन्दिरनिर्माण को कोई स्थान मिला होता, तो खारवेल के सिंहासनारूढ़ होने के केवल २६ वर्ष पहले स्वर्गस्थ हुआ मौर्य सम्राट् सम्प्रति भी कलिंग की राजधानी अथवा पवित्र कुमारीपर्वत पर अवश्यमेव जिनमूर्ति की प्रतिष्ठापना और जैनमन्दिर का निर्माण करवाता। खारवेल के सिंहासनारूढ़ होने से पूर्व कलिंग में आये तूफान में जिस प्रकार राजप्रासाद, भवन-गोपुर, प्राकार आदि भूलुण्ठित अथवा क्षतिग्रस्त हुए, उसी प्रकार कोई न कोई जैन मन्दिर भी क्षतिग्रस्त होता और परमार्हत खारवेल द्वारा उसके जीर्णोद्धार का इस शिलालेख में अवश्य ही उल्लेख होता। (जै.ध.मौ.इ. / भा.३ / पृ. २३६-२३८)।

“पर वस्तुस्थिति इससे पूर्णतः विपरीत है, क्योंकि खारवेल ने अपने १६ वर्ष के राज्यकाल में धर्मरक्षा, धर्माभ्युदय और लोककल्याण के अनेक कार्य किये, पर न किसी मूर्ति की प्रतिष्ठा की, न एक भी मन्दिर का निर्माण करवाया और न केतुभद्र यक्ष की विशालकाय काष्ठमूर्ति के अतिरिक्त किसी मूर्ति अथवा मन्दिर के किसी उत्सव का ही आयोजन किया।

“इस प्रकार इस शिलालेख में उल्लिखित तथ्य सत्यान्वेषी सभी धर्माचार्यों, इतिहासविदों, शोधार्थियों, गवेषकों और प्रबुद्ध तत्त्वजिज्ञासुओं को उन निर्युक्तियों, चूर्णियों, महाभाष्यों, पट्टावलियों एवं अन्यान्य ग्रन्थों के उन सभी

उल्लेखों पर क्षीर-नीर-विवेकपूर्ण निष्पक्ष दृष्टि से गहन विचार करने की प्रेरणा देते हैं, जिनमें मौर्य सम्राट् परमार्हत सम्प्रति के लिये कहा गया है कि उसने तीनों खण्डों की पृथ्वी को जिनमन्दिरों से मण्डित कर दिया था।

“यह तो एक ऐतिहासिक तथ्य है कि खारवेल का हाथीगुंफावाला उपरिवर्णित शिलालेख निर्युक्तियों, चूर्णियों, भाष्यों एवं पट्टावलियों से अनेक शताब्दियों पूर्व का है। ये निर्युक्तियाँ आदि वस्तुतः इस शिलालेख से बहुत पीछे की कृतियाँ हैं। प्रसिद्ध पुरातत्त्वविद् विद्यामहोदधि श्री काशीप्रसाद जायसवाल, एम० ए०, बार एट लॉ ने तो इस शिलालेख के सम्बन्ध में यहाँ तक लिखा है—

१. “--- पर ऐतिहासिक घटनाओं और जीवनचरित को अंकित करनेवाला भारतवर्ष का यह सबसे पहला शिलालेख है।”^{५७}

२. “जैनधर्म का यह अब तक सबसे प्राचीन लेख है।”^{५८}

३. “मालूम रहे कि कोई जैनग्रन्थ इतना पुराना नहीं है, जितना कि यह लेख है।”^{५९}

“एक ओर तो वीर नि० की चौथी शताब्दी में उद्धृत खारवेल के सर्वाधिक प्राचीन शिलालेख में विविध धर्मकार्यों का विवरण होते हुए भी मूर्तिपूजा अथवा मन्दिर-निर्माण का कहीं नामोल्लेख तक नहीं, और दूसरी ओर इस शिलालेख से क्रमशः ८००, ९००, १३७० और इससे भी बड़े उत्तरवर्ती काल के भाष्यकारों,^{६०} चूर्णिकारों,^{६१} परिशिष्ट-पर्वकारों और पट्टावलीकारों^{६२} द्वारा स्थान-स्थान पर मूर्तिपूजा और जिनमन्दिर-निर्माण के उल्लेखों के साथ-साथ खारवेल के सिंहासनारूढ़ होने से केवल २३ वर्ष

५७. कलिंगचक्रवर्ती महाराज के शिलालेख का विवरण (काशी नागरी प्रचारिणी सभा की ओर से सन् १९२८ में प्रकाशित) / पृष्ठ २।

५८. वही / पृष्ठ ६।

५९. वही / पृष्ठ ११।

६०. अणुयाणे अणुयाति, पुष्कारूहाणाइ उक्खीरणगाई।

पूयं च चेतियाणं, ते वि सरज्जेसु कारेति ॥ ५७५४ ॥

निशीथभाष्य / भाग ४ / पृ. १३१।

६१. “अणुजाणं रहजत्ता तेसु सो राया अणुजाणंति भडचडगसहितो रहेण सह हिंडति, रहेसु पुष्कारूहणं करेति, रहगतो य विविधफले खज्जगे य कबडुग वत्थमादी य उक्खीरणे करेति, अन्नेसिं च चेइयघरठियाणं चेइया पूयं करेति, ते वि य रायाणो एवं चेव सरज्जेसु कारवेति ॥”
५७४७ ॥ निशीथचूर्णि।

६२. “येन सम्प्रतिना त्रिखण्डमितापि मही जिनप्रासादमण्डिता विहिता।” तपागच्छ-पट्टावली।
रचनाकाल वीरनिर्वाण सं. २११६ / वि.सं. १६४६।

पूर्व स्वर्गस्थ हुए सम्प्रति द्वारा स्थान-स्थान पर जिनमन्दिरों के निर्माण करवाये जाने और त्रिखण्ड की भूमि को जिनमन्दिरों से मण्डित कर दिये जाने के अनेकशः उल्लेख किये गये हैं।

“वीर नि० सं० ३१६ से वीर नि० सं० ३२९ तक एक परमधर्मनिष्ठ जैन राजा के राज्यकाल में किये गये धर्मकार्यों एवं अन्यान्य प्रमुख कार्यों के विवरण में मूर्तिपूजा का, मन्दिर निर्माण का, रथयात्रा का, रथ पर पुष्पवर्षा का, रथ के आगे अनेक प्रकार के फलों, विविध खाद्य-पदार्थों, कौड़ियों एवं वस्त्र आदि की उछाल का कोई उल्लेख नहीं, और उस लेख से ८०० से लेकर १८०० वर्ष पश्चात् लिखे गये ग्रन्थों में मूर्तिपूजा, मन्दिरनिर्माण, रथयात्रा आदि के उत्तरोत्तर अतिरंजित अभिवृद्धि के साथ उल्लेख हैं। यह एक इस प्रकार की स्थिति है जो सर्वसाधारण को हठात् बड़े असमंजस में डाल देने के साथ तत्त्वजिज्ञासुओं, तथ्य के गवेषकों एवं इतिहास में अभिरुचि रखनेवाले विज्ञों के मन-मस्तिष्क में विचार-मन्थन उत्पन्न कर देती है।

“यह तो एक सर्वसम्मत निर्विवाद सत्य है कि वीरनिर्वाण के पश्चात् ३२९ (३१६ से ३२९ तक खारवेल का शासनकाल) से ३७९ (हाथीगुंफा के शिलालेख के उद्वृंकन का अनुमानित काल) वर्ष की अवधि के बीच जो तथ्य शिला पर उद्वृंकित किये गये हैं, वे वीर नि० सं० ११००, १२००, १७०० और २११६ में निबद्ध किये गये भाष्य, चूर्णि, परिशिष्टपर्व, तपागच्छ-पट्टावली आदि ग्रन्थों के उल्लेखों की अपेक्षा निश्चितरूपेण अधिक प्रामाणिक एवं परम विश्वसनीय और तथ्यपरक हैं। (जै. ध. मौ. इ. भा. ३ / पृ. २३८-१४०)।

“इन सब तथ्यों से अनुमान किया जाता है कि मूर्तिपूजा का प्रचलन चैत्यवासी-परम्परा और यापनीय-परम्परा ने कालान्तर में प्रारम्भ किया। ऐसा प्रतीत होता है कि रत्नत्रयदेव की पूजा के अनन्तर यापनीय-परम्परा ने चरणचिह्नों की पूजा का और तदनन्तर मूर्तिपूजा एवं मन्दिरनिर्माण आदि का प्रचलन किया।

“श्रुतसागर सूरि द्वारा यापनीयपरम्परा की मान्यताओं के सम्बन्ध में जो ‘रत्नत्रय पूजयन्ति’ वाक्य का प्रयोग किया गया है, इसकी पुष्टि, चिक्क मागड़ि में अवस्थित वसवणमन्दिर के प्रांगण में जो एक स्तम्भलेख विद्यमान है, उससे भी होती है। इस अति विस्तृत शिलालेख के अन्तिम भाग में रत्नत्रयदेव की वसदि के सम्बन्ध में जो उल्लेख है वह निम्नलिखित रूप में है—

“--- तत्पादपद्मोपजीविश्रीमन्महाप्रधान बाहतर नियोगाधिपति महाप्रचंडदंडनायकं रेचिदेवरसनामा गुणिलय रत्नत्रयदेवरबसदियाचार्यर् भानुकीर्त्ति-सिद्धान्तदेवरं बरिसि मुनं समधिगत-पंचमहाशब्दमहामण्डलेश्वरं बनवासिपुरवराधीश्वरं पद्मावतीदेवीलब्धवरप्रसादं

मृगमदामोदं मावर्कोलभैरवं कादम्बकण्ठी --- कामिनीलोलं हुसिवरशूलं निगलंक मल्लनसु
हत् सेल्ल गण्डर दावणि सुभटशिरोमणि इत्यखिलनामावली समालंकृतनप्य वाष्प देव
--- बलिय-बाडं तलवेयं त्रिभोगाभ्यन्तर-विशुद्धियि-सर्व्वबाधापरिहारं-सर्व्व-नमश्यवागि-
परिकल्पिसिदुदं शकवर्ष-नूर-नाल्कनेय --- सुद्ध पंचमी बुधवारदन्दा रत्नत्रयदेवर-
भिषेकाद्यंगभोग-रंग-भोगकंकं ऋषियराहार-दानकंकं विद्यार्थिगल --- बसदि पेस ---- खण्ड
स्पु (स्फो) टित जीण्णोद्धारक्कवेन्दु आ श्रीमन्मूलसंघद काणूरुगणद तित्त्रिकगच्छद
नुन्नवंशद श्रीमद्भानुकीर्ति सिद्धान्त --- कोट्टु --- महाप्रधानं कृतजयाकर्षणविधानं
धनुर्विद्याधनंजय नाकर्णितरणरभसभीतभू --- द विद्याधरं काव्यकलाधरनेनिप-
मुरारिकेशद-देवंगे धम्म प्रतिपालनमं समर्पिसिदनातनं प्रभावमेन्तेदोडे ॥”^{६३}

“इसमें रत्नत्रयदेव-वसदि और रत्नत्रयदेव के अभिषेक, अंग-भोग, रंग-भोग और वहाँ रहनेवाले मुनियों और विद्यार्थियों के आहार आदि की व्यवस्था हेतु मूलसंघ, काणूरुगण, तित्त्रिणीकगच्छ, नुन्नवंश के आचार्य भानुकीर्ति-सिद्धान्तदेव को दान किये जाने का स्पष्ट उल्लेख है। इससे “रत्नत्रयं पूजयन्ति” इस उपर्युल्लिखित उल्लेख की पुष्टि होती है कि यापनीयसंघ में रत्नत्रय (सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन, सम्यग्चारित्र) देव की पूजा किये जाने का पूर्वकाल में प्रचलन था। इस लेख में रत्नत्रयदेव-मन्दिर के जीर्णोद्धार का भी इस दान के कारण के रूप में उल्लेख होने से यह स्वतः ही सिद्ध हो जाता है कि शक संवत् (?) १०४ तदनुसार ईसवी सन् (?) १८२ में जिस वक्त यह दान दिया गया, यह रत्नत्रयदेव का मन्दिर अथवा बसदि का भवन अतिप्राचीन होने के कारण जीर्णशीर्ण हो चुका था। रत्नत्रयदेव की बसदि के अतिप्राचीन और जीर्णशीर्ण होने के उल्लेख से भी यह अनुमान किया जाता है कि यापनीयपरम्परा में प्रारम्भिक काल में तीर्थकरों की मूर्ति के स्थान पर रत्नत्रयदेव की पूजा की परिपाटी प्रचलित थी। (जै.ध.मौ.इ. / भा. ३ / पृ. २४०-२४१)।

आचार्य श्री हस्तीमल जी ‘जैनधर्म का मौलिक इतिहास’ के द्वितीय भाग में मुनि श्री कान्तिसागर जी के मत को उद्धृत करते हुए लिखते हैं—“सम्प्रति के सम्बन्ध में कतिपय जैनग्रन्थों में इस प्रकार का उल्लेख मिलता है कि उसने भारत के आर्य एवं अनार्य प्रदेशों में इतने जिनमन्दिरों का निर्माण करवाया कि वे सारे प्रदेश जिनमन्दिरों से सुशोभित हो गये।”^{६४}

६३. जैन शिलालेख संग्रह / भाग ३ / लेख सं. ४०८।

६४. “येन सम्प्रतिना त्रिखंडमितापि मही जिनप्रासादमण्डिता विहिता, साधुवेश-धारिनिजवंशपुरुष-प्रेषणेनानार्यदेशेऽपि साधुविहारः कारितः।” (तपागच्छ-पट्टावली)।

“राजा सम्प्रति द्वारा किये गये कार्यों के सम्बन्ध में प्रसिद्ध जैनइतिहासवेत्ता स्व० मुनि श्री कान्तिसागर जी ने कुछ अंशों की जो पाण्डुलिपि तैयार की, उसके एतद्विषयक अंश को यहाँ अविकल रूप से दिया जा रहा है—

“यह एक आश्चर्य की बात है कि मौर्यसाम्राज्य के इतिहास में सम्प्रति के संबंध में जो कुछ भी उल्लेख मिलता है, वह उसके कृतित्व पर वास्तविक प्रकाश नहीं डालता। जैन साहित्य में सम्प्रति के सम्बन्ध में विशद विवेचन उपलब्ध है। उस विवेचन के अनुसार सम्प्रति ने जैन संस्कृति के प्रचार व प्रसार के लिये अपने पुत्रों तथा असूर्यम्पश्या कहलाने-वाली अपनी पुत्रियों तक को कृत्रिम मुनियों का व साध्वियों का वेष धारण करवा कर अपने अनेकों सामन्तों के साथ दूर-दूर प्रदेशों में भिजवाया और इस तरह अशोक के आदर्श को सम्प्रति ने अपने जीवन में भी मूर्त रूप दिया।

“चूर्ण और निर्युक्तियों में यह भी सूचित किया गया है कि सम्प्रति ने प्रचुर मात्रा में जिनमूर्तियों की, मन्दिरों एवं देवशालाओं में स्थापना करवाकर जैन संस्कृति और सभ्यता को स्थान-स्थान पर फैलाया था।

“जहाँ तक जैनमूर्ति-विधान एवं उपलब्ध पुरातन अवशेषों का प्रश्न है, यह बिना किसी संकोच के कहा जा सकता है कि राजा सम्प्रति द्वारा निर्मित मन्दिर या मूर्तियाँ भारतवर्ष के किसी भी भाग में आज तक उपलब्ध नहीं हो पाई हैं। श्वेतपाषाण की कोहनी के समीप गाँठ के आकार के चिह्नवाली प्रतिमाएँ जैन समाज में प्रसिद्ध रही हैं और उन सभी का सम्बन्ध राजा सम्प्रति से स्थापित किया जाता है। ऐसी प्रतिमाओं के अनेक स्थानों पर प्रतिष्ठापित होने का भी उल्लेख किया गया है। मेरी विनम्र सम्मति के अनुसार ये श्वेत पाषाण की प्रतिमाएँ सम्प्रति अथवा मौर्य काल की तो क्या, तदुत्तरवर्ती काल की भी नहीं कही जा सकतीं।

“दशम सदी से पूर्व के बहुत कम ऐसे शिल्पावशेष मिले हैं, जो श्वेत प्रस्तरों पर उत्कीर्णित हों। मौर्यकाल में अधिकतर प्रादेशिक पत्थर ही शिल्पकला में व्यवहृत होते थे। मौर्यकाल की मूर्तियाँ जितनी भी उपलब्ध हैं, लगभग सभी सचिक्कण हैं। ये प्रतिमाएँ अपनी शैली के कारण दूर से ही पहिचानी जा सकती हैं। पटना-लोहानीपुरा मोहल्ले से निकली कुछ खण्डित प्रतिमाएँ पटना-म्यूजियम में सुरक्षित हैं। एक बात और भी है कि मन्दिर बनवाने के सम्बन्ध में भी यदि स्पष्ट कहा जावे, तो स्थिति सन्देहात्मक ही है, कारण कि मौर्यशासित प्रदेशों में जहाँ कहीं भी उत्खनन हुआ है, वहाँ इनके अवशेष या चिह्न कहीं नहीं मिले हैं। यदि सम्प्रति राजा ने इतना विशद शैल्पिक निर्माण करवाया होता, तो कम से कम कहीं न कहीं तो इनके अवशेषों

एवं चिह्नों की प्राप्ति होनी चाहिए थी। इन बातों के बावजूद भी यह तो स्वीकार करना ही पड़ेगा कि जैनत्व के प्रति राजा सम्प्रति के हृदय में अगाध श्रद्धा और आस्था थी।

“विदेशों में समनीया जाति कही जाती है। वह असम्भव नहीं, सम्प्रति-कालिक प्रचार एवं पुरुषार्थ का ही प्रतिफल हो। श्रमण और समनीया का साम्य स्पष्ट है। कालान्तर में उचित जैन संस्कारों के अभाव में समनीया जाति में से जैनत्व के संस्कार विलुप्त हो गये हों, पर नाम समनीया आज भी ज्यों का त्यों बना हुआ है।

“उपर्युक्त विचारों पर पाठक तटस्थता से चिन्तन कर तथ्य पर पहुँचने का प्रयास करें।” (जै. ध. मौ. इ. / भा. २ / पृ. ४५९-४६०)।

३

सभी प्राचीन नग्न जिनप्रतिमाएँ दिगम्बरीय

प्राचीनकाल में श्वेताम्बरपरम्परा में मन्दिर-मूर्ति के निर्माण एवं पूजन की प्रथा के अभाव के विषय में मान्य श्वेताम्बरचार्य श्री हस्तीमल जी द्वारा प्रस्तुत उपर्युक्त (शीर्षक २ में वर्णित) प्रमाण युक्तिसंगत प्रतीत होते हैं। डॉ० सागरमल जी ने भी स्वीकार किया है कि मूर्तिपूजा की प्रथा श्वेताम्बरसम्प्रदाय की मौलिक प्रथा नहीं है, अपितु बाहर से आयी है। वे लिखते हैं—“तीसरी-चौथी शती से वैदिकपरम्परा के प्रभाव से पूजाविधान और तान्त्रिक साधनाएँ जैन और बौद्ध परम्पराओं में प्रविष्ट हो गयीं।” (‘जैनधर्म की ऐतिहासिक विकासयात्रा’/ पृ.१२)।

उन्होंने यह भी लिखा है कि “आचारांग, सूत्रकृतांग, उत्तराध्ययन, भगवती आदि प्राचीन आगमों में जिनपूजा की विधि का स्पष्ट उल्लेख नहीं मिलता।” (वही/पृ.३५)। इसके विपरीत डॉक्टर सा० ने यह भी माना है कि “यद्यपि जैनधर्म में मूर्ति और मन्दिर-निर्माण की परम्परा भगवान् महावीर के निर्वाण के लगभग सौ वर्ष पश्चात् नन्दों के काल से प्रारम्भ हो गई थी, हड़प्पा से प्राप्त एक नग्न कबन्ध जैन है या नहीं, यह निर्णय कर पाना कठिन है, किन्तु लोहानीपुर पटना से प्राप्त मौर्यकालीन जिनप्रतिमा इस तथ्य का संकेत है कि जैनधर्म में मूर्ति-उपासना की परम्परा रही है, तथापि उसमें यह सब अपनी सहवर्ती परम्पराओं के प्रभाव से आया है।” (वही/पृ. ३४)। स्पष्ट है कि इस प्रमाण से दिगम्बरमत में अतिप्राचीनकाल से प्रचलित मूर्तिपूजा का समर्थन होता है।

आचार्य हस्तीमल जी के द्वारा प्रस्तुत प्रमाण और डॉ० सागरमल जी का यह मत कि श्वेताम्बर-सम्प्रदाय में पूजापद्धति का प्रवेश तीसरी-चौथी शती में वैदिकपरम्परा

के प्रभाव से हुआ है, हमें इस निष्कर्ष पर पहुँचाते हैं कि श्वेताम्बरपरम्परा में मूर्तिनिर्माण प्रारम्भ होने के पूर्व तक, मन्दिरनिर्माण एवं मूर्तिपूजा का प्रचलन नहीं था। सबसे प्राचीन उपलब्ध श्वेताम्बर जिनप्रतिमा जीवन्त स्वामी की है, जो छठी शती ई० में निर्मित हुई थी। संभवतः इसी समय से श्वेताम्बरसम्प्रदाय में मूर्तिपूजा का प्रचलन हुआ। यह इसका ज्वलन्त प्रमाण है कि जितनी भी प्राचीन नग्न जिनप्रतिमाएँ उपलब्ध हुई हैं, वे सब दिगम्बर-परम्परा की हैं। यापनीय-सम्प्रदाय की उत्पत्ति पाँचवीं शती ई० के प्रारंभ में हुई थी, अतः पाँचवीं शती ई० के पूर्व की कोई भी नग्न जिनप्रतिमा यापनीय-परम्परा से सम्बद्ध नहीं है। हाँ, कंकाली टीले में उपलब्ध कुछ नग्न जिनप्रतिमाएँ, जिनके पादपीठ पर अर्धफालकधारी साधु मूर्तित हैं, अर्धफालकसम्प्रदाय की हैं।

४

नग्न-जिनप्रतिमा-निर्माण एवं पूजन का प्रारम्भ

दिगम्बरपरम्परा द्वारा

उपर्युक्त प्रमाणों से सिद्ध है कि तीर्थंकरों की नग्न प्रतिमाओं का निर्माण और पूजन अत्यन्त प्राचीनकाल से (कम से कम सिन्धुसभ्यता के युग से) केवल दिगम्बरपरम्परा में ही होता आया है और वह केवल उसी के सिद्धान्तों के अनुकूल है। ईसापूर्व चौथी शताब्दी में उत्पन्न अर्धफालक सम्प्रदाय तथा ईसा की पाँचवीं शती में उद्भूत यापनीयसम्प्रदाय ने भी नग्न जिनप्रतिमाओं के निर्माण एवं पूजन की प्रथा दिगम्बरों से ही ग्रहण की थी। अतः सिन्धुसभ्यतायुग, नन्दपूर्वयुग (या महावीरयुग), मौर्ययुग, शुंगयुग, कुषाणयुग, गुप्तयुग और गुप्तोत्तरयुग में निर्मित नग्न जिनप्रतिमाओं की उपलब्धि से सिद्ध है कि दिगम्बर जैन-परम्परा ऐतिहासिक दृष्टि से कम से कम ईसा से २४०० वर्ष पुरानी है। इसलिए यह कहना कि उसे बोटिक शिवभूति ने प्रथम शती ई० में या आचार्य कुन्दकुन्द ने पाँचवीं शती ई० (विक्रम की छठी शती) में प्रवर्तित किया था, एक महान् ऐतिहासिक सत्य का अभद्र अपलाप है।

५

आ० हस्तीमल जी के मत के अप्रामाणिक अंश

पूर्वोद्धृत (इसी प्रकरण के शीर्षक २ में उद्धृत) वक्तव्य में आचार्य श्री हस्तीमल जी का यह मन्तव्य प्रमाणविरुद्ध है कि "जैनसम्प्रदाय में मूर्तिपूजा एवं मन्दिरनिर्माण का प्रचलन रत्नत्रयपूजा एवं चरणचिह्नपूजा के क्रम से यापनीयों ने किया था," क्योंकि हड़प्पा और लोहानीपुर से प्राप्त जिनप्रतिमाएँ ईसा से क्रमशः २४०० वर्ष और ३०० वर्ष पुरानी हैं, जो जैन-परम्परा में ईसा से २४०० वर्ष पूर्व मन्दिर-मूर्ति-निर्माण एवं

मूर्ति-पूजन की प्रथा का अकाट्य प्रमाण हैं। उस समय यापनीयसम्प्रदाय का जन्म ही नहीं हुआ था। अतः यह निर्विवाद है कि मन्दिरमूर्ति-निर्माण एवं मूर्तिपूजा का प्रचलन दिगम्बर-परम्परा द्वारा ही किया गया था।

इसके अतिरिक्त 'यापनीय रत्नत्रय की पूजा करते हैं' श्रुतसागर सूत्र के इस कथन की पुष्टि के लिए आचार्य जी ने जो चिक्कमागडि के स्तम्भलेख का उदाहरण दिया है, वह यापनीयसंघ का नहीं है, अपितु मूलसंघ का है। उसमें स्पष्ट लिखा है—“श्रीमन्मूलसंघद काणूरुगणद तिन्रिकगच्छद ---१” (देखिये, इसी प्रकरण का शीर्षक २)। यद्यपि मुनि श्री कल्याणविजय जी एवं डॉ० सागरमल जी ने यापनीयसंघ को मूलसंघ सिद्ध करने की चेष्टा की है, किन्तु वह उपलब्ध प्रमाणों से विफल हो जाती है। इसका साक्षात्कार 'यापनीयसंघ का इतिहास' नामक सप्तम अध्याय में किया जा सकता है। तथा काणूरुगण या क्राणूरुगण एवं तिन्रिक या तिन्रिकीक गच्छ भी मूलसंघ के ही हैं, यापनीयसंघ के नहीं।^{६५} अतः उक्त स्तम्भलेख से यापनीयों की किसी धार्मिक क्रिया की पुष्टि नहीं होती। वह मूलसंघ की धार्मिक क्रिया का ज्ञापक है। उससे ज्ञात होता है कि मूलसंघ में रत्नत्रयदेव का भी मन्दिर (वसदि) होता था। अर्थात् सरस्वती की प्रतिमा के समान रत्नत्रयदेव की भी प्रतिमा बनायी जाती थी और मन्दिर में प्रतिष्ठित कर उसका अभिषेक-पूजन किया जाता था। ऐसी एक रत्नत्रय-वसदि की चर्चा १५८७ ई० के रत्नत्रयवसदि-बीलिंगि-(उत्तर कनडा, मैसूर)-अभिलेख में भी है, जिसमें मूलसंघ-देसिगण-पुस्तकगच्छ के श्रवणबेलगुल मठ के चारुकीर्ति पण्डित (भट्टारक) का उल्लेख किया गया है।^{६६} इससे इस विचार की पुष्टि होती है कि मूलसंघ में रत्नत्रयदेव की प्रतिमा मन्दिर में प्रतिष्ठित की जाती थी और पूजा जाती थी। यह कोई आपत्तिजनक बात नहीं थी। आज भी मूलसंघ में सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र्य, दशलक्षणधर्म आदि आत्मपरिणामों की काल्पनिक मूर्ति बनाये बिना ही पूजा की जाती है। इससे यह सिद्ध नहीं होता कि मूलसंघ में जिनप्रतिमाओं की पूजा नहीं होती थी। मूलसंघ में जिनप्रतिमाओं की पूजा-अर्चना तो ईसापूर्व तीन हजार वर्ष से होती आ रही है, यह पूर्व प्रमाणों से सिद्ध है।

इसी प्रकार यदि श्रुतसागरसूत्र ने दंसणपाहुड (गा.११) की टीका में यह लिखा है कि 'यापनीय रत्नत्रय को पूजते हैं' तो यह इस बात का सबूत नहीं है कि वे उस समय जिनप्रतिमा को नहीं पूजते थे। श्रुतसागरसूत्र ने यापनीयों को पञ्चजैनाभासों में शामिल करते हुए कहा है कि जैनाभासों के द्वारा जो अञ्चलिकारहित नग्नमूर्ति

६५. देखिए, अध्याय ७ / प्रकरण ३ / शीर्षक ४ तथा अध्याय ८ / प्रकरण ३ / शीर्षक १।

६६. जैनशिलालेखसंग्रह / भारतीय ज्ञानपीठ / भा.४ / लेख क्र. ४९०।

भी प्रतिष्ठित की जाती है, वह वन्दनीय और पूजनीय नहीं है।^{६७} अञ्चलिकासहित जिनमूर्ति तो श्वेताम्बरों के द्वारा प्रतिष्ठित की जाती है, अतः शेष चार जैनाभास अर्थात् काष्ठासंघ (गोपुच्छक), माथुरसंघ (निष्पिच्छिक), द्राविडसंघ और यापनीयसंघ नग्न जिनप्रतिमा प्रतिष्ठित करते थे। इससे स्पष्ट है कि श्रुतसागरसूरि की मान्यतानुसार यापनीय जिनप्रतिमा-पूजक भी थे। सन् ४७५-४८० ई० के^{६८} देवगिरि-दानपत्र में उल्लेख है कि कृष्णवर्मन् के पुत्र देववर्मन् ने अरहन्त भगवान् के चैत्यालय के भग्नसंस्कार तथा अर्चा-पूजा के लिए यापनीयसंघ को भूमि दान किया था।^{६९} इससे ज्ञात होता है कि यापनीयसंघ में लगभग अपने जन्म के समय (चौथी शती ई०) से ही मूर्ति पूजा प्रचलित थी। इससे आचार्य हस्तीमल जी का यह कथन प्रमाणविरुद्ध सिद्ध होता है कि यापनीयसंघ आरम्भ में रत्नत्रय को पूजता था, फिर उसमें तीर्थंकर के चरणचिह्नों की पूजा प्रारम्भ हुई, उसके बाद जिनप्रतिमा पूजी जाने लगी।

तथा आचार्य जी ने 'चिक्कमागडि' के उपर्युक्त स्तम्भलेख को शकसंवत् १०४ तदनुसार ईसवी सन् १८२ का बतलाया है। किन्तु शिलालेखों के विशेषज्ञ डॉ० गुलाबचन्द्र जी चौधरी ने लिखा है कि 'मूलसंघ' का सर्वप्रथम उल्लेख ३७० ई० एवं ४२५ ई० के नोणमंगल-ताम्रपट्टिका-लेखों (क्र० ९० और ९४) में हुआ है।^{७०} अतः आचार्य जी का उपर्युक्त मत भी अप्रामाणिक है।

इस प्रकार यही मत प्रामाणिक ठहरता है कि नग्न जिनप्रतिमा के निर्माण एवं पूजन का प्रचलन ईसा से कम से कम ढाई हजार वर्ष पूर्व एकान्त-अचेलमुक्तिवादी निर्ग्रन्थपरम्परा, जो आगे चलकर मूलसंघ एवं दिगम्बरजैनसंघ के नाम से प्रसिद्ध हुई, उसमें ही हुआ था। उसी का अनुकरण उत्तरकालीन अर्धफालकसम्प्रदाय एवं यापनीय-सम्प्रदाय ने किया। श्वेताम्बरसम्प्रदाय में या तो दीर्घकाल तक मूर्तिपूजा को मान्यता नहीं दी गयी अथवा ईसा की छठी शताब्दी के पूर्व तक अनग्न एवं अचेल जिन-प्रतिमाओं का निर्माण एवं पूजन होता था, तत्पश्चात् सवस्त्र या अंचलिकायुक्त तीर्थंकरप्रतिमाओं का निर्माण आरम्भ हुआ। इसलिए ईसा से २४०० वर्ष पहले निर्मित हड़प्पा की नग्न जिनप्रतिमा एवं ईसा से ३०० वर्ष पूर्व बनी लोहानीपुर की नग्न तीर्थंकर प्रतिमा दिगम्बरपरम्परा की प्रतिमाएँ हैं, जिनसे सिद्ध होता है कि ऐतिहासिक दृष्टि से दिगम्बरजैन-परम्परा ईसा से कम से कम ढाई हजार वर्ष पूर्ववर्ती है।

६७. "या पञ्चजैनाभासैरञ्चलिकारहितापि नग्नमूर्तिरपि प्रतिष्ठिता स न वन्दनीया, न चार्चनीया च।" बोधपाहुड-टीका / गा. १०।

६८. डॉ. ए. एन. उपाध्ये / 'अनेकान्त' महावीरनिर्वाण विशेषांक / १९७५ ई०।

६९. "अर्हतः भगवतः चैत्यालयस्य भग्नसंस्कारार्चनमहिमार्थं यापनीयसङ्घेभ्यः --- द्वादश-निवर्तनानि क्षेत्रं दत्तवान्।" जैनशिलालेखसंग्रह / माणिकचन्द्र / भा. २ / ले. क्र. १०५।

७०. जैनशिलालेख संग्रह / माणिकचन्द्र / भा. ३ / प्रस्ता. / पृ. २४।



चतुर्थ प्रकरण

अभिलेखों में निर्ग्रन्थों और मूलसंघ के उल्लेख

अभिलेखीय प्रमाणों से भी दिगम्बरपरम्परा के ईसापूर्ववर्ती होने का समर्थन होता है। प्राचीन शिलालेखों एवं ताम्रपत्रलेखों में निर्ग्रन्थ और मूलसंघ शब्दों का प्रयोग हुआ है, जो दिगम्बरसंघ के पूर्वनाम हैं। सम्राट् अशोक ने अपने सातवें स्तम्भलेख (ईसा पूर्व २४२) में लिखवाया है कि उसने सभी धार्मिक सम्प्रदायों तथा ब्राह्मणों, आजीविकों और निर्ग्रन्थों के कल्याणकारी कार्यों का देखरेख के लिए धर्म-महामात्य की नियुक्ति की थी।^{७१} लोक में निर्ग्रन्थ शब्द दिगम्बरजैन मुनियों के लिए ही प्रसिद्ध था, यह पाँचवीं शती ई० के श्रीविजयशिवमृगेशवर्मा एवं मृगेशवर्मा नामक कदम्बवंशीय राजाओं के अभिलेखों से प्रमाणित है।

श्रीविजयशिवमृगेशवर्मा के ताम्रपत्रलेख में उल्लिखित है कि उसने श्वेतपट-महाश्रमणसंघ और निर्ग्रन्थमहाश्रमणसंघ के उपभोग के लिए कालवङ्ग नामक ग्राम का दान किया था।^{७२} और मृगेशवर्मा के ताम्रपट्टिका लेख में कहा गया है कि उसने यापनीयों, निर्ग्रन्थों और कूर्चकों को भूमिदान किया था।^{७३} इन लेखों में श्वेताम्बरों के लिए 'श्वेतपट' शब्द का प्रयोग किया गया है, यापनीयों के लिए 'यापनीय' शब्द और कूर्चकों के लिए 'कूर्चक' शब्द का। इसके बाद दिगम्बर ही शेष रहते हैं। अतः परिशेषन्याय से सिद्ध होता है कि 'निर्ग्रन्थ' शब्द दिगम्बरों के लिए ही प्रयुक्त हुआ है। यह इस बात का प्रमाण है कि अशोकयुग से लेकर ईसा की पाँचवीं शती तक 'निर्ग्रन्थ' शब्द दिगम्बरों के लिए ही प्रयुक्त होता आ रहा था। इसकी पुष्टि इस तथ्य से भी होती है कि अशोककालीन बौद्ध ग्रन्थ अपदान में श्वेताम्बरमुनि 'श्वेतवस्त्र' शब्द से अभिहित किये गये हैं^{७४} और यापनीयों तथा कूर्चकों का उस समय अस्तित्व नहीं था। अतः यह निर्विवाद है कि अशोकयुग में दिगम्बर ही 'निर्ग्रन्थ' शब्द से प्रसिद्ध थे।

दिगम्बरों के लिए 'निर्ग्रन्थ' शब्द के प्रयोग की प्राचीनता को डॉ० सागरमल जी ने भी स्वीकार किया है। वे लिखते हैं—“निर्ग्रन्थसंघ मूलसंघ से भिन्न नहीं था। यह उन अचेल श्रमणों का वर्ग था, जो भद्रबाहु के पूर्व या भद्रबाहु के समय से दक्षिणभारत में विचरण कर रहे थे। अतः ई० सन् की पाँचवीं शती तक दक्षिण भारत में यापनीयों से भिन्न अचेलपरम्परा के दो अन्य संघ भी थे, एक निर्ग्रन्थसंघ (मूलसंघ) और दूसरा कूर्चकसंघ।” (जै.ध.या.स./पृ.४५)। ये शब्द डॉक्टर सा० ने सन् १९९६ में प्रकाशित अपने ग्रन्थ जैनधर्म का यापनीय सम्प्रदाय में लिखे हैं। इसके

७१. देखिए, द्वितीय अध्याय के षष्ठ प्रकरण में शीर्षक २ के नीचे लेख का मूलपाठ।

७२. देखिए, चतुर्थ अध्याय / द्वितीय प्रकरण / शीर्षक १.२।

आठ वर्ष बाद सन् २००४ में लिखे गये अपने दूसरे ग्रन्थ जैनधर्म की ऐतिहासिक विकासयात्रा में भी उन्होंने इन्हें दुहराया है। यथा—

“दक्षिण में गया निर्ग्रन्थसंघ अपने साथ विपुल प्राकृत-जैनसाहित्य तो नहीं ले जा सका, क्योंकि उस काल तक जैनसाहित्य के अनेक ग्रन्थों की रचना ही नहीं हो पायी थी। वह अपने साथ श्रुतपरम्परा से कुछ दार्शनिक विचारों एवं महावीर के कठोर आचारमार्ग को ही लेकर चला था, जिसे उसने बहुत काल तक सुरक्षित रखा। आज की दिगम्बरपरम्परा का पूर्वज यही दक्षिणी अचेल निर्ग्रन्थसंघ है।” (पृ.२६)।

ईसा की पाँचवीं शताब्दी (४७९ ई०) में ही उत्कीर्ण किये गये पहाड़पुर-ताम्रपत्र-लेख में पञ्चस्तूपनिकाय के श्रमणों को ‘निर्ग्रन्थ’ कहा गया है।^{१२} निर्ग्रन्थसंघ मूलसंघ के नाम से भी प्रसिद्ध रहा है। प्रागुप्तकालीन (संभवतः ३७० ई० में अभिलिखित) नोणमंगल के ताम्रपत्र-लेख में कहा गया है कि महाधिराज माधववर्मा ने पेब्बोललु ग्राम में मूलसंघ द्वारा निर्मित अर्हदायतन (जिनमन्दिर) को भूमि और कुमारपुर गाँव दान में दिया था। मूलपाठ इस प्रकार है—

“श्रीमता माधववर्म्म-महाधिराजेन --- पेब्बोललु-ग्रामे अर्हदायतनाय मूलसङ्घानुष्ठिताय महातटाकस्य अधस्तात् द्वादशखण्डुकावापमात्र-क्षेत्रं च तोट्टक्षेत्रं च पट्टक्षेत्रं च कुमारपुर-ग्रामश्च --- दत्तः।” (जै.शि.सं. / मा.चं / भा.२ / ले.क्र.९०)।

माधववर्म्म-महाधिराज के पुत्र कोङ्गणिवर्म्म-धर्ममहाधिराज ने भी गुप्तकाल से पूर्व संभवतः ई० सन् ४२५ के लगभग मूलसंघ के आचार्य चन्द्रनन्दी आदि द्वारा प्रतिष्ठापित उरनूर के जैनमंदिर को वेनैल्करनि गाँव दान में दिया था, जिसका उल्लेख नोणमंगल ग्राम में उपलब्ध ताम्रपत्रों पर मिलता है यथा—

“श्रीमता कोङ्गणिवर्म्म-धर्म-महाधिराजेन आत्मनः श्रेयसे --- चन्द्रनन्दाचार्य-प्रमुखेन मूलसङ्घेनानुष्ठिताय उरनूरार्हतायतनाय --- वेनैल्करनिग्रामः --- दत्तः।” (जै.शि.सं. / मा.च. / भा.२ / ले.क्र. ९४)।

इन शिलालेखीय प्रमाणों से दिगम्बरजैन-परम्परा ईसापूर्व तीसरी शताब्दी से भी प्राचीन सिद्ध होती है। अतः इस परम्परा को प्रथम शताब्दी ई० (वीर नि० सं० ६०९) में अथवा विक्रम की छठी शती में उत्पन्न बतलानेवाले बोटिक-कथावादी श्वेताम्बराचार्यों एवं मुनि कल्याणविजय जी के वचन इन प्रमाणों से भी कपोलकल्पित सिद्ध होते हैं।

७३. देखिए , द्वितीय अध्याय के षष्ठ प्रकरण में ताम्रपत्रलेख का मूलपाठ।



विस्तृत सन्दर्भ

श्री टी० एन० रामचन्द्रन् के लेख का मूलपाठ

HARAPPA AND JAINISM

T.N. RAMACHANDRAN

The most monumental products of the Indus Civilization are stone sculptures. 13 pieces of statuary, including two well-known and much discussed stone statuettes from Harappa have so far come to light. Three of them represent animals. Five represent stereotyped squatting God. The two statuettes from Harappa have revolutionized existing notions about ancient Indian Art. Both the statuettes, of less than 4" in height, are male torsos exhibiting a sensitiveness and a modelling that was both firm and resilient. In both there are socket holes in the neck and shoulders for the attachment of heads and arms made in separate pieces. In one of the *statuettes under discussion the body is represented as a volume modelled by an unrestrained life-force pressing from within, activating every particle of the surface. It is in the throes of a subtle and rumbling movement emanating from the core of the body. The figure which appears to be modelled from within, is actually at rest, yet brims with movement. The figure is so full of strength that it appears to grow in stature as well, but actually it is tiny, being 3"-3¼" high only. The massive torso unfolds life that has mysteriously crept into the forms, keeping it all alert though seemingly at rest like the gyration of a top. In short, the statuette records unconsciously the inner movement of life within the plastic walls of its body. As such it is a sculpture of "modelled mass." This physical type continues through the ages as the veritable standard in Indian Art for divinities in whom the force of creative activity held under control (जितेन्द्रिय) is to be shown, as for example, in the Jinas or Tirthankaras or deities deep in penance or meditation.*

The other statuette, also from Harappa, represents the nimble figure of a dancer whose gliding curves and emphasized planes are inter-twined as it were in space in the endless function of following the movement of the dance. The volume of the figure is not only evenly distributed round its axis but also well balanced in the intersection of the planes all within the very space created by its body movements. The body's external movements are so well expressed that they govern the unit of space and volume in which the torso exists. In other words, it is a sculpture of lines and planes curved into space. This and the other static statuette already described represent two characteristic modes of Indian sculpture, the one

recording the inner unconscious movement of life within the plastic walls of the body and the other the outer movement of the body by an act of will within the space encircled by that very movement. Both statuettes are dated about 2400-2000 B.C. The head or heads, arms and genital organ of the dancing figure were carved separately and socketed into drilled holes of the torso. The legs are broken. The nipples were cut separately and are fixed with cement. The navel is cup shaped. A hole is drilled on the left thigh. The other static figure presents an adipose youth in an element of "frontality" in which the muscular forms are delineated with careful observation, restraint and breadth of style which is a notable feature of the engraved seals of Mohenjo-Daro. The dancing figure is so lively and fresh that it has no affinity to the dead formalism of the Mohenjo-Daro statuary. It appears to be ithyphallic, lending force to the suggestion that it may represent a prototype of the later day Nataraja, the dancing form of Siva. All art-critics have declared that for pure simplicity and feeling, nothing that compared with these two master-pieces was produced until the great age of Hellas.

The stone statuette in the element of "frontality" also establishes a fundamental truth about ancient Indian Art, namely, that Indian art is as firmly rooted in nature as it is well established in its social environment and its supramundane origin. It at once represents a divinity with all the virtues of strength and creative activity held under control, not to be thrown out but to be utilized for introspective peace (Śanti). This indeed is what we see associated with the Jaina Gods and Tīrthaṅkaras whose colossal images such as Śravaṇabela-gola, Kārkal and Veṅūr in Mysore arrest public attention. With senses controlled by physical effort, with strength and creative activity restrained metaphysically by the silken thread of Ahimsā and with the physical features (limbs) completely abandoned to the rigours of clime and weather, in the pristine and natal state of absolute nudity the colossal statues of the Jaina Tīrthaṅkaras and Jaina ascetics such as of Bāhu Balī at Śravaṇabelagola in Mysore have a lesson to humanity that non-violence is the only panacea for human suffering (Ahimsā Paramo Dharamaḥ). The Harappan statuette being exactly in the above specified pose, we may not be wrong in identifying the God represented as a Tīrthaṅkara or a Jaina ascetic of accredited fame and penance (तपो महिमा). Though its date 2400-2000 B.C. has been disputed by some archaeologists, there is nothing in its style to differentiate it from that of certain terracotta figurines and representations on some of the engraved seals from Mohenjo-Daro. In this connection, Sir Mortimer Wheeler's views on this statuette as published in his INDUS VALLEY

CIVILIZATION (Cambridge History of India, 1953), page 66, are worth quoting:

“These two statuettes, just under 4” in height as preserved, are male torsos exhibiting a sensitiveness and vivacity of modelling entirely foreign to the works considered above. So outstanding are their qualities that some doubt must for the present remain as to the validity of their ascription to the Indus period. Unfortunately the technical methods employed by their finders were not such as to provide satisfactory stratigraphical evidence; and the statements that one, the dancer, was found on the granary site at Harappa and that the other was 4'-10” below the surface in the same general area do not in themselves preclude the possibility of intrusion. Attribution to a later period is also not free from difficulty, and doubt can only be resolved by further and more adequately documented discoveries of a comparable kind.”

From the concluding remarks of Sir Wheeler it is, however, clear that the attribution of a later period to the statuette is as much difficult as a negation to it of the earlier date of third millennium B.C. The chances are thus equal.

Let us now determine the subjective and objective worth of the statuette under description. Its subjective worth has already been noticed. It is of a naked God standing erect in the element of frontality with shoulders well-backed and physical features clear-cut delineating that life is moving within the modelled mass in a well regulated and controlled plastic order. The genital pose rhymes with the spirit of control bringing out the force of the conception of a Jina (conqueror of the senses). In contrast to this, one may study the engraved seal from Mohenjo-Daro (Cambridge Hist. of India, 1953, Pl. XXIII) of the third millennium B.C. representing Rudra > Paśupati > Mahādeva seated in meditation in the midst of mortals such as men, animals such as rhinoceros, buffalo, tiger, elephant, antelopes, birds and fish and exhibiting the penis-erectum (ūrdhva-retas) pose standing for the upward force of creative activity. The iconography of the God noticed in the Mohenjo-Daro seal is fully explained by the following Riks from the Rig Veda—

1. ब्रह्मा देवानां पदवीः कवीनां ऋषिर्विप्राणां महिषो मृगाणां।

श्येनो गृध्राणां स्वधित्तिर्वनानां सोमः पवित्रं अत्येति रेभन् ॥ IX-9-66

“Brahma among gods, leader of the poets, Rishi of sages, buffalo among animals, hawk among birds, axe among weapons, over the sieve goes Soma singing.”

2. त्रिधा बद्धो वृषभो रोरवीति महादेवो मर्त्यानाविवेश ॥

“The thrice-bent bull goes on roaring -The Great God has completely entered the mortals.”

3. रुद्रः पशूनामधिपतिः ।

“Rudra is the lord of creatures.”

In the light of the above interpretation of the Mohenjo-Daro seal from Rig Veda it should be easy to identify the statuette under description by a reference to the Rig Veda. While leading an Archaeological Expedition to Afghanistan in the months of May, June and July, the writer of this article had occasions to verify the records of Yuan Chwang (600-654 A.D.), whose itinerary in Afghanistan and elsewhere is a factual record of variety and scientific and human interest. His description of Hosin—Ghazni or Ghazna, Hazara or Hosala is of great significance. He says, “There are many Tīrthaka heretics here, who worship the Ksuna Deva.” “Those who invoke him with faith obtain their wishes. People both far off and near show for him deep reverence. High and low alike are filled with religious awe of him-- The Tīrthakas by subduing their minds and mortifying flesh get from the spirits of heaven sacred formulae, with which they control diseases and recover the sick.” Ksuna Deva (Suna or Śiśna deva) was probably Tīrthakara or Tīrthāṅkara or their follower that illumined the pantheon of Jainism, which is famous for its gospel of Ahimsā. The record of Yuan Chwang bears testimony to the spread of Jainism even in Afghanistan. In the life account of the Buddha we read that among the opponents of the Buddha stood foremost 6 chiefs or Tīrthakas—Pūrana Kassapa, Ajitkes, Gosāla, Kuccāyana, Nigantha Nāthaputta and Sañjaya. We can recognize in Gosāla the Gosāla of Ājīvika faith and in Nigantha Nāthaputta the last and 24th Jaina Tīrthāṅkara Mahāvīra. Thus Yuan Chwang's description of the god as Ksuna Deva indicates that he is referring probably to the naked Jaina Tīrthāṅkara, the term Tīrthakas also standing for Tīrthakaras or Tīrthāṅkaras. The advent of Jainism in Afghanistan is indeed a revelation.

The term Ksuna Deva may probably stand for the term Śuna or Śiśna deva. While going back to the Rig Veda we find that the Rig Veda refers to naked Gods as Śiśna Devas in two hymns which invoke Indra for protection of Vedic sacrifices from the naked Gods (Śiśna-Devas) :

1. न यातव इन्द्र जूजुवुर्नो न वन्दना शविष्ठ वेद्याभिः ।

स शर्धदर्यो विषुणस्य जंतोर्मा शिश्नदेवा अपि गुर्हंतं नः ॥ VII-21-5

“Oh Indra! no evil spirits have impelled us nor fiends, Oh Mighty God, with their devices. Let our true God subdue the hostile rabble. Let not the naked Gods (Śiśna Devās) approach our holy Yajña or worship.”

2. स वाजं यातापदुष्यदा यन्स्वर्षाता परि षदत्सनिष्यन्।

अनर्वा यच्छतदुरस्य वेदो घञ्छिश्नदेवाँ अभि वर्षसा भूत्॥ X-99-3

“On most auspicious path he (Indra) goes to battle. He toiled to win heaven's light, full fain to gain it. He seized the hundred-gated castle's treasure by craft, unchecked, slaying (in the affair) naked Gods (Śiśna Devās).”

Macdonnell, in his VEDIC MYTHOLOGY, page 155, remarks that the worship of Śiśna Devās was repugnant of Rig Veda. Indra is besought not to let Śiśna Devās approach Vedic sacrifices, Indra is said to have slain the Śiśna Devās when he stealthily saw treasures hidden in a fort provided with 100 gates.

These two Riks flash before us the truth that we are perhaps recognizing in the Harappa statuette a fullfledged Jain Tīrthaṅkara in the characteristic pose of physical abandon (Kāyotsarga) a pose which has been immortalised in the later day colossal statues of jaina Tīrthaṅkaras and Siddhas such as at Śravaṇabelagola, Kārkal, Veṅur etc. One may wonder if a later day Jaina iconographic plastic pose such as Kāyotsarga could have appeared as early as the Harappan or Mohenjo-Daro times (third millennium B.C.) Surely, the conceptions of absolute nudity and inner abandon of all physical consciousness for the realisation of the Jaina fundamental doctrine of Ahimsā can lead only to one pose. It is this pose that we find at Harappa in the statuette under description. There is thus a continuity and unity in this ideology and there are no other iconographic details in the statuette to confuse or lead us astray. Also the nude pose is in strict contrast to the Vedic description of their God Mahādeva > Rudra > Paśupati as Ūrdhva-Medhra the Pose in which we find him depicted on the steatite seal of Mohenjo-Daro (Cambridge History of India, 1953, plate XXIII).

The chronology and hierarchy of the series of 24 Jaina Tīrthaṅkaras do not stand in the way of the date of the Harappa statuette. The present list of Tīrthaṅkaras (Vartamāna Tīrthaṅkaras) include 24, of whom we know that Mahāvīra was a contemporary of Buddha who flourished in the 6th century B.C. Pārśvanātha, the 23rd Tīrthaṅkara, flourished more than 100 years before Mahāvīra and Neminātha, 22nd Tīrthaṅkara, was a cousin of Lord Kṛṣṇa, The friend of the Pāṇdavas of Mahābhārata fame. Even on a rough computation we get a date like the 9th century B.C.

for Neminātha, the contemporary of Kṛṣṇa, the Lord of the Bhagavad-Gītā. Recent excavations at Hastināpura near Meerut, the cradle of the activities of the Pāndavas, has given a date as 1100-800 B.C. of occupation. We have yet to account for 21 Tīrthaṅkaras that preceded Neminātha in a hierarchical order. If we push back the dates proportionately to each Tīrthaṅkara, we are led to find that the first Tīrthaṅkara Ādinātha also called Vṛṣabha Deva stands on the threshold of the last quarter of the 3rd millennium B.C. The statuette under description has been assigned by critics a date between 2400-2000 B.C. That the first Tīrthaṅkara, the founder of Jainism, Ādinātha, also bore the name Vṛṣabha is significant, for the Riks of the Rig Veda are fond of repeating that it was Vṛṣabha that performed the function of proclaiming great truths including the advent of a Great God—

त्रिधा बद्धो वृषभो रोरवीति महोदेवो मर्त्यानाविवेश ॥

That Ādinātha alias Vṛṣabha Deva founded a new order of faith in a sheer spirit of protest against Vedic sacrifices and injury to animals is the first fundamental event that took place in the career of Jainism. Subsequent events and followers of Ādinātha—the Tīrthaṅkaras and Siddhas—put his faith on a firm wheel—the wheel of Ahimsā—and set it moving which, as it moved into time and space, gained strength like electric coils and surcharged the atmosphere with the reverberation “Ahimsā paramo-dharmaḥ.”

That Vṛṣabha Deva should have been naked is a point too well-known to be disputed as absolute nudity being an indispensable factor of holiness was the pivotal doctrine of the Jaina creed. If the Rig Veda seeks the help of Indra, one of the Vedic Gods, for protection of Vedic sacrifices from Śiśna Devas or the naked Gods, it is obvious that the Rig Veda is only chronicling a fact of history, namely, that the origin of Jainism such as Vṛṣabha Deva contemplated and ushered in was with the purpose of putting an end to animal sacrifices that were associated with the Vedic Yajñas. To win the confidence of one and all and to convince humanity of the loftiness of his mission, the First Tīrthaṅkara threw away all clothing, thus exposing himself and his followers to the lime-light of self-sacrifice which began with physical sacrifice (Kāyotsarga). That the other Tīrthaṅkaras perpetuated this doctrine is the delightful story that Indian art in the service of Jainism presents to humanity. The statuette under description is, therefore, a splendid representative specimen of this thought of Jainism at perhaps its very inception.

(HARAPPA AND JAINISM : T. N. RAMACHANDRAN, Published by Kundakunda Bharati Prakashan, New Delhi 1987 A.D.)



हड़प्पा-जिनप्रतिमा



लोहानीपुर-जिनप्रतिमा

षष्ठ अध्याय

षष्ठ अध्याय

दिगम्बर-श्वेताम्बर-भेद का इतिहास

प्रथम प्रकरण

संघभेद के साहित्यिक प्रमाण

१

यापनीयों से दिगम्बरों की उत्पत्ति का मत भारी छलवाद

द्वितीय अध्याय में मुनि श्री कल्याणविजय जी का वक्तव्य उद्धृत किया गया है, जिसमें उन्होंने अपनी यह मान्यता प्रकट की है कि 'जम्बूस्वामी के निर्वाण के पश्चात् जिनकल्प का विलोप हो गया था और वीर नि० सं० ६०९ में श्वेताम्बर-सम्प्रदाय के स्थविरकल्पक साधु बोटिक शिवभूति ने यापनीयसम्प्रदाय चलाया था। फिर यापनीयसम्प्रदाय से दिगम्बरसम्प्रदाय का जन्म हुआ। उसके जन्मदाता दक्षिणभारत के आचार्य कुन्दकुन्द थे, जो पहले यापनीयसम्प्रदाय में दीक्षित हुए थे, पश्चात् उन्होंने आपवादिक सवस्त्रमुक्ति, स्त्रीमुक्ति और केवलिभुक्ति का निषेध करते हुए दिगम्बरसम्प्रदाय स्थापित किया।' इसलिए मुनि कल्याणविजय जी लिखते हैं—“दिगम्बरसम्प्रदाय का पूर्वनाम यापनीयसंघ था।” (श्र.भ.म./पृ.३३५)।

दूसरी ओर डॉ० सागरमल जी मानते हैं कि जिनकल्प का विलोप नहीं हुआ था। वीर नि० सं० ६०९ में जिनकल्प और स्थविरकल्प दोनों प्रचलित थे। इस परम्परा को उन्होंने उत्तरभारतीय-सचेलाचेल-निर्ग्रन्थ-परम्परा नाम दिया है। उनके अनुसार वीर नि०सं० ६०९ में इसके विभाजन से श्वेताम्बर और यापनीय सम्प्रदायों का उद्भव हुआ था। उनकी मान्यता है कि दिगम्बरसम्प्रदाय की नींव आचार्य कुन्दकुन्द ने विक्रम की छठी शती में दक्षिणभारत में डाली थी। किन्तु उन्होंने यह नहीं लिखा कि कुन्दकुन्द पहले यापनीयसम्प्रदाय में दीक्षित हुए थे। फिर भी यदि उनसे यह पूछा जाय कि आपके अनुसार कुन्दकुन्द ने केवल सवस्त्रमुक्ति, स्त्रीमुक्ति और केवलिभुक्ति के सिद्धान्तों का निषेध किया था, शेष जैनसिद्धान्त उन्हें मान्य थे, तो पहले इन समस्त सिद्धान्तों का उपदेश उन्हें किस सम्प्रदाय के गुरु से प्राप्त हुआ था? इसके उत्तर में वे भी मुनि कल्याणविजय जी का ही अनुसरण करेंगे, क्योंकि नाग्यमुक्ति के साथ वैकल्पिक सवस्त्रमुक्ति, स्त्रीमुक्ति आदि सिद्धान्तों को माननेवाला केवल यापनीयसम्प्रदाय ही उस

समय (विक्रम की छठी सदी में) मौजूद था। दिगम्बर-परम्परा को प्राचीन न मानने के कारण वे यह नहीं सोच सकते कि जब कुन्दकुन्द ने अपने ग्रन्थों में सवस्त्रमुक्ति आदि का निषेध किया है, तब इनका निषेध करनेवाली कोई प्राचीन परम्परा रही होगी, उसी परम्परा के गुरु से कुन्दकुन्द को यह ज्ञान प्राप्त हुआ होगा।

अभिप्राय यह कि विक्रम की छठी शती में कुन्दकुन्द को दिगम्बरमत का प्रवर्तक मानने पर उन्हें पहले यापनीयसम्प्रदाय का अनुयायी मानना आवश्यक है। किन्तु द्वितीय, तृतीय, चतुर्थ और पंचम अध्यायों में प्रस्तुत प्रमाणों से सिद्ध किया जा चुका है कि ऐतिहासिक दृष्टि से दिगम्बर-परम्परा सिन्धुसभ्यता से भी प्राचीन है, अतः उसे यापनीयसम्प्रदाय से उद्भूत बतलाना भारी छलवाद है।

२

‘दिगम्बर’ शब्द ‘निर्ग्रन्थ’ का नामान्तर

द्वितीय अध्याय के षष्ठ प्रकरण में सप्रमाण सिद्ध किया गया है कि भगवान् महावीर के अनुयायी नग्न (दिगम्बर) मुनियों का संघ ही भारतीय इतिहास में ‘निर्ग्रन्थसंघ’ नाम से प्रसिद्ध रहा है। श्वेताम्बरसंघ अपने जन्मकाल से ही श्वेतपट, श्वेतवस्त्र, सिताम्बर या श्वेताम्बर नामों से अभिहित होता आया है। निर्ग्रन्थसंघ भगवान् महावीर के निर्वाण के कुछ ही वर्षों बाद निर्ग्रन्थ और श्वेतपट इन दो भागों में विभक्त हो गया था। श्वेतपटसंघ के निर्माता साधुओं के पृथक् हो जाने से अवशिष्ट निर्ग्रन्थसंघ बहुतसमय तक निर्ग्रन्थ नाम से ही अभिहित होता रहा। उसका एक मूलसंघ नाम भी प्रचलित हो गया। आगे चलकर वह नग्नत्वरूप अर्थसाम्य के कारण और ‘श्वेतपट’ या ‘श्वेताम्बर’ शब्द के प्रतिपक्षी अर्थ को स्पष्टतः द्योतित करने के लिए दिगम्बरसंघ नाम से भी पुकारा जाने लगा। अतः प्रस्तुत ग्रन्थ में ‘दिगम्बरसंघ’ से सर्वत्र ‘निर्ग्रन्थसंघ’ एवं ‘मूलसंघ’ और ‘दिगम्बरमुनि’ से सर्वत्र ‘निर्ग्रन्थमुनि’ अर्थ ही ग्राह्य है।

३

जम्बूस्वामी के पश्चात् दिगम्बर-श्वेताम्बर-संघभेद

अनेक साक्ष्य ऐसे हैं, जिनसे सिद्ध होता है कि अन्तिम अनुबद्ध केवली जम्बूस्वामी के निर्वाण (वीर नि० सं० ६२=४६५ ई० पू०) के पश्चात् ही भगवान् महावीर का अनुयायी ऐकान्तिक अचेलमुक्तिवादी निर्ग्रन्थसंघ ‘निर्ग्रन्थ’ और ‘श्वेतपट’ अर्थात् दिगम्बर और श्वेताम्बर सम्प्रदायों में विभाजित हो गया था। पहला साक्ष्य यह है कि भगवान् महावीर के निर्वाण के पश्चात् उनकी शिष्यपरम्परा में गौतम (गणधर), सुधर्मा और

जम्बूस्वामी के नाम तो दोनों सम्प्रदायों में समानरूप से मिलते हैं, किन्तु उसके बाद शिष्यपरम्परा में परिवर्तन हो जाता है। दिगम्बरपरम्परा में जम्बूस्वामी के बाद क्रमशः विष्णु, नन्दिमित्र, अपराजित, गोवर्धन और भद्रबाहु इन पाँच श्रुतकेवलियों के नाम मिलते हैं, जब कि श्वेताम्बरपरम्परा में प्रभव, शय्यम्भव, यशोभद्र, सम्भूतिविजय और भद्रबाहु के नाम हैं। शिष्यपरम्परा में यह भेद स्पष्टतः संघभेद का सूचक है।

आदरणीय पण्डित कैलाशचन्द्र जी शास्त्री का भी यही मत है। वे लिखते हैं—“गौतम गणधर, सुधर्मास्वामी तथा जम्बूस्वामी तक भगवान् महावीर का जैनसंघ अखण्डरूप से प्रवर्तित हुआ। जम्बूस्वामी के पश्चात् किसी प्रकार के अलगाव का भाव उत्पन्न हुआ हो, तो असम्भव नहीं है, क्योंकि भगवान् महावीर के इन तीनों उत्तराधिकारियों को दोनों सम्प्रदाय अपना धर्मगुरु मानते हैं। यद्यपि इतना अन्तर अवश्य प्रतीत होता है कि दिगम्बरपरम्परा गौतम गणधर को ही विशेष महत्त्व देती है, जब कि श्वेताम्बरपरम्परा सुधर्मा को विशेष महत्त्व देती है। सुधर्मा के शिष्य जम्बूस्वामी थे। जम्बूस्वामी के पश्चात् कोई अनुबद्ध केवलज्ञानी नहीं हुआ।---जम्बूस्वामी के पश्चात् ही दिगम्बर और श्वेताम्बर-परम्परा की गुर्वावली में अन्तर पड़ता है और उनमें श्रुतकेवली भद्रबाहु ही ऐसे व्यक्ति हैं, जिन्हें दोनों मान्य करते हैं। इस पर से ऐसा संशय होना स्वाभाविक है कि क्या जम्बूस्वामी के पश्चात् ही कोई ऐसा विवाद खड़ा हुआ था, जिसके कारण से दोनों परम्पराओं के आचार्यों की नामावली में अन्तर पड़ गया?” (जै.सा.इ./पू.पी./पृ.४८५-४८६)।

श्वेताम्बर मुनि श्री नगराज जी डी० लिट० ने भी ऐसे ही विचार व्यक्त किये हैं। उनका कथन है—“जम्बू से अन्तिम श्रुतकेवली भद्रबाहु तक दिगम्बरपट्टावली के अनुसार नन्दी (विष्णु), नन्दिमित्र, अपराजित, गोवर्धन तथा भद्रबाहु, ये पाँच श्रुतकेवली होते हैं। श्वेताम्बर-परम्परा में जम्बू के पश्चात् भद्रबाहु तक प्रभव, शय्यम्भव, यशोभद्र, विजय तथा भद्रबाहु, ये पाँच श्रुतकेवली होते हैं। दोनों परम्पराओं में भद्रबाहु के अतिरिक्त चारों आचार्यों के नाम भिन्न-भिन्न हैं। इससे यह अनुमान लगाना असम्भाव्य कोटि में नहीं जाता कि किन्हीं मुद्दों को लेकर जैनसंघ में जम्बू के बाद भेद पड़ गया था, जिनमें संभवतः मुख्य मुद्दा निर्वस्त्रता एवं सवस्त्रता का रहा होगा। भद्रबाहु के बाद की पट्टावली तो भिन्न है ही।” (आगम और त्रिपिटक : एक अनुशीलन / खण्ड २ / पृ. ५५७)।

दूसरा साक्ष्य यह है कि प्रसिद्ध श्वेताम्बरग्रन्थ ‘विशेषावश्यकभाष्य’ में जम्बूस्वामी के पश्चात् जिनकल्प (अचेलकधर्म) के विच्छेद होने की बात कही गई है और बतलाया गया है कि उनके बाद केवल स्थविरकल्प (सचेलमार्ग) के ही आचरण

की क्षमता लोगों में शेष रह गयी। इस श्वेताम्बर-मान्यता से भी इस बात की पुष्टि होती है कि जम्बूस्वामी के निर्वाण के पश्चात् मूल जैनसंघ में श्वेताम्बर-दिगम्बर का भेद उत्पन्न हो गया था। साधुओं के एक वर्ग ने अचेलत्व का सर्वथा परित्याग कर दिया था और खुल्लमखुल्ला वस्त्रधारण कर यह प्रतिपादित करने लगा था कि वस्त्रपात्रादि ग्रहण किये बिना मोक्ष नहीं हो सकता, क्योंकि वस्त्रपात्रादि संयम के अनिवार्य साधन हैं। विशेषावश्यकभाष्य में बोटिकमत की उत्पत्तिकथा दी गई है, उसी में इसका विस्तार से वर्णन किया गया है।

प्रसिद्ध श्वेताम्बर विद्वान् पण्डित बेचरदास जी ने भी ऐसा ही विचार व्यक्त किया है। वे लिखते हैं—“वर्धमान का निर्वाण होने से परम त्यागमार्ग के चक्रवर्ती का तिरोधान हो गया और ऐसा होने से उनके त्यागी निर्ग्रन्थ निर्नायक से हो गये। तथापि मैं मानता हूँ कि श्रीवर्धमान के प्रताप से उनके बाद की दो पीढ़ियों तक श्रीवर्धमान का वह कठिन त्यागमार्ग ठीक रूप से चलता रहा था। यद्यपि जिन सुखशीलियों ने उस त्यागमार्ग को स्वीकारा था, उनके लिये कुछ छूट रक्खी गई थी और उन्हें ऋजुप्राज्ञ के संबोधन से प्रसन्न रक्खा गया था, तथापि मेरी धारणा मुजब वे उस कठिनता को सहन करने में असमर्थ निकले थे, और श्रीवर्धमान, सुधर्मा तथा जम्बू जैसे समर्थ त्यागियों की छाया में वे ऐसे दब गये थे कि किसी भी प्रकार की चीपटाक किये बिना यथा-तथा थोड़ी सी छूट लेकर भी वर्धमान के मार्ग का अनुसरण करते थे। परन्तु इस समय वर्धमान, सुधर्मा या जम्बू कोई भी प्रतापी पुरुष विद्यमान न होने से उन्होंने शीघ्र ही यह कह डाला कि जिनेश्वर का आचार जिनेश्वर के निर्वाण के साथ ही निर्वाण को प्राप्त हो गया है। उनके जैसा संयम पालन करने के लिए आवश्यक शारीरिक बल या मनोबल आजकल नहीं रहा, एवं उच्च कोटि के आत्मविकास और पराकाष्ठा के त्यागमार्ग का भी आज लोप हो गया है। अतः अब तो वर्धमान के समय में जो छूट ली जाती थी, उसमें भी संयम के सुभीते के लिये (?) वृद्धि करने की आवश्यकता मालूम देती है। मेरी मान्यतानुसार इस संक्रातिकाल में ही श्वेताम्बरता और दिगम्बरता का बीजारोपण हुआ है और जम्बूस्वामी के निर्वाण के बाद इसका खूब पोषण होता रहा हो, यह विशेष संभावित है। यह हकीकत मेरी निरी कल्पना मात्र नहीं है, किन्तु वर्तमान ग्रन्थ भी इसे प्रमाणित करने के सबल प्रमाण दे रहे हैं। विद्यमान सूत्रग्रन्थों एवं कितनेक अन्य ग्रन्थों में प्रसंगोपात्त यही बतलाया गया है कि—

मण-परमोहि-पुलाए आहारग-खवग-उवसमे कप्ये।

संजमतिय-केवलि-सिञ्जाणा य जंबुम्मि वुच्छिण्णा ॥ २५९३ ॥ विशे.भा.।

“अर्थात् जम्बूस्वामी के निर्वाण के बाद निम्नलिखित दस बातें विच्छेद को प्राप्त हो गई हैं। १. मनःपर्ययज्ञान, २. परमावधि ज्ञान, ३. पुलाकलब्धि, ४. आहारक शरीर, ५. क्षपकश्रेणी, ६. उपशमश्रेणी, ७. जिनकल्प, ८. संयमत्रिक (यथाख्यात संयम, परिहार-विशुद्धि संयम और सूक्ष्मसंपराय संयम) ९. केवलज्ञान और १०. सिद्धिगमन।” इससे यह बात स्पष्ट मालूम हो जाती है कि जम्बूस्वामी के बाद जिनकल्प का लोप हुआ बतला कर अब से जिनकल्प की आचरणा को बन्द करना और उस प्रकार आचरण करनेवालों का उत्साह या वैराग्य भंग करना, इसके सिवा इस उल्लेख में अन्य कोई उद्देश्य मुझे मालूम नहीं देता। मैं सिर्फ जिनकल्प के लोप होने का ग्रन्थपाठ बतला सकता हूँ, परन्तु वह पाठ कब का है? और किस का रचा हुआ है? इस विषय में कुछ नहीं कह सकता। तथापि इस पाठ को देवर्धिगणी के समय तक का मानने में कोई सन्देह मालूम नहीं देता, अर्थात् इस पाठ का आशय परम्परा से चला आता हो और इसी से सूत्रग्रन्थों में भी इसे श्रीदेवर्धिगणी जी ने समाविष्ट कर दिया हो, तो यह सम्भावित है। जम्बूस्वामी के निर्वाण के बाद जो जिनकल्प-विच्छेद होने का वज्रलेप किया गया है और उसकी आचरणा करनेवाले को जिनाज्ञा के बाहर समझने की जो स्वार्थी एवं एकतरफा दम्भी धमकी का ढिंढोरा पीटा गया है, बस इसी में श्वेताम्बरता और दिगम्बरता के विषवृक्ष की जड़ समाई हुई है। तथा इसके बीजारोपण का समय भी वही है, जो जम्बूस्वामी के निर्वाण का समय है। इस गवेषणा के उपरान्त भी, उसी समय में इसके प्रारंभ के और भी अनेक प्रमाण मिलते हैं, जिनमें से एक बौद्धग्रन्थों और दूसरा दिगम्बरों की पट्टावली में मैंने स्वयं अवलोकित किया है। बुद्धधर्मानुसारी सूत्रपिटक के ‘मज्झिमनिकाय’ नामक ग्रन्थों में से एक में इस विषय का उल्लेख मिलता है कि “ज्ञातपुत्र (वर्धमान) के निर्ग्रन्थों में मतभेद हुआ था।”^१ उपर्युक्त जिनकल्प विच्छिन्न होने का जो उल्लेख किया गया है, उसका अभिप्राय यह है कि जम्बूस्वामी के पीछे अर्थात् वर्धमान के निर्वाण बाद ६४वें वर्ष में उनके मुनियों में दो दल हो गये थे, जिनमें से एक नरम दल कहता था कि अब जिनकल्प का विच्छेद हो गया

१. “एवं मे सुतं—एकं समयं भगवा सक्केसु विहरति सामगामे। तेन खो पन समयेन निगंठो नातपुत्तो पावायं अधुनाकालङ्कतो होति। तस्स कालङ्किरियाय भिन्ना निगण्ठा द्वेधिकजाता, भण्डनजाता, कलहजाता, विवादापन्ना अञ्जमञ्जं मुखसतीहि वितुदन्ता विहरन्ति।” साम-गामसुत्त/ मज्झिमनिकायपालि/ ३-उपरिपण्णासक/ पृ. १०५७।

अनुवाद—मैंने ऐसा सुना है कि एक समय भगवान् बुद्ध शाक्यों के सामग्राम में साधना हेतु विराजमान थे। उस समय निर्ग्रन्थ ज्ञातिपुत्र (जैन-तीर्थंकर महावीर) का पावानगरी में अभी-अभी देहावसान हुआ था। उनके देहावसान के तत्काल बाद जैन साधु धीरे-धीरे दो भागों में विभक्त होते चले गये। वे परस्पर कलह करते, वाद करते तथा एक-दूसरे को अपशब्द बोलते हुए इधर-उधर घूमने लगे।

है, इसलिए हम उसका आचरण कर ही नहीं सकते। दूसरा गरम दल जिनकल्प का पक्षपाती था और जिनकल्प के आचरण का हिमायती था। इन दोनों दलों के मतभेद का ही उल्लेख बौद्ध ग्रन्थों में हुआ हो, ऐसा इस गाथा के जंबुम्भि वुच्छिण्णा पद पर से हम सरलतापूर्वक अनुमान कर सकते हैं। इस विषय को दिगम्बरों की पट्टावली भी पुष्ट करती है। श्वेताम्बरों और दिगम्बरों की पट्टावली में श्रीवर्धमान, सुधर्मा तथा जम्बूस्वामी तक के नाम समान रीति से और एक ही क्रम से उल्लिखित पाये जाते हैं, परन्तु उसके बाद आनेवाले नामों में सर्वथा भिन्नता प्रतीत होती है और वह भी इतना विशेष भिन्नत्व है कि जम्बूस्वामी के बाद उनमें से एक भी नाम पूरे तौर पर नहीं मिलता। इस प्रकार जम्बूस्वामी के बाद ही ये पट्टावलियाँ जुदी-जुदी गिनी जाने लगीं। यदि इसका कोई कारण हो, तो वह एकमात्र यही है कि जिस समय से सर्वथा जुदे-जुदे पट्टधरों के नामों की योजना प्रारंभ हुई, उसी समय से जम्बूस्वामी के निर्वाण के बाद वर्धमान के साधुओं में भेद पड़ चुका था। वह पड़ा हुआ भेद धीरे-धीरे द्वेष व विरोध के रूप में परिणत होता रहा। उस समय जो स्वयं मुमुक्षु पुरुष थे, वे तो यथाशक्य उच्च त्यागाचरण सेवन करते थे और जो पहले से ही सुखशीलता के गुलाम बन चुके थे, वे कुछ मर्यादित छूट रखकर पराकाष्ठा के त्याग की भावना रखते थे। अर्थात् जम्बूस्वामी के बाद भी उन मुमुक्षुओं में से कई एक तो भगवान् महावीर के कठिन त्यागमार्ग का ही अनुसरण करते थे और कई एक जिन्होंने परिमित छूट ली थी, वे कदाचित् अथवा निरन्तर एकाध कटिवस्त्र रखते होंगे, पात्र भी रखते होंगे तथा निरन्तर निर्जन वनों में न रह कर कभी बस्तियों में भी रहते होंगे।” (‘जैन साहित्य में विकार’/ पृ. ४१-४३)।

पं० बेचरदास जी ने यह विचार भी व्यक्त किया है कि “महावीर निर्वाण के बाद जम्बूस्वामी तक के समय में बुद्धदेव के मध्यममार्ग ने काफी लोकप्रियता प्राप्त कर ली थी और सम्राट् अशोक के समय में तो वह प्रायः सर्वव्यापी हो चुका था। उस समय चारों ओर बौद्धमठ स्थापित किये गये। बौद्धश्रमण लंका आदि देशों में प्रचारार्थ गये। इस मध्यममार्ग की प्रवृत्ति जितनी लोकोपयोगी थी, उतनी ही भिक्षुओं के लिए सरल और सुखद थी। श्रीवर्धमान स्वामी के कठिन त्यागमार्ग से खिन्न हुए जैनसाधुओं पर बौद्धों के इस सरल और लोकोपयोगी मध्यममार्ग का असर होना सहज बात है। जम्बूस्वामी के पश्चात् जिनकल्प विच्छिन्न होने के कथन का अभिप्राय यह हो सकता है कि पूर्व के कठोरमार्ग में नरमाई आई और धीरे-धीरे वनवासी चैत्यवासी बन गये।”^२

२. ‘जैन साहित्य में विकार’/पृ. १८२-१८६ तथा ‘जैन साहित्य का इतिहास’ (गुजराती/ पृ. ९४) (पं० कैलाशचन्द्र जी शास्त्री : जैन साहित्य का इतिहास/पूर्वपीठिका/पृ. ४८८, पादटिप्पणी में उद्धृत)।

माननीय पण्डित कैलाशचन्द्र जी शास्त्री भी पं० बेचरदासजी के उक्त विचारों से सहमत हैं। वे लिखते हैं—“जम्बूस्वामी के बाद से ही सुखशील शिथिलाचारी पक्ष ने अँगड़ाई लेना शुरू कर दिया था और भद्रबाहु के समय में बारह वर्ष के भयंकर दुर्भिक्ष के थपेड़ों ने तथा श्रुतकेवली भद्रबाहु की दक्षिण-यात्रा ने उसे उठकर बैठने का अवसर दिया तथा बौद्ध साधुओं के मगध में बढ़ते हुए प्रभाव ने और उनके आचार-विचार ने उसे खड़ा कर दिया।” (जै.सा.इ./पू.पी./पृ.४८७-४८८)।

श्री देवेन्द्रमुनि शास्त्री कहते हैं—“आर्य जम्बू के पश्चात् श्वेताम्बर दृष्टि से दस वस्तुएँ विच्छिन्न हो गईं। उनमें से एक जिनकल्पिक अवस्था भी है। यह कथन भी परम्पराभेद को पुष्ट करता है।” (जै.आ.सा.म.मी./पृ.५६२)।

जम्बूस्वामी के बाद जो संघभेद की प्रवृत्ति आरंभ हुई, वह श्वेताम्बर-परम्परानुसार जम्बूस्वामी के ३४ वर्ष बाद हुए आचार्य शय्यंभवकृत ‘दशवैकालिक’ में स्पष्ट दृष्टिगोचर होती है। उसमें अचेलकतावादियों द्वारा वस्त्रपात्रादि को परिग्रह कहे जाने का खुल्लम-खुल्ला विरोध किया गया है। कहा गया है—

जं पि वत्थं व पायं वा कंबलं पायपुंछणं ।
 तं पि संजमलज्जट्ठा धारंति परिहरंति अ ॥ ६/११ ॥
 न सो परिग्गहो वुत्तो नायपुत्तेण ताइणा ।
 मूच्छा परिग्गहो वुत्तो इय वुत्तं महेसिणा ॥ ६/२० ॥

अनुवाद—“साधु जो भी वस्त्र, पात्र, कम्बल और पादप्रौंछन धारण करता है और उपयोग करता है, वह संयम के पालन और निर्लज्जता से बचने के लिए करता है। उन वस्त्रपात्रादि के रखने को भगवान् महावीर ने परिग्रह नहीं कहा है, अपितु उनमें मूच्छा करने को परिग्रह कहा है।”

इस पर श्री देवेन्द्र मुनि शास्त्री लिखते हैं—“सम्भवतः प्रभव स्वामी^३ के समय में ही परस्पर में मतभेद के बीज पनपने लगे होंगे। दशवैकालिक सूत्र में आचार्य शय्यंभव ने स्पष्ट शब्दों में लिखा है कि वस्त्र रखना परिग्रह नहीं है। संयम और लज्जा के निमित्त वस्त्र रखने को भगवान् महावीर ने परिग्रह नहीं कहा है। इस कथन से ऐसा लगता है कि उस समय संघ में आन्तरिक मतभेद प्रारंभ हो गया था।” (जै.आ.सा.म.मी./पृ.५६२)। ये उद्गार मुनिश्री ने दिगम्बर-श्वेताम्बर-संघभेद के विषय में प्रकट किये हैं।

३. जम्बूस्वामी के बाद वीरनिर्वाण सं० ७५ के लगभग हुए चतुर्दशपूर्वी आचार्य।

इतिहासविद् माननीय कस्तूरमल जी बाँटिया का भी मन्तव्य है कि “वस्त्रत्व और नग्नत्व को लेकर ‘धर्मनायकत्व’ जम्बूकेवली के मोक्षगमन पश्चात् दो पृथग्धाराओं में विभाजित हो ही गया। हो सकता है कि इसको वर्तमानरूप भद्रबाहु श्रुतकेवली के पश्चात् ही किसी समय मिला हो, क्योंकि उन तक तो दोनों ही सम्प्रदायों के अनुसार द्वादशांग और चौदह पूर्वों का ज्ञान अविच्छिन्नरूप से चला ही आया था।” (‘जैन इतिहास का अरुचिकर पृष्ठ’/ जैन सिद्धान्त भास्कर/ दिसम्बर १९७८ पृ./२०)।

श्वेताम्बर साध्वी संघमित्रा जी ने भी लिखा है कि “आचार्य जम्बू के बाद वीर नि० ६४ (वि० पू० ४०६) से श्वेताम्बर और दिगम्बर सम्प्रदाय के आचार्यों की परम्परा भिन्न हो गयी थी।” (जैनधर्म के प्रभावक आचार्य/ पृ.७)।

४

द्वादशवर्षीय दुर्भिक्ष से पुनः संघभेद

जम्बूस्वामी के निर्वाण के पश्चात् निर्ग्रन्थ श्रमणसंघ में जो सर्वप्रथम विभाजन हुआ, उसमें श्रुतकेवली भद्रबाहुकालीन दुर्भिक्ष के थपेड़ों ने और योगदान किया। पहले तो शीतादिपरीषहों की पीड़ा सहने में असमर्थ साधुओं ने अचेलत्व छोड़कर वस्त्रपात्रादि ग्रहण किये थे, किन्तु इस द्वादशवर्षीय दुर्भिक्ष में आहारप्राप्ति में उत्पन्न कठिनाइयों के कारण अनेक साधु अचेलत्व छोड़कर वस्त्रपात्रादिधारी बन गये।

दिगम्बर-आचार्य-परम्परा में जिन्हें अन्तिम श्रुतकेवली माना गया है और श्वेताम्बर परम्परा में जिनकी संभूतिविजय के अनन्तर गणना की गई है, उन आचार्य भद्रबाहु के समय (वीर नि० १६२) में उत्तरभारत में पड़े द्वादशवर्षीय भीषण दुर्भिक्ष का उल्लेख दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनों परम्पराओं के साहित्य में उपलब्ध होता है। अतः इसकी सत्यता में सन्देह की गुंजाइश नहीं है।

५

६०० ई० के शिलालेख में दुर्भिक्ष का उल्लेख

श्रवणबेलगोल के चन्द्रगिरि पर स्थित पार्श्वनाथ वसति के पास का शिलालेख इस सम्बन्ध में सबसे प्राचीन प्रमाण है। यह लेख श्रवणबेलगोल के शिलालेखों में सबसे प्राचीन माना जाता है। इसमें लिखा है—“महावीर स्वामी के पश्चात् गौतम, लोहार्य, जम्बू, विष्णुदेव, अपराजित, गोवर्द्धन, भद्रबाहु, विशाख, प्रोष्ठिल, कृत्तिकार्य, जय, सिद्धार्थ, धृतिषेण, बुद्धिल आदि गुरुओं की परम्परा में हुये भद्रबाहु स्वामी ने उज्जयिनी में अपने त्रैकाल्यदर्शी निमित्तज्ञान के द्वारा यह कथन किया कि वहाँ बारह वर्ष का

दुर्भिक्ष पड़नेवाला है, तब सारा संघ उत्तरापथ से दक्षिणापथ की ओर प्रस्थित हो गया। क्रम से वह बहुत समृद्धिशाली जनपद में पहुँचा। वहाँ पहुँचकर भद्रबाहु स्वामी ने संघ को आगे बढ़ने की आज्ञा दे दी और स्वयं प्रभाचन्द्र नाम के शिष्य के साथ कटवप्र (चन्द्रगिरि) पर ठहर गये। उन्होंने वहीं समाधिमरण किया।^४

इस अभिलेख में दुर्भिक्ष की आशंका से भद्रबाहु के संघसहित उत्तर भारत से दक्षिण भारत में पहुँचने मात्र का उल्लेख है। दुर्भिक्षजन्य संकट से अर्धफालकसंघ का जन्म और उससे श्वेताम्बर-सम्प्रदाय की उत्पत्ति कैसे हुई, इसका वर्णन नहीं है। इसका वर्णन 'बृहत्कथाकोश' के कर्ता हरिषेण ने, 'भावसंग्रह' (प्राकृत) के कर्ता देवसेन ने तथा 'भद्रबाहुचरित्र' के लेखक रत्ननन्दी ने किया है।

६

बृहत्कथाकोश का भद्रबाहुकथानक (ई० सन् १३१)

अर्धफालकसंघ एवं काम्बलतीर्थ

आचार्य हरिषेण ने बृहत्कथाकोश के १३१ वें भद्रबाहुकथानक में अर्धफालक, श्वेताम्बर और यापनीय संघों की उत्पत्ति का वर्णन इस प्रकार किया है—एक बार अवन्तीदेश की उज्जयिनी नगरी में महामुनि भद्रबाहु चतुर्विध संघ के साथ आकर क्षिप्रा नदी के किनारे उपवन में ठहरे। उस समय चन्द्रगुप्त उस नगरी का राजा था। वह सम्यग्दृष्टि श्रावक था। एकदिन भद्रबाहु भिक्षा के लिए भ्रमण करते हुए एक घर में प्रविष्ट हुए। वह घर सूना था। केवल झूले में एक शिशु झूल रहा था। उसने कहा—“भगवन् यहाँ से शीघ्र चले जाइये।” दिव्यज्ञानी भद्रबाहु ने उसके वचन सुनकर समझ लिया कि इस देश में बारह वर्ष तक वर्षा नहीं होगी। वे आहार ग्रहण किये बिना ही लौट गये। आकर उन्होंने संघ से कहा कि इस देश में बारह वर्ष का भीषण अकाल पड़नेवाला है। यह धनधान्य समन्वित, जनाकीर्ण देश चोरों और लुटेरों के उपद्रव से शीघ्र ही खाली हो जायेगा। मेरी आयु बहुत कम बची है। अतः मैं यहीं रहूँगा। आप सब साधु समुद्र के समीप चले जायँ।

यह सुनकर राजा चन्द्रगुप्त ने उनसे मुनिदीक्षा ग्रहण कर ली। उनका नाम विशाखाचार्य रखा गया। वे दशपूर्वियों में प्रथम हुए और संघ के अधिपति बना दिये गये। गुरु की आज्ञा से समस्त संघ उनके साथ दक्षिणापथ के पुन्नार नगर को चला गया। किन्तु रामिल्ल, स्थूलवृद्ध तथा भद्राचार्य ये तीन अपने-अपने संघ के साथ सिन्धु आदि देशों में गये। भद्रबाहुस्वामी ने भाद्रपद देश में जाकर समाधिमरणपूर्वक शरीर त्याग दिया।

४. जैनशिलालेखसंग्रह / माणिकचन्द्र / लेख १ / शक सं. ५२२ (ई.सन् ६००)।

दुर्भिक्ष समाप्त होने पर विशाखाचार्य सर्वसंघसहित दक्षिणापथ से मध्यप्रदेश लौट आये। इधर रामिल्ल, स्थूल तथा भद्राचार्य भी अपने-अपने संघसहित सिन्धुदेश से लौट आये। वहाँ भी दुर्भिक्ष पड़ गया था। उन्होंने आकर अपना वृत्तान्त सुनाया। बोले—वहाँ दूसरे देशों से भूखे लोग आकर घर के दरवाजों पर भोजन के लिए शोर मचाते थे, जिससे घर के लोग दिन में भोजन नहीं कर पाते थे। इसलिए वे रात को भोजन बनाकर खाते थे। उन्होंने हम लोगों से कहा—“आप लोग भी रात्रि में पात्र लाकर हमारे घरों से अन्न ले जाया करें और अपने स्थान में जाकर दिन में खा लिया करें।” हम लोग वैसा ही करने लगे—

रामिल्लः स्थविरो योगी भद्राचार्योऽप्यमी त्रयः।

ये सिन्धुविषये याताः काले दुर्भिक्षनामनि ॥ ४७ ॥

पानान्नभोजनैर्हीने काले लोकस्य भीषणे।

आगत्य सहसा प्रोचुरिदं ते जनसन्निधौ ॥ ४८ ॥

वैदेशिकजनैर्द्वाःस्थैः कृतकोलाहलस्वनैः।

पितापुत्रादयो लोका भोक्तुमन्नं न लेभिरै ॥ ४९ ॥

लोको निजकुटुम्बेन बुभुक्षाग्रस्तचेतसः।

साधयित्त्वान्नमाबालं तद्भयान्निशि वल्भते ॥ ५० ॥

भवन्तोऽपि समादाय निशि पात्राणि मदगृहात्।

नूनं कृत्वाऽन्नमेतेषु गत्वा देशिकतो भयात् ॥ ५१ ॥

स्वश्रावकगृहे पूते भूयो विश्रब्धमानसाः।

साधवो हि दिने जाते कुरुध्वं भोजनं पुनः ॥ ५२ ॥

तल्लोकवचनैरिष्टैर्भोजनं प्रीतमानसैः।

अनेन विधिनाऽऽचार्यैः प्रतिपन्नमशेषतः ॥ ५३ ॥

भद्रबाहुकथानक।

एक बार एक दुबला-पतला नग्न मुनि हाथ में भिक्षापात्र लिये एक श्रावक के घर में घुसा। उस घर की नववधू जो गर्भिणी थी, अन्धकार में मुनि को देखकर डर गई और उसका गर्भपात हो गया। तब श्रावकों ने साधुओं के पास जाकर कहा—“समय बड़ा खराब है। जब तक अच्छा समय नहीं आता, तब तक आप लोग बायें हाथ में आगे की तरफ अर्धफालक (वस्त्र का आधा खण्ड) लटका कर और दाहिने हाथ में पात्र लेकर भिक्षा के लिये आया करें और अपने स्थान में जाकर दिन में भोजन किया करें। जब सुभिक्ष हो जायेगा, तब प्रायश्चित्त कर पुनः तप करने लगे।” श्रावकों के वचन सुनकर यतिगण वैसा ही करने लगे—

अन्यदैको मुनिःकोऽपि निर्ग्रन्थः क्षीणविग्रहः।
 भिक्षापात्रं करे कृत्वा विवेश श्रावकगृहम्॥ ५४॥
 तत्रैका श्राविका मुग्धाऽभिनवा गुर्विणी तदा।
 अन्धकारे मुनिं दृष्ट्वा तत्र सा गर्भमागतम्॥ ५५॥
 तद्दर्शनभयात् तस्याः स गर्भः पतितो द्रुतम्।
 दृष्ट्वाऽमुं श्रावकाः प्राप्य यतीशानिदमूचिरे॥ ५६॥
 विनष्टः साधवः कालः प्रायश्चित्तं विधाय च।
 काले हि सुस्थतां प्राप्ते भूयस्तपसि तिष्ठत॥ ५७॥
 यावन्न शोभनः कालो जायते साधवः स्फुटम्।
 तावच्च वामहस्तेन पुरः कृत्वाऽर्धफालकम्॥ ५८॥
 भिक्षापात्रं समादाय दक्षिणेन करेण च।
 गृहीत्वा नक्तमाहारं कुरुध्वं भोजनं दिने॥ ५९॥
 श्रावकाणां वचः श्रुत्वा तदानीं यतिभिः पुनः।
 तदुक्तं सकलं शीघ्रं प्रतिपन्नं मनःप्रियम्॥ ६०॥

भद्रबाहुकथानक।

जब सुभिक्ष हो गया तब रामिल्ल, स्थूलवृद्ध तथा भद्राचार्य ने अपने-अपने साधुओं को बुलाकर कहा—“अब आप लोग अर्धफालक को छोड़कर मोक्ष के लिए निर्ग्रन्थरूप धारण कर लें।” उनके वचन सुनकर कुछ साधुओं ने निर्ग्रन्थरूप धारण कर लिया। रामिल्ल, स्थूल-वृद्ध और भद्राचार्य, ये तीनों भी विशाखाचार्य के पास गये और उन्होंने अर्धवस्त्र को छोड़कर मुनि का निर्ग्रन्थरूप धारण कर लिया। किन्तु, जिन्हें गुरु का वचन अच्छा नहीं लगा, उन परमार्थ को न जाननेवाले शक्तिहीनों ने जिनकल्प और स्थविर-कल्प का भेद करके (दो प्रकार का मोक्षमार्ग कल्पित करके) यह अर्धफालक-तीर्थ चला दिया—

एवं कृते सति क्षिप्रं काले सुस्थत्वमागते।
 सुखीभूतजनव्राते दैन्यभावपरिच्युते॥ ६१॥
 रामिल्लस्थविरस्थूलभद्राचार्याः स्वसाधुभिः।
 आहूय सकलं संघमित्थमूचुः परस्परम्॥ ६२॥
 हित्वाऽर्धफालकं तूर्णं मुनयः प्रीतमानसाः।
 निर्ग्रन्थरूपतां सारामाश्रयध्वं विमुक्तये॥ ६३॥

श्रुत्वा तद्वचनं सारं मोक्षावाप्तिफलप्रदम् ।
दधुर्निर्ग्रन्थतां केचिन्मुक्तिलालसचेतसः ॥ ६४ ॥

रामिल्लः स्थविरः स्थूलभद्रायार्चस्त्रयोऽप्यमी ।
महावैराग्यसम्पन्ना विशाखाचार्यमाययुः ॥ ६५ ॥

त्यक्त्वाऽर्धकर्मणं सद्यः संसारात् व्रतमानसाः ।
नैर्ग्रन्थ्यं हि तपः कृत्वा मुनिरूपं दधुस्त्रयः ॥ ६६ ॥

इष्टं न यैर्गुरोर्वाक्यं संसारार्णवतारकम् ।
जिनस्थविरकल्पं च विधाय द्विविधं भुवि ॥ ६७ ॥

अर्धफालक - संयुक्तमज्ञात - परमार्थकैः ।
तैरिदं कल्पितं तीर्थं कातरैः शक्तिवर्जितैः ॥ ६८ ॥

भद्रबाहुकथानक ।

उसके बाद की घटना इस प्रकार है—सौराष्ट्र देश में वलभी नाम की नगरी है। उसमें वप्रवाद नाम का मिथ्यादृष्टि राजा राज्य करता था। उसकी 'स्वामिनी' नाम की पटरानी थी। वह अर्धफालकधारी साधुओं की भक्त थी। एक दिन राजा रानी के साथ बैठा हुआ गवाक्षों से नगर की शोभा देख रहा था। उसी समय अर्धफालकसंघ के साधु भिक्षा के लिए राजमहल में आये। उन्हें देखकर राजा को बड़ा कुतूहल हुआ। वह अपनी रानी से बोला—“देवि, तुम्हारे ये अर्धफालक साधु अच्छे नहीं लगते। न तो ये वस्त्रावृत ही हैं, न नग्न।” एक दिन जब वे पुनः वहाँ आये तब राजा ने उनसे कहा—“आप लोग अर्धफालक छोड़कर निर्ग्रन्थता अंगीकार लें। यदि निर्ग्रन्थता अंगीकार करने में आप असमर्थ हों, तो इस उपहासास्पद अर्धफालक को त्यागकर मेरे कहने से ऋजुवस्त्र से शरीर आच्छादित कर विचरण करें। साधुओं ने वैसा ही किया। उस दिन से राजा वप्रवाद की आज्ञा से लाट देश में काम्बल-तीर्थ (श्वेताम्बर सम्प्रदाय) प्रवर्तित हुआ। तदनन्तर दक्षिणापथ में स्थित सावलिपत्तन नामक नगर में उस काम्बल-सम्प्रदाय से यापनीयसंघ की उत्पत्ति हुई—

सौराष्ट्रविषये दिव्ये विद्यते वलभी पुरी ।
वप्रवादो नृपोऽस्यां च मिथ्यादर्शनदूषितः ॥ ६९ ॥

बभूव तन्महादेवी स्वामिनी नाम विश्रुता ।
अर्धफालकयुक्तानां सेयं भक्ता तपस्विनाम् ॥ ७० ॥

अन्यदाऽयं नृपस्तिष्ठन् गवाक्षे सौधगोचरे ।
स्वामिन्या प्रियया सार्धं पश्यति स्वपुरश्रियम् ॥ ७१ ॥

तावन्मध्याह्नवेलायां अर्धफालकसंघकः ।
 भिक्षानिमित्तमायातो भूपतेरस्य मन्दिरम् ॥ ७२ ॥
 दृष्ट्वार्धफालकं सङ्घं कौतुकव्याप्तमानसः ।
 महादेवीमिमां प्राह महीपालपुरस्सरम् ॥ ७३ ॥
 अर्धफालकसंघस्ते महादेवि न शोभनः ।
 न चायं वस्त्रसंबीतो न नग्नः सविडम्बनः ॥ ७४ ॥
 ततोऽन्यस्मिन् दिने जाते चार्धफालकसंघकः ।
 नगरान्तिकमायातः कौतुकार्थं कलस्वनः ॥ ७५ ॥
 दृष्ट्वाऽमुं भूपतिः सङ्घं बभाण वचसा हि सः ।
 हित्वा तान्यर्धफालानि निर्ग्रन्थत्वं त्वमाश्रय ॥ ७६ ॥
 यदा निर्ग्रन्थता नेष्टा नृपवाक्येन तैरिमे ।
 तदा महीभृता प्रोक्ता भूयोऽप्याश्चर्यमीयुषा ॥ ७७ ॥
 यदि निर्ग्रन्थतारूपं ग्रहीतुं नैव शक्नुथ ।
 ततोऽर्धफालकं हित्वा स्वविडम्बनकारणम् ॥ ७८ ॥
 ऋजुवस्त्रेण चाच्छद्य स्वशरीरं तपस्विनः ।
 तिष्ठत प्रीतचेतस्का मद्वाक्येन महीतले ॥ ७९ ॥
 लाटानां प्रीतिचित्तानां ततस्तद्विवसं प्रति ।
 बभूव काम्बलं तीर्थं वप्रवादनृपाज्ञया ॥ ८० ॥
 ततः काम्बलिकातीर्थान्नूनं सावलिपत्तने ।
 दक्षिणापथदेशस्थे जातो यापनसङ्घकः ॥ ८१ ॥

भद्रबाहुकथानक ।

७

देवसेनकृत भावसंग्रह (प्राकृत) की भद्रबाहुकथा (९३३-९५५ ई०)

उज्जयिनी में भद्रबाहु स्वामी ने निमित्तज्ञान से द्वादशवर्षीय दुर्भिक्ष की भविष्यवाणी की और सभी गणधरों को अपने-अपने संघों के साथ सुभिक्षवाले देश में चले जाने की आज्ञा दी। 'शान्ति' नामक आचार्य अपने संघ के साथ सौराष्ट्र देश के वलभीनगर गये। वहाँ भी बड़ा भारी अकाल पड़ गया। भूखे लोग दूसरों का पेट फाड़कर अन्न खाने लगे। इसलिए उदरपूर्ति में कठिनाई देखकर सुविधापूर्वक भोजन पाने के लिए उन्होंने निर्ग्रन्थ रूप का परित्याग कर दिया और काम्बल, दण्ड, भिक्षापात्र, प्रावरण

तथा सफेद वस्त्र धारण कर लिए और दीनतापूर्वक अन्न की याचना कर वसतिका में लाकर खाने लगे। ऐसा करते-करते बहुत दिन बीत गए। जब सुभिक्ष हुआ, तब शान्त्याचार्य ने कहा कि अब इस कुत्सित आचरण को छोड़ दो और अपनी निन्दा-गर्हा करके फिर से मुनियों का श्रेष्ठ आचरण ग्रहण करो।

इन वचनों को सुनकर उनके प्रधान शिष्य जिनचन्द्र ने कहा कि अब उस दुर्धर आचरण को कौन धारण कर सकता है? इस समय हम जो आचरण कर रहे हैं, वह बहुत सुखदायक है। उसे हम छोड़ नहीं सकते। तब शान्त्याचार्य ने उनके आचरण को निन्दनीय बतलाकर श्रेष्ठ जिनमार्ग को ग्रहण करने का पुनः आग्रह किया। इससे जिनचन्द्र बहुत रुष्ट हो गया। उसने सिर पर दण्डप्रहार करके गुरु को मार डाला तथा संघ का स्वामी बन गया। वह लोगों को उपदेश देने लगा कि सग्रन्थलिंग से ही मोक्ष की प्राप्ति होती है। उसने शास्त्र भी उसी के अनुरूप रच दिये।^५ इस प्रकार विक्रम संवत् १३६ में वलभीनगर में श्वेताम्बरसंघ उत्पन्न हुआ।^६

इन्हीं देवसेन^७ ने 'दर्शनसार' नामक ग्रन्थ में लिखा है—“विक्रम राजा की मृत्यु के १३६ वर्ष बाद सौराष्ट्र देश के वलभीपुर में श्वेतपट (श्वेताम्बर) संघ उत्पन्न हुआ। श्री भद्रबाहुगणी के शिष्य 'शान्ति' नाम के आचार्य थे। उनका 'जिनचन्द्र' नाम का एक शिथिलाचारी दुष्ट शिष्य था। उसने यह मत चलाया कि स्त्रियों को उसी भव में मोक्ष प्राप्त हो सकता है। केवलज्ञानी भोजन करते हैं और उन्हें रोग होना सम्भव है। वस्त्रधारी भी मुनि मोक्ष प्राप्त कर सकता है। महावीर का गर्भपरिवर्तन हुआ था। जिनलिंग के सिवाय अन्य लिंग से भी मुक्ति हो सकती है तथा प्रासुक भोजन सर्वत्र किया जा सकता है।”^८

५. देवसेन : भावसंग्रह (प्राकृत) / गा.५२-७५ (दर्शनसार / पृ.५५-५७ / सम्पादक : नाथूराम प्रेमी)।

६. छत्तीसे वरिस सए विक्कमरायस्स मरणपत्तस्स।

सोरट्टे उप्पण्णो सेवडसंघो हु बलहीए ॥ ५२ ॥ भावसंग्रह।

७. भावसंग्रह (प्राकृत) और 'दर्शनसार', दोनों के कर्ता देवसेन एक ही व्यक्ति माने गये हैं। (तीर्थंकर महावीर और उनकी आचार्य परम्परा / खण्ड २ / पृ. ३७०)।

८. एक्कस्सए छत्तीसे विक्कमरायस्स मरणपत्तस्स।

सोरट्टे वलहीए उप्पण्णो सेवडो संघो ॥ ११ ॥

सिरिभद्बाहुगणिणो सीसो णामेण संति आइरिओ।

तस्स य सीसो दुट्ठो जिणचंदो मंदचारित्तो ॥ १२ ॥

तेण कियं मयमेयं इत्थीणं अत्थि तब्भवे मोक्खो।

केवलणाणीण पुण अण्णक्खाणं तहा रोगो ॥ १३ ॥

अंबरसहिओ वि जइ सिज्झइ, वीरस्स गब्भचारत्तं।

परलिंगे विय मुत्ती फासुयभोज्जं च सव्वत्थ ॥ १४ ॥ दर्शनसार

८

रत्ननन्दिकृत भद्रबाहुचरित (१६वीं शती ई०)

उज्जयिनी नगरी में चन्द्रगुप्त नाम का राजा राज्य करता था। वहाँ अनेक देशों से विहार करते हुए आचार्य भद्रबाहु बारह हजार मुनियों के साथ आये और नगर के बाहर उपवन में ठहरे। चन्द्रगुप्त ने उनसे मुनिदीक्षा ग्रहण की। एक दिन आचार्य भद्रबाहु श्रेष्ठी जिनदास के यहाँ आहारदान के लिए पड़गाहे गये। जब वे घर में प्रविष्ट हुए, तो उन्होंने पालने में एक साठ दिन के शिशु को देखा। वह मुनिराज से बोला—'जाओ, जाओ।' भद्रबाहु ने पूछा—'कितने वर्षों तक?' शिशु ने उत्तर दिया—'बारह वर्षों तक।'

तब भद्रबाहु ने निमित्तज्ञान से जाना कि मालवदेश में बारह वर्ष का अकाल पड़नेवाला है। मुनिराज आहार किये बिना लौट आये और बारह हजार साधुओं के साथ दक्षिण की ओर रवाना हो गये। किन्तु रामल्य, स्थूलाचार्य और स्थूलभद्र आदि मुनि गुरु की आज्ञा का उल्लंघन कर उज्जैन में ही रुक गये।

दक्षिण की ओर विहार करते समय भद्रबाहु एक अटवी में पहुँचे। वहाँ अपनी मृत्यु का समय निकट जानकर एक कन्दरा में रुक गये। नवदीक्षित चन्द्रगुप्त मुनि भी उनकी परिचर्या के लिए ठहर गये। गुरु ने विशाखाचार्य (इस कथा में ये चन्द्रगुप्त से भिन्न हैं) को पट्ट पर नियुक्तकर उनके साथ संघ को दक्षिणदेश भेज दिया। भद्रबाहु ने उस अटवी में सल्लेखनापूर्वक शरीर का त्याग किया।

इधर उज्जयिनी में भयंकर अकाल पड़ा। वहाँ जो रामल्य, स्थूलभद्र आदि मुनि गुरु की आज्ञा का उल्लंघन करके रह गये थे, वे दुर्भिक्षजन्य उपद्रवों से बहुत पीड़ित हुए। एक मुनि आहार लेकर जा रहे थे। भूखे लोगों ने उनका उदर फाड़ डाला और उसमें से अन्न निकाल कर खा गये। क्षुधार्त लोग श्रावकों के द्वार पर पहुँचकर भोजन माँगते थे। श्रावक भय से किवाड़ नहीं खोलते थे। एक दिन श्रावक साधुसंघ के पास पहुँचे और निवेदन किया कि हम लोग दिन में भोजन नहीं बना सकते, रात्रि में भोजन बनता है। इसलिए आप लोग रात्रि में हमारे गृहों से पात्रों में आहार ले जायँ और अपने स्थान पर ही दिन निकलने पर उसे ग्रहण करें। जब सुभिक्ष हो जायेगा, तब आप प्रायश्चित्त करके पुनः पूर्ववत् मुनिधर्म का पालन करें। साधुओं ने उनकी प्रार्थना स्वीकार कर ली। उन्होंने तुम्बी के पात्र ग्रहण कर लिए तथा भिखारियों और कुत्तों से रक्षा के लिए दण्ड भी रख लिये और रात्रि में श्रावकों के घर जाकर पात्रों में भोजन लाने लगे।

एक दिन रात्रि में एक दुबला-पतला नग्न साधु हाथ में पात्र लिये भिक्षा के लिए यशोभद्र सेठ के मकान में प्रविष्ट हुआ। सेठ की गर्भवती पत्नी उसे राक्षस समझकर भयभीत हो गई और उसका गर्भपात हो गया। तब श्रावकों ने साधुओं से निवेदन किया कि आप लोग कन्धे पर कम्बल डाल कर भिक्षा के लिए आया करें, ताकि आपकी नग्नता ढँक जाय और स्त्रियाँ भयभीत न हों। साधुओं ने यह बात भी स्वीकार कर ली। तब से वे अर्धफालक भी धारण करने लगे।

जब सुभिक्ष हुआ, तब विशाखाचार्य संघ को लेकर उज्जयिनी लौट आये। स्थूलाचार्य ने उनके दर्शनार्थ अपने शिष्यों को भेजा। शिष्यों ने उन्हें वन्दना की, किन्तु विशाखाचार्य ने प्रतिवन्दना नहीं की और पूछा—“मेरी अनुपस्थिति में तुम लोगों ने यह कौनसा दर्शन अपना लिया?” शिष्य लज्जित हुए उन्होंने लौटकर यह वृत्तान्त अपने गुरु को सुनाया। तब रामिल्य, स्थूलभद्र तथा स्थूलाचार्य ने अपने-अपने संघ के मुनियों को उस दूषित मार्ग को छोड़कर पुनः निर्ग्रन्थमार्ग अपनाने का आदेश दिया। स्थूलाचार्य के वचन सुनकर कुछ साधुओं ने तो मूलमार्ग अपना लिया, किन्तु अधिकांश मुनि उस सुखमय मार्ग को छोड़कर कठिन निर्ग्रन्थमार्ग को अपनाने के लिए तैयार नहीं हुए। जब स्थूलाचार्य ने पुनः आग्रह किया, तब वे मुनि बहुत क्रुद्ध हुए और उन्होंने दण्डप्रहार करके स्थूलाचार्य का वध कर दिया। तब से उनका संघ अर्धफालक संघ कहलाने लगा।

बहुत काल बीत जाने पर (वि० सं० १३६ में) रानी चन्द्रलेखा के आमन्त्रण पर वह अर्द्धफालकसंघ सौराष्ट्र देश के वलभीपुर नगर में आया। उस समय इस संघ के आचार्य जिनचन्द्र थे। रानी चन्द्रलेखा ने अपनी पितृनगरी उज्जयिनी में उस अर्धफालकसंघ के साधुओं से शास्त्रों का अध्ययन किया था। अतः वह उन्हें अपना गुरु मानती थी। उसने उनका बहुत स्वागत किया, किन्तु राजा को उनका वेश पसन्द नहीं आया। उसने रानी से कहा, “इन साधुओं का यह कैसा विचित्र रूप है? ये नग्न भी हैं और वस्त्र भी ग्रहण किये हुए हैं। ऐसे साधु तो कहीं नहीं देखे। इन लोगों ने यह कौन सा निन्दनीय मत प्रचलित किया है?” राजा के हृदय के भाव को समझकर रानी ने उन साधुओं के पास श्वेतवस्त्र भेजे और उन्हें पहनने की प्रार्थना की। साधुओं ने रानी की प्रार्थना स्वीकार कर ली।^१ उस दिन से वह अर्धफालकसंघ श्वेताम्बरसंघ कहलाने लगा। इस प्रकार श्वेताम्बरसंघ की उत्पत्ति विक्रम संवत् १३६ (७९ ई०) में हुई।^{१०}

९. भद्रबाहुचरित / परिच्छेद २, ३ एवं ४ / श्लोक १-५३।

१०. धृतानि श्वेतवासांसि तद्दिनात्समजायत।

श्वेताम्बरमतं ख्यातं ततोऽर्द्धफालकमतात् ॥ ४ / ५४ ॥

मृते विक्रमभूपाले षट्त्रिंशदधिके शते।

गतेऽब्दानामभूल्लोके मतं श्वेताम्बराभिधम् ॥ ४ / ५५ ॥ भद्रबाहुचरित।

विसंगतियाँ

इन कथाओं में बड़ी विसंगतियाँ हैं। उन पर थोड़ी दृष्टि डाली जाय। वे इस प्रकार हैं—

१. श्रवणबेलगोल के शिलालेख तथा आचार्य हरिषेण एवं भद्रारक रत्नन्दी के अनुसार जिन भद्रबाहु ने द्वादशवर्षीय दुर्भिक्ष की भविष्यवाणी की थी, वे पंचम श्रुतकेवली भद्रबाहु थे, जिनकी मृत्यु वीरनिर्वाण संवत् १६२ (ई० पू० ३६५) में हुई थी, किन्तु 'भावसंग्रह' एवं 'दर्शनसार' के कर्ता आचार्य देवसेन के अनुसार वे श्रुतकेवली भद्रबाहु से भिन्न थे। वे विक्रम संवत् १३६ (ई० सन् ७९) में हुए थे।^{११}

२. शिलालेख एवं रत्नन्दी के अनुसार भद्रबाहु शिष्यों-सहित उज्जयिनी से दक्षिणापथ गये थे। हरिषेण और देवसेन (भावसंग्रह) के अनुसार वे उज्जयिनी में ही रहे और मुनिसंघ को लेकर विशाखाचार्य (चन्द्रगुप्त) दक्षिणापथ गये थे।

३. शिलालेख के अनुसार भद्रबाहु ने समाधिमरण कटवप्र (श्रवणबेलगोल की चन्द्रगिरि) पर किया था, किन्तु हरिषेण के अनुसार भाद्रपददेश में तथा रत्नन्दी के अनुसार दक्षिणापथ के मार्ग में किया था।

४. हरिषेण का कथन है कि चन्द्रगुप्त का नाम विशाखाचार्य था, किन्तु रत्नन्दी उन्हें चन्द्रगुप्त मुनि ही कहते हैं, विशाखाचार्य नाम किसी और के लिए प्रयुक्त करते हैं। शिलालेख, 'भावसंग्रह' और 'दर्शनसार' में उनका नाम ही नहीं है।

५. हरिषेण कहते हैं कि रामिल्ल, स्थविर स्थूल और भद्राचार्य दुर्भिक्ष के समय सिन्धुदेश गये थे, उधर रत्नन्दी कहते हैं कि वे उज्जैन में ही रहे। देवसेन इनके बदले शान्त्याचार्य और उनके शिष्य जिनचन्द्र का वलभीपुर जाना मानते हैं।

६. देवसेन का कथन है कि वलभीपुर में जिनचन्द्र ने अपने गुरु शान्त्याचार्य की हत्या की थी, रत्नन्दी कहते हैं—शिथिलाचारप्रेमी साधुओं ने उज्जयिनी में अपने गुरु स्थूलाचार्य का वध किया था। हरिषेण ने किसी के भी वध का उल्लेख नहीं किया।

७. हरिषेण और रत्नन्दी पहले श्रुतकेवली भद्रबाहु की मृत्यु के बाद वीर निर्वाण संवत् १६२ (३६५ ई० पूर्व) में अर्धफालक सम्प्रदाय की उत्पत्ति बतलाते हैं, पश्चात् वि० सं० १३६ (७९ ई०) में अर्धफालक सम्प्रदाय से श्वेताम्बर सम्प्रदाय की। देवसेन

११. जैनैन्द्र सिद्धान्त कोश ४ / ७७।

अर्धफालक सम्प्रदाय की उत्पत्ति नहीं बतलाते, उनके अनुसार वि० सं० १३६ में सीधे श्वेताम्बरसंघ का ही उदय हुआ था।

१०

विश्वसनीय अंश

इन विसंगतियों के कारण उक्त कथाओं की सभी बातें विश्वसनीय नहीं हैं, कुछ ही विश्वासयोग्य हैं। यह विश्वासयोग्य है कि उज्जयिनी या मालवदेश में होनेवाले द्वादशवर्षीय दुर्भिक्ष को निमित्तज्ञान से जानकर अन्तिम श्रुतकेवली भद्रबाहु बारह हजार शिष्यों के साथ दक्षिणापथ गये और मार्ग में अथवा श्रवणबेलगोल में उनका समाधिमरण हुआ तथा दुर्भिक्ष समाप्त होने पर संघ विशाखाचार्य के नेतृत्व में उज्जयिनी या मध्यप्रदेश लौट आया। इन घटनाओं की विश्वसनीयता का कारण यह है कि ये श्रवणबेलगोल के पूर्वोक्त शिलालेख से मेल खाती हैं।

यह भी विश्वसनीय है कि जो साधु उज्जयिनी में रह गये थे या वहाँ से सिन्धुदेश अथवा सौराष्ट्रदेश के वलभीपुर नगर में चले गये थे, वे वहाँ के दुर्भिक्षजन्य संकटों के कारण भ्रष्ट हो गये थे। लोगों के कहने पर वे बायें हाथ पर अर्धफालक लटकाकर तथा दायें हाथ में भिक्षापात्र लेकर रात्रि में भिक्षाग्रहण करने के लिए जाने लगे थे और भिक्षा को अपनी वसतिका में लाकर दिन में ग्रहण करते थे। यह विश्वसनीय इसलिए है कि अर्धफालक ग्रहण करने की बात मथुरा के कंकालीटीले से प्राप्त प्रथम-द्वितीय शताब्दी ई० के जैन पुरावशेषों से प्रमाणित होती है। वहाँ से प्राप्त एक शिलापट्ट में एक नग्न जैनसाधु बायें हाथ पर अर्धफालक (वस्त्रखण्ड) लटकाए हुए मूर्तित है। वह जैन यति आर्यकृष्ण की मूर्ति बतलायी गयी है।^{१२}

यह भी संभव है कि इसके बहुत वर्षों बाद (विक्रम सं० १३६ में) अर्धफालक साधुओं ने सौराष्ट्र के वलभीपुर में पहुँचने पर वहाँ के राजा या रानी के कहने से श्वेतवस्त्र पहनने शुरू कर दिये हों, क्योंकि जो साधु दुर्भिक्ष के समय उदरपूर्ति के लिए श्रावकों के कहने पर अर्धफालक और पात्र ग्रहण कर सकते हैं, वे राजमान्यता प्राप्त करने के लिए राजा या रानी के कहने पर श्वेतवस्त्र भी धारण कर सकते हैं।

किन्तु यह विश्वसनीय नहीं है कि इन्हीं कारणों से या इन्हीं समयों में श्वेताम्बर सम्प्रदाय की उत्पत्ति हुई थी, क्योंकि हम पूर्व में देख चुके हैं कि जम्बूस्वामी के १२. पं.कै.च.शास्त्री : जैन साहित्य का इतिहास / पूर्व पीठिका / पृ.३८२-३८३ तथा जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश / ४ / ७८।

निर्वाण के बाद से ही साधुओं का एक वर्ग वस्त्र, पात्र, कम्बल और पादप्रीछन आदि का उपयोग करने लगा था और यह प्रतिपादित करने लगा था कि ये संघम और लज्जा के साधन हैं, इसलिए भगवान् महावीर ने इन्हें परिग्रह नहीं कहा है, अपितु इनमें मूर्च्छा होने को परिग्रह कहा है और ये प्रतिपादन शास्त्रों के अंग बन गये थे। आचार्य शय्यंभव द्वारा रचित दशवैकालिक सूत्र की पूर्वोद्धृत (अध्याय २/ पा.टि. १८ एवं १५ में उद्धृत) गाथाओं से इसकी पुष्टि होती है। आचारांग और स्थानांगसूत्र में भी अशक्त मुमुक्षुओं के लिए लज्जा, जुगुप्सा और परीषह पीड़ा के निवारणार्थ वस्त्रपात्रादि के उपयोग को मोक्ष के अपवादमार्ग के रूप में विहित कर दिया गया था।

यद्यपि श्वेताम्बर-मान्य आचारांगादि आगम पाँचवीं शती ई० में श्री देवर्द्धिगणी द्वारा वलभीनगर में प्रथमबार लिपिबद्ध किये गये थे,^{१३} तथापि उनका मौखिक सूत्रीकरण जम्बूस्वामी के पश्चात् एवं कुन्दकुन्द के पूर्व हुआ होगा, इसमें सन्देह नहीं, क्योंकि श्वेताम्बर-सम्प्रदाय जम्बूस्वामी के निर्वाणान्तर ही अस्तित्व में आ गया था और कोई भी सम्प्रदाय नवीन सिद्धान्तों के निर्धारण के बिना न तो अस्तित्व में आ सकता है, न विकसित हो सकता है। सचेलाचेल धर्म के प्रतिपादक आचारांगादि आगम जम्बूस्वामी के पूर्ववर्ती सुधर्मा स्वामी द्वारा रचित हैं, यह मान्यता इस मान्यता पर आश्रित है कि भगवान् महावीर ने मोक्ष के लिए अचेल और सचेल दोनों धर्मों का उपदेश दिया था। किन्तु श्वेताम्बर-शास्त्रों में स्वयं कहा गया है कि भगवान् ऋषभदेव और महावीर ने अचेलधर्म का ही उपदेश दिया था, शेष तीर्थकरों ने अचेल और सचेल दोनों का।^{१४} इससे सिद्ध है कि अचेल और सचेल उभय धर्मों के प्रतिपादक आचारांगादि आगम भगवान् महावीर के उपदेश पर आश्रित नहीं हैं। उनकी रचना जम्बूस्वामी के निर्वाण के पश्चात् उदित हुए श्वेतपटसम्प्रदाय के आचार्यों द्वारा की गयी है। इस प्रकार जम्बूस्वामी के निर्वाणान्तर मुनियों के एक वर्ग द्वारा वस्त्रपात्रादि के उपयोग का आरम्भ एवं शास्त्रों में उनकी संयमसाधकता का प्रतिपादन तथा उनके परिग्रह होने का निषेध इस

१३. "श्रीदेवर्द्धिगणिकामाश्रमणेन श्रीवीराद् अशीत्यधिकनवशत (९८०) वर्षे जातेन द्वादशवर्षीय-दुर्भिक्षवशाद् बहुतरसाधुव्यापत्तौ बहुश्रुतविच्छित्तौ जातायां --- भविष्यद्भव्य-लोकोपकाराय श्रुतभक्तये च श्रीसङ्गाग्रहाद् मृतावशिष्टतदाकालीन-सर्वसाधून् वलभ्यामाकार्यं तन्मुखाद्-विच्छिन्नावशिष्टान् न्यूनाधिकान् त्रुटिताऽत्रुटितान् आगमालापकान् अनुक्रमेण स्वमत्या सङ्कलय्य पुस्तकारूढाः कृताः। ततो मूलतो गणधरभाषितानामपि तत्सङ्कलनानन्तरं सर्वेषामपि आगमानां कर्ता श्रीदेवर्द्धिगणिकामाश्रमण एव जातः।" समयसुन्दरगणि-रचित 'सामाचारीशतक'/पं० बेचरदासकृत 'जैनसाहित्य में विकार' पा.टि./पृ. ९-१० से उद्धृत।

१४. देखिए, अध्याय ३ / प्रकरण १ / शीर्षक ५।

बात के प्रमाण हैं कि जम्बूस्वामी के निर्वाण के पश्चात् ही संघभेद हो चुका था और दिगम्बर-श्वेताम्बर सम्प्रदाय अस्तित्व में आ गये थे।

जम्बूस्वामी के बाद ही संघभेद होने का इससे भी बड़ा प्रमाण यह है कि उनके बाद दोनों सम्प्रदायों की आचार्यपरम्परा बिलकुल अलग-अलग हो जाती है। चार पीढ़ियों तक अर्थात् ७१ या श्वेताम्बरों के अनुसार ९२ वर्षों तक दोनों सम्प्रदायों में अलग-अलग आचार्यपरम्परा चलती रहती है। इसके बाद थोड़े समय (२९ या १४ वर्ष) के लिए केवल श्रुतकेवली भद्रबाहु ऐसे व्यक्ति आते हैं, जो दोनों परम्पराओं को मान्य होते हैं, किन्तु श्वेताम्बरसंघ में उनका दर्जा उपेक्षित और बहिष्करणीय होता है। उन्हें संघ से बहिष्कृत करने की धमकियाँ दी जाती हैं, आगमवाचना में आमन्त्रित नहीं किया जाता और अन्ततः संघ से बहिष्कृत कर दिया जाता है।^{१५} उनके बाद दोनों सम्प्रदायों की आचार्यपरम्परा पुनः भिन्न-भिन्न हो जाती है। इससे प्रकट होता है कि भद्रबाहु भी यथार्थतः दिगम्बरपरम्परा में ही मान्य थे। श्वेताम्बरपरम्परा में भद्रबाहु के स्थान पर स्थूलभद्र को महत्त्व दिया गया है। इस तरह दिगम्बर और श्वेताम्बर सम्प्रदायों का जन्म वस्तुतः जम्बूस्वामी के पश्चात् ही हो गया था अर्थात् वीर निर्वाण के ६२ या ६४ वर्ष बाद ही। अतः श्रुतकेवली भद्रबाहु के समय में संघभेद मानना उचित नहीं है। हाँ, यह मानना ठीक है कि द्वादशवर्षीय दुर्भिक्ष के कारण और भी अचेलक साधु, जो उज्जयिनी में रह गये थे अथवा सिन्धुदेश या सौराष्ट्र के वलभीपुर चले गये थे, वे अर्धफालक एवं भिक्षापात्र धारण करने लगे थे। उज्जयिनी लौटने पर उनमें से कुछ साधु पुनः दिगम्बर बन गये और कुछ साधु श्वेताम्बरसंघ में शामिल हो गये तथा शेष साधु लगभग ४५० वर्ष तक उसी रूप में विहार करते रहे।^{१६} पश्चात् वि० सं० १३६ में वलभीपुर में श्वेताम्बरों की तरह श्वेतकटिवस्त्र एवं प्रावरण धारण कर श्वेताम्बर बन गये। किन्तु यह संघभेद की द्वितीय घटना थी। इसके पूर्व जम्बूस्वामी के अनन्तर जो दिगम्बर-श्वेताम्बर भेद हुआ था, वह संघभेद की प्रथम घटना थी। सर्वथा अचेलमार्गी निर्ग्रन्थों का पहला सचेलीकरण (श्वेतकटिवस्त्र एवं श्वेत प्रावरणधारी के रूप में) तो परीषहपीड़ा से मुक्ति पाने के लिए हुआ था और दूसरा सचेलीकरण (केवल कलाई पर लटकते हुए अर्धफालकधारी के रूप में) दुर्भिक्ष में उदरपोषणार्थ स्वीकार किया गया। विक्रम सं० १३६ में वलभीपुर में राजमान्यता की लालसा से अर्धफालकधारियों का श्वेताम्बरीकरण हुआ था, अचेलकों का नहीं। इस तरह दिगम्बर-श्वेताम्बर-भेद और दिगम्बर-अर्धफालक-भेद, संघभेद की ये दो अलग-अलग घटनाएँ थी। दूसरी घटना से श्वेताम्बरसंघ की वृद्धि हुई थी, शुरुआत नहीं। शुरुआत तो जम्बूस्वामी के बाद ही हो गई थी।

१५. देखिए, अगला शीर्षक।

१६. जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश ४ / ७७।

श्वेताम्बरसाहित्य में भद्रबाहु-विवाद-कथा

श्वेताम्बर-साहित्य में भी भद्रबाहु के समय में बारह वर्ष का दुष्काल पड़ने का उल्लेख है। किन्तु उसके अनुसार भद्रबाहु दक्षिणापथ न जाकर नेपाल देश की ओर अकेले जाते हैं और शेष साधुसंघ निर्वाह के लिए समुद्र किनारे चला जाता है। उसमें संघ के साथ भद्रबाहु के विवाद का भी वर्णन है, जिसकी परिणति उन्हें संघ से निकाले जाने में होती है। कलिकालसर्वज्ञ आचार्य हेमचन्द्र ने परिशिष्टपूर्व में भद्रबाहु की कथा का वर्णन इस प्रकार किया है—

भयंकर दुर्भिक्ष पड़ने पर साधुसंघ निर्वाह के लिए समुद्र तट की ओर चला गया। इस काल में श्रुत का अभ्यास न हो सकने से साधु उसे भूल गये। दुष्काल समाप्त होने पर सम्पूर्ण संघ पाटलिपुत्र में इकट्ठा हुआ और जिसको जिस अंग का जो अध्ययन या उद्देश्य था वह संकलित किया गया (सबको परस्पर जोड़कर साधुओं ने अपनी स्मृति में अंकित किया)। इस तरह ग्यारह अंग संकलित किये गये। किन्तु दृष्टिवाद का किसी को ज्ञान नहीं था, इसलिए उसके विषय में संघ सोच में पड़ गया। फिर उसे मालूम हुआ कि दृष्टिवाद के ज्ञाता भद्रबाहु हैं और वे नेपालदेश के मार्ग में स्थित हैं। संघ ने उन्हें बुलाने के लिए दो मुनि भेजे। मुनियों ने जाकर नमस्कार किया और हाथ जोड़कर निवेदन किया कि संघ ने आपको पाटलिपुत्र आने का आदेश दिया है।

भद्रबाहु बोले—“मैंने महाप्राण ध्यान का आरम्भ किया है, जो बारह वर्षों में पूर्ण होगा, इसलिए मैं अभी नहीं आ सकता।” मुनियों ने जाकर संघ को यह बात बतला दी। तब संघ ने अन्य दो मुनियों को बुलाकर आदेश दिया कि “तुम जाकर भद्रबाहु से पूछना कि जो श्रीसंघ का शासन नहीं मानता, उसे क्या दण्ड दिया जाना चाहिए? जब वे कहें कि संघ से बहिष्कृत कर देना चाहिए, तब उनसे उच्चस्वर में कहना—आप इसी दण्ड के योग्य हैं।” मुनियों ने जाकर भद्रबाहु से यही बात कही और उन्होंने भी वही उत्तर दिया। फिर भद्रबाहु ने कहा संघ मुझे बहिष्कृत न करे, मेरे पास कुछ मेधावी शिष्य भेज दे। मैं उन्हें प्रतिदिन सात वाचनाएँ दूँगा। इससे संघ का कार्य भी सिद्ध हो जायेगा और मेरे कार्य में भी बाधा नहीं आयेगी। मुनियों ने आकर संघ को यह वृत्तान्त सुनाया। तब संघ ने स्थूलभद्र आदि पाँच सौ साधुओं को भेजा। उनमें से केवल स्थूलभद्र ही वहाँ रुके, शेष उद्विग्न होकर चले आये।

महाप्राण ध्यान पूरा होने तक भद्रबाहु ने स्थूलभद्र को दश पूर्वों का अध्ययन कराया। पश्चात् वे दोनों पाटलिपुत्र आ गये और बाह्योद्यान में ठहरे। वहाँ स्थूलभद्र की बहनें अपने भाई के दर्शन करने आयीं। उन्होंने भद्रबाहु गुरु की वन्दना करके पूछा—“प्रभु, स्थूलभद्र कहाँ हैं?” उन्होंने कहा—“लघु देवकुल में हैं।” तब वे वहाँ गयीं। उन्हें आती हुई देखकर आश्चर्यचकित करने के लिए स्थूलभद्र ने दस पूर्वों के अध्ययन के प्रभाव से अपने को सिंह बना लिया। बहनें घबरा गयीं और भद्रबाहु के पास जाकर बोलीं—“भगवन्! भैया को तो सिंह ने खा लिया और वह अब भी वहाँ बैठा हुआ है।” आचार्य ने अपने उपयोग से जानकर कहा—“तुम लोग जाओ, वन्दना करो, वह तुम्हारे बड़े भाई ही हैं, सिंह नहीं।” इस घटना के बाद आचार्य ने स्थूलभद्र को आगे वाचना देना बन्द कर दिया, क्योंकि उन्होंने सोचा कि ये पूर्वों की वाचना के पात्र नहीं हैं, ये ज्ञान का उपयोग ज्ञान के लिए न कर चमत्कार दिखलाने के लिए करते हैं। (परिशिष्टपर्व/९/५५-११२)।

किन्तु संघ के अत्याग्रह से अन्तिम चार पूर्वों की वाचना तो दी, पर अर्थ नहीं बताया और दूसरों को उसकी वाचना देने से स्पष्ट मना करा दिया। इस तरह अर्थ की दृष्टि से तो 'अन्तिम श्रुतकेवली' भद्रबाहु ही हैं। स्थूलभद्र शाब्दिक दृष्टि से चौदहपूर्वी थे और अर्थ की दृष्टि से केवल दसपूर्वी।^{१७}

“तित्थोगालीपइन्नय (गाथा ७३०-७३३) में लिखा है कि भद्रबाहु के उत्तर से नाराज होकर स्थविरों ने कहा—“संघ की प्रार्थना का अनादर करने से तुम्हें क्या दण्ड मिलेगा, इसका विचार करो।” भद्रबाहु ने उत्तर दिया—“मैं जानता हूँ कि संघ इस प्रकार के वचन बोलनेवाले का बहिष्कार कर सकता है।” तब स्थविर बोले—“तुम संघ की प्रार्थना का अनादर करते हो ---- इसलिए श्रमणसंघ तुम्हारे साथ बारहों प्रकार का व्यवहार बन्द करता है।”^{१८}

“इन उल्लेखों से जहाँ एक ओर संघ के साथ भद्रबाहु की खींचतान होने पर प्रकाश पड़ता है, वहाँ यह भी स्पष्ट हो जाता है कि पाटलिपुत्र की वाचना में भद्रबाहु उपस्थित नहीं थे। इस पर डॉ० जेकोबी ने लिखा है कि पाटलिपुत्र नगर में जैनसंघ ने जो अंग संकलित किये थे, वे केवल श्वेताम्बर-सम्प्रदाय के ही थे, समस्त जैनसंघ के नहीं थे, क्योंकि उस जैनसंघ में भद्रबाहु सम्मिलित नहीं थे। (सेक्रेड बुक्स आफ दी ईस्ट / जिल्द २२ की प्रस्तावना / पृ. ४३)।”^{१९}

१७. कल्पसूत्र / सम्पादक : देवेन्द्र मुनिशास्त्री / विवेचन-सूत्र २०७ / पृ. २९०।

१८. पं. कैलाशचन्द्र शास्त्री : जैन साहित्य का इतिहास / पूर्वपीठिका / पृ. ४८९।

१९. वही / पृ. ४९०

एक और महत्त्वपूर्ण बात यह है कि यद्यपि भद्रबाहु को श्वेताम्बरपरम्परा भी अपना धर्मगुरु मानती है, तथापि श्वेताम्बरसम्प्रदाय की आचार्यपरम्परा का आरम्भ श्रुतकेवली भद्रबाहु से न होकर स्थूलभद्र (सम्भूतिविजय के शिष्य) से होता है। उनके यहाँ श्रुतकेवली भद्रबाहु की शिष्यपरम्परा का अभाव है और स्थूलभद्र को अन्तिम श्रुतकेवली लिखा है।^{२०}

यहाँ पाँच घटनाएँ सामने आती हैं—१. दुर्भिक्ष के समय भद्रबाहु का संघ के साथ समुद्रतट की ओर न जाना, इसके विपरीत नेपाल चले जाना, २. यह जान लेने पर भी कि उन्होंने महाप्राण ध्यान आरंभ किया है, संघ द्वारा उन्हें बहिष्कृत करने की धमकी देना तथा ३. अन्ततः बहिष्कृत कर देना, ४. पाटलिपुत्र वाचना में उन्हें न बुलाया जाना और ५. स्थविरपरम्परा को उनके नाम से न चलाया जाना।

इन घटनाओं से सिद्ध होता है कि भद्रबाहु नवीन सचेलमार्गी प्रवृत्तियों के समर्थक नहीं थे, वे शुद्ध अचेलकधर्म के अनुयायी थे, इसलिए मूल निर्ग्रन्थसंघ (दिगम्बरसंघ) की आचार्यपरम्परा में उनका अन्तिम श्रुतकेवली के रूप में सम्मान्य स्थान था। इसी कारण नवीन सचेलमार्गी संघ उनसे अपनापन महसूस नहीं करता था और उन्हें पर्याप्त आदर नहीं देता था, तथापि उस संघ को दृष्टिवाद नामक बारहवें अंग का ज्ञान उनसे ही उपलब्ध हुआ था, इसलिए संघ ने उनका नाम नाममात्र के लिए अपनी स्थविरपरम्परा में शामिल कर लिया। इस कारण दोनों परस्परविरुद्ध परम्पराओं में उनका नाम मिलता है।

श्वेताम्बर-साहित्य में उपलब्ध यह कथा भी, जिसमें भद्रबाहु को पाटलिपुत्रवाचना में आमन्त्रित न किये जाने और संघ से बहिष्कृत कर देने का उल्लेख है, इस बात को पुष्टि करती है कि भद्रबाहु के समय में मूल निर्ग्रन्थसंघ अचेल और सचेल (अर्धफालक) सम्प्रदायों में एक बार फिर विभाजित हो गया था।

भद्रबाहु और उनके अनुयायियों की अनुपस्थिति में आगमों के संकलन का जो कार्य किया गया, वह संघभेद का एक महान् कारण था, यह बात अनेक श्वेताम्बर विद्वानों और सन्तों ने स्वीकार की है। इतिहासकार श्री चिमनलाल जैचन्द शाह लिखते हैं—

२०. "तं जहा-थेरस्स णं अज्जसभद्दस्स --- अंतेवासी दुबे थेराथेरे अज्ज संभूअविजए ---
- थेरे अज्जभद्दबाहु ---। थेरस्स णं अज्जसंभूअविजयस्स --- अंतेवासी थेरे अज्ज थूलभद्दे
---। थेरस्स णं अज्ज थूलभद्दस्स --- अंतेवासी दुबे थेरा ---।" कल्पसूत्रस्थविरावली।
(पं. कैलाशचन्द्र शास्त्री : जैन साहित्य का इतिहास / पूर्वपीठिका / पा.टि.पु. ३७९-३८०)।

“भद्रबाहु और उनके शिष्यों के दक्षिण-प्रवास के पश्चात् जैनधर्म के पवित्र सिद्धान्त-ग्रन्थों का विस्मरण द्वारा नाश होने का भय उपस्थित हो गया और स्थूलभद्र एवं उनके शिष्यों ने एक परिषद् उन साधुओं की निमन्त्रित की, जो उधर ही रह गये थे। यह परिषद् ई० पूर्व तीसरी सदी में मौर्यसाम्राज्य की राजधानी एवं जैनसंघ के इतिहास में प्रसिद्ध पाटलिपुत्र में एकत्रित हुई थी। “जैनों की इस परिषद् ने”, जैसा कि डॉ० शार्पेटियर कहता है, “बहुत कुछ वही कार्य किया होगा, जो बौद्धों की पहली संगीति याने परिषद् ने किया था।” इस परिषद् ने अंगों और पूर्वों दोनों का ही पाठ स्थिर किया और यहीं से सिद्धान्त की प्रथम भूमिका प्रारम्भ हुई। परन्तु दक्षिण से लौटनेवाले मुनियों को सिद्धान्त के इस प्रकार स्थिर किये गये पाठ से सन्तोष नहीं हुआ। उनसे इस सिद्धान्त को मानने से इनकार ही नहीं किया, अपितु यह भी घोषित कर दिया कि पूर्वज्ञान और अंगज्ञान दोनों का ही विच्छेद हो गया है।” (उत्तरभारत में जैनधर्म/पृ.१८४)।

आदरणीय श्री देवेन्द्र मुनि शास्त्री ने जो विचार प्रकट किये हैं, वे इस प्रकार हैं—“वीर निर्वाण १६० के लगभग भद्रबाहु के समय पाटलिपुत्र में जो आगमवाचना हुई, उस समय दोनों परम्पराओं का मतभेद उग्र हो गया। इसके पहले आगम के विषय में एकता थी, किन्तु दीर्घकाल के दुष्काल में अनेक श्रुतधर मुनि परलोकवासी हो गये। भद्रबाहु की अनुपस्थिति में ग्यारह अंगों का संकलन-आकलन हुआ पर वह सभी को समान रूप से मान्य नहीं हो सका और दोनों ही विचारधाराओं का मतभेद स्पष्टरूप से सामने आया। वीरनिर्वाण सं० ८२७-८४० के बीच माथुरी वाचना हुई, उसमें जो श्रुत का रूप निश्चित हुआ वह अचेलक-समर्थकों को बिलकुल भी स्वीकार नहीं हुआ। इस तरह आचार और श्रुत के सम्बन्ध में मतभेद उग्र होते गये और वीर निर्वाण की छठी और सातवीं शताब्दी में एक निर्ग्रन्थ शासन दो भागों में विभक्त हो गया।” (जै.आ.सा.म.मी/पृ.५६३)।

यहाँ मुनि जी ने वीरनिर्वाण की छठी और सातवीं शताब्दी में निर्ग्रन्थशासन के दो भागों में विभक्त होने की बात बोटिककथा के आधार पर कही है, किन्तु यह हम पहले ही देख चुके हैं कि बोटिक शिवभूति ने किसी नये मत का प्रचलन नहीं किया था, अपितु जिस जिनकल्प को जम्बूस्वामी के बाद विच्छिन्न मान लिया गया था, उसको अंगीकार किया था। अतः वास्तविक संघभेद जम्बूस्वामी के बाद ही हो गया था।

माननीय डॉ० सागरमल जी ने भी अन्तिम श्रुतकेवली भद्रबाहु के अपने अचेलकधर्म के सिद्धान्तों के साथ दक्षिणभारत जाने और उनके प्रचार करने की बात

स्वीकार की है और यह माना है कि उनके अनुयायियों ने पाटलिपुत्र आदि की वाचनाओं में संकलित आगमों को अमान्य कर दिया था, क्योंकि उनमें सवस्त्रमुक्ति और स्त्रीमुक्ति आदि का प्रतिपादन था और वे मूल आगमों को विच्छिन्न मानने लगे थे। (जै.ध.या.स./ पृ. ४६-४७)। इससे सिद्ध होता है कि भद्रबाहु और उनके अनुयायी सवस्त्रमुक्ति-विरोधी और स्त्रीमुक्ति-विरोधी विचारधारा के अनुगामी थे।



द्वितीय प्रकरण

डॉ० सागरमल जी का अन्तिम मत इतिहास-सम्मत

१

अनेक दिशाओं में भटकी विचारयात्रा

संघभेद के विषय में डॉ० सागरमल जी की विचारयात्रा अनेक दिशाओं में भटकी है। आठ वर्ष बाद वह सही दिशा प्राप्त कर सकी। सन् १९९६ में लिखित 'जैनधर्म का यापनीयसम्प्रदाय' नामक ग्रन्थ में पहले उन्होंने अपनी यह मान्यता व्यक्त की है कि भगवान् महावीर के संघ का प्रथम विभाजन श्रुतकेवली भद्रबाहु के समय (ईसापूर्व चौथी शताब्दी) में हुआ था और दूसरा विभाजन ईसा की द्वितीय शताब्दी में (वीर निर्वाण के ६०९ वर्ष बाद) हुआ।^{२१} इस मान्यता का प्रकाशन उन्होंने निम्नलिखित वक्तव्यों में किया है—

“यापनीयों के दक्षिण में प्रवेश के पूर्व भद्रबाहु के पहले या उनके साथ जो निर्ग्रन्थ श्रमणवर्ग दक्षिण चला गया था, वह अपने आप को 'निर्ग्रन्थ' ही कहता होगा, क्योंकि उस समय तक संघभेद या गणभेद नहीं हुआ था। --- निर्ग्रन्थसंघ मूलसंघ से भिन्न नहीं था, यह उन अचेल श्रमणों का वर्ग था, जो भद्रबाहु के पूर्व या भद्रबाहु के समय से दक्षिण भारत में विचरण कर रहे थे। (जै.ध.या.स./पृ. ४५)।

“भद्रबाहु के पूर्व या उनके साथ जो मुनिसंघ दक्षिण की यात्रा पर गया था, वह यद्यपि अपने साथ महावीर का तत्त्वज्ञान और आचारमार्ग लेकर अवश्य गया था, किन्तु उनके पास मात्र उतना ही साहित्य रहा होगा, जितना भद्रबाहु के काल तक निर्मित हो पाया था। --- यापनीयसंघ, जो कि उनके बाद लगभग पाँच सौ वर्ष पश्चात् उत्तरभारत की निर्ग्रन्थधारा से अलग होकर दक्षिण भारत पहुँचा था,^{२२} वह अपने साथ जिन आगम ग्रन्थों को ले गया था, उनको मूलसंघ ने मानने से इनकार कर दिया होगा। क्योंकि उन ग्रन्थों में भी, चाहे वे अपवादमार्ग के रूप में ही क्यों न हों, वस्त्रपात्र आदि के उल्लेख तो थे ही। --- यापनीय वस्त्रपात्र को अपवादरूप से ग्राह्य मानते थे, क्योंकि उनके द्वारा मान्य आगमों और निर्मित ग्रन्थों, दोनों में ही अपवादरूप से इनके ग्रहण का उल्लेख मिलता है।” (जै.ध.या.स./पृ.४६)।

२१. देखिये, अध्याय २/प्रकरण ३/पादटिप्पणी ६१।

२२. आगे चलकर डॉ० सागरमल जी ने यापनीयसंघ का उत्पत्तिकाल ईसा की पाँचवीं शती का प्रथम चरण मान लिया, जो समीचीन है। (देखिये, अध्याय २/प्रकरण ३/शीर्षक १)।

“मूलसंघ स्त्री को महाव्रतारोपणरूप दीक्षा देने के विरोध में रहा होगा, क्योंकि उसके द्वारा सम्पूर्ण परिग्रह का त्याग सम्भव नहीं था। --- इसके अतिरिक्त केवलिभुक्ति, केवली को कितने परीषह होते हैं, आदि कुछ तात्त्विक मान्यताओं को लेकर भी दोनों (निर्ग्रन्थों और यापनीयों) में मतभेद रहा होगा।” (जै.ध.या.स./पृ.४७)।

इन वक्तव्यों से डॉक्टर सा० की निम्नलिखित मान्यताएँ प्रकाशित होती हैं—

१. श्रुतकेवली भद्रबाहु के नेतृत्व में दक्षिणभारत गया निर्ग्रन्थश्रमणसंघ भगवान् महावीर द्वारा उपदिष्ट तत्त्वज्ञान और आचारमार्ग का अनुयायी था। उसके पास उतना ही साहित्य मौजूद था, जितना उत्तरभारत से प्रस्थित होते समय तक निर्मित हो पाया था।

२. उसके दक्षिण भारत में पहुँचने के पाँच सौ वर्ष बाद (ईसा की द्वितीय शती में) वहाँ (दक्षिण) पहुँचा यापनीयसंघ जो आगम ले गया था, उन्हें उसने अमान्य कर दिया, क्योंकि उनमें साधुओं के लिए अपवादमार्ग के रूप में वस्त्रपात्रग्रहण करने की अनुमति थी तथा स्त्रीमुक्ति और केवलिभुक्ति का प्रतिपादन किया गया था। इससे यह सूचित होता है कि भद्रबाहुनीत निर्ग्रन्थसंघ के पास जो भगवान् महावीर द्वारा उपदिष्ट तत्त्वज्ञान, आचारमार्ग और यत्किञ्चित् साहित्य था, उसमें सवस्त्रमुक्ति, स्त्रीमुक्ति और केवलिभुक्ति को स्वीकार नहीं किया गया था।

३. अतः ये सवस्त्रमुक्ति आदि की मान्यताएँ श्रुतकेवली भद्रबाहु के दक्षिण चले जाने के बाद उत्तरभारत में रहनेवाले श्रमणसंघ ने भगवान् महावीर द्वारा उपदिष्ट आगमों में प्रक्षिप्त की हैं।

४. भद्रबाहुनीत निर्ग्रन्थसंघ के दक्षिण भारत चले जाने के पश्चात् उत्तरभारत में स्थित रहे निर्ग्रन्थश्रमणसंघ ने पंचमकाल में अचेलमार्ग को असंभव घोषित कर सवस्त्रमुक्ति, स्त्रीमुक्ति, केवलिभुक्ति आदि की मान्यताएँ कल्पित कर लीं और उनका आगमों में भी समावेश कर दिया। अतः वह एकान्त-सचेलमार्गी संघ बन गया। वीर नि० के ६०९ वर्ष बाद उसका भी विभाजन हुआ और उससे सचेलमार्गी यापनीय-संघ की उत्पत्ति हुई।

यापनीयसंघ की उत्पत्ति के स्रोत एवं कारण पर प्रकाश डालते हुए डॉ० सागरमल जी लिखते हैं—

“जब उत्तरभारत में प्रवर्तित महावीर के श्रमणसंघ में वस्त्रपात्र रखने का आग्रह जोर पकड़ने लगा, भगवान् महावीर द्वारा उपदिष्ट एवं आचरित अचेलकत्व अर्थात् जिनकल्प का विच्छेद बताकर उसका उन्मूलन किया जाने लगा, तो शिवभूति प्रभृति

कुछ प्रबुद्ध मुनियों ने उसका विरोध किया। इस विरोध की फलश्रुति-स्वरूप ही उस सम्प्रदाय का जन्म हुआ, जो यापनीयों की पूर्व अवस्था थी और जिसे श्वेताम्बरों ने बोटिक या बोटिडि कहा था।” (जै.ध.या.स./पृ.३८६-३८७)।

डॉक्टर सा० के इस कथन से स्पष्ट होता है कि भद्रबाहुनीत श्रमणसंघ के दक्षिणभारत चले जाने पर उत्तरभारत का श्रमणसंघ एकान्त-सचेलमार्गी बन गया था। इतना ही नहीं, उसके वस्त्रपात्रादि परिग्रह में बेतहाशा वृद्धि हो गई। उसी एकान्त-सचेलमार्गी श्रमणसंघ से सचेलाचेलमार्गी यापनीयसंघ का उद्भव हुआ था।

इस प्रकार डॉक्टर सा० के अनुसार भगवान् महावीर के निर्ग्रन्थसंघ में ईसापूर्व चौथी शताब्दी में दिगम्बर-श्वेताम्बरभेद ने जन्म लिया था। इनमें दिगम्बरसम्प्रदाय एकान्त-अचेलमार्गी था और श्वेताम्बरसम्प्रदाय एकान्त-सचेलमार्गी। एकान्त-सचेलमार्गी श्वेताम्बर-सम्प्रदाय से सचेलाचेलमार्गी यापनीयसंघ प्रकट हुआ।

किन्तु आगे चलकर डॉक्टर सा० उसी ग्रन्थ में अपना यह मत बदल देते हैं और कहते हैं कि भगवान् महावीर द्वारा उपदिष्ट तीर्थ एकान्त-अचेलमुक्तिवादी नहीं था, अपितु सचेलाचेलमुक्तिवादी था। यह मत उनके निम्नलिखित शब्दों से प्रकट होता है—

“महावीर के काल से ही निर्ग्रन्थसंघ में नग्नता का एकान्त आग्रह नहीं था, किन्तु उसे अपवादरूप में ही स्वीकृत किया गया था।” (जै.ध.या.स./पृ. २५)।

“वस्तुतः महावीर के पश्चात् उनके संघ में वस्त्रपात्र ग्रहण करने का क्रमशः विकास हुआ है। क्षुल्लकों (युवा साधुओं) और सदोष लिंगवाले व्यक्तियों अथवा राजपरिवार से आये व्यक्तियों के लिए अपवादरूप से वस्त्र रखने का अनुमति पहले से ही थी, किन्तु जिनकल्प का विच्छेद मान कर जब सचेलता सामान्य नियम बनने लगी, तो शिवभूति ने इसका विरोध कर अचेलता को ही उत्सर्गमार्ग स्थापित करने का प्रयत्न किया।” (जै.ध.या.स./पृ.२५)।

फिर वे यह धारणा उत्पन्न करते हैं कि ईसापूर्व चौथी शती में महावीर का यह सचेलाचेल निर्ग्रन्थसंघ दिगम्बर-श्वेताम्बर-सम्प्रदायों में विभाजित नहीं हुआ था, अपितु द्वितीय शती ई० (वीर नि० सं० ६०९) में उससे श्वेताम्बर और यापनीय सम्प्रदायों की उत्पत्ति हुई थी। देखिए उनके शब्द—

“वस्तुतः महावीर के धर्मसंघ में जब वस्त्रपात्र आदि में वृद्धि होने लगी और अचेलत्व की प्रतिष्ठा क्षीण होने लगी, तब उससे अचेलता के पक्षधर यापनीय और सचेलता के पक्ष-धर श्वेताम्बर ऐसी दो धाराएँ निकलीं।” (जै.ध.या.स./पृ.२४)।

“यह सत्य है कि श्वेताम्बर और यापनीय दोनों ही उत्तर भारत की निर्ग्रन्थपरम्परा के समानरूप से उत्तराधिकारी रहे हैं और इसीलिए दोनों की आगमिक परम्परा एक ही है।” (जै.ध.या.स./पृ.१०४)।

तब दिगम्बर मत कहाँ से आया? इस प्रश्न के उत्तर में डॉक्टर सा० का कहना है कि उसकी स्थापना विक्रम की छठी शती (पाँचवीं शती ई०) में दक्षिणभारत में आचार्य कुन्दकुन्द ने की थी। अपनी इस नवीन मान्यता का प्रतिपादन करते हुए वे लिखते हैं—

“ई० सन् की पाँचवीं-छठी शताब्दी तक जैनपरम्परा में कहीं भी स्त्रीमुक्ति का निषेध नहीं था। स्त्रीमुक्ति एवं सग्रन्थ (सवस्त्र) की मुक्ति का सर्वप्रथम निषेध आचार्य कुन्दकुन्द ने सुत्तपाहुड में किया है।” (जै.ध.या.स./पृ.३९४)।

“कुन्दकुन्द की स्त्रीमुक्ति-निषेधक-परम्परा सूदूर दक्षिण में ही प्रस्थापित हुई थी।” (जै.ध.या.स./पृ.४०२)।

सवस्त्रमुक्ति और स्त्रीमुक्ति का निषेध ही दिगम्बर-परम्परा के लक्षण हैं। उसे कुन्दकुन्द की परम्परा कहना और ईसवी सन् की पाँचवी-छठी शती तक जैनपरम्परा में स्त्रीमुक्ति आदि का निषेध स्वीकार न करना तथा सर्वप्रथम कुन्दकुन्द के ही ग्रन्थों में सवस्त्रमुक्ति और स्त्रीमुक्ति का निषेध बतलाना, इन मान्यताओं से स्पष्ट होता है कि डॉक्टर सा० ने अपने नवीनमत में यह प्रतिपादित करने की कोशिश की है कि दिगम्बरपरम्परा की स्थापना ईसा की पाँचवीं-छठी शताब्दी में आचार्य कुन्दकुन्द ने की थी।

किन्तु ग्रन्थ समाप्त करते-करते डॉक्टर सा० पुनः पुराने मत पर आ जाते हैं। ग्रन्थ समाप्ति के बाद लिखे गये ‘लेखकीय’ में वे लिखते हैं—“पाँचवीं शती के लगभग जब इस (यापनीय) सम्प्रदाय का ‘यापनीय’ नामकरण हुआ, तब तक दिगम्बरसम्प्रदाय तो ‘निर्ग्रन्थसम्प्रदाय’ नाम से ही जाना जाता था।” (जै.ध.या.स./लेखकीय / पृ. VI)

पाँचवीं शताब्दी तक दिगम्बरसम्प्रदाय का निर्ग्रन्थ-सम्प्रदाय के नाम से प्रसिद्ध होना, इस बात का प्रमाण है कि वह पाँचवीं शताब्दी के बहुत पहले से प्रवर्तमान था अर्थात् उसके प्रवर्तक कुन्दकुन्द नहीं थे। इस प्रकार डॉक्टर सा० ने अपना ग्रन्थ समाप्त करते-करते यह मत निरस्त कर दिया कि दिगम्बरमत की स्थापना आचार्य कुन्दकुन्द ने की थी।

आज का दिगम्बरसंघ

भद्रबाहु-नीत अचेल निर्ग्रन्थसंघ का ही प्रतिनिधि

आठ वर्षों के अन्तराल के बाद डॉक्टर सागरमल जी पुनः अपनी इस मान्यता की पुष्टि करते हैं कि दिगम्बरपरम्परा श्रुतकेवली भद्रबाहु के निर्ग्रन्थसंघ का ही वर्तमानरूप है। इस प्रकार दिगम्बरमत की ऐतिहासिकता के अनुसन्धान पर निकली उनकी विचारयात्रा आठ वर्ष बाद सही दिशा प्राप्त कर सकी। इसकी जानकारी सन् २००४ ई० में प्रकाशित उनके नवीन लघु ग्रन्थ जैनधर्म की ऐतिहासिक विकासयात्रा में मिलती है। उसमें वे लिखते हैं—

“जो कुछ ऐतिहासिक साक्ष्य मिले हैं, उनसे ऐसा लगता है कि निर्ग्रन्थसंघ अपने जन्मस्थल बिहार से दो दिशाओं में अपने प्रचार-अभियान के लिए आगे बढ़ा। एक वर्ग दक्षिण-बिहार एवं बंगाल से उड़ीसा के रास्ते तमिलनाडु गया और वहीं से उसने श्रीलंका और स्वर्णदेश (जावा-सुमात्रा आदि) की यात्राएँ की। लगभग ई० पू० दूसरी शती में बौद्धों के बढ़ते प्रभाव के कारण निर्ग्रन्थों को श्रीलंका से निकाल दिया गया। फलतः वे पुनः तमिलनाडु में आ गये। तमिलनाडु में लगभग ई० पू० प्रथम-द्वितीय शती से ब्राह्मी लिपि में अनेक जैन अभिलेख मिलते हैं, जो इस तथ्य के साक्षी हैं कि निर्ग्रन्थसंघ महावीर के निर्वाण के लगभग दो-तीन सौ वर्ष पश्चात् ही तमिल प्रदेश में पहुँच चुका था। मान्यता तो यह भी है कि आचार्य भद्रबाहु चन्द्रगुप्त मौर्य को दीक्षित करके दक्षिण गये थे। यद्यपि इसकी ऐतिहासिक प्रामाणिकता निर्विवाद रूप से सिद्ध नहीं हो सकती है, क्योंकि जो अभिलेख घटना का उल्लेख करता है, वह लगभग छठी-सातवीं शती का है। आज भी तमिल-जैनों की विपुल संख्या है और वे भारत में जैनधर्म के अनुयायियों की प्राचीनतम परम्परा के प्रतिनिधि हैं। ये नयनार एवं पंचमवर्णी के रूप में जाने जाते हैं। यद्यपि बिहार, बंगाल और उड़ीसा की प्राचीन जैनपरम्परा कालक्रम में विलुप्त हो गयी है, किन्तु सराक जाति के रूप में उस परम्परा के अवशेष आज भी शेष हैं। ‘सराक’ शब्द श्रावक का ही अपभ्रंशरूप है और आज भी इस जाति में रात्रिभोजन और हिंसक शब्दों जैसे काटो, मारो आदि के निषेध जैसे कुछ संस्कार शेष हैं। उपाध्याय ज्ञानसागर जी एवं कुछ श्वेताम्बर मुनियों के प्रयत्नों से सराक पुनः जैनधर्म की और लौटे हैं।

“दक्षिण में गया निर्ग्रन्थसंघ अपने साथ विपुल प्राकृत जैन साहित्य तो नहीं ले जा सका, क्योंकि उस काल तक जैनसाहित्य के अनेक ग्रन्थों की रचना ही नहीं हो पायी थी। वह अपने साथ श्रुतपरम्परा से कुछ दार्शनिक विचारों एवं महावीर के

कठोर आचारमार्ग को ही लेकर चला था, जिसे उसने बहुत काल तक सुरक्षित रखा। आज की दिगम्बरपरम्परा का पूर्वज यही दक्षिणी अचेल निर्ग्रन्थ संघ हैं। --- दक्षिण का जलवायु उत्तर की अपेक्षा गर्म था, अतः अचेलता के परिपालन में दक्षिण में गये निर्ग्रन्थसंघ को कोई कठिनाई नहीं हुई, जब कि उत्तर के निर्ग्रन्थसंघ में कुछ पाश्चात्पत्तियों के प्रभाव से और कुछ अति शीतल जलवायु के कारण यह अचेलता अक्षुण्ण नहीं रह सकी और एक वस्त्र रखा जाने लगा। स्वभाव से भी दक्षिण की अपेक्षा उत्तर के निवासी अधिक सुविधावादी होते हैं। बौद्धधर्म में भी बुद्ध के निर्वाण के पश्चात् सुविधाओं की माँग वात्सीपुत्रीय भिक्षुओं ने ही की थी, जो उत्तरी तराई क्षेत्र के थे। बौद्ध पिटकसाहित्य में निर्ग्रन्थों को एकशाटक और आजीवकों को नग्न कहा गया है। यह भी यही सूचित करता है कि लज्जा और शीत निवारण हेतु उत्तर भारत का निर्ग्रन्थसंघ कम से कम एक वस्त्र तो रखने लग गया था। मथुरा में ईस्वी सन् प्रथम शताब्दी के आसपास की जैनश्रमणों की जो मूर्तियाँ उपलब्ध हुई हैं, उनमें सभी में श्रमणों को कम्बल जैसे एक वस्त्र से युक्त दिखाया गया है। वे सामान्यतया नग्न रहते थे किन्तु भिक्षा या जनसमाज में जाते समय वह वस्त्र या कम्बल हाथ पर डालकर अपनी नग्नता छिपा लेते थे और अति शीत आदि की स्थिति में उसे ओढ़ भी लेते थे। 'आचारांग' के प्रथम श्रुतस्कंध के आठवें अध्ययन में अचेल श्रमणों के साथ-साथ एक, दो और तीन वस्त्र रखने वाले श्रमणों का उल्लेख है।

“यह सुनिश्चित है कि महावीर बिना किसी पात्र के दीक्षित हुए थे। 'आचारांग' से उपलब्ध सूचना के अनुसार पहले तो वे गृही-पात्र का उपयोग कर लेते थे, किन्तु बाद में उन्होंने इसका भी त्याग कर दिया और पाणिपात्र हो गये अर्थात् हाथ में ही भिक्षा ग्रहण करने लगे। सचित्त जल का प्रयोग निषिद्ध होने से सम्भवतः सर्वप्रथम निर्ग्रन्थसंघ में शौच के लिए जलपात्र का ग्रहण किया गया होगा, किन्तु भिक्षुओं की बढ़ती हुई संख्या और एक ही घर से प्रत्येक भिक्षु को पेट भर भोजन न मिल पाने के कारण आगे चलकर भिक्षा हेतु भी पात्र का उपयोग प्रारम्भ हो गया होगा। इसके अतिरिक्त बीमार और अतिवृद्ध भिक्षुओं की परिचर्या के लिए भी पात्र में आहार लाने और ग्रहण करने की परम्परा प्रचलित हो गई होगी। मथुरा में ईसा की प्रथम-द्वितीय शती की एक जैनश्रमण की प्रतिमा मिली है, जो अपने हाथ में एक पात्र-युक्त झोली और दूसरे में प्रतिलेखन (रजोहरण) लिए हुए है। इस झोली का स्वरूप आज श्वेताम्बरपरम्परा में, विशेषरूप से स्थानकवासी और तेरापंथी परम्परा में प्रचलित झोली के समान है। यद्यपि मथुरा के अंकनों में हाथ में खुला पात्र भी प्रदर्शित है। इसके अतिरिक्त मथुरा के अंकन में मुनियों एवं साधवियों के हाथ में मुख-वस्त्रिका

(मुँह-पत्ति) और प्रतिलेखन (रजोहरण) के अंकन उपलब्ध होते हैं। प्रतिलेखन के अंकन दिगम्बरपरम्परा में प्रचलित मयूरपिच्छि और श्वेताम्बरपरम्परा में प्रचलित रजोहरण दोनों ही आकारों में मिलते हैं। यद्यपि स्पष्ट साहित्यिक और पुरातात्विक साक्ष्य के अभाव में यह कहना कठिन है कि वे प्रतिलेखन मयूरपिच्छि के बने होते थे या अन्य किसी वस्तु के। दिगम्बरपरम्परा में मान्य यापनीयग्रन्थ मूलाचार और भगवती-आराधना में प्रतिलेखन (पडिलेहण) और उसके गुणों का तो वर्णन है, किन्तु यह स्पष्ट उल्लेख नहीं है कि वे किस वस्तु के बने होते थे। इस प्रकार ईसा की प्रथम शती के पूर्व उत्तर भारत के निर्ग्रन्थसंघ में वस्त्र, पात्र, झोली, मुखवस्त्रिका और प्रतिलेखन (रजोहरण) का प्रचलन था। सामान्यतया मुनि नग्न ही रहते थे और साध्वियाँ साड़ी पहनती थीं। मुनि वस्त्र का उपयोग विशेष परिस्थिति में मात्र शीत एवं लज्जा-निवारण हेतु करते थे। मुनियों के द्वारा सदैव वस्त्रधारण किये रहने की परम्परा नहीं थी। इसी प्रकार अंकों में मुखवस्त्रिका भी हाथ में ही प्रदर्शित है, न कि वर्तमान स्थानकवासी और तेरापंथी परम्पराओं के अनुरूप मुख पर बँधी हुई दिखाई गई है। प्राचीन स्तर के श्वेताम्बर-आगम-ग्रन्थ भी इन्हीं तथ्यों की पुष्टि करते हैं। श्वेताम्बरपरम्परा में मुनि के जिन १४ उपकरणों का उल्लेख मिला है, वे सम्भवतः ईसा की दूसरी-तीसरी शती तक निश्चित हो गये थे।” (जैनधर्म की ऐतिहासिक विकासयात्रा / पृ. २५-२७)।

“कल्पसूत्र की स्थविरावली तुंगीयायन-गोत्रीय आर्य यशोभद्र के दो शिष्यों मादर-गोत्रीय सम्भूतिविजय और प्राची (पौर्वात्य)-गोत्रीय भद्रबाहु का उल्लेख करती है। ‘कल्पसूत्र’ में गणों और शाखाओं की उत्पत्ति बताई गई है, जो एक ओर आर्य भद्रबाहु के शिष्य काश्यपगोत्रीय गोदास से एवं दूसरी ओर स्थूलभद्र के शिष्य-प्रशिष्यों से प्रारम्भ होती है। गोदास से गोदासगण की उत्पत्ति हुई और उसकी चार शाखाएँ ताम्रलिप्तिका, कोटिवर्षीया, पौण्ड्रवर्द्धनिका और दासीकपाटिका निकली हैं। इसके पश्चात् भद्रबाहु की परम्परा कैसे आगे बढ़ी, इस सम्बन्ध में ‘कल्पसूत्र’ की स्थविरावली में कोई निर्देश नहीं है। इन शाखाओं के नामों से भी ऐसा लगता है कि भद्रबाहु की शिष्यपरम्परा बंगाल और उड़ीसा से दक्षिण की ओर चली गई होगी। दक्षिण में गोदासगण का एक अभिलेख भी मिला है। अतः यह मान्यता समुचित ही है कि भद्रबाहु की परम्परा से ही आगे चलकर दक्षिण की अचेलक निर्ग्रन्थ-परम्परा का विकास हुआ।

“श्वेताम्बरपरम्परा पाटलिपुत्र की वाचना के समय भद्रबाहु के नेपाल में होने का उल्लेख करती है, जबकि दिगम्बरपरम्परा चन्द्रगुप्त मौर्य को दीक्षित करके उनके दक्षिण जाने का उल्लेख करती है। सम्भव है कि वे अपने जीवन के अन्तिम चरण में उत्तर से दक्षिण चले गये हों। उत्तरभारत के निर्ग्रन्थसंघ की परम्परा सम्भूतिविजय के प्रशिष्य स्थूलभद्र के शिष्यों से आगे बढ़ी। ‘कल्पसूत्र’ में वर्णित गोदासगण और

उसकी उपर्युक्त चार शाखाओं को छोड़कर शेष सभी गणों, कुलों और शाखाओं का सम्बन्ध स्थूलभद्र की शिष्य-प्रशिष्य परम्परा से ही है। इसी प्रकार दक्षिण का अचेल निर्ग्रन्थसंघ भद्रबाहु की परम्परा से और उत्तर का सचेल निर्ग्रन्थसंघ स्थूलभद्र की परम्परा से विकसित हुआ।” (वही / पृ.२८-२९)।

“इसा की द्वितीय शती में महावीर के निर्वाण के छः सौ नौ वर्ष पश्चात् उत्तरभारत के निर्ग्रन्थसंघ में विभाजन की एक अन्य घटना घटित हुई, फलतः उत्तर-भारत का निर्ग्रन्थसंघ सचेल एवं अचेल ऐसे दो भागों में बँट गया। पार्श्वपत्नों के प्रभाव से आपवादिक रूप में एवं शीतादि के निवारणार्थ गृहीत हुए वस्त्रपात्र आदि जब मुनि की अपरिहार्य उपधि बनने लगे, तो परिग्रह की इस बढ़ती हुई प्रवृत्ति को रोकने के प्रश्न पर आर्य कृष्ण और आर्य शिवभूति में मतभेद हो गया। आर्य कृष्ण जिनकल्प का उच्छेद बताकर गृहीत वस्त्र-पात्र को मुनिचर्या का अपरिहार्य अंग मानने लगे, जबकि आर्य शिवभूति ने इनके त्याग और जिनकल्प के आचारण पर बल दिया। उनका कहना था कि समर्थ के लिये जिनकल्प का निषेध नहीं मानना चाहिए। वस्त्र, पात्र का ग्रहण अपवाद मार्ग है, उत्सर्ग मार्ग तो अचेलता ही है। आर्य शिवभूति की उत्तर भारत की इस अचेलपरम्परा को श्वेताम्बरों ने बोटिक (भ्रष्ट) कहा। किन्तु आगे चलकर यह परम्परा यापनीय के नाम से ही अधिक प्रसिद्ध हुई। गोपाञ्चल में विकसित होने के कारण यह गोप्यसंघ नाम से भी जानी जाती थी। ‘षट्दर्शनसमुच्चय’ की टीका में गुणरत्न ने गोप्यसंघ एवं यापनीयसंघ को पर्यायवाची बताया है। यापनीयसंघ की विशेषता यह थी कि एक ओर यह श्वेताम्बरपरम्परा के समान ‘आचारांग’, ‘सूत्रकृतांग’, ‘उत्तराध्ययन’, ‘दशवैकालिक’ आदि अर्द्धमागधी आगमसाहित्य को मान्य करता था, जो कि उसे उत्तराधिकार में ही प्राप्त हुआ था, साथ ही वह सचेल, स्त्री और अन्यतैर्थिकों की मुक्ति को स्वीकार करता था। आगमसाहित्य के वस्त्र-पात्र सम्बन्धी उल्लेखों को वह साध्वियों एवं आपवादिक स्थिति में मुनियों से सम्बन्धित मानता था, किन्तु दूसरी ओर वह दिगम्बर-परम्परा के समान वस्त्र और पात्र का निषेध कर मुनि की नग्नता पर बल देता था। यापनीय मुनि नग्न रहते थे और पाणितलभोजी (हाथ में भोजन करनेवाले) होते थे। इनके आचार्यों ने उत्तराधिकार में प्राप्त आगमों से गाथाएँ लेकर शौरसेनी प्राकृत में अनेक ग्रन्थ बनाये। इनमें ‘कषायप्राभृत’, ‘षट्खण्डागम’, ‘भगवती आराधना’, ‘मूलाचार’ आदि प्रसिद्ध हैं।

“दक्षिण भारत में अचेल-निर्ग्रन्थपरम्परा का इतिहास ईस्वी सन् की तीसरी-चौथी शती तक अन्धकार में ही है। इस सम्बन्ध में हमें न तो विशेष साहित्यिक साक्ष्य ही मिलते हैं और न अभिलेखीय ही। यद्यपि इस काल के कुछ पूर्व के ब्राह्मीलिपि के अनेक गुफा-अभिलेख तमिलनाडु में पाये जाते हैं, किन्तु वे श्रमणों या निर्माता

के नाम के अतिरिक्त कोई जानकारी नहीं देते। तमिलनाडु में अभिलेखयुक्त जो गुफायें हैं, वे सम्भवतः निर्ग्रन्थ के समाधिमरण ग्रहण करने के स्थल रहे होंगे। संगम युग के तमिलसाहित्य से इतना अवश्य ज्ञात होता है कि जैनश्रमणों ने भी तमिल भाषा के विकास और समृद्धि में अपना योगदान दिया था। तिरुकुरल के जैनाचार्यकृत होने की भी एक मान्यता है। ईसा की चौथी शताब्दी में तमिलदेश का यह निर्ग्रन्थसंघ कर्णाटक के रास्ते उत्तर की ओर बढ़ा, उधर उत्तर का निर्ग्रन्थसंघ सचेल (श्वेताम्बर) और अचेलक (यापनीय) इन दो भागों में विभक्त होकर दक्षिण में गया।" (वही/ पृ. २९-३०)।

इन वक्तव्यों में डॉक्टर सा० ने निम्नलिखित मान्यताएँ प्रतिपादित की हैं—

१. ईसापूर्व चौथी शती में अन्तिम श्रुतकेवली भद्रबाहु के नेतृत्व में जो निर्ग्रन्थ-श्रमणसंघ दक्षिण चला गया था, उसी का प्रतिनिधि आज का दिगम्बरसंघ है। अर्थात् दिगम्बरसंघ की स्थापना न तो बोटिक शिवभूति ने की थी, न आचार्य कुन्दकुन्द ने। वह भगवान् महावीर के उपदेशों का यथावत् अनुगामी मौलिक संघ है।

२. दक्षिण-प्रवासी अचेल-निर्ग्रन्थसंघ भद्रबाहु (चौथी शती ई० पू०) की परम्परा से विकसित हुआ था और उत्तरवासी सचेल श्रमणसंघ का विकास स्थूलभद्र (चौथी शती ई० पू०) की परम्परा से हुआ था।

३. पहले भगवान् महावीर के अनुयायी सभी मुनि नग्न और पाणिपात्रभोजी होते थे। संघ-विभाजन के पश्चात् एकमात्र भद्रबाहुनीत दक्षिणप्रवासी निर्ग्रन्थश्रमणसंघ ही नग्न और पाणिपात्रभोजी बना रहा। स्थूलभद्रनीत उत्तरभारतवासी श्रमणसंघ शीतल जलवायु की पीड़ा से बचने के लिए वस्त्रधारण करने लगा और भिक्षुओं की बढ़ती संख्या के कारण एक घर से पर्याप्त भिक्षा न मिल पाने से अनेक घरों से भिक्षा प्राप्त करने के लिए पात्र रखने लगा। इस प्रकार दिगम्बर-परम्परा मौलिक है और श्वेताम्बरपरम्परा विकसित।

४. भद्रबाहुनीत अचेल निर्ग्रन्थसंघ दक्षिण चला गया था और उत्तरभारत-स्थित स्थूलभद्रनीत श्रमणसंघ सचेल हो गया था, अतः सचेलालसंघ का अस्तित्व भारत के किसी भी कोने में नहीं था।

५. वीर निर्वाण के ६०९ वर्ष बाद स्थूलभद्रानुयायी श्वेताम्बरसंघ से यापनीयसंघ का उद्भव हुआ। अतः श्वेताम्बर और यापनीय दोनों सम्प्रदायों की उत्पत्ति एक ही परम्परा से नहीं हुई। स्थूलभद्रानुयायी श्वेताम्बरसम्प्रदाय का जन्म उस मूल निर्ग्रन्थसंघ से हुआ था, जिस का प्रतिनिधि श्रुतकेवली भद्रबाहु का अनुयायी निर्ग्रन्थसंघ था।

डॉक्टर सा० की इन मान्यताओं में केवल दो मान्यताएँ क्रमशः इतिहास-सम्मत और आगमसम्मत नहीं हैं। यापनीयसंघ का जन्म वी० नि० सं० ६०९ (ई० सन् ८२/ डॉ० सा० के अनुसार ई० सन् १४२) में हुआ था, यह मान्यता इतिहास-सम्मत नहीं है। वस्तुतः उसकी उत्पत्ति ईसा की पाँचवीं शताब्दी के प्रारम्भ में हुई थी। डॉक्टर सा० ने स्वयं पूर्व में यही माना है। इसके प्रमाण सप्तम अध्याय (प्र.१/ शी० १०) में द्रष्टव्य हैं। तथा मथुराशिल्प में मूर्तित साधुओं का वेश आचारांगोक्त साधुवेश के अनुरूप है, यह मान्यता आगम-सम्मत नहीं है। वास्तविकता यह है कि आचारांग में एक, दो या तीन प्रावरण धारण करने का विधान शीतपरीषह-निवारण के लिए किया गया है, लज्जानिवारण के लिए नहीं। लज्जानिवारण के लिए कटिबन्धन (चोलपट्ट) पहनने की आज्ञा दी गई है। (देखिए/ अध्याय ३/ प्रकरण १/ शीर्षक ६)। मथुराशिल्प में मूर्तित साधु लज्जानिवारण के लिए हाथ पर वस्त्र या कम्बल लटकाये हुए है, उसका कटिप्रदेश कटिबन्धन (चोलपट्ट) से वेष्टित नहीं है, अपितु नग्न है। यह वेश आचारांगोक्त साधुवेश के विरुद्ध है। शेष सभी मन्तव्य इतिहास-सम्मत हैं, केवल इतना संशोधन आवश्यक है कि दिगम्बर-श्वेताम्बर-भेद जम्बूस्वामी के निर्वाण के अनन्तर ही हो गया था। श्रुतकेवली भद्रबाहु के समय में मूलनिर्ग्रन्थसंघ में दूसरी बार विभाजन हुआ था और तब अर्धफालक-सम्प्रदाय की उत्पत्ति हुई थी, जो ईसा की द्वितीय शताब्दी तक विद्यमान रहा, पश्चात् श्वेताम्बरसम्प्रदाय में विलीन हो गया।

उपर्युक्त वक्तव्यों में प्रकट की गयी अन्य मान्यताएँ, जैसे षट्खण्डागम आदि ग्रन्थों के कर्ता यापनीय-आचार्य थे, पूर्ववत् ही हैं। उनका निरसन उत्तरवर्ती अध्यायों में किया जायेगा।

डॉ० सागरमल जी का यह अन्तिम निर्णय कि आज की दिगम्बरपरम्परा का पूर्वज (श्रुतकेवली भद्रबाहुनीत) दक्षिणी अचेल निर्ग्रन्थसंघ है, अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। इससे 'जैनधर्म का यापनीय सम्प्रदाय' ग्रन्थ में प्रकट की गयीं उनकी दिगम्बरमत-विरोधी अनेक मान्यताएँ स्वतः निरस्त हो जाती हैं। इसका प्रदर्शन यथास्थान किया जायेगा।



तृतीय प्रकरण

श्वेताम्बरसाहित्य का विकास

डॉ० सागरमल जी ने अपने नवीन ग्रन्थ 'जैनधर्म की ऐतिहासिक विकासयात्रा' में श्वेताम्बरसाहित्य के विकास पर भी प्रकाश डाला है, जिससे ज्ञात होता है कि श्वेताम्बरमान्य आचारांग आदि सभी आगम ईसापूर्व की रचनाएँ नहीं हैं, समवायांग जैसे आगमग्रन्थ तो ईसा की पाँचवीं शती में रचे गये हैं। इनकी रचना के कालक्रम का ज्ञान डॉक्टर सा० की अनेक कपोलकल्पित मान्यताओं के निरसन में उपयोगी है, अतः श्वेताम्बरसाहित्य के विकास पर प्रकाश डालनेवाले उनके वचन नीचे उद्धृत किये जा रहे हैं। वे लिखते हैं—

“महावीर के निर्वाण के पश्चात् से लेकर ईसा की पाँचवीं शती तक एक हजार वर्ष की इस सुदीर्घ अवधि में अर्द्धमागधी आगमसाहित्य का निर्माण एवं संकलन होता रहा है। अतः आज हमें जो आगम उपलब्ध हैं, वे न तो एक व्यक्ति की रचना हैं और न एक काल की। मात्र इतना ही नहीं, एक ही आगम में विविध कालों की सामग्री संकलित हैं। इस अवधि में सर्वप्रथम ई० पू० तीसरी शती में पाटलिपुत्र में प्रथम वाचना हुई, सम्भवतः इस वाचना में अंगसूत्रों एवं पार्श्वपत्यपरम्परा के पूर्व-साहित्य के ग्रन्थों का संकलन हुआ। पूर्वसाहित्य के संकलन का प्रश्न इसलिये महत्त्वपूर्ण बन गया था कि पार्श्वपत्य-परम्परा लुप्त होने लगी थी। इसके पश्चात् आर्य स्कन्दिल की अध्यक्षता में मथुरा में और आर्य नागार्जुन की अध्यक्षता में वल्लभी में समानान्तर वाचनाएँ हुई, जिनमें अंग, उपांग आदि आगम संकलित हुए। इसके पश्चात् वीर निर्वाण ९८० अर्थात् ई० सन् की पाँचवीं शती में वल्लभी में देवर्द्धिक्षमाश्रमण के नेतृत्व में अन्तिम वाचना हुई। वर्तमान आगम इसी वाचना का परिणाम हैं। फिर भी देवर्द्धि इन आगमों के सम्पादक ही हैं, रचनाकार नहीं। उन्होंने मात्र ग्रन्थों को सुव्यवस्थित किया। इन ग्रन्थों की सामग्री तो उनके पहले की है। अर्द्धमागधी आगमों में जहाँ 'आचारांग' एवं 'सूत्रकृतांग' के प्रथम श्रुतस्कन्ध, 'ऋषिभाषित', 'उत्तराध्ययन', 'दशवैकालिक' आदि प्राचीन स्तर के अर्थात् ई० पू० के ग्रन्थ हैं, वहीं 'समवायांग', वर्तमान 'प्रश्नव्याकरण' आदि पर्याप्त परवर्ती अर्थात् लगभग ई० स० की पाँचवीं शती के हैं। 'स्थानांग', 'अंतकृद्दशा', 'ज्ञाताधर्मकथा' और 'भगवती' का कुछ अंश प्राचीन (अर्थात् ई० पू० का) है, तो कुछ पर्याप्त परवर्ती है। उपांगसाहित्य में अपेक्षाकृत रूप में 'सूर्यप्रज्ञप्ति', 'राजप्रश्नीय', 'प्रज्ञापना' प्राचीन हैं। उपांगों की अपेक्षा भी छेद-सूत्रों की प्राचीनता निर्विवाद है। इसी प्रकार प्रकीर्णक साहित्य में अनेक ग्रन्थ ऐसे हैं, जो कुछ अंगों और उपांगों की अपेक्षा भी प्राचीन हैं। फिर भी सम्पूर्ण अर्द्धमागधी आगमसाहित्य को

अन्तिम रूप लगभग ई० सन् की छठी शती के पूर्वार्ध में मिला, यद्यपि इसके बाद भी इसमें कुछ प्रक्षेप और परिवर्तन हुए हैं। ईसा की छठी शताब्दी के पश्चात् से दसवीं-ग्यारहवीं शताब्दी के मध्य तक मुख्यतः आगमिक व्याख्या साहित्य के रूप में निर्युक्ति, भाष्य, चूर्णी और टीकाएँ लिखी गईं। यद्यपि कुछ निर्युक्तियाँ प्राचीन भी हैं। इस काल में इन आगमिक व्याख्याओं के अतिरिक्त स्वतंत्र ग्रन्थ भी लिखे गये।''(जैनधर्म की ऐतिहासिक विकासयात्रा / पृ.३१)।

निर्णीतार्थ

प्रस्तुत अध्याय में उपस्थित किये गये उपर्युक्त प्रमाणों से निम्नलिखित बातें सिद्ध होती हैं—

१. जम्बूस्वामी के निर्वाण के बाद भगवान् महावीर के अनुयायी एकान्त-अचेलमुक्तिवादी निर्ग्रन्थसंघ या अचेलसंघ से 'श्वेतपट' नामक सग्रन्थसंघ या सचेल-संघ का उद्भव हुआ था। उसके श्वेतपट, श्वेतवस्त्र, सिताम्बर या श्वेताम्बर नाम से प्रसिद्ध होने के कारण निर्ग्रन्थसंघ भी आगे चलकर 'दिगम्बरसंघ' के नाम से व्यपदिष्ट होने लगा। इससे सिद्ध है कि दिगम्बरसंघ निर्ग्रन्थसंघ के नाम से जम्बूस्वामी के पूर्व विद्यमान था। अतः बोटिक शिवभूति से वीर नि० सं० ६०९ में अथवा आचार्य कुन्दकुन्द से विक्रम की छठी शती (पाँचवीं शती ई०) में दिगम्बरसम्प्रदाय की उत्पत्ति बतलाना सत्य का घोर अपलाप है।

२. अचेलक धर्म के अनुयायी अन्तिम श्रुतकेवली भद्रबाहु बारह हजार शिष्यों के साथ उत्तरभारत से दक्षिणभारत गये थे, इससे सूचित होता है कि वहाँ दिगम्बरजैनमत के अनुयायी पहले से ही विद्यमान थे, अन्यथा बारह हजार दिगम्बरमुनियों की आहारचर्या वहाँ संभव नहीं थी। इससे सिद्ध होता है कि दिगम्बरपरम्परा अतिप्राचीन है।

३. जम्बूस्वामी के निर्वाणानन्तर निर्ग्रन्थसंघ के भेद (विभाजन) से श्वेताम्बर-सम्प्रदाय का जन्म हुआ था। तत्पश्चात् श्रुतकेवली भद्रबाहु के समय में पुनः उसके (निर्ग्रन्थसंघ के) ही भेद से अर्धफालकसंघ की उत्पत्ति हुई। इनके अतिरिक्त निर्ग्रन्थसंघ के भेद से अन्य किसी भी सवस्त्रमुक्ति एवं स्त्रीमुक्ति के समर्थक संघ की उत्पत्ति का उल्लेख साहित्य या शिलालेखों में उपलब्ध नहीं है। सवस्त्रमुक्ति और स्त्रीमुक्ति के विरोधी दिगम्बरसंघ की उत्पत्ति निर्ग्रन्थसंघ के भेद से नहीं हुई थी, क्योंकि वह तो निर्ग्रन्थसंघ का ही नामान्तर है, जो भगवान् महावीर के समय से चला आ रहा है। यापनीयसंघ की उत्पत्ति श्वेताम्बरसंघ के भेद से हुई थी, इसका उल्लेख हरिषेण के 'बृहत्कथाकोश' एवं रत्ननन्दीकृत 'भद्रबाहुचरित' में मिलता है। स्वयं डॉ० सागरमल जी ने उसे उत्तरभारत के निर्ग्रन्थसंघ से विभक्त हुआ मानकर यह मान लिया है कि

उसकी उत्पत्ति श्वेताम्बरसंघ से ही हुई थी, क्योंकि उन्होंने स्थूलभद्रनीत सचेलसंघ को ही उत्तरभारत का निर्ग्रन्थसंघ कहा है। अतः उनकी 'जैनधर्म का यापनीय सम्प्रदाय' ग्रन्थ में प्रतिपादित यह पूर्व मान्यता अप्रामाणिक है कि भगवान् महावीर का अनुयायी मूल निर्ग्रन्थसंघ सचेलाचेलमार्गी था और उसके भेद से श्वेताम्बर और यापनीय संघों का उद्भव हुआ था।

सप्तम अध्याय

सप्तम अध्याय
यापनीयसंघ का इतिहास
प्रथम प्रकरण
यापनीयसंघ का स्वरूप

इस सम्प्रदाय का परिचय देते हुए पं० नाथूराम जी प्रेमी लिखते हैं—“जैनधर्म के दो सम्प्रदाय हैं : दिगम्बर और श्वेताम्बर। इन दोनों के अनुयायी लाखों हैं और साहित्य भी विपुल है, इसलिए इनके मतों और मतभेदों से साधारणतः सभी परिचित हैं, परन्तु इस बात का बहुत ही कम लोगों को पता है कि इन दो के अतिरिक्त एक तीसरा सम्प्रदाय भी था, जिसे यापनीय, आपुलीय या गोप्य संघ कहते थे और जिसका इस समय एक भी अनुयायी नहीं है। --- किसी समय यह सम्प्रदाय कर्नाटक और उसके आस-पास बहुत प्रभावशाली रहा है। कदम्ब, राष्ट्रकूट और दूसरे वंशों के राजाओं ने इस संघ को और इसके साधुओं को अनेक भूमिदान किये थे। हरिभद्र ने अपनी ललितविस्तरा में यापनीयतंत्र का सम्मानपूर्वक उल्लेख किया है।” (जै.सा.इ./द्वि.सं./पृ. ५६)।

१

सिद्धान्त और आचार

१६वीं शती ई० के भट्टारक रत्ननन्दी (रत्नकीर्ति) ने भद्रबाहुचरित में यापनीयों के सिद्धान्त और आचरण के विषय में लिखा है कि वे वेश (लिंग) तो दिगम्बरों का धारण करते थे, लेकिन आचार श्वेताम्बरों का पालन करते थे—“धृतं दिग्वाससां रूपमाचारः सितवाससाम्।” (श्लोक ४/१५३)। इससे स्पष्ट होता है कि यापनीय साधुओं का केवल वेश दिगम्बरसाधुओं जैसा होता था, जैसे वे नग्न रहते थे, मयूरपिच्छी रखते थे और पाणितल में भोजन लेकर करते थे, लेकिन शेष सम्पूर्ण आचरण श्वेताम्बरसाधुओं के समान था। अर्थात् संभवतः उनके ही समान अनेक बार आहार-जल लेते थे, बैठकर भोजन करते थे, शीतादिनिवारणार्थ कम्बल या चादर ओढ़ते थे, अर्श-भगन्दर आदि रोग हो जाने पर वस्त्रादि का उपयोग करते थे^१ तथा

१. क-अर्शो-भगन्दरादिषु गृहीतचीरो यतिर्न मुच्येत।

अपसर्गो वा चीरे गदादिः संन्यस्यते चात्ते ॥ १७ ॥ शाकटायन : स्त्रीनिर्वाणप्रकरण।

सभी श्वेताम्बर आगमों एवं उनमें प्रतिपादित सवस्त्रमुक्ति, स्त्रीमुक्ति आदि सिद्धान्तों को मानते थे।

आचार्य श्री हस्तीमल जी भी लिखते हैं—“दिगम्बराचार्य रत्नन्दी ने ‘भद्रबाहुचरित’ नामक अपनी रचना में उल्लिखित ‘धृतं दिग्वाससां रूपमाचारः सितवाससाम्’ इस श्लोकाद्ध से यह स्वीकार किया है कि यापनीयसंघ के साधु-साध्वियों और आचार्यों आदि का आचार-विचार श्वेताम्बर-परम्परा के साधु-साध्वियों के अनुरूप था। इससे यह स्वतः सिद्ध हो जाता है कि यापनीयपरम्परा की मान्यताएँ अधिकांश में श्वेताम्बरपरम्परा की मान्यताओं से मिलती-जुलती थीं।” (जै.ध.मौ.इ. / भा.३ / पृ. २१२)।

श्वेताम्बराचार्य श्री गुणरत्नसूरि (१४वीं शती ई०) ने यापनीयों के आचार का वर्णन करते हुए लिखा है कि वे नग्न रहते हैं, पाणिपात्र में भोजन करते हैं, मयूरपिच्छी रखते हैं, वन्दना किये जाने पर ‘धर्मलाभ हो’ यह आशीर्वाद देते हैं तथा स्त्रियों की मुक्ति और केवलभुक्ति मानते हैं। उनका दूसरा नाम गोप्य भी है।^२

यापनीयतन्त्र नामक ग्रन्थ में स्त्रीमुक्ति के समर्थन में जो युक्तियाँ दी गयी हैं, उन्हें श्री हरिभद्रसूरि (८वीं शती ई०) ने ललितविस्तरा (गाथा ३/पृ. ४०२) में उद्धृत किया है। इससे यापनीयों की स्त्रीमुक्ति-मान्यता की पुष्टि होती है।

श्रुतसागरसूरि (१५वीं शती ई०) लिखते हैं—“यापनीय खच्चरों के समान हैं। वे श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनों मतों को मानते हैं। वे रत्नत्रय की पूजा करते हैं और कल्पसूत्र का वाचन भी करते हैं। वे कहते हैं कि स्त्रियों का तद्भवमोक्ष होता है, केवली भगवान् कवलाहार करते हैं, तथा परशासन माननेवाले सग्रन्थ की मुक्ति होती है।”^३

पं० नाथूराम जी प्रेमी ने इन उल्लेखों के आधार पर लिखा है—“ललितविस्तरा के कर्ता हरिभद्रसूरि, षड्दर्शनसमुच्चय के टीकाकार गुणरत्नसूरि और षट्प्राभृत के व्याख्याता

ख—स्त्रीनिर्वाणप्रकरण एवं केवलभुक्तिप्रकरण के रचयिता शाकटायन का वास्तविक नाम पाल्कीर्ति था। (देखिये, आगे पादटिप्पणी १५९)।

२. “दिगम्बराः पुनर्नाग्न्यलिङ्गाः पाणिपात्राश्च। ते चतुर्धा काष्ठासङ्घ-मूलसङ्घ-माथुरसङ्घ-गोप्यसङ्घभेदात्। --- गोप्या मायूरपिच्छिका। --- गोप्यास्तु वन्द्यमाना धर्मलाभं भणन्ति, स्त्रीणां मुक्तिं केवलानां भुक्तिं च मन्यन्ते। गोप्या यापनीया इत्यप्युच्यन्ते।” त.र.दी./ षड्दर्शनसमुच्चय / चतुर्थ अधिकार/पृष्ठ १६१।

३. “यापनीयास्तु वेसरा गर्दभा इवोभयं मन्यन्ते, रत्नत्रयं पूजयन्ति, कल्पं च वाचयन्ति, स्त्रीणां तद्भवे मोक्षं, केवलजिनानां कवलाहारं, परशासने सग्रन्थानां मोक्षं च कथयन्ति।” श्रुतसागर-टीका / दंसणपाहुड/गाथा ११।

श्रुतसागर सूरि के अनुसार यापनीयसंघ के मुनि नग्न रहते थे, मोर की पिच्छी रखते थे, पाणितलभोजी थे, नग्नमूर्तियाँ पूजते थे और वन्दना करनेवाले श्रावकों को 'धर्मलाभ' देते थे। ये सब बातें तो दिगम्बरियों जैसी थीं, परन्तु साथ ही वे मानते थे कि स्त्रियों को उसी भव में मोक्ष हो सकता है, केवली भोजन करते हैं और सग्रन्थावस्था और परशासन से भी मुक्ति होना संभव है। इसके सिवाय शाकटायन की अमोघवृत्ति के कुछ उदाहरणों से मालूम होता है कि यापनीयसंघ में आवश्यक, छेदसूत्र, निर्युक्ति और दशवैकालिक आदि ग्रन्थों का पठन-पाठन होता था, अर्थात् इन बातों में वे श्वेताम्बरियों के समान थे।" (जै. सा. इ. / प्र. सं. / पृ. ४४)।

यापनीय-सम्प्रदाय दिगम्बरलिंग (जिनकल्प) एवं श्वेताम्बरमान्य सवस्त्रलिंग (स्थविरकल्प) दोनों से मुक्ति मानता था। यापनीय-आचार्य पाल्यकीर्ति शाकटायन स्त्रीनिर्वाणप्रकरण (कारिका १६) में लिखते हैं कि जैसे स्थविरकल्पी (वस्त्रधारी) मुनियों को मोक्ष होता है, वैसे ही वस्त्रत्याग न करनेवाली स्त्रियों को भी संभव है। (देखिये, अध्याय १५ / प्रकरण १ / शीर्षक २)। पाल्यकीर्ति ने स्त्रीमुक्ति के समर्थन में दिगम्बरमान्य वेदवैषम्य को अमान्य किया है। उनकी वेदवैषम्य-विरोधी युक्तियों का प्ररूपण अध्याय ११ / प्रकरण ५ / शीर्षक १ में अवलोकनीय है।

इस मिलावटी चरित्र के ही कारण इन्द्रनन्दी (११ वीं शती ई०) ने नीतिसार में यापनीयों को पाँच जैनाभासों में परिगणित किया है—

गोपुच्छिकः श्वेतावासा द्राविडो यापनीयकः।

निःपिच्छिकश्चेति पञ्चैते जैनाभासाः प्रकीर्तिताः ॥ १० ॥

ये जैनाभास तीर्थकरों की नग्न मूर्तियाँ प्रतिष्ठित करते थे। श्रुतसागरसूरि ने लिखा है—

“या पञ्चजैनाभासैरञ्चलिकारहितापि नग्नमूर्तिरपि प्रतिष्ठिता सा न वन्दनीया, न चार्चनीया। या तु जैनाभासरहितैः साक्षादारहतसङ्घैः प्रतिष्ठिता चक्षुःस्तनादिषु विकाररहिता नन्दिसङ्घ-सेनसङ्घ-देवसङ्घ-सिंहसङ्घे समुपन्यस्ता सा वन्दनीया।” (टीका / बोधपाहुड / गा. १०)।

अनुवाद—“पाँच जैनाभासों द्वारा जो लँगोटीरहित नग्नमूर्ति भी प्रतिष्ठित की जाती है, वह न वन्दनीय है, न पूजनीय। जो जैनाभासत्वरहित साक्षात् आर्हतसंघ के नन्दिसंघ, सेनसंघ, देवसंघ एवं सिंहसंघ के द्वारा चक्षु-स्तन आदि में विकाररहित मूर्ति प्रतिष्ठित की जाती है, वह वन्दनीय है।”

श्रुतसागरसूरि के इस कथन से मालूम होता है कि यापनीयों द्वारा प्रतिष्ठित जिन-प्रतिमाएँ नग्न होती थीं।

अचेलकता-सचेलकता दोनों के पक्षधर—डॉ० सागरमल जी का कथन है कि उत्तरभारत की सचेलाचेल-निर्ग्रन्थ-परम्परा से अचेलता के पक्षधर यापनीयसंघ और सचेलता के पक्षधर श्वेताम्बरसंघ का उद्भव हुआ था। (जै.ध.या.स./पृ.२४)। यह कथन भ्रमोत्पादक है। यापनीयसंघ अचेलता और सचेलता दोनों का पक्षधर था, बल्कि अचेलता से अधिक सचेलता का पक्षधर था। स्त्रीमुक्ति की जैसी वकालत यापनीयग्रन्थ स्त्री-निर्वाणप्रकरण और यापनीयतन्त्र में की गई है, वैसी श्वेताम्बरग्रन्थों में भी नहीं मिलती। श्री हरिभद्रसूरि ने ललितविस्तारा में स्त्रीमुक्ति के समर्थन में यापनीयतन्त्र के ही तर्क उद्धृत किये हैं। सवस्त्रमुक्ति, गृहस्थमुक्ति और परतीर्थिकमुक्ति का भी यापनीयसम्प्रदाय में उतना ही समर्थन किया गया है, जितना श्वेताम्बरसम्प्रदाय में। किन्तु जब सवस्त्रमुक्ति संभव है, तब अचेलता की क्या आवश्यकता है? इसका समाधान किसी भी यापनीयग्रन्थ में नहीं मिलता। तात्पर्य यह कि यापनीयसम्प्रदाय में युक्तिवाद के द्वारा सचेलता का तो औचित्य सिद्ध किया गया है, किन्तु अचेलता का नहीं। इससे स्पष्ट है कि यापनीयमत सिद्धान्ततः सचेलता का ही पक्षधर था, अचेलता तो उसमें केवल लौकिक प्रयोजनवश स्वीकार की गई थी। इसका स्पष्टीकरण आगे द्रष्टव्य है।

डॉ० सागरमल जी लिखते हैं—“यापनीयों की मान्यता है कि अचेलता ही श्रेष्ठ मार्ग है, किन्तु आपवादिक स्थितियों में मुनि वस्त्र रख सकता है। (जै.ध.या.सं./पृ.४३१)। उसकी (यापनीयमत की) दृष्टि में अचेलकत्व (नग्नत्व) उत्सर्गमार्ग है और सचेलकत्व अपवादमार्ग।” (जै.ध.या.सं./पृ.४३२)। इसके समर्थन में लेखक ने ‘भगवती-आराधना’ को यापनीयग्रन्थ मानते हुए उसकी “उस्सग्गियलिंगकदस्स” गाथा (७६) उद्धृत की है। किन्तु ‘भगवती-आराधना’ यापनीयग्रन्थ नहीं, अपितु दिग्म्बरग्रन्थ है, यह आगे ‘भगवती-आराधना’ नाम के अध्याय में सिद्ध किया जायेगा। इससे स्पष्ट है कि उपर्युक्त मान्यता किसी यापनीयग्रन्थ से समर्थित नहीं है। वस्तुतः यापनीयमत में उत्सर्ग-अपवाद का भेद ही नहीं मिलता, अपितु अचेलता और सचेलता दोनों को वैकल्पिक (ऐच्छिक) रूप में मान्यता दी गई है। (देखिये, अध्याय १४/प्र. २/शी. १.५, १.६., १.९ एवं १.१०)। अतः यह सिद्ध नहीं होता कि यापनीयसंघ अचेलता का पक्षधर था। वस्तुतः वह दोनों को समान महत्त्व देता था। अतः वह सचेलाचेलमार्गी था।

२

बोटिक शिवभूति यापनीयमत का प्रवर्तक नहीं

द्वितीय अध्याय में मुनि कल्याणविजय जी, पं० दलसुखभाई मालवणिया और डॉ० सागरमल जैन के कथन उद्धृत किए गये हैं, जिनमें उन्होंने कहा है कि बोटिक शिवभूति ने वीरनिर्वाण सं० ६०९ (सन् ८२ ई०) में यापनीयमत का प्रवर्तन किया

था। पहले इसका नाम बोटिकमत पड़ा, फिर मूलगण या मूलसंघ, तदनन्तर 'यापनीय' नाम से प्रसिद्ध हुआ। आगे चलकर डॉ० सागरमल जी ने यापनीयमत का उत्पत्तिकाल ईसा की पाँचवीं शती मान लिया। (देखिये, अध्याय २ / प्र.२ / शी. ६.५ एवं प्र. ३ / शी. १)।

किन्तु, द्वितीय अध्याय में युक्ति-प्रमाणपूर्वक सिद्ध किया जा चुका है कि बोटिक शिवभूति ने, न दिगम्बरमत का प्रवर्तन किया था, न यापनीयमत का, अपितु उसने श्वेताम्बरमत छोड़कर भगवान् महावीर द्वारा प्रणीत सर्वथा अचेलमार्गी दिगम्बरमत अपनाया था। 'आवश्यक मूलभाष्य' आदि के कर्त्ताओं ने दिगम्बरमत को ही 'बोटिकमत' शब्द से अभिहित किया है।

३

श्वेताम्बरसंघ से यापनीयसंघ की उत्पत्ति

श्वेताम्बरसाहित्य से यापनीयसंघ के उद्गम, समय और प्रवर्तक-पुरुष के विषय में कोई सूचना प्राप्त नहीं होती। दिगम्बरसाहित्य से ही इन बातों की कुछ जानकारी मिलती है।

बृहत्कथाकोशकार आचार्य हरिषेण (ई. सन् १३१) ने बृहत्कथाकोश के भद्रबाहुकथानक में शिथिलाचारी निर्ग्रन्थ साधुओं से अर्धफालकसंघ^४ की उत्पत्ति, उससे श्वेताम्बरसंघ का उदय तथा श्वेताम्बरसंघ से यापनीयसंघ के जन्म की कथा का वर्णन किया है। इसका विस्तार से निरूपण षष्ठ अध्याय में किया जा चुका है।

देवसेनसूरि (१३३ ई०) ने अपने ग्रंथ दर्शनसार में लिखा है कि विक्रमसंवत् २०५ में कल्याणनगर में श्रीकलश नामक श्वेताम्बर मुनि से यापनीयसंघ उत्पन्न हुआ—

कल्लाणे वरणयरे दुण्णिणसए पंच उत्तरे जादे।

जावणिय-संघभावो सिरिकलसादो हु सेवडदो॥ २९॥

रत्ननन्दी ने भद्रबाहुचरित में यापनीयसंघ की उत्पत्ति पर प्रकाश डालनेवाली निम्न घटना का वर्णन किया है—करहाटक नामक नगर में राजा भूपाल राज्य करते थे। उनकी नृकुलदेवी नाम की प्रिय रानी थी। एक बार रानी ने अपने पति से कहा कि मेरे पितृनगर में मेरे कुछ गुरुजन (मुनिगण) पधारे हैं। धर्मप्रभावना के लिए आप

४. बायें हाथ पर अर्धवस्त्रखण्ड लटकाकर चलनेवाले साधु अर्धफालकधारी कहलाते थे। (बृहत्कथाकोश / भद्रबाहुकथानक / श्लोक ५८)। देखिए, अध्याय ६ / प्रकरण १ / शीर्षक ६।

उन्हें भक्तिपूर्वक यहाँ बुलवायें। राजा ने बुद्धिसागर नाम के मंत्री को गुरुओं के पास भेजा। वह विनयपूर्वक उन्हें करहाटक ले आया। राजा ठाठ-बाट से अगवानी के लिए गया। पर उसने दूर से देखा कि ये तो दिगम्बर साधु नहीं हैं। ये तो सक्त्र हैं और इनके हाथ में भिक्षापात्र और लाठी है। ये कौन से साधु हैं? निर्ग्रन्थतारहित यह कौन सा मत है? राजा ने उनके पास जाना उचित नहीं समझा। वह घर लौट आया और रानी से बोला—“जिनमत के विरुद्ध चलनेवाले, परिग्रहपिशाच के वशीभूत ये ही तुम्हारे गुरु हैं? मैं इन्हें नहीं मानूँगा।”

रानी राजा का आशय समझ गई। वह तुरन्त गुरुओं के पास गई और प्रार्थना की, कि वे वस्त्रादि का त्याग कर निर्ग्रन्थ वेश धारण कर लें। साधुओं ने रानी का अनुरोध स्वीकार कर तुरन्त वस्त्रादि का त्याग कर दिया और पीछी-कमण्डलु लेकर दिगम्बरमुद्रा में राज्य में प्रवेश किया। तब राजा भूपाल ने जाकर बड़े ठाठ-बाट से उनकी अगवानी की और उन्हें नगर में ले आया।

“इस तरह राजा आदि के द्वारा पूजित और सम्मानित होने पर उन्होंने रूप तो दिगम्बर साधुओं का धारण कर लिया, किन्तु उनका श्रद्धान और आचरण श्वेताम्बर साधुओं के ही समान बना रहा। गुरुदीक्षा के बिना उन्होंने जो दिगम्बरलिंग धारण किया था, वह नट के रूप के समान उपहासास्पद बन गया। (भद्रबाहुचरित ४/१३७-१५३)। आगे चलकर इन्हीं साधुओं से यापनीयसंघ का प्रादुर्भाव हुआ। भद्रबाहुचरित से कथा का प्रासंगिक संस्कृत मूल नीचे दिया जा रहा है—

अन्यदावसरं प्राप्य राज्या विज्ञापितो नृपः।
 स्वामिन्मद्गुरवः सन्ति गुरवोऽस्मत्पितुः पुरे ॥ ४ / १४० ॥
 आनाययत तान्भक्त्या धर्मकर्माभिवृद्धये।
 निशम्य तद्वचो भूभृदाहूयामात्यमञ्जसा ॥ ४ / १४१ ॥
 बुद्धिसागरनामानमप्रेषीस्लातुमादरात्।
 आसाद्यासौ गुरुन् भक्त्या प्रवरप्रश्रयान्वितः ॥ ४ / १४२ ॥
 भूयोऽभ्यर्थनयामात्यः पत्तनं निजमानयत्।
 निशम्यागमनं तेषां मुदमाप परं नृपः ॥ ४ / १४३ ॥
 महताडम्बरेणासावचालीद्वन्दितुं गुरुन्।
 दूरादालोक्य तान्साधून्द्ध्यदिति सुविस्मयात् ॥ ४ / १४४ ॥
 अहो निर्ग्रन्थताशून्यं किमिदं नौतनं मतम्।
 न मेऽत्र युज्यते गन्तुं पात्रदण्डादिमण्डितम् ॥ ४ / १४५ ॥

व्याघृत्य भूपतिस्तस्मादागत्य निजमन्दिरम्।
 भाषते स्म महादेवीं गुरवस्ते कुमारगंगाः ॥ ४ / १४६ ॥
 जिनोदितबहिर्भूत-दर्शनाश्रितवृत्तयः।
 परिग्रहग्रहग्रस्तानैतान्मन्यामहे वयम् ॥ ४ / १४७ ॥
 सा तु मनोगतं राज्ञो ज्ञात्वाऽगाद्गुरुसन्निधिम्।
 नत्वा विज्ञापयामास विनयानतमस्तका ॥ ४ / १४८ ॥
 भगवन्मदाग्रहादग्र्यां गृहीतामरपूजिताम्।
 निर्ग्रन्थपदवीं पूतां हित्वा सङ्गं मुदाऽखिलम् ॥ ४ / १४९ ॥
 उररीकृत्य ते राज्ञ्या वचनं विदुषार्चितम्।
 तत्यजुः सकलं सङ्गं वसनादिकमञ्जसा ॥ ४ / १५० ॥
 करे कमण्डलुं कृत्वा पिच्छिकां च जिनोदिताम्।
 जग्रहुर्जिनमुद्रां ते धवलांशुकधारिणः ॥ ४ / १५१ ॥
 विशांपतिस्ततो गत्वाऽभिमुखं भूरिसम्भ्रमात्।
 नत्वातिभक्तितः साधून्मध्येपत्तनमानयत् ॥ ४ / १५२ ॥
 तदातिवेलं भूपाद्यैः पूजिता मानिताश्च तैः।
 धृतं दिग्वाससां रूपमाचारः सितवाससाम् ॥ ४ / १५३ ॥
 गुरुशिक्षातिगं लिङ्गं नटवद्भण्डमास्पदम्।
 ततो यापनसङ्घोऽभूत्तेषां कापथवर्तिनाम् ॥ ४ / १५४ ॥

इस कथा में भी श्वेताम्बरसंघ से ही यापनीयसंघ की उत्पत्ति बतलायी गई है।

४

उत्तरभारत की सचेलाचेल-निर्ग्रन्थ-परम्परा काल्पनिक

डॉ० सागरमल जी इस मत पर आपत्ति उठाते हुए कहते हैं—“रत्नन्दी का यह मत पूर्णतः प्रामाणिक नहीं है। यापनीयों की उत्पत्ति श्वेताम्बर-परम्परा से न होकर उस मूलधारा से हुई है, जो श्वेताम्बर-परम्परा की भी पूर्वज थी, जिससे कालक्रम से वर्तमान श्वेताम्बरधारा का विकास हुआ है। वस्तुतः महावीर के धर्मसंघ में जब वस्त्रपात्रादि में वृद्धि होने लगी और अचेलकत्व की प्रतिष्ठा क्षीण होने लगी, तब उससे अचेलता के पक्षधर यापनीय और सचेलाचेल के पक्षधर श्वेताम्बर ऐसी दो धाराएँ निकलीं। पुनः यापनीय-सम्प्रदाय का जन्म दक्षिण में न होकर उत्तरभारत में हुआ।” (जै. ध. या. स. / पृ. २३-२४)।

डॉक्टर सा० की यह आपत्ति न्याय्य नहीं है। द्वितीय अध्याय (प्रकरण ३ एवं ४) में सप्रमाण सिद्ध किया गया है कि उत्तरभारत में तो क्या, सम्पूर्ण भारत में यापनीयसंघ की उत्पत्ति के पूर्व कोई सचेलाचेल-निर्ग्रन्थ-परम्परा विद्यमान नहीं थी। उसके पूर्व जैनपरम्परा में दो ही संघ थे : एकान्त-अचेलमार्गी-निर्ग्रन्थ-(दिगम्बर)-संघ तथा एकान्त-सचेलमार्गी-श्वेतपट-श्रमण-संघ। इस एकान्त-सचेलमार्गी-श्वेतपट-श्रमण-संघ के ही कुछ साधुओं ने यापनीयसंघ की नींव डाली थी। अतः डॉ० सागरमल जी की आपत्ति उचित नहीं है। जिस सचेलाचेल-निर्ग्रन्थ-परम्परा का अस्तित्व ही नहीं था, उससे श्वेताम्बर और यापनीय संघों की उत्पत्ति मानना आकाशकुसुम से सुगंध की उत्पत्ति मानना है। अतः हरिषेण, देवसेनसूरि तथा रत्ननन्दी इन तीनों का यह कथन अप्रामाणिक नहीं है कि यापनीयसंघ का जन्म श्वेताम्बरसंघ से हुआ था।

५

दिगम्बरसंघ से यापनीयसंघ की उत्पत्ति नहीं

आचार्य हस्तीमल जी यापनीयसंघ की उत्पत्ति दिगम्बरपरम्परा से मानते हुए लिखते हैं—“दर्शनसार की उपरिलिखित ('कल्लाणं वरणयरे') गाथा में यापनीयपरम्परा की उत्पत्ति श्वेताम्बरसंघ से बताई गई है, किन्तु यापनीयसंघ के जितने भी गणों, गच्छों अथवा संघों के नाम जो आज तक प्राचीन अभिलेखों (शिलालेखों, ताग्रपत्रों) आदि में उपलब्ध हुए हैं, वे सब के सब दिगम्बरपरम्परा के संघों, गणों, गच्छों एवं अन्वयों के समान नामवाले हैं। इसके विपरीत श्वेताम्बरपरम्परा के किसी भी गण अथवा गच्छ के समान नामवाला यापनीयपरम्परा का एक भी गण अथवा गच्छ आज तक उपलब्ध हुई पुरातत्त्व सामग्री में प्राप्त नहीं हुआ है। --- मूलसंघ, श्रीमूल-मूल-संघ, कनकोत्पल-संभूतसंघ, पुन्नागवृक्षमूलसंघ, कुन्दकुन्दान्वय, कण्डूरगण, क्राणूरगण आदि संघों, गणों और अन्वयों के नाम इन दोनों (यापनीय और दिगम्बर) परम्पराओं में समानरूप से उपलब्ध होते हैं”। (जै. ध. मौ. इ. / भा.३ / पृ.२०३-२०४)।

आचार्य हस्तीमल जी के मत की असमीचीनता

आचार्य हस्तीमल जी का उपर्युक्त कथन समीचीन नहीं है। उनके द्वारा उल्लिखित संघों और गणों में से केवल पुन्नागवृक्षमूलगण, जिसे उन्होंने 'गण' न कहकर 'संघ' कहा है, दिगम्बर और यापनीय संघों में समान था, शेष नहीं। शेष में से श्रीमूल-मूलसंघ, कनकोत्पलसंभूत-संघ और कण्डूरगण केवल यापनीयसंघ में थे और मूलसंघ कुन्दकुन्दान्वय एवं क्राणूरगण केवल दिगम्बरसंघ में। अतः मात्र एक 'पुन्नागवृक्षमूलगण' नाम की समानता इस निर्णय का युक्तियुक्त हेतु नहीं है कि यापनीयसंघ की उत्पत्ति

दिगम्बरसंघ से हुई थी। समानता को देखा जाय तो यापनीयसंघ की सैद्धान्तिक और व्यावहारिक समानता दिगम्बरसंघ की अपेक्षा श्वेताम्बरसंघ से अधिक है। जैसे छह द्रव्य, सात तत्त्व, अष्टकर्म, सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र्यरूप मोक्षमार्ग, वीतराग देवशास्त्र-गुरु एवं अहिंसादि सिद्धान्तों की अधिक समानता के कारण श्वेताम्बरजैन-सम्प्रदाय की उत्पत्ति निर्ग्रन्थ (दिगम्बर जैन) सम्प्रदाय से ही सिद्ध होती है, बौद्धसम्प्रदाय से नहीं, जैसे सिद्धान्त और व्यवहार की अधिक समानता के कारण स्थानकवासी-श्वेताम्बर सम्प्रदाय का उद्भव मूर्तिपूजक श्वेताम्बरसम्प्रदाय से ही सिद्ध होता है, दिगम्बर जैन-सम्प्रदाय से नहीं, वैसे ही सवस्त्रमुक्ति (यापनीयमत में वैकल्पिकरूप से), स्त्रीमुक्ति, गृहस्थमुक्ति, परतीर्थिकमुक्ति, केवलभुक्ति आदि सिद्धान्तों एवं 'धर्मलाभ' कहकर आशीर्वाद देने आदि-रूप व्यवहार की अत्यन्त समानता के कारण यापनीयसम्प्रदाय का जन्म श्वेताम्बरसम्प्रदाय से ही सिद्ध होता है, दिगम्बरसम्प्रदाय से नहीं। आचार्य हस्तीमल जी ने स्वयं स्वीकार किया है कि "यापनीयपरम्परा की मान्यताएँ अधिकांश में श्वेताम्बरपरम्परा की मान्यताओं से मिलती जुलती हैं।" (देखिये, प्रस्तुत अध्याय/ प्रकरण १/ शीर्षक १ / अनुच्छेद २)।

नाम और वेश का अनुकरण तो उनसे भी किया जा सकता है, जिनसे कोई वंशगत सम्बन्ध न हो, किन्तु समान भाषा, मान्यताएँ और प्रथाएँ विरासत में उन्हीं से मिलती हैं, जिनके साथ वंशगत सम्बन्ध होता है।

यह मनोविज्ञान का नियम है कि जब आकृतियाँ और वेश समान हों, तब भाषा और संस्कारों से ही मनुष्य के मूल का निर्णय होता है। यापनीयों की श्वेताम्बरीय मान्यताओं से उनके श्वेताम्बरीय संस्कारों का बोध होता है। और उनके द्वारा आशीर्वाद में बोला जानेवाला 'धर्मलाभ' वचन तथा अपनी पहचान के लिए प्रयुक्त 'यापनीय' नाम श्वेताम्बरों की आगम-भाषा के शब्द हैं। अतः यापनीयों में श्वेताम्बरीय संस्कार और श्वेताम्बरों की भाषा पाये जाने से सिद्ध है कि श्वेताम्बरसंघ ही उनका मूल था। यदि दिगम्बरसंघ उनका मूल होता, तो यापनीय हो जाने पर भी उनके मुँह से आशीर्वाद के रूप में धर्मवृद्धि वचन ही निकलता, धर्मलाभ नहीं। 'यापनीय' शब्द बौद्धसाहित्य और श्वेताम्बरसाहित्य में ही मिलता है, दिगम्बरसाहित्य में नहीं, इस पर विशेष प्रकाश आगे डाला जायेगा।

६

सिद्धान्तविपरीत वेशग्रहण का प्रयोजन

यापनीयसंघ एक ऐसा संघ था, जिसके साधु अपने सिद्धान्तों के विपरीत लिंग (वेश) धारण करते थे। वे मानते थे कि मुक्ति के लिए नग्न रहना आवश्यक नहीं

है, फिर भी नग्न रहते थे। विचारणीय है कि ऐसा करने का क्या प्रयोजन था? उस प्रयोजन के अन्वेषण से यापनीयों के मूल का निर्णय हो सकता है।

६.१. श्वेताम्बर-दिगम्बरों में सैद्धान्तिक मेल कराना

कुछ विद्वानों का कथन है कि इसका प्रयोजन श्वेताम्बरों और दिगम्बरों में सैद्धान्तिक मेल कराना था। श्वेताम्बर मुनि आचार्य श्री हस्तीमल जी लिखते हैं—

“तीर्थप्रवर्तनकाल से लेकर आचार्य हरिभद्रसूरि के समय तक निर्ग्रन्थ (विषय-कषायों की ग्रन्थियों से विहीन) श्वेताम्बर, एक वस्त्र से लेकर तीन वस्त्र तक धारण करनेवाले, केवल अग्रहार धारण करनेवाले, केवल कटिपट्ट धारण करनेवाले और दिगम्बर (निर्वस्त्र) मुनि भी भगवान् महावीर के श्रमणसंघ में विद्यमान थे।

“इससे यही निष्कर्ष निकलता है कि अप्रतिहत विहार करते समय अग्रहार अथवा कटिपट्ट धारण करनेवाले मुनि, संघभेद के समय अर्थात् वीर नि० सं० ६०९ में भी विद्यमान थे और उन्होंने भगवान् महावीर के संघ को छिन्न-भिन्न न होने, छोटे-छोटे टुकड़ों में बँटकर विघटित न होने देने के सदुद्देश्य से ही श्वेताम्बर और दिगम्बर सम्प्रदायों के बीच समन्वय बनाये रखने हेतु, इन दोनों सम्प्रदायों के बीच का मध्यमार्ग अपनाया और उनका संघ यापनीयसंघ अथवा आपुलीयसंघ के नाम से लोक में प्रसिद्ध हुआ।” (जै.ध.मौ.इ. / भा. ३ / पृ. २१०-२११)।

डॉ० सागरमल जी भी लिखते हैं—“भगवान् महावीर की परम्परा का सही रूप में प्रतिनिधित्व करनेवाला तथा वर्तमान श्वेताम्बर एवं दिगम्बर परम्पराओं के मध्य योजक कड़ी के रूप में विकसित यह (यापनीय) सम्प्रदाय मेरी अध्ययनरुचि का विषय तो था ही ---।” (लेखकीय / पृ. V / जै.ध.या.स.)।

इस प्रकार इन महानुभावों का मत है कि केवल अग्रहार (अग्रवस्त्र) या कटि-पट्टधारी श्वेताम्बर मुनियों ने श्वेताम्बरों और दिगम्बरों में एकता स्थापित करने के प्रयोजन से अपने श्वेताम्बरीय सिद्धान्तों को न छोड़ते हुए दिगम्बरवेश अपना लिया था। ये ही लोग यापनीय कहलाये।

आचार्य हस्तीमल जी के उपर्युक्त वचनों से उनके पूर्ववचन बाधित हो जाते हैं, जिनमें उन्होंने कहा है कि यापनीयों के गण-गच्छादि दिगम्बरों के गण-गच्छादि से समानता रखते हैं, इसलिए यापनीयों की उत्पत्ति दिगम्बरों से हुई थी।

६.२. सैद्धान्तिक मेल की कल्पना अयुक्तिसंगत

किन्तु श्वेताम्बर (अग्रहार या कटिपट्टधारी) साधुओं के द्वारा श्वेताम्बर-सिद्धान्त न छोड़ते हुए दिगम्बरवेश अपनाये जाने का प्रयोजन श्वेताम्बरों और दिगम्बरों में सैद्धान्तिक

मेल कराना था, यह धारणा बुद्धिगम्य नहीं है। क्योंकि एकान्ततः अचेललिंग से मोक्ष की प्राप्ति माननेवाले निर्ग्रन्थसंघ में सचेललिंग से भी मोक्षप्राप्ति माननेवाली विचारधारा के जन्म ने ही निर्ग्रन्थसंघ का विभाजन किया था। तब निर्ग्रन्थसंघ में उसी विचारधारा के पुनः प्रवेश से सैद्धान्तिक समन्वय की कल्पना करना यापनीयसंघ के प्रवर्तकों को शिशुओं से भी अधिक भोला सिद्ध करना है।

दिगम्बरवेश और श्वेताम्बर-सिद्धान्तों के संगम से उद्भूत 'यापनीय' नाम का यह वर्णसंकर दर्शन दिगम्बर-श्वेताम्बर-आगमविरुद्ध, दिगम्बर-श्वेताम्बर-श्रद्धाविरुद्ध, अन्तर्विरोधी और अतर्कसंगत था। इसकी वस्त्रमुक्ति, स्त्रीमुक्ति, गृहस्थमुक्ति, परतीर्थिक-मुक्ति और केवलिभुक्ति की मान्यताएँ दिगम्बरागमों और दिगम्बरों की श्रद्धा के प्रतिकूल थीं। तथा एकान्त-अचेलमुक्ति, एकान्त-पुरुषमुक्ति, पाणितलभोजित्व एवं मयूरपिच्छिग्रहण की मान्यताएँ श्वेताम्बरागमों एवं श्वेताम्बरों की श्रद्धा के विरुद्ध थीं। अचेलमुक्ति को मान्यता देकर चेल के परिग्रह होने एवं संयमविरोधी होने का तर्क भी स्वीकार कर लिया गया था और सचेलमुक्ति का निषेध न कर चेल के संयमोपकारी होने का तर्क भी उचित ठहरा दिया गया था। इस तरह यापनीयदर्शन अन्तर्विरोधों से भरा हुआ था। एक ओर सचेलमुक्ति मान लेने से दिगम्बरवेश केवल आत्मक्लेश और निर्लज्जता का कारण सिद्ध होकर रह जाता है, दूसरी ओर अचेलमुक्ति को भी स्वीकार कर लेने से वस्त्र के संयमोपकरण होने की श्वेताम्बरीय मान्यता धराशायी हो जाती है। इस प्रकार यापनीयमत अतर्कसंगत मान्यताओं का समुच्चय था। यह यापनीयों के लिए भले ही दुग्ध के समान गुणकारी रहा हो, किन्तु श्वेताम्बरों के लिए दुग्ध-विष का संगम था और दिगम्बरों के लिए विषमय कनकघट।

यापनीयों को स्वयं यह भ्रम नहीं रहा होगा कि उनकी इन उभयागम-विरुद्ध उभयश्रद्धा-विरुद्ध, अन्तर्विरोधी एवं अतर्कसंगत, वर्णसंकर मान्यताओं से प्रभावित होकर दिगम्बर और श्वेताम्बर अपनी मान्यताएँ छोड़ देंगे और यापनीयमत स्वीकार कर लेंगे।

ये मान्यताएँ इतनी अतर्कसंगत थीं कि इनके वाहक यापनीय-सम्प्रदाय की अकालमृत्यु हो गयी और केवल निरपवाद-अचेलमार्गी मूल-दिगम्बरपरम्परा तथा निरपवादसचेलमार्गी श्वेताम्बरपरम्परा जीवित रह सकीं। इसका कारण यह है कि ये दोनों परम्पराएँ अपने-अपने सिद्धान्तों की दृष्टि से तर्कसंगत प्रतीत होती हैं। दिगम्बरपरम्परा में वस्त्रपरिग्रह को निरपवादरूप से मोक्ष में बाधक माना गया है, इसलिए इसमें किसी भी वस्त्रधारी को चाहे वह पुरुष हो या स्त्री, मोक्ष के लिए स्थान नहीं है। यह सिद्धान्त

युक्तिसंगत है। इसकी युक्तिमत्ता श्वेताम्बराचार्यों ने भी स्वीकार की है।^५ इसी प्रकार निरपवाद-संचेलमार्गी श्वेताम्बरपरम्परा में नग्नत्व को असंयम का कारण और वस्त्रग्रहण को संयम का उपकरण मान लिया गया है, इसलिए उसमें नग्नत्व के लिए अपवादरूप से भी अवकाश नहीं है। अतः इस मान्यता के अनुसार उसमें स्त्रीमुक्ति भी युक्तिमत् सिद्ध हो जाती है। किन्तु यापनीयमत में वस्त्रपरिग्रह को मुक्ति में बाधक नहीं माना गया है, इसलिए उसके अनुसार वस्त्रधारी साधु भी मुक्त हो सकते हैं, गृहस्थ भी, परतीर्थिक भी और स्त्री भी। इसके बावजूद उसमें नग्नत्व को स्वीकार किया गया है। यापनीय साधु नग्न रहने और अपने को पाणितलभोजी कहने में गौरव का अनुभव करते थे। अब यह बात समझ में नहीं आती कि जब वस्त्रपरिग्रह मोक्ष में बाधक नहीं है और कोई भी मनुष्य, चाहे वह स्वतीर्थिक हो या परतीर्थिक, स्त्री हो या पुरुष, वस्त्रधारण करते हुए भी मुक्त हो सकता है, तब नग्न रहने का क्या औचित्य है? इस प्रश्न का यापनीयग्रन्थों में कोई समाधान नहीं है और न इसका समाधान करनेवाली कोई युक्ति दृष्टिगोचर होती है। अतः यह अत्यन्त अयुक्तियुक्त सिद्धान्त है। एक ओर नग्नता को असंयम का कारण तथा वस्त्रपरिग्रह को संयम का उपकरण माननेवाले श्वेताम्बरों को यापनीयों का नाग्न्य-सिद्धान्त उचित प्रतीत नहीं हो सकता था, दूसरी ओर एकमात्र नाग्न्य को ही मोक्ष का मार्ग माननेवाले दिगम्बरों को आपवादिक या वैकल्पिक सवस्त्रमुक्ति, स्त्रीमुक्ति, गृहस्थमुक्ति तथा परतीर्थिकमुक्ति मान्य नहीं हो सकती थी। यह मोटी बात यापनीयों की बुद्धि में न उतरी होगी, इतना तो मूढ़ उन्हें नहीं माना जा सकता। अतः यापनीयों को स्वयं यह भ्रम नहीं रहा होगा कि उनकी मान्यताओं के प्रति दिगम्बरों और श्वेताम्बरों दोनों में आस्था पैदा हो जायेगी और वे यापनीयमत अंगीकार कर लेंगे। अतः यह मानना कि यह मत दिगम्बरों और श्वेताम्बरों में मेल कराने के लिये उत्पन्न हुआ था, बहुत बड़ा धोखा खाना है और दूसरों को धोखे में डालना है।

६.३. लोकमान्यता-राजमान्यता की प्राप्ति

अब यह जिज्ञासा और बलवती हो जाती है कि जो श्वेताम्बरसाधु जम्बूस्वामी के बाद से ही एकमात्र संचेलता को मोक्ष का मार्ग मानते आ रहे हों और उस पर अनन्य आस्था से चल रहें हों तथा उस पर चलते हुए जिन्हें मोक्षप्राप्ति में कोई सन्देह

५. "अथ यदा शिवभूतिना नग्नभावोऽभ्युपगतस्तदानीमुत्तरानाम्न्याः स्वभगिन्या वस्त्रपरिधानमनु-
ज्ञातम्। एवं च सति यदि स्त्रीणां मुक्तिं प्ररूपयति तदा सवस्त्र-निर्वस्त्रयोरविशेषापत्या
स्वकीयनग्नभावस्य केवलं क्लेशतैवापद्येतेति विचिन्त्य स्त्रीणां मुक्तिर्निषिद्धा।" प्रवचनपरीक्षा/
वृत्ति १/२/१८/पृ. ८२।

उत्पन्न न हुआ हो, उनमें से कुछ साधु अचानक दिगम्बरों के द्रव्यलिङ्ग को अर्थात् नग्नत्व, मयूरपिच्छी और पाणितलभोजित्व को अपना लें, इसका क्या रहस्य है? इस रहस्य का उद्घाटन रत्नन्दीकृत 'भद्रबाहुचरित' के कथानक से होता है। कथानक का वर्णन षष्ठ अध्याय में किया जा चुका है। उसका सार यह है कि दक्षिण में पहुँचे हुए कुछ श्वेताम्बर साधुओं ने आहारादि की सुविधा प्राप्त करने के लिए दिगम्बर साधुओं का द्रव्यलिङ्ग अपनाया लिया था, किन्तु अपने सिद्धान्तों में उन्होंने कोई परिवर्तन नहीं किया। सिद्धान्तों से वे श्वेताम्बर ही बने रहे। ये ही साधु यापनीय नाम से प्रसिद्ध हुए। माननीय डॉ० ए० एन० उपाध्ये ने भी यही मत व्यक्त किया है। रत्नन्दी की उपर्युक्त यापनीयसंघोत्पत्तिकथा पर टिप्पणी करते हुए वे लिखते हैं—“ऐसा प्रतीत होता है कि रानी नृकुलदेवी श्वेताम्बर-विचारधारा की रही हों और उन दिनों दक्षिणभारत में श्वेताम्बर साधुओं को विशेष आदर एवं प्रसिद्धि नहीं प्राप्त थी, क्योंकि यदि इस करहाटक को आधुनिक महाराष्ट्र के सतारा जिला स्थित 'कहडि' नामक स्थान माना जाता है, तो निश्चय ही दक्षिण भारत में श्वेताम्बर साधुओं की विशेष मान्यता न थी। आचार्य देवसेन और रत्नन्दी के उपर्युक्त विवरणों से ऐसा प्रतीत होता है कि यापनीयसंघ श्वेताम्बरों के वर्गभेद के रूप में उद्भूत हुआ, भले ही ऊपर से उनका बाह्य परिवेश दिगम्बर साधुओं जैसा रहा हो।”^६

निश्चय ही रत्नन्दी-कृत कथा सत्य का उद्घाटन करती है। दक्षिणभारत की तत्कालीन परिस्थिति से इसका समर्थन होता है। परिस्थिति यह थी कि दक्षिण में दिगम्बर-परम्परा श्रुतकेवली भद्रबाहु के पहुँचने के पूर्व से ही फल-फूल रही थी। दिगम्बर साधुओं ने अपने नग्नवेश से ज्ञापित निःस्पृहवृत्ति और सम्यक् संयम-तप-परीषहजय से काफी लोकप्रियता और राजमान्यता हासिल कर ली थी। इसलिए वे अत्यन्त आदर की दृष्टि से देखे जाते थे। दक्षिणवासियों ने साधुत्व की पराकाष्ठा का अनुभव कर लिया था। अतः साधुत्व का उससे किंचित् भी न्यून स्तर उनके लिए श्रद्धास्पद नहीं हो सकता था। फलस्वरूप जब श्वेताम्बर साधु दक्षिण पहुँचे, तब उनके सवस्त्ररूप को देखकर राजा-प्रजा में उनके प्रति आदरभाव उत्पन्न नहीं हुआ, न उन्हें लोकप्रियता प्राप्त हुई, न राजमान्यता, भिक्षा की प्राप्ति भी दुष्कर प्रतीत होने लगी, जिससे उनका वहाँ टिकना असंभव सा हो गया। इसी के फलस्वरूप प्रथम बार दक्षिण पहुँचे श्वेताम्बर साधुओं ने व्यावहारिकता से काम लिया। उन्होंने वेश तो दिगम्बर साधुओं का धारण कर लिया, किन्तु मन से श्वेताम्बर ही बने रहे। पर, इससे वे न तो श्वेताम्बरों के लिए स्वीकार्य हो सकते थे, न दिगम्बरों के लिए। फलस्वरूप उन्हें एक तीसरा नया सम्प्रदाय बनाना पड़ा, जो 'यापनीय' कहलाया।

६. 'जैन सम्प्रदाय के यापनीयसंघ पर कुछ और प्रकाश'/ अँगरेजी मूलपाठ के अनुवादक : श्री कुन्दनलाल जैन / 'अनेकान्त'/ महावीर निर्वाण विशेषांक / सन् १९७५ / पृ. २४६।

मुनि कल्याणविजय जी ने स्वीकार किया है कि दक्षिण भारत में नग्न साधु बड़े आदर की दृष्टि से देखे जाते थे। यह उनके निम्नलिखित वक्तव्य से ज्ञात होता है—

“यद्यपि शिवभूति के सम्प्रदाय का उद्भव उत्तरापथ में हुआ था, पर वहाँ उसका अधिक प्रचार नहीं हो सका। कारण स्पष्ट है। प्राचीन स्थविरसंघ का उन दिनों वहाँ पूर्ण प्राबल्य फैला हुआ था और मथुरा के आस-पास के ९६ गाँवों में तो जैनधर्म राजधर्म के रूप में माना जाता था। इस स्थिति में शिवभूति या उनके अनुयायियों का वहाँ टिकना बहुत कठिन था। इस कठिनाई के कारण उस सम्प्रदाय ने उधर से हटकर दक्षिणापथ की तरफ प्रयाण किया, जहाँ आजीविक सम्प्रदाय के प्रचार के कारण पहले ही नग्न साधुओं की तरफ जनसाधारण का सद्भाव था। वहाँ जाने पर इस सम्प्रदाय की भी अच्छी कदर हुई और धीरे-धीरे वह पगभर हो गया।” (श्र.भ.म./पृ.३००)।

अन्यत्र भी मुनि जी ने लिखा है—“कुन्दकुन्दाचार्य आदि के इन नये सिद्धान्तों से इस परम्परा को कुछ लाभ हुआ और कुछ हानि भी। लाभ यह हुआ कि ऐसी ऐकान्तिक अचेलकवृत्ति से दक्षिण देश में, जहाँ पहले से ही आजीविक आदि नग्न-सम्प्रदायवालों का मान और प्रचार था, इनके अनुयायी गृहस्थों की संख्या काफी बढ़ गई और इस कारण साधुसमुदाय में भी वृद्धि हुई।” (श्र.भ.म./पृ.३०६)।

यद्यपि मुनिजी ने यापनीय-सम्प्रदाय के उदय के पूर्व दक्षिण में आजीविक-सम्प्रदाय के नग्नमुनियों का अस्तित्व बतलाया है, किन्तु दिगम्बर-सम्प्रदाय के साधु वहाँ ईसापूर्व चौथी शताब्दी में अन्तिम श्रुतकेवली भद्रबाहु के दक्षिण में विहार करने से पूर्व विद्यमान थे और भद्रबाहु के वहाँ पहुँचने पर तो उनकी संख्या और बढ़ गई। इतिहास इसका गवाह है और डॉ० सागरमल जी ने भी इसे स्वीकार किया है। पर मुनि जी यह सिद्ध करना चाहते हैं कि दिगम्बर-सम्प्रदाय यापनीय-सम्प्रदाय के बाद विक्रम की छठी शताब्दी में उत्पन्न हुआ था, इसलिए उन्होंने जानबूझकर दक्षिण में उसके पूर्व दिगम्बर-सम्प्रदाय के नग्न मुनियों का अस्तित्व न बतलाकर आजीविक-सम्प्रदाय के नग्नमुनियों का अस्तित्व बतलाया है। फिर भी उनके कथन से इस बात की पुष्टि तो होती ही है कि दक्षिणभारत में नग्नमुनि बड़े आदर की दृष्टि से देखे जाते थे। इसलिए दक्षिण में पहुँचे श्वेताम्बर मुनियों को वहाँ लोकमान्यता और राजमान्यता प्राप्त नहीं हुई। इसी कारण उसे पाने के लिए उन्होंने भीतर से श्वेताम्बर रहते हुए भी बाहर से दिगम्बरमुनियों का वेश धारण कर लिया।

इस सम्प्रदाय की जिन प्रवृत्तियों का उल्लेख डॉ० ए० एन० उपाध्ये ने किया है, उनसे भी इस बात की पुष्टि होती है कि यापनीय-सम्प्रदाय का उदय जीवनयापन को सुविधामय बनाने के उद्देश्य से ही हुआ था। वे लिखते हैं—

“कर्नाटक के उत्तरभाग में यापनीयों का जोर था, जो मुख्यतया मन्दिरों और संस्थाओं से सम्बन्धित रहते थे (और इनमें नेमिनाथ और पार्श्वनाथ की ही प्रतिमाओं के प्रति अधिक आग्रह रहता था)। विशेष महत्त्व की बात यह दिखाई देती है कि यापनीय साधु मन्दिरों के प्रबन्ध-व्यवस्थापक या संघों के भरण-पोषण कर्त्ता के ही रूप में विशेषतया दिखाई देते हैं, जो प्रायः राजाओं या समाज के अन्य विशिष्टवर्ग के व्यक्तियों से अनुदान में भूमि, बाग आदि प्राप्त किया करते थे। इनकी कार्य-पद्धतियाँ अपने क्षेत्र में थोड़ी-बहुत आधुनिक भट्टारकों की भाँति प्रचलित थीं।— उपर्युक्त विवरणों से यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि यापनीयसंघ का जनसामान्य पर कोई विशेष प्रभाव न था। उसका सम्बन्ध तो कुछ विशिष्ट वंशों या व्यक्तियों तक ही सीमित था, जिनकी इस संघ के साधुओं या आचार्यों पर विशिष्ट श्रद्धा-भक्ति थी।”^{१७}

यापनीयसंघ का उल्लेख करनेवाला अभिलेख सन् ४७५-४९० ई० के कदम्बवंशीय राजा मृगेशवर्मन् का है। इसमें यापनीयों, निर्ग्रन्थों और कूर्चकों का उल्लेख है। दूसरा अभिलेख ४९७-५३७ ई० का है, जिसमें कहा गया है कि मृगेशवर्मन् के पुत्र ने यापनीय साधुओं को कुछ ग्राम अनुदान में दिये थे, जिनकी आमदनी से पूजा-प्रतिष्ठा के अनुष्ठान किये जाते थे और यापनीयसाधुओं का चार माह तक भरण-पोषण किया जाता था।^{१८} इन अभिलेखों से ज्ञात होता है कि प्रायः अपने उत्पत्तिकाल से ही यापनीयसाधु जीवनयापन के लिए राजाओं के दान पर आश्रित थे।

उक्त अभिलेखों से प्राप्त सूचनाओं के आधार पर डॉ० सागरमल जी भी लिखते हैं—“इससे यह फलित होता है कि इस काल तक यापनीयसंघ के मुनियों के आहार के लिए कोई स्वतन्त्र व्यवस्था होने लगी थी और भिक्षावृत्ति गौण हो रही थी, अन्यथा उनके भरण-पोषण हेतु दान दिये जाने के उल्लेख नहीं होते।” (जै.ध.या.स./पृ.२७)

ई० सन् ८१२ के राष्ट्रकूट-राजा प्रभूतवर्ष के अभिलेख (क्र. १२४/जै.शि.सं./मा.च./भा.२) से ज्ञात होता है कि यापनीय आचार्य अर्ककीर्ति ने शनि के दुष्प्रभाव से ग्रसित कुनुगिल देश के शासक विमलादित्य का उपचार किया था। इस पर टिप्पणी करते हुए डॉ० सागरमल जी कहते हैं—“ईसा की नवीं शताब्दी के प्रारंभ में यापनीय

७. वही / 'अनेकान्त' महावीर निर्वाण विशेषांक सन् १९७५ / पृ. २५१।

८. वही / पृष्ठ २४७ / सम्बन्धित अभिलेख क्र. ९९ एवं १००/जै.शि.सं./मा.च./भा.२।

आचार्य न केवल मठाधीश बन गये थे, अपितु वे वैद्यक और यन्त्र-मन्त्र आदि का कार्य भी करने लगे थे।" (जै.ध.या.स./पृ. २८)।

इन अभिलेखों से आचार्य रत्ननन्दी का यह कथन विश्वसनीय प्रतीत होता है कि यापनीय-सम्प्रदाय की स्थापना करनेवाले श्वेताम्बरसाधुओं ने जीवन-यापन की सुविधाएँ प्राप्त करने के लिए ही दिगम्बरवेश धारण किया था। दिगम्बरलिंग उनके लिए वैद्यक और तन्त्र-मन्त्र के समान उदरपोषण-मात्र का साधन था। दार्शनिक दृष्टि से वे पूर्ण श्वेताम्बर थे। इस तरह सवस्त्रमुक्ति मानते हुए भी दिगम्बरवेश धारण करने का यापनीय-सिद्धान्त दार्शनिक दृष्टि से तो युक्तिसंगत सिद्ध नहीं होता, मात्र उदरपोषण की व्यावहारिक दृष्टि ही उसे युक्तिसंगत बनाती है।

यहाँ प्रश्न उठाया जा सकता है कि क्या यह नहीं हो सकता था कि दिगम्बर साधुओं ने ही लोकमान्यता और राजमान्यता की प्राप्ति के लिए श्वेताम्बरसिद्धान्त अपनाकर यापनीयसंघ की स्थापना की हो? उत्तर यह है कि ऐसा नहीं हो सकता था, क्योंकि दिगम्बरसाधुओं को अपने नग्नवेश के कारण वैसे ही सर्वाधिक लोकमान्यता और राजमान्यता प्राप्त थी। इसके अतिरिक्त यदि दक्षिण में श्वेताम्बर-सिद्धान्तों का राजा-प्रजा पर प्रभाव होता, तो यापनीयों को श्वेताम्बरवेश त्यागकर दिगम्बरवेश धारण करने की जरूरत न पड़ती।

७

‘यापनीय’ नाम श्वेताम्बरसाहित्य से गृहीत

‘यापनीय’ शब्द के अर्थ से भी इस बात की पुष्टि होती है कि सवस्त्रमुक्ति मानते हुए भी यापनीयों ने जो नग्नवेश अपनाया था, उसका उद्देश्य परिस्थितियों से समझौता करना था। यापनीय शब्द का विशेष अर्थ में प्रयोग केवल बौद्धसाहित्य और श्वेताम्बरसाहित्य में मिलता है, दिगम्बरसाहित्य में नहीं। दिगम्बरसाहित्य में यापनीयसंघ का उल्लेख मात्र मिलता है।

बौद्धसाहित्य में ‘यापनीय’ शब्द का अर्थ है ‘सुखमय स्थिति’, ‘जीने योग्य स्थिति’, ‘अनुकूल स्थिति’ या ‘निर्बाध स्थिति।’ विनयपिटक के महावग्गपालि में कहा गया है—

“एकमन्तं निसिन्नं खो आयस्मन्तं भगुं भगवा एतद्वोच-कच्चि भिक्खु खमनीयं, कच्चि यापनीयं, कच्चि पिण्डकेन न किलमसी ति? खमनीयं भगवा, यापनीयं भगवा, न चाहं भन्ते पिण्डकेन किलमामी ति।” (बालकल्लोणक-गमन-कथा / कोसम्बक्कखन्धक। महावग्गपालि / पृ. ५८४)।

अनुवाद—“एक तरफ बैठे आयुष्मान् भृगु से भगवान् ने पूछा—“कहो भिक्षु! सब कुछ कुशल से तो चल रहा है? सब कुछ सुखपूर्वक तो बीत रहा है? भिक्षा मिलने में कोई कठिनाई तो नहीं होती?” भृगु उत्तर देते हैं—“हाँ भन्ते! सब कुछ कुशलपूर्वक, सुखपूर्वक बीत रहा है, यापन हो रहा है, भिक्षा में कोई कठिनाई नहीं होती।”

इस संवाद से स्पष्ट होता है कि खमनीय (क्षमणीय) का अर्थ है ‘कुशलमय स्थिति’ तथा ‘यापनीय’ का अर्थ है ‘सुखमय स्थिति’ या ‘जीवनयोग्य स्थिति’ अर्थात् अनुकूल या निर्बाध स्थिति।

श्वेताम्बरागम ज्ञाताधर्मकथांग (अध्ययन ५-शैलक / पृ. १७४-१७५) में भी शुक परिव्राजक ओर थावच्चापुत्र अनगार के बीच ऐसा ही संवाद होता है। शुक थावच्चापुत्र से पूछता है—

“जत्ता ते भन्ते? जवणिज्जं ते? अब्वाबाहं पि ते? फासुयं विहारं ते?”

अनुवाद—“भगवन्! आपकी यात्रा चल रही है? आपका यापनीय भी है? आपका अब्वाबाध भी है? और आपका प्रासुक विहार भी हो रहा है?”

थावच्चापुत्र उत्तर देते हैं—“सुया! जत्ता वि मे, जवणिज्जं पि मे, अब्वाबाहं पि मे, फासुयविहारं पि मे।”

अनुवाद—“हे शुक! मेरी यात्रा भी हो रही है, यापनीय भी वर्त रहा है, अब्वाबाध भी है और प्रासुक विहार भी हो रहा है।”

शुक थावच्चापुत्र से प्रश्न करता है—“से किं तं भन्ते! जवणिज्जे?”

अनुवाद—“भगवन्! आपका यापनीय क्या है?”

थावच्चापुत्र कहते हैं—“सुया! जवणिज्जे दुविहे पणत्ते, तं जहा — इंदियजवणिज्जे य नोइंदियजवणिज्जे य।”

अनुवाद—“शुक! यापनीय दो प्रकार का है—इन्द्रिययापनीय और नोइन्द्रिययापनीय।”

शुक पूछता है—“से किं तं इंदियजवणिज्जे?”

अनुवाद—“इन्द्रिययापनीय क्या है?”

थावच्चापुत्र उत्तर देते हैं—“जं णं मम सोइंदिय चक्खिदिय-घाणिंदिय-जिब्भिंदिय-फासिंदियाइं निरुवहयाइं वसे वट्टति, से तं इंदियजवणिज्जं।”

अनुवाद—“शुक! मेरी श्रोत्रेन्द्रिय, चक्षुरिन्द्रिय, घ्राणेन्द्रिय, रसनेन्द्रिय और स्पर्शनेन्द्रिय बिना किसी उपद्रव के वशीभूत रहती हैं, यही मेरा इन्द्रिययापनीय है।”

शुक पूछता है—“से किं तं नोइन्द्रियजवणिज्जे?”

अनुवाद—“नोइन्द्रिययापनीय क्या है?”

थावच्चापुत्र उत्तर देते हैं—“सुया! जन्नं कोह-माण-माया-लोभा खीणा, उवसंता, नो उदयंति, से तं नोइन्द्रियजवणिज्जे।”

अनुवाद—“हे शुक! मेरे क्रोध, मान, माया और लोभ कषाय क्षीण हो गये हों, उपशान्त हो गये हों, उदय में न आ रहे हों, यही मेरा नोइन्द्रिययापनीय कहलाता है।”

इस संवाद में ‘इन्द्रिययापनीय’ का अर्थ यह बतलाया गया है कि मेरी इन्द्रियाँ बिना किसी उपद्रव के वशीभूत रहती हैं। इससे स्पष्ट होता है कि जीवन के कार्यों के निर्बाध सम्पन्न होने को ‘यापनीय’ कहते हैं। यह तभी संभव है जब कार्य स्वश-क्त्यनुरूप हों।

व्याकरण के अनुसार विचार करने पर यापनीय शब्द इसी प्रकार के अर्थ का वाचक सिद्ध होता है। ‘याप्’ ‘या’ धातु का प्रेरणार्थक रूप है। मोनियर विलियम्स-संस्कृत-इंग्लिश-डिक्शनरी के अनुसार इसका अर्थ किसी को जाने के लिए प्रेरित करने तथा चिकित्सा करने के अतिरिक्त किसी कार्य को शक्य, सरल और सुविधामय बनाना भी है। अतः इसमें परिस्थिति (देश-काल) के अनुसार परिवर्तन करना अर्थ भी गर्भित है। ‘अनीयर्’ प्रत्यय के योग से ‘यापनीय’ शब्द बनता है। तब इसका अर्थ होता है शक्य या व्यवहार्य। श्री हरिभद्रसूरि ने भी आवश्यकसूत्र की टीका में पृ.४६-४७ पर ‘यापनीयया यथाशक्तियुक्तया नैषेधिक्या प्राणातिपात-निवृत्तया तन्वा शरीरिणेत्पर्थः (यापनीय अर्थात् यथाशक्तियुक्त शरीर द्वारा नैषेधिकी अर्थात् प्राणातिपात-निवृत्ति से) इस व्याख्या से यापनीय शब्द का ‘स्वशक्त्यनुरूप’ या ‘शक्य’ अर्थ ही प्ररूपित किया है। यतः ‘स्वशक्त्यनुरूप प्रवृत्ति’ का वाचक ‘यापनीय’ शब्द श्वेताम्बर-साहित्य में ही मिलता है, दिगम्बरसाहित्य में नहीं, इससे सिद्ध है कि यापनीयों ने अपने लिए ‘यापनीय’ नाम श्वेताम्बरसाहित्य से ही ग्रहण किया है। यह भाषागत ऐक्य इस बात का प्रमाण है कि श्वेताम्बरसंघ ही यापनीयों का मूल है।

इस प्रकार अपने सम्प्रदाय का ‘यापनीय’ नामकरण कर यापनीयों ने यह ध्वनित किया है कि उनके द्वारा प्रतिपादित मोक्षमार्ग यापनीय है अर्थात् सबके लिए शक्य या व्यवहार्य है। उसमें व्यक्ति एवं देश-काल के अनुसार सुविधामय नियम अपनाये जा सकते हैं। इस तरह ‘यापनीय’ शब्द के व्याकरणसिद्ध अर्थ से भी यह संकेत मिलता है कि सवस्त्रमुक्ति मानते हुए भी यापनीयों ने जो नग्नस्वरूप द्रव्यलिंग अपनाया था, उसका उद्देश्य लोकमान्यता और राजमान्यता प्राप्त कर अपने

मुनिजीवन को शक्य और सुख-सुविधामय बनाना था। इस प्रकार श्वेताम्बर साधुओं ने ही यापनीयसंघ की नींव डाली थी।

८

बोटिक शिवभूति के गुरु श्वेताम्बर

बोटिककथा में स्पष्ट शब्दों में कहा गया है कि शिवभूति के गुरु आर्यकृष्ण स्थविरकल्पी साधु अर्थात् निरपवाद-सचेलमार्गी श्वेताम्बरसाधु थे। शिवभूति उनसे स्थविरकल्प की अर्थात् श्वेताम्बरी दीक्षा ग्रहण करता है, किन्तु कुछ समय बाद जिनकल्प धारण करने पर तुल जाता है। तब गुरु उसे समझाते हैं कि जिनकल्प का व्युच्छेद हो चुका है, अब किसी में भी उसके आचरण की क्षमता नहीं है। किन्तु शिवभूति गुरु के उपदेश की अवहेलना कर नग्न साधु बन जाता है।

बोटिककथा के इस तथ्य को मुनि कल्याणविजय जी, आचार्य हस्तीमल जी, पं० दलसुखभाई मालवणिया, डॉ० सागरमल जी आदि सभी श्वेताम्बर मुनियों एवं विद्वानों ने स्वीकार किया है। अतः जो मुनि एवं विद्वान् यह मानते हैं कि बोटिक शिवभूति ने यापनीयमत चलाया था, उनकी मान्यतानुसार भी यह सिद्ध होता है कि यापनीयमत का प्रवर्तक श्वेताम्बर साधु था, अतः श्वेताम्बरमत से ही यापनीयमत की उत्पत्ति हुई थी।

९

उत्पत्तिस्थान : दक्षिण भारत

डॉ० सागरमल जी का यह कथन भी समीचीन नहीं है कि यापनीय-सम्प्रदाय का जन्म दक्षिण में न होकर उत्तर में हुआ था, क्योंकि यह मत भी बोटिकों को यापनीय मान लेने की भ्रान्ति से प्रसूत है। जब यह सिद्ध किया जा चुका है उत्तरभारतीय बोटिक यापनीय नहीं थे, तब यह स्वयं सिद्ध हो जाता है कि यापनीयों की उत्पत्ति उत्तरभारत में नहीं हुई थी। इसके अतिरिक्त हरिषेण, देवसेन और रत्ननन्दी, तीनों आचार्यों के साहित्यिक साक्ष्य कह रहे हैं कि यापनीय-सम्प्रदाय का जन्म दक्षिणभारत में हुआ था, तो इसके विरुद्ध प्रमाण मिले बिना इसे अप्रामाणिक कैसे माना जा सकता है?

शिलालेखीय प्रमाणों से भी यही सिद्ध होता है। जैन शिलालेख संग्रह (मा.चं.) के तृतीय भाग की प्रस्तावना में यापनीयसंघ का परिचय देते हुए डॉ० गुलाबचन्द्र चौधरी ने कहा है कि "यह संघ दक्षिण भारत की अपनी देन है।" (पृ.२५)। यापनीयसंघ का उल्लेख करनेवाले जितने भी शिलालेख हैं, वे सब दक्षिणभारत में ही उपलब्ध हुए हैं, यह तथ्य यापनीयसंघ की दक्षिणभारत में उत्पत्ति का प्रबल प्रमाण है।

आदरणीय डॉ० आदिनाथ नेमिनाथ उपाध्ये ने यापनीयों से सम्बन्धित अभिलेखों का विस्तृत सर्वेक्षण किया है। उन्हें सारे अभिलेख दक्षिणभारत में ही उपलब्ध हुए हैं। उनका विवरण उन्होंने अपने शोधालेख 'जैन सम्प्रदाय के यापनीयसंघ पर कुछ और प्रकाश' में दिया है, जिसका हिन्दी अनुवाद 'अनेकान्त' के महावीर-निर्वाण-विशेषांक (वी० नि० सं० २५०१, सन् १९७५) में प्रकाशित हुआ था। उसका प्रमुख अंश यहाँ उद्धृत कर रहा हूँ—

“कदम्बवंशीय मृगेशवर्मन् (४७५-४९० ई०) ने यापनीय, निर्ग्रथ और कूर्चकों को अनुदान दिया था, इनके गुरु का नाम दामकीर्ति उल्लिखित है। आगे मृगेशवर्मन् के पुत्र (४९७-५३७ ई०) ने भी कुछ ग्राम अनुदान में दिए थे जिनकी आमदनी से पूजा-प्रतिष्ठा के अनुष्ठान किए जाते थे और यापनीय साधुओं के चार माह का भरण-पोषण किया जाता था। इसमें जिन गुरुओं के नामोल्लेख हैं, वे हैं : दामकीर्ति, जयकीर्ति, बन्धुसेन और कुमारदत्त। संभवतः ये चारों ही यापनीय हों। आगे कृष्णवर्मन् के पुत्र देववर्मन् (४७५-४८० ई०) ने यापनीयसंघ को एक ग्राम दान किया था, जिससे मन्दिर की सुरक्षा और दैनिक देखभाल हो सके।^९ (पृ.२४७)।

“८१२ ई० के कदम्ब-दानपत्र में निम्न विवरण प्राप्त होता है—‘राष्ट्रकूट राजा प्रभूतवर्ष ने कुछी (ली) आचार्य के शिष्य अर्ककीर्ति द्वारा संचालित मंदिर को स्वयं दान दिया था, जो यापनीय-नन्दिसंघ, पुन्नागवृक्ष-मूलगण के श्रीकीर्ति आचार्य के उत्तराधिकारी थे (बीच में कई आचार्यों को छोड़कर) अर्ककीर्ति ने कुनुगिल देश के शासक (गवर्नर) विमलादित्य का उपचार किया था, जो शनिग्रह के दुष्प्रभाव से पीड़ित था।^{१०} नौवीं ई० के किरइप्पाक्कम (चिंगलपेट, तमिलनाडु) लेख से देशवल्लभ नामक एक जैनमंदिर का पता चलता है, जो यापनीयसंघ और कुमिलगण के महावीर गुरु के शिष्य अमलमुदल गुरु द्वारा निर्मित कराया गया था।^{११} और अनुदानपत्र में यापनीयसंघ के साधुओं के भरण-पोषण की भी व्यवस्था का उल्लेख है। (पृ.२४७)।

“पूर्वी चालुक्यवंश के अम्म द्वितीय ने जैनमंदिर के लिए मलियपुण्डी (आन्ध्र) ग्राम का अनुदान दिया था। इस मंदिर के अधिकारी यापनीयसंघ (कोटि) मडुवगण और पुन्यारुह (संभवतः पुन्नागवृक्षगण जैसा ही) नदीगच्छ के जिननदी के प्रशिष्य और दिवाकर के शिष्य श्रीमंदिरदेव थे।^{१२} ९८० ई० का सौदत्ति (सुगंधवर्ति) का शिलालेख

९. I.A. VI, pp. 24-27, VII, pp. 33-5.

१०. E.C.XII Gubbi 61.

११. A.R.S.I.E. 1954-35, N. 22 p. 10 Delhi 1938.

१२. E.IX No. 6.

भी है, जो चालुक्यवंश के तैलपदेव से प्रारम्भ होता है। इसमें शांतिवर्म और उनकी रानी चन्द कब्बी का भी विशेष उल्लेख है। शांतिवर्म ने जो जैनमंदिर बनवाया था, उसके लिए उन्होंने भूमिदान किया था। इसमें कुछ साधुओं के नाम दिए हैं, जो यापनीयसंघ-कण्डूरगण के थे। इनके नाम हैं बाहुबलिदेव (भट्टारक), (जिनकी उपमा चंद्र, सिंह आदि से की है), रविचन्द्र स्वामी, अर्हन्दी, शुभचंद्र, सिद्धान्तदेव, मौनिदेव और प्रभाचंद्रदेव आदि।^{१३} डॉ० पी० बी० देसाई ने होसुर (सौदत्ति, जिला बेलगाँव) के एक दूसरे लेख का विवरण दिया है, जिसमें यापनीयसंघ के कण्डूरगण के उपदेशकों (साधुओं, गुरुओं) का उल्लेख है, जिनके नाम हैं शुभचंद्र प्रथम, चन्द्रकीर्ति, शुभचंद्र द्वितीय, नेमिचन्द्र, कुमारकीर्ति, प्रभाचन्द्र और नेमिचन्द्र द्वितीय।^{१४}

“पता चला है कि बेलगाँव की दोड्डु वसदि में भ० नेमिनाथ की प्रतिमा है जो किसी समय किले के मन्दिर में थी। इसमें जो पीठिका-लेख है, उससे पता चलता है कि यापनीय-संघ के पारिसय्य ने १०१३ ई० में इस मन्दिर का निर्माण कराया था, जिसे साहणाधिपति (संभवतः कदम्बशासक जयकेशी के दण्डनायक) की माता कत्तय्य और जक्कव्वे ने कल्लहविळ (गोकम के पास) ग्राम की भूमि दान में दी थी। उपर्युक्त विवरण से ज्ञात होता है कि पारिसय्य साधु या गुरु नहीं थे, अपितु कोई सामान्यजन थे, जिनके यापनीयसंघ से घनिष्ठ संबंध रहे होंगे, इसीलिए उनका विशेषतया उल्लेख किया गया है।^{१५} १०२० ई० के रढवग्-लेख में स्पष्ट लिखा है कि हूविनवागे की भूमि का दान दण्डनायक दासिमरस ने विख्यात यापनीयसंघ-पुन्नागवृक्षमूलगण के प्रसिद्ध उपदेशक (आचार्य) कुमारकीर्ति पंडितदेव को किया था।^{१६} १०२८-२९ ई० के होसुर (धारवाड) लेख में लिखा है कि पोसवूर के आच्छ-गवुण्ड ने सुपारी के बाग एवं कुछ घर वसदि (मन्दिर) को दान में दिए थे। यहाँ यापनीयसंघ (पुन्नागवृक्षमूल पूरा नहीं पढ़ा जाता) के गुरु जयकीर्ति का स्पष्ट उल्लेख है।^{१७} हूलि का विवरण दो भागों में उपलब्ध है, प्रथम, चालुक्यवंशी आहवमल्ल सोमेश्वर (१०४४ ई०) का, दूसरा, जगदेवमल्ल के लिए तथा इनसे संबंधित साधुओं के लिए अनुदान की व्यवस्था है। हूलि के प्रथम विवरण में यापनीयसंघ-पुन्नागवृक्षमूल के बालचन्द्र भट्टारकदेव का उल्लेख है तथा दूसरे में रामचन्द्रदेव का विशेष उल्लेख है।^{१८} १०४५

१३. Journal of the B.B.A.A.S.X 71-72, teut pp. 206-7.

१४. Jainism in South India p.165.

१५. जिनविजय (कन्नड) जनवरी १९३१।

१६. Journal of the Bombay Historical Society iii pp. 102-200.

१७. S.I.I. XII, No. 65, Madras 1940.

१८. E.I.XVIII, Also P.B. Desai, Ibidem pp. 174F.

ई० के मुगद लेख में भी यापनीय संघ और कुमुदिगण का संदर्भ मिलता है। यह एक पत्र है, जिसमें बड़े अच्छे स्पष्टीकरण और साधुओं के नामोल्लेख भी हैं, जैसे श्रीकीर्ति गोरवडि, प्रभाशशांक, नयवृत्तिनाथ, एकवीर, महावीर, नरेन्द्रकीर्ति, नागविकि-वृतीन्द्र, निरवद्यकीर्ति भट्टारक, माधवेन्दु, बालचन्द्र, रामचन्द्र, मुनिचन्द्र, रविकीर्ति, कुमारकीर्ति, दामनन्दी, त्रैविद्य गोवर्धन, दामनन्दी, वड्डाचार्य आदि। यद्यपि उपर्युक्त नामों में कुछ कृत्रिम और जाली हैं, फिर भी इनमें से बहुत से साधु बड़े विख्यात और ज्ञान तथा चारित्र के क्षेत्र में अद्वितीय रूप से अत्यधिक प्रसिद्ध थे।^{१९} मोरब (जिला धारवाड) विवरण में यापनीयसंघ के जयकीर्तिदेव के शिष्य नागचन्द्र के समाधिमरण का उल्लेख है, नागचन्द्र के शिष्य कनकशक्ति थे, जो मंत्रचूडामणि के नाम से प्रसिद्ध थे।^{२०} त्रिभुवनमल्ल के शासन में १०९६ ई० के डोनि (जिला धारवाड) विवरण में यापनीयसंघ- वृक्षमूलगण के मुनिचन्द्र त्रैविद्य भट्टारक के शिष्य चारुकीर्ति पण्डित को उपवन-दान का उल्लेख है। इस दानपत्र को मुनिचन्द्र सिद्धान्तदेव के शिष्य दायियय्य ने लिपिबद्ध किया था।^{२१} धर्मपुरी (जिला भिर, महाराष्ट्र) लेख में लिखा है—“नाना प्रकार के करों से प्राप्त आमदनी भगवान् की पूजा तथा साधुओं के भरणपोषण के लिए अनुदानरूप में पोहलकेरे के पञ्चपट्टण, कञ्चुगारस और तेलुंगनगरस द्वारा दी जावे। यह अनुदान यापनीयसंघ और वंदीयूरगण के महावीर पण्डित के सुपुर्द किया गया था, जो वसदि के आचार्य भी थे।^{२२} ११वीं सदी के रामलिङ्ग-मंदिर के कलभावी-लेख में पश्चिमी गंगवंश के शिवमार का उल्लेख है। शिवमार ने कुमुदवाड नामक ग्राम जैनमंदिर को दान दिया था, जिसे स्वयं ने निर्मित कराया था, और इसे मइलायान्वय कारेयगण (जो यापनीयसंघ से सम्बन्धित है, ऐसा बइलहोंगल विवरण में लिखा है) के गुरु देवकीर्ति के सुपुर्द किया था। इनके पूर्वाचार्यों में शुभकीर्ति, जिनचन्द्र, नागचन्द्र और गुणकीर्ति आदि आचार्यों का भी उल्लेख है।^{२३} (पृ.२४७-२४८)।

“११०८ ई० में बल्लालदेव और गण्डरादित्य (कोल्हापुर के शिलाहारवंशीय) के समय में मूलसंघ-पुन्नागवृक्षमूलगण की आर्यिका रात्रिमती-कन्ति की शिष्या बम्मगवुड ने मंदिर बनवाया था, जिसके लिए अनुदान का उल्लेख होन्नु-लेख में विद्यमान है।^{२४} बइलहोंगल (जिला बेलगाँव) का लेख चालुक्यवंशीय त्रिभुवनमल्लदेव के समय का

१९. S.I.I. XII, No. 78, Madras 1940.

२०. A.R. S.I.E. 1928-29, No. 239 p. 56.

२१. S.I.II, iii No. 140.

२२. A.R.S.I.E. 1961- 62 B 460-61.

२३. I.A.XVIII P. 309, Also P.B. Desai Ibidem p. 115.

२४. I.A. NII , p. 102. (जै.शि.सं. / मा.च/ भा.२ / ले.क्र.२५०)।

है। इसमें रट्टवंशीय महासामन्त अङ्क, शान्तियक्क और कूण्डप्रदेश का उल्लेख है। यह किसी जैनमंदिर को दिया गया अनुदान-पत्र है। इसमें यापनीयसंघ मडलापान्वय कारेयगण के मुलभट्टारक और जिनदेवसूरि का विशेष रूप से स्पष्ट उल्लेख है।^{२५} विक्रमादित्य षष्ठ के शासनकालीन हूलि (जिला बेलगाँव) लेख में यापनीयसंघ-कण्डूरगण के बाहुबलि, शुभचन्द्र, मौनिदेव और माघनन्दी आदि का उल्लेख मिलता है।^{२६} एक्साम्बि (जिला बेलगाँव) में विजयादित्य (शिलाहार गण्डरादित्य के पुत्र) के सेनापति कालन (ण) द्वारा निर्मित नेमिनाथ वसदि से प्राप्त लेख द्वारा ज्ञात होता है कि यापनीयसंघ-पुनागवृक्षमूलगण के महामंडलाचार्य विजयकीर्ति को मन्दिर के लिए भूमिदान किया गया था। इनकी गुरुरम्परा निम्न प्रकार मिलती है : मुनिचन्द्र, विजयकीर्ति, कुमारकीर्ति और त्रैविद्य विजयकीर्ति आदि। रट्ट कार्तिवीर्य ने ११७५ ई० में इस मन्दिर के ससम्मान दर्शन किए थे।^{२७} १२वीं सदी के मध्य में लिखे गये आसींकेरे (मैसूर) लेख में जैनमंदिर को दिए गए अनुदान का उल्लेख मिलता है। इस लेख के प्रारंभिक छन्दों में से एक छन्द में मडुवगण यापनीय (संघ) की भूरि-भूरि प्रशंसा की गई है, मूर्तिप्रतिष्ठा पोन्नागवृक्षमूलगण और संघ (यापनीय) के शिष्य माणिकशेहि द्वारा कराई गई थी, प्रतिष्ठाचार्य थे कुमारकीर्ति सिद्धान्त जो यापनीयसंघ मडुवगण से सम्बन्धित थे। एक दूसरे लेख में इसके दानकर्ता का नाम यापनीयसंघ के सोमय्य का है। दूसरे अन्य विवरणों की भाँति इसमें भी जनसामान्य को यापनीयसंघ से सुसम्बद्ध किया है। दूसरे, इस लेख के सम्पादक का मत है कि इसमें से यापनीय शब्द को मिटा दिया गया है। तीसरे, 'काष्ठामुखप्रतिबद्ध' जैसा शब्द बाद में इसमें जोड़ा गया है, पर यह सब सर्वथा अतिशयोक्ति है। वैसे यापनीयों के विरुद्ध कुछ द्वेष तो अवश्य दर्शाया गया है, पर कोई पर्याप्त प्रमाण उपलब्ध नहीं है कि उनका काष्ठामुख की ओर झुकाव हो, क्योंकि 'काष्ठामुखप्रतिबद्ध' शब्द स्वयं बाद में जोड़ा गया है, पर यह समझ में नहीं आता कि इस असंगति को हटाने के लिए जिसने काष्ठामुख-प्रतिबद्ध शब्द जोड़ा है, उसी ने यापनीय शब्द को मिटाया हो।^{२८} १२वीं सदी के लोकपुर के (जिला बेलगाँव) विवरण में लिखा है कि ब्रह्म (कल्लभावुण्ड के पुत्र) उभयसिद्धान्तचक्रवर्ती, यापनीयसंघ के कण्डूरगण के सकलेन्दु सिद्धान्तिक के शिष्य थे।^{२९} तेंगलि (जिला गुलवर्ग) में १२वीं सदी की प्रतिमा है, जिसके पीठिकालेख से ज्ञात होता है कि इसकी

२५. A.R.S.I.E. 1951-52, No. 33, p. 12. (जै.शि.सं. / भा.ज्ञा. / भा.४ / ले.क्र. २०९)।

२६. E.I.XVIII, P.P. 201 F.

२७. A.R. of the Mysore Arch. Deptt. 1961, pp. 48 FF.

२८. Ed. S. Sattar : J. of the Karnatak University, X, 1965, 159 F.F. (Kannada).

२९. कन्नड शोध संस्थान, धारवार १९४२-४८, नं. ४७।

प्रतिष्ठा यापनीयसंघ के वडिपुर (वन्दिपूर) गण के नागदेव सिद्धान्तिक के शिष्य ब्रह्मदेव ने कराई थी।^{३०} १२ वीं सदी ई० के मनोलि (जिला बेलगाँव) के लेख से विदित होता है कि यापनीयसंघ के गुरु मुनिचन्द्रदेव की समाधि निर्मित कराई गई थी, जो सिरियादेवी द्वारा संस्थापित वसदि (मन्दिर) के आचार्य थे। इसी में यापनीयसंघ के मुनिचन्द्र के शिष्य पाल्यकीर्ति के समाधिमरण का भी उल्लेख है।^{३१} १३वीं सदी ई० के अदरगुञ्छि (जिला धारवाड) के विवरण से यापनीयसंघ और कण्डूरगण की उच्छंगि-स्थित वसदि को दी जाने वाली भूमि की सीमाओं का लेखा-जोखा प्राप्त होता है।^{३२} (पृ. २४८-२४९)।

“१३ वीं सदी के हुकेरि (जिला बेलगाँव) विवरण से जो सर्वथा अस्त-व्यस्त और कटा-फटा है, यापनीयसंघ के किसी गण (गण का नाम मिट गया है) के त्रैकीर्ति का नामोल्लेख मिलता है।^{३३} (पृ. २४९)।

“कागवाड (जिला बेलगाँव) के तलघर में भ० नेमिनाथ की एक विशाल प्रतिमा है, जिसके पीठिका-लेख में धर्मकीर्ति और गाम बम्मरस के नामोल्लेख हैं, इसमें जो तिथि अंकित है, वह १३९४ ई० के समकालीन तिथि है। इस विवरण में कुछ व्यवधान भी हैं, पर यापनीयसंघ और पुन्नागवृक्षमूलगण के साधुओं में नेमिचन्द्र (जो तुष्टुवराज्य-स्थापनाचार्य भी कहलाते थे) धर्मकीर्ति और नागचन्द्र के नाम भी उल्लेखनीय हैं।^{३४} (पृ. २४९)।

“कुछ बिना तिथियों के भी विवरण उपलब्ध हैं। सिरुर (जमखंडि) विवरण से ज्ञात होता है कि पार्श्वनाथ-भट्टारक की प्रतिमा कुसुम-जिनालय के लिए यापनीयसंघ और वृक्षमूलगण के कालिसेहि ने भेंट की थी।^{३५} गरग (जिला धारवाड)-विवरण में यापनीयसंघ कुमुदिगण के शांतिवीरदेव के समाधिमरण का स्पष्ट उल्लेख है। एक और नष्ट हुए इसी तरह के विवरण में इसी संघ और गण का उल्लेख मिलता है।^{३६} रायदुग-(जिला बेल्लारी)-विवरण में निसिदि के निर्माण का उल्लेख है, जिसमें आठ नाम लिखे हैं, उनमें से मूलसंघ के चन्द्रभूति तथा यापनीयसंघ के चन्द्रेन्द्र, बादय्य और तम्मण्ण के नाम स्वाभिप्रेत हैं।^{३७} (पृ. २५०)।

३०. A.R.I.E. 1960-61, No. 511 also P.B. Desai Ibidem p. 404.

३१. A.R.S.I.E. 1940-41, No. 563-65, p. 245.

३२. A.R.S.I.E. 1941-2, No. 3, p. 255.

३३. A.R.S.I.E. 1941-42, No. 6 p. 261.

३४. जिनविजय (कन्नड़) बेलगाँव, जुलाई १९३१।

३५. A.R.S.I.E. 1938-39, No. 98, p. 219

३६. A.R.S.I.E. 1925-26, No. 5441-42, p. 76..

३७. A.R.S.I.E. 1919 No. 109, p. 12.

“कुछ और लेख एवं विवरण हैं, जो बहुत विलम्ब से प्रकाश में आये हैं, उनमें एक है ११२४ ई० का सेडम-लेख, जिसमें मडुवगण के प्रभाचन्द्र त्रैविद्य का उल्लेख है। संभवतः यह गण यापनीयसंघ से ही संबंधित हो।^{३८} दूसरा है १२१९ ई० का बदलि (जिला बेलगाँव)-लेख जिसमें यापनीयसंघ और कारेयगण का उल्लेख है। इसमें जिन साधुओं के नामोल्लेख हैं, वे हैं माधव भट्टारक, विनयदेव, ---कीर्ति भट्टारक, कनकप्रभ और श्रीधर-त्रैविद्यदेव।^{३९} तीसरे हैं १२०९ और १२५७ ई० के हन्केरि-लेख। इनमें यापनीयसंघ, मइलापान्वय, कारेयगण के सन्दर्भ मिलते हैं। इसमें जिन गुरुओं के नाम अंकित हैं, वे हैं कनकप्रभ (जो ‘जातरूपधर-विख्यातम्,’ कहलाते थे तथा अपनी निर्ग्रन्थता के लिए अतिप्रसिद्ध थे) और श्रीधर (कनकप्रभ पण्डित)।^{४०} चौथा है कोल्हापुर के मंगलवार-पेठवाले मंदिर की पहली मंजिल की पीठवाला कन्नड-लेख, जिसमें लिखा है कि वोमियण्ड ने यह पाठशाला बनवाई थी, जो यापनीयसंघ-पुन्नागवृक्षमूलगण के विजयकीर्ति के शिष्य रवियण्ण का भाई था।^{४१} पाँचवाँ, जिसकी प्रतिलिपि डॉ० गुरुराज भट्ट ने मुझे भेजी थी, जो वरंग (द० क०)-स्थित प्रतिमा से प्राप्त हुआ है, इसमें काणूरगण का उल्लेख है। श्रीभट्ट जी ने इस लेख का गम्भीरता से अध्ययन किया है। (पृ.२५०)।

“उपर्युक्त यापनीयसंघ से संबंधित नाना विवरणों और लेखों का (५वीं सदी से १४ वीं सदी ई० तक) तिथिक्रम से सर्वेक्षण करने पर संघ के बारे में बहुत से सुनिश्चित और विस्तृत एवं प्रामाणिक तथ्य प्रकाश में आते हैं। सर्वप्रथम तो यापनीय-जन निर्ग्रन्थों, श्वेतपट और कूर्चकों से सर्वथा भिन्न थे। यापनीयसंघ का गणों से विशेष सम्बन्ध था, जैसे कुमुलिगण या कुमुदिगण, (कोटि) मडुवगण, कण्डूर या काणूरगण, पुन्नागवृक्ष-मूलगण (जो मूलसंघ से भी संबंधित है), वन्दियूरगण, कारेयगण, नन्दिगच्छ और मइलापान्वय आदि-आदि। इस तरह विभिन्नगणों से सम्बद्धता से स्पष्ट प्रतीत होता है कि संघ क्रमशः गणों के माध्यम से ही विख्यात हो सका। गणभेद ग्रंथ के विवरण से ज्ञात होता है कि वे कर्नाटक और उसके चहुँवर्ती क्षेत्र में अत्यधिक उपयोगी और प्रसिद्ध थे। --- (पृ.२५०)।

“यापनीयसंघ का विवरण जिन स्थानों से मिलता है, उनसे यह स्पष्ट ज्ञात होता है कि इस संघ के साधुओं का वर्चस्व एवं प्रभुत्व आज के धारवाड, बेलगाँव,

३८. P.B. Desai : Ibidem p. 403.

३९. R.S. Panchamukh : Karnataka Inscription 1, Dharwar 1941, pp. 75-6.

४०. K.G. Kundamgar : Inscription from N-Karnatak & Kolhapur State 1931.

४१. जिनविजय (कन्नड बेलगाँव १९३१) (मई-जून)।

कोल्हापुर एवं गुलवर्गा आदि जिलों के क्षेत्र में अत्यधिक विपुलता से था।^{४२} आन्ध्र और तमिलनाडु में इस संघ से संबंधित जो सामग्री प्राप्त है, वह बहुत ही थोड़ी है। श्रवणबेलगोल में यापनीयसंघ से संबंधित कुछ भी सामग्री का न मिलना इस बात का द्योतक है कि इस पीठ का विकास यापनीय साधुओं को छोड़कर अन्य साधुओं के सहयोग से हुआ। कर्नाटक के उत्तरभाग में ही यापनीयों का जोर था, जो मुख्यतया मंदिरों और संस्थाओं से सम्बन्धित रहते थे (और इनमें नेमिनाथ और पार्श्वनाथ की ही प्रतिमाओं के प्रति अधिक आग्रह रहता था)।^{४३} (पृ. २५०-२५१)।^{४३}

यापनीय साहित्य के विषय में डॉ० ए० एन० उपाध्ये लिखते हैं कि “विख्यात यापनीयों के द्वारा निर्मित साहित्य मुख्यतया दक्षिण भारत में ही उपलब्ध होता है।”^{४४}

उपसंहार करते हुए डॉ० उपाध्ये ने लिखा है—“उपर्युक्त विस्तृत विवरणों से यह स्पष्ट है कि दक्षिण भारत के शिलालेखों व विवरणों में यापनीयों का प्रसंग बहुलता से विद्यमान है, पर हमें यह भी देखना है कि कन्नड़ और उसके समकक्ष साहित्य में भी यापनीयसंघ के कुछ संदर्भ मिलते हैं कि नहीं? हरिषेण की (९३१-३२ ई०) बृहत्कथा (नं. १३१) में तथा कन्नड़ के ‘वड्डाराधने’ में थोड़ा बहुत जापुलिसंघ का उल्लेख मिलता है। यद्यपि प्रसंग बड़े भ्रामक हैं, फिर भी दोनों ही ग्रंथों में अर्धफालक, काम्बलिक, श्वेतभिक्षु और यापनीय का उल्लेख है। १२ वीं सदी ई० के कवि जन्न के कन्नड़ ‘अनन्तनाथपुराण’ में काणूरूगण (२.२५) के रामचन्द्रदेव का उल्लेख है और वह मुनिचन्द्र त्रैविद्य को जावल्लिगेय विशेषण से अलंकृत करता है, पर उसकी सही और स्पष्ट व्याख्या नहीं कर पाता है। सम्भवतः यह वही मुनिचन्द्र हैं, जिनका उल्लेख पार्श्वपंडित (१२२२ ई०) ने अपने कन्नड़ ‘पार्श्वनाथ पुराण’ (१३३) में किया है।^{४५} मेरे विचार से ‘जावल्लिगेय’ विशेषण उनके संघ यापनीय के लिए ही जोड़ा गया है। सबसे अधिक रोचक तो यह है कि कवि जन्न ने जटासिंहनन्दी को और इन्द्रनन्दी को काणूरूगण का बताया है, जो कि यापनीयसंघ से घनिष्ठता से सम्बन्धित था। कवि जन्न द्वारा की गई विभिन्न आचार्यों की स्तुति से स्पष्ट ज्ञात होता है कि गण, गच्छ आदि की पृथक्तावादी प्रवृत्ति को इन कवियों ने नहीं माना था।”^{४६}

इस विस्तृत सर्वेक्षण से ज्ञात होता है कि यापनीयों से सम्बन्धित सभी शिलालेख एवं ताम्रपत्रलेख दक्षिण भारत में ही पाये गये हैं, अन्यत्र नहीं। तथा यापनीयों द्वारा

४२. See also P.B. Desai, Ibidem, P.P. 164 F.

४३. ‘अनेकान्त’ महावीर निर्वाण विशेषांक / १९७५ ई. / पृ. २४७-२५१।

४४. वही / पृ. २५२।

४५. भारतीय ज्ञानपीठ, वाराणसी १९७०/ पृ. १६०-६१।

४६. ‘अनेकान्त’ महावीर निर्वाण विशेषांक / १९७५ ई. / पृ. २५२-२५३।

रचित साहित्य भी दक्षिण भारत में ही उपलब्ध हुआ है। ये तथ्य इस बात के ज्वलन्त प्रमाण हैं कि यापनीय-सम्प्रदाय का उत्पत्तिस्थल दक्षिण भारत ही है। प्राचीन इतिहास के विद्वान् श्री काशीप्रसाद जायसवाल भी लिखते हैं—“The Yāpana-Saṅgha flourished in the South as they prominently appear in Carnatic inscriptions.”⁴⁷

१०

उत्पत्तिकाल : पाँचवीं शती ई० का प्रथम चरण

मुनि श्री कल्याणविजय जी, पं० दलसुखभाई मालवणिया एवं डॉ० सागरमल जी जैन ने बोटिकमत को यापनीयमत माना है, अतः वे बोटिकमत के उत्पत्तिकाल वीरनिर्वाण संवत् ६०९ अर्थात् ई० सन् ८२ को ही यापनीयमत का उत्पत्तिकाल मानते हैं। किन्तु यह सिद्ध हो चुका है कि बोटिकमत यापनीयमत नहीं था, इसलिए यह भी सिद्ध हो जाता है कि यापनीयसंघ का उत्पत्तिकाल ई० सन् ८२ नहीं है। डॉ० सागरमल जी ने भी आगे चलकर अपना मत बदल दिया और यह नया मत प्रस्तुत किया कि यापनीय और श्वेताम्बर सम्प्रदायों की उत्पत्ति ईसा की पाँचवीं शताब्दी के प्रारंभ में उत्तरभारतीय-सचेलाचेल-निर्ग्रन्थ-सम्प्रदाय के विभाजन से हुई थी। इस सम्प्रदाय के अस्तित्व की कल्पना डॉक्टर सा० ने स्वयं की है। (देखिये, अध्याय २ / प्र.३ / शी.१)।

श्वेताम्बरसाहित्य में यापनीयसंघ का सर्वप्रथम उल्लेख ८वीं शताब्दी ई० के आचार्य श्री हरिभद्रसूरि के ललितविस्तरा ग्रन्थ में मिलता है। तदनन्तर षड्दर्शनसमुच्चय के टीकाकार गुणरत्न (१४वीं शती ई०) ने अपनी टीका में उल्लेख किया है। इन दो ग्रन्थों के अतिरिक्त श्वेताम्बरसाहित्य में और कहीं भी यापनीय-सम्प्रदाय का वर्णन नहीं मिलता।

दिग्म्बरसाहित्य में आचार्य हरिषेण (१०वीं शती ई०) ने ‘बृहत्कथाकोश’ के अन्तर्गत भद्रबाहुकथानक में, देवसेनसूरि (१०वीं शती ई०) ने ‘दर्शनसार’ में तथा रत्नन्दी (१५वीं शती ई०) ने ‘भद्रबाहुचरित’ में यापनीय-सम्प्रदाय का निर्देश किया है।

देवसेनसूरि (१०वीं शती ई०) ने अपने ‘दर्शनसार’ ग्रन्थ में पूर्वाचार्यों द्वारा रचित गाथाओं का संग्रह किया है। उसकी २९वीं गाथा में कहा गया है कि विक्रम राजा की मृत्यु के ७०५ (ई० ६४८) वर्ष बाद कल्याणनगर में श्रीकलश नामक श्वेताम्बरमुनि

47. Quoted in his book 'History of Jaina Monachism' on page 95, by Shantaram Bhalchandra Deo.

से यापनीयसंघ का उद्भव हुआ।^{४८} किन्तु उसकी एक अन्य प्रति में वि० सं० ७०५ के स्थान पर वि० सं० २०५ (ई० सन् १४८) लिखा हुआ है।^{४९} इस पर टिप्पणी करते हुए पं० नाथूराम जी प्रेमी लिखते हैं—

“हमारे पास जो तीन प्रतियाँ हैं, उनमें से दो के पाठों से तो इसकी उत्पत्ति का समय वि० सं० ७०५ मालूम होता है और तीसरी ‘ग’ प्रति के पाठ से वि० सं० २०५ ठहरता है। यद्यपि यह तीसरी प्रति बहुत ही अशुद्ध है, परन्तु ७०५ से बहुत पहले यापनीयसंघ हो चुका था, इस कारण इसके पाठ को ठीक मान लेने को जी चाहता है। श्वेताम्बर-सम्प्रदाय में हरिभद्र नाम के एक बहुत प्रसिद्ध आचार्य हो गये हैं। विक्रम संवत् ५८५ में^{५०} उनका स्वर्गवास हुआ है और उन्होंने अपनी ‘ललितविस्तरा टीका’ में यापनीयतंत्र का स्पष्ट उल्लेख किया है। इससे मालूम होता है कि ५८५ से बहुत पहले यापनीयसंघ का प्रादुर्भाव हो चुका था। इसके सिवाय रायल एशियाटिक सोसाइटी बाम्बे ब्रांच के जर्नल की जिल्द १२ (सन् १८७६) में कदम्बवंशी राजाओं के तीन दानपत्र प्रकाशित हुए हैं, जिनमें से तीसरे में अश्वमेधयज्ञ के करानेवाले महाराज कृष्णवर्मा के पुत्र देववर्मा के द्वारा यापनीयसंघ के अधिपति को मन्दिर के लिए कुछ जमीन वगैरह दान की जाने का उल्लेख है। चरा-दानपत्रों में भी इसी कृष्णवर्मा का उल्लेख है और उसका समय वि० संवत् ५२३ के पहले है। अत एव ऐसी दशा में यापनीयसंघ की उत्पत्ति का समय आठवीं नहीं, किन्तु छठी शताब्दी के पहले-पहले समझना चाहिए। आश्चर्य नहीं जो ‘ग’ प्रति का २०५ संवत् ही ठीक हो। दर्शनसार की अन्य दो-चार प्रतियों के पाठ देखने से इसका निश्चय हो जायगा।”^{५१}

यद्यपि प्रेमी जी का यह कथन सत्य है कि यापनीयसंघ की उत्पत्ति वि० सं० ७०५ से बहुत पहले हो चुकी थी, तथापि दर्शनसार की २९ वीं गाथा में ‘वि० सं० ७०५’ पाठ ही युक्तियुक्त प्रतीत होता है, २०५ नहीं। क्योंकि दर्शनसार में विक्रम की मृत्यु के पश्चात् उत्पन्न हुए संघों का जिस क्रम से वर्णन है, उसी क्रम से उनका विक्रम-संवत्-वर्ष उत्तरोत्तर बढ़ता हुआ निर्दिष्ट किया गया है। जैसे—

४८. कल्लाणे वरणये सत्तसए पंच उत्तरे जादे।

जावणियसंघभावो सिरिकलसादो हु सेवडदो॥ २९॥ दर्शनसार।

४९. ‘दुण्णिसए पंच उत्तरे’ (वही / पादटिप्पणी / गाथा २९ / पृष्ठ १३)।

५०. हरिभद्रसूरि का काल स्वयं श्वेताम्बर विद्वानों के अनुसार ८ वीं शताब्दी ई. है।

५१. दर्शनसार-विवेचना / दर्शनसार / पृ. ३८-३९।

गाथा ११ — श्वेताम्बरसंघ ^{५२}	वि० सं० १३६
गाथा २८ — द्राविडसंघ ^{५३}	वि० सं० ५२६
गाथा २९ — यापनीयसंघ ^{५४}	वि० सं० ७०५
गाथा ३८ — काष्ठासंघ ^{५५}	वि० सं० ७५३
गाथा ४० — माथुरसंघ ^{५६}	वि० सं० ९५३
गाथा ४५ — भिल्लकसंघ ^{५७}	वि० सं० १८००

इस उत्तरोत्तर बढ़ती हुई वर्षसंख्या के क्रम को देखते हुए वि० सं० ७०५ के स्थान में वि० सं० २०५ का निर्देश युक्तिसंगत प्रतीत नहीं होता। अतः वहाँ वि० सं० ७०५ ही युक्तियुक्त सिद्ध होता है। तथापि इनमें से किसी भी संघ का उत्पत्तिकाल विश्वसनीय नहीं है, क्योंकि देवसेन ने स्वयं लिखा है कि उन्होंने 'दर्शनसार' ग्रन्थ की रचना माघ शुक्ल दशमी के दिन वि० सं० ९०९ में धारानगरी में की है।^{५८} तब उसके ४४ वर्ष बाद वि० सं० ९५३ में उत्पन्न होनेवाले माथुरसंघ की उत्पत्ति का कालनिर्देश विश्वसनीय कैसे हो सकता है? इसी प्रकार वि० सं० १८०० के बाद भावी भिल्लकसंघ का प्रादुर्भाव बतलाना भी दर्शनसार के सम्पूर्ण कालनिर्धारण को अविश्वसनीय सिद्ध कर देता है। इसके अतिरिक्त प्रस्तुत ग्रन्थ के 'दिगम्बर-श्वेताम्बर-

-
५२. छत्तीसे वरिससए विक्कमरायस्स मरणपत्तस्स।
सोरट्टे वलहीए उप्पण्णे सेवडो संघो ॥ ११ ॥ दर्शनसार।
५३. पंचसए छव्वीसे विक्कमरायस्स मरणपत्तस्स।
दक्खिण-महुरा-जादो दाविडसंघो महामोहो ॥ २८ ॥ दर्शनसार।
५४. कल्लाणे वरणये सत्तसए पंच उत्तरे जादे।
जावणिय-संघभावो सिरिकलसादो हु सेवडदो ॥ २९ ॥ दर्शनसार।
५५. सत्तसए तेवण्णे विक्कमरायस्स मरणपत्तस्स।
णंदियडे वरगामे कट्ठो संघो मुणेयव्वो ॥ ३८ ॥ दर्शनसार।
५६. तत्तो दु-सएतीदे महुराए माहुराण गुरुणाहो।
णामेण रामसेणो णिप्पिच्छं वण्णियं तेण ॥ ४० ॥ दर्शनसार।
५७. दक्खिणदेसे विंझे पुक्कलए वीरचंदमुणिणाहो।
अट्टारसएतीदे भिल्लयसंघं परूवेदि ॥ ४५ ॥ दर्शनसार।
५८. पुव्वायरियकयाई गाहाई संचिऊण एयत्थ।
सिरिदेवसेणगणिणा धाराए संवसंतेण ॥ ४९ ॥ दर्शनसार।
रइयो दंसणसारो हारो भव्वाण णवसए णवए।
सिरिपासणाहगेहे सुविसुद्धे माह सुद्धदसमीए ॥ ५० ॥ दर्शनसार।

भेद का इतिहास' नामक षष्ठ अध्याय में प्रदर्शित अनेक प्रमाणों से सिद्ध है कि ई० पू० ५वीं शती (४८९ ई० पू०) में अन्तिम अनुबद्ध केवली जम्बूस्वामी के निर्वाण के बाद मूलसंघ में विभाजन होने पर श्वेताम्बर-सम्प्रदाय की उत्पत्ति हुई थी। तत्पश्चात् ई० पू० चौथी शती (३६५ ई० पू०) में अन्तिम श्रुतकेवली भद्रबाहु के समय में द्वादशवर्षीय दुर्भिक्ष से उत्पन्न परिस्थितियों के कारण मूलसंघ में पुनः विभाजन हुआ और अर्धफालक-सम्प्रदाय का उदय हुआ, जो आगे चलकर श्वेताम्बर-सम्प्रदाय में विलीन हो गया। किन्तु 'दर्शनसार' में श्वेताम्बरसंघ की उत्पत्ति विक्रम की मृत्यु के १३६ वर्ष बाद बतलाई गई है, अतः यह भी प्रमाणविरुद्ध है। सिद्धान्ताचार्य पं० कैलाशचन्द्र जी शास्त्री ने भी ऐसा ही मत व्यक्त किया है। (देखिये, जै.सा.इ./पू.पी./पृ.४९२)। निष्कर्ष यह कि दर्शनसार में यापनीयसंघ की उत्पत्ति का काल जो विक्रम-मृत्यु-संवत् ७०५ या २०५ बतलाया गया है, वह प्रामाणिक नहीं है।

यापनीय-सम्प्रदाय की उत्पत्ति कब हुई थी, इसके निर्णय हेतु हमारे पास उपलब्ध विश्वसनीय प्रमाण केवल अभिलेख हैं। जैसा कि पूर्व में दर्शाया गया है, यापनीयसंघ का सर्वप्रथम उल्लेख दक्षिणभारत के कदम्बवंशीय राजा मृगेशवर्मा के ताम्रपत्रलेख में मिलता है। (देखिये, अध्याय २/प्र.६/शी.२)। राजा मृगेशवर्मा का राज्यकाल ४७०-४९० ई० निश्चित है। किसी नये धार्मिक सम्प्रदाय को लोकमान्यता और राजमान्यता पाने के लिए अधिक से अधिक पचास वर्ष का समय पर्याप्त है। अतः यापनीयसंघ का उत्पत्तिकाल उक्त ताम्रपत्रलेख के काल ४७०-४९० ई० से अधिक से अधिक पचास वर्ष पूर्व अर्थात् ईसा की पाँचवीं शताब्दी का प्रथम चरण माना जा सकता है। यदि उसकी उत्पत्ति इससे पूर्व हुई होती, तो वह इससे पहले लोकमान्यता और राजमान्यता प्राप्त कर लेता। तब इससे पहले के अभिलेखों अथवा साहित्य में उसके नाम का उल्लेख अवश्य होता, जैसे अशोक के सातवें स्तम्भलेख (२४२ ई० पू०) में 'निर्ग्रन्थसंघ' का और ईसापूर्व प्रथम शताब्दी के बौद्धग्रन्थ 'अपदान' में 'श्वेतवस्त्रसंघ' (श्वेतपटसंघ) का उल्लेख मिलता है। यतः यापनीयसंघ का उल्लेख पाँचवीं शताब्दी ई० से पूर्व के किसी भी अभिलेख या साहित्य में नहीं मिलता, अतः सिद्ध है कि उसकी उत्पत्ति ईसा की पाँचवीं शताब्दी के पूर्व नहीं हुई, पाँचवीं शताब्दी ई० का प्रथम चरण ही उसका उत्पत्तिकाल है। श्वेताम्बर-सम्प्रदाय का उदयकाल साहित्यिक प्रमाणों से जम्बूस्वामी के निर्वाण के पश्चात् अर्थात् ई० पू० पाँचवीं शताब्दी सिद्ध है तथा एकान्त-अचेलमार्गी निर्ग्रन्थसंघ (दिगम्बरसम्प्रदाय) का अस्तित्व जैनेतरसाहित्य एवं पुरातत्त्व में उपलब्ध प्रमाणों से ईसा से तीन हजार वर्ष पूर्व से सिद्ध होता है। यापनीयसंघ को पाँचवीं शताब्दी ई० से पूर्व का सिद्ध करनेवाला कोई भी साहित्यिक या पुरातात्विक प्रमाण उपलब्ध नहीं है। डॉ० सागरमल जी ने भी इसे स्वीकार किया

है। स्व० पण्डित नाथूराम जी प्रेमी ने तत्त्वार्थभाष्य को यापनीय कृति माना है। इसका खण्डन करते हुए डॉक्टर सा० लिखते हैं—

“भाष्य तो यापनीय-परम्परा के पूर्व का है। भाष्य तीसरी-चौथी शती का है और यापनीय-सम्प्रदाय चौथी-पाँचवीं शती के पश्चात् ही कभी अस्तित्व में आया है।” (जै.ध.या.सं./पृ.३५७)।

उमास्वाति के सम्प्रदाय का निर्धारण करते समय भी डॉक्टर सा० लिखते हैं—“वे यापनीय भी नहीं हैं, क्योंकि यापनीय-सम्प्रदाय का सर्वप्रथम अभिलेखीय प्रमाण भी विक्रम की छठी शताब्दी के पूर्वार्ध और ईसा की पाँचवीं शती के उत्तरार्ध (ई० सन् ४७५) का मिलता है।” (जै. ध. या. स./पृ.३७३)।

अन्यत्र भी उन्होंने कहा है—“तत्त्वार्थसूत्र के रचनाकाल तक यापनीय उत्पन्न ही नहीं हुए थे, अतः उसे यापनीय (ग्रन्थ) भी नहीं कहा जा सकता है।” (जै. ध. या. स./पृ.३५०)।

एक स्थान पर उन्होंने अपना मत निम्नलिखित शब्दों में व्यक्त किया है—“यह सही है कि ईसा की दूसरी शताब्दी से वस्त्रपात्र के प्रश्न पर विवाद प्रारंभ हो गया था, फिर भी यह निश्चित है कि पाँचवीं शताब्दी से पूर्व श्वेताम्बर दिगम्बर और यापनीय जैसे सम्प्रदाय अस्तित्व में नहीं आ पाये थे। निर्ग्रन्थसंघ (दिगम्बर), श्वेतपट-महाश्रमणसंघ और यापनीयसंघ का सर्वप्रथम उल्लेख हल्सी के पाँचवीं शती के अभिलेखों में ही मिलता है।” (जै. ध. या. स./पृ. ३६८)।

इस प्रकार यापनीयसंघ का उत्पत्तिकाल ईसा की पाँचवीं शती का प्रारंभ ही सिद्ध होता है।

पं० नाथूराम जी प्रेमी ने अपने पूर्वोद्धृत वचनों में श्वेताम्बराचार्य श्री हरिभद्रसूरि का स्वर्गवास विक्रम संवत् ५८५ में माना है, वह समीचीन नहीं है। डॉ० मोहनलाल जी मेहता लिखते हैं—“जैन परम्परा के अनुसार विक्रमसंवत् ५८५ अथवा वीरसंवत् १०५५ अथवा ई०स० ५२९ में हरिभद्रसूरि का देहावसान हो गया था। इस मान्यता को मिथ्या सिद्ध करते हुए हर्मन जेकोबी लिखते हैं कि ई० सन् ६५० में होनवाले धर्मकीर्ति के तात्त्विक विचारों से हरिभद्र परिचित थे, अतः यह संभव नहीं है कि हरिभद्र ई० सन् ५२९ के बाद न रहे हों। हरिभद्र के समयनिर्णय का एक प्रबल प्रमाण उद्योतन का कुवलयमाला नामक प्राकृत ग्रन्थ है। यह ग्रन्थ शक संवत् ७०० की अन्तिम तिथि अर्थात् ई० सन् ७७९ के मार्च की २१ वीं तारीख को पूर्ण हुआ था। इस ग्रन्थ की प्रशस्ति में उद्योतन ने हरिभद्र का अपने दर्शनशास्त्र के गुरु के

रूप में उल्लेख किया है तथा उनका अनेक ग्रन्थों के रचयिता के रूप में वर्णन किया है। इस प्रमाण के आधार पर मुनि श्री जिनविजय जी इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि महान् तत्त्वज्ञ आचार्य हरिभद्र और 'कुवलयमाला' कथा के कर्ता उद्योतनसूरि अपरनाम दाक्षिण्यचिह्न दोनों (कुछ समय तक तो अवश्य ही) समकालीन थे।
 ---- अतः हम ई० सन् ७०० से ७७० अर्थात् वि० सं० ७५७ से ८२७ तक हरिभद्रसूरि का सत्तासमय निश्चित करते हैं।" (जैन साहित्य का बृहद् इतिहास/भाग ३/पृ० ३५९)।

अतः पं० नाथूराम जी प्रेमी ने श्री हरिभद्रसूरि का स्वर्गवास वि० सं० ५८५ में मानकर उनके ग्रन्थ 'ललितविस्तरा' में 'यापनीयतन्त्र' का उल्लेख होने से जो यापनीय-संघ की उत्पत्ति वि० सं० ५८५ से बहुत पहले मानी है, वह समीचीन नहीं है। उसकी उत्पत्ति वि० सं० ५८५ से पहले अवश्य हुई थी, किन्तु बहुत पहले नहीं, अपितु १०० वर्ष पहले अर्थात् पाँचवीं शती ई० के प्रथम चरण में।



द्वितीय प्रकरण

खारवेल-अभिलेख की समीक्षा

१

‘यापज्ञापक’ का अर्थ ‘यापनीय आचार्य’ नहीं

ईसापूर्व द्वितीय शती के सम्राट् खारवेल के हाथीगुम्फाभिलेख में यापजवकेहि या यापजावकेहि (यापज्ञापकेभ्यः) पद का प्रयोग हुआ है। यथा—

“--- सिनो वसीकरोति। तेरसमे च वसे सुपवत विजयचक्र-कुमारीपवते अरहिते (य?) पखीण संसितेहि कायनिसीदीयाय यापजवकेहिं (यापजावकेहिं) राजभितानि चिनवतानि वसा-सितानि। पूजायरत उवास खारवेलसिरिना जीवदेहसिरिका परिखिता।” (चन्द्रकान्तबाली शास्त्री : खारवेलप्रशस्ति : पुनर्मूल्यांकन / पृ.१६)।

इस पंक्ति में आये यापजवकेहिं (यापज्ञापकेभ्यः) शब्द का प्रसिद्ध इतिहासकार श्री काशीप्रसाद जायसवाल ने ‘यापनीय आचार्य’ अर्थ किया है। वे लिखते हैं—

“Yāpa-nāvakas (Skt. yāpa-Jñāpakas) ‘the teachers of yāpa,’ cannot be identified without reference to the history of Jainism. The Bhadrabāhu-carita in giving the history of Jainism immediately after the teacher Bhadrabāhu, a contemporary of Candragupta, says that amongst the numerous disciples of Bhadrabāhu who worshipped the bones of their master a school called Yāpana-Saṅgha arose and that they finally decided to remain without clothes. The Yāpana-Saṅgha flourished in the south as they prominently appear in Carnatic inscriptions. They are now extinct. Muni JINAVIJAYA is of opinion that some tenets of theirs bore affinity to the Digambara school and some of the Śvetāmbara. In view of this opinion the Yāpana school marked the stage before the great schism. Our Inscription shows that Yāpa which gave the name of the School consisted of certain pious practices.

---The professors of Yāpa were at the Kāyya-Nishīdī on the ‘revered (arahite) Kumārī Hill’. That his Nishīdī was a Nishīdī of the Arhat is proved by the next line. In this volume of the Journal (IV, 96) I drew attention to the technical meaning of the Jaina Nishīdī ‘resting place’, a ‘tomb’. The Nishīdī at the Kumārī Hill was not an ornamental tomb, but a real stūpa, for it is qualified Kāyya, corporeal (i.e. having remains of the body). Thus it seems that the Jains called their stūpas or chaityas Nishīdīs. The Jaina Stūpa discovered at Mathurā and the datum of the Bhadrabāhu-carita saying that the desciples of Bhadrabāhu worshipped

the bones of their Master, establish the fact that the Jainas (at any rate the Digambaras) observed the practice of erecting monuments on the remains of their teachers ---" 59

माननीय काशीप्रसाद जी जायसवाल ने यापज्ञापक शब्द से जो 'यापनीय-आचार्य' अर्थ ग्रहण किया है वह उनकी महान् भ्रान्ति है। वस्तुतः वे इस विषय में अन्त तक अनिश्चय की स्थिति में रहे हैं, क्योंकि यहाँ उन्होंने यापज्ञापक शब्द को यापनीय-आचार्यों का वाचक बतलाया है, तो एक अन्य आलेख में उसका अर्थ 'श्वेताम्बर मुनि' किया है। नागरीप्रचारिणी पत्रिका (भाग १०/अङ्क ३) में वे लिखते हैं—

“इस लेख की १४वीं पंक्ति में लिखा है कि राजा ने कुछ जैन साधुओं को रेशमी कपड़े और उजले कपड़े नजर किये—“अरहयते परखीनसंसितेहि कायनिसीदीयाय यापज्वकेहि राजभित्तिनि चिनवतानि वासासितानि” अर्थात् “अर्घयते प्रक्षीणसंसृतिभ्यः कायनिषीद्यां यापज्ञापकेभ्यः राजभृतीश्चीनवस्त्राणि वासांसि सितानि।”

“इससे यह विदित होता है कि श्वेतवस्त्र धारण करने वाले जैन साधु, जो कदाचित् यापज्ञापक कहलाते थे, खारवेल के समय में अर्थात् प्रायः १७० ई० पू० (११० विक्रमाब्द पूर्व) भारत में वर्तमान थे, मानो श्वेताम्बर जैन शाखा के वे पूर्वरूप थे। 'चीन' गिलगिट की एक जाति को कहते थे। इन्हें अब शीन कहते हैं। ये सदा से रेशम बनाते हैं। खारवेल ने कुमारीपर्वत पर, जहाँ पहले महावीर स्वामी या कोई दूसरे जिन उपदेश दे चुके थे, क्योंकि उस पर्वत को सुपवतविजयचक्र (सुप्रवृत्तविजयचक्र) कहा है, स्वयं कुछ दिन तपस्या, व्रत उपासकरूप से किया और लिखा है कि जीव-देह का भेद उन्होंने समझा। इससे सिद्ध हुआ कि तपस्या, जीव-देह का दार्शनिक विचार आदि उसी समय से अथवा उसके आगे से जैनधर्म में चला आता है।” ६०

इतना ही नहीं, माननीय जायसवाल जी ने एक अन्य लेख में 'यापज्ञापक' की जगह पापज्ञापक (पापों को बतानेवाले अर्थात् पापों से सावधान करनेवाले) पाठ ग्रहण किया है। इससे उसके यापनीय-आचार्यों का वाचक होने का आधार ही समाप्त हो जाता है। मुनि श्री पुण्यविजय जी पापज्ञापक शब्द के विषय में अपने विचार प्रकट करते हुए लिखते हैं—

59. JBORS., Vol. IV, pp. 338-90, quoted by Shantaram Bhalchandra Deo, in his book 'History of Jain Monachism' on pages 95-96.

६०. 'श्री खारवेलप्रशस्ति और जैनधर्म की प्राचीनता' नागरी प्रचारिणी पत्रिका / भाग १० / अङ्क ३ ('अनेकान्त' वर्ष १ / किरण ४ / फाल्गुन, वीर निर्वाण सं. २४५६/ वि० संवत् १९८६/ पृष्ठ २४२ से उद्धृत)।

“मान्य विद्वन्महोदय श्रीयुत काशीप्रसाद जायसवाल महाशय ने कलिंगचक्रवर्ती महाराज खारवेल के शिलालेख का वाचन, छाया और अर्थ आदि बड़ी योग्यता के साथ किया है। तथापि उस शिलालेख में अद्यापि ऐसे अनेक स्थान हैं, जो अर्थ की अपेक्षा शंकित हैं।--- श्रीमान् जायसवाल महाशय ने कायनिषीदीयाय यापजावकेहि इस अंश की कायनिषीद्यां पापज्ञापकेभ्यः ऐसी संस्कृत-छाया करके “कायनिषीदी (स्तूप) पर (रहनेवालों) पाप बताने-वालों (पापज्ञापकों) के लिए,” ऐसा जो अर्थ किया है, इसके बदले में उपरि-निर्दिष्ट अंश की छाया और इसका अर्थ इस प्रकार करना अधिकतर उचित होगा—

“छाया—‘कायनैषेधिव्या यापनीयकेभ्यः—यापनीयेभ्यः।’

“अर्थ—(केवल मन और वचन से ही नहीं, बल्कि) काय के द्वारा प्राणातिपात आदि अशुभ क्रियाओं की निवृत्ति द्वारा (धर्म का) निर्वाह करने वालों के लिए।”^{६१}

यहाँ मुनि जी ने श्री जायसवाल द्वारा किये गये ‘पापज्ञापक’ जैसे अर्थों को शंकित बतलाया है। इससे सहमति व्यक्त करते हुए ‘अनेकान्त’ के तत्कालीन सम्पादक पं० जुगलकिशोर जी मुख्तार ने यह टिप्पणी की है—“अर्थ की अपेक्षा ही नहीं, किन्तु शब्दसाहित्य की अपेक्षा भी अभी शंकित हैं। प्रकृत पंक्ति का पाठादिक भी पहले कुछ प्रकट किया था और पीछे से कुछ, और इसलिए उसकी विशिष्ट जाँच होने की जरूरत है। ‘नागरी प्रचारिणी’ पत्रिका भाग १०, अङ्क ३ में ‘जो कदाचित् यापज्ञापक कहलाते थे’ ऐसा भी लिखा है।”^{६२} इन दो महानुभावों की उक्त टिप्पणियों से मेरे इस मत की पुष्टि होती है कि ‘यापजावकेहि’ शब्द के विषय में माननीय जायसवाल जी अन्त तक अनिश्चय की स्थिति में रहे हैं।

श्री काशीप्रसाद जी जायसवाल का पूर्वोद्धृत (अँगरेजी लेख में व्यक्त) यह मत भी समीचीन नहीं है कि “भद्रबाहुचरित के उल्लेख के अनुसार श्रुतकेवली भद्रबाहु के शिष्यों में से कुछ अपने मृत गुरु की अस्थियों को पूजते थे, उन्होंने ही यापनीयसंघ को जन्म दिया और अन्ततः नग्न रहने का निर्णय किया।” अस्थिपूजा उन साधुओं ने शुरू की थी, जिन्होंने द्वादशवर्षीय दुर्भिक्ष के समय भद्रबाहु के साथ दक्षिणभारत जाने से इनकार कर दिया था और उत्तरभारत की दुर्भिक्षजन्य विपत्तियों से विचलित होकर वस्त्रपात्रादि ग्रहण कर लिये थे तथा अर्धफालक साधु कहलाने लगे थे। दुर्भिक्ष समाप्त होने के बाद उनके गुरु स्थूलाचार्य ने उनसे मूल निर्ग्रन्थमार्ग (दिगम्बरमार्ग)

६१. मुनि पुण्यविजय जी : ‘महाराजा खारवेलसिरि के शिलालेख की १४वीं पंक्ति’ (‘अनेकान्त’/ वर्ष १/ किरण ३/ माघ, वीर नि.सं. २४५६ / विक्रम सं. १९८६ / पृ. १४२)।

६२. वही / पादटिप्पणी / पृ. १४२।

अपना लेने के लिए कहा, तब कुछ ने तो अपना लिया, किन्तु कुछ युवा साधुओं ने क्रोध में आकर स्थूलाचार्य का दण्डप्रहार से वध कर दिया। स्थूलाचार्य मरकर व्यन्तर हुए और उन्हें सताने लगे। तब उनके प्रकोप को शान्त करने के लिए युवा साधुओं ने कहा कि हम आपकी पूजा किया करेंगे, आप हम पर प्रसन्न हों। इससे व्यन्तर शान्त हो गया और वे साधु मृतक स्थूलाचार्य की हड्डियाँ ले आये और उनमें गुरु की कल्पना कर पूजने लगे।^{६३} इस तरह अस्थिपूजा का प्रचलन अर्धफालकसम्प्रदाय के साधुओं ने किया था, न कि भद्रबाहु के दिगम्बर शिष्यों ने। तथा भद्रबाहु के शिष्य तो शुरू से ही नग्न रहते थे, अतः उनके द्वारा यापनीयसंघ की स्थापना कर नग्न रहने का निर्णय किये जाने का प्रश्न ही नहीं उठता। रत्ननन्दी ने तो भद्रबाहुचरित में यह लिखा है कि करहाटक नाम के नगर में राजा से सत्कार पाने के लिए उनकी रानी नृकुलादेवी के प्रार्थना करने पर श्वेताम्बर साधुओं ने वस्त्रत्याग कर नग्नरूप धारण कर लिया था, किन्तु सिद्धान्त श्वेताम्बरपरम्परा के ही मानते रहे, इस प्रकार श्वेताम्बरसाधुओं से यापनीय-सम्प्रदाय का जन्म हुआ था। (भ.बा.च. ४/१३७-१५४)। अतः माननीय जायसवाल जी ने जो यह कहा है कि 'भद्रबाहुचरित' के अनुसार यापनीय-सम्प्रदाय का उदय दिगम्बर-श्वेताम्बर-संघभेद के पूर्व हुआ था, वह प्रामाणिक नहीं है।

प्रसिद्ध इतिहासकार माननीय शान्ताराम भालचन्द्र देव ने जायसवाल जी के इस मत से असहमति प्रकट की है। वे लिखते हैं—

“In spite of this alleged identity of Yāpa with the yāpanīyas which JAYASWAL wants to bring out, it may be noted that neither literary nor epigraphical sources are available of such antiquity, as ascribed to the Khāravēla inscription, to corroborate the existence of Yāpanīyas in the second century B.C.” (S.B. Deo : History of Jaina Monachism, p.96)

श्री जायसवाल जी ने आगे चलकर यापजावकेहि पद का मुनि श्री पुण्यविजय जी द्वारा बतलाया अर्थ (धर्म का निर्वाह करनेवालों के लिए) स्वीकार कर लिया।

६३. स्थूलाचार्यस्ततः प्रोचे नैतद्दर्शनमुत्तमम्। किम्पाकफलवद्रम्यमधुनाग्रेति दुःखदम्॥
मूलमार्गं परित्यज्य कापथं कल्पयन्ति ये। भ्रमन्ति ते भवारण्ये मरीचाद्या यथा पुरा॥
दुष्टैश्चण्डैः शिष्यैर्मोण्डैर्दण्डैर्दण्डैर्हतो हठात्। जीर्णाचार्यस्ततो क्षिप्तो गर्ते कूटेन तत्र तैः॥
कुशिष्याणां हि शिक्षापि खलमैत्रीव दुःखदा। मृत्वार्तध्यानतः सोऽपि व्यन्तरः समजायत॥
विद्वित्वावधिबोधेन देवोऽसौ पूर्वसम्भवम्। चकार मुनिमन्यानां नितरां दुरुपद्रवम्॥
नीत्वातिविनयाच्छान्तिं कुपितं व्यन्तराऽमरम्। गुरोरस्थिं समानीय तत्र सङ्कल्पते गुरुः॥
नित्यमर्चन्ति वन्दन्ते लोकेऽद्यापि लपन्ति तम्। खमणादिहडीत्याख्यं क्षपणास्थिप्रकल्पनात्॥
यथाविधि परिस्थ्याप्य पूजितः सोऽर्द्धफालकैः। परित्यक्तं ततस्तेन चेष्टितं विक्रियामयम्॥
(रत्ननन्दी : भद्रबाहुचरित / परिच्छेद ४ / श्लोक १२, १३, १८, १९, २०, २५, २६, २८)।

वे लिखते हैं—“मुनि श्री पुण्यविजय जी के लेख (‘अनेकान्त’ पृ० १४२) से ‘यापज्ञापक’ शब्द का अर्थ साफ हो गया, जिसकी खोज मुझे बहुत दिनों से थी। कई वर्षों के अध्ययन से ‘यापजावक’ पाठ निश्चित किया गया था, पर अर्थ का पता नहीं लगता था। मैं मुनिजी का बहुत अनुगृहीत हूँ। (चैत्र शु० ११, वी० नि० २४५६)।”^{६४}

इससे यह निश्चित हो जाता है कि ‘यापज्ञापक’ शब्द का अर्थ ‘यापनीय आचार्य’ नहीं है। अतः ईसापूर्व द्वितीय शती में यापनीय-सम्प्रदाय के अस्तित्व की संभावना निरस्त हो जाती है।

२

‘धर्मनिर्वाहक’ भी नहीं, अपितु धर्मोपदेशक

किन्तु मुनि श्री पुण्यविजय जी ने तथा उनके अनुसार श्री काशीप्रसाद जी जायसवाल ने यापज्ञापक पद से जो यापनीयक अर्थात् धर्म का निर्वाह करनेवाला अर्थ लिया है, वह शब्दों से प्रतिपादित नहीं होता। ‘यापज्ञापक’ का शाब्दिक अर्थ है ‘याप का ज्ञापक’ अर्थात् याप का ज्ञान करानेवाला। मोनियर विलियम्स की संस्कृत-इंग्लिश-डिक्शनरी में याप शब्द का एक अर्थ cure अर्थात् किसी रोग की चिकित्सा भी दिया गया है। अतः धर्म के प्रकरण में ‘याप’ शब्द का अर्थ ‘संसारदुःखरूप रोग की चिकित्सा अर्थात् संसार से मोक्ष का उपाय’ युक्तियुक्त सिद्ध होता है। फलस्वरूप ‘यापज्ञापक’ का अर्थ है—मोक्षमार्ग या धर्म का ज्ञापक (उपदेशक) साधु। ‘ज्ञापक’ शब्द से ‘निर्वाह करनेवाला’ अर्थ प्रतिपादित नहीं होता, यदि शिलालेख में ‘यापनीयक’ शब्द ही होता, तो हो सकता था। अतः मुनि पुण्यविजय जी द्वारा कल्पित किया गया ‘धर्म का निर्वाह करनेवाला’ अर्थ मान्य नहीं हो सकता।

३

‘यापजवकेहि’ में चतुर्थी नहीं, तृतीया

इसके अतिरिक्त ‘यापजावकेहि’ का जो ‘यापज्ञापकों के लिए’ इस प्रकार सम्प्रदान-कारक-रूप अर्थ किया गया है, वह भी समीचीन नहीं है, क्योंकि उसमें तृतीया विभक्ति का प्रयोग हुआ है, चतुर्थी का नहीं। अतः वह करणकारक है। पालि और प्राकृत में सम्प्रदानकारक का बोध कराने के लिए षष्ठी का प्रयोग होता है।^{६५} उदाहरण इसी शिलालेख में देखे जा सकते हैं, यथा—

६४. ‘अनेकान्त’/वर्ष १/किरण ६,७/वैशाख, ज्येष्ठ, वीर नि. २४५६/पृष्ठ ३५२।

६५. ‘चतुर्थ्याः षष्ठी’ (सिद्धहेमशब्दानुशासन ३/१३१)।

नमो अरहंतानं (षष्ठी) — नमोऽर्हद्भ्यः (चतुर्थी)

नमो सर्वसिद्धानं (षष्ठी) — नमः सर्वसिद्धेभ्यः (चतुर्थी)

‘हि’ या ‘हिं’ प्रत्यय सर्वत्र तृतीया विभक्ति^{६६} (करणकारक) के बहुवचन में प्रयुक्त हुआ है। जैसे—

पनतीसाहि सतसहसेहिं — पञ्चत्रिंशद्भिः शतसहस्रैः (तृतीया बहुवचन)

कारापनाहि — कारणैः (तृतीया)

समुत्थापिताहि — समुत्थापिताभिः (तृतीया)

हिताहि — हताभिः (तृतीया)

सिलाहि — शिलाभिः (तृतीया)

इन उदाहरणों से सिद्ध है कि **परखीणसंसितेहि** और **यापजवकेहि** भी तृतीयान्तरूप हैं, अतः करणकारक हैं। उनकी संस्कृत-छाया इस प्रकार होगी—**प्रक्षीणसंसृतिभिः** एवं **यापज्ञापकैः**। इसलिए उनका अर्थ होगा—‘संसारचक्र के विनाश में संलग्न यापज्ञापकों के द्वारा।’

४

तृतीयान्त के लिए ‘वस्त्रादिदान’ अर्थ संगत नहीं

अतः मुनि जी एवं जायसवाल जी ने जो ‘यापज्ञापकों के लिए’ यह सम्प्रदानकारक-रूप अर्थ किया है, वह व्याकरण की दृष्टि से सर्वथा असंगत है। इसलिए राजा ने यापज्ञापकों के लिए रेशमी और श्वेतवस्त्र भेंट किये, यह अर्थ भी असंगत है। यहाँ तो यापज्ञापकों के द्वारा रेशमी और श्वेतवस्त्र भेंट किये गये, यह अर्थ निकल सकता है। किन्तु सैद्धान्तिक दृष्टि से यह अर्थ संगत नहीं है, क्योंकि मोक्षमार्ग के उपदेशक सर्वसंगत्यागी मुनियों के द्वारा किसी को वस्त्रादि भेंट किया जाना संभव नहीं है। अतः मुनि जी और जायसवाल जी ने ‘राजभित्तानि चिनवतानि वसासितानि’ का जो राजभृति, चीनांशुक (रेशमी) तथा श्वेतवस्त्र अर्थ किया है वह भी अनुपपन्न है।

यद्यपि ‘निषद्या’^{६७} (परीषहविशेष) और ‘निषीधिका’ (अर्हदादि एवं मुनिराजों का समाधि-स्थान)^{६८} शब्द दिगम्बर-साहित्य में भी उपलब्ध हैं, तथापि मुनि पुण्यविजय जी ने ‘कायनिसीदीयाय’ पद में ‘निसीदी’ शब्द का जो “निषेधनं निषेधः, निषेधेन

६६. ‘भिसो हि हिं हिं’ (वही ३/७)।

६७. सर्वार्थसिद्धि / ९ / ९।

६८. “णिसिहीओ निषिधीर्योगिवृत्तिर्यस्यां भूमौ स निषिधी इत्युच्यते।” विजयोदयाटीका / भगवती-आराधना / गाथा ‘जम्मणअभि’ १४५।

निर्वृत्ता नैषेधिकी, प्राकृतशैल्या छान्दसत्वाद्वा 'नैषीधिका' इत्युच्यते"^{६९} इस व्युत्पत्ति के आधार पर निषेधपरक अर्थ सुझाया है, वह युक्तिसंगत प्रतीत होता है।

किन्तु कायनिसीदीयाय तृतीयान्त नहीं है, जैसा कि मुनि पुण्यविजय जी ने कायनैषेधिक्या, संस्कृत छाया करके प्रकट किया है। यह चतुर्थी या षष्ठी का एकवचनात्मक रूप है और उसका अभिप्राय है काय के निषेध (काय से ममत्व के त्याग) के लिए।

इन अर्थों के साथ सम्पूर्ण वाक्य का अर्थ इस प्रकार घटित होता है—

तेरसमे च वसे = तेरहवें वर्ष में, सुपवत-विजयचक्रकुमारीपवते अरहिते = पूज्य कुमारीपर्वत पर, जहाँ (जैनधर्म का) विजयचक्र सुप्रवृत्त है,^{७०} परखीणसंसितेहि (प्रक्षीणसंसृतिभिः) = संसार के विनाश में संलग्न, यापजवकेहि (यापज्ञापकैः) = मोक्षमार्ग के उपदेशक मुनियों के द्वारा (राजा को), कायनिसीदीयाय = काय से ममत्व त्यागने के लिए, राजमितानि = राजोचित (ढंग से) चिनवतानि (चिद्व्रतानि) = आत्मसाधक ज्ञान एवं व्रतों का, सासितानि (शासितानि) = उपदेश दिया। (उस उपदेश से) पूजायतरत-उवास-खारवेलसिरिना (पूजायां रतोपवासेन क्षारवेलेन श्रीमता)^{७१} = पूजा एवं उपवास करनेवाले श्री खारवेल ने, जीवदेहसिरिका (जीवदेहश्रीकता) = जीव और देह के भेद को, परिखिता (परीक्षिता) = परख लिया^{७२} और देह से ममत्व छोड़ दिया।

लेख की इस १४वीं पंक्ति में डॉ० काशीप्रसाद जायसवाल ने राजभित्ति पद पढ़ा है, श्री चन्द्रकान्तबाली शास्त्री ने राजभित्तानि तथा डॉ० शशिकान्त जी ने 'राजभित्तिना।' मेरी दृष्टि से राजमितानि पद होना चाहिये, क्योंकि ऊपर दिखलाये अनुसार सम्पूर्ण वाक्य का जो अर्थ घटित होता है, उसमें 'राजमितानि' पद ही संगत बैठता है। इसी प्रकार श्री चन्द्रकान्तबाली शास्त्री ने वसासितानि का संस्कृतपाठ '(एव?) शासिता' किया है। (पृ. १६)। मुझे भी यह संगत प्रतीत हुआ है। अतः मैंने 'एव' के अवशिष्ट रूप 'व' का उल्लेख न करते हुए सासितानि पद ग्रहण किया है। तथा शास्त्री जी ने उवास शब्द का हिन्दी अर्थ उपवास किया है। (पृ. १६), मैंने भी उसे उपयुक्त माना है।

श्री चन्द्रकान्तबाली शास्त्री ने भी चिनवतानि वसासितानि का 'रेशमी और श्वेत वस्त्र' अर्थ नहीं किया, अपितु राजभृतिश्चीर्णवता (एव?) शासिता ऐसी संस्कृत छाया

६९. आवश्यकसूत्र / हारिभद्रीय टीका / पत्र ५४६-४७ ('महाराजा खारवेलसिरि के शिलालेख की १४ वीं पंक्ति' / 'अनेकान्त' वर्ष १ / किरण ३ / पृष्ठ १४३)।

७०. 'सुप्रवृत्तविजयचक्रे'—चन्द्रकान्तबाली शास्त्री : खारवेलप्रशस्ति : पुनर्मूल्यांकन / पृ. १६।

७१. चन्द्रकान्तबाली शास्त्री : खारवेलप्रशस्ति : पुनर्मूल्यांकन / पृ. १६।

कर 'यापज्ञापकों (याप बताने वालों) के लिए राजभृतियों कायम कर दीं (शासित कर दीं)' यह अर्थ किया है।^{७२}

डॉ० शशिकान्त जी ने पूर्ववर्ती अन्य विद्वानों का अनुसरण करते हुए कुछ भिन्न पाठ ग्रहण किये हैं, जैसे 'अरहते', 'यापुजवकेहि', 'राजभतिना', 'चिनवताना', 'वससिताना', 'पूजानुरत-उवासग', 'जीवदेहसिरिता', 'परिखाता' आदि तथा इनका अर्थ प्रतिपादन भी पर्याप्त भिन्न है।^{७३} किन्तु यहाँ मीमांसा का मुख्य विषय 'यापत्रवकेहि' या 'यापुजवकेहि' पद है। इसे शशिकान्त जी ने 'यापनीयों' का वाचक नहीं माना है। उन्होंने अपने निष्कर्ष का प्रतिपादन निम्नलिखित शब्दों में किया है—

"The yāpanīya Sect formally came into existence towards the middle of the second century A.D. It was a reversion to the austere and also an effort to bridge up the gap between the Śvetāmbar and Digambara modes and doctrines. It has, all the same, no relation to yāpujāvakehi in L 14 of our inscription."⁷³

५

खारवेल का श्वेताम्बरत्व भी सिद्ध नहीं

यतः शिलालेख के 'चिनवतानि' आदि शब्दों से 'रेशमी और श्वेतवस्त्र' अर्थ निष्पन्न नहीं होता, अतः मुनि श्री पुण्यविजय जी आदि ने जो यह प्रतिपादित करने का प्रयत्न किया है कि खारवेल ने श्वेताम्बर साधुओं को वस्त्रदान किया था, अतः वह श्वेताम्बर था, वह भी निरस्त हो जाता है। और यदि शिलालेख में वास्तव में वस्त्रदान का उल्लेख होता, तो भी वह श्वेताम्बर सिद्ध नहीं हो सकता था, क्योंकि एक राजा की हैसियत से वह सभी धर्मों का सम्मान करता था, उसने शिलालेख में स्वयं लिखवाया है—“सबपाखंडपूजको सबदेवायतन-संस्कारकारको --- राजा खारवेलसिरि” (खारवेल राजा सभी धार्मिक सम्प्रदायों का सम्मान और सभी देवायतनों का जीर्णोद्धार करता है)। इसीलिए उसने ब्राह्मणों को भी स्वर्णनिर्मित कल्पवृक्ष, हाथी, घोड़े, रथ, भवन आदि दान में दिये थे, जैसा कि शिलालेख की निम्नलिखित पंक्ति से सूचित होता है—

“कपरुखे हय-गज-रथ-सहयत्ते सवयरावास परिवसने स अगिणठिया। सब गहने च कारयितुं बम्हणाने जातिं परिहारं ददाति। अरहतो --- ब --- न --- गिव।”

७२. Shashikant : The Hāthīgumphā Inscription of Khāravēla and The Bhabru Edict of Aśoka, Appendix I , p.112 and Appendix II , p. 117.

73. वही / पृ.६८ / पादटिप्पणी २।

संस्कृत छाया—‘कल्पवृक्षान् हयगजरथान् सयंतून् सर्वगृहावास परिवसनानि साग्निष्ठि-कानि। सर्वग्रहणं च कारयितुं ब्राह्मणानां जातिं परिहारं ददाति अर्हत--- व --- न--- गिया (?)’^{७४}

इसलिए जिस प्रकार ब्राह्मणों को दान देने के उल्लेख से राजा खारवेल ब्राह्मण सिद्ध नहीं होता, वैसे ही यदि शिलालेख में श्वेताम्बर-साधुओं को वस्त्रादिदान का उल्लेख होता, तो वह श्वेताम्बर-मतानुयायी सिद्ध नहीं हो सकता था।

श्री काशीप्रसाद जी जायसवाल ने शिलालेख के पूर्वोक्त १४ वें वाक्य से जो यह अर्थ ग्रहण किया है कि राजा खारवेल ने श्वेताम्बर साधुओं को रेशमी और श्वेतवस्त्र दान किये थे, उसके आधार पर मुनि पुण्यविजय जी ने ‘कायनिसीदयाय यापजवकेहि’ शब्दों से मिलते-जुलते शब्दों की श्वेताम्बरग्रन्थों में उपस्थिति तथा प्रकारान्तर से दिगम्बरग्रन्थों में अनुपस्थिति बतलाकर मौनरूप से यह सिद्ध करना चाहा है कि राजा खारवेल श्वेताम्बर था। इस पर बाबू छोटेलाल जी जैन (कलकत्ता) ने अपने एक लेख में आपत्ति की है।^{७५} उसका समाधान करते हुए ‘अनेकान्त’ के सम्पादक पं० जुगलकिशोर जी मुख्तार लिखते हैं—

“खारवेल महाराज के दिगम्बर होने पर भी उनके द्वारा अपने श्वेताम्बर भाइयों का सत्कारित होना कोई अनोखी बात नहीं कहा जा सकता, खासकर उस जमाने में, जब कि परस्पर के मतभेद ने आजकल जैसा कोई उग्ररूप धारण नहीं किया था और ऐसी हालत में जब कि खारवेल खुद एक उदारहृदय सम्राट् थे, सर्वमतों के प्रति आदरभाव रखते थे, उन्होंने ब्राह्मणों तक का सत्कार किया है और वे अपनी पैंतीस लाख प्रजा को अनुरंजित (प्रसन्न) रखने का शिलालेख में ही उल्लेख करते हैं। अतः इस सत्कारमात्र से, यदि वह पाठ के आपन्न न होने पर ठीक भी हो, तो खारवेल के दिगम्बर होने में कोई बाधा नहीं आती, जिसकी किसी को चिन्ता करनी पड़े।”^{७६}

६

श्वेताम्बर सिद्ध करने का अन्य कपट-प्रयास

राजा खारवेल को श्वेताम्बर सिद्ध करने का एक अन्य प्रयास भी किया गया है, जिसका विवरण जानना अत्यन्त रोचक है। उसका घटनाक्रम यथावत् प्रस्तुत किया

७४. चन्द्रकान्तबाली शास्त्री : खारवेलप्रशस्ति : पुनर्मूल्यांकन / पृ. ११।

७५. ‘महाराज खारवेल’ / ‘अनेकान्त’ वर्ष १ / किरण ५ / पृष्ठ २८४-२८८।

७६. सम्पादकीय पादटिप्पणी (‘महाराज खारवेल’ : बाबू छोटेलाल जी जैन, कलकत्ता / ‘अनेकान्त’ वर्ष १ / किरण ५ / पृष्ठ २८४)।

जा रहा है। श्वेताम्बर मुनि श्री कल्याणविजय जी ने आज से ७५ वर्ष पूर्व (वीर नि० सं० २४५६=ई० सन् १९३० में) 'अनेकान्त' में 'राजा खारवेल और उसका वंश' शीर्षक से लेख प्रकाशित किया था, जिसमें उन्होंने किसी 'हिमवन्त थेरावली' नामक पुस्तक के आधार पर खारवेल को चेदिवंश की जगह चेटवंश में उत्पन्न बतलाकर श्वेताम्बर सिद्ध करने की चेष्टा की थी। इस पर बाबू कामताप्रसाद जी जैन ने 'अनेकान्त' में लेख लिखकर कड़ी आपत्ति जतलाई थी और 'हिमवन्त थेरावली' को जाली घोषित किया था। सम्पादक पं० जुगलकिशोर जी मुख्तार ने बाबू जी के लेख पर कई प्रतिकूल टिप्पणियाँ की थीं, तथापि 'हिमवन्त थेरावली' की प्रामाणिकता के विषय में उन्हें भी सन्देह हो गया था, फलस्वरूप उन्होंने उसकी मूल प्रति प्राप्त करने का प्रयत्न किया था। किन्तु बहुत दिनों तक वह उन्हें प्राप्त न हो सकी। अन्ततः वह श्वेताम्बर मुनि श्री जिनविजय जी को प्राप्त हो गई और उन्होंने पाया कि उसमें खारवेल के वंश आदि के विषय में दिया गया विवरण कल्पित (जाली) है। इसकी सूचना उन्होंने पत्र लिखकर पं० जुगलकिशोर जी मुख्तार को दी। माननीय काशीप्रसाद जी जायसवाल ने भी इस प्रकार का समाचार मुख्तार जी के पास प्रकाशनार्थ भेजा। मुख्तार जी ने इन सभी को 'अनेकान्त' में प्रकाशित किया है। ये सभी लेख एवं पत्र आगे उद्धृत किये जा रहे हैं, ताकि इस तथ्य से वर्तमान पीढ़ी भी अवगत हो जाय, जिससे उक्त 'हिमवन्त थेरावली' के आधार पर कोई पुनः वैसा छल करके उसे गुमराह न कर सके।

६.१. प्रथम लेख

(ज्ञातव्य—इस लेख में दी गई पादटिप्पणियाँ इसी लेख के लेखक की तथा कतिपय 'अनेकान्त' के सम्पादक पं० जुगलकिशोर मुख्तार की हैं। पादटिप्पणी के अन्त में 'लेखक' और 'सम्पादक' शब्द से इसका संकेत कर दिया गया है।)

राजा खारवेल और उसका वंश^{७७}

लेखक : श्री० मुनि कल्याणविजय जी

“पाटलिपुत्रीय मौर्यराज्य-शाखा को पुष्यमित्र तक पहुँचाने के बाद 'हिमवन्त-थेरावली'—कार ने कलिंगदेश के राजवंश का वर्णन दिया है। हाथीगुफा के लेख से कलिंगचक्रवर्ती खारवेल का तो थोड़ा-बहुत परिचय विद्वानों को अवश्य मिला है, पर उसके वंश और उसकी संतति के विषय में अभी तक कुछ भी प्रामाणिक निर्णय

७७. 'अनेकान्त' वर्ष १ / किरण ४ / फाल्गुन, वीर नि० सं० २४५६ / पृ. २२६-२२९।

नहीं हुआ था। हाथीगुफा-लेख के “चेतवसवधनस’ इस उल्लेख से कोई-कोई विद्वान् खारवेल को ‘चैत्रवंशीय’ समझते थे, तब कोई उसे ‘चेदिवंश’ का राजा कहते थे। हमारे प्रस्तुत थेरावली-कार ने इस विषय को बिलकुल स्पष्ट कर दिया है। थेरावली के लेखानुसार खारवेल न तो ‘चैत्रवंश्य’ था और न ‘चेदिवंश्य’, किन्तु वह ‘चेदवंश्य’, था। क्योंकि वह वैशाली के प्रसिद्ध राजा ‘चेटक’ के पुत्र कलिंगराज ‘शोभनराय’ की वंश-परम्परा में जन्मा था।

“अजातशत्रु के साथ की लड़ाई में चेटक के मरने पर उसका पुत्र शोभनराय वहाँ से भाग कर किस प्रकार कलिंगराजा के पास गया और वह कलिंग का राजा हुआ इत्यादि वृत्तान्त थेरावली के शब्दों में नीचे लिखे देते हैं, विद्वान् गण देखेंगे कि कैसी अपूर्व हकीकत है।

“वैशाली का राजा चेटक तीर्थंकर महावीर का उत्कृष्ट श्रमणोपासक था। चम्पानगरी का अधिपति राजा कोणिक, जो कि चेटक का भानजा था (अन्य श्वेताम्बरजैन-सम्प्रदाय के ग्रन्थों में कोणिक को चेटक का दौहिता लिखा है) वैशाली पर चढ़ आया और लड़ाई में चेटक को हरा दिया। लड़ाई में हारने के बाद अन्नजल का त्याग कर राजा चेटक स्वर्गवासी हुआ।

“चेटक का शोभनराय नाम का एक पुत्र वहाँ (वैशाली नगरी) से भागकर अपने श्वशुर कलिंगाधिपति ‘सुलोचन’ की शरण में गया। सुलोचन के पुत्र नहीं था, इसलिये अपने दामाद शोभनराय को कलिंगदेश का राज्यासन देकर वह स्वर्गवासी हुआ।

“भगवान् महावीर के निर्वाण के बाद अठारह वर्ष बीते, तब शोभनराय का कलिंग की राजधानी कनकपुर^{७८} में राज्याभिषेक हुआ। शोभनराय जैनधर्म का उपासक था, वह कलिंग देश में तीर्थस्वरूप कुमारपर्वत पर यात्रा करके उत्कृष्ट श्रावक बन गया था।

“शोभनराय के वंश में, पांचवीं पीढ़ी में, ‘चण्डराय’ नामक राजा हुआ, जो महावीर के निर्वाण से १४९ वर्ष बीतने पर कलिंग के राज्यासन पर बैठा था।

“चण्डराय के समय में पाटलिपुत्र नगर में आठवाँ नन्दराजा राज्य करता था, जो मिथ्याधर्मी और अतिलोभी था। वह कलिंगदेश को नष्ट-भ्रष्ट करके तीर्थस्वरूप कुमारगिरि पर श्रेणिक के बनवाये हुए जिनमन्दिर को तोड़ उसमें रही हुई ऋषभदेव की सुवर्णमयी प्रतिमा को उठाकर पाटलिपुत्र में ले आया।

७८. “अन्य जैन शास्त्रों में भी “कंचणपुरं कलिंगा” इत्यादि उल्लेखों में कलिंग देश की राजधानी का नाम ‘कञ्चनपुर’ (कनकपुर) ही लिखा है।” लेखक ।

“इसके बाद शोभनराय की ८वीं पीढ़ी में क्षेमराज^{७९} नामक कलिंग का राजा हुआ, वीरनिर्वाण के बाद २२७ (दो सौ सत्ताईस) वर्ष पूरे हुए, तब कलिंग के राज्यासन पर क्षेमराज का अभिषेक हुआ और निर्वाण से २३९ (दो सौ उनतालीस) वर्ष बीते, तब मगधाधिपति अशोक ने कलिंग पर चढ़ाई की^{८०} और वहाँ के राजा क्षेमराज को अपनी आज्ञा मनाकर वहाँ पर उसने अपना गुप्त संवत्सर चलाया।^{८१}

“महावीर निर्वाण से २७५ (दो सौ पचहत्तर) वर्ष के बाद क्षेमराज का पुत्र बुट्टराज^{८२} कलिंगदेश का राजा हुआ, बुट्टराज जैनधर्म का परम उपासक था, उसने कुमारगिरि और कुमारीगिरि नामक^{८३} दो पर्वतों पर श्रमण और निर्ग्रन्थियों के चातुर्मास्य करने योग्य ११ ग्यारह गुफायें खुदवाई थीं।

“भगवान् महावीर के निर्वाण को ३०० (तीन सौ) वर्ष पूरे हुये तब बुट्टराज का पुत्र भिक्खुराय कलिंग का राजा हुआ। भिक्खुराय के नीचे लिखे तीन नाम कहे जाते हैं—निर्ग्रन्थ भिक्षुओं की भक्ति करनेवाला होने से उसका एक नाम भिक्खुराय था। पूर्वपरम्परागत महामेष नाम का हाथी उसका वाहन होने से उसका दूसरा नाम

७९. “हाथीगुफावाले खारवेल के शिलालेख में भी पंक्ति १६वीं में ‘खेमराजा स’ इस प्रकार खारवेल के पूर्वज के तौर से क्षेमराज का नामोल्लेख किया है।” लेखक।
८०. “कलिंग पर चढ़ाई करने का जिकर अशोक के शिलालेख में भी है, पर वहाँ पर अशोक के राज्याभिषेक के आठवें वर्ष के बाद कलिंगविजय करना लिखा है। राज्य प्राप्ति के बाद ३ या ४ वर्ष पीछे अशोक का राज्याभिषेक हुआ मान लेने पर कलिंग का युद्ध अशोक के राज्य के १२-१३ वें वर्ष में आयेगा। थेरावली में अशोक की राज्यप्राप्ति निर्वाण से २०९ वर्ष के बाद लिखी है, अर्थात् २१० में इसे राज्याधिकार मिला और २३९ में कलिंग विजय किया। इस हिसाब से कलिंग-विजयवाली घटना अशोक के राज्य के ३० वें वर्ष के अन्त में आती है, जो कि शिलालेख से मेल नहीं खाती।” लेखक।
८१. “अशोक के गुप्तसंवत्सर चलाने की बात ठीक नहीं जँचती। मालूम होता है, थेरावली-लेखक ने अपने समय में प्रचलित गुप्त राजाओं के चलाये गुप्तसंवत् को अशोक का चलाया हुआ मान लेने का धोखा खाया है। इसी उल्लेख से इसकी अतिप्राचीनता के सम्बन्ध में भी शंका पैदा होती है।” लेखक।
८२. “बुट्टराज का भी खारवेल के हाथीगुफावाले लेख में ‘वट्टराजा स’ इस प्रकार का उल्लेख है।”
८३. “उड़ीसा प्रान्त में भुवनेश्वर के निकट के ‘खण्डगिरि’ और ‘उदयगिरि’ पर्वत ही विक्रम की १० वीं तथा ११ वीं शताब्दी तक क्रमशः ‘कुमरगिरि’ और ‘कुमारीगिरि’ कहलाते थे।” लेखक।

‘महामेघवाहन’ था। उसकी राजधानी समुद्र के किनारे पर होने से उसका तीसरा नाम ‘खारवेलधिपति’ था।^{८४}

“भिक्षुराज अतिशय पराक्रमी और अपनी हाथी आदि की सेना से पृथ्वीमण्डल का विजेता था, उसने मगध देश के राजा पुष्यमित्र^{८५} को पराजित करके अपनी आज्ञा मनाई, पहिले नन्दराजा ऋषभदेव की जिस प्रतिमा को उठा कर ले गया था, उसे वह पाटलिपुत्र नगर से वापिस अपनी राजधानी में ले गया^{८६} और कुमरगिरि तीर्थ में श्रेणिक के बनवाये हुए जिन-मन्दिर का पुनरुद्धार करके आर्य सुहस्ती के शिष्य सुस्थित-सुप्रतिबुद्ध नाम के स्थविरों के हाथ से उसे फिर प्रतिष्ठित कराकर उस में स्थापित की।

“पहिले जो बारह वर्ष तक दुष्काल पड़ा था, उसमें आर्यमहागिरि और आर्यसुहस्ती के अनेक शिष्य शुद्ध आहार न मिलने के कारण कुमरगिरि नामक तीर्थ में अनशन करके शरीर छोड़ चुके थे, उसी दुष्काल के प्रभाव से तीर्थकरों के गणधरों द्वारा प्ररूपित बहुतेरे सिद्धान्त भी नष्टप्राय हो गये थे, यह जानकर भिक्खुराय ने जैनसिद्धान्तों का संग्रह और जैनधर्म का विस्तार करने के वास्ते सम्प्रति राजा की तरह श्रमण निर्ग्रन्थ तथा निर्ग्रन्थियों की एक सभा वहीं कुमारी पर्वत नामक तीर्थ पर इकट्ठी की, जिसमें आर्य महागिरि जी की परम्परा के बलिस्सह, बोधिलिंग, देवाचार्य, धर्मसेनाचार्य, नक्षत्राचार्य आदिक २०० (दो सौ) जिनकल्प की तुलना करनेवाले जिनकल्पी साधु तथा आर्य सुस्थित, आर्य सुप्रतिबुद्ध, उमास्वाति,^{८७} श्यामाचार्य प्रभृति ३०० (तीन सौ) स्थविरकल्पी निर्ग्रन्थ उस सभा में आये। आर्या पोइणी आदिक ३०० (तीन सौ) निर्ग्रन्थी साध्वियाँ भी वहाँ इकट्ठी हुई थीं। भिक्खुराय, सीवंद, चूर्णक, सेलक आदि ७०० (सात सौ) श्रमणोपासक और भिक्खुराय की स्त्री पूर्णमित्रा आदि सात सौ श्राविकायें, ये सब उस सभा में उपस्थित थे।

८४. “हाथीगुफावाले लेख में भी ‘भिक्षुराजा’, ‘महामेघवाहन’ और ‘खारवेलसिरि’ इन तीनों नामों का प्रयोग खारवेल के लिये हुआ है।” लेखक।

८५. “खारवेल के शिलालेख में भी मगध के राजा वृहस्पतिमित्र को जीतने का उल्लेख है।” लेखक।

८६. “नन्दराजा द्वारा ले जाई गई जिनमूर्ति को वापिस कलिंग में ले जाने का हाथीगुफा-लेख में नीचे लिखे अनुसार स्पष्ट उल्लेख है—“नन्दराजनीतं च कालिंगजिनं संनिवेशं --- गहरतनान पडिहारेहि अंगमागध-वसुं च नेयाति (।)” (हाथीगुफालेख पंक्ति १२वीं, बिहार-ओरिसा जर्नल, वाल्युम ४, भाग ४)।” लेखक।

८७. “तत्त्वार्थसूत्र के कर्ता ‘उमास्वाति’ भी भिक्खुराय खारवेल की इस सभा में उपस्थित थे, यह बात बहुत ही संदिग्ध तथा आपत्ति के योग्य जान पड़ती है।” सम्पादक।

“पुत्र, पौत्र और रानियों के परिवार से सुशोभित भिक्खुराय ने सब निर्ग्रन्थों और निर्ग्रन्थियों को नमस्कार करके कहा, “हे महानुभावो! अब आप वर्धमान-तीर्थकर-प्ररूपित जैनधर्म की उन्नति और विस्तार करने के लिये सर्वशक्ति से उद्यमवन्त हो जायें।”

“भिक्खुराय के उपर्युक्त प्रस्ताव पर सर्व निर्ग्रन्थ और निर्ग्रन्थियों ने अपनी सम्मति प्रकट की और भिक्षुराज से पूजित, सत्कृत और सम्मानित निर्ग्रन्थ और निर्ग्रन्थियाँ मगध, मधुरा, वंग, आदि देशों में तीर्थकरप्रणीत धर्म की उन्नति के लिये निकल पड़े।

“उसके बाद भिक्खुराय ने कुमारगिरि और कुमारीगिरि नामक पर्वतों पर जिनप्रतिमाओं से शोभित अनेक गुफायें खुदवाईं, वहाँ जिनकल्प की तुलना करनेवाले निर्ग्रन्थ वर्षाकाल में कुमारीपर्वत की गुफाओं में रहते और जो स्थविरकल्पी निर्ग्रन्थ होते, वे कुमरपर्वत की गुफाओं में वर्षाकाल में रहते, इस प्रकार भिक्खुराय ने निर्ग्रन्थों के रहने के वास्ते विभिन्न व्यवस्था कर दी थी।

“उपर्युक्त सर्व व्यवस्था से कृतार्थ हुए भिक्खुराय ने बलिस्सह, उमास्वाति, श्यामाचार्यादिक स्थविरों को नमस्कार करके जिनागमों में मुकुटतुल्य दृष्टिवाद-अंग का संग्रह करने के लिये प्रार्थना की।

“भिक्खुराय की प्रेरणा से पूर्वोक्त स्थविर आचार्यों ने अवशिष्ट दृष्टिवाद को श्रमण समुदाय से थोड़ा-थोड़ा एकत्र कर भोजपत्र, ताड़पत्र और बल्कल पर अक्षरों से लिपिबद्ध करके भिक्खुराय के मनोरथ पूर्ण किये और इस प्रकार करके वे आर्य सुधर्म-रचित द्वादशांगी के संरक्षक हुए।

“उसी प्रसंग पर श्यामाचार्य ने निर्ग्रन्थ साधु-साध्वियों के सुखबोधार्थ ‘पन्नवणा सूत्र’ की रचना की।^{८८}

“स्थविर श्री उमास्वाति जी ने उसी उद्देश से निर्युक्ति-सहित ‘तत्त्वार्थसूत्र’ की रचना की।^{८९}

“स्थविर आर्य बलिस्सह ने विद्याप्रवादपूर्व में से ‘अंगविद्या’ आदि शास्त्रों की रचना की।^{९०}

८८. “श्यामाचार्यकृत ‘पन्नवणा’ सूत्र अब तक विद्यमान है।” लेखक।

८९. “उमास्वातिकृत ‘तत्त्वार्थसूत्र’ और इसका स्वोपज्ञ ‘भाष्य’ अभी तक विद्यमान हैं। यहाँ पर उल्लिखित ‘निर्युक्ति’ शब्द संभवतः इस भाष्य के ही अर्थ में प्रयुक्त हुआ जान पड़ता है।” लेखक।

९०. “अंगविद्या प्रकीर्णक भी हाल तक मौजूद है। कोई १००० (नौ हजार) श्लोक प्रमाण का यह प्राकृत गद्य-पद्य में लिखा हुआ ‘सामुद्रिक विद्या’ का ग्रन्थ है।” लेखक।

“इस प्रकार जिनशासन की उन्नति करनेवाला भिक्खुराय अनेकविध धर्मकार्य करके महावीर निर्वाण से ३३० (तीन सौ तीस) वर्षों के बाद स्वर्गवासी हुआ।

“भिक्खुराय के बाद उसका पुत्र ‘वक्रराय’ कलिंग का अधिपति हुआ।^{९१} वक्रराय भी जैनधर्म का अनुयायी और उन्नति करनेवाला था। धर्माराम और समाधि के साथ यह वीर निर्वाण से ३६२ (तीन सौ बासठ) वर्ष के बाद स्वर्गवासी हुआ। वक्रराय के बाद उसका पुत्र ‘विदुराय’ कलिंग देश का अधिपति हुआ।^{९२}

“विदुराय ने भी एकाग्रचित्त से जैनधर्म की आराधना की। निर्ग्रन्थ-समूह से प्रशंसित यह राजा महावीरनिर्वाण से ३९५ (तीन सौ पंचानवे) वर्ष के बाद स्वर्गवासी हुआ।”^{९३} (लेख समाप्त)

६.२. द्वितीय लेख

(ज्ञातव्य—इस लेख में दी गयीं पादटिप्पणियाँ इसी लेख के लेखक की तथा कतिपय ‘अनेकान्त’ के सम्पादक पं० जुगलकिशोर मुख्तार की हैं। पादटिप्पणी के अन्त में ‘लेखक’ और ‘सम्पादक’ शब्द से इसका संकेत कर दिया गया है।)

राजा खारवेल और उसका वंश^{९४}

लेखक : श्री० बाबू कामताप्रसाद जी

“अनेकान्त’ की ४थी किरण (पृष्ठ २२६-२२९) में उक्त शीर्षक के नीचे मुनि कल्याणविजय जी (श्वे०) ने राजा खारवेल के वंश का कुछ परिचय कराया है।

९१. “कलिंग देश के उदयगिरि पर्वत की मानिकपुर गुफा के एक द्वार पर खुदा हुआ ‘वक्रदेव’ के नाम का शिलालेख मिला है, जो इसी ‘वक्रराय’ का है। लेख नीचे दिया जाता है—“वेरस महाराजस कलिंगाधिपतिनो महामेघवाहन ‘वक्रदेवसिरि’ नो लेणं” (मुनि जिन-विजयसंपादित प्राचीन जैनलेखसंग्रह / भा.१/ पृ.४९)।” लेखक।
९२. “उदयगिरि की मञ्जपुरी गुफा के सातवें कमरे में ‘विदुराय’ के नाम का एक छोटा लेख है, उसमें लिखा है कि यह ‘लयन’ (गुफा) कुमार विदुराव का है। लेख के मूल शब्द नीचे दिये जाते हैं—‘कुमार वदुरवस लेन’ (एपिग्राफिका इंडिका जिल्द १३)।” लेखक।
९३. “कुछ महीनों पहिले ‘हिमवंत थेरावली’ नामक एक प्राकृत-भाषामयी प्राचीन स्थविरावली का गुजराती अनुवाद मेरे देखने में आया था, जिसका परिचय मैंने अपने (अप्रकाशित) निबन्ध ‘वीर संवत् और जैन कालगणना’ के अन्त में परिशिष्ट के तौर पर दिया है, उसी परिशिष्ट में ‘राजा खारवेल और उसका वंश’ यह एक प्रकरण है।” लेखक।
९४. ‘अनेकान्त’/ वर्ष १/ किरण ५/ चैत्र, वीर नि.सं.२४५६/ पृ. २९७-३०१।

उसमें मान्य लेखक ने हाथीगुफा के लेख में आये हुए 'चेतवसवधनस' (अब इस वाक्य को मि० जायसवाल ने 'चेतिराजवसवधनेन' पढ़ा है और उन्हें 'चेति' अथवा 'चेदि' वंशज बताया है) वाक्य से जो विद्वान् उन्हें 'चैत्र' अथवा 'चेदि'-वंशज बतलाते हैं, उनसे अहसमतता प्रकट की है, क्योंकि मुनि जी को कहीं से एक 'हिमवंत-थेरावली' नामक श्वेताम्बर-पट्टावली मिल गई है और उस में राजा खारवेल को लिच्छिविसंघ के राष्ट्रपति राजा चेटक का वंशज प्रगट किया है। इस थेरावली की प्रामाणिकता और प्राचीनता के विषय में न तो मुनि जी ने ही कुछ लिखा है और न संपादक महोदय ने ही कुछ छानबीन की है।^{९५} इस साहित्यिक डाकेजनी के जमाने में इस प्रकार एक शिलालेख की सब बातों से मेल खानेवाले साहित्य का यकायक निकल आना, कुछ आश्चर्य की बात नहीं है। सो भी उस दशा में जब कि श्वेताम्बर और दिगम्बर सम्प्रदायों में पवित्र तीर्थों के नाम पर झगड़े चल रहे हैं और श्वेताम्बर-सम्प्रदाय की ओर से पहले भी जाली दस्तावेजें पेश की जा चुकी हैं, जैसे कि शिखरजी-केस के 'जजमेन्ट' से प्रकट है।^{९६} अत एव उक्त थेरावली के परिचय को बिलकुल गुप्त रखते हुए उसकी कुछ बातों को बिना कोई विशेष शोध-परिशोध किये ही एकदम प्रकट कर देना कुछ ठीक नहीं जँचता।^{९७} वह थेरावली किस आचार्य ने किस जमाने में लिखी, उसकी प्रतियाँ कहाँ-कहाँ किस रूप में मिलती हैं और ग्रन्थ के जाली न होने में कोई सन्देह तो नहीं, ये सब बातें जब तक प्रकट न हों, तब तक इस थेरावली पर विश्वास किया जाना कठिन है। निम्न बातों को देखते हुये तो यह थेरावली जाली प्रतीत होती है अथवा उस पर जाली होने का बहुत बड़ा सन्देह पैदा होता है—

“१. थेरावली में राजा चेटक के वंश का जो परिचय दिया है, वह अन्यत्र कहीं नहीं मिलता। कम से कम दिगम्बरजैन-शास्त्रों में उसका उल्लेख नहीं है और जहाँ तक मुझे श्वेताम्बरशास्त्रों का परिचय है, मैं कहने को बाध्य हूँ कि उनमें भी ऐसा वर्णन शायद ही मिले।

९५. “छानबीन चल रही है। नतीजा निकलने पर प्रकट किया जायगा। अभी तक मूल ग्रन्थ या उसका अनुवाद भी प्राप्त नहीं हो सका।” सम्पादक।

९६. “They (Fermans) will appear to be matlabi on the face of them and to have been got up for the purpose of disputes., (P.H.Judg., p. 32)” लेखक।

९७. “एक विद्वान् को जो बातें जिस रूप में कहीं से प्राप्त हों, उन्हें उस रूप में विशेष अनुसंधान को उत्तेजन देने के लिये प्रकट कर देना तो कुछ आपत्ति के योग्य मालूम नहीं होता। विशेष जाँच-पड़ताल अधिक समय तथा साधना-सामग्री की अपेक्षा रखती है और वह प्रायः बाद को अनेक विद्वानों के सहयोग से हो पाती है।” सम्पादक।

“२. थेरावली का जो अंश प्रकट हुआ है, उससे मालूम होता है कि उसमें तत्कालीन भारत के अन्य राज्यों का भी पूर्ण वर्णन होगा। यदि यह बात है, तो बिना किसी अधिक विलम्ब के उक्त थेरावली को पूर्णतः प्रकट करना चाहिए। फिर भी जो अंश प्रकट हुआ है उसका सामञ्जस्य केवल जैनशास्त्रों से ही ठीक नहीं बैठता, बल्कि जैनतर साहित्य से भी वह बाधित है, जैसा कि आगे चल कर प्रकट होगा। और यदि उसमें उक्त राजवंश के वर्णन के अतिरिक्त अन्य किसी राजवंश का वर्णन नहीं है, तो उसे सहसा स्वीकार कर लेना सुगम नहीं है।

“३. राजा चेटक के नाम की अपेक्षा किसी ‘चेट’ वंश का अस्तित्व इससे पहले के किसी साहित्यग्रंथ या शिलालेख से प्रकट नहीं है। और चेटक का वंश ‘लिच्छिवि’ प्रसिद्ध था, जो उत्तर भारत में गुप्तकाल तक विद्यमान रहा, यह बात निर्विवाद सिद्ध है। गुप्तवंशीय चन्द्रगुप्त प्रथम का विवाह लिच्छिवि-वंशीय कुमारदेवी से हुआ था।^{१८} कौटिल्य ने सम्राट् चन्द्रगुप्त मौर्य के जमाने तक लिच्छिवि-वंशजों को उत्तर भारत में राज्याधिकारी लिखा है।^{१९} और इतिहास से यह पता चलता है कि अजातशत्रु के द्वारा परास्त किये जाने पर भी लिच्छिवि अपने राजसंघ के अस्तित्व को बनाये रख सके थे।^{२०} इसके साथ ही इतिहास और स्वयं श्वेताम्बर-ग्रन्थों से यह सिद्ध है कि चेटक कोई परम्परागत राजा नहीं था।^{२०} विदेहदेश में तब साम्राज्यवाद के स्थान पर एक प्रकार का प्रजातंत्रवाद प्रचलित था। चेटक उस राष्ट्र के राष्ट्रपति नियुक्त थे।^{२०} अतः यह हार उनकी निजी न होकर राष्ट्र की थी और राष्ट्र का प्रत्येक प्रतिनिधि तब ‘राजा’ कहलाता था, यह बात भी स्पष्ट है। इस हालत में चेटक के पुत्र का भाग कर कलिंग पहुँचना और वहाँ पर नया राज्य और वंश स्थापित करना बाधित है। श्वेताम्बरीय शास्त्र ‘निर्यावली’ और ‘भगवती सूत्र’ में अजातशत्रु और चेटक की उक्त लड़ाई का वर्णन है। उसमें साफ लिखा है कि ‘चेटक ने इस आपत्ति को आया जान कर नौ मल्लिक, नौ लिच्छिवि और ४८ काशी-कौशल के गणराजों (गणरायालों) को तैयार किया।’^{२१} इससे स्पष्ट है कि इन गणराजों का नेतृत्व राजा चेटक ग्रहण किये हुए थे।

१८. भारत के प्राचीन राजवंश / भा.२ / पृ. २४२।

१९. “लिच्छिविक-वृजिक-मल्लिक-मद्रक-कुकुर-कुरु-पाञ्चालादयो-राजशब्दोपजीविनः संघाः”
इति कौटिल्यः।

१००. सम क्षत्री क्लैन्स इन ऐन्शियेन्ट इण्डिया / पृ. १३५-१३६।

१०१. भगवती ७-९ / इण्डियन ऐन्टीक्वेरी / भा.२१/ पृ.२१।

“४. चेटक का लिच्छिवि वंश पहले से ही बहुत प्रख्यात था और उस समय अन्य क्षत्रिय लोग उनसे विवाह-सम्बन्ध करने में अपना अहो-भाग्य समझते थे।^{१०२} इस दशा में यदि शोभनराय भाग कर कलिंग गया होता, तो उसने अपने इस सर्वमान्य वंश का नाम कदापि न पलटा होता और उसे अपने उस पिता के नाम में परिवर्तित न किया होता, जो कोई बहादुरी न दिखा कर उलटा मगधराज के हाथ अपना राज्य गँवा बैठा था।

“५. दिगम्बर जैनशास्त्र ‘उत्तरपुराण’ में राजा चेटक के दस पुत्र बतलाये हैं और उनके नाम ये दिये हैं—धनदत्त, धनभद्र, उपेन्द्र, सुदत्तवाक्, सिंहभद्र सुकुंभोज, अकंपन, सुपतंग, प्रभंजन और प्रभास (पृ. ६३४)। इसमें शोभनराय नामक कोई पुत्र नहीं है।

“६. दिगम्बरजैनग्रन्थ ‘हरिवंशपुराण’ से प्रकट है कि भगवान् महावीर के समय में कलिंग का राजा जितशत्रु था,^{१०३} सुलोचन नहीं था। अतः अन्य श्वेताम्बर और जैनेतर साहित्य से इस ‘सुलोचन’ का अस्तित्व जब तक प्रमाणित न हो जाय, तब तक उसको तत्कालीन कलिंगाधिपति स्वीकार करना कठिन है।

“७. उपर्युक्त प्रकार से इस थेरावली के प्रकट अंश के प्रारंभिक भाग की अनैतिहासिकता को देखते हुये, उसमें क्षेमराज, बुट्टराज, कुमारीगिरि आदि ऐतिहासिक पुरुषों तथा वार्ता का उल्लेख मिलना, उसके संदिग्ध रूप को असंदिग्ध नहीं बना देता। क्या यह संभव नहीं है कि खारवेल के अति प्राचीन शिलालेख को श्वेताम्बरसाहित्य से पोषण दिला कर उसे श्वेताम्बरीय प्रकट करने के लिए ही किसी ने इस थेरावली की रचना कर डाली हो और वही रचना किसी शास्त्रभण्डार से उक्त मुनिजी को मिल गई हो?^{१०४} इस बात को संभवनीय हम इस कारण और मानते हैं कि इसमें शिलालेख के पिछले रूप के अनुसार कई उल्लेख हैं, परंतु अब विद्वानों ने उन अंशों को दूसरे रूप में पढ़ा है।^{१०५} जैसे कि थेरावली में ‘खारवेलधिपति’ नाम मात्र एक उपाधि रूप में है, परंतु अब वह खास नाम प्रकट हुआ है।^{१०६} शिलालेख में खारवेल ने एक वृहस्पतिमित्र राजा को परास्त किया लिखा है। इस वृहस्पतिमित्र को ही

१०२. भगवान् महावीर / पृ. ५७।

१०३. भगवान् महावीर और महात्मा बुद्ध / पृ. ४३।

१०४. “मुनि जी को अभी तक मूल ग्रन्थ की प्राप्ति नहीं हुई। उन्होंने उसके गुजराती अनुवाद पर से ही वह लेख लिखा है, जिसकी सूचना लेख के अन्तिम फुटनोट में पाई जाती है, और अपने १९ फरवरी के पत्र में वे मुझे भी लिख रहे हैं। वह अनुवाद ‘अंचलगच्छनी म्होटी पट्टावली’ में छपा है।” सम्पादक।

१०५. “उनका वह हाल का पढ़ना ही ठीक है, यह अभी कैसे मान लिया जाय?” सम्पादक।

१०६. JBORS. IV, p. 434.

मि० जायसवाल पुष्यमित्र मानते हैं।^{१०७} थेरावली में स्पष्टतः पुष्यमित्र का नामोल्लेख कर दिया गया है। किन्तु अब विद्वान् वृहस्पतिमित्र को पुष्यमित्र मानने के लिए तैयार नहीं हैं।^{१०८} इसी प्रकार दृष्टिवाद अंग के पुनरुत्थान किये जाने की बात भी अब असंगत है, क्योंकि कोई-कोई विद्वान् उसे विपाकसूत्र ग्रन्थ बतलाते हैं, जो दिगम्बरमतानुसार विलुप्त है और श्वेताम्बरों में मिलता है।^{१०९}

“८. थेरावली द्वारा प्रकट किया गया है कि कुमारगिरि पर खारवेल ने आर्य सुस्थित और सुप्रतिबुद्ध नामक स्थविरों के हाथ से जिनमन्दिर का पुनरुद्धार कराके प्रतिष्ठा कराई और उसमें जिन की मूर्ति स्थापित कराई। साथ ही, वीर निर्वाण से ३३० वर्षों के बाद ये सब कार्य करके खारवेल को स्वर्गवासी हुआ लिखा है। किन्तु श्वेताम्बरीय तपागच्छ की 'वृद्ध पट्टावली' से यह बात बाधित है। उसके अनुसार उक्त स्थविरद्वय का समय वीर निर्वाण से ३७२ वर्ष बाद का है।^{११०} इस हालत में खारवेल का उनसे साक्षात् होना कठिन है।^{१११} अतः हो सकता है कि यह बात मात्र इस गर्ज से लिखी गई हो कि उक्त तीर्थ को किसी समय श्वेताम्बरों का सिद्ध किया जा सके।

“९. इसी प्रकार खारवेल द्वारा एकत्र की गई सभा में देवाचार्य, बुद्धिलिंगाचार्य, धर्मसेनाचार्य तथा नक्षत्राचार्य का सम्मिलित होना भी असंभव है, क्योंकि ये आचार्य कोई श्वेताम्बराचार्य तो थे नहीं, श्वे० पट्टावली में तो ये नाम देखने को भी नहीं मिलते। हाँ, दिगम्बर पट्टावली में ये नाम अवश्य पाये जाते हैं। किन्तु यहाँ ये सब आचार्य समकालीन प्रकट नहीं किये गये हैं। इनका समय एक दूसरे से नितान्त भिन्न है। धर्मसेनाचार्य वीर नि० सं० ३२९ और नक्षत्राचार्य ३४५ में हुए बतलाये गये हैं।^{११२} अतः उक्त थेरावली के अनुसार दिगम्बराचार्य धर्मसेनाचार्य ही केवल उस सभा में उपस्थित हुए कहे जा सकते हैं।^{११३} इन सब आचार्यों को थेरावली भी दिगम्बर

१०७. Ibid. p. 442.

१०८. Indian Historical Quarterly , Vol. V, p. 587-613.

१०९. Ibid. p. 592.

११०. जैन साहित्य संशोधक / भाग १/ परिशिष्ट पृ. ९।

१११. “भले ही कठिन जान पड़े, किन्तु असंभव नहीं है, क्योंकि उक्त ३७२ वर्ष का समय सुस्थित- सूरि के स्वर्गारोहण का समय है। उससे ५०-६० वर्ष पहले उनका मौजूद होना कोई आश्चर्य की बात नहीं है। उनके गुरु सुहस्ती की आयु तो पट्टावली में ही १०० वर्ष की लिखी है।” सम्पादक।

११२. Indian Antiquary, XX, pp. 345-346.

११३. “यह सब निर्णय ठीक नहीं है, क्योंकि इन आचार्यों के दशपूर्वादि के पाठी होने का समय भिन्न होने पर भी इनका समकालीन होना कोई बाधक मालूम नहीं होता।

(जिनकल्पी) प्रकट करती है। रही बात सवस्त्र साधुओं की, सो थेरावली में सुस्थित, सुप्रतिबुद्ध, उमास्वाति व श्यामाचार्य प्रभृति बताए हैं। इनमें से पहले दो इस सभा में शामिल नहीं हो सकते, यह हम देख चुके (!)। रहे शेष दो, सो ये भी उक्त सभा में नहीं पहुँच सकते, क्योंकि उमास्वाति इस घटना के कई शताब्दी बाद हुए हैं और श्यामाचार्य उनसे भी पीछे के आचार्य मालूम होते हैं। अतः थेरावली का यह वक्तव्य प्रामाणिक नहीं है।

“इन सब बातों को देखते हुए ‘हिमवंत-थेरावली’ को एक प्रामाणिक ग्रन्थ मान लेना सत्य का खून करना है और इस हालत में उसमें बताया हुआ खारवेल का वंशपरिचय भी ठीक नहीं माना जा सकता। अतः आइए पाठकगण, अब स्वाधीनरूप में^{११४} खारवेलसिरि के वंश का परिचय प्राप्त करें।

“सबसे पहले हाथीगुफावाले उनके शिलालेख को लीजिए। उसमें साफ तौर से उन्हें ‘ऐरेन महाराजेन महामेघवाहनेन चेतिराजवसवधनेना’---कलि (इ) ग अधि-पतिना सिरि खारवेलेन’ लिखा है। इसमें प्रयुक्त हुए ‘ऐरेन’ शब्द का भाव ‘ऐल-वंशज’ के रूप में और ‘ऐर’ (आर्य) रूप में भी लिया जाता है।^{११५} इनका ऐल-वंशज होना न केवल हिन्दूपुराणों से ही सिद्ध है, बल्कि दिगम्बर जैन हरिवंशपुराण के कथन से भी प्रमाणित है।^{११६} हिन्दूपुराणों के अनुसार ई० पू० २१३ के बाद जिन राजवंशों का वर्णन है, उनमें से एक का वर्णन निम्न प्रकार है—^{११७}

यह नहीं कहा जा सकता कि उक्त ज्ञान की प्राप्ति से पहले वे मुनि या आचार्यादि कुछ नहीं थे। बुद्धिलिंग को दशपूर्वज्ञान की प्राप्ति वीरनिर्वाण से २९५ वर्ष बाद हुई और २० वर्ष तक रही बतलाई गई है। उनके बाद देवाचार्य को यह सिद्धि हुई। और खारवेल की राज्यप्राप्ति थेरावलिकार ने वीरनिर्वाण से ३०० वर्ष बाद लिखी है। इससे खारवेल की सभा में इन दोनों आचार्यों की उपस्थिति बाधक नहीं हो सकती और नक्षत्राचार्य भी एकादशांग ज्ञान की प्राप्ति से पहले उस सभा में सम्मिलित हो सकते हैं। लेखक महाशय ने यों ही बिना अच्छी तरह से विचार किये, उनके समय को नितान्त भिन्न बतलाते हुए, उनके सम्मिलित होने को असंभव ठहराया है।” सम्पादक।

११४. “यहाँ ‘स्वाधीन’ शब्द का प्रयोग बड़ा ही बेढब जान पड़ता है। जिस परिचय के लिये लेखक महाशय खुद शिलालेख के आधुनिक रीडिंग, उसके अर्थों, पुराणों और दूसरे विद्वानों के वचनों का सहारा ले रहे हैं, उसे पाठकों को स्वाधीनरूप में प्राप्त कराना चाहते हैं, यह एक बड़ी ही विचित्र बात है।” सम्पादक।

११५. JBORS., IV, 1434-435.

११६. Ibid., XVIII, 277-279.

११७. Ibid., VI, 480-482.

१. यह कौशल (दक्षिण कौशल) का राजवंश था।
२. यह साधारणतः 'मेघ' (Meghas) (मेघा इति समाख्याताः) नाम से विख्यात था।
३. यह विशेष शक्तिवाला और विद्वान् था, और
४. इसके कुल नौ राजा थे।

“इस वंश का मेघ नाम खारवेल की मेघवाहन उपाधि का द्योतक है, यह मि० जायसवाल प्रकट करते हैं। इसका समर्थन एक प्राचीन उड़िया काव्य से होता है, जो 'इंडियन म्यूजियम' में मौजूद है। उसमें लिखा है कि 'कलिंग को मगध के नन्द राजाओं ने जीत लिया था, किन्तु बाद को ऐर राजा ने नन्द राजा को हरा कर उसका उद्धार किया। यह नन्द कट्टर वैदिक-धर्मावलम्बी था, किन्तु ऐर पाखण्डी था। ऐर का विरोध अशोक से भी विशेष था। पहले ऐर की राजधानी दक्षिण कौशल की कौशला नगरी थी, बाद को उन्होंने अपनी राजधानी खण्डगिरि पर बनाई।^{११८} इस उल्लेख से भी खारवेल के पूर्वजों का दक्षिण कौशल से आना सिद्ध होता है। और यह बात हिन्दू-पुराणों के उपर्युक्त उल्लेख के अनुकूल है। इसके अतिरिक्त ऐर अर्थ को पुष्ट करनेवाला कोई उल्लेख नहीं मिलता। हाँ, जैन हरिवंशपुराण से उत्तर कौशल के हरिवंशीय राजा दक्ष के द्वारा खारवेल का ऐलवंशज होना प्रकट है और यह भी प्रकट है कि उनके वंशज उत्तर से आकर दक्षिण की ओर विन्ध्याचल पर्वत के पृष्ठ भाग में चेदिराष्ट्र बना कर वहाँ शासन करने लगे थे। वह कथा इस प्रकार है—

“हरिवंशीय राजा दक्ष का एक ऐलेय नाम का पुत्र और मनोहरी नाम की सुन्दर कन्या थी। दक्ष मनोहरी पर आसक्त हो गया और उस नीच ने उसे अपनी पत्नी बना लिया। इस कारण रानी इला अपने पति से इस दुष्कर्म के कारण रुष्ट हो गई और अपने पुत्र ऐलेय को लेकर दूसरे देश को चली गई। ऐलेय दुर्ग देश में पहुँचा और वहाँ उसने 'इलावर्द्धन' नामक नगर स्थापित किया। इसके बाद वह अङ्गदेश में ताम्रलिप्ति नामक नगरी भी स्थापित करने में सफल हुआ। ऐलेय एक राजा बन गया और फिर वह दिग्विजय को निकला। इस दिग्विजय में ऐलेय ने नर्मदातट पर माहिष्मतीनगरी की नींव डाली। अन्त में वह दिगम्बर मुनि हो गया और उसका पुत्र कुणिम राजा हुआ। कुणिम ने विदर्भदेश में कुण्डिनपुर को बसाया। यह भी मुनि हो गया और इसके बाद पुलोम राजा हुआ, जिसने पुलोमपुर नगर बसाया। इसके

११८. Ibid., IV, 480-482.

उत्तराधिकारी इसके दो पुत्र, पौलोम और चरम हुये, जिन्होंने इन्द्रपुर की नींव डाली। इनकी सन्तान में बहुत राजाओं के बाद, जिनके नाम गिनाना फ़िजूल है, एक राजा अभिचन्द्र हुआ। इसने विन्ध्याचल पर्वत के पृष्ठ भाग में चेदिराष्ट्र की स्थापना की। इसकी रानी उग्रवंशी वसुमती नामक थी।" (हरिवंशपुराण/सर्ग १७/श्लोक १-३९)।

“इस कथन से राजा खारवेल के वंश का ठीक परिचय मिलता है और इसके अनुसार उनकी ऐर उपाधि का अर्थ ऐलवंशज होना ठीक है। तथापि ऐलवंशज अभिचन्द्र ने ही चेदिराष्ट्र की स्थापना की, इसलिये खारवेल का चेतिराजवसवधेन होना ठीक ही है, क्योंकि उनके पूर्वज विन्ध्याचल पर्वत के निकटवर्ती महाकौशल से आये थे, और वे चेदिराष्ट्र के उत्तराधिकारी थे। अतः ‘हिमवंत-थेरावली’ के अनुसार राजा खारवेल का जो वंशपरिचय उपस्थित किया गया है, वह ठीक नहीं है। उसके स्थान पर उक्त प्रकार से जो दिगम्बर जैनपुराण, हिन्दू-पुराण और स्वयं खारवेल के शिलालेख के अनुसार वंशवर्णन किया गया है वह विशेष प्रामाणिक है, अर्थात् उत्तर कौशल के राजपुत्र ऐलेय हरिवंशी की सन्तान चेदिकुल की जो थी, और जो विन्ध्याचल के पास दक्षिण कौशल में आ रही थी, उसी के वंशज खारवेल थे। ता.१७-३-१९३०। (लेख समाप्त)।

६.३. उपर्युक्त लेख पर सम्पादकीय नोट^{११९}

लेखक : पं० जुगल किशोर मुख्तार

सम्पादक : ‘अनेकान्त’

“इस लेख की विचारसरणी, यद्यपि, बहुत कुछ स्खलित जान पड़ती है, सत्य की अपेक्षा साम्प्रदायिकता की रक्षा की ओर वह अधिक झुकी हुई है और इसी से इसमें कितनी ही विवादस्थ-अनिर्णीत बातों अथवा दूसरे विद्वानों के कथनों को, जिन्हें अपने अनुकूल समझा, यों ही, बिना उनकी खुली जाँच किये, एक अटल सत्य के तौर पर मान लिया गया है, और जिन्हें प्रतिकूल समझा, उन्हें या तो पूर्णतया छोड़ दिया गया है और या उनके उतने अंश से ही उपेक्षा धारण की गई है, जो अपने विरुद्ध पड़ता था। और इसका कुछ आभास पाठकों को सम्पादकीय फुटनोटों से भी मिल सकेगा। फिर भी इस लेख पर से उक्त ‘थेरावली’ की स्थिति संदिग्ध जरूर हो जाती है, भले ही उसे अभी जाली न कहा जा सके, और इस बात की खास जरूरत जान पड़ती है कि उसे जितना भी शीघ्र हो सके पूर्ण परिचय के साथ प्रकाश में लाया जाय। और इसलिये मुनि जी जैसे इतिहासप्रिय विद्वानों को उसके

लिये खास तौर से प्रयत्न करना चाहिए। उसके प्रकाश में आने पर ही उसके सब गुण-दोष खुल सकेंगे और यह भी मालूम हो सकेगा कि वह असली चीज है या नकली और जाली। श्रीयुत बा० काशीप्रसाद जी जायसवाल भी यथार्थ निर्णय के लिये उसकी मूल प्रति को जल्दी देखना चाहते हैं। इस विषय में एक पत्र उनका मुनि जी के नाम भी आया था, जो उन्हें भिजवा दिया गया है।

“इसके सिवाय, मैं अपने पाठकों को इतना और बतला देना चाहता हूँ कि इस लेख के अंत में लेखक महाशय ने हरिवंशपुराण की जिस कथा में प्रयुक्त हुए ‘ऐलेय’ नाम के आधार पर खारवेल के वंश की कल्पना कर डाली है, वह मुनिसुव्रत भगवान् के तीर्थ की और इस लिये आज से ग्यारह लाख वर्ष से भी अधिक पहले की पुरानी बतलाई जाती है। ‘ऐलेय’ राजा मुनिसुव्रत भगवान् का प्रपौत्र था और इसलिये हरिवंशी था। उसकी वंशपरम्परा में जितने भी राजाओं का उल्लेख मिलता है, उन सबको हरिवंशी लिखा है, ऐलवंशी या ऐलेयवंशी किसी को भी नहीं लिखा और न इस नाम के वंश का शास्त्रों में कोई उल्लेख ही मिलता है। ऐसी हालत में महज शब्दछल को लिये हुए लेखक महाशय की यह कल्पना एक बड़ी ही विचित्र मालूम होती है, जिसका कहीं से भी कोई समर्थन नहीं होता। जब तक आप प्राचीन साहित्य पर से स्पष्ट रूप में यह सिद्ध न कर दें कि ‘ऐल’ वंश भी कोई वंश था और राजा खारवेल उसी वंश में हुआ है, तब तक आपकी इस कल्पना का कुछ भी मूल्य मालूम नहीं होता। यह भी सोचने की बात है कि खारवेल यदि ऐलेय की वंशपरम्परा में होनेवाला हरिवंशी होता, तो वह अपने को ऐलवंशी कहने की अपेक्षा हरिवंशी कहने में ही अधिक गौरव मानता, जिस वंश में मुनिसुव्रत और नेमिनाथ जैसे तीर्थकरों का होना प्रसिद्ध है। और यदि ‘ऐलेय’ राजा के बाद वंश का नाम बदल गया होता, तो नेमिनाथ भी ऐलवंशी कहलाते, परन्तु ऐसा नहीं है, स्वामी समन्तभद्र जैसे प्राचीन आचार्य भी हरिवंशकेतुरनवद्यविनयदमतीर्थनायकः (स्वयंभू-स्तोत्र) जैसे विशेषणों के द्वारा उन्हें हरिवंशी ही प्रकट कर रहे हैं। अतः लेखक की उक्त कल्पना निर्मूल जान पड़ती है।”

६.४. थेरावली-विषयक विशेष सम्पादकीय नोट^{१२०}

लेखक : पं० जुगलकिशोर मुख्तार

सम्पादक : ‘अनेकान्त’

“पिछले नोट को प्रेस में देने और उसके कम्पोज हो जाने के बाद ‘हिमवन्त थेरावली’ के गुजराती अनुवाद को अंचल-गच्छ की पट्टावली में प्रकाशित करनेवाले

१२०. ‘अनेकान्त’ / वर्ष १ / किरण ५ / चैत्र, वीर नि.सं. २४५६ / पृ. ३०३

पं० हीरालाल हंसराज जी जामनगरवालों की ओर से प्राप्त हुए उत्तरपत्र से मालूम हुआ कि हिमवन्तसूरि-कृत मूल थेरावली भी अब भाषान्तर-सहित छप रही है। इससे उसके शीघ्र प्रकट हो जाने की आशा है। साथ ही, श्वेताम्बर-समाज के प्रसिद्ध विद्वान् श्रीमान् पं० सुखलाल जी से, जो इस समय आश्रम में तशरीफ रखते हैं, मालूम हुआ कि उन्होंने सन्देह होने पर थेरावली के अनुवाद उक्त पं० हीरालाल हंसराज जी से ग्रंथ की मूल प्राचीन प्रति की बाबत दर्याप्त किया था और यह भी पूछा था कि अनुवाद के साथ में कुछ गाथाएँ देकर जो व्याख्या की गई है, वह व्याख्या उनकी निजी है या किसी टीका का अनुवाद है? उत्तर में उनके यह लिखने पर कि वह व्याख्या टीका का ही अनुवाद है और मूल प्रति कच्छ के अंचलगच्छीय धर्मसागर जी के भण्डार में मौजूद है, जो नागौर या बीकानेर से वहाँ पहुँची है, उस भंडार से इसकी प्राप्ति के लिये कोशिश की गई। परन्तु अनेक मार्गों से छह सात महीने तक बराबर प्रयत्न करने पर भी वह मूल प्रति अभी तक देखने को नहीं मिल सकी और न यही मालूम हो सका कि वह प्रति वहाँ मौजूद भी है या कि नहीं। अन्यत्र भी तलाश जारी है। ऐसी हालत में जब तक मूल प्रति देखने को न मिल जाय और उस पर से ग्रंथ के असली होने का निश्चय न हो जाय, तब तक उसके प्रकाशित होने पर भी उस पर सहसा विश्वास नहीं किया जा सकता, ऐसी उनकी तथा पं० बेचरदास जी और जिनविजय जी की राय है। और यह ठीक ही है। सत्य के निर्णयार्थ मूल प्रति के दिखलाने में किसी को भी संकोच न होना चाहिये। तद्विषयक सन्देह को दूर करना उसके प्रकाशकों का पहला कर्तव्य है।”

६.५. तृतीय लेख

(ज्ञातव्य-इस लेख में दी गयीं पादटिप्पणियाँ इसी लेख के लेखक की तथा कतिपय ‘अनेकान्त’ के सम्पादक पं० जुगलकिशोर मुख्तार की हैं। पादटिप्पणी के अन्त में ‘लेखक’ और ‘सम्पादक’ शब्द से इसका संकेत कर दिया गया है।)

राजा खारवेल और हिमवन्त-थेरावली^{१२१}

लेखक : मुनि श्री० कल्याणविजय जी

“अनेकान्त की ४थी किरण में ‘राजा खारवेल और उसका वंश’ इस हैडिंग से हमारा एक लेख छपा है, जो कलिंग चक्रवर्ती महाराज खारवेल के जीवनवृत्तान्त से संबद्ध है। इस लेख का आधार ‘हिमवन्त थेरावली’ का गुजराती अनुवाद है, यह बात हमने उसी लेख के अन्त में फुटनोट देकर स्पष्ट कर दी है।

१२१. ‘अनेकान्त’ वर्ष १/ किरण ६-७/ वैशाख-ज्येष्ठ, वीर नि० सं० २४५६/ पृ. ३४२-३५०।

“इस विषय के अन्वेषक कतिपय विद्वानों के पत्रों से हमें ज्ञात हुआ कि उनको यह लेख बहुत ही पसन्द आया है। पर यह दुःख की बात है कि बा० कामताप्रसाद जी जैन को इस लेख से कुछ आघात पहुँचा मालूम होता है, जिस के परिणाम-स्वरूप आपने ‘अनेकान्त’ की ५ वीं किरण में इसके खण्डन में इसी शीर्षक से एक आक्षेपक लेख प्रकाशित कराया है।

“लेख के प्रारम्भ में ‘हिमवन्त थेरावली’ को जाली उठराने की धुन में आपने श्वेताम्बर जैन समाज पर जो आक्षेप किये हैं, उनका उत्तर देना इस लेख का विषय नहीं है, पर लेखक महाशय इतना समझ रखें कि जो दोषारोपण आप श्वेताम्बरसमाज पर करने जा रहे हैं, उससे कहीं अधिक दोषारोपण दिगम्बरसमाज पर भी हो सकता है, पर इस दोषदृष्टि में लाभ ही क्या है? इन दोषग्राहक-वृत्तियों से हमने हमारे समाज का जितना नुकसान किया है उतना शायद हमारे विरोधियों ने भी नहीं किया होगा। क्या ही अच्छा हो, यदि अब भी हम हमारे समानधर्मियों के ऊपर कीचड़ फेंकने के स्थान पर उनके साथ सहकार करना सीखें।

“लेखक की शिकायत यह है कि ‘हिमवन्त थेरावली’ की प्रामाणिकता और प्राचीनता की चर्चा किये बगैर उसमें लिखी हुई किसी भी हकीकत का प्रकाशित करना ठीक नहीं जँचता। क्या यह दलील है? भला जो कुछ ऐतिहासिक नई सामग्री उपलब्ध हो, उसको सत्य प्रमाणित किये बगैर विचारार्थ उपस्थित न किया जाय, तो उस पर ठीक विचार ही कैसे हो सकता है? खारवेल के हाथीगुफा के लेख का ही उदाहरण लीजिए, उसको अनेक विद्वानों ने पढ़ा और अपनी-अपनी समझ के अनुसार एक दूसरे की विचारधारा को बदल कर अपनी सम्मतियाँ कायम कीं। यही क्यों, एक-एक विद्वान् ने प्रत्येक बार अपने विचारों को किस प्रकार बदला और नये परिष्कार किये, यह बात कहने की शायद ही जरूरत होगी।

“दूसरी बात यह है कि हमारा उक्त लेख ‘हिमवन्त-थेरावली’-विषयक मौलिक लेख नहीं था कि उसमें हम अपना कुछ भी अभिप्राय देते, ‘वीर संवत् और जैन कालगणना’ नामक हमारा निबन्ध जो ‘नागरी प्रचारिणी पत्रिका’ में अभी छपा है, उसके पीछे इस थेरावली का सारांश परिशिष्ट के तौर पर दिया है, उसका यह एक अंश मात्र था, मूल लेख के साथ जो कुछ लिखना उचित था, वह हमने लिख भी दिया है, पर लेख के प्रत्येक अंश अथवा प्रकरण के साथ लेखक अपना अभिप्राय कैसे दे सकता है? यदि बा० कामताप्रसाद जी हमारे उस लेख के अन्त में दिये हुए फुटनोट को देख लेते, तो यह आक्षेप करने का उन्हें शायद मौका ही नहीं मिलता। ‘थेरावली किस आचार्य ने किस जमाने में लिखी’ इस बात पर ऊहापोह तभी हो

सकता है कि जब वह मूल थेरावली उपलब्ध हो गई हो। केवल उसके भाषान्तर के आधार पर यह चर्चा किस प्रकार निर्दोषरीत्या चल सकती है? पर लेखक महोदय जरा धैर्य रखें, इन सब पहलुओं पर विचार हो जायगा, क्योंकि अब मूल स्थविरावली भी हमारे हस्तगत हो गई है।

“अब हम कामताप्रसाद जी की उन दलीलों की क्रमशः समालोचना करेंगे, जो उन्होंने ‘हिमवन्त-थेरावली’ की खारवेल-विषयक बातों को अप्रामाणिक और बाधित सिद्ध करने के लिये अपनी तरफ से उपस्थित की हैं।

“१. आपका यह कथन ठीक है कि ‘चेटक के वंश का जो परिचय थेरावली में दिया है वह अन्यत्र कहीं नहीं मिलता’, पर इससे यह कैसे मान लिया जाय कि कोई भी बात एक से अधिक ग्रन्थों में न मिलने से ही अप्रामाणिक या जाली है? दिगम्बर-संप्रदाय के मान्य ग्रन्थ मूलाचार अथवा भगवती-आराधना का ही उदाहरण लीजिये, इन दोनों ग्रंथों में ऐसी अनेक बातें हैं, जो दूसरे किसी भी दिगम्बराचार्यकृत ग्रन्थ में नहीं मिलतीं। क्या हम पूछ सकते हैं कि इन दोनों ग्रन्थों को अप्रामाणिक अथवा जाली ठहराने का बाबूसाहब ने कभी साहस किया है? यदि नहीं, तो फिर क्या कारण है कि किसी बात का ग्रन्थान्तर से समर्थन न होने की वजह से आप ‘हिमवन्त-थेरावली’ को अप्रामाणिक ठहराने के लिये दौड़ पड़े हैं?

“२. लेखक का यह कथन कि “जो अंश प्रकट हुआ है उसका सामञ्जस्य केवल जैनशास्त्रों से ही ठीक नहीं बैठता, बल्कि जैनेतर साहित्य से भी वह बाधित है, जैसा कि आगे चलकर प्रकट होगा” कुछ भी सत्यता नहीं रखता। थेरावलीवाली हकीकत का जैनशास्त्रों से कुछ भी असामञ्जस्य सिद्ध नहीं होता और न जैनेतर साहित्य से ही वह बाधित है, जैसा कि आगे चलकर बताया जायगा।

“हिमवन्त-थेरावली में केवल खारवेल और उसके वंश का ही उल्लेख नहीं है, बल्कि उस में श्रेणिक, कूणिक, उदायी, नन्द और मौर्यवंश के राज्य की कतिपय ज्ञातव्य बातों का भी स्फोट किया गया है, और सम्प्रति के समय में किस प्रकार मौर्य राज्य की दो शाखाएँ हुईं तथा सम्प्रति के बाद विक्रमादित्य पर्यन्त कौन कौन उज्जयिनी में राजा हुए, इन सब बातों का संक्षिप्त निर्देश इस थेरावली में किया गया है।

“३. लेखक की तीसरी दलील यह है कि “राजा चेटक के नाम की अपेक्षा किसी ‘चेट’ वंश का अस्तित्व इस से पहले के किसी साहित्यग्रन्थ या शिलालेख से प्रगट नहीं है। और चेटक का वंश ‘लिच्छिवि’ प्रसिद्ध था।”

“यह ठीक है कि चेटक के नाम से किसी वंश का अस्तित्व कहीं उल्लिखित नहीं देखा गया, पर इस खारवेल के लेख और थेरावली के संवाद से यह मानने में क्या आपत्ति है कि इस उल्लेख से ही चेटकवंश का अस्तित्व सिद्ध हो रहा है? चेटक की युद्ध-निमित्तक मृत्यु हुई, उसकी राजधानी वैशाली का नाश हुआ और चेटक के वंशजों का अधिकार विदेह राज्य पर से उठ जाने के बाद वहाँ गणराज्य हो गया। इन कारणों से पिछले समय में चेटक और उसके वंश की अधिक प्रसिद्धि न रहने से उस की चर्चा ग्रन्थों में न मिलती हो, तो इससे सशंक होने की क्या जरूरत है? चेटक बड़ा धर्मी राजा था, उसने शरणागत की रक्षा के निमित्त ही मगधपति कोणिक के साथ लड़ाई लड़ी थी और अन्त तक अपनी टेक रखते हुए उसने अपना वीरोचित समाधिमरण किया था। इस दशा में चेटक की कीर्ति और उसका महत्त्व उसके पुत्र शोभनराज की संतान के लिये एक गौरव का विषय ही, इसमें क्या अनुचित है? शोभनराज भाग निकला और उसने अपनी हीनता साबित की, यह मान लेने पर भी चेटक की महत्ता में कुछ भी हीनत्व नहीं आता। अगर खारवेल सचमुच ही इस कीर्तिशाली चेटक का वंशज हो, तो वह बड़े गौरव के साथ अपने पूर्वज का नाम ले सकता है।

“इस कथन में भी कुछ प्रमाण नहीं है कि चेटक ‘लिच्छिवि’ वंश का पुरुष था। मुझे ठीक स्मरण तो नहीं है, पर जहाँ तक ख्याल है, श्वेताम्बर-सम्प्रदाय के पुराने साहित्य में चेटक का ‘हैहय’ अथवा इससे मिलता-जुलता कोई वंश बताया गया है।^{१२२} पर ‘लिच्छिवि’ वंश तो किसी जगह नहीं लिखा। हाँ, उस के समय में वहाँ ‘लिच्छिवि’ लोगों की एक शक्तिशाली जाति थी, उसके कई जत्थे थे और प्रत्येक जत्थे पर एक एक जत्थेदार-गणनायक नियत था। पर इसका अर्थ यह नहीं है कि वे जत्थेदार अथवा गणनायक बिलकुल स्वतंत्र थे। सिर्फ अपने गणों के आन्तरिक कार्यों में ही उनकी स्वतंत्रता परिमित थी। राज्य-कारोबार में वे सब चेटक के मातहत थे, दुर्दैवयोग से कोणिक के साथ की आखिरी लड़ाई के समय विदेह की ‘लिच्छिवि’ और ‘वज्जी’ नामक दो प्रबल जातियों में से दूसरी जाति ने चेटक को धोखा दे दिया, वह कोणिक के साथ मिल गई और काशी तथा कोसल के १८ गण-राजों के साथ चेटक की हार हो गई।^{१२३} इस अपमान के मारे उसने अनशन करके देह छोड़ दिया।

१२२. “जहाँ तक मुझे याद है, यह बात ‘निरयावली’ सूत्र में है। इस फिकरे को मैंने नोट तक किया है, लेकिन इस वक्त न तो मेरे पास ‘निरयावली’ सूत्र है और न उसका नोट ही।” लेखक।

१२३. “चेटक और कोणिक की यह लड़ाई जैनसूत्रों में ‘महाशिला-कण्टक’ इस नाम से वर्णित है। इस लड़ाई में किसकी जीत हुई और किसकी हार? यह प्रश्न करके उत्तर

“इस प्रसंग में काशी के ९ गणराज और कोसल के ९ गणराज जो मल्ल और लिच्छवि जाति की भिन्न-भिन्न श्रेणियों के अगुआ थे, उनके चेटक की मदद में लड़ने का उल्लेख^{१२४} है, पर विदेह के किसी भी गणराज का जिक्र नहीं मिलता। इससे भी यह साबित होता है कि तब तक विदेह में गणराज्य स्थापित नहीं हुआ था। हाँ, अपनी श्रेणियों में वंशपरम्परागत एक-एक नायक अवश्य माना जाता था, उन श्रेणिपतियों पर राजा चेटक का शासन था और सब कामों में वह महाराजा की हैसियत से उन पर हुक्म करता था। यद्यपि काशी और कोशल के राज्य भी उस समय विदेह राज्य में सम्मिलित थे, पर वहाँ की आन्तरिक शासन-व्यवस्था में विदेहराज का हस्तक्षेप नहीं था। अपने राज्यकारोबार में वहाँ के गणराज्य स्वतंत्र थे। हाँ, युद्ध जैसे प्रसंगों में वे एक दूसरे की मदद के लिए खास नियमों से बँधे रहते थे, और इसी वजह से उनमें कोणिक के आक्रमण के समय चेटक का साथ दिया था।

“चेटक विदेह का परम्परागत राजा था, इस बात का यद्यपि स्पष्ट उल्लेख हमारे देखने में नहीं आया, पर इस से यह भी निश्चित कैसे मान लिया जाय कि वह परम्परागत राजा नहीं था?, और यह भी कौनसा नियम है कि परम्परागत राजा हो, वही राजा माना जाय और दूसरा नहीं? लेखक महाशय जो यह कहते हैं कि “चेटक परम्परागत राजा नहीं था, यह बात इतिहास और स्वयं श्वेताम्बरग्रंथों से सिद्ध है” बिलकुल निराधार है। तर्कमात्र से कुछ कल्पना कर लेना यह इतिहास नहीं कहा जा सकता। क्या लेखक यह बताने की तकलीफ उठाएँगे कि चेटक के परम्परागत राजा न होने की बात किस श्वेताम्बरग्रन्थ में लिखी है? अथवा क्या यह भी किसी प्राचीन ग्रन्थ से बता सकते हैं कि चेटक वैशाली के नियुक्त राष्ट्रपति थे? इस बात को लेखक जी ध्यान में रखें कि किसी आधुनिक विद्वान् के कह देने मात्र से चेटक वैशाली के अथवा लिच्छविवंश के नियुक्त राष्ट्रपति सिद्ध नहीं हो सकते। विदेह देश

दिया गया है कि इसमें ‘वज्जी’ और ‘वैदेहीपुत्र’ (कोणिक) की जीत हुई और नौ मल्लिक और नौ लिच्छवि गणराजों की हार हुई। देखिये निम्नलिखित भगवतीसूत्र के शब्द—“महाशिलाकंटए णं भंते संगामे वट्टमाणे के जइत्था के पराजइत्था? गोयमा! वज्जी-विदेहपुने जइत्था नव मल्लइ नव लेच्छई कासीकोसलगा अट्टारस विगणरायाणो पराजइत्था।” (भ./श.७/उ.९/प. ३१५)। यहाँ टीका में ‘वज्जी’ शब्द का अर्थ ‘वज्री’ अर्थात् इन्द्र किया है, पर वस्तुतः यहाँ ‘वज्जी’ शब्द ‘वृजिकजाति’ का प्रबोधक है।” लेखक। १२४. “इस प्रसंग पर बाबू कामताप्रसाद जी ने अपने लेख में नौ मल्लिक, नौ लिच्छवि गणराजों के अतिरिक्त ४८ काशी-कौशल के गणराजों का जो उल्लेख किया है, वह बिलकुल गलत है। काशी-कौशल के नौ मल्लिक और नौ लिच्छवि गणराजों ने चेटक को इस युद्ध में साहाय्य प्रदान किया था, दूसरे किसी ने नहीं।” लेखक।

में गणराज्य की चर्चा थी, इसी आधार पर चेटक को वहाँ का गणराज अथवा नियुक्त राष्ट्रपति मान लेना एक बात है और उसके सम्बन्ध में उस बात को साबित करनेवाले प्रमाण देना दूसरी बात है। आज तक जो-जो बातें चेटक के सम्बन्ध में हमने सोची हैं, उन सब से तो यही सिद्ध होता है कि चेटक विदेह का सत्ताधारी राजा था। उज्जयिनी के चण्डप्रद्योत, सिन्धु-सौवीर के उदायन, वत्स-कौशाम्बी के शतानीक और मगधपति श्रेणिक जैसे स्वतंत्र सत्ताशाली राजाओं से उसका वैवाहिक सम्बन्ध भी यही बता रहा है कि चेटक एक सत्ताशाली राजा था।

“लड़ाई के समय ‘वज्जी’ जाति का उसके विरुद्ध कोणिक के पक्ष में मिल जाना भी यही बताता है कि आस-पास के राष्ट्रों की स्वतंत्रता से प्रभावित होकर ही वज्जियन लोगों ने भी चेटक को राज्यधुरा से वंचित करने के लिये मगधपति का पक्ष लिया होगा। इन सब बातों के पर्यालोचन से तो यही प्रमाणित होता है कि चेटक एक स्वतंत्र-सत्तावान् राजा था।^{१२५} इस हालत में कोणिक के साथ की लड़ाई में उसके पराजित होने पर उसका पुत्र शोभनराज कलिंग के राजा सुलोचन के पास गया हो और वहाँ उसको राज्य मिला हो, तो क्या आश्चर्य है?

“४. चौथी दलील का सम्पूर्ण उत्तर ऊपर के विवेचन से दिया जा चुका है।

“५. पाँचवीं दलील यह है कि दिगम्बर-जैनशास्त्र ‘उत्तरपुराण’ में राजा चेटक के दस पुत्रों के जो नाम लिखे हैं, उनमें ‘शोभनराज’ नाम नहीं है। ठीक है, उत्तरपुराण में ‘शोभनराय’ नाम न सही, पर उत्तरपुराण कौनसा प्रामाणिक इतिहासग्रन्थ है कि जिसकी प्रत्येक बात पर हम अधिक वजन दे सकें। जो पुराण उदायन को कच्छ देश का

१२५. “बाबू कामताप्रसाद जी स्वयं भी इस विषय में पहिले संशयात्मा थे कि वैशाली में गणराज्य था या राजराज्य? इस बात का कुछ भी निर्णय नहीं किया जा सकता। देखिये इनकी ‘भगवान् महावीर’ नामक पुस्तक का निम्न लिखित फिकरा—“उस समय के अन्य प्रभावशाली राज्य मगधादि से अपने को सुरक्षित रखने के लिए बहुत संभव है कि इन राज्यों ने इस प्रकार एक गणराज्य कायम कर लिया हो। किन्तु इस विषय में कोई निश्चयात्मक निर्णय नहीं दिया जा सकता है, जब तक कि उस जमाने के और हाल मालूम न हो जावें। अत एव महाराज चेटक और नृप सिद्धार्थ किसी न किसी रूप में क्रम से वैशाली और कुण्डलपुर के अधिपति थे, जैसा कि जैनशास्त्र प्रगट करते हैं।” (भगवान् महावीर/पृ. ६४)। परन्तु अब आप इस लेख में निश्चय के साथ लिखते हैं कि “विदेह देश में तब साम्राज्यवाद के स्थान पर एक प्रकार का प्रजातंत्रवाद प्रचलित था। चेटक उस राष्ट्र के राष्ट्रपति नियुक्त थे।” क्या मैं पूछूँ कि बाबू साहब को अब कौन नये प्रमाण मिले हैं, जिनके आधार पर आपने यह निश्चयात्मक निर्णय कर लिया कि ‘चेटक नियुक्त राष्ट्रपति थे?’” लेखक।

राजा बता सकता है और कौशाम्बी के राजा शतानीक को 'सार' नाम से वर्णन कर सकता है, उसके वचन पर कहाँ तक विश्वास किया जाय, इसका लेखक स्वयं विचार कर लें। कौशाम्बी के राजा सहस्रानीक के पुत्र का नाम श्वेताम्बर-जैनसूत्रों और भास के स्वप्नवासवदत्त में शतानीक लिखा मिलता है, तब दिगम्बराचार्यकृत श्रेणिकचरित्र में इसका नाम 'नाथ' और उत्तरपुराण में 'सार' लिखा है। इस पर बाबू कामताप्रसाद जी अपनी 'भगवान् महावीर' नामक पुस्तक (पृ.१४०) में लिखते हैं कि 'शतानीक' यह इस राजा का तीसरा नाम है। भला शतानीक के 'नाथ' और 'सार' जैसे अव्यवहार्य नामों का तो नामान्तर मान कर निर्वाह कर लेना और 'शोभनराय' नाम उत्तरपुराण में न होने मात्र से ही उसे अप्रामाणिक ठहरा देना यह कैसा न्याय है? यहाँ पर भी यही क्यों न मान लिया जाय कि यदि चेटक के उत्तरपुराणोक्त दस ही पुत्र थे, तो 'शोभनराज' यह भी उनमें से किसी एक का नामान्तर हो सकता है।

“६. यह कहना कि 'हरिवंशपुराण के अनुसार महावीर के समय में कलिंग का राजा जितशत्रु था, सुलोचन नहीं था', केवल तर्काभास है। क्योंकि 'जितशत्रु' यह कोई विशेष नाम नहीं है, किन्तु राजा का सम्माननीय विशेषण-मात्र है। क्या श्वेताम्बर, क्या दिगम्बर किसी भी संप्रदाय के ग्रन्थों में जहाँ-जहाँ राजा का नाम 'जितशत्रु' और रानी का नाम 'धारिणी' आता है वहाँ सर्वत्र बहुधा यही अर्थ समझना चाहिये।^{१२६} इस दशा में कलिंग के राजा का नाम सुलोचन मानने में कोई आपत्ति नहीं है।

“७. लेखक की सातवीं दलील तो सभी दलीलों का मक्खन है। आप कहते हैं “क्या यह संभव नहीं है कि खाखेल के अति प्राचीन शिलालेख को श्वेताम्बर-साहित्य से पोषण दिला कर उसे श्वेताम्बरीय प्रकट करने के लिये ही किसी ने इस थेरावली की रचना कर डाली हो और वही रचना किसी शास्त्रभण्डार से उक्त मुनि जी को मिल गई हो?”

“प्रिय पाठक गण! कितना गहन तर्क है? इससे आप लेखक महाशय का मनोभाव तो बखूबी समझ ही गये होंगे कि इस विषय में उनके कलम उठाने का कारण क्या है? जहाँ तक मैं समझता हूँ बाबू कामताप्रसाद जी अपने सम्प्रदाय के अनन्य रक्षक जान पड़ते हैं, अपनी कट्टर सांप्रदायिकता के विरुद्ध कुछ भी आवाज निकलते ही उसकी किसी भी तरह धज्जियाँ उड़ाना आपका सर्वप्रथम कर्तव्य है, यही कारण है कि हिमवन्त-थेरावली को बगैर देखे और बगैर सुने ही उसको जाली ठहराने की हद तक आप पहुँच गये और जो कुछ मन में आया लिख बैठे। अस्तु।

१२६. “अच्छा होता यदि लेखक महाशय इस विषय के समर्थन में कोई सबल प्रमाण भी साथ में उपस्थित कर देते।” सम्पादक।

“बाबू जी! आप इतना भी नहीं सोच सकते कि यदि शेरवली वस्तुतः जाली होती और उसका मनशा आपके कथनानुसार होता, तो उसमें कुमारगिरि पर जिनकल्प-दिग्म्बर साधुओं के होने का उल्लेख ही क्यों होता? खारवेल के लेख को श्वेताम्बरीय प्रकट करने का और कुमार तथा कुमारीगिरि पर अपना स्वत्व साबित करने के इरादे से यदि शेरवली का निर्माण हुआ होता, तो उसमें यह जिक्र क्या कभी आता कि कुमारीगिरि की गुफाओं में जिनकल्पी साधु रहते थे और कुमारगिरि पर स्थविरकल्पी? इसके अतिरिक्त खारवेल ने जो चतुर्विध संघ को इकट्ठा किया था, उसमें भी दो सौ जिनकल्प की तुलना करनेवाले साधुओं के एकत्र होने का जो निर्देश है, वह कभी होता?

“यह आपत्ति कि “शेरवली में कतिपय उल्लेख ऐसे हैं, जो खारवेल के लेख में पहले अन्य रूप में पढ़े गये थे और अब वे नये रूप में पढ़े जाते हैं, उदाहरण के तौर पर ‘खारवेल’ यह नाम पहिले उपाधि मानी गई थी, परन्तु अब वह विशेष नाम साबित हुआ है। इसी प्रकार पहले ‘बृहस्पतिमित्र’ पुष्यमित्र का ही नामान्तर माना गया था, पर अब वैसे नहीं माना जाता।” परन्तु यह आपत्ति भी वास्तविक नहीं है, क्योंकि अभी तक खारवेल का वह लेख पूरे तौर से स्पष्ट पढ़ा नहीं गया है, प्रत्येक बार विद्वानों ने उसमें से जो जो विशेष बात समझ पाई, वही लिख डाली है, पर इसका अर्थ यह नहीं कि अब इस लेख में कुछ भी संशोधन होगा ही नहीं, क्या आश्चर्य है कि प्रथम वाचना की जिन-जिन बातों को विद्वानों ने पिछले समय में बदला है उन्हीं को वे कालान्तर में फिर मंजूर भी कर लेंवें?

“दृष्टिवाद को दुर्भिक्ष के बाद व्यवस्थित करने का जिक्र इस लेख में और शेरवली में ही नहीं, किन्तु दूसरे भी अनेक प्रामाणिक श्वेताम्बर-जैनग्रन्थों में आता है।^{१२७} इस वास्ते इस विषय का लेखक का अभिप्राय भी दोषरहित नहीं है।

“८. कुमारगिरि पर जिनमंदिर का पुनरुद्धार करके सुस्थित-सुप्रतिबुद्ध के हाथ से प्रतिष्ठा कराकर जिनमूर्ति स्थापित करने के सम्बन्ध में आप कहते हैं कि—

१२७. “नन्द और मौर्यकालीन दुर्भिक्षों का वर्णन और उस समय अव्यवस्थित हुए दृष्टिवाद की फिर व्यवस्था करने का विस्तृत वर्णन ‘तित्थोगाली पइन्नय’, ‘आवश्यकचूर्णि’ प्रभृति प्राचीनकालीन श्वेताम्बरग्रंथों में दिया हुआ है, और उसके बाद के दुर्भिक्षों में भी दृष्टिवाद की छिन्नभिन्नता और क्रमशः उसके विच्छेद होने के उल्लेख श्वेताम्बर-पट्टावलियों में मिलते हैं। इस वास्ते खारवेल के समय में दृष्टिवाद का संग्रह करने के विषय में जो हिमं वत-शेरवली में उल्लेख किया गया है, वह असंगत मालूम नहीं होता।” लेखक।

“वीर निर्वाण से ३३० वर्षों के बाद ये सब कार्य करके खारवेल को स्वर्गवासी हुआ लिखा है। किन्तु श्वेताम्बरीय तपागच्छ की ‘वृद्धपट्टावली’ से यह बात बाधित है। उसके अनुसार उक्त स्थविरद्वय का समय वीर निर्वाण से ३७२ वर्ष का है। इस हालत में खारवेल का उनसे साक्षात् होना कठिन है।”

“खारवेल वीरसंवत् ३३० में स्वर्गवासी हुआ, यह बात तो ठीक है, पर ‘सुस्थित-सुप्रतिबुद्ध निर्वाण से ३७२ वर्ष के बाद हुए’ यह लिखना गलत है। सभी श्वेताम्बरगच्छीय पट्टावलियों में आर्य सुहस्ति का स्वर्गवास निर्वाण से २९१ वर्ष के बाद होना लिखा है, इस दशा में आर्य सुहस्ति के पट्टधर सुस्थित-सुप्रतिबुद्ध की विद्यमानता ३३० के पहिले मानने में कुछ भी विरोध नहीं है। इन स्थविरों का ३७२ के बाद होने का लेख भ्रमपूर्ण है। अगर ऐसा तपागच्छ की पट्टावली में उल्लेख है, तो वह अशुद्ध है, इसमें कोई शक नहीं है। मालूम होता है ३२७ के स्थान में भूल से ३७२ छप गया है, क्योंकि इन दोनों स्थविरों का स्वर्गवास निर्वाण से ३२७ वर्ष के बाद हुआ था और इन के नाम के लेखोंवाले वहाँ पर दो स्तूप भी भिक्षुराज खारवेल ने बनवाये थे, ऐसा अञ्जलगच्छ की मेरुतुंगकृत पट्टावली में उल्लेख है। साथ ही, वहाँ यह भी लिखा है कि ‘आर्य सुस्थित-सुप्रतिबुद्ध अधिकतर कलिंग देश में ही विहार करते थे। परमार्हत भिक्षुराज इनका परमभक्त बना हुआ था, और इन स्थविरयुगल के उपदेश से उसने अनेक शासनोन्नति करनेवाले धर्मकार्य किये थे। कलिंगदेश में ‘शत्रुञ्जयावतार’ नाम से प्रसिद्ध कुमरपर्वत पर इन्होंने कोटिवार सूरिमंत्र का आराधन किया था, अतएव इनका मुनिगण ‘कोटिकशाखा’ इस नाम से प्रसिद्ध हो गया था। इन दोनों ने अपना साधुसमुदाय इंद्रदिनसूरि को समर्पण करके कुमरगिरि पर अनशन कर वीर निर्वाण से ३२७ वर्ष बीतने पर स्वर्गवास प्राप्त किया।^{१२८}

१२८. “जिसका सारांश ऊपर दिया गया है वह अञ्जलगच्छ की पट्टावली का मूल पाठ इस प्रकार है—“चम्यापुरीवास्तव्यौ सुस्थित-सुप्रतिबुद्धाभिधानौ द्वावपि राजन्यकुलसमुद्भवौ भ्रातरौ प्राप्तसंवेगौ श्रीमदार्यसुहस्तिनां समीपे व्रतं जगृहतुः। प्रायेण कलिङ्गदेशे विहारं कुर्वतोस्तयोस्तत्रत्यः परमार्हतभिक्षुराजभूपोऽतीव भक्तः सञ्जातः। तयोरुपदेशेन तेन भिक्षुराज-भूपेनानेके (कानि) धर्मकार्याणि शासनोन्नतये कारितानि। ताभ्यां च तत्र कलिङ्गदेशे शत्रुञ्जयावतारापरनामप्रसिद्धकुमरपर्वतोपरिध्यानस्थाभ्यां कोटिवारं सूरिमन्त्राराधनं कृतम्। अतस्तदीयपरिवारमुनिगणः ‘कोटिकशाखा’-भिधानतः प्रसिद्धो बभूव। तौ द्वावपि भ्रातरौ निजपरिवारं श्रीमदिन्द्रदिनसूरिभ्यः समर्प्य कुमरगिरावनशनं विधाय श्रीवीरप्रभुनिर्वाणत् ३२७ वर्षेषु व्यतिक्रान्तेषु स्वर्गं जग्मतुः। भिक्षुराजभूपेन च तत्रोत्सवं निर्माय तदभिधानलेखयुतौ द्वौ स्तूपौ कारितौ।” मेरुतुङ्गीयाञ्जलगच्छीय-पट्टावली।

“अञ्जलगछ की पट्टावली के इस उल्लेख से न केवल खारवेल और इन दो स्थविरों की समकालकता ही सिद्ध है, बल्कि इससे हिमवंत-थेरावली की भी कतिपय बातों का समर्थन होता है।

“९. इस फिकरे में लेखक का कहना है कि “एक तो देवाचार्य, बुद्धिलिंगाचार्य, धर्मसेनाचार्य तथा नक्षत्राचार्य श्वेताम्बर नहीं थे, दूसरे ये नितान्त एक-दूसरे से भिन्नकालीन होने से खारवेल की सभा में इनका एकत्र होना असंभव है।” यह ठीक है कि इन आचार्यों का श्वेताम्बरजैनों की विद्यमान पट्टावलियों में वर्णन नहीं है, परन्तु हिमवंत-थेरावलीकार ने भी यह तो लिखा ही नहीं है कि ये स्थविर श्वेताम्बर-संप्रदायानुयायी थे। थेरावलीकार ने तो स्पष्ट लिख दिया है कि ये आचार्य जिनकल्प की तुलना करने वाले थे, आर्य महागिरि की शाखा के स्थविर थे, जो स्वयं भी जिनकल्प की तुलना करते थे। यदि ये नाम दिगम्बर-पट्टावलियों में मिलते हैं, तो इसमें आपत्ति की बात ही क्या है? इस से तो उलटा थेरावली के लेख का ही समर्थन होता है। अब रही इनके नितान्त भिन्नकालीन होने की बात, सो यह भी आपत्ति वास्तविक नहीं जान पड़ती, दिगम्बरीय ग्रन्थों के अनुसार देवाचार्य निर्वाण से ३१५ वर्ष पीछे दशपूर्वधर बने थे, तो इस समय के पहले भी वे विद्यमान थे, इसमें तो शंका ही क्या है? बुद्धिलिंग का दशपूर्वधरत्व-काल निर्वाण से २९५ से ३१५ वर्ष तक लिखा है, धर्म-सेनाचार्य का समय नि० सं० ३२९ लेखक स्वयं कबूल करते हैं, नक्षत्राचार्य ३४५ में एकादशांगधारी हुए माने जाते हैं। तो इसके पहले इनकी विद्यमानता स्वयं सिद्ध है। इस दशा में खारवेल द्वारा एकत्र की गई सभा में इन आचार्यों का सम्मिलित होना कुछ भी असंभावित अथवा अशक्य नहीं है। इस विषय में विद्वान् सम्पादक जी ने भी फुटनोट में अच्छा खुलासा कर दिया है, जो विद्वानों के पढ़ने योग्य है। इसी फिकरे में लेखक महाशय लिखते हैं कि “इन आचार्यों को थेरावली भी दिगम्बर (जिनकल्पी) प्रकट करती है। रही बात सवस्त्र साधुओं की, सो थेरावली में ये सुस्थित, सुप्रतिबुद्ध, उमास्वाति व श्यामाचार्य प्रभृति बताए हैं। इनमें से पहले दो इस सभा में शामिल नहीं हो सकते, यह हम देख चुके। रहे शेष दो, सो ये भी उक्त सभा में नहीं पहुँच सकते, क्योंकि उमास्वाति इस घटना के कई शताब्दी बाद हुए हैं और श्यामाचार्य उनसे भी पीछे के आचार्य मालूम होते हैं। अतः थेरावली का यह वक्तव्य प्रामाणिक नहीं है।”

“थेरावली इन देवाचार्य प्रभृति को जिनकल्पी प्रकट करती है, यही तो इसकी प्राचीनता का द्योतक है। यदि वह अर्वाचीन काल की रचना होती, तो दूसरी श्वेताम्बरीय पट्टावलियों की तरह इसमें भी देवाचार्य, बोधिलिंग, धर्मसेन प्रमुख आचार्यों का उल्लेख नहीं होता।

“सुस्थित-सुप्रतिबुद्धि का समय निर्वाण से २९१ से ३२७ पर्यन्त था, इस वास्ते इनका खार्वेल द्वारा प्रस्तुत सभा में शामिल होना किसी तरह असंगत नहीं है, यह बात पहिले कही जा चुकी है। उमास्वाति और श्यामाचार्य में से श्यामाचार्य तो खार्वेल के समकालीन थे, इसमें कुछ भी शंका नहीं है, क्योंकि श्वेताम्बरजैन-पट्टावलियों में श्यामाचार्य के युगप्रधानत्वकाल का प्रारंभ नि० सं० ३३५ से माना गया है और जिस समय उन्हें युगप्रधान का पद मिला, उस समय उनको दीक्षा लिए ३५ वर्ष हो चुके थे। इस वास्ते श्यामाचार्य के खार्वेल की सभा में शामिल होने में कोई विरोध नहीं है। अब रही उमास्वाति की बात, सो यह बात अवश्य विचारणीय है। यद्यपि इनके सत्तासमय के सम्बन्ध में श्वेताम्बर और दिगम्बर ग्रन्थकार एकमत नहीं हैं, दिगम्बर-संप्रदाय के विद्वान् इनको कुन्दकुन्दाचार्य के बाद में हुआ मानते हैं, तब श्वेताम्बर-संप्रदाय की पट्टावलियाँ इनको उपर्युक्त श्यामाचार्य के गुरु अथवा पुरोगामी और बलिस्सह के शिष्य 'स्वाति' आचार्य से अभिन्न मानती हैं। नन्दी-थेरावली के 'हारिअगुत्तं साई च वंदमौ हारिअं च सामज्जं' इस गाथार्थ में बताये हुए स्वाति आचार्य ही यदि हिमवन्त-थेरावली के उमास्वाति हैं, तब तो उनका खार्वेल की सभा में शामिल होना कुछ भी आश्चर्य की बात नहीं है, पर इस सम्बन्ध में अभी कुछ भी निश्चित नहीं कहा जा सकता। श्वेताम्बरीय युगप्रधान-पट्टावलियों में एक और भी उमास्वाति वाचक वीर निर्वाण से १११५ के आस-पास के समय में हुए बतलाए हैं, आश्चर्य नहीं कि उमास्वाति नाम के आचार्य दो हुए हों और पिछले समय में इन दोनों का अभेद मान लेने से यह गड़बड़ उत्पन्न हो गई हो। कुछ भी हो, पर इससे हिमवन्त-थेरावली की अप्रामाणिकता कभी सिद्ध नहीं हो सकती।

“अपनी तमाम दलीलों की वृष्टि करने के बाद बाबू जी ने खार्वेल के वंश के विषय में अपना अभिप्राय निश्चित किया है कि खार्वेलसिरि 'ऐल' वंश का पुरुष था। इस निर्णय में खार्वेल के हाथीगुफावाले लेख का 'ऐरेन' इस शब्द और जैन हरिवंश में दी हुई 'ऐलेय' राजा की कथा को आधारभूत माना है, पर यह कल्पना भी निर्मूल है, इसका स्पष्ट खुलासा अन्तिम फुटनोट में विद्वान् सम्पादक जी ने ही कर दिया है। इस सम्बन्ध में यहाँ सिर्फ इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि प्राचीन समय की पूर्वदेशीय भाषाओं में 'र' का 'ल' होने का विधान तो अवश्य था पर 'ल' का 'र' करनेवाला कोई विधान नहीं था, इस वास्ते 'ऐल' का स्थानापन्न 'ऐर' नहीं हो सकता। कोई-कोई विद्वान् 'ऐरेन' इस शब्द को 'वेरेन' इस प्रकार भी पढ़ते हैं जिसका संस्कृत रूप 'वज्रेण' होता है। क्या आश्चर्य है कि अन्य उपाधियों की तरह 'वज्र' यह भी खार्वेल की कोई उपाधि हो? और यदि उड़िया दन्तकथा के अनुसार यहाँ 'ऐर' पाठ ही ठीक मान लिया जाय, तब भी उसको 'ऐलेय' का वंशज

मान लेने के लिये क्या प्रमाण है? जब 'ऐल' नाम से कोई वंश ही प्रचलित नहीं था, तो खारवेल अपने लेख में उसका निर्देश कैसे कर सकते थे?

“हिमवन्त-थेरावलीगत खारवेल-विषयक वृत्तान्त को अप्रामाणिक ठहराने के लिये बाबू कामताप्रसाद जी जैन ने अपनी तरफ से जो जो दलीलें पेश की थीं, उनका संक्षिप्त उत्तर ऊपर दिया जा चुका है। अब हमारे मत से तो यह बात निश्चित हो गई है कि 'हिमवंत-थेरावली' कोई आधुनिक रचना नहीं है, किन्तु सैकड़ों वर्षों का पुराना निबन्ध है। इसकी मूल प्रति कच्छमांडवी के पुस्तकभण्डार से हमें पण्डित सुखलाल जी संघवी के द्वारा अभी मिली है, जिसका विस्तृत-अवलोकन कभी मौका मिलने पर लिखा जायगा, पर इतना तो यहाँ कह देना प्रासंगिक होगा कि थेरावली पुराना ग्रन्थ है, यही नहीं वह एक अति महत्त्व का ऐतिहासिक ग्रन्थ है। अन्त में इसको हिमवंत-कृत लिखा है, पर अभी हम यह निश्चित नहीं कह सकते हैं कि यह हिमवंतकृत थेरावली ही है या हिमवंत-थेरावली का सार? हिमवंत-थेरावली-नामक प्राचीन थेरावली श्वेताम्बरजैन-साहित्य में एक प्रसिद्ध ग्रन्थ होने का प्रमाण हमें अञ्चलगच्छीय आचार्य मेरुतुंग की विक्रम संवत् १४३८ में निर्मित पट्टावली में मिलता है।^{१२९} यही नहीं, थेरावली की अनेक अप्रसिद्ध बातों का समर्थन भी इस पट्टावली से होता है।^{१३०}

“हमें जो थेरावली की पुस्तक हस्तगत हुई है, वह अञ्चलगच्छ-पट्टावली की पुस्तक के प्रथम के ९ पत्रों में लिखी हुई है और इसके बाद अञ्चलगच्छ की बृहत्पट्टावली लिखी हुई है, यह संपूर्ण प्रति संवत् १८९३ में लेखक रामचन्द्र द्वारा नागोर में लिखी गई थी, यह बात इस पुस्तक के अन्त में दिये हुए निम्नलिखित वचनों से जानी जाती है—

१२९. “बलिस्सह स्थविर के प्रसंग में पट्टावलीकार ने एक जगह हिमवंत-थेरावली का स्पष्ट नामोल्लेख तक कर दिया है, जो इस प्रकार है—“बलिस्सहमुनिवराश्च पश्चात् स्वपरिवारयुता-स्थविरकल्पमभजन्। परं तेषां शाखा पृथगेव वाचकगणाख्यया प्रसिद्धा जाता। तत्परिवारश्च पूर्वमेवार्थहिमवद्विरचितस्थविरावल्यां कथितोऽस्ति ततोऽवसेयः।” (अञ्चलगच्छपट्टावली / १५-२) लेखक।

[“यह उल्लेख पट्टावली में कहीं प्रक्षिप्त तो नहीं, इसे तथा और भी दूसरे उल्लेखों को खास तौर से जाँचने की जरूरत है। क्योंकि थेरावली और पट्टावली दोनों के प्रकाशक महाशय एक हैं और उनकी स्थिति पं० सुखलाल जी से बहुत कुछ संदिग्ध मालूम हुई है।” सम्पादक।] अनेकान्त / वर्ष १ / किरण ६, ७ पृ. ३५०।

१३०. “आचार्य भद्रबाहु और आर्यमहागिरि का कुमरगिरि पर स्वर्गवास होने का हिमवन्त-थेरावली में उल्लेख है और उसी बात का इस अञ्चलपट्टावली से भी समर्थन होता है। इसमें कई जगह कुमरगिरि और भिक्षुराज का नामोल्लेख भी है, जो हिमवन्त-थेरावली के वचनों का ही समर्थन कर रहा है।” लेखक।

“संवत् १८९३ वर्षे मार्गसीर शुक्ल नवमी तिथौ नागोरनगरे लेखक साची-हरविप्ररामचन्द्रेण लिखिता। चिरं नंदतु।”

“हिमवन्त-थेरावली के सम्बन्ध में हम यहाँ अधिक नहीं लिखेंगे। इसकी विस्तृत आलोचना एक स्वतंत्र निबन्ध में हो सकती है, जो अधिक समय और विचारणा की अपेक्षा रखता है। यदि अनुकूलता प्राप्त हुई, तो इसके लिये भी अवश्य ही उद्योग किया जायगा।” (लेख समाप्त)।

६.६. 'अनेकान्त' के सम्पादक को लिखित

मुनि जिनविजय जी का पत्र^{१३१} और हिमवन्त-थेरावली के जाली होने की सूचना

पटना, ता० १२/४/३०

“श्रीमान् बाबू जुगलकिशोर जी की सेवा में सादर जयजिनेन्द्र पूर्वक विदित हो कि मैं कुछ दिनों से इधर आया हुआ हूँ। अहमदाबाद से आते हुए रास्ते में एक दो रोज दिल्ली ठहर कर आपके साथ सत्समागम का लाभ उठाने की खास इच्छा थी, परन्तु संयोगवश वैसा न हो सका।

“यहाँ पर मित्रवर श्रीयुत काशीप्रसाद जी जायसवाल से समागम हुआ और उन्होंने 'अनेकान्त' में आये हुए खारवेल के लेखों के विषय में चर्चा की, जिसमें खास तौर पर उस लेख के बारे में विशेष चर्चा हुई, जिसमें हिमवन्त-थेरावली के आधार पर कुछ बातें लिखी गई हैं। यह थेरावली अहमदाबाद में पण्डितप्रवर श्री सुखलाल जी के प्रबन्ध से हमारे पास आ गई थी और उसका हमने खूब सूक्ष्मता के साथ वाचन किया। पढ़ने के साथ ही हमें वह सारा ही ग्रन्थ बनावटी मालूम हो गया और किसने और कब यह गढ़ डाला उसका भी कुछ हाल मालूम हो गया। इन बातों के विशेष उल्लेख की मैं अभी आवश्यकता नहीं समझता। सिर्फ इतना ही कह देना उचित होगा कि हिमवन्त-थेरावली के कल्पक ने खारवेल के लेखवाली जो किताब हमारी (प्राचीन जैनलेखसंग्रह, प्रथम भाग) छपाई हुई है और जिसमें पं० भगवानलाल इन्द्र जी के पढ़े हुए लेख का पाठ और विवरण दिया गया है, उसी किताब को पढ़ कर उस पर से यह थेरावली का वर्णन बना लिया है। उस कल्पक को श्री जायसवाल जी के पाठ की कोई कल्पना नहीं हुई थी, इसलिये उस कल्पक

१३१. 'अनेकान्त' वर्ष १/ किरण ६-७/ वैशाख-ज्येष्ठ, वीर नि.सं. २४५६/ पृष्ठ ३५१-३५२।

की थेरावली अप-टु-डेट नहीं बन सकी। खैर। ऐसी रीति हमारे यहाँ बहुत प्राचीन काल से चली आ रही है, इससे इसमें हमें कोई आश्चर्य पाने की बात नहीं।

“आप जान कर प्रसन्न होंगे कि खारवेल के लेख का पुनर्वाचन हम दोनों—मैं और विद्यावारिधि जायसवाल जी—साथ मिल कर, हाल में फिर यहाँ पर बहुत परिश्रम के साथ कर रहे हैं। यहाँ पर पटने के म्यूजियम में इस लेख के सब साधन उपस्थित हैं। सरकार के आर्किओलाजिकल डिपार्टमेंट की तरफ से आज तक जो-जो प्रयत्न इस लेख के संशोधन और संरक्षण की दृष्टि से किये गये, उन सब का फलस्वरूप साहित्य यहाँ पर सुरक्षित है। श्रीमान् जायसवाल जी की अपने हाथ से ली हुई लेख की असली छापें, और पुराविदों की ली हुई प्रतिकृतियाँ और विलायती मिट्टी पर लिया हुआ अमूल्य कास्ट इत्यादि सब साधनों को सामने रखकर पाठ की वाचना की जा रही है। रोज ४-५ घंटे में, जायसवाल जी और कमैर म्यूजियम के क्युरेटर रायसाहिब घोष खड़े पैरों खारवेल की इस महालिपि के एक-एक अक्षर को बहुत तत्वावधान के साथ पढ़ रहे हैं। एक-एक पंक्ति को पढ़ने में कोई २-३ घंटे लगते हैं और किसी-किसी अक्षर पर पूरा सामायिक भी कर लिया जाता है। मेरा इरादा है कि यहाँ पर लेख की जो सामग्री प्रस्तुत है, उसे पूरा कर फिर खंडगिरि पर जा कर निश्चित किये हुए पाठ को प्रत्यक्ष शिलाक्षरों से भी मिलान कर लिया जाय। इसके लिये खास तौर पर गवर्नमेंट को लिखा जायगा और फिर गवर्नमेंट के प्रबंध से वहाँ पर जाया जायगा। शिला पर पढ़ने के लिये बड़ी कठिनाई है और बहुत बेढब जगह पर यह लेख खुदा हुआ कहते हैं। श्रीयुत जायसवाल जी कोई १२ वर्ष से इस लेख पर परिश्रम कर रहे हैं और उसी परिश्रम का यह फल है कि आज हम इस लेख के रहस्य और महत्त्व को इस तरह वास्तविक रूप में समझने के लिये उत्सुक हो रहे हैं।

“इसके साथ में श्री जायसवाल जी का नोट है। वह ‘अनेकान्त’ में छपने के लिये भेजा जा रहा है। आप चाहें तो मेरी यह चिट्ठी भी छाप सकते हैं। ‘अनेकान्त’ सुन्दर और सात्त्विक रूप में प्रकाशित हो रहा है, जो इसके नाम को सर्वथा सार्थक बना रहा है। लौटते हुए यदि मौका मिला तो मिलने की पूरी इच्छा तो है ही।

भवदीय
जिनविजय”

६.७. 'अनेकान्त' में प्रकाशनार्थ प्रेषित श्री जायसवाल जी का नोट

चक्रवर्ती खारवेल और हिमवन्त-थेरावली^{१३२}

लेखक : श्री० काशीप्रसाद जी जायसवाल

“मुनि श्री कल्याणविजय जी ने सत्यगवेषणाबुद्धि से गुजराती हिमवन्त-थेरावली से खारवेल का इतिहास दिया। इसमें साम्प्रदायिक आक्षेप की कोई जगह नहीं है, जैसा कि 'अनेकान्त' के सम्पादक जी ने विवेचना कर दी है।

“मेरे मन में हिमवन्त-थेरावली के विषय में बहुत सन्देह पैदा हुआ। श्री० कल्याणविजय जी के देखने में यह मूल पुस्तक अभी नहीं आई है। पर जिस भाण्डार में यह पोथी है, वहाँ से मेरे श्रेष्ठ मित्र मुनि जिनविजय जी के पास आ गई है। उन्होंने पोथी में खारवेल विषयक अंश प्रक्षिप्त पाया। इस समय मुनि जी पटने में ही हैं। अतः खारवेल का इतिहास थेरावली में प्रामाणिक नहीं, प्रक्षिप्त, आधुनिक और कल्पित है।

“मुनि श्री पुण्यविजय जी के लेख (अनेकान्त पृ० १४२) से 'यापज्ञापक' शब्द का अर्थ साफ हो गया, जिसकी खोज मुझे बहुत दिनों से थी। कई वर्षों के अध्ययन से यापज्ञापक पाठ निश्चित किया गया था। पर अर्थ का पता नहीं लगता था। मैं मुनिजी का बहुत अनुगृहीत हूँ।

चैत्र शु० ११, वी० २४५६^{१३३}

इस प्रकार महाराज खारवेल को श्वेताम्बर सिद्ध करने का यह प्रयास भी विफल हो गया। खारवेल के दिगम्बर होने का स्पष्ट प्रमाण यह है कि खण्डगिरि-उदयगिरि, जहाँ राजा खारवेल ने हाथीगुम्फा आदि गुफाएँ बनवाई थीं, परम्परा से दिगम्बरजैन तीर्थ रहा है और उन गुफाओं में जितनी भी जिनप्रतिमाएँ उत्कीर्ण हुई हैं, सब नग्न हैं।

१३२. 'अनेकान्त' / वर्ष १ / किरण ६-७ / वैशाख-ज्येष्ठ, वीर नि० सं० २४५६ / पृष्ठ ३५२।

१३३. “वीरनिर्वाण संवत् के इस उल्लेख पर से, और भी लेखक महोदय के हाल के पत्रों में इसी संवत् को लिखा देख कर, ऐसा मालूम होता है कि 'अनेकान्त' की १ ली किरण में 'महावीर का समय' शीर्षक के नीचे जो इस संवत् की यथार्थता को सिद्ध किया गया है, उसे अब जायसवाल जी ने भी स्वीकार कर लिया है और इसी से आप अपने पत्रादिकों में उसका व्यवहार करने लगे हैं। अच्छा हो यदि जायसवाल जी इस विषय में अपना कोई स्पष्ट नोट देने की कृपा करें।” सम्पादक।



तृतीय प्रकरण

यापनीयसंघ का पूर्वनाम मूलसंघ नहीं

१

'मूलसंघ' निर्ग्रन्थसंघ का नामान्तर

एकान्त-अचेलमुक्तिवादी निर्ग्रन्थसंघ (वर्तमान दिगम्बरजैन-संघ) और मूलसंघ पर्याय-वाची हैं। अन्तर केवल यह है कि 'निर्ग्रन्थसंघ' नाम तो निर्ग्रन्थ भगवान् महावीर के युग से चला आ रहा है, किन्तु उसका 'मूलसंघ' नाम तब पड़ा, जब उससे मुनियों के एक वर्ग ने अलग होकर श्वेतपटसंघ की स्थापना कर ली। शिलालेखों में 'मूलसंघ' नाम का सबसे प्राचीन उल्लेख ३७० ई० और ४२५ ई० के नोणमंगल-ताम्रपत्रलेखों में मिलता है। वे इस प्रकार हैं—

१. "श्रीमता माधववर्म्म-महाधिराजेन आत्मनः श्रेयसे --- आचार्य्यवीरदेवस्य -
---उपदेशनात् मृदुकोत्तूरविषये पेब्बोलल्-ग्रामे अर्हदायतनाय मूलसंघानुष्ठिताय महातटाकस्य
अधस्तात् द्वादशखण्डुकावापमात्रक्षेत्रं च तोट्टक्षेत्रं च पटुक्षेत्रं च कुमारपुरग्रामश्च --- दत्तः।"
(नोणमंगल-ताम्रपट्टिकालेख / क्र. ९०/३७० ई./ जै. शि. सं./ मा. च./ भा.२)।

अनुवाद—“श्रीमान् माधववर्मा महाधिराज (द्वितीय) ने अपने कल्याण के लिए आचार्य वीरदेव के उपदेश से मृदुकोत्तूर-प्रदेश के पेब्बोलल् ग्राम में मूलसंघ द्वारा प्रतिष्ठापित जिनालय को द्वादश खण्डुकावाप-प्रमाण क्षेत्र (भूमि), तोट्टक्षेत्र, पटुक्षेत्र तथा कुमारपुर ग्राम दान किया।”

२. "श्रीमता कोङ्गणिवर्म्म-धर्म्म-महाधिराजेन आत्मनः श्रेयसे --- स्वोपाध्यायस्य
परमार्हतस्य विजयकीर्तेः --- उपदेशतः चन्द्रनन्दाचार्य-प्रमुखेन मूलसंघेनानुष्ठिताय
उरनूरार्हतायतनाय कोरिकुन्दविषये वेन्नैल्करनिग्रामः --- दत्तः।" (नोणमंगल-ताम्रपट्टिका-
लेख / क्र. ९४/४२५ ई./ जै. शि. सं./ मा. च./ भा.२)।

अनुवाद—“श्रीमान् कोङ्गणिवर्मा महाधिराज (द्वितीय) ने आत्मकल्याण के लिए अपने गुरु परम जिनभक्त विजयकीर्ति के उपदेश से चन्द्रनन्दी आदि आचार्य-प्रधान मूलसंघ द्वारा प्रतिष्ठापित उरनूर के जिनालय को कोरिकुन्द-प्रदेश में वेन्नैल्करनि ग्राम प्रदान किया।”

इन अभिलेखों से प्रकट है कि एकान्त-अचेलमुक्तिवादी निर्ग्रन्थसंघ (वर्तमान दिगम्बर जैनसंघ) का पर्यायवाची 'मूलसंघ' शब्द ३७० ई० के पूर्व से प्रचलित था।

मुनि कल्याणविजय जी एवं डॉ० सागरमल जी का मत

किन्तु श्वेताम्बरमुनि श्री कल्याणविजय जी ने दिगम्बरजैन-परम्परा को अर्वाचीन सिद्ध करने के लिए यह कथा गढ़ी है कि उसकी स्थापना आचार्य कुन्दकुन्द ने विक्रम की छठी शताब्दी में दक्षिण भारत में की थी। ३७० ई० के उपर्युक्त ताम्रपत्रलेख में मूलसंघ का उल्लेख मिलने से उनकी यह कथा मनगढ़न्त सिद्ध हो जाती है। इसलिए उन्होंने इसकी मनगढ़न्तता पर आवरण डालने के लिए एक दूसरी यह कथा गढ़ी है कि मूलसंघ दिगम्बरसंघ का नाम नहीं था, अपितु यापनीयसंघ का नाम था।

द्वितीय अध्याय में मुनि कल्याणविजय जी का वह वक्तव्य उद्धृत किया गया है, जिसमें उन्होंने कल्पना की है कि बोटिक शिवभूति ने उत्तरभारत में अपने सम्प्रदाय का नाम 'मूलसंघ' रखा था, पर दक्षिण में जाने पर वह 'यापनीय' नाम से प्रसिद्ध हुआ। डॉ० सागरमल जी ने भी मुनि जी की इस कपोलकल्पना का अनुसरण किया है, किन्तु उन्होंने माना है कि शिवभूति ने उत्तरभारत में अपने सम्प्रदाय का नाम मूलगण रखा था, किन्तु दक्षिण में पहुँचने पर पहले वह मूलसंघ नाम से प्रसिद्ध हुआ, पश्चात् उसे यापनीय नाम मिला। मान्य विद्वान् ने यापनीयसंघ को मूलसंघ सिद्ध करने के लिए जो हेतु प्रस्तुत किये हैं, वे इस प्रकार हैं—

“मूलसंघ प्रारम्भ में किस परम्परा से सम्बद्ध था और कब दूसरी परम्पराओं ने उससे अपना सम्बन्ध जोड़ना प्रारम्भ किया, इसे समझने के लिये हमें सर्वप्रथम मूलसंघ के इतिहास को जानना होगा। सर्वप्रथम हमें दक्षिण भारत में नोणमंगल की ताम्रपट्टिकाओं पर मूलसंघानुष्ठिताय एवं मूलसंघेनानुष्ठिताय ऐसे उल्लेख मिलते हैं। ये दोनों ताम्रपट्टिकायें क्रमशः लगभग ईस्वी सन् ३७० और ई० सन् ४२५ की मानी जाती हैं। किन्तु इनमें निर्ग्रन्थ, कूर्चक, यापनीय या श्वेतपट आदि के नामों का उल्लेख नहीं होने से प्रथम दृष्टि में यह कह पाना कठिन है कि इस मूलसंघ का सम्बन्ध उनमें से किस धारा से था। दक्षिण भारत के देवगिरि और हल्सी के अभिलेखों के अध्ययन से यह स्पष्ट होता है कि ईसा की पाँचवीं शती के उत्तरार्ध में दक्षिण भारत में निर्ग्रन्थ, यापनीय, कूर्चक और श्वेतपटमहाश्रमणसंघ का अस्तित्व था। किन्तु मूलसंघ का उल्लेख तो हमें ईसा की चतुर्थ शती के उत्तरार्ध में मिल जाता है, अतः अभिलेखीय आधार पर मूलसंघ का अस्तित्व यापनीय, कूर्चक आदि नामों के पूर्व का है। मुझे ऐसा लगता है कि दक्षिण में इनमें से निर्ग्रन्थसंघ प्राचीन है और यापनीय, कूर्चक, श्वेतपट आदि संघ परवर्ती हैं, फिर भी मेरी दृष्टि में निर्ग्रन्थसंघ को मूलसंघ नहीं कहा जा सकता है। दक्षिण भारत का यह निर्ग्रन्थ महाश्रमण संघ भद्रबाहु (प्रथम)

की परम्परा के उन अचेल श्रमणों का संघ था जो ईसापूर्व तीसरी शती में बिहार से उड़ीसा के रास्ते लंका और तमिलप्रदेश में पहुँचे थे। उस समय उत्तर भारत में जैनसंघ इसी नाम से जाना जाता था और उसमें गण, शाखा का विभाजन नहीं हुआ था, अतः ये श्रमण भी अपने को इसी 'निर्ग्रन्थ' नाम से अभिहित करते रहे। पुनः उन्हें अपने को मूलसंघी कहने की कोई आवश्यकता भी नहीं थी, क्योंकि वहाँ तब उनका कोई प्रतिद्वन्द्वी भी नहीं था। यह निर्ग्रन्थसंघ यापनीय, कूर्चक और श्वेतपट संघ से पृथक् था, यह तथ्य भी हल्सी और देवगिरि के अभिलेखों से सिद्ध है, क्योंकि इनमें उसे इनसे पृथक् दिखलाया गया है और तब तक इसका निर्ग्रन्थसंघ नाम सुप्रचलित था। पुनः जब लगभग १०० वर्ष के पश्चात् के अभिलेखों में भी यह निर्ग्रन्थसंघ के नाम से ही सुप्रसिद्ध है, तो पूर्व में यह अपने को 'मूलसंघ' कहता होगा, यह कल्पना निराधार है।

“अपने को मूलसंघ कहने की आवश्यकता उसी परम्परा को हो सकती है, जिसमें कोई विभाजन हुआ हो, जो दूसरे को निर्मूल या निराधार बताना चाहती हो, यह बात पं० नाथूराम जी प्रेमी ने भी स्वीकार की है। यह विभाजन की घटना उत्तर भारत में तब घटित हुई, जब लगभग ईसा की दूसरी शताब्दी के उत्तरार्ध में उत्तर भारत का निर्ग्रन्थसंघ अचेल और सचेल धारा में विभक्त हुआ। साथ ही उसकी अचेल धारा को अपने लिये एक नये नाम की आवश्यकता प्रतीत हुई। उस समय तक उत्तर भारत का निर्ग्रन्थसंघ अनेक गणों, शाखाओं और कुलों में विभक्त था, यह तथ्य मथुरा के अनेक अभिलेखों से और कल्पसूत्र की स्थविरावली से सिद्ध है। अतः सम्भावना यही है कि उत्तर भारत की इस अचेलधारा ने अपनी पहचान के लिये 'मूलगण' नाम चुना हो, क्योंकि इस धारा को बोटिक और यापनीय ये दोनों ही नाम दूसरों के द्वारा ही दिये गये हैं, जहाँ श्वेताम्बरों अर्थात् उत्तर भारत की सचेलधारा ने उन्हें बोटिक कहा, वहीं दिगम्बरों अर्थात् दक्षिण भारत की निर्ग्रन्थ अचेलधारा ने उन्हें यापनीय कहा। डॉ० गुलाबचन्द चौधरी ने जो यह कल्पना की, कि दक्षिण में निर्ग्रन्थसंघ की स्थापना भद्रबाहु द्वितीय ने की (जै. शि. सं./मा. च./भा.३/प्रस्ता./पृ. २३) मुझे निराधार प्रतीत होती है, दक्षिण भारत का निर्ग्रन्थसंघ तो भद्रबाहु-प्रथम की परम्परा का प्रतिनिधि है, चाहे भद्रबाहु प्रथम दक्षिण गये हों, या नहीं गये हों, किन्तु उनकी परम्परा ईसा पू० तीसरी शती में दक्षिण भारत में पहुँच चुकी थी, इसके अनेक प्रमाण भी हैं। भद्रबाहु प्रथम के पश्चात् लगभग द्वितीय शती में एक आर्यभद्र हुए हैं, जो निर्युक्तियों के कर्ता थे और सम्भवतः ये उत्तर भारत के अचेल पक्ष के समर्थक रहे थे, उनके नाम से भद्रान्वय प्रचलित हुआ, जिसका उल्लेख उदयगिरि (विदिशा) में मिलता है। मेरी दृष्टि में मूलगण, भद्रान्वय, आर्यकुल आदि

का सम्बन्ध इसी उत्तर भारत की अचेलधारा से है, जो आगे चलकर यापनीय नाम से प्रसिद्ध हुई। दक्षिण में पहुँचने पर यह धारा अपने को मूलगण या मूलसंघ कहने लगी। यह आगे चलकर श्रीवृक्षमूलगण, पुन्नागवृक्षमूलगण, कनकोपलसम्भूतवृक्षमूलगण आदि अनेक गणों में विभक्त हुई, फिर भी सबने अपने साथ मूलगण शब्द कायम रखा। जब इन विभिन्न मूलगणों को कोई एक संयुक्त नाम देने का प्रश्न आया, तो उन्हें मूलसंघ कहा गया। कई गणों द्वारा परवर्तीकाल में संघ नाम धारण करने के अनेक प्रमाण अभिलेखों में उपलब्ध हैं। पुनः यापनीय ग्रन्थों के साथ लगा हुआ 'मूल' विशेषण जैसे मूलाचार, मूलाराधना आदि भी इसी तथ्य का सूचक है कि 'मूलसंघ' शब्द का सम्बन्ध यापनीयों से रहा है। अतः नोणमंगल की ताम्रपट्टिकाओं में उल्लिखित मूलसंघ यापनीयपरम्परा का ही पूर्वरूप है। उत्तर भारत के निर्ग्रन्थसंघ की यह धारा जब पहले दक्षिण भारत में पहुँची तो मूलसंघ के नाम से अभिहित हुई और उसके लगभग १०० वर्ष पश्चात् इसे यापनीय नाम मिला। हम यह भी देखते हैं कि उसे यापनीय नाम मिलते ही अभिलेखों से मूलसंघ नाम लुप्त हो जाता है और लगभग चार सौ पचास वर्षों तक हमें मूलसंघ का कहीं कोई भी उल्लेख उपलब्ध नहीं होता है। नोणमंगल की ई० सन् ४२५ की ताम्र-पट्टिकाओं के पश्चात् कोनूर के ई० सन् ८६० के अभिलेख में पुनः मूलसंघ का उल्लेख देशीयगण के साथ मिलता है। ज्ञातव्य है कि इस अभिलेख में मूलसंघ के साथ देशीयगण और पुस्तकगच्छ का उल्लेख है, किन्तु कुन्दकुन्दान्वय का उल्लेख नहीं है। ज्ञातव्य है कि पहले यह लेख ताम्रपट्टिका पर था, बाद में १२ वीं शती में इसमें कुछ अंश जोड़कर पत्थर पर अंकित करवाया गया, इस जुड़े हुए अंश में ही कुन्दकुन्दान्वय का उल्लेख है। इसके दो सौ वर्ष पश्चात् से यापनीयगण और द्राविड़ आदि अन्य गण सभी अपने को मूलसंघीय कहते प्रतीत होते हैं।" (डॉ० सागरमल जैन अभिनन्दन ग्रन्थ/पृ० ६३२-६३३)।

३

यापनीयसंघ मूलसंघ नहीं : इसके प्रमाण

१. उक्त दोनों महानुभावों ने ऐसा एक भी साहित्यिक या शिलालेखीय प्रमाण प्रस्तुत नहीं किया, जिससे यह सिद्ध होता हो कि शिवभूति ने सचेलाचेल-मुक्तिवादी सम्प्रदाय चलाया था और उसी का नाम पहले 'मूलसंघ' था और बाद में यापनीय नाम पड़ा। यह बात उन्होंने अपने मन से ही कल्पित कर ली है।

द्वितीय अध्याय में अनेक प्रमाणों और युक्तियों से सिद्ध किया गया है कि बोटिक शिवभूति ने किसी नये मत का प्रवर्तन नहीं किया था, अपितु वह श्वेताम्बरमत छोड़कर सवस्त्रमुक्ति, स्त्रीमुक्ति एवं केवलिभुक्ति के विरोधी परम्परागत दिग्म्बरमत

(मूलसंघ या एकान्त-अचेलमुक्तिवादी निर्ग्रन्थसंघ) का अनुयायी बन गया था। इसलिए जब उसने किसी नये मत का प्रवर्तन ही नहीं किया था, तब उसके 'मूलसंघ' या 'यापनीयसंघ' के नाम से प्रसिद्ध होने की बात करना बन्ध्यापुत्र के नाम पर विवाद करना है।

यापनीयसंघ का उदय दक्षिण में ही हुआ था, यह पूर्व में सिद्ध किया जा चुका है। अतः उसके उत्तर से दक्षिण में जाने की अवधारणा निरस्त हो जाती है। अतः यह अवधारणा भी निरस्त हो जाती है कि दक्षिण में जाने पर वह क्रमशः मूलसंघ और यापनीयसंघ के नाम से प्रसिद्ध हुआ। पाँचवीं शती ई० के अभिलेखों में यापनीयसंघ नाम ही मिलता है। इससे सिद्ध है कि इस समय तक वह इसी नाम से प्रसिद्ध था।

२. डॉ० सागरमल जी ने स्वीकार किया है कि "अपने को मूलसंघ कहने की आवश्यकता उसी परम्परा को हो सकती है, जिसमें कोई विभाजन हुआ हो।" (देखिये, पूर्वशीर्षक २) हम देखते हैं कि यापनीयसंघ में कोई विभाजन नहीं हुआ, अतः उससे किसी नये संघ की उत्पत्ति नहीं हुई, इसलिए उसे स्वयं को मूलसंघ कहने की आवश्यकता ही नहीं थी। यापनीयसंघ का उद्भव श्वेताम्बर-सम्प्रदाय से हुआ था, अतः यापनीयसंघ की दृष्टि से श्वेताम्बरसंघ मूलसंघ कहला सकता था। किन्तु डॉक्टर सा० की मान्यता है कि श्वेताम्बर और यापनीय दोनों संघ उत्तरभारतीय सचेलाचेलमुक्तिवादी निर्ग्रन्थसंघ से निकले हैं, अतः उनके अनुसार श्वेताम्बरसंघ भी मूलसंघ नहीं कहला सकता। हाँ दोनों को जन्म देने वाला उपर्युक्त सचेलाचेल निर्ग्रन्थसंघ मूलसंघ कहला सकता था, किन्तु वैसा कोई संघ था ही नहीं, यह द्वितीय अध्याय में सिद्ध किया जा चुका है। इस प्रकार सिद्ध है कि आरम्भ में न तो यापनीयसंघ मूलसंघ कहलाता था, न श्वेताम्बरसंघ, न ही दोनों का तथाकथित जन्मदाता कपोलकल्पित सचेलाचेल-निर्ग्रन्थसंघ।

३. 'दिगम्बर-श्वेताम्बर-भेद का इतिहास' नामक अध्याय में सप्रमाण सिद्ध किया गया है कि भगवान् महावीर द्वारा प्रणीत एकान्त-अचेलमुक्तिवादी-निर्ग्रन्थसंघ का विभाजन अन्तिम अनुबद्ध केवली जम्बू स्वामी के निर्वाण के पश्चात् ही हो गया था, जिससे एकान्त-सचेलमार्गी नये संघ की उत्पत्ति हुई, जो 'श्वेतपटश्रमणसंघ' नाम से प्रसिद्ध हुआ। इस नये संघ की उत्पत्ति से पुराने संघ को मूलसंघ कहने की आवश्यकता हो गई। जब ईसापूर्व चतुर्थ शताब्दी में द्वादशवर्षीय दुर्भिक्ष के समय श्रुतकेवली भद्रबाहु अपने बारह हजार शिष्यों के साथ दक्षिण भारत गये, तब उनके निर्ग्रन्थश्रमणसंघ के साथ मूलसंघ विशेषण जुड़ चुका था। अतः दक्षिण भारत के शिलालेखों और ताम्रपत्रों में उनके संघ के लिए निर्ग्रन्थमहाश्रमणसंघ और मूलसंघ दोनों नामों का प्रयोग

युक्तिसंगत है। एक ही संघ के दो नामों का होना असंभव नहीं है। यापनीयसंघ का भी अन्य नाम गोप्यसंघ था।

४. सचेलाचेल-मुक्तिवादी जैनसंघ को 'यापनीय' नाम दिगम्बरों (दक्षिणभारत की निर्ग्रन्थ अचेलधारा) ने दिया था, इसका उल्लेख दिगम्बर, श्वेताम्बर, वैदिक और बौद्ध किसी भी सम्प्रदाय के साहित्य में नहीं है, न किसी शिलालेख में है। अतः इसे दिगम्बरों के द्वारा दिया गया कहना कपोलकल्पना मात्र है। कोई भी धार्मिक सम्प्रदाय अपने नाम के लिए दूसरों का मोहताज नहीं होता। वह स्वयं ही अपने सम्प्रदाय की सैद्धान्तिक विशिष्टता प्रकट करने के लिए गहन चिन्तन-मनन के बाद अत्यन्त उपयुक्त नाम चुनता है। दूसरे लोग ईर्ष्या या द्वेषवश उसे किसी भी नाम से पुकारें, पर वह अपनी पहचान अपने ही द्वारा निर्धारित किये गये नाम से कराता है। 'यापनीयसंघ' नाम राजकीय शिलालेखों या ताम्रपत्रों में मिलता है, और पाल्यकीर्ति शाकटायन जैसे वैयाकरण ने अपने लिए यापनीय-यत्तिग्रामाग्रणी विशेषण का प्रयोग कर अपना महत्त्व प्रकट किया है, इससे स्पष्ट है कि यापनीयों ने यह नाम अपने लिए बहुत सोच-समझकर चुना था और इस नाम से ही अपने संघ को प्रसिद्ध किया था। अतः इसे दिगम्बरों द्वारा दिया गया मानना सर्वथा असंगत प्रलाप है।

यापनीय नाम प्रचलित होने के विषय में डॉ० सागरमल जी ने मुनि कल्याणविजय जी का पट्टावलीसारसंग्रह (पृ.९१) में व्यक्त निम्नलिखित मत उद्धृत किया है—“यापनीय नाम पड़ने का खास कारण उनके गुरुवन्दन में आनेवाला जावणिज्जाए शब्द है। निर्ग्रन्थ श्रमण अपने बड़ेरों (ज्येष्ठ) को वन्दन करते समय निम्नलिखित पाठ बोलते हैं—

“इच्छामि खमासमणो ! वंदिउं जावणिज्जाए निसीहआए, अणुजाणह मे मि उग्गहं निसीहि।”

“अर्थात् मैं चाहता हूँ, हे पूज्य! वन्दन करने को शरीर की शक्ति के अनुसार। इस समय मैं दूसरे कार्यों की तरफ से ध्यान रोकता हूँ, मुझे आज्ञा दीजिये, परिमित स्थान में आने की।

“उपर्युक्त वन्दनकसूत्र में आनेवाले जावणिज्जाए—‘यापनीय’ शब्द के बारम्बार उच्चारण करने के कारण लोगों में उनकी यापनीय नाम से प्रख्याति हो गई।” (जै.ध.या.सं./ पृ. ५-६)।

इसके बाद डॉक्टर सा० ने अन्य विचारकों के मतों को भी उद्धृत किया है। तदनन्तर वे अपने मत को इन शब्दों में व्यक्त करते हैं—“संभवतः जिस प्रकार उत्तरभारत में श्वेताम्बरों ने इस परम्परा को अपने साम्प्रदायिक दुरभिनवेशवश ‘बोटिक’ अर्थात् भ्रष्ट या पतित कहा, उसी प्रकार दक्षिण में दिगम्बर-परम्परा ने भी उन्हें उनके

सुविधावादी जीवन के आधार पर अथवा उन्हें तिरस्कृत मानकर 'यापनीय' कहा हो।" (जै. ध. या. सं. / पृ. ७)। तत्पश्चात् अपने कथन का उपसंहार करते हुए डॉक्टर सा० लिखते हैं—

“इस प्रकार हमने यहाँ यापनीय शब्द की सम्भावित विभिन्न व्याख्याओं को प्रस्तुत करने का प्रयास किया है। किन्तु आज स्पष्ट प्रमाणों के अभाव में यह बता पाना तो कठिन है कि इन विविध विकल्पों में किस आधार पर इस वर्ग को यापनीय कहा गया था। फिर भी कल्याणविजय जी की मान्यता युक्तिसंगत है।” (जै. ध. या. सं. / पृ. ७)।

इस प्रकार डॉक्टर सा० ने स्वयं स्वीकार किया है कि श्वेताम्बरों द्वारा 'बोटिक' और दिगम्बरों द्वारा 'यापनीय' नाम दिये जाने के पक्ष में प्रमाण का अभाव है और उन्होंने मुनि कल्याणविजय जी के मत को युक्तिसंगत माना है। इससे सिद्ध है कि यापनीयों ने अपने संघ का 'यापनीयसंघ' नाम स्वयं रखा था। अतः 'बोटिक' और 'यापनीय' नाम दूसरों के द्वारा दिये हुए हैं और 'मूलगण' नाम स्वयं यापनीयों के द्वारा रखा गया है, यह कथन अयुक्तियुक्त सिद्ध हो जाता है। तथा यापनीयों ने आरंभ में अपना नाम मूलगण रखा था, यह कथन किसी साहित्यिक या शिलालेखीय प्रमाण से भी समर्थित नहीं है।

इसके अतिरिक्त गण तो संघ का अंग होता है, अतः यापनीयों ने अपने संघ को 'गण' कहा होगा, यह मानना भी युक्तिसंगत नहीं है। पुनः उसके साथ 'मूल' शब्द लगाने का भी कोई औचित्य नहीं है, क्योंकि उससे किसी अन्य संघ या गण की उत्पत्ति नहीं हुई थी, जिससे अपनी मौलिकता सूचित करने के लिए उसे अपने साथ 'मूल' शब्द जोड़ना आवश्यक होता। ये युक्तियाँ इस निष्कर्ष पर पहुँचाती हैं कि यापनीयों ने अपने संघ का नाम मूलगण नहीं, अपितु 'यापनीय' ही रखा था।

५. मुनि कल्याणविजय जी ने लिखा है कि शिवभूति ने अपने सम्प्रदाय का नाम मूलसंघ रखा था, किन्तु दक्षिण में जाने पर वह यापनीय नाम से प्रसिद्ध हुआ। (श्र. भ. म. / पृ. ३०१, ३२७)। मुनि जी की इस कल्पना से यही सिद्ध होता है कि जब यापनीयसंघ दक्षिण में 'यापनीय' नाम से ही जाना जाता था, तब दक्षिण के शिलालेखों में उसका उल्लेख 'यापनीय' नाम से ही हो सकता था, 'मूलसंघ' नाम से नहीं। अतः दक्षिण के जिन शिलालेखों में केवल 'मूलसंघ' नाम उल्लिखित है, वह एकान्त-अचेलमुक्तिवादी निर्ग्रन्थसंघ का ही उल्लेख है।

डॉ० सागरमल जी ने जो यह कल्पना की है कि यापनीयसंघ का 'मूलसंघ' नाम भी दक्षिण में जाने पर ही प्रचलित हुआ, वह इसलिए की है, जिससे यह सिद्ध

किया जा सके कि दक्षिण के जिन शिलालेखों में 'मूलसंघ' नाम आया है वह यापनीयसंघ का ही पूर्वनाम है। किन्तु यापनीयसंघ का मूलसंघ नाम दक्षिण में जाने पर प्रचलित हुआ, इसका समर्थन किसी साहित्यिक या शिलालेखीय प्रमाण से नहीं होता। अतः यह शुद्ध कपोलकल्पना है।

दूसरी बात, डॉक्टर सा० ने माना है कि दक्षिण में यापनीय संघ के 'मूलसंघ' नाम से प्रसिद्ध होने के सौ वर्ष बाद उसे 'यापनीय' नाम मिला। डॉक्टर सा० ने 'बोटिक' नाम से यापनीय-सम्प्रदाय की उत्पत्ति वीर नि० सं० ६०९ (ई० सन् ८२) में मानी है। और मूलसंघ का प्रथम उल्लेख नोणमंगल की ३७० ई० की ताम्रपट्टिका में तथा यापनीयसंघ का प्रथम उल्लेख ४७० ई० के मृगेशवर्मा के शिलालेख में मिलता है। यदि 'मूलसंघ' नाम से प्रसिद्ध होने के लिए पचास वर्ष का समय आवश्यक मान लिया जाय, तो यापनीयसंघ के दक्षिण में पहुँचने का समय ३२० ई० के लगभग फलित होता है। इसका तात्पर्य यह हुआ कि कम से कम दो-ढाई सौ वर्ष तक यह संघ उत्तर भारत में रहा। इतने समय तक वह वहाँ किस नाम से प्रसिद्ध रहा, इसके बारे में डॉक्टर सा० ने केवल संभावना व्यक्त की है। वे कहते हैं कि उत्तरभारत में उसने अपने को तीर्थंकर महावीर के मूल आचारमार्ग का अनुसरण करने के कारण 'मूलगण' कहा होगा।^{१३४} संभावना व्यक्त करने से ही सिद्ध है कि उनके पास इसका कोई प्रमाण नहीं है, वस्तुतः 'मूलगण' नाम के किसी सम्प्रदाय का उल्लेख न तो श्वेताम्बर-साहित्य में है, न दिगम्बरसाहित्य में, न यापनीयसाहित्य में, न वैदिक-बौद्ध-साहित्य में और न किसी शिलालेख में, इसलिए किसी प्रमाण के मिलने की संभावना ही नहीं है। 'मूलगण' यापनीयसम्प्रदाय के एक 'गण' का नाम अवश्य था, किन्तु उसका सर्वप्रथम उल्लेख यापनीय-नन्दिसंघ के साथ ७७६ ई० के देवरहल्लि-अभिलेख में हुआ है तथा यापनीय-नन्दिसंघ का नाम भी सबसे पहले इसी शिलालेख में आया है।^{१३५} अतः ३२० ई० के पूर्व यापनीयसंघ के 'मूलगण' नाम से प्रसिद्ध होने का प्रमाण न तो साहित्य में उपलब्ध है, न शिलालेखों में।

यह इस बात का सबूत है कि उत्तरभारत में यापनीयसम्प्रदाय की उत्पत्ति ही नहीं हुई थी, अन्यथा उत्तरभारत में उसका कोई न कोई नाम लोकप्रसिद्ध होता। इसलिए यह कथन ही असंगत है कि "दक्षिण में पहुँचने पर यापनीयसंघ पहले 'मूलसंघ' नाम से प्रसिद्ध हुआ और उसके सौ वर्ष बाद 'यापनीयसंघ' नाम से।" उपर्युक्त प्रमाण

१३४. जै. ध. या. स. / पृ. ४५ तथा डॉ. सागरमल जैन अभिनन्दन ग्रन्थ / पृ. ६३२।

१३५. "श्रीमूल-मूलगणाभिनन्दितनन्दिसङ्घान्वये एरेगित्तूनाभिन् गणे पुलिकल्गच्छे ---।" ले. क्र. १२१/ जै. शि. सं. / मा. च. / भा. २।

से यही सिद्ध होता है कि यापनीयसंघ की उत्पत्ति दक्षिण भारत में ही हुई थी और वह आरंभ से ही 'यापनीय' नाम से प्रसिद्ध हुआ था।

६. यापनीयसम्प्रदाय के उत्पत्तिकाल के विषय में अपने पूर्वोक्त मत को बदलकर उक्त विद्वान् ने अपने ग्रन्थ में एक नहीं, अनेक स्थानों पर लिखा है कि यापनीय-सम्प्रदाय की उत्पत्ति पाँचवीं शताब्दी ई० में हुई थी, क्योंकि इसी समय के शिलालेखों में प्रथम बार उसका नाम मिलता है। (जै.ध.या.स./पृ.३५०, ३५७, ३६८, ३७२, ३७३)। मैं भी इससे सहमत हूँ। शिलालेखों में नाम आने योग्य प्रसिद्धि प्राप्त करने के लिए कम से कम ५० वर्ष का समय तो आवश्यक माना ही जाना चाहिए। इसके अनुसार यापनीयसंघ का जन्म शिलालेख के समय ४७० ई० से ५० वर्ष पूर्व अर्थात् ४२० ई० में माना जाना चाहिए। किन्तु मूलसंघ का उल्लेख करनेवाली नोणमंगल की ताम्र-पट्टिकाओं का समय ३७० ई० तथा ४२५ ई० है। इस कालगत पूर्वापरता से स्पष्ट है कि इन ताम्रपट्टिकाओं में उल्लिखित मूलसंघ यापनीयसंघ नहीं हो सकता। अतः वह एकान्त-अचेतमुक्तिवादी निर्ग्रन्थ (दिगम्बर) संघ का ही नामान्तर है।

७. शिलालेखों में 'श्रीमूलसंघद पो (पु) न्नागवृक्षमूलगण' तथा 'श्रीमूलसंघान्वय-क्राणूरगण' इन उल्लेखों को देखकर डॉ० सागरमल जी ने माना है कि ये गण यापनीयों के हैं तथा मूलसंघ के साथ उनका उल्लेख हुआ है, इससे सिद्ध है कि मूलसंघ यापनीयसंघ का ही नाम था।^{१३६} किन्तु यह उनकी एकान्तदृष्टि का निष्कर्ष है। वस्तुतः पुन्नागवृक्षमूलगण यापनीयसंघ और मूलसंघ दोनों में था। इसी प्रकार नन्दिसंघ भी दोनों में था। इनमें भेद प्रदर्शित करने के लिए यापनीयसंघ के पुन्नागवृक्षमूलगण एवं नन्दिसंघ के साथ 'यापनीय' शब्द का प्रयोग किया गया है तथा मूलसंघ के पुन्नागवृक्षमूलगण एवं नन्दिसंघ के साथ 'मूलसंघ' का। यथा—

क—'श्रीमूलसंघद पो (पु) न्नागवृक्षमूलगणद।' (होनूरलेख/११०८ ई०)।^{१३७}

ख—'श्रीयापनीय-नन्दिसंघ-पुन्नागवृक्षमूलगणे--।' (कडब-दानपात्र/८१२ ई०)।^{१३८}

ग—'श्रीयापनीयसंघद पुन्नागवृक्षमूलगणद ---।' (हूलि-लेख/१०४४ ई०)।^{१३९}

इनके अतिरिक्त ११६५ ई० के एकसम्बि. (बेलगाँव, मैसूर) लेख,^{१४०} १०२०

१३६. डॉ० सागरमल जैन अभिनन्दन ग्रन्थ / पृष्ठ ६३२।

१३७. जैन शिलालेख संग्रह / माणिकचन्द्र / भाग २ / लेख क्रमांक २५०।

१३८. वही / लेख क्रमांक १२४।

१३९. जैन शिलालेखसंग्रह / भारतीय ज्ञानपीठ / भाग ४ / लेख क्रमांक १३०।

१४०. वही / लेख क्रमांक २५९।

ई० के रढवग्-लेख,^{१४१} १३ वीं शताब्दी ई० के कोल्हापुर के मंगलवार-पेठस्थित मन्दिर के लेख^{१४२} आदि अनेक अभिलेखों में यापनीय-पुन्नागवृक्षमूलगण उल्लेख है।

इस प्रकार यापनीयसंघ के पुन्नागवृक्षमूलगण के साथ सर्वत्र 'यापनीय' शब्द का प्रयोग किया गया है। इससे सिद्ध है कि मूलसंघ के पुन्नागवृक्षमूलगण के साथ 'यापनीय' शब्द का प्रयोग न होने से वह यापनीयसंघ का पुन्नागवृक्षमूलगण नहीं है, अपितु मूलसंघ का पुन्नागवृक्षमूलगण है। इससे यह भी स्पष्ट हो जाता है कि मूलसंघ और यापनीयसंघ अलग-अलग संघ थे।

एक बात और ध्यान देने योग्य है। पुन्नागवृक्षमूलगण के साथ 'मूलसंघ' शब्द का प्रयोग सबसे पहले ११०८ ई० के होन्नूर-लेख में किया गया है। किन्तु उसके (पुन्नागवृक्ष-मूलगण के) साथ 'यापनीय' शब्द का प्रयोग उसके पूर्व (८१२ ई०) के कड़ब-दानपत्र में भी मिलता है और उसके बाद (१०२०, १०४४, ११६५ ई०) के अनेक दानपत्रों में भी। इससे सिद्ध होता है कि यापनीयसंघ 'यापनीय' नाम से ही अविच्छिन्नरूप से प्रसिद्ध रहा है। यदि सन् ११०८ ई० में उसका नाम मूलसंघ हो गया होता, तो उसके बाद से पुन्नागवृक्षमूलगण के साथ 'मूलसंघ' शब्द का ही प्रयोग मिलता, 'यापनीय' शब्द का नहीं। यह संभव नहीं है कि चौथी-पाँचवीं शताब्दी ई० से ८१२ ई० तक वह यापनीयसंघ नाम से प्रसिद्ध रहा हो, फिर बीच में अचानक पचास वर्षों के लिए उसका मूलसंघ नाम चल पड़ा हो, पश्चात् उसने पुनः 'यापनीय' नाम धारण कर लिया हो। यह बार-बार अकारण नाम बदलने की कल्पना युक्तिसंगत नहीं है। इसलिए यही सिद्ध होता है कि मूलसंघ और यापनीयसंघ अलग-अलग संघ थे और पुन्नागवृक्षमूलगण मूलसंघ में भी था और यापनीय संघ में भी। डॉ० ए० एन० उपाध्ये ने भी यह स्वीकार किया है। वे लिखते हैं—

“यापनीयसंघ का गणों से विशेष सम्बन्ध था, जैसे कुमुलिगण या कुमुदिगण, (कोटि) मडुवगण, कण्डूर या क्राणूरगण, पुन्नागवृक्षमूलगण (जो मूलसंघ से भी संबंधित है)--- आदि आदि”^{१४३}

डॉ० गुलाबचन्द्र जी चौधरी ने 'जैन शिलालेखसंग्रह'(मा.च.)भाग ३ की प्रस्तावना (पृ.२९) में लिखा है कि "यापनीय-नन्दिसंघ के कनकोपलादि गणों का अस्तित्व बाद के लेखों से नहीं मालूम होता, इसलिए यह कहना कठिन है कि उनका क्या

१४१. डॉ. ए. एन. उपाध्ये : 'जैनसम्प्रदाय के यापनीयसंघ पर कुछ और प्रकाश' / 'अनेकान्त' / महावीर निर्वाण विशेषांक / १९७५ ई० / पृ.२४७।

१४२. वही / पृ.२५०।

१४३. वही / पृ.२५०।

हुआ। पर लेख नं० २५० (सन् ११०८) में पुनागवृक्षमूलगण को हम मूलसंघ के अन्तर्गत जीवित पाते हैं। संभव है पीछे वह मूलसंघ द्वारा आत्मसात् कर लिया गया हो।”

किन्तु डॉ० चौधरी की इस प्रस्तावना के लिखे जाने (१९५७ ई०) के बाद डॉ० ए० एन० उपाध्ये (१९७३ ई०) एवं प्रो० विद्याधर जोहरापुरकर (१९६५ ई०) ने सन् १९६५ और उसके बाद के कुछ अभिलेखों का विवरण दिया है, जिनमें यापनीयसंघ-पुनागवृक्षमूलगण का उल्लेख है। (देखिए, प्रस्तुत अध्याय की पा.टि. १४०-१४२)। इससे ज्ञात होता है कि यापनीयसंघ का पुनागवृक्षमूलगण सन् ११०८ ई० के बाद भी विद्यमान था, वह मूलसंघ के द्वारा आत्मसात् नहीं किया गया था, अपितु मूलसंघ का पुनागवृक्षमूलगण अपना अलग था। इस प्रकार मूलसंघ के साथ पुनागवृक्षमूलगण का उल्लेख होने से यह सिद्ध नहीं होता कि यापनीयसंघ ही मूलसंघ था।

मूलसंघीय नन्दिसंघ से भेद प्रदर्शित करने के लिए यापनीयों ने अपने नन्दिसंघ के साथ भी ‘यापनीयसंघ’ विशेषण प्रयुक्त किया है, यथा—

“श्रीयापनीय-नन्दिसंघ-पुनागवृक्षमूलगणे श्रीकित्याचार्यान्वये---।”^{१४४}

४

क्राणूर या काणूर गण मूलसंघ का ही गण था

जहाँ तक क्राणूरगण का सम्बन्ध है, वह केवल मूलसंघ का ही गण था, यापनीयसंघ में क्राणूरगण नहीं अपितु कण्डूरगण था, जो कहीं-कहीं ‘काण्डूर’ या ‘काडूर’ भी लिखा गया है। नीचे उद्धृत १२वीं सदी के लेखांश में यापनीयसंघ के साथ कण्डूरगण का ही उल्लेख है—“यापनीयसंघप्रतीतकण्डूरगणाब्धिचन्द्रमरेदी---।”^{१४५}

इसके अतिरिक्त १३वीं सदी के अदरगुंचि (धारवाड़, मैसूर) के कन्नड़ अभिलेख में भी यापनीयसंघ के साथ काडूरगण का ही नाम है।^{१४६} क्राणूरगण के साथ यापनीयसंघ का निर्देश किसी भी अभिलेख में नहीं है, सर्वत्र मूलसंघ का ही उल्लेख है। जहाँ उसके साथ मूलसंघ का उल्लेख नहीं है, वहाँ, उसकी गुर्वावली मूलसंघ के आचार्यों से मिलती है। यथा—

१४४. जैन शिलालेख संग्रह / माणिकचन्द्र / भाग २ कडब-लेख क्र. १२४ / ८१२ ई०।

१४५. जैन शिलालेख संग्रह / भारतीय ज्ञानपीठ / भाग ४ / हूलि-लेख क्र. २०७ / १२वीं सदी पूर्वार्ध।

१४६. वही / अदरगुंचि-लेख क्र. ३६८ / १३वीं सदी।

क—“काणूरगणद --- नन्दिभट्टारकरुं बालचन्द्रभट्टारकरुं मेषचन्द्रत्रैविद्यदेवरुं
--- गुणनन्दिदेवशब्दब्रह्म --- प्रभाचन्द्रसिद्धान्तदेवर --- माघनन्दिद्विद्वान्त---।” ११४७

ख—“श्रीमूलसंघ-कुण्डकुन्दान्वय-काणूरगण-तित्रिणिगच्छद जवलिगेय मुनि-
भद्रसिद्धान्तदेवरशिष्य ---।” ११४८

ग—“देशियगणद --- काणूरगणद ---।” ११४९

घ—“श्रीमूलसंघ-कोण्डकुन्दान्वय-काणूरगणद मेषपाषाणगच्छद श्रीप्रभाचन्द्र-
सिद्धान्तदेवर---।” ११५०

ङ---“श्रीकाणूरगणमूलसंघ --- पुस्तकगच्छद।” ११५१

च—“श्रीमूलसंघ-पनसोगवतीप्रसिद्धदेशीयविदितपुस्तकचारुगच्छे। यः कुण्ड-
कुन्दमुनिवंशललामभूल्ललितकीर्तिमहामुनीन्द्रः।” ११५२

छ—“श्रीमूलसंग-कुण्डकुन्दान्वयद काणूरगण माधवचन्द्रदेव ---।” ११५३

ज—“श्रीमूलसंघद-कोण्डकुन्दान्वयद काणूरगण मेषपाषाणगच्छद ---।” ११५४

झ—श्रीमूलसंघविख्याते मेषपाषाणगच्छके।

क्राणूर-गण-जिनावासो निर्मितं हेम्मभूतः॥ ११५५

इन समस्त उद्धरणों में काणूरगण या क्राणूरगण का सम्बन्ध मूलसंघ के ही साथ बतलाया गया है और मूलसंघ का सम्बन्ध कुन्दकुन्दान्वय, देशीयगण तथा पुस्तकगच्छ के साथ वर्णित है। इससे एकदम स्पष्ट है कि काणूरगण या क्राणूरगण कुन्दकुन्दान्वय और मूलसंघ का ही गण था और मूलसंघ कुन्दकुन्द से सम्बद्ध होने के कारण निर्ग्रन्थसंघ का नामान्तर है। जैनशिलालेख-संग्रह (मा.च.) भाग ३ की प्रस्तावना (पृ.२५) में डॉ० गुलाबचन्द्र चौधरी ने एवं जैन शिलालेख संग्रह (भा.ज्ञा.) भाग ४ की प्रस्तावना

१४७. वही / ईचवाडि (मैसूर) लेख क्र. ९६ / पंक्ति ५-१०/१२ वीं सदी।

१४८. वही / दडग (मांडया, मैसूर) लेख क्र. २१२ / पंक्ति २६ / १२वीं सदी पूर्वार्ध।

१४९. वही / पंक्ति ३३।

१५०. वही / सालूर (मैसूर) लेख क्र. २१४ / पंक्ति १४ / सन् ११३०।

१५१. वही / शृंगेरी (मैसूर) लेख क्र. २४० / पंक्ति ५ / सन् ११५०।

१५२. वही / माविनकेरे (कडूर, मैसूर) लेख क्र. २९२ / १२ वीं सदी।

१५३. वही / मावलि (मैसूर) लेख क्र. ३१२ / १२वीं सदी।

१५४. जैन शिलालेख संग्रह / माणिकचन्द्र / भाग २ / कल्लूरगुडु-लेख क्र. २७७ / पृ.४१६।

१५५. वही / पुरले-लेख क्र. २९९ / पृ.४५५ / १११२ ई.।

(पृ.४-१२) में प्रो० विद्याधर जोहरापुरकर ने भी काणूरगण को मूलसंघ से ही सम्बद्ध बतलाया है।^{१५५}

एक बात और ध्यान देने योग्य है। ८२१ ई० के सूरत ताम्रपत्र में मूलसंघ के अन्तर्गत सेनसंघ तथा सेनसंघ में मल्लवादिगुरु के शिष्य श्रीसुमतिपूज्यपाद तथा उनके शिष्य अपराजित का अस्तित्व बतलाया गया है। यथा—

“मूलसंघोदयान्वय-सेनसंघ-मलवादिगुरोशिष्य-श्रीसुमतिपूज्यपादः तच्छिष्य श्रीमदपराजितगुरोः ---।”^{१५६}

१०५३ ई० के मुलगुन्द-(मैसूर)-शिलालेख में भी मूलसंघ में सेनान्वय और सेनान्वय में अजितसेन, कनकसेन, नरेन्द्रसेन और नयसेन के होने का उल्लेख किया गया है।^{१५७}

सेनसंघ आचार्य अर्हद्वलि के द्वारा मूलसंघ का विभाजन किये जाने पर अस्तित्व में आया था। अतः मूलसंघ के साथ सेनसंघ का सम्बन्ध बतलाये जाने से निश्चित हो जाता है कि मूलसंघ निर्ग्रन्थसंघ का ही दूसरा नाम है। निष्कर्ष यह कि किसी भी अभिलेख में मूलसंघ के साथ यापनीयसंघ अथवा उसके किसी गण का उल्लेख नहीं हुआ है, जब कि निर्ग्रन्थसंघ के गणों का उल्लेख मूलसंघ के साथ अनेकत्र हुआ है। इससे सिद्ध है कि नोणमंगल की ३७० ई० एवं ४२५ ई० की ताम्रपट्टिकाओं में उल्लिखित मूलसंघ एवं उसके बाद ८२१ ई० के ताम्रपत्र तथा सभी उत्तरवर्ती अभिलेखों में उत्कीर्ण ‘मूलसंघ’ निर्ग्रन्थसंघ का ही पर्यायवाची है।

अब मैं डॉक्टर सा० के ही उन वचनों को प्रस्तुत करता हूँ, जिनसे मूलसंघ को यापनीयसंघ सिद्ध करने के लिए उनके द्वारा उपस्थापित समस्त पूर्व हेतु निरस्त हो जाते हैं। वे लिखते हैं—

“सत्य तो यह है कि जब कुन्दकुन्दान्वय ने मूलसंघ के साथ अपना सम्बन्ध जोड़कर अन्य संघों को जैनाभास और मिथ्यात्वी घोषित किया --- तो प्रतिक्रिया-स्वरूप दूसरों ने भी अपने को मूलसंघी कहना प्रारम्भ कर दिया। ग्यारहवीं शती के उत्तरार्ध में अचेल-परम्परा के यापनीय, द्रविड़ आदि अनेक संघ अपने साथ मूलसंघ का उल्लेख करने लगे थे, जब कि इन्द्रनन्दी ने इन सब को जैनाभास कहा है। इसका

१५६. जैन शिलालेख संग्रह / भा.ज्ञा. / भाग ४ / लेख क्र.५५ / पंक्ति ४५-४६ / ८२१ ई.।

१५७. वही / ले.क्र.१३८ / पंक्ति २२-२३—

श्रीमूलसंघवाराशौ मणीनामिव सार्चिषाम्।

महापुरुषरत्नानां स्थानं सेनान्वयोऽजनि ॥ २ ॥ उत्तरपुराणप्रशस्ति।

तात्पर्य यही है कि ग्यारहवीं शताब्दी में अपने को मूलसंघी कहने की एक होड़ लगी हुई थी।” (डॉ. सा. म. जै. अभि. ग्र./पृ. ६३२)।

यद्यपि यापनीय आदि जैनाभास-संघों के साथ मूलसंघ विशेषण ग्यारहवीं शताब्दी ई० के बाद के शिलालेखों में भी देखने में नहीं आया, तथापि भविष्य में कभी कोई ऐसा शिलालेख मिल जाय, जिसमें उक्त जैनाभास-संघों के साथ मूलसंघ नाम प्रयुक्त हो, तो उसका कारण यही हो सकता है, जो मान्य विद्वान् ने अपने उपर्युक्त कथन में बतलाया है। इस कथन से मान्य विद्वान् ने यह स्वीकार कर लिया है कि आचार्य कुन्दकुन्द से जुड़ा मूलसंघ ही मौलिक मूलसंघ है, अन्य संघों ने प्रतिक्रिया-स्वरूप ही अपने साथ ‘मूलसंघ’ नाम जोड़ा है। आचार्य कुन्दकुन्द ईसापूर्व प्रथम शताब्दी के उत्तरार्ध एवं ईसा की प्रथम शताब्दी के पूर्वार्ध में हुए थे (देखिए, दशम अध्याय), अतः यह स्वतः सिद्ध हो जाता है कि उनके बाद सन् ३७० ई० एवं ४२५ ई० की नोणमंगल-ताम्रपट्टिकाओं में उल्लिखित मूलसंघ आचार्य कुन्दकुन्द से ही सम्बद्ध निर्ग्रन्थ-संघ है।

इस प्रकार मान्य विद्वान् के ही वचन उनकी तथा मुनि कल्याणविजय जी की इस कपोलकल्पना को कपोलकल्पना सिद्ध कर देते हैं कि यापनीयसंघ का पूर्वनाम मूलसंघ था। जब मान्य विद्वान् की कल्पना के अनुसार यापनीयसंघ ने ११ वीं शती ई० से अपने साथ ‘मूलसंघ’ विशेषण जोड़ना शुरू किया, तब उसका पूर्वनाम ‘मूलसंघ’ कैसे हो सकता है? यह तो परवर्ती नाम ही माना जा सकता है।

मान्य विद्वान् (डॉ० सागरमल जी) के एक दूसरे तर्क से भी मूलसंघ को यापनीयसंघ सिद्ध करनेवाले उनके पूर्वोक्त तर्क धराशायी हो जाते हैं। उनका कथन है कि “यापनीय ग्रन्थों के साथ लगा हुआ ‘मूल’ विशेषण जैसे मूलाचार, मूलाराधना आदि भी इस तथ्य के सूचक हैं कि ‘मूलसंघ’ शब्द का सम्बन्ध यापनीयों से रहा है।” (डॉ. सा. म. जै. अभि. ग्र./पृ. ६३३)।

मान्य विद्वान् का यह कथन सर्वथा सत्य है कि ‘मूलाचार’ और ‘मूलाराधना’ (भगवती-आराधना) ग्रंथों के नाम के साथ जुड़ा हुआ ‘मूल’ विशेषण उनके मूलसंघीय होने का सूचक है। परन्तु इन ग्रन्थों को यापनीयग्रन्थ मानना सत्य नहीं है। ये दोनों ग्रन्थ सर्वथा दिगम्बर-ग्रन्थ हैं, इसके प्रमाण ‘भगवती-आराधना’ एवं ‘मूलाचार’ नामक १३वें और १५वें अध्यायों में द्रष्टव्य हैं। अतः दिगम्बर-ग्रन्थों के नाम के साथ ‘मूल’ विशेषण जुड़ा होने से सिद्ध है कि ‘मूलसंघ’ निर्ग्रन्थसंघ (दिगम्बरसंघ) का ही दूसरा नाम है।

निर्ग्रन्थसंघ ही मूलसंघ : डॉ० सागरमल जी

अब मैं एक अद्भुत और रोचक बात सामने ला रहा हूँ। डॉ० सागरमल जी ने 'जैनधर्म का यापनीय सम्प्रदाय' ग्रन्थ में स्वयं ही निर्ग्रन्थसंघ को मूलसंघ सिद्ध किया है। किन्तु ग्रन्थ के 'लेखकीय' में लिखा है—

“प्रस्तुत कृति के प्रणयन की दीर्घ कालावधि के दौरान अनेक नवीन तथ्यों एवं जानकारियों के उपलब्ध होने पर मेरी अवधारणाओं में भी कहीं-कहीं परिवर्तन हुआ है। उदाहरण के रूप में प्रारंभ में मैंने मूलसंघ को दिगम्बर मान लिया था, किन्तु बाद में मुझे जो साक्ष्य उपलब्ध हुए, उनके आधार पर मैं इस निष्कर्ष पर पहुँचा हूँ कि वस्तुतः मूलसंघ के प्राचीन अभिलेखीय उल्लेख दिगम्बर नहीं, बल्कि यापनीय हैं। यापनीयग्रन्थों की मूलाचार, मूलाराधना (भगवती-आराधना) जैसी संज्ञाएँ हमारे उक्त निष्कर्ष का समर्थन करती हैं। पाँचवीं शती के लगभग जब इस सम्प्रदाय का यापनीय नामकरण हुआ, तब तक दिगम्बर-सम्प्रदाय तो 'निर्ग्रन्थ सम्प्रदाय' नाम से ही जाना जाता था। चौथी-पाँचवीं शती के जिन दो अभिलेखों में 'मूलसंघ' शब्द का प्रयोग हुआ है, वहाँ वे शब्द यापनीयों के ही सूचक हैं। पाठकों से मेरा अनुरोध है कि कृति में जहाँ कहीं ऐसे कुछ अन्तर्विरोध परिलक्षित हों, वहाँ परवर्ती उल्लेख को नवीन शोध का निष्कर्ष मानकर उसे ही मेरा मन्तव्य माना जाय।” (लेखकीय/पृ. VI/जै. ध. या. स.)।

डॉक्टर सा० ने 'मूल' शब्द से मूलसंघ के साथ सम्बन्ध सूचित करनेवाले 'मूलाचार' और 'मूलाराधना' (भगवती-आराधना) नामक ग्रन्थों को यापनीयग्रन्थ मानकर उन्हें मूलसंघ और यापनीयसंघ के अभिन्न होने का साक्ष्य माना है। किन्तु उक्त ग्रन्थ यापनीयग्रन्थ हैं ही नहीं, अपितु दिगम्बरग्रन्थ हैं। (इसके प्रमाण अध्याय १३ एवं १५ में द्रष्टव्य हैं)। अतः वे मूलसंघ और यापनीयसंघ के अभिन्न होने के नहीं, बल्कि दिगम्बरसंघ अर्थात् निर्ग्रन्थसंघ और मूलसंघ की अभिन्नता के साक्ष्य हैं। इसलिए डॉक्टर सा० ने अपने ग्रन्थ-प्रणयन की आरम्भिक अवस्था में निर्ग्रन्थसंघ और मूलसंघ में अभेद स्थापित करनेवाले जो हेतु बतलाये हैं, वे बाधित नहीं होते। वे मूलसंघ को निर्ग्रन्थसंघ सिद्ध करनेवाले अतिरिक्त हेतु हैं। अतः उन्हें यहाँ प्रस्तुत किया जा रहा है। वे इस प्रकार हैं—

१. हल्सी के अभिलेख (क्र. १९) में 'यापनीयनिर्ग्रन्थकूर्चकानां' ऐसा बहुवचनात्मक प्रयोग मिलता है, इससे सिद्ध होता है कि यापनीय, निर्ग्रन्थ और कूर्चक ये तीन स्वतन्त्र सम्प्रदाय थे। (जै. ध. या. स./पृ. ४४-४५)। इसी प्रकार यदि 'मूलसंघ-निर्ग्रन्थसंघ-यापनीय-

कूर्चकानां' इस प्रकार बहुवचनात्मक या 'मूलसंघ-निर्ग्रन्थसंघयोः' ऐसा द्विवचनात्मक प्रयोग किसी अभिलेख में प्राप्त होता, तो माना जा सकता था कि मूलसंघ और निर्ग्रन्थसंघ अलग-अलग संघ हैं। किन्तु ऐसा प्रयोग नहीं मिलता, इससे सिद्ध है कि वे अलग-अलग नहीं, अपितु अभिन्न ही हैं।

२. "यापनीयों के दक्षिण में प्रवेश के पूर्व भद्रबाहु के पहले या उनके साथ जो निर्ग्रन्थ श्रमणवर्ग दक्षिण चला गया था, वह अपने आपको 'निर्ग्रन्थ' ही कहता होगा, क्योंकि उस समय तक संघभेद या गणभेद नहीं हुआ था। सम्भवतः जब यापनीय उत्तरभारत से दक्षिणभारत की ओर गये, तब वे अपने गण को मूलगण कहते रहे होंगे, क्योंकि यापनीयों (बोटिक) के विभाजन के समय उत्तरभारत में गणभेद हो चुका था। अतः यापनीयों ने भी अपने साथ गण का प्रयोग अवश्य किया होगा। उनके जिन प्राचीन गणों के उल्लेख हैं, उनमें पुन्नागवृक्षमूलगण, कनकोपलसम्भूतवृक्ष-मूलगण और श्रीमूलमूलगण ये तीन नाम मिलते हैं और इन तीनों के साथ मूलगण का प्रयोग है। अतः यह स्वाभाविक है कि जब उत्तरभारत का निर्ग्रन्थसंघ सचेतता और अचेतता के प्रश्न पर दो भागों में विभक्त हो गया, तो उत्तरभारत की उस अचेत शाखा ने, जिसे श्वेताम्बरों ने बोटिक और दिगम्बरों ने यापनीय कहा है, अपने को तीर्थंकर महावीर के मूल आचारमार्ग का अनुसरण करने के कारण 'मूलगण' कहा होगा। जब यह मूलगण दक्षिण में प्रविष्ट हुआ होगा, तो दक्षिण के निर्ग्रन्थसंघ ने इनकी सुविधावादी प्रवृत्तियों के कारण अथवा आपस में मिलते समय 'किं जवणिज्जं' (किं यापनीयं?) ऐसा पूछने पर या वन्दन करते समय 'जवणिज्जाये' शब्द का जोर से उच्चारण करने के कारण इन्हें 'यापनीय' (जावनीय) नाम दिया होगा। इन्हें बाहर से आया जानकर अपने संघ को मूलसंघ के नाम से अभिहित किया होगा। अतः सम्भावना यही है कि मूलगण और मूलसंघ अलग-अलग थे। 'मूलगण' यापनीय था और 'मूलसंघ' निर्ग्रन्थ था। निर्ग्रन्थसंघ मूलसंघ से भिन्न नहीं था, यह उन अचेत श्रमणों का वर्ग था, जो भद्रबाहु के पूर्व या भद्रबाहु के समय से दक्षिण भारत में विचरण कर रहे थे। अतः ई० सन् की पाँचवीं शती तक दक्षिण भारत में यापनीयों से भिन्न अचेत परम्परा के दो अन्य संघ भी थे एक निर्ग्रन्थसंघ (मूलसंघ) और दूसरा कूर्चकसंघ" (जै. ध. या. स. / पृ. ४५)।

इस प्रकार डॉ० सागरमल जी ने अपने चिन्तन के आधार पर मूलसंघ और निर्ग्रन्थसंघ को अभिन्न सिद्ध किया है। मान्य विद्वान् ने मूलसंघ और यापनीयसंघ में भिन्नताएँ भी बतलायी हैं, जो उन्हीं के शब्दों में इस प्रकार हैं—

१. "भद्रबाहु के पूर्व या उनके साथ जो मुनिसंघ दक्षिण की यात्रा पर गया था, वह यद्यपि अपने साथ महावीर का तत्त्वज्ञान और आचारमार्ग लेकर अवश्य गया

था, किन्तु उनके पास मात्र उतना ही साहित्य रहा होगा, जितना भद्रबाहु के काल तक निर्मित हो पाया था। पुनः विस्मृति और भाषागत विभिन्नताओं के कारण वे उन आगमग्रन्थों को मूल रूप में कितना सुरक्षित रख पाये थे, आज यह कहना भी कठिन है। सम्भवतः कालक्रम में उस परम्परा के पास आचारमार्ग और तत्त्वज्ञान के सामान्य सिद्धान्तों की अपनी भाषा में जानकारी के अतिरिक्त विशिष्ट ग्रन्थ शेष नहीं रह गये थे। यही कारण है कि दक्षिण भारत का वह निर्ग्रन्थसंघ (मूलसंघ) आगमों को विच्छिन्न मानने लगा था। यापनीयसंघ जो कि उनके बाद लगभग पाँच सौ वर्ष पश्चात् उत्तर भारत की निर्ग्रन्थधारा से अलग होकर दक्षिण भारत पहुँचा था, वह अपने साथ जिन आगमग्रन्थों को ले गया था, उनको मूलसंघ ने मानने से इनकार कर दिया होगा। क्योंकि उन ग्रन्थों में भी, चाहे वे अपवादमार्ग के रूप में ही क्यों न हों, वस्त्र, पात्र आदि के उल्लेख तो थे ही। यही कारण था कि दक्षिण भारत में निर्ग्रन्थसंघ या मूलसंघ के आचार्यों ने आगे चलकर क्षेत्रीय भाषा के अतिरिक्त संस्कृत को भी अपना प्रमुख माध्यम बनाया। कुन्दकुन्द ही मूलसंघ के प्रथम आचार्य थे, जिन्होंने अपने संघ में आगमों की पूर्ति के लिए यापनीयों की शैली में शौरसेनी में ग्रन्थ लिखे। यद्यपि कुन्दकुन्द की लेखन-दृष्टि यापनीय ग्रन्थों से बिल्कुल भिन्न थी। इस प्रकार आगमों के विच्छिन्न होने के प्रश्न पर दक्षिण भारत के निर्ग्रन्थ-मूलसंघ और यापनीयों में मतभेद रहा होगा।

“यापनीयों और दक्षिण भारत के निर्ग्रन्थसंघ-मूलसंघ में मतभेद का दूसरा कारण अपवाद के रूप में वस्त्र-पात्र का ग्रहण भी हो सकता है, क्योंकि यापनीय वस्त्र-पात्र को अपवादरूप में ग्राह्य मानते थे। क्योंकि उनके द्वारा मान्य आगमों और निर्मित ग्रन्थों, दोनों में ही अपवादरूप में इनके ग्रहण का उल्लेख मिलता है। सम्भवतः दक्षिण में मुनि-आचार में शिथिलाचार का प्रवेश यापनीयों के द्वारा ही प्रारम्भ हुआ।

३. “विवाद का तीसरा आधार सम्भवतः स्त्री-दीक्षा भी हो सकता है। मूलसंघ स्त्री को महाव्रतारोपणरूप दीक्षा देने के विरोध में रहा होगा, क्योंकि उसके द्वारा सम्पूर्ण परिग्रह का त्याग सम्भव नहीं था। यह बात कुन्दकुन्द के एवं परवर्ती ग्रन्थों से पुष्ट होती प्रतीत होती है। मूलसंघ के आचार्यों ने यापनीय, द्रविड़ और माथुर संघ को इसलिए भी जैनाभास कहा था कि वे स्त्री को पंचमहाव्रतरूप दीक्षा प्रदान करते थे। सम्भवतः मूलसंघ स्त्री को केवल सामायिक-चारित्र ग्रहण करने की अनुमति देता होगा, छेदोपस्थापनीय-चारित्र अर्थात् महाव्रतारोपण की अनुमति नहीं देता होगा। आगे चलकर यही विवाद अधिक तीव्र हुआ और मूलसंघ के आचार्यों ने स्त्री-दीक्षा के साथ-साथ स्त्री-मुक्ति का भी निषेध कर दिया।

४. “इसके अतिरिक्त केवलीभुक्ति, केवली को कितने परीषह होते हैं आदि कुछ तात्त्विक मान्यताओं को लेकर भी दोनों में मतभेद रहा होगा।” (जै. ध. या. स./ पृ. ४६-४७)

इन भिन्नताओं के प्रदर्शन द्वारा भी मान्य विद्वान् ने मूलसंघ और यापनीयसंघ को परस्पर स्वतन्त्र सिद्ध किया है।

६

दिगम्बरसंघ के ही मूलसंघ होने का एक स्पष्ट प्रमाण

श्वेताम्बराचार्य श्री गुणरत्नसूरि के समय (१४वीं शती ई०) में स्त्रीमुक्ति-विरोधी दिगम्बरसंघ ही ‘मूलसंघ’ के नाम से प्रसिद्ध था, यह उनके निम्नलिखित वचनों से ज्ञात होता है—“दिगम्बराः पुनर्नाग्न्यलिङ्गाः पाणिपात्राश्च। ते चतुर्धा काष्ठासङ्घ-मूल-सङ्घ-माथुरसङ्घ-गोप्यसङ्घभेदात्। काष्ठासङ्घे चमरीबालैः पिच्छिका, मूलसङ्घे मायूरपिच्छैः पिच्छिका, माथुरसङ्घे मूलतोऽपि पिच्छिका नादृता, गोप्या मायूरपिच्छिकाः। आद्यास्त्र-योऽपि सङ्घा वन्द्यमाना धर्मवृद्धिं भणन्ति, स्त्रीणां मुक्तिं, केवलानां भुक्तिं, सद्ब्रत-स्यापि सचीवरस्य मुक्तिं च न मन्वते। गोप्यास्तु वन्द्यमाना धर्मलाभं भणन्ति, स्त्रीणां मुक्तिं, केवलानां भुक्तिं च मन्वन्ते। गोप्या यापनीया इत्यप्युच्यन्ते।” (तर्करहस्यदीपिका-वृत्ति/ षड्दर्शनसमुच्चय/ अ. ४/ पृ. १६१)।

यहाँ मूलसंघ को काष्ठासंघ, माथुरसंघ और यापनीयसंघ से भिन्न मायूरपिच्छधारी, धर्मवृद्धि का आशीर्वाद देनेवाला तथा स्त्रीमुक्ति आदि का विरोधी बतलाया गया है। इससे सिद्ध है कि गुणरत्नसूरि के समय में जो इतिहास था, उसके अनुसार दिगम्बरसंघ ही मूलसंघ के नाम से जाना जाता था।

डॉ० ए० एन० उपाध्ये ने अपने पूर्वोद्धृत लेख “जैन सम्प्रदाय के यापनीयसंघ पर कुछ और प्रकाश” में लिखा है कि रायदुग-(जिला बेल्लारी)-विवरण में निसिदि के निर्माण का उल्लेख है, जिसमें आठ नाम लिखे हैं, उनमें से मूलसंघ के चन्द्रभूति तथा यापनीयसंघ के चन्द्रेन्द्र, बादव्य और तम्मण्ण के नाम स्वाभिप्रेत हैं। (देखिये, इसी अध्याय की पादटिप्पणी क्र० ३७) यहाँ मूलसंघ और यापनीयसंघ को भिन्न संघों के रूप में उल्लिखित किया गया है। इससे भी सिद्ध है कि यापनीयसंघ का नाम मूलसंघ नहीं था, अपितु दिगम्बरसंघ ही मूलसंघ के नाम से प्रसिद्ध था।

इन प्रमाणों और युक्तियों से सिद्ध है कि मूलसंघ दिगम्बरसंघ या निर्ग्रन्थसंघ का ही दूसरा नाम है। एकमात्र अचेललिंग से मुक्ति के सिद्धान्त का अनुयायी होने के कारण वह निर्ग्रन्थसंघ के नाम से प्रसिद्ध हुआ तथा उसके विभाजन से भिन्न

सिद्धान्तोंवाले श्वेताम्बरसंघ की उत्पत्ति हुई थी, किन्तु निर्ग्रन्थसंघ भगवान् महावीर द्वारा उपदिष्ट सिद्धान्तों का यथावत् अनुगामी बना रहा, इसलिए उसका मूलसंघ नाम प्रचलित हुआ।

७

निर्ग्रन्थ (दिगम्बर) संघ की प्राचीनता की स्वीकृति

डॉ० सागरमल जी ने ऊपर निर्ग्रन्थसंघ को ही मूलसंघ सिद्ध करते हुए ईसापूर्व चौथी शताब्दी में श्रुतकेवली भद्रबाहु के नेतृत्व में दक्षिण गये निर्ग्रन्थसंघ की वे ही (सवस्त्रमुक्ति-निषेध आदि) सैद्धान्तिक विशेषताएँ बतलायी हैं, जो वर्तमान में दिगम्बर-सम्प्रदाय में मिलती हैं। सन् २००४ ई० में लिखे गये अपने नये ग्रन्थ 'जैनधर्म की ऐतिहासिक विकासयात्रा' में तो उन्होंने स्पष्ट शब्दों में स्वीकार किया है कि ईसापूर्व चतुर्थ शती में भद्रबाहु के नेतृत्व में दक्षिण गया निर्ग्रन्थसंघ ही आज की दिगम्बर-परम्परा का पूर्वज है। (देखिए , अध्याय ६ / प्रकरण २ / शीर्षक २)। इस प्रकार उन्होंने दिगम्बर-परम्परा का अस्तित्व भगवान् महावीर के युग से ही स्वीकार किया है। अतः उन्होंने अन्यत्र (जै. ध. या. स. / पृ.३९४ पर) जो यह माना है कि उसका प्रवर्तन विक्रम की छठी शताब्दी में आचार्य कुन्दकुन्द ने किया था, वह उनके ही वचनों से असत्य सिद्ध हो जाता है।



चतुर्थ प्रकरण

यापनीयसंघ की अन्य विशेषताएँ

१

मन्दिरनिर्माण एवं मूर्तिप्रतिष्ठा

शिलालेखों से ज्ञात होता है कि यापनीय साधु और उनके भक्तों ने अनेक जैनमन्दिरों का निर्माण तथा जिनमूर्तियों की प्रतिष्ठा करायी थी। जिनमूर्तियाँ दिगम्बरमुद्रा में होती थीं। “बेलगाँव की ‘दोड्डु वसदि’ (इस नाम के जैनमन्दिर) में भगवान् नेमिनाथ की प्रतिमा है, जो किसी समय किले के मन्दिर में थी। इसमें जो पीठिकालेख है, उससे पता चलता है कि यापनीयसंघ के पारिसय्य ने १०१३ ई० में इस मन्दिर का निर्माण कराया था, जिसे साहणाधिपति (संभवतः कदम्बशासक जयकेशी के दण्डनायक) की माता कत्तय्य और जक्कव्वे ने कल्लहविळ (गोकम के पास) ग्राम की भूमि दान में दी थी। उपर्युक्त विवरण से ज्ञात होता है कि पारिसय्य साधु या गुरु नहीं थे, अपितु कोई सामान्यजन थे, जिनके यापनीयसंघ से घनिष्ठ सम्बन्ध रहे होंगे, इसीलिए उनका विशेषतया उल्लेख किया गया है।”^{१५८} इस मन्दिर की यापनीयों द्वारा प्रतिष्ठित प्रतिमा आजकल दिगम्बरों द्वारा पूजी जाती है। (प्रेमी : जै. सा. इ./प्र. सं./पृ. ४२)।

२

यापनीय साहित्य

यापनीयसंघ में श्वेताम्बर-परम्परा के आगम मान्य थे। डॉ० सागरमल जी के अनुसार “आचारांग, सूत्रकृतांग, ज्ञाताधर्मकथा, उत्तराध्ययन, दशवैकालिक, दशाश्रुतस्कन्ध, बृहत्कल्प, निशीथ, जीतकल्प, व्यवहार, आवश्यक आदि आगम तथा इन आगमों की निर्युक्तियाँ, मरणविभक्ति, संस्तारक, संग्रह, स्तुति (देविन्दथुई), प्रत्याख्यान (आतुर एवं महाप्रत्याख्यान) आदि प्रकीर्णक तथा कर्मप्रकृति (कम्मपयडी) आदि कर्मसाहित्य के ग्रन्थ हैं। इन आगमिक ग्रन्थों के अध्ययन-अध्यापन और स्वाध्याय की परम्परा यापनीयों में थी।” (जै. ध. या. सं./पृ. ६८)। श्रुतसागरसूरि ने भी लिखा है कि यापनीय कल्पसूत्र का वाचन करते हैं। (दंसणपाहुडटीका/गा. ११)।

माननीय पं० नाथूराम जी प्रेमी लिखते हैं—“श्वेताम्बरसम्प्रदाय-मान्य जो आगमग्रन्थ हैं, यापनीयसंघ शायद उन सभी को मानता था।” (जै. सा. इ./प्र. सं./पृ. ४५)।

१५८. डॉ० ए० एन० उपाध्ये : ‘जैन सम्प्रदाय के यापनीयसंघ पर कुछ और प्रकाश’/‘अनेकान्त’/ महावीर निर्वाण विशेषांक/ १९७५ ई./ पृ. २४७।

इस प्रकार अध्यात्मशास्त्र को छोड़कर चारों अनुयोगों के सभी ग्रन्थ यापनीयों को अपनी जननी श्वेताम्बर-परम्परा से विरासत में उपलब्ध हुए थे। इसलिए उनका स्वरचित साहित्य प्रायः नगण्य है। उन्होंने प्रायः वही ग्रन्थ रचे हैं, जो दिगम्बर-परम्परा की स्त्रीमुक्तिनिषेध, केवलिभुक्तिनिषेध आदि मान्यताओं का खण्डन करने के लिए और अपने मत की पुष्टि के लिए आवश्यक थे। हरिभद्रसूरि ने ललितविस्तरा में एक यापनीयतन्त्र नामक यापनीयग्रन्थ का उल्लेख किया है, जिसके स्त्रीमुक्ति-समर्थक अनेक तर्क उन्होंने अपने ग्रन्थ (ललितविस्तरा) में उद्धृत किये हैं, किन्तु यह ग्रन्थ वर्तमान में अनुपलब्ध है। यापनीय आचार्य पाल्यकीर्ति शाकटायन^{१५९} के तीन ग्रन्थ उपलब्ध होते हैं, स्त्रीनिर्वाणप्रकरण, केवलिभुक्तिप्रकरण एवं शाकटायनव्याकरण। उनका एक साहित्यविषयक ग्रन्थ भी था, जिसका मत राजशेखर ने अपने महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ 'काव्यमीमांसा' में उद्धृत किया है। (प्रेमी : जै. सा. इ./प्र. सं./पृ.४३)। यापनीय साहित्य के इतने ही ग्रन्थों का पता अभी तक चल पाया है। पाल्यकीर्ति शाकटायन सम्राट् अमोघवर्ष के समकालीन (८१४-८६७ ई०) थे। (ती. म. आ. प./३/पृ.२०)।

पं० नाथूरामजी प्रेमी ने भगवती-आराधना, उसकी विजयोदया टीका, मूलाचार और तत्त्वार्थसूत्र को यापनीय-आचार्यों द्वारा रचित बतलाया है। (जै. सा. इ./द्वि. सं./

१५९. "शाकटायन या पाल्यकीर्ति : शाकटायन नाम का एक और व्याकरणग्रन्थ है, जिसके कर्ता जैन थे। ये भी शाकटायन नाम से प्रसिद्ध हैं। परन्तु यह बहुत कम लोग जानते हैं कि उनका वास्तविक नाम पाल्यकीर्ति था। वादिराजसूरि ने अपने 'पार्श्वनाथचरित' काव्य में उनका स्मरण इस प्रकार किया है—

कुतस्त्या तस्य सा शक्तिः पाल्यकीर्तेर्महौजसः।

श्रीपदश्रवणं यस्य शाब्दिकान्कुरुते जनान्॥

अर्थात् उस महातेजस्वी पाल्यकीर्ति की शक्ति का क्या वर्णन किया जाय, जिसका 'श्री' पद-श्रवण ही लोगों को शाब्दिक या व्याकरणज्ञ बना देता है।

शाकटायन की अमोघवृत्ति नाम की एक स्वोपज्ञ टीका है। उसका आरंभ 'श्रीवीरभमृतं ज्योतिः' आदि मंगलाचरण से होता है। वादिराजसूरि ने इसी मंगलाचरण के 'श्री' पद को लक्ष्य करके यह बात कही है कि पाल्यकीर्ति (शाकटायन) के व्याकरण का आरंभ करने पर लोग वैयाकरण हो जाते हैं।

पूर्वोक्त श्लोक की टीका आचार्य शुभचन्द्र अपनी पार्श्वनाथचरित-पंजिका में इस प्रकार करते हैं—“तस्य पाल्यकीर्तेः महौजसः श्रीपदश्रवणं-श्रिया उपलक्षितानि पदानि शाकटायनसूत्राणि तेषां श्रवणम् आकर्णनम्।” इससे यह स्पष्ट होता है कि पंजिकाकार शुभचन्द्र पाल्यकीर्ति को शाकटायन-सूत्रों का कर्ता मानते थे।” (पं० नाथूराम प्रेमी : शाकटायन और उनका शब्दानुशासन / जैनसिद्धान्त भास्कर / भाग ९ / किरण १ / जून १९४२ / पृ. १८)।

पृ. ७९, ५२१-५५३)। श्रीमती कुसुम पटोरिया ने भी प्रेमी जी का अनुसरण करते हुए 'यापनीय और उनका साहित्य' नामक ग्रन्थ में उपर्युक्त मान्यता का पोषण किया है। और स्वयं ने सन्मत्तिसूत्र, हरिवंशपुराण तथा बृहत्कथाकोश को भी यापनीयग्रन्थ सिद्ध करने की चेष्टा की है। डॉ० ए० एन० उपाध्ये ने भी सन्मत्तिसूत्र को यापनीयग्रन्थ बतलाया है। डॉ० सागरमल जी ने तत्त्वार्थसूत्र और सन्मत्तिसूत्र को छोड़कर उपर्युक्त ग्रन्थों को तथा षट्खण्डागम, कसायपाहुड, यतिवृषभ के चूर्णिसूत्र, तिलोयपण्णत्ति, वरांग-चरित आदि अन्य ग्यारह ग्रन्थों को भी यापनीय आचार्यों की कृति घोषित किया है, किन्तु इनमें से कोई भी ग्रन्थ यापनीय-आचार्य द्वारा रचित नहीं है, सभी ग्रन्थ दिगम्बराचार्यों द्वारा रचे गये हैं। इसका सप्रमाण प्रतिपादन उत्तरवर्ती अध्यायों में द्रष्टव्य है।

३

श्वेताम्बरीय और यापनीय आगमग्रन्थों में पाठभेद

पं० नाथूरामजी प्रेमी ने लिखा है कि "श्वेताम्बरसम्प्रदाय मान्य जो आगमग्रन्थ हैं, यापनीयसंघ शायद उन सभी को मानता था, परन्तु ऐसा जान पड़ता है कि दोनों के आगमों में कुछ पाठभेद था और इसका कारण शायद यह हो कि उपलब्ध वल्लभीवाचना से पहले की कोई वाचना (संभवतः माथुरीवाचना) यापनीयसंघ के पास थी। क्योंकि विजयोदयाटीका में आगमों के जो उद्धरण दिये गये हैं, वे श्वेताम्बर आगमों में बिलकुल ज्यों के त्यों नहीं हैं, कुछ पाठभेद के साथ मिलते हैं।" (जै. सा. इ. / प्र. सं. / पृ. ४५-४६)।

इसका तात्पर्य यह है कि यापनीय-सम्प्रदाय माथुरीवाचना के श्वेताम्बर-आगमों को मानता था। यह वाचना वीरनिर्वाण संवत् ८२७-८४० (ई० सन् ३००-३१३) में आचार्य स्कन्दिल की अध्यक्षता में हुई थी। इस वाचना के आगमों में ऐसे अनेक पाठ थे, जो वलभीवाचना के आगमों में नहीं मिलते अर्थात् उनमें से हटा दिये गये। वलभीवाचना वीर निर्वाण संवत् ९८०-९९३ (ई. सन् ४५३-४६६) में श्री देवर्द्धिगणि के नेतृत्व में वलभी में सम्पन्न हुई थी।

माननीय पं० कैलाशचन्द्र जी शास्त्री ने भी ऐसा ही मत व्यक्त किया है। वे लिखते हैं—“जैन परम्परा में दिगम्बर और श्वेताम्बर की तरह एक यापनीयसंघ भी था। यह संघ नग्नता का पक्षपाती था तथापि श्वेताम्बरीय आगमों को मानता था। इस संघ के एक आचार्य अपराजित-सूरि की संस्कृतटीका भगवती-आराधना नामक प्राचीन ग्रन्थ पर है, जो मुद्रित हो चुकी है। उसमें नग्नता के समर्थन में श्री अपराजितसूरि ने आगमग्रन्थों से अनेक उद्धरण दिये हैं, जिनमें से अनेक उद्धरण वर्तमान आगमों में नहीं मिलते। यहाँ दो-एक उद्धरण दिये जाते हैं—

“तथा चोक्तमाचारांगे—सुदं मे आउस्सत्तो भगवदा एवमक्खवादं—इह खलु संयमाभिमुखा दुविहा इत्थीपुरिसा जादा हवंति। तं जहा—सव्वसमणागदे णोसमणागदे चेव। तत्थ जे सव्वसमगदे थिरांगहत्थपाणिपादे सव्विंदियसमणागदे तस्स णं णो कप्पदि एगमवि वत्थं धारिउं एव परिहिउं एव अण्णत्थ एगेण पडिलेहगेण इति।” (वि. टी./ भ. आ./ गा. ‘आचेलक्कुदेसिय’ ४२३/पृ. ३२५)।

“इसमें बतलाया है कि पूर्ण श्रामण्य के धारी को, जिसके हाथ-पैर सक्षम होते हैं और सब इन्द्रियाँ समग्र होती हैं, उसे प्रतिलेखन के सिवाय एक भी वस्त्र धारण नहीं करना चाहिए। यह उद्धरण वर्तमान आचारांग में नहीं मिलता, जबकि अन्य उद्धरण उसमें मिलते हैं।

“इसी तरह उत्तराध्ययन से भी कुछ पद्य (‘आचेलक्कुदेसिय’ गाथा की विजयोदया टीका में) उद्धृत किये गये हैं, जिनमें से कुछ वर्तमान उत्तराध्ययन में नहीं मिलते। दो पद्य नीचे लिखे हैं—

परिचत्तेसु वत्थेसु ण पुणो चेलमादिए।
अचेलपवरे भिक्खू जिणरूवधरे सदा॥
सचेलगो सुखी भवदि असुखी चावि अचेलगो।
अहं तो सचेलो होक्खामि इदि भिक्खू ण चिंतए॥

“इनमें बतलाया है कि वस्त्र को त्यागकर पुनः वस्त्र ग्रहण नहीं करना चाहिए और जिनरूपधारी भिक्षु को सदा अचेल रहना चाहिए। वस्त्रधारी सुखी होता है, वस्त्रत्यागी दुःखी, अतः मैं सचेल रहूँगा, ऐसा भिक्षु को नहीं सोचना चाहिए।

“अपराजितसूरि ने कल्पसूत्र से भी अनेक पद्य उद्धृत किये हैं, जो मुद्रित कल्पसूत्र में नहीं मिलते।” (जै. सा. इ./पृ. पी./पृ. ५२५-२६)।

ये उदाहरण सिद्ध करते हैं कि माथुरीवाचना के आगमों में पाये जानेवाले नगनत्व-समर्थक अनेक पाठ वलभीवाचना के आगमों में शामिल नहीं किये गये। इससे निश्चित होता है कि यापनीयमान्य श्वेताम्बर-आगम वर्तमान श्वेताम्बर-आगमों से किञ्चित् भिन्न थे।

माननीय पं० कैलाशचन्द्र जी शास्त्री ने यहाँ पर कहा है कि अपराजितसूरि द्वारा आगमग्रन्थों से दिये गये अनेक उद्धरणों में से अनेक वर्तमान आगमों में नहीं मिलते। यहाँ अनेक में से अनेक का अभिप्राय ‘कुछ’ होता है, सब नहीं। पंडित जी ने स्वयं कहा है कि केवल यह उद्धरण (उपर्युक्त) वर्तमान आचारांग में नहीं मिलता, शेष मिलते हैं। किन्तु डॉ० सागरमल जी ने पण्डित जी के कथन का यह अभिप्राय ले

लिया कि वे यापनीयों द्वारा मान्य आगमों को श्वेताम्बरमान्य आगमों से सर्वथा भिन्न मानते हैं और उन्होंने पण्डित जी पर अतिसाहस करने का आक्षेप कर दिया। जब कि आगे डॉक्टर सा० ने स्वयं स्वीकार किया है कि “निश्चय ही उपर्युक्त सन्दर्भ आचारांग में इसी रूप में शब्दशः नहीं है।” वे सफाई देते हुए आगे कहते हैं “किन्तु सव्वसमन्नागय नामक पद और उक्त कथन का भाव आचारांग के प्रथम श्रुतस्कन्ध के अष्टम अध्ययन में आज भी सुरक्षित है।” (जै. ध. या. स./पृ.७२)। किन्तु किस पाठ या सूत्र में सुरक्षित है, यह नहीं बतलाया। मैंने भी आचारांग के प्रथम श्रुतस्कन्ध के अष्टम अध्ययन की सूक्ष्मता से छानबीन की है, किन्तु उपर्युक्त पाठ के अर्थ को सुरक्षित रखनेवाला कोई भी पाठान्तर या शब्दावली उपलब्ध नहीं हुई। सव्वसमन्नागय पद जिस पाठ में है, उसके अर्थ का तो उपर्युक्त पाठ के अर्थ से दूर का भी सम्बन्ध नहीं है। वह पाठ इस प्रकार है—

“जस्स णं भिक्खुस्स एवं भवइ-पुट्ठो खलु अहमंसि नालमहमंसि सीयफासं अहियासित्तए से वसुमं सव्वसमन्नागयपन्नाणेणं अप्पाणेणं केइ अकरणयाए आउट्टे तवस्सिणो हु तं सेयं जमेगे विहमाइए तत्थावि तस्स कालपरियाए सेऽवि तत्थ वि अंतिकारए, इच्चेयं विमोहायतणं हियं सुहं खमं निस्सेसं आणुगामियं त्ति बेमि।”^{१६०}

इसका भावार्थ प्रकाशित करते हुए मुनि श्री सौभाग्यमल जी लिखते हैं—“साधना के कठिन मार्ग में चलते हुए साधक को कभी ऐसा मालूम पड़े कि मैं परीषह और उपसर्गों से घिर गया हूँ और उन्हें सहन करने में सर्वथा असमर्थ हूँ, तो ऐसे प्रसंग पर उसे प्रथम तो अपनी समस्त बुद्धि द्वारा सोचकर (सर्वसमन्वागतप्रज्ञानेन आत्मना) जहाँ तक बने वहाँ तक उपसर्ग से बच निकलना चाहिए, परन्तु अकार्य में प्रवृत्ति नहीं करनी चाहिए। यदि किसी भी तरह बचने की सम्भावना न हो, तो वैहानसादि (अकाल) मरण से मर जाना चाहिये, परन्तु अकार्य में प्रवृत्ति नहीं करनी चाहिए। इस प्रसंग का आकस्मिक मरण भी अनशन और मृत्युकाल के मरण के समान निर्दोष और हितकर्ता है। इस तरह मरण की शरण होनेवाले मुक्ति के अधिकारी हो सकते हैं। कतिपय निर्मोही आत्माओं ने ऐसे प्रसंग पर मरण का शरण लिया है इसलिए यह हितकारी, सुखकारी, युक्तियुक्त, कर्मक्षय का हेतुभूत और भवान्तर में भी पुण्यप्रद है, ऐसा मैं कहता हूँ।”^{१६०}

उपर्युक्त पाठ (वि.टी./भ.आ./गा. ४२३) के अर्थ का इस पाठ के अर्थ से कोई सम्बन्ध नहीं है। अतः डॉक्टर सा० का यह कथन प्रमाणित नहीं होता कि

१६०. आचारांग (प्र.सं.) १/८/४/पृ. ५३६-३७/ श्री जैन साहित्य समिति नयापुरा, उज्जैन/ वि. सं. २००७।

“उपर्युक्त सन्दर्भ आचारांग में शब्दशः नहीं है, किन्तु उसका अर्थ आचारांग के प्रथम श्रुतस्कन्ध के अष्टम अध्ययन में सुरक्षित है।” इसलिए पं० कैलाशचन्द्र जी शास्त्री ने जो कहा है वह सत्य सिद्ध होता है, अर्थात् यापनीयमान्य-श्वेताम्बर-आगम वर्तमान श्वेताम्बर-आगमों से पाठ की अपेक्षा किञ्चित् भिन्न थे।

पण्डित जी ने पूर्वोक्त ‘परिचत्तेसु वत्थेसु’ आदि दो गाथाओं को उत्तराध्ययन की गाथाएँ कहा है। इस पर भी डॉक्टर सा० ने आक्षेप किया है कि “आदरणीय पण्डित जी को यह भ्रान्ति कैसे हो गयी कि वे उत्तराध्ययन की गाथाएँ हैं?” (जै. ध. या. स./पृ.७३)। वस्तुतः विजयोदयाटीका में उन्हें परीषहसूत्र कहा गया है^{१६१} और पं० नाथूराम जी प्रेमी ने उनका अस्तित्व ‘उत्तराध्ययन’ में बतलाया है तथा उत्तराध्ययन की गाथाओं के रूप में ही उन्हें पादटिप्पणी में उद्धृत किया है।^{१६२} अतः पण्डित कैलाशचन्द्र जी का उन्हें ‘उत्तराध्ययन’ की गाथाएँ कहना कोई भ्रान्ति नहीं है, अपितु यथार्थ है। आश्चर्य तो यह है कि आगे डॉक्टर सा० स्वयं भावरूप में उनका अस्तित्व उत्तराध्ययन में बतलाते हैं। वे लिखते हैं—

“पुनः ये गाथाएँ भी चाहे शब्दशः उत्तराध्ययन में न हों, किन्तु भावरूप से तो दोनों ही गाथाएँ और शब्दरूप से इनके आठ चरणों में से चार चरण तो उपलब्ध ही हैं। उपर्युक्त उद्धृत गाथाओं से तुलना के लिए उत्तराध्ययन की ये गाथाएँ प्रस्तुत हैं—

परिजुणोहिं वत्थेहिं होक्खामि ति अचेलए।
अदुवा सचेलए होक्खं इदं भिक्खु न चिन्तए॥ २/१२॥
एगया अचेलए होइ सचले यावि एगया।
एयं धम्महियं नच्चा नाणी नो परिदेवए॥ २/१३॥”
(जै. ध. या. स./ पृ.७३)

इन गाथाओं का पूर्वोक्त गाथाओं से न तो शब्दसाम्य है, न व्याकरणसाम्य, न अर्थसाम्य। शब्दसाम्य और व्याकरणसाम्य का अभाव तो स्पष्ट ही दृष्टिगोचर हो रहा है। अर्थसाम्य का अभाव नीचे प्रदर्शित किया जा रहा है।

१६१. “इदं चाचेलताप्रसाधनपरं शीतदंशमशकतृणस्पर्शपरीषहसहनवचनं परीषहसूत्रेषु। न हि सचेलं शीतादयो बाधन्ते। इमानि च सूत्राणि अचेलतां दर्शयन्ति—‘परिचत्तेसु वत्थेसु ण पुणे चेलमादिए---।’ विजयोदयाटीका / भगवती-आराधना / ‘आचेलक्कुदेसिय’ गा. ४२३।

१६२. “इसके बाद कहा है कि परीषह-सूत्रों में (उत्तराध्ययन में) जो शीत-दंशमशक-तृणस्पर्श-परीषहों के सहन के वचन हैं, वे सब अचेलता के साधक हैं। क्योंकि जो सचेल या सवस्त्र हैं उन्हें शीतादि की बाधा होती ही नहीं है।” जै. सा. इ./ प्र. सं./ पृ. ५०।

‘परिचत्तेसु वत्थेसु’ गाथाओं का अर्थ—“वस्त्रों का त्याग कर देने पर भिक्षु पुनः वस्त्र ग्रहण नहीं करता। भिक्षु अचेल होकर सदा जिनरूप धारण करता है। भिक्षु ऐसा विचार नहीं करता कि सवस्त्र सुखी होता है और वस्त्ररहित दुःखी, इसलिए मैं वस्त्र धारण करूँगा।”

‘परिजुण्णेहिं वत्थेहिं’ गाथाओं का अर्थ—“वस्त्र परिजीर्ण हो जाने पर मैं निर्वस्त्र हो जाऊँगा अथवा मैं सवस्त्र होऊँगा, भिक्षु को ऐसी चिन्ता नहीं करनी चाहिए। भिक्षु कभी सवस्त्र हो जाता है, तो कभी निर्वस्त्र। धर्म के इस मर्म को समझकर ज्ञानी को दुःखी नहीं होना चाहिए।”

इन दोनों अर्थों में आकाश-पाताल का अन्तर है। पूर्व गाथाओं में वस्त्रत्याग देने पर सदा निर्वस्त्र रहने पर जोर दिया गया है, जबकि उत्तरगाथाओं में सदा निर्वस्त्र रहने पर बल नहीं दिया गया, अपितु जब तक नये वस्त्र प्राप्त न हों, तब तक निर्वस्त्र रहने में दुःख न करने पर जोर दिया गया है। अर्थात् उत्तरगाथाओं में निर्वस्त्रता मोक्ष की दृष्टि से आवश्यक नहीं मानी गई है, जब कि पूर्व गाथाओं में मोक्ष की दृष्टि से आवश्यक मानी गयी है। इस तरह पूर्वनिर्दिष्ट और उत्तरनिर्दिष्ट गाथायुग्मों में शब्द और अर्थ, दोनों दृष्टियों से साम्य नहीं है। अतः डॉक्टर सा० का यह कथन समीचीन नहीं है कि पं० कैलाशचन्द्र जी शास्त्री ने वर्तमान उत्तराध्ययन में जिन गाथाओं का अभाव बतलाया है, वे ‘परिजुण्णेहिं वत्थेहिं’ आदि गाथाओं के रूप में उत्तराध्ययन में विद्यमान हैं। तथ्य यह है कि निरपवाद अचेलत्व की पोषक होने से उन्हें वर्तमान उत्तराध्ययन से बहिष्कृत कर दिया गया। अतः सिद्ध है कि यापनीयमान्य-श्वेताम्बर-आगम वर्तमान-श्वेताम्बर-आगमों से पाठ की दृष्टि से कुछ भिन्न थे।

पं० नाथूराम जी प्रेमी ने यापनीयों के पास माथुरीवाचना के आगम होने का अनुमान लगाया है। इस पर भी डॉक्टर सा० ने आपत्ति दर्ज की है। उनका कहना है कि “यापनीयों के पास स्कन्दिल (श्वेताम्बराचार्य) की माथुरीवाचना के आगम थे, यह मानने में एक बाधा आती है, वह यह कि स्कन्दिल की वाचना का काल वीर नि० संवत् ८२७-८४० अर्थात् ईसा की तृतीय शती का अन्त और चतुर्थ शती का प्रारम्भ है, जब कि संघभेद उसके लगभग २०० वर्ष पहले ही घटित हो चुका था। अतः प्रो० ढाकी की यह मान्यता उचित ही है कि वह वाचना फल्गुमित्र की रही होगी। यापनीयों ने उसमें अपने मन्तव्यों के अनुसार कुछ प्रक्षेप भी किया होगा। यद्यपि फल्गुमित्र की परम्परा की इस वाचना के सम्बन्ध में स्पष्ट निर्देश कहीं भी उपलब्ध नहीं है।” (जै. ध. या. स. / पृ. ७५)।

यापनीयों के पास माथुरीवाचना के आगमों का सद्भाव मानने में डॉक्टर सा० को जो बाधा दिखाई देती है, उसका कारण उनकी यह मान्यता है कि बोटिक यापनीय थे। बोटिकों को यापनीय मान लेने पर यह सिद्ध होता है कि यापनीयसम्प्रदाय का उदय प्रथम शताब्दी ईसवी में हुआ था। फलस्वरूप उनकी उत्पत्ति के २०० वर्ष बाद हुई माथुरीवाचना के आगम उनके पास माने जायें, तो उसके पहले तक उनके पास आगमों का अभाव मानना होगा। किन्तु डॉक्टर सा० की बोटिकों को यापनीय मानने की परिकल्पना निराधार सिद्ध हो चुकी है और उन्होंने ही अपनी वाणी से स्वीकार कर लिया है कि यापनीय-सम्प्रदाय की उत्पत्ति पाँचवीं शताब्दी ईसवी के प्रारम्भ में हुई थी। (देखिये, पूर्व प्रकरण १/शी. १०)। अतः अपनी उत्पत्ति से सौ वर्ष पूर्व हुई माथुरीवाचना के आगम यापनीयों के पास थे, यह मानने में कोई बाधा नहीं है। इससे प्रो० ढाकी की यह परिकल्पना भी निराधार सिद्ध हो जाती है कि यापनीयों के पास फल्गुमित्र की वाचना के आगम रहे होंगे। आश्चर्य तो यह है कि डॉक्टर सा० ने यह जानते हुए भी कि फल्गुमित्र की वाचना का आगम में कहीं कोई उल्लेख नहीं है, प्रो० ढाकी की इस निराधार परिकल्पना को उचित मान लिया है। यापनीयों के लिए अन्त तक मथुरावाचना के ही आगम मान्य रहे हैं, इसका एक ज्वलन्त प्रमाण यह है कि यापनीय-आचार्य पाल्यकीर्ति शाकटायन ने स्त्रीमुक्ति के समर्थन में मथुरागम को ही प्रमाणरूप में उद्धृत किया है।^{१६३}

४

यापनीय-मान्य आगमों की भाषा शौरसेनी

यह एक महत्त्वपूर्ण बात है कि 'भगवती आराधना' की विजयोदयाटीका में माथुरीय श्वेताम्बर-आगमों से जो उद्धरण दिये गये हैं, उनकी भाषा शौरसेनी प्राकृत है। इससे प्रतीत होता है कि श्वेताम्बर आगम मूलतः शौरसेनी प्राकृत में निबद्ध किये गये थे। पश्चात् पाँचवीं शती ई० की वलभीवाचना में उनका अर्धमागधीकरण कर दिया गया। किन्तु यह डॉ० सागरमल जी की मान्यता के विरुद्ध है, इसलिए उन्होंने यह उद्भावना की है कि आगम तो मूलतः अर्धमागधी प्राकृत में ही रचे गये थे, किन्तु यापनीयों ने उन्हें शौरसेनी प्राकृत में रूपान्तरित कर दिया। वे लिखते हैं—

“विजयोदया के आचारांग आदि के सभी आगमिक सन्दर्भों को देखने से यह स्पष्ट हो जाता है कि वे पूर्णतः शौरसेनी प्रभाव से युक्त हैं। मूलतः आचारांग, उत्तराध्ययन आदि आगम तो निश्चित ही अर्धमागधी में रहे हैं। यहाँ दो सम्भावनाएँ हो सकती

१६३. अष्टशतमेकसमये पुरुषाणामादिरागमः (माहुरागमे) सिद्धिः (सिद्धम्)।

स्त्रीणां न मनुष्ययोगे गौणार्थो मुख्यहानिर्वा ॥३४॥ स्त्रीनिर्वाणप्रकरण।

हैं, प्रथम यही है कि माथुरीवाचना के समय उन पर शौरसेनी का प्रभाव आया हो और यापनीयों ने उसे मान्य रखा हो। दूसरी यह है कि यापनीयों ने उन आगमों का शौरसेनीकरण करके श्वे० परम्परा में मान्य आचारांग आदि से उनमें अपनी परम्परा के अनुरूप कुछ पाठभेद रखा हो।” (जै. ध. या. स./पृ. ७३-७४)।

“आराधना की टीका में उद्धृत इन (उत्तराध्ययन की) गाथाओं पर भी शौरसेनी का स्पष्ट प्रभाव है। यह भी स्पष्ट है कि मूल उत्तराध्ययन अर्धमागधी की रचना है। इससे ऐसा लगता है कि यापनीयों ने अपने समय के अविभक्त परम्परा के आगमों को मान्य करते हुए भी उन्हें शौरसेनी प्राकृत में रूपान्तरित करने का प्रयास किया था, अन्यथा अपराजित की टीका में मूल आगमों के उद्धरणों का शौरसेनी रूप न मिलकर अर्धमागधीरूप ही मिलता।” (जै. ध. या. स./पृ. ७४)।

लेकिन, जैन-बौद्धदर्शनों एवं पालि-प्राकृत भाषाओं के अन्तरराष्ट्रीयख्यातिप्राप्त वरिष्ठ श्वेताम्बर विद्वान् डॉ० नथमल जी टॉटिया ने डाक्टर सागरमल जी के उपर्युक्त विचारों से ठीक विपरीत विचार व्यक्त किये हैं। वे कहते हैं—

“श्रमणसाहित्य का प्राचीन रूप, चाहे वे बौद्धों के ‘त्रिपिटक’ आदि हों, श्वेताम्बरों के ‘आचारांगसूत्र’, ‘दशवैकालिक सूत्र’ आदि हों अथवा दिगम्बरों के ‘षट्खण्डागमसूत्र’, ‘समयसार’ आदि हों, वे सभी शौरसेनी प्राकृत में ही निबद्ध थे। श्वेताम्बरजैन-साहित्य का भी प्राचीनरूप शौरसेनी प्राकृत में ही था, जिसका रूप क्रमशः ‘अर्धमागधी’ में बदला गया। यदि हम वर्तमान अर्धमागधी-आगम-साहित्य को ही मूल श्वेताम्बर-आगमसाहित्य मानने पर जोर देंगे, तो इस अर्धमागधीभाषा का आज से पन्द्रह सौ वर्ष के पहले अस्तित्व ही नहीं होने से इस स्थिति में हमें अपने आगमसाहित्य को भी ५०० वर्ष ई० के परवर्ती मानना पड़ेगा। आचारांगसूत्र आदि की प्राचीन प्रतियों में शौरसेनी के शब्दों की प्रचुरता मिलती है, जब कि नये प्रकाशित संस्करणों में उन शब्दों का अर्द्धमागधीकरण हो गया है।”^{१६४}

डॉ० नेमिचन्द्र जी शास्त्री, ज्योतिषाचार्य ने भी लिखा है कि “वर्तमान श्वेताम्बर-आगमसाहित्य के जो ग्रन्थ अर्धमागधी में उपलब्ध होते हैं, वह अर्धमागधी तीर्थंकर महावीर की दिव्यध्वनि की भाषा नहीं है। इसका रूप तो चौथी-पाँचवीं शताब्दी में गठित हुआ है।” (ती. म. आ. प. / खं. १ / पृ. २४०)। इसे उन्होंने ‘प्राकृतभाषा और

१६४. क—‘प्राकृतविद्या’ जनवरी-मार्च, १९९६ / श्री कुन्दकुन्द भारती (प्राकृत भवन) नई दिल्ली।

ख—‘जिनागमों की मूलभाषा’ / प्राकृत टेस्ट सोसायटी, अहमदाबाद / पृष्ठ १२८।

ग—डॉ० सुदीप जैन : ‘खरा सो मेरा’ (कुन्दकुन्द भारती, नई दिल्ली, १९९९ ई०) / पृ. ५ पर उद्धृत।

साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास' में और स्पष्ट करते हुए कहा है—

“जैन आगम की भाषा को अर्धमागधी कहा गया है, क्योंकि भगवान् महावीर के उपदेश की भाषा भी अर्धमागधी थी; पर उस प्राचीन अर्धमागधी का क्या स्वरूप था, इस सम्बन्ध में कोई निश्चित जानकारी आज उपलब्ध नहीं है। श्वेताम्बर-आगमग्रंथों में आज जो अर्धमागधी का स्वरूप उपलब्ध है, उसका गठन देवर्द्धिगणी की अध्यक्षता में सम्पन्न वलभी नगर के मुनिसम्मेलन में हुआ है। यह सम्मेलन वीर-निर्वाण-संवत् ९८० में हुआ था। इस मुनिसम्मेलन ने आगमग्रंथों को सुसम्पादित किया। अतः भाषा और विषय इन दोनों ही क्षेत्रों में कुछ बातें पुरानी बनी रह गयीं और कुछ नवीन बातें भी जोड़ी गयीं। यही कारण है कि पद्य-भाग की भाषा गद्य-भाग की भाषा की अपेक्षा अधिक प्राचीन तथा आर्ष है। आयारंगसुत्त, सूयगडंगसुत्त एवं उत्तराञ्जलयणसुत्त की भाषा में पर्याप्त प्राचीन तत्त्व उपलब्ध हैं।” (पृ.३१)।

वे आगे लिखते हैं—“सर्वमान्य सिद्धान्त है कि अर्धमागधी का रूपगठन मागधी और शौरसेनी से हुआ। हार्नले ने समस्त प्राकृत बोलियों को दो वर्गों में बाँटा है। एक वर्ग को उसने शौरसेनी-प्राकृत-बोली और दूसरे वर्ग को मागधी-प्राकृत-बोली कहा है। इन बोलियों के क्षेत्रों के बीचोंबीच उसने एक प्रकार की एक रेखा खींची, जो उत्तर में खालसी से लेकर वैराट, इलाहाबाद और फिर वहाँ से दक्षिण को रामगढ़ होते हुए जौगढ़ तक गयी है। ग्रियर्सन उक्त मत से सहमत होते हुए लिखते हैं कि उक्त रेखा के पास आते-जाते शनैः-शनैः ये दोनों प्राकृतों आपस में मिल गयीं और इसका परिणाम यह हुआ कि इनके मेल से एक तीसरी बोली उत्पन्न हुई, जिसका नाम अर्धमागधी पड़ा।” (वही पृ/३४)।

ज्योतिषाचार्य जी आगे बतलाते हैं—“मार्कण्डेय ने अर्धमागधी भाषा के स्वरूप का विवेचन करते हुए लिखा है “शौरसेन्या अदूरत्वादियमेवार्धमागधी” (प्राकृतसर्वस्व/पृ.१०३)। अर्थात् शौरसेनी भाषा के निकटवर्ती होने के कारण मागधी ही अर्धमागधी है। --- अभयदेव ने उवासगदसाओ की टीका में मागधी के पूर्ण लक्षणों को न पाकर लिखा है—“अर्धमागधी भाषा यस्यां रसोरलशौ मागध्यामित्यादिकं मागधभाषा-लक्षणं परिपूर्णं नास्ति।” अर्थात् अर्धमागधी वह भाषा है, जिसमें मागधी के पूर्ण लक्षण रकार और सकार के स्थान पर लकार और शकार नहीं पाये जाते। स्पष्ट है कि अभयदेव भी अर्धमागधी का रूप मागधी-मिश्रित शौरसेनी मानते हैं।” (वही / पृ.३५)।

ज्योतिषाचार्य जी ने आगे लिखा है—“अर्धमागधी ध्वनितत्त्व, रूपतत्त्व, शब्दसम्पत्ति एवं अर्थतत्त्व की दृष्टि से प्राचीन शौरसेनी और प्राचीन मागधी का मिश्रित रूप है। अर्धमागधी नाम भी इस तथ्य का सूचक है कि इस भाषा में मागधी के आधे ही

लक्षण वर्तमान हैं। शेष आधे लक्षण प्राचीन शौरसेनी के हैं। इन दोनों भाषाओं के मेल से निष्पन्न अर्धमागधी भाषा है।” (वही/पृ.३७)।

डॉ० नेमिचन्द्र जी शास्त्री निष्कर्ष प्रस्तुत करते हुए कहते हैं—“उपलब्ध अर्धमागधी का स्वरूपगठन मागधी और प्राचीन शौरसेनी के मिश्रण के आधार पर किया गया है। पर भगवान् महावीर का उपदेश जिस अर्धमागधी में होता था, वह अर्धमागधी यह नहीं है। उस प्राचीन अर्धमागधी का स्वरूप अनेक भाषाओं के मिश्रण से तैयार हुआ था। अर्धमागधी शब्द स्वयं ही इस बात का सूचक है कि इसके स्वरूप में आधे लक्षण मागधी के तथा आधे इतर भाषाओं के मिश्रित थे। जिनसेनाचार्य ने इस भाषा की विशेषता पर प्रकाश डालते हुए कहा है—

त्वद्विव्यवागियमशेषपदार्थगर्भा भाषान्तराणि सकलानि निदर्शयन्ती।

तत्त्वावबोधमचिरात् कुरुते बुधानां स्याद्वादनीति विहितान्धमतान्धकारा॥

आदिपुराण २३/१५४।

“अर्थात् यह भाषा अर्धमागधी समस्त भाषाओं के रूप का परिणमन करती है। इसमें अनेक भाषाओं का मिश्रण होने से शीघ्र ही तत्त्वज्ञान को समझ लेने की शक्ति वर्तमान है। यह स्याद्वादरूपी नीति के द्वारा समस्त विवादों का निराकरण करनेवाली है।

“अत एव यह स्पष्ट है कि प्राचीन शौरसेनी या जैनशौरसेनी उपलब्ध अर्ध-मागधी की अपेक्षा प्राचीन है और इसका प्रचार पूर्व, पश्चिम और दक्षिण भारत में सर्वत्र था।” (वही/पृ.४४)।

प्राकृतभाषा एवं जैनविद्या के सुप्रसिद्ध विद्वान् डॉ० हीरालाल जी जैन लिखते हैं—“उपर्युक्त (आचारांगादि) ४५ आगमग्रन्थों की भाषा अर्द्धमागधी मानी जाती है। अर्द्धमागधी का अर्थ नाना प्रकार से किया जाता है—जो भाषा आधे मगधप्रदेश में बोली जाती थी अथवा जिसमें मागधी भाषा की आधी प्रवृत्तियाँ पाई जाती थीं। यथार्थतः ये दोनों ही व्युत्पत्तियाँ सार्थक हैं, और इस भाषा के ऐतिहासिक स्वरूप को सूचित करती हैं। मागधी भाषा की मुख्यतः तीन विशेषताएँ थीं— १. उसमें र का उच्चारण ल होता था, २. तीनों प्रकार के ऊष्म ष, स, श वर्णों के स्थान पर केवल ‘श’ ही पाया जाता था; और ३. अकारान्त कर्ताकारक एकवचन का रूप ‘ओ’ के स्थान पर ‘ए’ प्रत्यय द्वारा बनता था। इन तीन मुख्य प्रवृत्तियों में से अर्द्ध-मागधी में कर्ताकारक की एकारविभक्ति बहुलता से पायी जाती है। र का ल क्वचित् ही होता है, तथा तीनों सकारों के स्थान पर तालव्य ‘श’-कार न हो, दन्त्य ‘स’-कार ही होता है। इस प्रकार इस भाषा में मागधी की आधी प्रवृत्तियाँ कहीं जा सकती हैं। इसकी शेष

प्रवृत्तियाँ शौरसेनी प्राकृत से मिलती हैं, जिससे अनुमान किया जा सकता है कि इस भाषा का प्रचार मगध के पश्चिम प्रदेश में रहा होगा। विद्वानों का यह भी मत है कि मूलतः महावीर एवं बुद्ध दोनों के उपदेशों की भाषा उस समय की अर्द्धमागधी रही होगी, जिससे वे उपदेश पूर्व एवं पश्चिम की जनता को समानरूप से सुबोध हो सके होंगे। किन्तु पूर्वोक्त उपलब्ध आगमग्रन्थों में हमें उस प्राक्तन अर्द्धमागधी का स्वरूप नहीं मिलता। भाषा-शास्त्रियों का मत है कि उस काल की मध्ययुगीन आर्यभाषा में संयुक्त व्यंजनों के समीकरण अथवा स्वरभक्ति आदि विधियों से भाषा का सरलीकरण तो प्रारम्भ हो गया था, किन्तु उसमें वर्णों का विपरिवर्तन जैसे क-ग, त-द, अथवा इनके लोप की प्रक्रिया प्रारंभ नहीं हुई थी। यह प्रक्रिया मध्ययुगीन आर्यभाषा के दूसरे स्तर में प्रारंभ हुई मानी जाती है, जिसका काल लगभग दूसरी शती ई० सिद्ध होता है। उपलब्ध आगमग्रन्थ इसी स्तर की प्रवृत्तियों से प्रभावित पाये जाते हैं। स्पष्टतः ये प्रवृत्तियाँ कालानुसार उनकी मौखिक परम्परा के कारण उनमें समाविष्ट हो गई हैं।” (भारतीय संस्कृति में जैनधर्म का योगदान/पृ. ७०-७१)।

षट्खण्डागम के सम्पादकीय में भी डॉ० हीरालाल जी जैन ने यही बात कही है—“वस्तुतः जैन साहित्यिक इतिहास के लिये यह एक महान् उपलब्धि होगी, यदि किसी जैन ग्रन्थ की रचना विक्रमपूर्व द्वितीय या प्रथम शताब्दी की सिद्ध की जा सके। वर्तमान जैन प्राकृतसाहित्य में ऐसी सिद्धि की क्षमता तो किसी भी रचना में दिखाई नहीं देती, क्योंकि उनकी भाषात्मक वृत्ति मध्य-भारतीय-भाषा (Middle Indo-Aryans) के प्रथम स्तर की नहीं पायी जाती, किन्तु द्वितीय स्तर की है, जिसका प्रारम्भ विक्रम की द्वितीय शती से पूर्व हुआ ही नहीं था, उदाहरणार्थ, **पण्णवणासुत्त** में आये ‘लोए’ (लोके), ‘भयवया’ (भगवता), ‘सुय’ (श्रुत), ‘दिट्वाय’ (दृष्टिवाद), ‘ठिई’ (स्थिति), ‘वेयणा’ (वेदना) आदि जैसे मध्यवर्ती व्यंजनोंका लोप और उनके स्थान पर य-श्रुति के आदेश की प्रवृत्ति द्वितीय शती से पूर्व की प्राकृत भाषाओं में नहीं मिलती। इन पूर्ववर्ती भाषाओं का स्वरूप हमें पालि-त्रिपिटक, अशोक, खारवेल तथा सुंग और आंध्रवंशीय शिलालेखों एवं अश्वघोष के नाटकों में मिलता है, जहाँ मध्यवर्ती व्यंजनों के लोप की प्रवृत्ति का अभाव है। यह व्यंजन-लोप-वृत्ति दूसरी शती के पश्चात् प्रारम्भ हुई और यही महाराष्ट्री प्राकृत का विशेष लक्षण बन गयी। इसी के जैन-प्राकृत-साहित्य में प्रचुरता से प्रयोग के कारण पिशेल आदि विद्वानों ने जैन प्राकृत रचनाओं की भाषाओं को जैनमहाराष्ट्री व जैनशौरसेनी की संज्ञा दी है। अतः इस भाषाविज्ञान के प्रकाश में **पण्णवणासुत्त** की रचना को द्वितीय शती से पूर्व की कदापि स्वीकृत नहीं किया जा सकता।” (सम्पादकीय/पृ. ९/ष. ख./पु. १)।

इन तथ्यों को देखते हुए यदि यह माना जाय कि श्वेताम्बर-आगमसाहित्य आरम्भ से ही अर्धमागधी में निबद्ध था, तो वह पाँचवीं या दूसरी शताब्दी ई० के बाद रचा हुआ सिद्ध होगा। इसके पूर्व किसी भी रूप में, किसी भी भाषा में उसका अस्तित्व प्रमाणित न हो सकेगा। किन्तु हम देखते हैं कि ई० पूर्व चतुर्थ शताब्दी में हुई पाटलिपुत्र-वाचना के समय से श्वेताम्बर-आगमसाहित्य श्रुतिपरम्परा से चला आ रहा था और ईसा की चतुर्थ शती के आरंभ में जो दूसरी वाचना मथुरा में हुई थी, उसमें पुनः संकलित आगमसाहित्य शौरसेनी प्राकृत में निबद्ध था, यह 'भगवती-आराधना' की विजयोदयाटीका में दिये गये उद्धरणों से सिद्ध है। अतः यही सिद्ध होता है कि श्वेताम्बर-आगमसाहित्य की मूलभाषा शौरसेनी थी, जिसे श्री देवर्द्धिगणी के नेतृत्व में हुई वलभीवाचना में अर्धमागधी में रूपान्तरित कर दिया गया।

५

यापनीयसंघ का लोप क्यों हुआ?

इस विषय में माननीय पं० नाथूराम जी प्रेमी लिखते हैं—“इस संघ का लोप कब हुआ और किन-किन कारणों से हुआ, इन प्रश्नों का उत्तर देना तो बहुत परिश्रमसाध्य है, परन्तु अभी तक की खोज से यह निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि विक्रम की पन्द्रहवीं शताब्दी तक यह सम्प्रदाय जीवित था। कागबाड़े के श० सं० १३१६ (वि० सं० १४५१) के शिलालेख में, जो जैनमन्दिर के भौंहिरे में है, यापनीयसंघ के धर्मकीर्ति और नागचन्द्र के समाधिलेखों का उल्लेख है। इनके गुरु नेमिचन्द्र को तुलुब-राज्य-स्थापनाचार्य की उपाधि दी हुई है, जो इस बात की द्योतक है कि वे एक बड़े राजमान्य व्यक्ति थे और इसलिए संभव है कि उनके बाद भी सौ पचास वर्ष तक इस सम्प्रदाय का अस्तित्व रहा हो।” (जै. सा. इ. / प्र. सं. / पृ. ४२)।

मेरी दृष्टि से इस सम्प्रदाय के लोप के बीज इसकी सैद्धान्तिक असंगतता और साधुओं की गृहस्थवत् लौकिक प्रवृत्तियों में अन्तर्निहित थे।

यापनीयमत अत्यन्त अयुक्तिसंगत मत था। जैसा कि डॉ० सागरमल जी का मानना है, वह दिगम्बर और श्वेताम्बर परम्पराओं के बीच योजक कड़ी के रूप में विकसित हुआ था,^{१६५} अर्थात् उसने आधे दिगम्बरत्व और आधे श्वेताम्बरत्व को लेकर एक संयुक्त मोक्षमार्ग बनाने का प्रयत्न किया था। यह दो भिन्नजातीय पुरुषों के आधे-आधे शरीर को लेकर एकजातीय, एक पुरुष का शरीर बनाने की चेष्टा थी, जो अस्वाभाविक होने के कारण सफल नहीं हुई। मोक्ष की दृष्टि से न तो वह अचेलत्व का ही औचित्य सिद्ध कर सका, न सचेलत्व का ही। जब वस्त्रधारण मोक्ष में बाधक नहीं है, तब

१६५. जैनधर्म का यापनीय सम्प्रदाय / लेखकीय / पृ. ५।

नग्न रहने का औचित्य क्या है? और यदि नग्नत्व से ही मोक्ष संभव है, तो सवस्त्रता के अपवादमार्ग की गुंजाइश कहाँ है? इन तर्कों का यापनीयों के पास कोई उत्तर नहीं था। इसलिए अपने-अपने दर्शन पर दृढ़ रहनेवाले दिगम्बर और श्वेताम्बर, दोनों यापनीयमत की ओर आकृष्ट नहीं हुए। तथा आगे चलकर भिक्षादि की सुविधा के लिए भी नग्नत्व अनिवार्य नहीं रह गया था, क्योंकि श्वेताम्बर साधुओं को भरण-पोषण के लिए राजाओं से ग्रामादि दान में मिलने लगे थे तथा दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनों सम्प्रदायों में मठवासी और चैत्यवासी साधुओं के सम्प्रदाय उत्पन्न हो गये थे, जो मन्त्र-तन्त्र, पूजा-विधान आदि के चमत्कारों से राजा-प्रजा दोनों को प्रभावित कर उनसे भूमि-ग्राम आदि का दान प्राप्त करने लगे थे। इस प्रकार उन्होंने शानशौकत-भरी जिन्दगी जीने की स्थायी व्यवस्था कर ली थी। इसलिए यापनीय बनने का यह आकर्षण भी नहीं रहा। फिर उनके बेमेल मत पर दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनों की ओर से प्रहार होते रहे होंगे। यद्यपि नग्नत्व को छोड़कर उनके सभी सिद्धान्त श्वेताम्बरों के अनुकूल थे, इसलिए उनके साथ उनका अधिक विसंवाद और विरोध नहीं था, तथापि जिनकल्प या अचेलत्व की मान्यता को लेकर श्वेताम्बर उन पर यदा-कदा प्रहार अवश्य करते होंगे। दिगम्बरों ने तो उन्हें जैनाभास ही घोषित कर दिया था, अतः उनकी गर्हा-निन्दा का पात्र तो यापनीयों को बनते ही रहना पड़ता होगा। इसके अतिरिक्त कुछ समझदार यापनीयों को भी अपना बेमेल सिद्धान्त अरुचिकर लगने लगा होगा और बहुसंख्यक दिगम्बरों और श्वेताम्बरों के बीच में अल्पसंख्यक बनकर जीना भी कठिन हो रहा होगा। इसके अतिरिक्त उनके प्रभावहीन हो जाने से राजाश्रय भी छिन गया होगा। इन कारणों से वे अपना सम्प्रदाय छोड़कर अपनी-अपनी अनुकूलता के अनुसार या तो दिगम्बरों में मिल गये और उनके सिद्धान्त अपना लिये या श्वेताम्बरों के सिद्धान्तों और वेश का एकान्ततः वरण कर उनमें शामिल हो गये। इस तरह ईसा की १५वीं शती के बाद यापनीय-सम्प्रदाय का लोप हो गया।^{१६६} माननीय डॉ० दरबारीलाल जी कोठिया जी ने भी माना है कि जब यापनीयों के कई विचारों और आचारों का दिगम्बरों और श्वेताम्बरों के द्वारा विरोध होने लगा, तो उन्हें इन दोनों में, खासकर दिगम्बरों में मिल जाना पड़ा।^{१६७}

१६६. नाथूराम प्रेमी : जैन साहित्य और इतिहास / प्र. सं. / पृ. ४२।

१६७. प्रकाशकीय / पृ. ३ / यापनीय और उनका साहित्य : डॉ० श्रीमती कुसुम पटोरिया।



पञ्चम प्रकरण

यापनीयग्रन्थ के लक्षण

कतिपय दिगम्बर और श्वेताम्बर विद्वानों ने भगवती-आराधना, मूलाचार, तत्त्वार्थ-सूत्र, षट्खण्डागम आदि दिगम्बरजैन-ग्रन्थों को यापनीयग्रन्थ सिद्ध करने की चेष्टा की है। उन्होंने इसके पक्ष में जो हेतु बतलाये हैं, उनमें से अनेक यापनीयग्रन्थ के लक्षण नहीं हैं और जो यापनीयग्रन्थ के लक्षण हैं, वे उक्त ग्रन्थों में उपलब्ध नहीं हैं। अतः दिगम्बरग्रन्थ और यापनीयग्रन्थ के भेद की पहचान के लिए यह निश्चय करना आवश्यक है कि यापनीयग्रन्थ के असाधारणधर्म या लक्षण क्या हैं? ^{१६८}

जो धर्म केवल विवक्षित वस्तु में हो, अन्य वस्तुओं में न हो, वह उस वस्तु का असाधारण धर्म या लक्षण कहलाता है। ^{१६९} अतः जिन धर्मों या विशेषताओं का अस्तित्व केवल यापनीयमत के ग्रन्थ में संभव है, अन्य मत के ग्रन्थ में नहीं, वे यापनीयग्रन्थ के असाधारणधर्म या लक्षण हैं। किसी ग्रन्थ के यापनीयग्रन्थ होने या न होने का निर्णय इन असाधारणधर्मरूप हेतुओं की उपलब्धि या अनुपलब्धि से होता है।

इसके विपरीत जो धर्म यापनीयग्रन्थ का असाधारणधर्म नहीं है, अपितु यापनीयेतरग्रन्थों में भी उपलब्ध है या हो सकता है, वह किसी ग्रन्थ के यापनीयग्रन्थ होने या न होने का निर्णायक हेतु नहीं है, अपितु हेत्वाभास या अहेतु है।

नीचे उन धर्मों या विशेषताओं पर प्रकाश डाला जा रहा है, जो यापनीयग्रन्थ के असाधारणधर्म या लक्षण हैं, जिनके सद्भाव या अभाव से यह निर्णय होता है कि अमुक ग्रन्थ यापनीयमत का है या नहीं। यापनीय श्वेताम्बर-आगमों को मानते थे, इसलिए दिगम्बरमुनियों के समान मयूरपिच्छिका-सहित वैकल्पिक नग्नवेश एवं पाणितलभोजित्व की स्वीकृति के अतिरिक्त उनकी प्रायः सभी मान्यताएँ वे ही थीं, जो श्वेताम्बरों की हैं। अतः यापनीयग्रन्थ वह है—

१. जो श्वेताम्बरीय सिद्धान्तों का प्रतिपादक होते हुए भी श्वेताम्बरग्रन्थ न हो, अर्थात् जिसे श्वेताम्बरों ने अपना ग्रन्थ न माना हो।

१६८. “व्यतिकीर्णवस्तुव्यावृत्तिहेतुर्लक्षणम्।” न्यायदीपिका / १ / ३ / पृ. ५-६।

१६९. क— “असाधारणचिद्रूपतास्वभावसद्भावाच्चाकाशधर्माधर्मकालपुद्गलेभ्यो भिन्नो --- जीवो नाम पदार्थः।” आत्मख्याति / समयसार / गा. २

ख— “लक्षणन्त्वसाधारणधर्मवचनम्।” केशवमिश्र : तर्कभाषा / उपोद्धात। पृ. ८।

२. जिसमें अचेलता और सचेलता को समानरूप से मोक्ष का मार्ग माना गया हो अथवा जिसमें प्रतिपादित नियमों और मान्यताओं के अनुसार सवस्त्रमुक्ति का निषेध न होता हो।

३. जिसमें स्त्रीमुक्ति, गृहस्थमुक्ति, परतीर्थिकमुक्ति और केवलिभुक्ति का प्रतिपादन हो अथवा प्रतिपादित नियमों और मान्यताओं के द्वारा इनका निषेध न होता हो।

४. जिसमें गुणस्थान-व्यवस्था को मान्यता न दी गयी हो अर्थात् जिसमें गुणस्थानक्रम से रत्नत्रय का चरमविकास हुए बिना भी मुक्ति स्वीकार की गई हो। सवस्त्रमुक्ति, गृहस्थमुक्ति, परतीर्थिकमुक्ति, सम्यग्दृष्टि जीव की स्त्रियों में उत्पत्ति तथा स्त्री को तीर्थकरपद की प्राप्ति मानना गुणस्थान-व्यवस्था को मान्यता न देने का प्रमाण है।

५. जिसमें वेदत्रय एवं वेदवैषम्य को अमान्य किया गया हो।

६. जिसमें 'मनुष्यिनी' शब्द का प्रयोग द्रव्यस्त्री और भावस्त्री, दोनों अर्थों में न करके केवल द्रव्यस्त्री के अर्थ में किया गया हो।

७. जिसमें वस्त्रपात्रादि-द्रव्यपरिग्रह को परिग्रह न माना गया हो।

८. जिसमें अन्यदृष्टिप्रशंसा (अन्यमतप्रशंसा) और अन्यदृष्टिसंस्तव (अन्यमतसमर्थन) का निषेध न हो।

९. जिसमें तीर्थकरप्रकृति के बन्धक सोलह कारणों के स्थान में बीस कारण माने गये हों।

१०. जिसमें 'कल्प' नामक स्वर्गों की संख्या १६ और १२ दोनों न मानकर केवल १२ ही मानी गयी हो।

११. जिसमें 'अनुदिश' नामक नौ स्वर्ग स्वीकार न किये गये हों।

१२. जिसमें श्वेताम्बर-आगमों को मान्य किया गया हो और यापनीयमत के समर्थन में उनसे उद्धरण दिये गये हों। (किन्तु जिस ग्रन्थ में श्वेताम्बर-आगमों को मूल आगम न मानते हुए भी उनके किसी उद्धरण से एकान्त-अचेलमुक्तिवाद का समर्थन या तद्विरोधी मत का खण्डन किया गया हो अथवा अन्य किसी प्रयोजन से उनका कोई वचन उद्धृत करने पर भी एकान्त-अचेलमुक्तिवाद का विरोध न होता हो, तो उसे यापनीयग्रन्थ नहीं माना जा सकता, दिगम्बरग्रन्थ ही मानना होगा)।

१३. जिसमें स्त्री को तद्भव-मुक्तियोग्य मानते हुए निश्चयनय से (उपचार से नहीं) छेदोपस्थापनीय-चारित्र अर्थात् महाव्रतों के योग्य माना गया हो।

१४. जिसमें भगवान् महावीर के गर्भापहरण, विवाह आदि का समर्थन हो।
१५. जिस ग्रन्थ के कर्त्ता के गण, अन्वय आदि यापनीयों से सम्बद्ध हों, और ग्रन्थ भी यापनीयमत का समर्थक हो या विरोधी न हो।
१६. जिसमें क्षुल्लक को श्रावक न मानकर अपवादलिंगधारी मुनि कहा गया हो।

१७. जिसमें रुग्ण या वृद्ध मुनि के लिए पात्रादि में आहार लाकर देने का उल्लेख हो। (यदि ऐसे उल्लेख से श्रावकों के द्वारा आहार मँगवाकर रुग्ण या वृद्ध मुनि को दिलाये जाने की संगति बैठती हो और ग्रन्थ के अन्य सिद्धान्त यापनीयमत-विरोधी हों, तो उसे यापनीयग्रन्थ नहीं माना जा सकता, वह दिगम्बरग्रन्थ ही है।)

यापनीय ग्रन्थ के प्रायः ये ही लक्षण डॉ० सागरमल जी ने भी निर्दिष्ट किये हैं। किन्तु उन्होंने कुछ ऐसे हेतु भी बतलाये हैं, जो यापनीयग्रन्थ के असाधारण धर्म नहीं हैं।^{१७०} उनका यथास्थान निरसन किया जायेगा।

१७०. जैनधर्म का यापनीय सम्प्रदाय / पृ. ८१-८२।

शब्दविशेष-सूची

प्रस्तुत ग्रन्थ के प्रथमखण्डान्तर्गत प्रथम अध्याय से लेकर सप्तम अध्याय तक आये विशिष्ट शब्दों (व्यक्तियों, स्थानों, ग्रन्थों, लेखों, अभिलेखों, कथाओं, सम्प्रदायों, गणगच्छों इत्यादि के वाचक तथा पारिभाषिक शब्दों) की सूची नीचे दी जा रही है। इसमें पादटिप्पणीगत शब्द भी समाविष्ट हैं। दो पृष्ठों के बीच में प्रयुक्त योजक-चिह्न (-) बीच के पृष्ठों का सूचक है।

अ

अकलङ्कदेव (भट्ट) १३१, १३२
 अंगुत्तरनिकायपालि ३१९-३२१, ३२४, ३२५
 अग्निवेस्सन (अग्निवेश, निगण्ठपुत्र सच्चक का नामान्तर) ३२६
 अग्रावतार (कटिवस्त्र, श्वे० साधु) ३७०
 अचेल, अचेलक ४, १७-१९, २५, ३९, ८४, १३८, १६०, २८८, ३१२, ३२२, ३२४, ३२५
 अचेल (सर्वथा निर्वस्त्र—आचारांग) १६२, १६३
 अचेल (अल्पचेल—शीलांकाचार्य) १६२
 अचेल (सद्-अचेल, असद्-अचेल) १५९, १७६
 अचेल (मुख्यवृत्त्या अचेल, उपचारतः अचेल) १७७
 अचेलक (श्वेतजीर्णप्राय-वस्त्रधारी) १७९
 अचेलकधर्म १०६
 अचेल कस्सप (काश्यप)—एक निर्ग्रन्थ मुनि ३२५, ३२९
 अचेलतीर्थ ८, १९
 अचेलत्व (ता) ३९, ९३, १५५
 अचेलत्व, अचेलता (मुख्य, औपचारिक) ७, १७७

अचेलपरम्परा १५५
 अचेललिंग ७३
 अचेलश्रावक (अचेलकों के श्रावक) ३२०
 अचेल-सचेलधर्म (उत्त. सू.) १६०
 अजातशत्रु ३१५, ३१६
 अजितकुमार शास्त्री (पं०) २५०, ३७१
 अजितकेसकम्बल (उच्छेदवादी) ३१४-३१६, ३३३
 अथर्ववेद २४८
 अदरगुंघि-अभिलेख २७७
 अध्यात्मनिष्ठ २७७
 अनग्न-अचेल-जिनप्रतिमा ३९२
 अनेकान्तवाद २६२, २६८
 अनेकान्त (मासिक पत्र) १६६, २८१, ३९८, ४३४, ५०४, ५१०, ५१८, ५२६, ५३१, ५७४
 अन्धकवृष्णि ३७४
 अन्यतीर्थिक (अन्यमत-प्रवर्तक तीर्थिकर—छह) ३५, ३८, ३१४, ३१५, ३१७
 अपदान (बौद्धग्रन्थ) १०७, ११५, १४५, २९७, ३१३
 अपभ्रंशमय शास्त्र २९९
 अपराजित (श्रुतकेवली) १३२, ४५२
 अपराजितसूरि (विजयोदयाटीकाकार) १२३, १२५, १४४, १५७

५९२ / जैनपरम्परा और यापनीयसंघ / खण्ड १

अपवाद (आपवादिक) लिंग— यापनीय
मुनि का सचेललिंग ४९३, ४९६
अपशकुन (दि० जैन मुनि के दर्शन) २७०,
२७१, ३०४
अफगानिस्तान ४०१, ४०२
अभिजातियाँ (मनुष्यों की, छह / बौद्ध-
साहित्य)—तृष्णाभिजाति, नीलाभिजाति,
लोहिताभिजाति, हरिद्राभिजाति,
शुक्लाभिजाति, परमशुक्लाभिजाति ३२०
अरहतपूजा १४८
अरिष्टनेमि (नेमिनाथ) १८, ३७४
अर्धफालक (वस्त्र का आधा टुकड़ा) १३०,
४५६
अर्धफालक (साधु, संघ, सम्प्रदाय) ३७३,
३७७, ३७८-३८८, ४११, ४१२, ४३२,
४५७, ४६०-४६२, ४६४, ५२०
अर्धफालकतीर्थ-प्रवर्तन ४६१, ४६२
अर्धफालकधारियों का श्वेताम्बरीकरण ४६४
अर्धगामधी आगम (साहित्य) १२
अर्धमागधीकरण ५८१, ५८२
अरिहन् २९९
अर्हतायतन १४८
अर्हत्प्रोक्त सद्धर्म १४८
अर्हदायतन १४८, ३८९
अर्हद्वलि (एकांगधारी) १३२
अर्हद्वक्त १४८
अलका श्रेष्ठिनी ३७३-३७५
अलौकिक वस्त्र ९९, १००, १०२
अल्तेम-अभिलेख ३९०
अवधूत संन्यासी २७६, २७९
अवमचेल (द्विवस्त्रधारी) १६२, १६३

अविमारक (भासकृत नाटक) २६०
अवैदिक (श्रमण, दिगम्बरमुनि) २६१
अशुभकर्म-निर्मूलन (जाबालोपनिषद्) २७७,
२७८
अशोक-स्तम्भलेख ६५
अश्वघोष (बौद्धकवि) २५१
अश्वेत भिक्षु ५६
असभ्यावयव-गोपन ३६१
अहरिष्टि-श्रमणसंघ ३९०
अहिरिका निगण्ठा (अह्लीक = निर्लज्ज
निर्ग्रन्थ) १४०, ३१०, ३११, ३१२, ३१४
अह्लीक १०६, ३१२

आ

आगम और त्रिपिटक : एक अनुशीलन,
खण्ड २ (मुनि नगराज जी) १०४, १७४
आगमवाचना (श्वे. संघ)—
प्रथम—पाटलिपुत्र ४२०
द्वितीय—कुमारीपर्वत (कलिंग) ४२२
तृतीय—मथुरा ४२२
चतुर्थ—वल्लभी ४२२
आग्नीध्र २६२
आचारांग ८४, ९३-९५, ९९, १०१, १२५,
१२६, १६२, १६३, १६५, १६७, २१३,
२२६, ४८०, ५८४
—शीलांकाचार्यवृत्ति १००, १२५, १२६,
१६२, १६३, १६६-१६९, २०९, २१३
आचेलक्य ७, १५५, १६१, १७६
आजीविक, आजीवक सम्प्रदाय (प्रवर्तक—
मकखलिगोशाल) २०, ३०१-३०८,
३१५, ३१७, ३२४

आजीवकिनियाँ (आजीविक सम्प्रदाय की साध्वियाँ या स्त्रियाँ) ३२०, ३२२
 आजीविकों का आचार ३२५-३२९
 आदिनाथ (हठयोगविद्योपदेष्टा) २८१, ३९५
 आदिपुराण २५०, ३९५, ५८४
 आपुलीय (आपुली) संघ (यापनीयसंघ) ४९४
 आयागपट्ट ४११
 आर्य (एलक) २८९
 आर्यलिंगधारी (एलक) २८९
 आर्यकृष्ण (बोटिक शिवभूति के गुरु) ३८, ४३, ११८, ११९, २२५, ३८३, ४७७
 आर्यरक्षित (श्वे. आचार्य) ९७, ३७०
 आर्यशूर (जातकमालाकार) ३५१, ३५२
 आर्यिका रात्रिमति-कन्ति ५०६
 आर्हत (जैन) १४७, १४८, २६८, २८२, २८६
 आर्हतानुशासन (जैनमत) २९४
 आलापपद्धति १५९
 आवश्यकचूर्ण ३३, ४६
 आवश्यकनिर्युक्ति (भद्रबाहु-द्वितीय, श्वे.) २०, २१, ४६, १५६, ३६२, ३६३
 —हारिभद्रीयवृत्ति २१, ३७, ४४, ४८, ५७, ६०
 आवश्यकमूलभाष्य ४, २०, २१, ४६, ११५
 आशाम्बर (दिगम्बर) २०
 आश्वलायनगृह्यसूत्र २५१
 Aspects of Jainology
 —Vol. II ३२, ४३, ५१
 इ
 Indus Valley Civiligation (Cambridge

History of India, 1953) : Sir Mortimer Wheeler ४००, ४४१
 इण्डस वेली सिविलिजेशन एण्ड ऋषभदेव : वी.जी. नैयर ४०३
 इण्डियन ऐण्टिक्वेरी (The Indian Antiquary) Vol. XX, October, 1891) ३६६
 Indian Historical Quarterly, Vol. VIII, No. 250 ३९६
 इन्द्रिय-यापनीय ५०१
 ई
 ईचवाडि (मैसूर)-अभिलेख ५६६
 ईशाद्यष्टोत्तर-शतोपनिषद् २११, २७८
 उ
 उग्रसेन (कृष्णमाता देवकी के पिता) ३७४
 उज्जयिनी नगरी ४५९, ४६०, ४६२, ४६४
 उड़ीसा ४७४
 उत्तङ्क (महाभारतोल्लिखित ब्रह्मर्षि) २५५, २५६
 उत्तमसंहननधारी १०१
 उत्तरपुराण (गुणभद्र) ३७५, ५५२
 उत्तरभारत में जैनधर्म (चिमनलाल जैचंद शाह) ५८, ३७१, ३७९, ४०७, ४६८
 उत्तरभारतीय-सचेलाचेल-निर्ग्रन्थसंघ (परम्परा, सम्प्रदाय) ४, ११, १२, ८०, ८३, १०६-१०८, ११०, ११४, ११५, १५१, ३८३, ४७५ (उत्तर का निर्ग्रन्थ-संघ), ४९१, ५५८,
 उत्तरा (बोटिक शिवभूत की बहिन) २५, २७
 उत्तराध्ययनसूत्र १९, ८४, १२६, १६०, १६४, ३२४, ५७७, ५७९

उदयगिरि (विदिशा, म० प्र०) ४१२

— पार्श्वनाथप्रतिमा ४१२

उदयनाचार्य (न्यायकुसुमांजलि-कार) २९२

उदानपालि (बौद्धग्रन्थ) ३१९, ३२२-३२४

उद्योतनसूरि (श्वे०) ५१५, ५२२

उपचरित नग्न १९२

उपचरित (गौण) शब्द १९२, १९३, १९७,
१९९

उपचरित (गौण) अर्थ १९४

उपचार १९२, १९३, १९७, १९९

उपधि २४, २६

उमास्वाति ९

उरनूर (एक स्थान) ३८९, ५५५

ऊ

ऊर्जयन्तगिरि (गिरनार पर्वत) ३६६

ऊर्जयन्तगिरि-विवाद ३६४, ३६५

ऋ

ऋग्वेद १८, २४३, २४५

— सायणभाष्य २४५

ऋद्धिप्रतिहार्य-प्रदर्शन ३३८

ऋषभ (देव) १८, ३९६-३९८

ऋषभनाथ की सवस्त्र-प्रतिमा (श्वे०) ४१५

ए

एकशाटक (एकसाटक) ४८१

एकशाटक सम्प्रदाय १६३, ३२०, ३२२, ३२३

एकशाटी (एकसाटी = एकसाड़ीधारिणी =
आर्यिका) ३४८, ३५०

एकसम्बी (बेलगाँव, मैसूर)-अभिलेख ५६३

ए० चक्रवर्ती नयनार (प्रोफेसर) ७०

ए० एन० उपाध्ये (आदिनाथ नेमिनाथ उपाध्ये,
डॉ०, प्रो०) ६२, ७५, ४३४, ४९९, ५०४

एरेगित्तूगण-पुलिकलगाच्छ ५६२

एलक २८७-२८९

एलोरा की बाहुबली-प्रतिमा ४१२

ऐ

ऐर (आर्य) ५३६, ५३७

ऐलवंशज ५३७, ५३८

ओ

ओदातवसन (अवदातवसन = श्वेतवस्त्रधारी
श्रावक) ३१२, ३२०, ३२४, ३२५, ३३७

क

कंस (मथुराधिप) ३७४, ३७६

कांस्य जिनप्रतिमा ४१०

कंकालीटीला (मथुरा) ३६८, ३७१, ३७२,
४३२

कटवप्र ७१

कटिवस्त्र, कटिपट्ट कटिबन्ध, (चोलपट्ट)
१७, ९८, ३७०

कड़ब (कड़प) दानपत्र (अभिलेख) ५६३,
५६५

कण्डूर (काण्डूर, काडूर) गण ४९२, ५६५

कण्ह (कृष्ण) ३७०, ३७९

कण्ह श्रमण ३७७, ३७८, ३७९

कदम्बवंश १४१

कनकपुर ५२७

कनकोपलसम्भूत-वृक्षमूलगण (यापनीय)
३९०, ५७०

कर्जन म्यूजियम ऑफ आर्किओलॉजी मथुरा
३९५

कर्मवाद (कर्मसिद्धान्त) २९९

कर्मसंन्यासी २७८

कलिंगजिन-प्रतिमा ४०५-४०८, ५२९

कलिंगदेश ४०८

कल्प (साधुओं का आचार) ८४, १५५,
१६१

कल्पनिर्युक्ति (कल्पसूत्रनिर्युक्ति) ८४, १०२,
१५५

कल्पसूत्र ३७५, ४७६

— कल्पकौमुदीटीका १६१

— कल्पलताव्याख्या २३, ५५

— स्थविरावली (थेरावली) ३७१,
३७२, ४६७, ४७६

कल्याणनगर ४८९, ४९२

कल्याणविजय (श्वे० मुनि) ३, ४, २०,
२८-३१, ६०, ६१, ६४, ६७, ७६, ७७,
९६-९८, ३०१, ३१९, ३२१, ३२३,
३२४, ३२९, ३३०, ३३३, ३५१, ३५२,
३६९, ४४५, ५२६, ५३१, ५४०, ५५६

कल्लूरगुडु-अभिलेख ५६६

कसायपाहुड (कषायप्राभृत) १०, २२३

— चूर्णिसूत्र १०, ११

कस्तूरमल बाँठिया ४५२

कहान-जी (श्वे. मुनि, पश्चात् दि. श्रावक)
१३७

काडूरगण ५६५

काणूर (क्राणूर) गण ४२९, ४३३, ५६५,
५६६

कादम्बरी (बाणभट्ट) १९, २८२

कान्तिसागर मुनि (श्वे.) ३९४, ४३०

कापालिक (सरजस्क) २९४

कापिल २८२

कामताप्रसाद जैन (बाबू) ३१०, ३२१, ३२९,
५२६, ५३१

काम्बलतीर्थ, काम्बलिकतीर्थ (श्वेताम्बर
सम्प्रदाय) ४५३, ४५६, ४५७

कायनिषीदी ५१७

कायनैषेधिकी ५२३

कायनिसीदी ५२३

कायोत्सर्गध्यानमुद्रा ३९५

कायोत्सर्गमुद्रा ३९५

कारकल-बाहुबली-प्रतिमा ४१२

कालग्रहण २६

कालद्रव्य ५०६

काललब्धि ३८१

कालवङ्गग्राम १४१

कालिदास २६०

कालिदास-तिथिसंशुद्धि (डॉ० रामचन्द्र
तिवारी) २६१

काव्यानुशासन (हेमचन्द्र) १९०, १९१, १९४

काव्यानुशासन-स्वोपज्ञटीका १९१, १९४

काव्यप्रकाश (मम्मट) १९३, १९५

काशिक-पंचस्तूपान्वय ६५

काशीप्रसाद जायसवाल (डॉ०) ७६, ४०३,
४०५, ४०९, ४१०, ४२७, ५१९, ५२०,
५५३, ५५४

काश्यपगोत्रीय गोदास (भद्रबाहु के शिष्य)
४७६

काष्ठासंघ ४९, ७९, ४३४, ५१३, ५७२

कित्याचार्य (यापनीय) ५६५

कीथ (Keith) ए. बी. ४४८

कुटीचक संन्यासी २७९

कुण्डपुर (कुण्डग्राम) ३३१

कुण्डलकेसिथेरीवत्थु (धम्मपद-अट्टकथा)
३४६, ३४७

५९६ / जैनपरम्परा और यापनीयसंघ / खण्ड १

कुन्दकुन्द आचार्य ४, ९, ३०, ३१, ३८, ६०-

७०, ७४, ८१, ८२, १३२, २३१, ४७३

कुन्दकुन्दान्वय ४९२, ५६६

कुमरगिरि-कुमारीगिरि (खण्डगिरि-उदय-
गिरि) ४०५, ५१७

कुमारगुप्त (गुप्तसम्राट्) ४१२

कुमारनन्दी भट्टारक ९

कुमारनन्दि सिद्धान्तदेव ९

कुमुदिगण ५६४

कुमुलिगण ५६४

कुम्भजातक (जातकमाला) ३५१

कुवल्यमाला (उद्योतनसूरि, श्वे०) ५१५

कुशचीर ३१८

कुषाणकालीन जिनप्रतिमाएँ १८

कूर्चक (एक जैन सम्प्रदाय) ६४, १०७,
११४, १४१, ३८९, ५५६, ५५७, ५७०

कूर्मपुराण २८७

कृश सांकृत्य (किसो सङ्गिच्चो) ३२६, ३२७

कृष्णजन्म ३७४, ३७५

केवलिभुक्ति (कवलाहार) ५३, ४५८, ५७२

केवलिभुक्तिनिषेध ५४

केवलिभुक्तिप्रकरण (पाल्यकीर्तिशाकटायन)
४८६, ५७५

केशलुंचन २८२

केशी २४३, २४५, २४६

केशी-गौतम (संवाद) ८४

कैम्ब्रिज विश्वविद्यालय ३३८

Cambridge History of India 1953,
plate XXIII ४०३

कैलाशचन्द्र शास्त्री (पं०) ५६, ७१, ७३,
१०१, १८३, २७१, २७२, ३३१, ३८०,
४६६, ४६७, ५८०

कैवल्य २४२

कोङ्कणिवर्मा (महाधिराज) ५६२

कोटिवर्षीया (गोदासगण की शाखा) ४११,
४७६

कोट्टिकगण ३७२, ४११

कोल्हापुर-मंगलवारपेठ-मन्दिर-अभिलेख
५६४

कोषकल्पतरु २५४

कौटिल्य (अर्थशास्त्रकार) २५८

कौण्डिन्य-कोट्टवीर २२, ५८ ६०

कौपीन १२९

क्राणूर (काणूर) गण (दिगम्बरसंघ) ४९२,
५६५

क्लिष्ट कल्पना (क्षु० जिनेन्द्र वर्णी)
ग्रन्थसार—पृष्ठ : छियानवे

क्षपण (खमण, खवण = दिगम्बर जैन मुनि)
२५३, २५४, २९८, ३६४

क्षपणक, नग्नक्षपणक (दिगम्बर जैन मुनि)
१९, २२, २५२ (व्युत्पत्ति), २५३-
२५९, २६९, २८२, २९३-२९६

क्षपणकविहार २५९

क्षारवेल (खारवेल) ५२३

क्षुनदेव (शिशुनदेव) ४०२

क्षुल्लक २८९, ४७२

क्षेमकीर्ति (श्वे० आचार्य) १७७, १८८

ख

खण्डगिरि-उदयगिरि (कुमरगिरि-कुमारी-
गिरि) ४०५, ५२८

खण्डचेलक (एलक) २८९

खण्डहरों का वैभव (मुनि कान्तिसागर)
३९४

खमण (क्षपण, क्षपणक) : देखिये 'क्षपण'।
 खमण पासंडी (दिगम्बरमुनि) ३६४
 खरा सो मेरा (डॉ० सुदीप जैन) ५८२
 खारवेल, खारवेलसिरी (जैनसम्राट्) ४०५,
 ४२४-४२८, ५१७, ५२३-५२६, ५३७-
 ५३९
 खारवेल (राजा) और उसका वंश (लेख—
 मुनि कल्याणविजय जी) ५२६
 खारवेल (राजा) और उसका वंश (लेख—
 बाबू कामताप्रसाद) ५३१
 खारवेल (राजा) और हिमवन्त थेरावली
 (लेख—मुनि कल्याण-विजय जी) ५४०
 खारवेल (चक्रवर्ती) और हिमवन्त थेरावली
 (लेख—काशीप्रसाद जायसवाल) ५५४
 खारवेल-प्रशस्ति और जैनधर्म की प्राचीनता
 (काशीप्रसाद जायसवाल) ४०५
 खारवेल-प्रशस्ति : पुनर्मूल्यांकन (चन्द्र-
 कान्तबाली, शास्त्री) ४०५, ५२३, ५२५
 खुद्दकनिकाय (बौद्ध पिटकसाहित्य का एक
 भाग) ३१३, ३४०
 खुशरो नौशेरवाँ २५८

ग

गगनपरिधान २७३
 गणधर (आचार्य) ४५७
 गणभेद (ग्रन्थ) ५०९
 गण्डादित्य, गण्डरादित्य (राजा) ५०६
 गन्धधूपसुमनोदीप (पूजा द्रव्य) १४२
 गुच्छक २६
 गुणधर (आचार्य) १३२
 गुणभद्र (आचार्य) १३२, ३७५
 गुणरत्नसूरि (षट्दर्शनसमुच्चय-टीकाकार)
 ४९, ४८६

गुणस्थानविकासवाद (वादी) ११
 गुणस्थानसिद्धान्त ११
 गुप्तकालीन जिनप्रतिमाएँ १८, ४१२
 गुफा-अभिलेख (तमिलनाडु) ४७८
 गुरुपरम्परा से प्राप्त दि० जैन आगम : एक
 इतिहास १३३, १३७
 गुलाबचन्द्र चौधरी (डॉ०) ४७, ७५, ४३४,
 ५६४
 गिही औदातवसन अचेलसावक (नग्न
 निर्ग्रन्थों के श्वेतवस्त्रधारी श्रावक—
 अंगुत्तरनिकाय) ३१२
 गुहनन्दी (आचार्य) ६५, १४२
 गृध्रपिच्छ (आचार्य, तत्त्वार्थसूत्रकार) १०,
 १३२
 गृही-पात्र ४७५
 गोकुल ३७४
 गोदास ४७६
 गोदासगण ४११, ४७६
 गोदासगण का अभिलेख (दक्षिण भारत में)
 ४७६
 गोदासगण की चार शाखाएँ ४७६
 गोपांचल ४७७
 गोप्यसंघ (यापनीयसंघ) ४९, ५०, ४७७,
 ४८५, ५६०, ५७२
 गोम्मटसार १३७
 गोवर्धन (श्रुतकेवली) १३२, ४४७
 ग्रन्थ (परिग्रह) ७, १३८, १३९ (आभ्यन्तर,
 बाह्य)
 च
 चक्रधरभिक्षु ५६
 चण्डराय (राजा) ५२७

५९८ / जैनपरम्परा और यापनीयसंघ / खण्ड १

चन्द्रकान्त बाली शास्त्री ४०५
 चन्द्रक्षान्त मुनि (कूर्चक) ३९०
 चन्द्रगुप्त मौर्य (सम्राट्) ६३, ७१, ४०७,
 ४५३, ४५९, ४७४
 चन्द्रनन्दाचार्य (दिगम्बर) ५५५
 चन्द्रलेखा रानी (अर्धफालकसंघ की शिष्या)
 ४६०
 चमरीबाल-पिच्छिका ४९
 चाणक्यशतक १८, २५७
 चातुर्मास ५६
 चातुर्यामसंवरसंवृत ३१६
 चामुण्डराय (गंगनरेश राजमल्ल के महामंत्री)
 ४१२
 चार्वाकमत २६८
 चिक्कमागडि-वसवण्णमन्दिर-स्तम्भलेख
 ४२८, ४३३, ४३४
 चिमनलाल जैचंदशाह ३७१, ३७९
 चीवर १२९
 चुल्लपट्टक (कटिवस्त्र, श्वे० साधु) ३७०
 चूलकालिङ्गजातकवण्णना (जातक अट्ट-
 कथा) ३३४
 चूळसच्चकसुत्त (मज्झिमनिकाय, भा.१)
 ३३०, ३३२, ३३३
 चेटवंश ५२६, ५२७
 चेदिराष्ट्र ५३७, ५३८
 चेदिवंश ५२६, ५२७
 चेलखण्डधर (एलक) २८८, २८९
 चेलपरिवेष्टिताङ्ग १४४
 चोलपट्ट १७, ८७, १६४, ३७२
 छ
 छलवाद ४४५

छळभिजातसुत्त (अंगुत्तरनिकाय) ३२०, ३२४,
 ३३०
 छह अभिजातियाँ (मनुष्यों की)—तृष्णा-
 भिजाति, नीलाभिजाति, लोहिताभिजाति
 हरिद्राभिजाति, शुक्लाभिजाति, परम-
 शुक्लाभिजाति ३२०
 छेदपिण्ड (छेदपिण्डप्रायश्चित्त) १०
 छेदशास्त्र १०

ज

जटिल (एक सम्प्रदाय) ३२२
 जङ्गयोग २७६
 जनमेजय (परीक्षितपुत्र, महाभारत) २५६
 जम्बूस्वामी २४, २७, ९४, १०६, १३२, ४४६,
 ४४७, ४६३, ५१४
 जम्बूस्वामि-निर्वाणानन्तर व्युच्छिन्न हुरीं
 मनुष्य की दस योग्यताएँ ४४८, ४४९
 जयधवलाटीका ३३१
 जयभगवान एडवोकेट ३९८
 जयन्तभट्ट (न्यायमंजरीकार) २९२
 जयसेन आचार्य १३२
 जरासन्ध (मगधनरेश) ३७४
 जलपवित्र (पानी छानने का वस्त्र) २७७
 जातक-अट्टकथा ३३४
 जातकपाळि ३११
 जातकमाला (बौद्ध आर्यशूर) ३५१
 जातरूप, जातरूपधर २११
 जापुलिसंघ (यापनीयसंघ) ५१०
 जाबालोपनिषद् २७७
 जावलिगेय ५१०
 जिनकल्प (सचेल, श्वेताम्बरीय) ६, १७,
 ३९, ८६, ९१, १०२, १०३

- जिनकल्प (दिगम्बर अचेललिंग का श्वेताम्बराचार्यो एवं बृहत्प्रभाचन्द्राचार्य द्वारा किया गया नामकरण) ६, २४, ३८-४०, ७३, ९४- ९६, ९९, १००, १०१, १०३, १०४
- जिनकल्पिक-उपकरण (उपधि-श्वे०) २४, ८६-८९
- जिनकल्पिक साधु (श्वे०) २४, २६, ८६, ९०, १०१, १०२
- जिनकल्प-व्युच्छेद ८७, ९४
- जिनकल्प-स्थविरकल्प (दिगम्बरमान्य) ८५
- जिनकल्प-स्थविरकल्प (श्वेताम्बरमान्य) ८६-९३
- जिनकल्प-स्थविरकल्प-भेदोत्पादन ४५५
- जिनचन्द्र प्रथम (दि० आचार्य) ४
- जिनचन्द्र (श्वे० आचार्य) ११५, ४५८, ४६०
- जिनदास श्रेष्ठी ४८९
- जिननन्दी आचार्य (यापनीय) ३९०
- जिनपूजाद्रव्य १४२
- जिनपूजाविधि ४३१
- जिनप्रतिमा जिनसारिसी ३८७, ४१८
- जिनबिम्ब (श्वेताम्बरमान्य) ३६८
- जिनभद्रगणि-क्षमाश्रमण ३, १७, ९५, १०६, १५६, १७५, १७७, १८०, ३५९
- जिनभाषित (मासिक पत्र) ३८६
- जिनमत १४७
- जिनविजय (श्वे० मुनि) ३६७, ३७१, ५१७, ५५२, ५५४
- जिनशासन १४७
- जिनसेन आचार्य (आदिपुराणकार) १३२
- जिनागमों की मूलभाषा ५८२
- जिनेन्द्रदेवता १४१
- जिनेन्द्र वर्णी, क्षुल्लक—ग्रन्थसार पृष्ठ : छियानवे (क्लिष्ट कल्पना)
- जिनेश्वर (मोहेन-जो-दड़ो की मृमुद्रा पर) ३९६
- जीतकल्पभाष्य (जिनभद्रगणि-क्षमाश्रमण) ८४, १६१
- जीवक कौमारभृत्य (वैद्य) ३१५
- जीवन्तस्वामी-प्रतिमा (श्वे०) ४१४, ४३२
- जुगलकिशोर मुख्तार (पं०) ५२६, ५३१, ५३८, ५४०
- जैकोबी (हर्मन, डॉ०) ३२३, ३२४, ४६६, ५१५
- जैन १४७, २८२, २८६
- जैन आगम साहित्य : मनन और मीमांसा (देवेन्द्रमुनि शास्त्री) ४५, ४६, ५८, १७२, ४५१, ४६८
- जैनदर्शन (इस शब्द की निरुक्ति) १४७
- जैनधर्म और दर्शन (मुनि प्रमाणसागर) ३९६-३९८
- जैनधर्म का मौलिक इतिहास (आचार्य हस्तीमल)
- (भाग २) ५८, १३६, ४२९, ४३१
- (भाग ३) ९३, ४१६, ४१७, ४२१, ४२४, ४२६, ४२९, ४९४
- जैनधर्म का यापनीय सम्प्रदाय (डॉ० सागरमल जैन) १०-१२, ३२-३४, ५६, ५९, ७४, ८१-८४, १११-११३, ३७९, ३८१-३८४, ४३५, ४६९-४७३, ४८२, ४९४, ५००, ५९५, ५७०-५७२, ५७४, ५८०, ५८२, ५८६, ५९०

६०० / जैनपरम्परा और यापनीयसंघ / खण्ड १

जैनधर्म की ऐतिहासिक विकास यात्रा (डॉ० सागरमल जैन) ७४, ८४, १०९, १११, ११६, ४११, ४३१, ४३६, ४७४, ४७६, ४८०, ४८१, ५७३

जैनधर्म के प्रभावक आचार्य (श्वे० साध्वी संघमित्रा) ९४, ४५२

जैनमूर्तिकला ३७१

जैन शिलालेख संग्रह (मा.च.)

— (भाग १) ६३, ४५३

— (भाग २) ६५, १४१, १४८, ३००, ३३१, ३९०, ४३४, ४३६, ४९९, ५६२, ५६३, ५६५-५६७

— (भाग ३) ७५, १४३, ४२९, ४३४, ५५६, ५६४, २९०, २९३, ४६३, ४६४

— (भाग ४ / भा. ज्ञा.) ६५, १४२, ४३३, ५६३, ५६५-५६७

जैनश्रमण की प्रतिमा (अर्धफालक साधु की प्रतिमा) ४७५

जैनसन्देश (शोधांक ३३) ३७३

जैन साहित्य और इतिहास (नाथूराम प्रेमी)

— प्रथम संस्करण ३६६, ३६७, ५७६, ५७९, ५८६, ५८७

— द्वितीय संस्करण ५५

जैन साहित्य का इतिहास (पं० कैलाशचन्द्र शास्त्री)—पूर्वपीठिका ७३, ७४, १०१, १८३, २४८, २७२, ३०७, ३३२, ३७१, ३८०, ३९६, ४०९, ४४७, ४५०, ४५१, ४६२, ४६७, ५७७

जैनसाहित्य का इतिहास (गुजराती) ४५०

जैन साहित्य का बृहद् इतिहास भाग ३ (डॉ० मोहनलाल मेहता) २०

जैन साहित्य में विकार (पं० बेचरदास) ४२, ५८, १०२, १०४, १०५, ४५०

जैनसिद्धान्त भास्कर (मासिक पत्र) ३८०

जैनाभास (गोपुच्छक आदि पाँच) ३८६

जैनिज्म इन अरली मीडिएवल कर्नाटक (रामभूषणप्रसाद) ४१६

जैनेन्द्र व्याकरण (पूज्यपाद देवनन्दी) ६५

जैनेन्द्रसिद्धान्तकोश (भाग १) ग्रन्थसार—
पृष्ठ : सत्तानवे, २८८

जैनोपदेश १४७

जोइंदुदेव (योगीन्दुदेव) २५३

जोहरपुरकर (विद्याधर, डॉ०, प्रो०) १४२

ज्ञाता-(ज्ञातु)-धर्मकथांग ५०७

ज्ञानसंन्यासी २७८

ज्ञानवैराग्यसंन्यासी २७८

ज्ञानसागर (आचार्य) १३२

ज्ञानसागर (उपाध्याय) १३३, ४७४

ज्ञानार्णव २२०

ज्योतिप्रसाद जैन (डॉ०) ३७३, ३७७, ४०६

ट

टी० एन० रामचन्द्रन् ३९८, ३९९, ४३७, ४४२

ड

डॉयलॉगज आफ् बुद्ध ३१०

डॉ० सागरमल जैन अभिनन्दन ग्रन्थ ५५८, ५६३, ५६७

ण

णाह, णाय, णात कुल (नाथकुल—महावीर का वंश) ३३१

णमोकार महामन्त्र १४७

त

तक्षक (नागराज—महाभारत) २५५

तत्त्वनिर्णयप्रासाद (श्वे० मुनि विजयानन्द
सूरीश्वर आत्माराम) ५७, ३६८, ३६९,
३७२, ३८७
तत्त्वार्थ (तत्त्वार्थसूत्र) १२, ८४, १२४, २२१,
२२२
तत्त्वार्थराजवार्तिक (तत्त्वार्थवार्तिक) १२९,
२१६
तत्त्वार्थसूत्र (विवेचनसहित—पं० सुखलाल
संघवी) २१३, २२२, २२७
तत्त्वार्थसूत्र (बृहत्प्रभाचन्द्र) १०
तत्त्वार्थाधिगमभाष्य (तत्त्वार्थभाष्य) १२४,
२३०
तपागच्छपट्टावली ४२७, ४२९
तमिलजैन ४७४
तमिलनाडु (तमिलप्रदेश) ७२, ११०, ४७४
तमिलनाडु में जैन-अभिलेखयुक्त गुफाएँ ४७७
तमिलसाहित्य एवं भाषा के विकास में
जैनश्रमणों का योगदान ४७८
तर्कभाषा (केशव मिश्र) १८१, ५८८
ताण्ड्य ब्राह्मण २४८
ताम्रलिपिका (गोदासगण की शाखा) ४११,
४७६
तित्थियर (तीर्थकर) ३१४
तित्थिय (तीर्थिक) ३१७, ३१८
तित्थोगालियपयन्नु (तीर्थोद्गालिक) ४२०,
४६६
तिन्त्रिक (तिन्त्रिणीक) गच्छ ४२९, ४३३,
५६६
तिरुकुरल (तमिलकाव्य, जैनाचार्यकृत) ४७८
तिलोयपण्णत्ती (त्रिलोकप्रज्ञप्ति) १०, ३३१
तीर्थकर महावीर और उनकी आचार्यपरम्परा
६५, १३७, २४९, ५८२

तीर्थकरलिंग ६
तुंगिया नगरी ४१७, ४१८
तुंगीयायन-गोत्रीय आर्य यशोभद्र ४७६
तुरीयातीत संन्यासी २७९
तुरीयातीतोपनिषद् २७९
तैत्तिरीय आरण्यक २४९
तैत्तिरीयसंहिता २४८
त्रिपिटक (बौद्धसाहित्य) ३११
त्रिशला ३७५
त्रिषष्टिशलाकापुरुष-चरित : (हेमचन्द्र) ३७३,
३७५
त्रैराशिक (एक दार्शनिक सम्प्रदाय) २०,
३०१-३०४
थेरी अपदान (बौद्धकथा ग्रन्थ) ३१३
थेरीगाथा ३४८
थेरीगाथा-अट्टकथा ३४६
द
दंसणपाहुड (दर्शनप्राभृत) ७६
— श्रुतसागरटीका ७६, ४१६, ४३३,
४८६
दक्षिण (दक्षिणापथ) ७६
दक्षिण का अचेल निर्ग्रन्थसंघ भद्रबाहु
(श्रुतकेवली) की परम्परा से विकसित
११०, ४७६, ५५७, ५५८
दक्षिण-प्रस्थित निर्ग्रन्थसंघ ४७४
दक्षिण भारत में जैनधर्म (पं० कैलाशचन्द्र
शास्त्री) ७१
दक्षिणभारतीय निर्ग्रन्थसंघ ८१, ८२, ५७१
दक्षिण बिहार ४७४
दडग (मैसूर)-अभिलेख ५६६
दरबारीलाल कोठिया, न्यायाचार्य (पं०) ५८७

६०२ / जैनपरम्परा और यापनीयसंघ / खण्ड १

दर्शनसार (आ० देवसेन) ७९, ११५, ३८४,
४८९, ५१२, ५१३

दलसुख मालवणिया (पं०) ४, ९, ३२, ४३,
५१, २४०

दशवैकालिकसूत्र (श्वे०) ३६, १३८, १६७,
१७१, २१५, ४५१

— हारिभद्रीय वृत्ति १३१, २१५

दशा (शिश्न) ३३९

दाठावंस (बौद्धग्रन्थ) ३११

दार्शनिक विकासवाद ९

दासीकर्पाटिका (गोदासगण की शाखा) ४११,
५७६

दिवपट २०

दिगम्बर (जैनमुनि) २५८, २६२, २६७, २८३,
२९२, २९३, ५७२

दिगम्बर-अर्धफालक-भेद ४६४

दिगम्बरत्व और दिगम्बरमुनि (कामताप्रसाद
जैन) ३१२

दिगम्बरपरम्परा का पूर्वज दक्षिण-प्रस्थित
अचेल निर्ग्रन्थसंघ ४८०

दिगम्बरमत ४, २९४, ५७३

दिगम्बरमुद्रा १५६

दिगम्बरजैनसंघ (सम्प्रदाय, परम्परा) ५, २०,
१४४, ४३४, ४४५, ४४६, ४७२, ४७३,
५७२

दिगम्बर-श्वेताम्बर-भेद ४४५, ४७४, ४६४,
४७२

दिग्वाससू ९, २६८, २७१, २९८, ४८५, ४८६

दिव्यावदान (बौद्धग्रन्थ) १०७, ११५, ३१०,
३३८, ३३९, ३५२, ३५३

दीघनिकायपाळि ३१२, ३१४-३१७, ३२५,
३२८, ३३०, ३३७

दृष्टिवाद अंग ४७१, ४६५, ४६७

देवकी (कृष्णमाता) ३७३-३७५

देवगढ़ की बाहुबलि-प्रतिमा ४१२

देवगिरि-ताम्रपत्रलेख (श्रीविजयशिवमृगेश-
वर्मा) १०७, १४१, १४९, १५०

देवगिरि-ताम्रपत्रलेख (देववर्मा) ३९०, ४३४

देवताश्रित नाम (जैनदर्शन का) १४७

देवदूष्य वस्त्र ३५९, ३६१, ४१५

देवनन्दा ब्राह्मणी ३७५

देवनन्दी, पूज्यपाद स्वामी, (देखिये, 'पूज्य-
पाद')

देवर्द्धिगणि-क्षमाश्रमण १०२, ४२२, ४२३,
४४९, ४६३, ५७६

देवसेन (आचार्य, दर्शनसार के कर्ता) ४५८

देवसेन (प्राकृत-भावसंग्रहकार) ४५७, ४५८

देवेन्द्र मुनि शास्त्री १७२

देशभूषण (आचार्य) १३२

देशिय (देशीय, देशी) गण ५६६

देहली-टोपरा-सप्तम-स्तम्भलेख (सम्राट्
अशोक) ६५, १४०

द्राविड़संघ ७९, ४३४, ५१३

द्वादशवर्षीयदुर्भिक्ष ३७७, ४५२, ४५७, ४६३
ध

धम्मपद (बौद्धग्रन्थ) ३४३

धम्मपद-अट्टकथा ३१०, ३४०, ३४२, ३४६,
३५२

धरसेन (आचार्य) १३२

धर्मनन्दी आचार्य (अहरिष्टिश्रमणसंघ) ३९०

धर्मलाभ हो (आशीर्वचन—श्वेताम्बर,
यापनीय) ४९, ५०, ४९३, ५७२
धर्मवृद्धि हो (आशीर्वाद—दिगम्बर) ४९,
५०, २५८, २५९, ४९३, ५७२
धर्मशाट-प्रतिच्छन्न (धर्मवस्त्र से आच्छादित
= नग्न) ३३९
धर्मसंग्रहणीसूत्र (श्वे०) ३६१
— वृत्ति ८८, ३६१
धर्मसागर उपाध्याय (प्रवचनपरीक्षा-कार,
श्वे०) ६, ३९३
न
नक्षत्र (एकादशांगधारी) १३२
नगराज डी० लिट्०, श्वेताम्बरमुनि १०४,
१७३, ३४५, ३४६, ३४९, ३५०, ४४७
नगसमणक (नग्नश्रमणक) ३४०
नगिकपटिकखेपकथा (महावग्ग-पालि) ३१७
नग्न (दिगम्बरमुनि) २६१, २६२, २६७,
२७१, २८५, २९०
नग्नक (दिगम्बरमुनि) २५८, ३३९
नग्न क्षपण (नग्नखंवरण) १८, ५३
नग्नक्षपणक २५१, २५४, २५६, २५७, २५९,
२८२
नग्न जिनप्रतिमा ३८६, ४३१, ४३२
नग्नट २९८
नग्नटक १९, २८२
नथमल टॉटिया, डॉ० ५८२
नन्दगोप ३७४
नन्दराज (नन्दिवर्द्धन) ४०५
नन्दवत्स (नन्दो वच्छो) ३२६, ३२७
नन्दवंश ४०६

नन्दिमित्र (श्रुतकेवली) १३२, ४४७
नयनार (तमिलजैन) ४७४
नरेन्द्रसागर सूरि (श्वे० आचार्य) १२८
नागरी प्रचारिणी (पत्रिका) ५१८
नाग्न्यपरीषह १३०
नाग्न्यपरीषहजय ७, ९९
नाग्न्यलिंग ४९, ५७२
नाग्न्यव्रत ५४
नाटकसमयसार १३७
नाथूराम प्रेमी, पं० १०, ५५, ५१२
नाभि (ती० ऋषभदेव के पिता) २४१,
२६२-२६४
नारदपरिव्राजकोपनिषद् २७९, २८०
नारायण (त्रिखण्डचक्रवर्ती) ३७४
नारिकेलमय पानपात्र (कमण्डलु) २८५
नारीमुक्ति ३६४
निगंठ (निगण्ठ) ६५, १४०, ३११, ३१६,
३२२, ३३०, ३३१, ३३४, ३४० (निगण्ठ
= नगसमण), ३४८, ३५०
निगण्ठनाटपुत्त, निगण्ठनातपुत्त ३१०, ३१२,
३१४, ३१५, ३३०, ३३१, ३३३, ३३७,
४४९
निगण्ठपुत्तसच्चक, सच्चकनिगण्ठो (निर्ग्रन्थ-
सम्प्रदाय का सच्चक नामक श्रावक)
३२५-३२७, ३२९-३३४
निगण्ठवत्थु-अट्टकथा (धम्मपद-अट्टकथा)
३४२, ३४५
निगण्ठसुत्त (अंगुत्तरनिकाय) ३११
निघण्टु २५०
निमित्तज्ञान ४५७
निरुक्त २५०

६०४ / जैनपरम्परा और यापनीयसंघ / खण्ड १

निर्ग्रन्थ (नग्न) ७, १८, ६५, १०७, ११५,
१३८-१४०, १४३, १४४, २६१, २७१,
२७३, २८३, २८७, २९०, ३३९, ३५२
(वसनसंयम-खेदमुक्तः)

निर्ग्रन्थपुत्र सच्चक ३२५-३२७

निर्ग्रन्थमहाश्रमणसंघ ६४, १०७, ११४, ५५९

निर्ग्रन्थरूपता ४५५

निर्ग्रन्थशासन ४६८

निर्ग्रन्थश्रमणाचार्य (गुहनन्दी) ६५, १४२

निर्ग्रन्थ (दिगम्बर) संघ, सम्प्रदाय, परम्परा
८, ६४, ८४, १४४, १५०, १५१, ३३१,
४३५, ४३६, ४४६, ४७२, ५६८, ५७१,
५७३

निशीथचूर्णी ४२७

निशीथभाष्य (विसाहगणि-महत्तर) ४२७

निश्छिद्रपाणिपात्र (तीर्थकर) ३६१

निषीदि ५१७

निष्कच्छ (दिगम्बरमुनि) २६१

निष्परिग्रह ३८, ३९, २७७

निह्व ४६-४८, ५७

निह्वमत ६, १२०

नीतिसार (इन्द्रनन्दी) ४८७

नेमिनाथचरित्र ३७५

नेमिचन्द्र (डॉ०, ज्योतिषाचार्य) ५८२

नेमिनाथचरित्र (श्वे० ग्रन्थ) ३७५

नेमिनाहचरिउ (हरिभद्रसूरि) ३७५

नैगमेय (देव) ३७३

नैगमेश (देव) ३७३, ३७५

नैगमेशिन ३७३

नैषेधिकी, नैषीधिका ५१९, ५२३

नोणमंगल-ताम्रपत्रलेख ८, ३८९, ४३४, ५५५

न्यायकुसुमाञ्जलि २९२

न्यायदीपिका ५८८

न्यायमञ्जरी २९२

न्यायावतारवार्तिकवृत्ति—प्रस्तावना (पं०
दलसुख मालवणिया) ३२

प

पठमचरिउ (स्वयम्भू) १०

पठमचरिय (विमलसूरि) २९७

पकुध कच्चायन (प्रकुध कात्यायन) ३१४,
३१५, ३३३

पञ्च जैनाभास ३८६, ४३३, ४८७

पञ्चतन्त्र १८, २५८, २६०

पञ्चमवर्णी (तमिलजैन) ४७४

पञ्चस्तूपनिकाय (काशिक) ६५, १४२

पञ्चाशक १९, ८४, १६०

पञ्चास्तिकाय ९

— प्रस्तावना (अँग्रेजी—ए० चक्रवर्ती)
७०

पट्टावलीपराग ३७०

पद्मनन्दी (बलात्कारगणाग्रणी भट्टारक) ३६६

पद्मपुराण, पद्मचरित (रविषेण) १०, २८९

पद्ममहापुराण (वैदिक) २५४, २८३-२८७

पद्मावतीदेवी ४२८

परतीर्थिक अन्यतीर्थिक, परशासन, अन्य-
लिंगी-मुक्तिनिषेध ३८

परमहंस (भिक्षु, संन्यासी) २७६, २७८,
२७९

परमहंसोपनिषद् २७९

परमहंसपरिव्राजकोपनिषद् २८०

परमात्मप्रकाश २५३
 परलोक ३१६
 परिग्रह १३९
 परिव्राजक ३१४, ३२२, ३४७
 परिशिष्टपर्व (हेमचन्द्रसूरि) ४६५, ४६६
 पल्लवचिंध (पल्लवचिह्न) ३६४, ३६५
 पल्लवाङ्कन (अञ्चलचिह्न) ३६४
 पहलवी (प्राचीन फारसी) २५८
 पहाड़पुर-ताम्रपत्रलेख १४२
 पाटलिपुत्र-आगमवाचना (श्वे०) ४२०, ४६५, ४६६, ४६९
 पाणिपात्र २६, ४९, २८३, ४७५, ५७२
 पाण्डुरङ्गभिक्षु ५६, ३०४, ३०६
 पाण्डुरभिक्षु २८२
 पातञ्जल योगदर्शन २७८
 पात्रकेसरिका २६
 पात्रकेसरी स्तोत्र २३४
 पात्रकेसरी स्वामी (पात्रस्वामी) २३४
 पात्रनियोग २४, २६, ८७, ८८
 पापज्ञापक ५१८, ५१९
 पारमहंस्यधर्म २७६, २७७
 पार्श्वनाथ ८४
 पार्श्वनाथचरित-पंजिका (शुभचन्द्र) ५७५
 पार्श्वपत्य ११०, ४७५
 पालि-त्रिपिटक ३४५
 पालिसाहित्य का इतिहास ३१३
 पालि-हिन्दी कोश ३२४, ३२७
 पाल्यकीर्ति शाकटायन ४८५, ४८६, ५६०, ५७५, ५८९
 पाषण्ड २८७

पाषण्डधर्म (वेदविरुद्धधर्म) २९९
 पाषण्डी १४४
 पाषाणघटिता सरस्वती ३६६
 पासादिकसुत (दीघनिकायपाळि, भाग ३)
 ३१२, ३२५, ३३०, ३३७
 पिटक साहित्य (बौद्ध) ४७५
 पिण्डनिर्युक्ति—मलयगिरिवृत्ति २१४, २१५
 पी० बी० देसाई, डॉ० ५०५
 पी० आर० देशमुख ३९८
 पुण्यविजय (श्वे० मुनि) ५१८, ५१९, ५२१, ५२२, ५२३, ५५४
 पुन्नागवृक्षमूलगण ४९२, ५६५, ५७०
 पुन्नागवृक्षमूलसंघ ४९२
 पुन्नार नगर (दक्षिणापथ) ४५३
 पुरले-अभिलेख ५६६
 पुष्पदन्त (एकांगधारी) १३२
 पुस्तकगच्छ ५६६
 पूजाद्रव्य (गन्धमाल्यसुमनोदीप) १४२
 पूज्यपाद (देवनन्दी) ३०, ३१, ५५, ६५, १३२
 पूरण कस्सप (काश्यप, अक्रियावादी) ३१६, ३२०, ३२४
 पेब्लोलाल् ग्राम ३८९, ५५५
 पौण्ड्रवर्धनिका (गोदासगण की शाखा) ४११, ४७६
 प्रज्ञापनासूत्र, पण्णवणासुत्त, पन्नवणासुत्त (श्वे० ग्रन्थ) ५८५
 प्रतिक्रमणग्रन्थत्रयी १०
 प्रतिग्रहधर (पात्रधारी) २६
 प्रतिमा (= नग्नता) १७८

प्रतिमाविवाद (दिगम्बर-श्वे०) ३६४-३६६
 प्रतिलेखन, प्रतिलेखना (पिच्छी) ४८२
 प्रथमोत्कृष्ट श्रावक, द्वितीयोत्कृष्ट श्रावक
 (क्षुल्लक, एलक) २८९
 प्रबोधचन्द्रोदय (नाटक) २५४, २९३
 प्रभव स्वामी (श्वे० श्रुतकेवली) १७२, ४४७,
 ४५१
 प्रमाणसागर (मुनि) ३९६-३९८
 प्रवचनखिंसा ३६०
 प्रवचनपरीक्षा (स्वोपज्ञवृत्तिसहित) ६, ३६,
 ४२, ५३, ५४, ८६-९३, ९५, ९९, १०३,
 १२६, १२७, १८९, २०१, २०२, २१२,
 २१७, २२८, २३०, २३४, २५३, २५४,
 ३११, ३६४-३६६, ३८७, ३९३, ४९६
 प्रवचनसार ९, ३७, १४०, २२०
 — तात्पर्यवृत्ति (आचार्य जयसेन) १९७
 — प्रस्तावना (अँगरेजी—डॉ० ए० एन०
 उपाध्ये) ६२
 प्रवचनोद्गाह ३६०
 प्रशमरतिप्रकरण (उमास्वाति, श्वे०) २३१
 प्रश्नोपनिषद् २४९
 — शांकरभाष्य २४९
 प्राकृत भाषा और साहित्य का आलोचनात्मक
 इतिहास (डॉ० नेमिचन्द्र शास्त्री) ५८२
 - ५८४
 प्राकृत भाषाओं का व्याकरण (डॉ० रिचार्ड
 पिशल) २५४
 प्राकृत विद्या (पत्रिका, जनवरी-मार्च १९९६)
 ५८२
 प्राकृत साहित्य का इतिहास (डॉ० जगदीश-
 चन्द्र जैन) २०, ३६०

प्राचीन भारतीय संस्कृति (बी० एन० लूनिया)
 २५२
 प्राणनाथ विद्यालंकार (प्रो०) ३९६
 प्रातिहार्यसूत्रकथा (दिव्यावदान) ३३८
 प्रियव्रत २६३-२६५
 प्रिंस आफ वेल्स संग्रहालय मुंबई ४१०

फ

एफ० बी० कावेल (Cowell) ३३८
 फल्गुमित्र, फग्गुमित्त (श्वेताम्बराचार्य) ५८०
 फूहरर (Dr. Fuhrer) ३७३, ३७५
 फ्लीट (डॉ०) ७२

ब

बंगाल ४७४
 बनारसीदास (पं० कवि) १३७
 बम्मगवुड (आर्यिका रात्रिमति-कन्ति की
 शिष्या) ५०६
 बर्हिंपिच्छधर २६२, २६७
 बलदेव उपाध्याय (डॉ०) २५०, २५१, २६०,
 २७१
 बलिस्सह (श्वे० आचार्य) ९७
 बल्लालदेव ५०६
 बहूदक संन्यासी २७९
 बादामी की बाहुबली-प्रतिमा ४१२
 बाहुबलि की प्रतिमाएँ ४१२
 बी० एच० हॉजसन (Hodgson) ३३८,
 बी० एन० लूनिया २५२
 बीभत्सदर्शन (दिगम्बरमुनि) २६९, २७०
 बुट्टराज, बुट्टराय (राजा) ५२८
 बुद्धघोष (धम्मपद-अट्टकथाकार) ३४०
 बुरजोई (संस्कृत के ज्ञाता हकीम) २५८

बूहलर (Buhler), डॉ० ३७३, ३७५, ३८०
बृहत्कथाकोश (आ० हरिवेण) १०, ४५३,
४८९

बृहत्कल्पसूत्र ४२, ४३, १५७, ३६३
—लघुभाष्य (संघदासगणी) १६०,
१६१, १७६, १७८, ४१०

बृहदारण्यकोपनिषद् २५१

बृहद्द्रव्यसंग्रह-ब्रह्मदेववृत्ति २१९

बेचरदास (पं०) ५८, १०१, १०४, ४४८,
४५०

बोटिक, बोडिय (संघ, सम्प्रदाय) २०, २८,
५३, ५४, ५५, ५९, ३०३, ३०४

बोटिकभिक्षु ५६

बोटिकमत २३

बोटिकमतोत्पत्तिकथा (बोटिककथा) २०, २१,
२३, ४६८

बोधपाहुड ६२, ६९

—श्रुतसागरटीका ४३४, ४८७

बौद्धग्रन्थ ७२

बौद्धभिक्षु ५६

बौद्धसाहित्य ३१०

बौधायनगृह्यसूत्र २५१

ब्रह्माण्डपुराण २९०

ब्राह्मीलिपि ४७४, ४७७

भ

भगवती-आराधना (जैन सं० सं० सं०
सोलापुर) १०, १४०, २१२, २१४, २१८,
२२३, ४७६

— विजयोदयाटीका (अपराजितसूरि)
१०, १२३, १२५, १२८, १३८, १४४,

१५७, १५८, १६४, १६९, २०९, २१९,
२२५, ५२२, ५७७, ५७९

भगवती सूत्र (देखिये, 'व्याख्याप्रज्ञप्ति')

भगवद्गीता २४८, २५१

—शांकरभाष्य २५४

भगवद्वाग्वादिनी (रत्नर्षि, श्वे०) ५५

भगवान् महावीर और महात्मा बुद्ध (बाबू
कामताप्रसाद) ३१०, ३२९, ३३३

भट्टारकपरम्परा (आ० हस्तीमल-कल्पित)
४, ६६

भदन्त आनन्द कौसल्यायन ३२४, ३३४,
३३६

भद्राकुण्डलकेशा-थेरीगाथा-वण्णना

—निर्ग्रन्थसम्प्रदाय में दीक्षित भद्रा-
कुण्डलकेशा (थेरीगाथा-अट्टकथा)
३४६, ३४८, ३५०, ३५१

—श्वेताम्बरसम्प्रदाय में दीक्षित भद्रा-
कुण्डलकेशा (अपदान ग्रन्थ) ११५,
३१३, ३१४, ३४९, ३५१

भद्रबाहुकथा (प्राकृत भावसंग्रह) ४६३

भद्रबाहुकथानक (बृ.क.को.) १०१, ३८०,
३८२, ४५३, ५८९

भद्रबाहुचरित (रत्नन्दी) ३७८, ४६०, ४८५,
४९०, ५२०

भद्रबाहु तृतीय (दिगम्बर) ११५

भद्रबाहुनीत अचेल निर्ग्रन्थसंघ ४७१, ४७२,
४७४

भद्रबाहु-विवादकथा (परिशिष्टपर्व) ४६५

भद्रबाहु श्रुतकेवली ६२, ६३, ६९, ७२, ७४,
१०९, १३२, ३७७, ३७८, ४११, ४२१
(नेपाल में स्थूलभद्र को ८ पूर्वों की

६०८ / जैनपरम्परा और यापनीयसंघ / खण्ड १

- वाचना, ९-१० पूर्वों की वाचना पाटलिपुत्र में), ४४७ (श्वे० परम्परा में भी श्रुत-केवली के रूप में मान्य), ४५१, ४५२, ४५९, ४६५, ४६७-४७१, ४७४, ४७७, ५७०, ५७३
- भद्राचार्य (दिगम्बर जैनमुनि) ४५३-४५५
- भद्रिलपुर ३७४, ३७६
- भरत (ऋषभपुत्र, चक्रवर्ती) २६२, २६४
- भरतसिंह उपाध्याय ३१३
- भर्तृहरि-वैराग्यशतक २८३
- भागवत पुराण २४१, २४२, २४४, २४९, २५१, २६३, २६५, २७३-२७७, २८१
- भाण्डिक चेष्टा (अश्लील चेष्टा) ९०, १८९
- भाद्रपददेश ४५३
- भानुचन्द्र (श्वे० आचार्य) १३७
- भायाणी एच० सी० डॉ० (देखिये, 'ह' वर्ण)
- भारत, भारतवर्ष २६५, २९०
- भारतीय इतिहास : एक दृष्टि ३७८
- भारतीय पुरालेखों का अध्ययन (डॉ० शिवरूप सहाय) ३३७
- भारतीय संस्कृति का विकास (वैदिक धारा—डॉ० मंगलदेव शास्त्री) ३९६
- भारतीय संस्कृति में जैनधर्म का योगदान : (डॉ० हीरालाल जैन) २४१, २४७, ४०४, ४११, ४१२, ४१५, ५८५
- भावना (आचारांग का २४वाँ अध्ययन) १५७
- भावनाद्वात्रिंशतिका (आ० अमितगति) २२०
- भावसंग्रह (प्राकृत—देवसेन) ४५७
- भावसंग्रह (वामदेव) ८५
- भास (नाटककार) २६०
- भिक्षुराय (खारवेल की उपाधि) ४२४, ५२९
- भिक्षुकोपनिषद् २७७
- भिल्लकसंघ ५१३
- भीषण दुष्काल (श्वे०) ४२१
- भीषण दुष्काल में कण्ठस्थ पाठों का विस्मरण ४२१
- भीषण दुष्काल में शास्त्रों का अनभ्यास ४२१
- भूतबलि ६५, १३२,
- म
- एम० ए० ढाकी (प्रोफेसर) ९
- एम० डी० वसन्तराज (डॉ०) १३६
- एम० एल० जैन (जस्टिस) १६६
- एम० एल० शर्मा डॉ० (भारत में संस्कृति और धर्म) ३९७
- मक्खलि गोसाल (मक्खलिपुत्र गोशाल, अहेतुवादी) ३०५-३०७, ३१४-३१६, ३२२, ३२६, ३२७, ३३३
- मङ्गलदेव शास्त्री (डॉ०) ३९६
- मज्झिमनिकायपाळि २४२, ३१०, ३२६, ३२८, ३३२, ३३३, ४४९
- मत्स्यपुराण २६१, २६२
- मथुरा ४८०
- मथुरा का कुषाणकालीन शिल्प ३७३
- मथुरा की नैगमेश-मूर्तियाँ ३७३
- मथुरा की प्राचीन जिनप्रतिमाएँ ३६९, ३७१, ४११
- मथुरा-शिलालेख १४८
- मनु (स्वाम्यम्भुव, चाक्षुष, वैवस्वत) २८३, २८४
- मनुस्मृति २४८, २६५

- मम्मट (काव्यप्रकाशकार) १९३, १९५
 मयूरपिच्छधारी १९, २८२
 मलधारी (दिगम्बरमुनि) २९८
 महागिरि (आचार्य) ९६, ९७, १३३
 महानन्दिन् राजा ४०६
 महापरिनिब्बानसुत्त (दीघनिकायपालि, भा.२)
 ३१४
 महाप्राणध्यान : ४२१, ४७१, ४७२
 महाभारत १८, २५१, २५२, २५६, २५७
 महामेघवाहन खारवेल (जैन राजा) ४०५,
 ४२२, ५२९, ५३६, ५३७
 महायोगी भरत २८१
 महाराज खारवेल (लेख : बाबू छोटेलाल
 जैन : 'अनेकान्त' / वर्ष १ / किरण ५)
 ४०८
 महावंश (बौद्धग्रन्थ) ७२
 महावग्गपालि (बौद्धग्रन्थ) ७२, ३१८
 (नगिकपटिक्खेपकथा), ३१८, ५००
 महावीर (तीर्थंकर) ८०, ८४, ३१७, ३३१
 महावीर-गर्भपरिवर्तन ३७३, ३७५, ४५८
 महासच्चकसुत्त (मज्झिमनिकाय, भाग १)
 ३१०, ३२६, ३३०, ३३३
 महासीहनादसुत्त (दीघनिकायपालि, भाग १)
 ३२८
 महासीहनादसुत्त (मज्झिमनिकायपालि, भाग
 १) ३२८
 माघनन्दी (आचार्य, एकांगधारी) १३२
 माघनन्दी प्रथम (इण्डि. ऐण्टि. पट्टावली)
 ४
 माथुरसंघ ७८, ४३४, ५१३, ५७२
 माथुरी वाचना ४६८, ५७६, ५८०, ५८१
 माधववर्मा (महाधिराज) ५५५
 मानवभोज्यमीमांसा (मुनि कल्याणविजय)
 ३५१
 मायामोह २६७-२६९
 मायूरपिच्छिका ४९, ५७२
 मालवदेश ४५९
 मावलि (मैसूर)-अभिलेख ५६६
 माविनकेरे (मैसूर)-अभिलेख ५६६
 मुकुलभट्ट (मीमांसक) १९३
 मुखवस्त्रिका १७, ८६-८८, ३८३, ४७५
 मुद्राराक्षस (नाटक) २६९, ४०८
 मुलगुन्द (मैसूर) शिलालेख ४६७
 मूर्तिपूजा (श्वे०) ४१६
 मूर्तिविधान (दिगम्बरीय) ३७२
 मूलगुण ५५६, ५५७, ५५८
 मूलमुख्यार्थ १९०
 मूलसंघ ८, ४९, ७७, ७८, ३८९, ४२९,
 ४३३-४३६, ४४६, ४७०, ४९२, ५५६,
 ५५७, ५५८, ५६५-५७२
 मूलसंघ-पुन्नागवृक्षमूलगण ५०६, ५६४
 मूलसंघान्वय-क्राणूरगण ४६३
 मूलाचार १०, १३९, ४७६
 मृगेशवर्मा (कदम्बवंश) ६४, १४१, ३५२,
 ५१४
 मृदुकोत्तरदेश ३८९
 मेगस्थनीज ७१
 मेदिनीकोश २५४
 मेरुदेवी २४१, २६२, २६४
 मेषपाषाणगच्छ (कुन्दकुन्दान्वय) ५६६
 मोक्खपाहुड २१०

६१० / जैनपरम्परा और यापनीयसंघ / खण्ड १

मोनियर मोनियर विलिअम्स संस्कृत-इंग्लिश
डिक्शनरी २५४, ५०२

मोहनलाल मेहता, डॉ० ५१५

मोहेन-जो-दड़ो १८, ३९४, ४००, ४०३,
४०५

मोहेन-जो-दड़ो की जिनप्रतिमाएँ ३९४

मोहेन-जो-दड़ो : जैन परम्परा और प्रमाण
(एलाचार्य मुनि विद्यानन्द) ३९५

मौर्टिंमर ह्वीलर (सर) ४००

य

यक्षा, यक्षदिन्ना (स्थूलभद्र की बहिर्ने) ४२१

यजुर्वेद ४०१

यतिवृषभ (आचार्य) १३२

यथाजातरूपधर १३९, १४०, २७७

यशोभद्र (दि० मुनि) ६५

यशोभद्र (श्वे० श्रुतकेवली) ४४७

यशोभद्र श्रेष्ठी ४६०

यापज्वक, यापजावक (यापज्ञापक) ५१७-
५१९, ५२१, ५२२, ५५४

Yāpan-Saṅgha (यापनीयसंघ) ५१७

यापनीय (सुखमय स्थिति—बौद्धसाहित्य)
५०१

यापनीय (स्वशक्त्यनुरूप प्रवृत्ति—श्वे०
साहित्य) ५०२

यापनीय (व्युत्पत्ति) ५०२

यापनीय (मत, मुनि, आचार्य, संघ, सम्प्रदाय,
परम्परा) ४, ५, ११, १८, ४९, ६३, ७६,
७७, ७९, १०७, १०९, ११४, ११६,
१४१, ३५२, ३५३, ३९०, ४१६, ४१७,
४२८, ४२९, ४३२-४३४, ४४५, ४७०-
४७२, ४८५, ४८७-४८९, ४९२, ४९३,

५००, ५०२, ५०६, ५०८, ५१२, ५१५,

५१८, ५५६, ५५७, ५५८, ५६०, ५६३-

५६५, ५६९-५७२, ५७४-५७७, ५८१-

५८६

यापनीय और उनका साहित्य (श्रीमती डॉ०
कुसुम पटोरिया) ५८७

यापनीयग्रन्थ ५८८, ५८९

यापनीयग्रन्थ के लक्षण ५८८-५९०

यापनीयतन्त्र (यापनीय सम्प्रदाय का प्रमुख
ग्रन्थ) ४८, ४८५, ४८७, ५७५

यापनीय-नन्दिसंघ-पुनागवृक्षमूलगण .५६३,
५६५

यापनीय-यतिग्रामाग्रणी (उपाधि) ५६०

यापनीयसंघ की विशेषताएँ (लक्षण) ४८५-
४८८

यापनीयसंघ-पुनागवृक्षमूलगण ५६४-५६६

यापनीयसंघ सचेलाचेलमार्गी

— स्त्रीमुक्ति, परतीर्थिक-सग्रन्थ-मुक्ति
मान्य ४८६, ५७२

— स्थविरकल्पिक-मुक्ति मान्य ४८७

यापनीय साहित्य ५७४

यापुजवक ५२४

यास्क (महर्षि) २५०

युग (हिन्दूपुराणानुसार—सत् या कृत युग,
त्रेता, द्वापर, कलि युग, इनका काल-
प्रमाण) २५६, २५७

यूअनच्चांग (यात्री) ४०१

यू० पी० शाह, डॉ० ४०४, ४०९, ४१५

योगमुद्रा ३९४, ३९५

योगेश्वर ऋषभ २८१

र

- आर० ए० नील (Neil) ३३८
 आर० सी० हाजरा २७३
 आर० नरसिंहाचार्य (महामहोपाध्याय) ७१
 रक्तपट, रक्ताम्बरधृक् (बौद्धसाधु) २६१,
 २६८, २७३
 रजोहरण १७, २४, ८६, ८८, ३८२
 रजोहरणधारी २९८
 रढवग्-अभिलेख ५६४
 रतनचन्द्र जैन (प्रो०, डॉ०) ३८६
 रत्नकरण्डश्रावकाचार २८९
 रत्नत्रयदेव-अभिषेक-अंगभोग-रंगभोग ४२९
 रत्नत्रयदेव-प्रतिमापूजा (दिगम्बर) ४२९, ४३३
 रत्नत्रयदेवबसदि (दिगम्बर) ४२८, ४३३
 रत्नत्रयपूजा (यापनीय) ४१६, ४३३
 रत्नत्रयबसदि-बीलिंग-अभिलेख ४३३
 रत्ननन्दी (भद्रबाहुचरितकार) ४६५, ४८५
 रथवीरपुर (रहवीरपुर) २१, २२
 राचमल्ल, राजमल्ल (गंगवंशी नरेश, इनके
 महामंत्री चामुण्डराय थे) ४१२
 राजमल्ल, पं० (लाटीसंहिताकार) २८९
 राधाकुमुद मुकर्जी (डॉ०) ३९५
 राधावल्लभ त्रिपाठी (डॉ०) २५८, २६०,
 २६२, २६९, २७३
 रामचन्द्र तिवारी (डॉ०) २६१
 रामधारीसिंह दिनकर ('संस्कृति के चार
 अध्याय' के लेखक) २९३, ३९६
 रामप्रसाद चन्दा रायहादुर (प्रो०) ३९४, ३९५
 रामायण (वाल्मीकि) २५०
 रामायण-भूषणटीका २५०

- रामिल्ल (दि० जैन मुनि) ४५३, ४५४, ४५५,
 ४६९
 रिचार्ड पिशल (डॉ०) २५४
 रुद्र ४०१
 रुद्रसंहिता २५४
 रूढार्थ १९०
 रूढमुख्यार्थ १९०, १९१

ल

- लज्जनीयावयवगोपन ३६१
 लटकमेलक (नाटक) २५४
 लघुजातक २७२
 ललितविस्तार (हरिभद्रसूरि) ४९, ३५२, ४८५,
 ४८८, ५११, ५७५
 लाटदेश (सौराष्ट्र) ४५६
 लाटी संहिता (पं० राजमल्ल) २८९
 लिङ्गपुराण (वैदिक) १३२, २६५
 लिच्छवी ३३४, ३३५
 लूईस राईस ७१
 लूनकेसी (लुञ्चितकेसा) ३४८
 लोकतत्त्वनिर्णय १८५
 लोकरूढि १९९
 लोकानुवृत्तिधर्म १८९, ३६०
 लोकायतिक २८२
 लोहानीपुर (पटना, बिहार) १८, ३९८, ४३१
 लोहानीपुर-जिनप्रतिमा ४०४, ४०५, ४०८,
 ४०९, ४१०, ४११, ४३१

व

- वज्र (आर्य वज्र-श्वे० मुनि) १३३
 वज्रमुनि (दिगम्बर) १३३-१३६
 वज्रयश (आचार्य) १३३

६१२ / जैनपरम्परा और यापनीयसंघ / खण्ड १

वज्रवृषभनाराचसंहननधारी १००
 वज्रसूची उपनिषद् २५१
 वज्रसूरि (आचार्य) १३३
 वटगोहाली (स्थान) ६५, १४२
 वट्टकेर (आचार्य) १३२
 वड्डाराधने (कन्नड़ ग्रन्थ) ५१०
 वप्रवाद (राजा) ४५६
 वरांगचरित (जटासिंहनन्दी) १०
 वराहमिहिर (ज्योतिर्विद) १९
 वराहमिहि-बृहत्संहिता २७१
 वर्धमानसागर (आचार्य) १३३
 वलभी (वलभी) नगर ४५७, ४५८, ४६०,
 ४६३
 वल्लभी (वलभी, सौराष्ट्र) वाचना १२,
 ५७६
 वसुदेव (कृष्ण के पिता) ३७४
 वसुनन्दी-श्रावकाचार २८८
 वसुन्तवाटकग्राम ३८९
 वस्त्रलब्धि (ऋद्धि) ६, ७, ९९, १००, १०३
 वस्त्रलब्धिमान् जिनकल्पिक (श्वे० साधु)
 १७, ९९
 वाणारसीविलास ३८७
 वातरशन मुनि १८, २४०, २४३, २४९, २५०,
 २७३
 वातवसन श्रमण २५०
 वात्सीपुत्रीय भिक्षु (बौद्ध) ४७५
 वादिदेवसूरि ३१२
 वायुपुराण २७१
 वारिषेणाचार्यसंघ (कूर्चक सम्प्रदाय) ३९०
 वालभी पट्टावली ९७

वासुदेवशरण अग्रवाल (डॉ०) ३८०, ४०८,
 ४१०
 विक्रमसंवत् ५१२, ५१३
 विजयानन्द सूरीश्वर 'आत्माराम' (श्वे०
 आचार्य) २५७, ३६८
 विजहना ३३९
 विद्याधर जोहरापुरकर (देखिये 'जोहरापुर-
 कर')
 विद्यानन्द मुनि, एलाचार्य, आचार्य (वर्तमान)
 १३३, ३७६, ३९५
 विद्यासागर आचार्य (भूकमाटी-महाकाव्य-
 कार) १३३
 विद्वज्जनबोधक ३८७
 विधिमार्गप्रपा (श्वे० साध्वी सौम्यगुणाश्री)
 २६
 विनयपिटक ३१८
 विमलसागर आचार्य १३२
 विमलसूरि (श्वे० आचार्य) २९७
 विमुक्तवसन (दिगम्बरमुनि) २९३
 विवादपूर्व जिनप्रतिमारूप (न नग्न, न
 पल्लवयुक्त) ३६४, ३६५, ३६६
 विशाखाचार्य (दशपूर्वियों में प्रथम—चन्द्रगुप्त
 मौर्य) १३२, ४५३, ४५४
 विशाखाचार्य (चन्द्रगुप्त से भिन्न) ४५९,
 ४६०
 विशालमति (आर्यिका) १३७
 विशेषावश्यकभाष्य १७, १८, २०, २२, २३,
 ४०, ९५, १२६, १५६, १७५, २०३-
 २०७, २०९, २२६, २२८, ३६८, ४४७,
 ४४८
 — हेमचन्द्रवृत्ति १७, १८, २३-२५,

३६-३९, ४४, ४६, ४७, ५०-५२, ६०,
 ८६, ९०-९२, ९५, ९९, ११८-१२१,
 १२५-१२७, १६९, १७५-१७७, २०१-
 २०४, २०६, २०७, २०९, २१७, २२४,
 २३०, २३३, २५३
 विशुद्धानन्द पाठक (भारतीय इतिहास और
 संस्कृति) ३९७
 विश्वम्भरसहाय प्रेमी (हिमालय में भारतीय
 संस्कृति) ३९७
 विष्णु (श्रुतकेवली) १३२, ४४७
 विष्णुपुराण २६२, २६९, २८४
 विष्णुसहस्रनाम २५१
 विसाखावत्थुकथा, विशाखा ३१०, ३४०, ३४१,
 ३५२
 वीरनिर्वाण संवत् ८०, ८१
 वीरसागर आचार्य १३२
 वृद्धश्रावक (एलक-क्षुल्लक) २८७
 वृषभ २४०, २४५, २४६, ३९८, ४०१
 वृहस्पतिमित्र (पुष्यमित्र) राजा ४०५, ४०६
 वेणूर-बाहुबलिप्रतिमा ४१२
 वेदव्यास २५७
 वेन (राजा) २८३-२८७
 वैदिकदर्शन २४०
 वैदिकधारा-श्रमणधारा ३९६
 वैदिक माइथॉलॉजी (मैक्डॉनल) २४७, ४०३
 वैदिक साहित्य २३९
 वैदिक साहित्य और इतिहास (बलदेव
 उपाध्याय) २५०-२५२
 वैराग्यशतक (भर्तृहरि) २८३
 वैराग्यसंन्यासी २७८
 वैशाली ३३४, ३३५

व्याख्याप्रज्ञप्ति (भगवतीसूत्र) ९३, ४१७
 व्रात्य २४८, २४९
 व्रात्यस्तोमविधि २४८
 श
 शय्यम्भव (श्वे. श्रुतकेवली) १७२, ४४७,
 ४५१
 शाकटायन (पाल्यकीर्ति) (देखिये, 'पाल्य-
 कीर्ति')
 शाकटायन सूत्र (व्याकरण) ५७५
 शान्तिसागर (आचार्य) १३२
 शान्त्याचार्य ११५, ४५७-४५९
 शार्पोंटियर (डॉ०) ४६८
 शिक्य (झोली) २७७
 शिखिपत्रमार्जनी (मयूरपिच्छी) २८५
 शिवकुमारमहाराज (मुनि) ९
 शिवभूति (बोटिक) ३, ४, २०, ३२, ३५-
 ४५, ५७, ७३, ७४, ११७, ११८, ४७१,
 ४७७, ४८८, ५०३
 शिवमहापुराण २९७-२९९
 शिवमार (द्वितीय) ९
 शिवमृगेशवर्मा (कदम्बवंशीय राजा) ९
 शिवसागर (आचार्य) १३२
 शिवस्कन्द वर्मा (पल्लवराज) ९
 शिवार्य (भगवती-आराधनाकार) १३२
 शिशुदेव १८, २४७, २४९, ४०२, ४०३
 शीतादिपरीषह (जय) ९९, १२४, १२५
 शीलांकाचार्य (श्वे०) १००
 शुक्लध्यानपरायण (जाबालोपनिषद्) २७७
 शुभप्रभामण्डल (तीर्थकरों का—श्वे०) १०३,
 ३५९, ३६१, ३८७

६१४ / जैनपरम्परा और यापनीयसंघ / खण्ड १

शोधादर्श (पत्रिका), अंक ४८, (नवम्बर २००२) ३७३
 शोभनराय (राजा) ५२७, ५४५
 शौरसेनीकरण ५८२
 शौरिपुर (आगरा, उ.प्र.) ३७४
 श्रमण (दिगम्बर मुनि) २६१, २७३, ४७७
 श्रमण (मासिक पत्र) १६६, ३८६, ३८७, ३८९
 श्रमणधारा प्राग्वैदिक ३९६
 श्रमण भगवान् महावीर (मुनि कल्याण-विजय) २०, २१, २८-३१, ६०, ६१, ७७, ८५, ३०२-३०८, ३१०, ३२३, ३२४, ३२९-३३१, ३५२, ४४५, ४९८
 श्रवणबेलगोल की बाहुवली-प्रतिमा ४१२
 श्रवणबेलगोल-महानवमीमण्डप-स्तम्भ-लेख (क्र. ४०/६४) ६३
 श्राद्ध २७१
 श्रावक २५९, २७३, २९०, ३१२ (अचेल सावका, निगण्टस्स नाटपुत्तस्स सावका)
 श्रीकलश (श्वेताम्बर मुनि) ४८९
 श्रीदत्त ६५
 श्रीमूल-मूलगण-नन्दिसंघान्वय (यापनीय) ५६२, ५७०
 श्रीमूल-मूलसंघ (यापनीय) ४९२
 श्रीलंका ४७४
 श्रीविजयशिवमृगेशवर्मा (कदम्बवंश) २०, ६४-६६, १४१, १४३, ३५०, ३९१
 श्रुतसागर मुनि (श्वे. पश्चात् दिग.) १३७
 श्रुतसागर सूरि (भट्टारक, १५वीं शती ई०) ७६, ४१६, ४२८, ४३३
 शृंगेरी (मैसूर)-अभिलेख (क्र. २४०) ५६६

श्रौतसूत्र २४८
 श्वेतपट (सेयवडो) १८, ५३, १४९, २८२, ४४६
 श्वेतपटमहाश्रमणसंघ ६४, १०७, ११४, १४१, १४९, ३९१, ५५६
 श्वेतपटश्रमणसंघ १३८, १४६, ३९३
 श्वेतपटसंघ (सेवऽसंघो) १४९-१५१, ४५८, ५५७
 श्वेतवस्त्र (सेतवत्थ) संघ १४९, ४४६
 श्वेतवासस् २९८
 श्वेताम्बर (मत, संघ, सम्प्रदाय, परम्परा) १०९, ११४, १७२, २३०, ४३४, ४४६, ४६०, ५१३, ५१४
 श्वेताम्बर आगम और दिगम्बरत्व (लेख) १६६
 श्वेताम्बर-आगम-लिपिबद्धीकरण ४६३
 श्वेताम्बरग्रन्थ ७४
 श्वेताम्बर-दिगम्बर-जिनप्रतिमाभेद ३६५
 श्वेताम्बरमत-समीक्षा २५०, २९२, ३७२
 श्वेताम्बरसाधु-लक्षण (शिवमहापुराण)
 — मलिनवस्त्रधारी
 — तुण्डवस्त्रधारी
 — वस्त्रखण्डनिर्मित-मार्जनीधारी
 — गुम्फिपात्रधारी
 — मुण्डी
 — धर्मलाभवादी २९८, २९९
 श्वेताम्बरसाहित्य का विकास ४८०
 ष
 षट्खण्डागम (छक्खंडागम) १०
 षट्खण्डागम-प्रस्तावना, (प्रो०, डॉ० हीरालाल जैन) १३२ (पुस्तक १), १३३ (पु.२)

षट्प्राभृत ७६

षड्दर्शनसमुच्चय (हरिभद्रसूरि) १४६, १४७

—तर्करहस्यदीपिका वृत्ति (गुणरत्न)

४९, ५९, १४७, १४८, २९६, ३०१,

४८६, ५११, ५७२

स

संस्कृत-इंग्लिश डिक्शनरी (सर एम० मोनियर विलिअम्स) २५४

संस्कृत साहित्य का अभिनव इतिहास (रा० व० त्रिपाठी) २६०, २६२, २६९, २७३

संस्कृत साहित्य का इतिहास (बल. उपा.) २६०, २७१

संस्कृत-हिन्दी कोश (वामन शिवराम आपटे) २५३

संस्कृति के चार अध्याय (रामधारीसिंह दिनकर) २९३, ३९६

सग्रन्थ ६५, १३८

सङ्गमदेव ३७६

सङ्घदासगणि-क्षमाश्रमण १६०, १७६

संघभेद ४५८, ४७०

सङ्घमित्रा (श्वे० साध्वी) ९४, ४५२

सचेल (सचेलक, सवस्त्र) १७७, १७८, १७९

सचेल जैन श्रमणसंघ १४५

सचेलधर्म १७, ८४

सचेल-निर्ग्रन्थसंघ १४५, १४९

सचेलालचेलमार्गी (सचेलालचेल-उभय-मुक्ति-वादी संघ) ४८६, ४८८, ५७२, ५८६, ५८७

सच्चक (देखिये 'निर्ग्रन्थपुत्र सच्चक')

सज्जय बेलट्टपुत्त (अनिश्चयवादी) ३१४-३१६, ३३३

सत्तजटिलसुत्त (उदानपालि) ३२२

सत्तरिसयठाणावृत्ति ३५९

सन्तरुत्तरधर्म १९, ८४, १६०

सन्न्यासेन देहत्याग (जाबालोपनिषद्) २७७

सन्न्यासोपनिषद् २७८, २७९

सन्मत्तिसूत्र, सन्मत्तितर्क, सन्मत्ति १०

सप्तभंगी-विकासवाद १२

समणब्राह्मण (श्रमणब्राह्मण) ३१४

समन्तभद्र स्वामी ६५, १३२

समयसार ६३, ६९, १३७, २२३, २३१

—आत्मख्यातिटीका (आ० अमृतचन्द्र)

२२३, ५८८

समयसुन्दर गणी २३, ५५, ४६३

समवायांगसूत्र २२३, ३६२

समुद्रविजय ३७४

सम्प्रति (मौर्य सम्राट्) ३६५, ४०७, ४१०, ४१५, ४२९, ४३०

सम्भूतिविजय (श्रुतकेवली, श्वे०) ४४७

सरस्वती (सारस्वत) गच्छ ३६६

सराक (एक जैन समुदाय) ४७४

सर्वार्थसिद्धि टीका ६५, १३०, १४४, २२२, ५२२

सवस्त्रतीर्थोपदेश १७

सवस्त्रमुक्ति ४५८

सागरमल (डॉ०) ४, ५, १०-१२, ३२, ७४,

७५, ८०-८३, १४४, १४५, १४९, ३८१,

३८६, ३८७, ३८९, ५५६, ५६८

साङ्ख्यतत्त्वकौमुदी ६८

६१६ / जैनपरम्परा और यापनीयसंघ / खण्ड १

- सान्तरमुत्तर (प्रावरणीय) १६३
सामगामसुत्त (मज्झिमनिकायपालि, भाग ३)
४४९
सामञ्जफलसुत्त (दीघनिकायपालि, भाग १)
३१५, ३१६, ३१७
सामाचारी शतक (समयसुन्दरगणी) ४६३
साम्प्रदायिक मनोविज्ञान ३९२
सायणाचार्य (ऋग्वेद के भाष्यकार) २४५
सारनाथ-लघुस्तम्भलेख ३३७
सालूर (मैसूर)-अभिलेख ५६६
सावलिपत्तन (दक्षिणापथ) ४५६, ४५७
सासणसुरिकहण (शासनदेवीकथन) ३६४
सिताम्बर (श्वेताम्बर) १४९, २९७, २९८,
४४६
सिद्धसेन-द्वितीय (सन्मत्तिसूत्रकार, दिगम्बर)
१०, १३२
सिद्धहेमशब्दानुशासन ५२१, ५२२
सिद्धार्थ (राजा) ३३१
सिन्धुघाटी १८, ३९५
सिन्धुघाटीय (सिन्धु) सभ्यता ३९४-३९८
सिन्धुदेश ४५४
सुखलाल संघवी (पं०) २१३
सुत्तपाहुड २२८, २८८, ४७३
सुत्तपिटक (बौद्धसाहित्य) ३१३
सुदृष्टि (श्रेष्ठी) ३७४
सुधर्मा स्वामी ४६३
सुभद्र आचार्य (दशांगधारी) १३२
सुभिक्ष ४५७, ४६०
सुहस्ती (श्वे० आचार्य) ९७
सूत्रकृतांगसूत्र ३३१
सूरत-ताम्रपत्रलेख ५६७
सेतवत्थ (श्वेतवस्त्र) संघ १०७, ११५, २९७,
३१४
सेनान्वय (मूलसंघ) ५६७
सौभाग्यमल (श्वे० मुनि) १६६
सौम्यगुणाश्री (श्वे० साध्वी) २६
सौराष्ट्रदेश ४५६, ४५७, ४६०
स्कन्दिल (आर्य) ४२२, ४२३, ४२४, ५८०
Studies In Jaina Art (Dr. U.P. Shah)
४०४, ४०७, ४१०, ४११, ४१५
स्त्रीनिर्वाणप्रकरण (पाल्यकीर्ति शाकटायन)
४८५-४८८, ५७५, ५८१
स्त्रीपरीषह १३०
स्त्रीमुक्ति ४५८, ५७२
स्त्रीमुक्तिनिषेध ३८, ५४ (बोटिक शिवभूति
द्वारा), ४९
स्थविरकल्प (दिगम्बर) ८५
स्थविरकल्प (श्वेताम्बर) १७, ८६, ८७
स्थविरकल्पिक उपकरण (उपधि) ८७, ८९
स्थविरकल्पिक (कल्पी) साधु (श्वे०) १७,
८६-९३, १०१
स्थविरकल्पिक साधु (दिगम्बर) ८५
स्थानकवासी परम्परा (श्वे०) ३९२
स्थानांगसूत्र १२५, १२६, १६६, १६९, २२७,
३११
स्थितिकल्प (दश) १६१
स्थूलभद्र (श्वे० आचार्य) ९६, ११०, ४२१,
४५९, ४६०, ४६६, ४७७
स्थूलवृद्ध (जैनमुनि) ४५३, ४५४, ४५५
स्थूलाचार्य ४६०, ५२०

स्थूलात्ययदोष (बौद्ध) ३१८
 स्मिथ (डॉ० बी० ए०) ७१, ३७३, ३७५,
 ३७६
 स्याद्वादपरीक्षा प्र० (तत्त्वसंग्रह) ३१२
 स्याद्वादरत्नाकर (वादिदेवसूरि) ३१२
 स्वप्रभामण्डलाच्छादितदेह तीर्थकर (श्वे०)
 ३६१
 स्वर्णदेश (जावा-सुमात्रा) ४७४
 स्वाति (श्वे० आचार्य) ९७
 स्वामिकुमार (स्वामी कार्तिकेय) १३२
 स्वामिनी (वलभी के राजा वप्रवाद की
 पट्टरानी) ४५६
 स्वायम्भुव मनु २६३
 स्वायम्भुव मन्वन्तर (कालप्रमाण) २६६
 ह
 हंससंन्यासी २७९
 हठयोगप्रदीपिका २८१
 हठयोगविद्या २८१
 हड़प्पा ३९८, ४००, ४०३, ४०५
 हड़प्पा-जिनप्रतिमा ३९८, ४००, ४११
 Harappa And Jainism (T.N. Ram-
 chandran) ३९८, ४३७, ४४२
 हड़प्पा और जैनधर्म (अनुवाद) ३९९
 हरिणिगमिसी, हरिणेगमेसि (नैगमदेव),
 हरिनैगमेसि ३७३, ३७५
 हरिद्राभिजातीय श्रावक (अचेलनिग्रन्थ साधुओं
 के श्रावक—अंगुत्तरनिकय) ३१२, ३२०
 हरिभद्रसूरि (श्वे० आचार्य) ४६, ४९, ३५२,
 ४८५, ५१५, ५७५
 हरिवंशपुराण १०, ३७४
 हरिषेण आचार्य (बृहत्कथाकोशकार) ३७७

हर्मन जैकोबी, डॉ० (जर्मन विद्वान्) ३२३,
 ३२४
 हर्षचरित (बाणभट्ट) १९, २८२
 हलायुधकोश (अभिधानरत्नमाला) २५४,
 २९८
 हल्सी-ताम्रपत्रलेख (मृगेशवर्मा) १०७, १४१,
 ३५२
 हल्सी-ताम्रपत्रलेख क्र० १०३ (हरिवर्मा)
 ३८९
 हल्सी-ताम्रपत्रलेख क्र० १०४ (हरिवर्मा)
 ३९०
 हस्तापलेखना (भोजन के बाद हाथ चाटना)
 ३२७
 हस्तीमल (श्वे० आचार्य) ४, ५८, ६६,
 १३३, ४२९, ४९२
 हाथीगुम्फाभिलेख (खारवेल) ४०५, ४०९,
 ४२२, ४२४, ४२७, ४२८
 The Hāthigumpha Inscription of
 Khārvela and The Bhabru Edict
 of Aśoka (Dr. Shashikant) ५२४
 हारि (नैगमेशदेव) ३७४
 हिन्दू लॉजिक ऐज प्रीजर्ड इन चाइना एण्ड
 जापान (ग्रन्थ) ३०५
 हिन्दू सभ्यता (डॉ० राधाकुमुद मुकर्जी)
 ३९६
 हिमवन्त थेरावली ५२६, ५३२-५३६, ५४०-
 ५४३, ५४७, ५४९-५५१, ५५२ (जाली
 होने की सूचना), ५५३
 हरिकोपीनङ्ग (हीकौपीनाङ्ग = गुप्तांग) ३४४
 History of Jain Monachism (Shanta-
 ram Bhalchandra Deo) ५११, ५१८,
 ५२०

६१८ / जैनपरम्परा और यापनीयसंघ / खण्ड १

हीनसंहननधारी १००, १०१, १२१, १२४

हीरालाल जैन, प्रो०, डॉ० २४१, ४०४, ५८४

हूलि-अभिलेख ५६३, ५६५

हेतुविन्दुतर्कटीका ३१२

हेमचन्द्र, कलिकालसर्वज्ञ, आचार्य
(वैयाकरण) १९१, १९४, २५३

हेमचन्द्र विजय (श्वे० मुनि) ११

हेमचन्द्र सूरि, मलधारी (विशेषावश्यक-
भाष्य-वृत्तिकार) २३, ४६, ५०-५२,
२१७, २२४, २३०, २३३, २५३

हैम प्राकृत-शब्दानुशासन (कालिकालसर्वज्ञ,
आ० हेमचन्द्र) २८८

होन्नूर-अभिलेख ५६३, ५६४



प्रयुक्त ग्रन्थों एवं शोधपत्रिकाओं की सूची

१. अंगुत्तरनिकायपालि (भाग ३,४) : विहार राजकीय पालि - प्रकाशन मण्डल। ई० सन् १९६०।
 - भाग ३ > निपात ६, ७, ८।
 - भाग ४ > निपात ९, १०, ११।
२. अनगारधर्मावृत : पं० आशाधर जी। भारतीय ज्ञानपीठ, नयी दिल्ली। ई० सन् १९७७।
 - ज्ञानदीपिका संस्कृतपञ्जिका (स्वोपज्ञ)।
 - सम्पादन-अनुवाद : सिद्धान्ताचार्य पं० कैलाशचन्द्र शास्त्री।
३. अनुयोगद्वारसूत्र : श्री आर्यरक्षित स्थविर। श्री आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर (राजस्थान)।
 - अनुवादक-विवेचक : उपाध्याय श्री केवलमुनि जी।
४. अभिधानचिन्तामणि - नाममाला : आचार्य हेमचन्द्र। प्रकाशक : श्री रांदेरोड जैनसंघ, अडाजण पाटीया, रांदेरोड, सूरत। ई० सन् २००३।
५. अभिधान राजेन्द्र कोष (भाग १ से ७), द्वितीय संस्करण। श्री अभिधान राजेन्द्र कोष प्रकाशन संस्था, अहमदाबाद। ई० सन् १९८६।
६. अविभारक (नाटक) : महाकवि भास। 'भासनाटकचक्र' चौखम्बा संस्कृत संस्थान, वाराणसी। ई० सन् १९९८।
७. अष्टपाहुड : आचार्य कुन्दकुन्द। शान्तिवीरनगर, श्री महावीर जी (राजस्थान)। ई० सन् १९६८।
 - दंसणपाहुड।
 - चारित्तपाहुड।
 - सुत्तपाहुड।
 - बोधपाहुड।
 - भावपाहुड।
 - मोक्खपाहुड।
 - लिंगपाहुड।
 - सीलपाहुड।

६२० / जैनपरम्परा और चापनीयसंघ / खण्ड १

- श्रुतसागरसूरिकृत संस्कृतटीका।
— पं० पन्नालाल साहित्याचार्यकृत हिन्दी अनुवाद।
८. अष्टसहस्री (भाग १, २, ३) : आचार्य विद्यानन्द। दि० जैन त्रिलोक शोध संस्थान, हस्तिनापुर (मेरठ) उ० प्र०। ई० सन् १९९०।
९. आगम और त्रिपिटक : एक अनुशीलन—मुनि श्री नगराज जी डी० लिट्०। प्रथम खण्ड के प्रकाशक : कान्सेप्ट पब्लिशिंग कम्पनी, नई दिल्ली। ई० सन् १९८७। द्वितीय खण्ड के प्रकाशक : अर्हत् प्रकाशन, कलकत्ता। ई० सन् १९८२।
१०. आचारांग (प्रथम श्रुतस्कन्ध) : मुम्बापुरीय श्री सिद्धचक्र साहित्य प्रचारक समिति मुंबई। मुद्रणस्थान—सूरत। ई० सन् १९३५।
— भद्रबाहुकृत निर्युक्ति।
— शीलांकाचार्यकृत वृत्ति।
११. आचारांगसूत्र—प्रथम श्रुतस्कन्ध : अनुवादक—मुनिश्री सौभाग्यमल जी। प्रकाशक—जैन साहित्य समिति, नयापुरा, उज्जैन। वि० सं० २००७।
द्वितीय श्रुतस्कन्ध : अनुवादक—पं० वसन्तीलाल नलवाया। प्रकाशक—धर्मदास जैन मित्रमण्डल, रतलाम, म० प्र०। ई० सन् १९८२।
१२. आचारांगचूर्ण : श्री जिनदास गणी। श्री ऋषभदेव केशरीमल श्वेताम्बर संस्था, रतलाम। ई० सन् १९४१।
१३. आतुरप्रत्याख्यान : वीरभद्र। प्रकाशक—बालाभाई ककलभाई अहमदाबाद। वि०सं० १९६२।
१४. आदिपुराण (भाग १,२) : आचार्य जिनसेन। भारतीय ज्ञानपीठ, नयी दिल्ली। ई० सन् १९८८।
— अनुवाद : पं० (डॉ०) पन्नालाल साहित्याचार्य।
१५. आप्तपरीक्षा : विद्यानन्द स्वामी। भारतवर्षीय अनेकान्त परिषद्, लोहारिया (राज०)। ई० सन् १९९२।
१६. आप्तमीमांसा : आचार्य समन्तभद्र। वीरसेवा मंदिर ट्रस्ट प्रकाशन वाराणसी-५। ई० सन् १९८९।
— अनुवाद : पं० जुगलकिशोर मुख्तार।
१७. आराधना कथा कोश : ब्रह्मचारी नेमिदत्त। भारतवर्षीय अनेकान्त विद्वत्परिषद्। ई० सन् १९९३।
१८. आलापपद्धति : आचार्य देवसेन। भारतवर्षीय अनेकान्त विद्वत्परिषद्, लोहारिया (राज०)। ई० सन् १९९०।

१९. आवश्यकनिर्युक्ति (भाग १) : भद्रबाहुस्वामी। भेरूलाल कनैयालाल कोठारी धार्मिक ट्रस्ट, मुम्बई। वि० सं० २०३८।
— हरिभद्रीय वृत्ति : हरिभद्रसूरि।
२०. आवश्यक - मूलभाष्य (आवश्यकसूत्र - मूलभाष्य) : कर्ता का नाम अज्ञात है। आवश्यकनिर्युक्ति की हरिभद्रीयवृत्ति में उद्धृत तथा जिन-भद्रगणी के विशेषावश्यकभाष्य में अन्तर्भूत।
२१. आवश्यकसूत्र (पूर्वभाग एवं उत्तरभाग) : गणधर गौतमस्वामी। श्री ऋषभदेव केशरी-मल श्वेताम्बर संस्था, रतलाम। ई० सन् १९२८ एवं १९२९।
२२. इष्टोपदेश : पूज्यपाद स्वामी। परमश्रुत प्रभावक मण्डल, चौकसी चैम्बर, खारा कुआ, जवेरी बाजार, बम्बई-२। ई० सन् १९५४।
२३. ईशादिदशोपनिषद् (शांकरभाष्यसहित) : मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली। ई० सन् १९७८।
२४. ईशाद्यष्टोत्तरशतोपनिषद् : चैखम्बा विद्याभवन, वाराणसी। ई० सन् १९९५।
— परमहंसपरिव्राजकोपनिषद्।
— बृहदारण्यकोपनिषद्।
— जाबालोपनिषद्।
— नारदपरिव्राजकोपनिषद्।
— तुरीयातीतोपनिषद्।
— संन्यासोपनिषद्।
— भिक्षुकोपनिषद्।
— छान्दोग्योपनिषद्।
— मुण्डकोपनिषद्।
— कठोपनिषद्।
— ईशावास्योपनिषद्।
— श्वेताश्वतरोपनिषद्।
— याज्ञवल्क्योपनिषद्।
२५. उत्तराध्ययनसूत्र : वीरायतन प्रकाशन, आगरा-२।
— सम्पादन : साध्वी चन्दना दर्शनाचार्य।
२६. उत्तरभारत में जैनधर्म : चिमनलाल जैचन्द्र शाह। प्रकाशक : सेवामन्दिर रावटी, जोधपुर। ई० सन् १९९०।
— अँगरेजी से हिन्दी अनुवाद : कस्तूरमल बाँठिया।
२७. उदानपालि (सुत्तपिटक, खुद्दक निकाय) : विपश्यना विशोधन विन्यास, इगतपुरी (नासिक)। ई० सन् १९९५।

२८. उपदेशमाला (उवएसमाला) : श्री धर्मदास गणी। प्रकाशक : धनजी भाई देवचन्द्र जौहरी, मुम्बई।
— विशेषवृत्ति (दोघट्टी टीका) : रत्नप्रभसूरि।
२९. ओघनिर्युक्ति : भद्रबाहु स्वामी। आगमोदय समिति मेहसाना। ई० सन् १९१९।
— वृत्तिकार : द्रोणाचार्य।
३०. कठोपनिषद् : गीता प्रेस गोरखपुर। वि० सं० २०२४।
— शांकरभाष्य : श्री शंकराचार्य।
३१. कल्पकौमुदीवृत्ति : श्री शान्तिसागरकृत कल्पसूत्रव्याख्या। श्री ऋषभदेव केशरीमल जैन श्वेताम्बर संस्था, रतलाम। ई० सन् १९३६।
३२. कल्पनिर्युक्ति (कल्पसूत्रनिर्युक्ति) : श्वेताम्बर भद्रबाहु-द्वितीय। मुनि कल्याण विजय जी - कृत 'श्रमण भगवान् महावीर' (पृ. ३३६) में तथा श्री ताटक गुरु जैन ग्रन्थालय उदयपुर (राज०) द्वारा प्रकाशित 'कल्पसूत्र' की श्री देवेन्द्र मुनि शास्त्री-लिखित प्रस्तावना (पृ. १६) एवं परिशिष्ट १ की टिप्पणी क्र. ३ में उल्लेख है।
३३. कल्पप्रदीपिकावृत्ति : श्री संघविजयगणिकृत कल्पसूत्रवृत्ति। प्रकाशन : सेठ वाडीलाल चक्रुभाई देवीशाह पाटक। वि० सं० १९९१।
३४. कल्पलता व्याख्या : समयसुन्दरगणिकृत कल्पसूत्रव्याख्या। निर्णयसागर मुद्रणयन्त्रालय, मुम्बई। ई० सन् १९३९।
३५. कल्पसमर्थन : (कल्पसूत्रान्तर्गत अधिकार-बोधक)। ऋषभदेव केशरीमल जैन श्वेताम्बर संस्था, रतलाम। वि० सं० १९९४।
३६. कल्पसूत्र : प्राकृत भारती, जयपुर।
३७. कल्पसूत्र : भाषानुवाद : आर्यारत्न सज्जनश्री। वि० सं० २०३८।
३८. कसायाहुड (भाग १, ८, १२, १३, १४, १५, १६) : आचार्य गुणधर। भारतवर्षीय दि० जैन संघ, चौरासी, मथुरा। ई० सन् १९७४ ---। द्वितीय संस्करण।
— चूर्णिसूत्र : यतिवृषभाचार्य।
— जयधवला टीका : आचार्य वीरसेन।
— प्रस्तावना : १. ग्रन्थपरिचय एवं २. ग्रन्थकारपरिचय : सिद्धान्ताचार्य पं० कैलाश-चन्द्र शास्त्री, (पृ. ३-७३) ३. विषयपरिचय : पं० महेन्द्रकुमार न्यायाचार्य। (पृ. ७३-१०६) ("भूमिका के मुख्य तीन भाग हैं : ग्रन्थ, ग्रन्थकार और विषय-परिचय। इनमें से आदि के दो स्तम्भ पं० कैलाशचन्द्र जी ने लिखे हैं और अन्तिम

स्तम्भ पं० महेन्द्रकुमार जी ने लिखा है।" सम्पादकीय वक्तव्य/
पृ. १४ ब)।

३९. कसायपाहुडसुत्त : आचार्य गुणधर। श्री वीरशासन संघ, कलकत्ता। ई० सन् १९५५।
— चूर्णिसूत्र : आचार्य यतिवृषभ।
— सम्पादन-अनुवाद-प्रस्तावना : पं० हीरालाल जैन सिद्धान्तशास्त्री।
४०. कादम्बरी (पूर्वभाग) : बाणभट्ट। मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली।
— संस्कृतटीका : श्वेताम्बराचार्य श्री भानुचन्द्र गणी।
४१. कादम्बरी : बाणभट्ट। सम्पादक : आचार्य रामनाथ शर्मा 'सुमन' एवं राजेन्द्रकुमार शास्त्री। प्रकाशक : साहित्य भण्डार, सुभाष बाजार, मेरठ (उ० प्र०) / अष्टम संस्करण, ई० सन् १९९०।
४२. कार्तिकेयानुप्रेक्षा : स्वामिकुमार। परमश्रुत प्रभावक मंडल, श्रीमद्राजचन्द्र आश्रम अगास (गुजरात)। ई० सन् १९७८।
— अँगरेजी प्रस्तावना : प्रो० ए० एन० उपाध्ये।
— हिन्दी-अनुवाद : पं० कैलाशचन्द्र शास्त्री।
४३. कालिदास की तिथिसंशुद्धि : डॉ० रामचन्द्र तिवारी। ईस्टर्न बुक लिंकर्स दिल्ली। ई० सन् १९८९।
४४. काव्यानुशासन (स्वोपज्ञवृत्ति-सहित) : वैयाकरण एवं काव्यशास्त्री, 'कलिकालसर्वज्ञ,' आचार्य हेमचन्द्र। प्रवचन प्रकाशन, पूना। वि० सं० २०५८।
— संस्कृत व्याख्या : पण्डित शिवदत्त एवं काशीनाथ।
४५. काव्यप्रकाश : मम्मटाचार्य। ज्ञानमण्डल लिमिटेड, वाराणसी। ई० सन् १९६०।
— हिन्दी व्याख्या : विश्वेश्वर सिद्धान्तशिरोमणि।
४६. कूर्मपुराण : हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग। ई० सन् १९९३।
४७. क्या दिगम्बर प्राचीन हैं? लेखक : शिशु आचार्य नरेन्द्रसागर सूरि। शेट श्री अभेचंद गुलाबचंद झवेरी परिवार, मुम्बई के सौजन्य से प्रकाशित। प्राप्तिस्थान—१. जम्बूद्वीप पेढी पालीताणा, २. ज्ञानशाला गिरिराज सोसायटी पालीताणा। ई० सन् १९९५।
४८. खरा सो मेरा : डॉ० सुदीप जैन। कुन्दकुन्द भारती (प्राकृत भवन) नई दिल्ली। ई० सन् १९९९।
४९. खारवेल प्रशस्ति : पुनर्मुल्यांकन—चन्द्रकान्तबाली शास्त्री। प्रतिभा प्रकाशन, दिल्ली। ई० सन् १९८८।
५०. गुणस्थान-सिद्धान्त : एक विश्लेषण—डॉ० सागरमल जैन। पार्श्वनाथ विद्यापीठ वाराणसी। ई० सन् १९९६।

६२४ / जैनपरम्परा और यापनीयसंघ / खण्ड १

५१. गुरुपरम्परा से प्राप्त दिगम्बर जैन आगम : एक इतिहास—डॉ० एम० डी० वसन्तराज।
श्री गणेश वर्णी दि० जैन संस्थान नरिया, वाराणसी—५। ई०
सन् २००१।
५२. गोम्पटसार-कर्मकाण्ड (भाग १,२) : आचार्य नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती। भारतीय
ज्ञानपीठ प्रकाशन, नयी दिल्ली। ई० सन् १९९६।
— जीवतत्त्वप्रदीपिका—कर्णाटवृत्ति : केशववर्णी।
— कर्णाटवृत्ति का 'जीवतत्त्वप्रदीपिका' नाम से ही संस्कृतरूपान्तर : श्री नेमिचन्द्र।
५३. गोम्पटसार-जीवकाण्ड (भाग १, २) : आचार्य नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती। भारतीय
ज्ञानपीठ प्रकाशन, नयी दिल्ली। ई० सन् १९९७।
— जीवतत्त्वप्रदीपिका—कर्णाटवृत्ति : केशव वर्णी।
— जीवतत्त्वप्रदीपिका—संस्कृतरूपान्तर : श्री नेमिचन्द्र।
५४. चाणक्यशतक : आचार्य विष्णुगुप्त चाणक्य।
५५. छेदपिण्ड : आचार्य इन्द्र (इन्द्रनन्दी)। 'प्रायश्चित्तसंग्रह'—माणिकचन्द्र दि० जैन
ग्रन्थमाला (वि० सं० १९७८) में संगृहीत।
५६. छेदशास्त्र : (कर्ता अज्ञात—पु. जै. वा. सू./ प्रस्ता./ पृ.१०९) 'प्रायश्चित्तसंग्रह'—
माणिकचन्द्र दि० जैन ग्रन्थमाला (वि० सं० १९७८) में संगृहीत।
५७. जातक (तृतीय खण्ड)—अनुवादक : भदन्त आनन्द कौसल्यायन। हिन्दी साहित्य
सम्मेलन प्रयाग। ई० सन् १९९०।
५८. जातक-अट्टकथा (सुत्तपिटक—खुद्दकनिकाय)—तृतीयभाग। विपश्यना विशोधन
विन्यास, इगतपुरी। ई० सन् १९९८।
५९. जातकपालि (सुत्तपिटक - खुद्दकनिकाय)—द्वितीयभाग। विपश्यना विशोधन विन्यास,
इगतपुरी। ई० सन् १९९८।
६०. जातकमाला : आर्यशूर। सम्पादक-अनुवादक : सूर्यनारायण चौधरी। मोतीलाल
बनारसीदास, दिल्ली। ई० सन् २००१।
६१. जिनमूर्ति-प्रशस्ति-लेख : कमलकुमार जैन। श्री दिगम्बर जैन बड़ा मन्दिर छतरपुर
(म.प्र.)। ई० सन् १९८२।
६२. जिनशासन की कीर्तिगाथा : डॉ० कुमारपाल देसाई। श्री अनिलभाई गाँधी (ट्रस्टी)।
१०८ जैनतीर्थदर्शनभवन ट्रस्ट, श्री समवसरण महामन्दिर,
पालिताणा—३६४२७०।
६३. जिनसहस्रनामटीका : श्रुतसागरसूरि।
६४. जिनागमों की मूलभाषा : डॉ० नथमल टाँटिया। प्राकृत टेस्ट सोसायटी, अहमदाबाद।
६५. जीवसमास : अज्ञात पूर्वधर आचार्य (जिनका नाम ज्ञात नहीं है)। अनुवादिका—

प्रयुक्त ग्रन्थों एवं शोधपत्रिकाओं की सूची / ६२५

साध्वी विद्युत्प्रभाश्री। पार्श्वनाथ विद्यापीठ, वाराणसी।
ई० सन् १९९८।

— भूमिका : डॉ० सागरमल जैन।

६६. जैन आगम साहित्य : मनन और मीमांसा—श्री देवेन्द्र मुनि शास्त्री। प्रकाशक—
श्री तारकगुरु जैन ग्रन्थालय, उदयपुर (राज०)। ई० सन् १९७७।
६७. जैन कथामाला (भाग ४८) (आधारग्रन्थ : १. उपदेशमाला २. आख्यानक मणिकोश)
: मधुकर मुनि। मुनिश्री हजारीमल स्मृति प्रकाशन, ब्यावर
(राज०)।
६८. जैन तत्त्वविद्या : मुनि श्री प्रमाणसागर जी। भारतीय ज्ञानपीठ नयी दिल्ली। ई०
सन् २०००।
६९. जैनधर्म : पं० कैलाशचन्द्र शास्त्री। भारतीय दिगम्बर जैन संघ, चौरासी, मथुरा
(उ.प्र.)। ई० सन् १९७५।
७०. जैनधर्म और दर्शन : मुनि श्री प्रमाणसागर जी। शिक्षा भारती, कश्मीरी गेट, दिल्ली—
६। ई० सन् १९९६।
७१. जैनधर्म का मौलिक इतिहास (प्रथमभाग) : आचार्य हस्तीमल जी।
७२. जैनधर्म का मौलिक इतिहास (द्वितीय भाग/द्वितीय संस्करण) : आचार्य हस्तीमल
जी। जैन इतिहास समिति, जयपुर (राजस्थान)। ई० सन् १९८७।
७३. जैनधर्म का मौलिक इतिहास (तृतीय भाग/प्रथम संस्करण) : आचार्य हस्तीमल
जी। जैन इतिहास समिति, जयपुर (राजस्थान)। ई० सन्
१९८३।
७४. जैनधर्म का मौलिक इतिहास (चतुर्थ भाग) : आचार्य हस्तीमल जी। जैन इतिहास
समिति, जयपुर (राजस्थान)। ई० सन् १९८७।
७५. जैन धर्म का यापनीय सम्प्रदाय : डॉ० सागरमल जैन। पार्श्वनाथ विद्यापीठ, वाराणसी।
ई० सन् १९९६।
७६. जैनधर्म की ऐतिहासिक विकासयात्रा : डॉ० सागरमल जैन। प्राच्य विद्यापीठ, शाजापुर
(म.प्र.)। ई० सन् २००४।
७७. जैनधर्म के प्रभावक आचार्य : साध्वी संघमित्रा। जैन विश्वभारती, लाडनू (राज०)।
ई० सन् २००१।
७८. जैनधर्म के सम्प्रदाय : डॉ० सुरेश सिसोदिया। आगम, अहिंसा-समता एवं प्राकृत
संस्थान, उदयपुर (राजस्थान)। ई० सन् १९९४।
७९. जैन निबन्धरत्नावली (प्रथम भाग) : पं० मिलापचन्द्र कटारिया एवं श्री रतनलाल
कटारिया। प्रकाशक : श्री वीरशासन संघ, कलकत्ता। ई०
सन् १९६६।

८०. जैन निबन्धरत्नावली (द्वितीय भाग) : पं० मिलापचन्द्र कटारिया। भारतवर्षीय दि० जैन संघ, चौरासी, मथरा। ई० सन् १९९०।
८१. जैन भारती : (दिगम्बर जैन नरसिंहपुरा नवयुवक मण्डल भीण्डर (मेवाड़) के मन्त्री द्वारा लिखित 'भट्टारक चर्चा' नामक पुस्तिका (ई० सन् १९४१) में उद्धृत)
८२. जैन विद्या के आयाम—ग्रन्थाङ्क २ (Aspects of Jainology, Vol. II)। पं० बेचरदास दोशी स्मृति ग्रन्थ। प्रकाशक : पार्श्वनाथ शोध संस्थान, वाराणसी, ई० सन् १९८७।
८३. जैन शिलालेख संग्रह (भाग १) : संग्रहकर्ता—डॉ० हीरालाल जैन। माणिकचन्द्र दिगम्बर जैन ग्रन्थमाला समिति। वि० सं० १९८४ (ई० सन् १९२७)।
८४. जैन शिलालेख संग्रह (भाग २) : संग्रहकर्ता—पं० विजयमूर्ति। माणिकचन्द्र दिगम्बर जैन ग्रन्थमाला समिति मुम्बई। ई० सन् १९५२।
८५. जैन शिलालेख संग्रह (भाग ३) : संग्रहकर्ता—पं० विजयमूर्ति। प्रकाशक—माणिकचन्द्र दिगम्बर जैन ग्रन्थमाला समिति, मुम्बई। ई० सन् १९५७।
— प्रस्तावना : डॉ० गुलाबचन्द्र चौधरी।
८६. जैन शिलालेख संग्रह (भाग ४) : संग्रहकर्ता—सम्पादक : डॉ० विद्याधर जोहरापुरकर। भारतीय ज्ञानपीठ काशी। वीर नि० सं० २४९१।
८७. जैन साहित्य और इतिहास (प्रथम संस्करण) : पं० नाथूराम प्रेमी। हिन्दी ग्रन्थ रत्नाकर कार्यालय, हीराबाग, गिरगाँव, बम्बई। ई० सन् १९४२।
द्वितीय संस्करण : प्रकाशक—संशोधित साहित्य-माला, ठाकुरद्वार, बम्बई-२। ई० सन् १९५६।
८८. जैन साहित्य और इतिहास पर विशद प्रकाश (प्रथम खण्ड) : पं० जुगलकिशोर मुख्तार। वीरशासन संघ कलकत्ता। ई० सन् १९५६।
८९. जैन साहित्य का इतिहास (पूर्वपीठिका) : पं० कैलाशचन्द्र सिद्धान्तशास्त्री। श्री गणेशप्रसाद वर्णी जैन ग्रन्थमाला, वाराणसी। वीर नि० सं० २४८९।
९०. जैन साहित्य का इतिहास (भाग १, २) : सिद्धान्तार्च्य पं० कैलाशचन्द्र शास्त्री। श्री गणेश प्रसाद वर्णी जैन ग्रन्थमाला वाराणसी। वीर निर्वाण सं० २५०२।
९१. जैन साहित्य का बृहद् इतिहास (भाग ३) : डॉ० मोहनलाल मेहता। पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोधसंस्थान, वाराणसी। ई० सन् १९६७।

९२. जैन साहित्य में विकार : पं० बेचरदास जैन। अनुवादक : तिलकविजय जी।
प्रकाशक : श्री दिगम्बर जैन युवकसंघ, ललितपुर। वीर नि०
सं० २४५८।
९३. जैनाचार्य परम्परा महिमा (३४९ श्लोकात्मक ग्रन्थ, अप्रकाशित) : रचयिता—श्रवण
बेलगोल के ३१वें भट्टारक श्री चारुकीर्ति। इस ग्रन्थ के
नाम एवं संस्कृत पद्यों का उल्लेख श्वेताम्बराचार्य श्री हस्तीमल
जी ने अपने ग्रन्थ 'जैनधर्म का मौलिक इतिहास', भाग ३
में पृष्ठ १५२ से १७७ तक किया है और लिखा है कि
यह अप्रकाशित ग्रन्थ आचार्य श्री विनयचन्द्र ज्ञान भण्डार
शोध प्रतिष्ठान, लालभवन, चौड़ा रास्ता, जयपुर-३ में उपलब्ध
है।
९४. जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश (भाग १-४) : क्षुल्लक जिनेन्द्र वर्णी। भारतीय ज्ञानपीठ
प्रकाशन, नयी दिल्ली। ई० सन् १९८५, १९८६, १९८७, १९८८।
९५. ज्ञातार्थकथाङ्गसूत्र : (ज्ञातृधर्मकथाङ्ग)। आगम प्रकाशन समिति ब्यावर। ई० सन्
१९८१।
— प्रधान सम्पादक : युवाचार्य श्री मिश्रीलाल जी महाराज 'मधुकर'।
— अनुवादक - विवेचक - सम्पादक : पं० शोभाचन्द्र भारिल्ल।
९६. ज्ञानार्णव : आचार्य शुभचन्द्र। श्री परमश्रुत प्रभावक मण्डल, अगास। ई० सन्
१९७५।
९७. डॉ० सागरमल जैन अभिनन्दन ग्रन्थ । पार्श्वनाथ विद्यापीठ, वाराणसी। ई० सन्
१९९८।
९८. तत्त्वनिर्णयप्रासाद : श्वेताम्बराचार्य मुनि श्री विजयानन्द सूरीश्वर 'आत्माराम'।
प्रसिद्धकर्ता : अमरचंद पी० (पद्मा जी) परमार, मुम्बई।
९९. तत्त्वार्थकर्तृ-तन्मतनिर्णय : सागरानन्दसूरीश्वर जी महाराज (श्वेताम्बर)। प्रकाशक
: श्री ऋषभदेव केशरीमल श्वेताम्बर संस्था रतलाम। वि०
सं० १९९३।
१००. तत्त्वार्थराजवार्तिक (तत्त्वार्थवार्तिक, भाग १, २) : भट्ट अकलंक देव। भारतीय
ज्ञानपीठ, नयी दिल्ली। ई० सन् १९९३।
— सम्पादक : प्रो० महेन्द्र कुमार जैन, न्यायाचार्य।
१०१. तत्त्वार्थवृत्ति : श्रुतसागर सूरि। भारतीय ज्ञानपीठ काशी। ई० सन् १९४९।
— प्रस्तावना : प्रो० महेन्द्रकुमार जैन न्यायाचार्य।
१०२. तत्त्वार्थसार : अमृतचन्द्रसूरि। सम्पादक : पं० पन्नालाल साहित्याचार्य। श्री गणेशप्रसाद
वर्णी ग्रन्थमाला वाराणसी। ई० सन् १९७०।

६२८ / जैनपरम्परा और यापनीयसंघ / खण्ड १

१०३. तत्त्वार्थसूत्र (सर्वार्थसिद्धि) : भारतीय ज्ञानपीठ, नयी दिल्ली। ई० सन् १९९५।
१०४. तत्त्वार्थसूत्र : श्री उमास्वाति वाचक। ऋषभदेव केशरीमल जैन श्वेताम्बर संस्था, रतलाम। ई० सन् १९९६।
— हारिभद्रीय वृत्ति : श्री हरिभद्रसूरि।
१०५. तत्त्वार्थसूत्र (विवेचनसहित) : पं० सुखलाल संघवी। पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोधसंस्थान, वाराणसी—५। ई० सन् १९९३।
१०६. तत्त्वार्थसूत्र (मोक्षशास्त्र) : बृहत्प्रभाचन्द्र। प्रकाशक : समीचीनधर्म-प्रबोध-संरक्षण-संस्थान कोटा (राज०)।
१०७. तत्त्वार्थसूत्र-जैनागम-समन्वय : उपाध्याय मुनि श्री आत्माराम जी महाराज (पंजाबी)। प्रकाशक : लाला शादीराम गोकुलचंद जौहरी, चाँदनी चौक, देहली। ई० सन् १९३४।
१०८. तत्त्वार्थाधिगमसूत्र (श्वेताम्बरमान्य तत्त्वार्थसूत्र) : परमश्रुत प्रभावक मण्डल, अगास। ई० सन् १९९२।
— तत्त्वार्थाधिगमभाष्य : उपर्युक्त पर आचार्य उमास्वाति द्वारा रचित भाष्य।
१०९. तत्त्वार्थाधिगमसूत्र (स्वोपज्ञभाष्ययुक्त) : श्री उमास्वाति-वाचक। प्रकाशक : जीवनचन्द साकरचन्द जवेरी, मुंबई एवं सूरत (गुजरात)। प्रथम भाग— ई० सन् १९२६, मुंबई। द्वितीयभाग—ई० सन् १९३० सूरत।
— तत्त्वार्थभाष्यवृत्ति : श्री सिद्धासेन गणी।
११०. तर्कभाषा : केशवमिश्र। चौखम्बा संस्कृत संस्थान, वाराणसी। ई० सन् १९७७।
— हिन्दी व्याख्या : आचार्य विश्वेश्वर सिद्धान्तशिरोमणि।
१११. तित्थोगालियपयन्नु (अथवा तित्थोगालियपयन्नु = तीर्थोद्गार)।
११२. तिलोयपण्णत्ती (भाग १, २, ३) : आचार्य यतिवृषभ। प्रकाशक : श्री १००८ चन्द्रप्रभ दि० जैन अतिशयक्षेत्र, देहरा-तिजारा (अलवर, राजस्थान)। ई० सन् १९९७।
— अनुवाद : आर्यिका विशुद्धमति जी।
११३. तीर्थकर महावीर और उनकी आचार्य-परम्परा (खण्ड १, २, ३, ४) : डॉ० नेमिचन्द्र शास्त्री, ज्योतिषाचार्य। द्वितीय संस्करण—आचार्य शान्तिसागर छाणी ग्रन्थमाला, बुढ़ाना (मुजफ्फरनगर) उ० प्र०। ई० सन् १९९२।
११४. तैत्तिरीय आरण्यक।
११५. त्रिलोकसार : आचार्य नेमिचन्द्र।
११६. थेरीगाथा—अट्टकथा (सुत्तपिटक-खुद्दकनिकाय) : विपश्यना विशोधन विन्यास, इगतपुरी।

११७. दक्षिण भारत में जैनधर्म : सिद्धान्ताचार्य पं० कैलाशचन्द्र शास्त्री। भारतीय ज्ञानपीठ, नयी दिल्ली। ई० सन् २००१।
११८. दर्शनसार : आचार्य देवसेन। अनुवाद एवं विवेचना : पं० नाथूराम जी प्रेमी। जैन ग्रन्थ कार्यालय, हीराबाग, बम्बई। वि० सं० १९७४।
११९. दशवैकालिकसूत्र : आचार्य शय्यंभव। भारतीय प्राच्य तत्त्व प्रकाशन समिति पिंडवाड़ा (राजस्थान)। वि० सं० २०३७।
- हारिभद्रीयवृत्ति : हरिभद्रसूरि।
१२०. दाठावंस (बौद्धग्रन्थ)।
१२१. दि० जैन अतिशयक्षेत्र श्री महावीर जी का संक्षिप्त इतिहास : डॉ. गोपीचन्द्र वर्मा बाँसवाड़ा। रामा प्रकाशन २६२६, रास्ता खजानेवाला, जयपुर।
१२२. दिगम्बरत्व और दिगम्बरमुनि : कामता प्रसाद जैन। दि० जैन युवा समिति, १५ भगवान् महावीर मार्ग, बड़ौत, उ० प्र०। ई० सन् १९९२।
१२३. दिगम्बर जैन सिद्धान्त दर्पण (प्रो. हीरालाल जी के आक्षेपों का निराकरण): आद्य अंश-लेखक : मन्खनलाल शास्त्री, मुरैना। प्रकाशक : श्री दिगम्बर जैन समाज बम्बई। वीर नि० सं० २४७१। द्वितीय एवं तृतीय अंश-सम्पादक : पं० रामप्रसाद शास्त्री बम्बई। प्रकाशक : दिगम्बर जैन पंचायत बम्बई। ई० सन् १९४४ एवं १९४६।
१२४. दिव्यावादान (रोमन लिपि में)—The Divyāvadān, by E.B. Cowell and R.A. Neil, Indological Book House, Delhi 1987 A.D.
१२५. दिव्यावदान (नागरी लिपि में)—सम्पादक : डॉ० पी० एल० वैद्य। प्रकाशक—मिथिला विद्यापीठ दरभंगा। ई० सन् १९९९।
१२६. दीघनिकायपालि : सम्पादन-अनुवाद : स्वामी द्वारिकादास शास्त्री। बौद्धभारती वाराणसी। ई० सन् १९९६।
- भाग १. सीलकखन्धवग्ग।
- भाग २. महावग्ग।
- भाग ३. पाथिकवग्ग।
१२७. द्रव्यस्वाभाव-प्रकाशक-नयचक्र : श्री माइल्ल धवल। भारतीय ज्ञानपीठ वाराणसी। ई० सन् १९७१।
१२८. धम्मपद : व्याख्याकार—कन्हेदीलाल गुप्त और सत्कारि शर्मा वङ्गीय। चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी। ई० सन् १९६८।
१२९. धम्मपद-अट्टकथा, भाग १,२ (सुत्तपिटक-खुद्दक निकाय) : विपश्यना विशोधन विन्यास इगतपुरी। ई० सन् १९९८।

६३० / जैनपरम्परा और यापनीयसंघ / खण्ड १

१३०. धम्मपद-अट्टकथा, भाग २ (सुत्तपिटक—खुदक निकाय) : नवनालन्दा महाविहार, नालन्दा। ई० सन् १९७६।
१३१. नन्दीसूत्र : विवेचक—स्व. श्री केवलमुनि जी के शिष्य श्री लालमुनि जी के परिवार के सन्त मुनि श्री पारसकुमार जी (धर्मदास सम्प्रदाय)। प्रकाशक—अ० भा० साधुमार्गी जैन संस्कृति-रक्षक संघ, सैलाना (म.प्र.)। ई० सन् १९८४।
१३२. नियमसार : आचार्य कुन्दकुन्द। ('कुन्दकुन्द भारती' में संगृहीत)।
१३३. निशीथसूत्र (स्वोपज्ञभाष्य सहित) : श्री विसाहगणी महत्तर। (प्रथम विभाग-पीठिका) सम्पादक : उपाध्याय कवि श्री अमरमुनि तथा मुनि श्री कन्हैयालाल जी 'कमल'। भारतीय विद्या प्रकाशन, दिल्ली। ई० सन् १९८२।
— विशेषचूर्णि : श्री जिनदास महत्तर।
— निशीथ : एक अध्ययन—पं० दलसुख मालवणिया।
१३४. नीतिसार (नीतिसार-समुच्चय) : इन्द्रनन्दी। भारतवर्षीय अनेकान्त विद्वत्परिषद्। ई० सन् १९९०।
१३५. न्यायकुमुदचन्द्र-परिशीलन : प्रो० उदयचन्द्र जैन। प्राच्य श्रमण भारती, मुजफ्फरनगर, उ.प्र.। ई० सन् २००१।
१३६. न्यायकुसुमाञ्जलि : उदयनाचार्य।
१३७. न्यायदीपिका : अभिनव धर्मभूषण यति। प्रकाशक : भारतवर्षीय अनेकान्त विद्वत्परिषद्। ई० सन् १९९०।
१३८. न्यायमञ्जरी : जयन्त भट्ट।
१३९. न्यायावतारवार्तिकवृत्ति : श्री शान्तिसूरि। सम्पादक : पण्डित दलसुख मालवणिया। प्रकाशक : सरस्वती पुस्तक भण्डार, अहमदाबाद। ई० सन् २००२।
— प्रस्तावना : पं० दलसुख मालवणिया।
१४०. पउमचरित (भाग १,२,३,४,५) : महाकवि स्वयम्भू। भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, नयी दिल्ली। ई० सन् १९८९, १९७७, १९८९, २०००, २००१।
१४१. पउमचरिय : विमलसूरि।
१४२. पञ्चतन्त्र-अपरीक्षितकारक : विष्णु शर्मा। रामनारायणलाल बेनीमाघव, इलाहाबाद-२। ई० सन् १९७५।
१४३. पंचमहागुरुभक्ति : आचार्य कुन्दकुन्द। ('कुन्दकुन्द भारती' में संगृहीत)।
१४४. पंचाशक (पंचाशक-प्रकरण) : आचार्य हरिभद्रसूरि। पार्श्वनाथ विद्यापीठ वाराणसी।

१४५. पंचास्तिकाय : आचार्य कुन्दकुन्द। श्री परमश्रुत प्रभावक मंडल, श्री मदराजचन्द्र आश्रम अगास (गुजरात)। ई० सन् १९६९।
 — समयव्याख्या (तत्त्वप्रदीपिका वृत्ति) : आचार्य अमृतचन्द्र।
 — तात्पर्यवृत्ति : आचार्य जयसेन।
 — बालावबोधभाषाटीका : पाण्डे हेमराज।
१४६. पट्टावलीपराग : पं० श्री कल्याणविजय गणी। प्रकाशक : कल्याणविजय शास्त्रसंग्रह समिति, जालौर (राजस्थान)। ई० सन् १९५६।
१४७. पं० रतनचन्द्र जैन मुख्तार : व्यक्तित्व और कृतित्व (भाग १)। आचार्य श्री शिवसागर दि० जैन ग्रन्थमाला शान्तिवीरनगर, श्रीमहावीर जी (राजस्थान) ई० सन् १९८९।
१४८. पं० वंशीधर व्याकरणाचार्य अभिनन्दन ग्रन्थ । सरस्वती-वरदपुत्र पं० वंशीधर व्याकरणाचार्य अभिनन्दनग्रन्थ प्रकाशन समिति, वाराणसी। ई० सन् १९८९।
१४९. पणवणासुत्त (भाग १,२) : श्री श्यामार्य वाचक। श्री महावीर जैन विद्यालय, बम्बई २६। ई० सन् १९६९ एवं १९७१।
 — सम्पादन एवं अँगरेजी प्रस्तावना : मुनि पुण्यविजय जी, पं० दलसुख मालवणिया एवं पं० अमृतलाल मोहनलाल भोजक।
१५०. पद्मपुराण (पद्मचरित-भाग १,२,३) : आचार्य रविषेण। भारतीय ज्ञानपीठ, नयी दिल्ली। ई० सन् २००१, २००२, २००३।
 — सम्पादन-अनुवाद : डॉ० पन्नालाल जैन साहित्याचार्य।
१५१. पद्ममहापुराण (वैदिक = हिन्दू)—द्वितीय भाग (भूमि, स्वर्ग, ब्रह्म एवं पातालखण्ड) भूमिका : प्रो० डॉ० चारुदेवशास्त्री। प्रकाशक : नाग पब्लिशर्स, जवाहरनगर, दिल्ली-७। ई० सन् १९८४।
१५२. परमात्मप्रकाश एवं योगसार : जोइंदुदेव। परमश्रुत प्रभावक मंडल, अगास। ई० सन् १९७३।
 — संस्कृतटीका : ब्रह्मदेव।
 — भाषा टीका : पं० दौलतराम जी।
 — प्रस्तावना (Introduction) : ए० एन० उपाध्ये।
१५३. परिशिष्टपर्व : कलिकालसर्वज्ञ आचार्य हेमचन्द्र। प्रकाशक : एशियाटिक सोसाइटी, ५७ पार्क स्ट्रीट, कलकत्ता। ई० सन् १८९१।
 — सम्पादक : हर्मन जैकोबी।
१५४. पाइअ-सद्-महण्णवो : (प्राकृत-हिन्दी-शब्दकोश) : पं० हरगोविन्ददास त्रिकमचंद सेठ। मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली। ई० सन् १९८६।

६३२ / जैनपरम्परा और यापनीयसंघ / खण्ड १

१५५. पातञ्जलयोगदर्शन : महर्षि पतञ्जलि। कृष्णदास अकादमी, वाराणसी। ई० सन् १९९९।

— व्यासभाष्य : श्री व्यास।

१५६. पात्रकेसरी-स्तोत्र (जिनेन्द्रगुणसंस्तुति) : पात्रकेसरी (पात्रस्वामी)।

१५७. पालि-हिन्दी कोश : भदन्त आनन्द कौसल्यायन। राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली-पटना। ई० सन् १९९९।

१५८. पुरातन-जैनवाक्य-सूची : पं० जुगलकिशोर मुख्तार। वीरसेवा मन्दिर, सरसावा, जिला-सहारनपुर (उ० प्र०)। ई० सन् १९५०।

१५९. पिण्डनिर्युक्ति : भद्रबाहुस्वामी। शाह नगीनभाई घेलाभाई जह्वेरी, मुंबई। ई० सन् १९१८।

— मलयगिरिया वृत्ति : आचार्य मलयगिरि।

१६०. प्रकरणरत्नाकर (चतुर्थभाग) : प्रकाशक—शा० भीमसिंह माणकनी वती, शा० भाणजी माया, मुंबई। ई० सन् १९१२। निर्णयसागर प्रेस मुम्बई।

१६१. प्रतिक्रमण-ग्रन्थत्रयी : श्री गौतमस्वामी - विरचित। प्रकाशक : आचार्य शान्तिसागर दि० जैन जिनवाणी जीर्णोद्धारक संस्था। वीर संवत् २४७३।

— संस्कृतटीका : प्रभाचन्द्र।

— सम्पादक : पं० मोतीचन्द्र गौतमचन्द्र कोठारी, एम० ए०।

१६२. प्रबोधचन्द्रोदय : कृष्ण मिश्र यति। चौखम्बा अमर भारती प्रकाशन, वाराणसी। ई० सन् १९७७।

१६३. प्रमेयकमलमार्तण्ड (द्वितीयभाग) : आचार्य प्रभाचन्द्र। मुद्रक : पाँचूलाल जैन, कमल प्रिंटर्स मदनगंज-किशनगढ़ (राज०)। वीर नि० सं० २५०७।

— अनुवाद : आर्यिका जिनमती जी।

१६४. प्रवचनपरीक्षा—पूर्वभाग (स्वोपज्ञवृत्ति-सहित) : उपाध्याय धर्मसागर। ऋषभदेव केशरीमल श्वेताम्बर संस्था, रतलाम (म.प्र.)।

१६५. प्रवचनसार : आचार्य कुन्दकुन्द। परमश्रुत प्रभावक श्रीमद्राजचन्द्र जैन शास्त्रमाला, श्रीमद्राजचन्द्र आश्रम, अगास (गुजरात)। ई० सन् १९६४।

— तत्त्वप्रदीपिकावृत्ति : आचार्य अमृतचन्द्र सूरि।

— तात्पर्यवृत्ति : आचार्य जयसेन।

— बालावबोध भाषाटीका : पाण्डे हेमराज।

— अँगरेजी-प्रस्तावना (Introduction): प्रो० ए० एन० उपाध्ये।

१६६. प्रवचनसारोद्धार (उत्तरभाग) : श्री नेमिचन्द्र सूरि। प्रकाशक : सेठ देवचन्द्र लालभाई जैन पुस्तकोद्धार संस्था, मुंबई। ई० सन् १९२२। निर्णयसागर प्रेस मुम्बई।

- संस्कृतवृत्ति : श्री सिद्धसेनसूरि शेखर
१६७. प्रवचनसारोद्धार : श्री नेमिचन्द्रसूरि। प्रकाशक : श्री जैन श्वे. मू. तपागच्छ गोपीपुरा संघ, सूरत। ई० सन् १९८८।
- टिप्पणीकार : श्री उदयप्रभ सूरि।
१६८. प्रशमरतिप्रकरण : श्वेताम्बराचार्य उमास्वाति। परमश्रुत प्रभावक मंडल, श्रीमद्राज-चन्द्र आश्रम अगास (गुजरात)। वि० सं० २०४४।
- हरिभद्रीय टीका : श्री हरिभद्र सूरि।
१६९. प्राकृत एवं संस्कृत साहित्य में गुणस्थान की अवधारणा : साध्वी डॉ० दर्शनकलाश्री। श्री राजराजेन्द्र प्रकाशन ट्रस्ट, जयंतसेन म्यूजियम, मोहनखेड़ा (राजगढ़) धार, म० प्र०। ई० सन् २००७।
१७०. प्राकृत भाषाओं का व्याकरण : डॉ० रिचार्ड पिशल। विहार राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना-३। ई० सन् १९५८।
- जर्मनभाषा से हिन्दी-अनुवाद : डॉ० हेमचन्द्र जोशी।
१७१. प्राकृत साहित्य का इतिहास : डॉ० जगदीशचन्द्र जैन। द्वितीय संस्करण। चौखम्बा विद्याभवन वाराणसी। ई० सन् १९८५।
१७२. प्राचीन भारतीय संस्कृति : बी० एन० लूनिया। लक्ष्मीनारायण अग्रवाल पुस्तक-प्रकाशक, आगरा—३। ई० सन् १९७०।
१७३. बारस अणुवेक्खा : आचार्य कुन्दकुन्द।
१७४. बृहत्कथाकोश : आचार्य हरिषेण। सिंधी जैन ग्रन्थमाला। ई० सन् १९४३।
- अँगरेजी प्रस्तावना : डॉ० ए० एन० उपाध्ये।
१७५. बृहत्कल्पसूत्र (मूलनिर्युक्तिसहित) : स्थविर आर्य भद्रबाहु स्वामी।
- Vol. V (चतुर्थ एवं पंचम उद्देश)। ई० सन् १९३८।
- Vol. VI (षष्ठ उद्देश)। ई० सन् १९४२। प्रकाशक श्री आत्मानन्द जैनसभा, भावनगर।
- भाष्य : श्री संघदासगणी क्षमाश्रमण।
- वृत्ति : आचार्य श्री मलयगिरि, जिसे आचार्य श्री क्षेमकीर्ति ने पूर्ण किया।
१७६. बृहत्संहिता : वराहमिहिर।
१७७. बृहदारण्यकोपनिषद् : ईशादिदशोपनिषद्। मोतीलाल बनारसीदास दिल्ली। ई० सन् १९७८।
- शांकरभाष्य : श्री शंकराचार्य।
१७८. बृहद्द्रव्यसंग्रह : नेमिचन्द्र सिद्धान्तिदेव। परमश्रुत प्रभावक मंडल, अगास (गुजरात)। वि० सं० २०२२।

— संस्कृतटीका : ब्रह्मदेव।

१७९. ब्रह्मसूत्र : बादरायण व्यास। मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली। ई० सन् १९९८।

— शांकरभाष्य : श्री शंकराचार्य।

१८०. ब्रह्माण्डपुराण (खण्ड १,२) : प्रकाशक—डॉ० चमनलाल गौतम, संस्कृति संस्थान, बरेली (३० प्र०) ई० सन् १९८८।

१८१. भक्तपरिज्ञा : वीरभद्र। बालाभाई ककलभाई, अहमदाबाद। वि० सं० १९६२।

१८२. भगवती-आराधना (भाग १) : शिवार्य। जैन संस्कृति संरक्षक संघ, शोलापुर। ई० सन् १९७८।

१८३. भगवती आराधना : शिवार्य। जैन संस्कृति संरक्षक संघ, शोलापुर। ई० सन् २००६।

— विजयोदयाटीका : अपराजित सूरि।

— प्रस्तावना एवं अनुवाद : सिद्धान्ताचार्य पं० कैलाशचन्द्र शास्त्री।

१८४. भगवती-आराधना : शिवार्य। प्रकाशक : विशम्बरदास महावीरप्रसाद जैन सर्राफ, देहली।

१८५. भगवती-आराधना : शिवार्य। प्रकाशक : हीरालाल खुशालचंद दोशी, फलटण। ई० सन् १९९०।

— विजयोदयाटीका : अपराजित सूरि।

— अनुवाद : सिद्धान्ताचार्य पं० कैलाशचन्द्र शास्त्री।

१८६. भगवतीसूत्र : एक परिशीलन—आचार्य श्री देवेन्द्र मुनि। प्रकाशक—श्री तारक गुरु जैन ग्रन्थालय, उदयपुर (राज०)। वि० सं० २०४९।

१८७. भगवद्गीता : शांकरभाष्य।

१८८. भगवान् महावीर का अचेतकधर्म : पं० कैलाशचन्द्र शास्त्री। भारतवर्षीय दि० जैन संघ, चौरासी, मथुरा। वि० सं० २००१।

१८९. भगवान् महावीर और महात्मा बुद्ध : कामता प्रसाद जैन। वीर नि० सं० २४५३।

१९०. भट्टारक चर्चा : लेखक एवं प्रकाशक—मन्त्री, दिगम्बर जैन नरसिंहपुरा नवयुवक मण्डल, भीण्डर (मेवाड़)। ई० सन् १९४१। (लेखक-मन्त्री महोदय ने अपने नाम का उल्लेख नहीं किया।)

१९१. भट्टारकमीमांसा : पं० दीपचन्द वर्णी नरसिंहपुर-निवासी। प्रकाशक : वीर कालूराम राजेन्द्रकुमार परिवार, रतलाम। वीरजयन्ती २४५४, सन् १९२७। तृतीय संस्करण के प्रकाशक : स्व० श्री मोहनलाल जी जैन, श्रीमती क्रान्तिबाई जैन, बाहुबली कॉलोनी सागर (म० प्र०)। ई० सन् २००३।

१९२. भट्टारकसम्प्रदाय : प्रो० विद्याधर जोहरापुरकर। जैन संस्कृति संरक्षक संघ, सोलापुर। ई० सन् १९५८।

१९३. भद्रबाहुचरित : रत्ननन्दी (रत्नकीर्ति)। जैन भारती भवन, बनारस। ई० सन् १९११।
१९४. भद्रबाहुचरित्र : महाकवि रङ्गधू। सम्पादक : डॉ० राजाराम जैन, दिगम्बर जैन युवकसंघ आरा (बिहार), ई० सन् १९९२।
१९५. भगवतपुराण (श्रीमद्भगवत महापुराण) : गीता प्रेस गोरखपुर। वि० सं० २०५७।
१९६. भारतीय इतिहास एक दृष्टि : डॉ० ज्योतिप्रसाद जैन। भारतीय ज्ञानपीठ। सन् १९९९।
१९७. भारतीय दिगम्बर जैन अभिलेख और तीर्थ परिचय मध्यप्रदेश : १३वीं शती तक : डॉ० कस्तूरचन्द्र जैन 'सुमन'। श्री दिगम्बर जैन साहित्य संस्कृति संरक्षण समिति, डी-३०२, विवेक विहार, दिल्ली। ई० सन् २००१।
१९८. भारतीय पुरालेखों का अध्ययन : डॉ० शिवरूप सहाय। मोतीलाल बनारसीदास, वाराणसी। ई० सन् १९९९।
१९९. भारतीय संस्कृति का विकास : वैदिकधारा : डॉ० मंगलदेव शास्त्री। समाज विज्ञान परिषद्, काशी विद्यापीठ बनारस। १९५६ ई०।
२००. भारतीय संस्कृति में जैनधर्म का योगदान : डॉ० हीरालाल जैन। मध्यप्रदेश शासन साहित्य परिषद्, भोपाल। ई० सन् १९७५।
२०१. भावना-द्वात्रिंशतिका : आचार्य अमितगति। ज्ञानपीठ पूजाञ्जलि, पृ० ४७५। सम्पादक — डॉ० ए० एन० उपाध्याय एवं पं० फूलचन्द्र शास्त्री। भारतीय ज्ञानपीठ, नयी दिल्ली।
२०२. भावसंग्रह (प्राकृत) : देवसेनाचार्य।
२०३. भावसंग्रह : वामदेव। भारतवर्षीय अनेकान्त विद्वत्परिषद्, लोहारिया (राजस्थान)।
२०४. मञ्जिमनिकाय (सुत्तपिटक) : सम्पादक : भिक्षु जगदीश कश्यप। बिहार राजकीय पालि-प्रकाशन मण्डल। ई० सन् १९५८।
- १. मूल पण्णासक।
- २. मञ्जिम पण्णासक।
२०५. मञ्जिमनिकायपालि (सुत्तपिटक) : सम्पादक-अनुवादक : स्वामी द्वारिकादास शास्त्री। बौद्ध भारती, वाराणसी।
- १. मूल पण्णासक। ई० सन् १९९८।
- २. मञ्जिम पण्णासक। ई० सन् १९९९।
- ३. उपरि पण्णासक। ई० सन् २०००।
२०६. मत्स्यपुराण (पूर्वभाग, उत्तरभाग) : हिन्दी साहित्य सम्मलेन प्रयाग। ई० सन् १९८८-८९।
२०७. महापुराण : आचार्य जिनसेन। भारतीय ज्ञानपीठ काशी। ई० सन् १९५१।

६३६ / जैनपरम्परा और यापनीयसंघ / खण्ड १

२०८. महाभारत (आदिपर्व/अध्याय १-७) : श्री वेदव्यास। गीता प्रेस गोरखपुर (उ०प्र०)।
नवम्बर १९५५ ई०।
२०९. महाभारत (शान्तिपर्व) प्रकाशक : वसन्त श्रीपाद सातवलेकर। स्वाध्याय मण्डल,
किल्ला—पारडी (बलसाड़) गुजरात। ई० सन् १९८०।
२१०. महावग्गयालि (विनयपिटक) : सम्पादक-अनुवादक : स्वामी द्वारिकादास शास्त्री।
बौद्ध भारती, वाराणसी। ई० सन् १९९८।
२११. मानतुङ्गाचार्य और उनके स्तोत्र : प्रो० मधुसूदन ढाकी और डॉ० जितेन्द्र शाह।
२१२. मानवभोज्यमीमांसा : मुनि कल्याणविजय जी गणी। श्री कल्याणविजय-शास्त्रसंग्रह-
समिति, जालोर (राज०)। ई० सन् १९६१।
२१३. मीमांसाश्लोकवार्तिक : कुमारिल भट्ट।
२१४. मुद्राराक्षस (नाटक) : विशाखदत्त। ईस्टर्न बुक लिंकर्स, दिल्ली।
२१५. मूलाचार (पूर्वार्ध एवं उत्तरार्ध) : आचार्य वट्टकेर। भारतीय ज्ञानपीठ, नयी दिल्ली।
ई० सन् १९९२, १९९६।
— आचारवृत्ति : आचार्य वसुनन्दी सिद्धान्तचक्रवर्ती।
— हिन्दी-टीकानुवाद : आर्यिकारत्न ज्ञानमती जी।
— प्रधान सम्पादकीय : ज्योति प्रसाद जैन।
२१६. मूलचार : आचार्य वट्टकेर। भारतवर्षीय अनेकान्त विद्वत्परिषद्। ई० सन् १९९६।
— सम्पादकीय : डॉ० फूलचन्द्र प्रेमी और डॉ० श्रीमती मुन्नी जैन।
२१७. मूलाराधना (भगवती-आराधना) : शिवार्य। स्वामी देवेन्द्रकीर्ति दिगम्बर जैन ग्रन्थ-
माला शोलापुर। ई० सन् १९३५।
— मूलाराधनादर्पण (संस्कृतटीका) : पं० आशाधर जी।
— हिन्दी-अर्थकर्ता : पं० जिनदास पार्श्वनाथ शास्त्री फड़कुले।
२१८. मोक्षशास्त्र (तत्त्वार्थसूत्र, जिनकल्पिसूत्र) : आचार्य प्रभाचन्द्र। समीचीन धर्मप्रबोध
संरक्षण संस्थान, कोटा (राजस्थान)।
२१९. मोटी साधु-वन्दना (गुजराती) : छोटालाल जी महाराज। थानकवासी जैन उपाश्रय,
लिमड़ी (सौराष्ट्र) ई० सन् १९९१।
२२०. मोहेन-जो-दड़ो : जैन परम्परा और प्रमाण : आचार्य विद्यानन्द जी। कुन्दकुन्द
भारती, नयी दिल्ली। ई० सन् १९८८।
२२१. यशस्तिलकचम्पू : सोमदेवसूरि। प्रकाशक : तुकाराम जावजी, निर्णयसागर प्रेस, बम्बई।
पूर्वखण्ड (द्वितीय संस्करण)। ई० सन् १९१६। उत्तरखण्ड
(प्रथम संस्करण)। ई० सन् १९०३।
— संस्कृतव्याख्या : श्रुतसागरसूरि।

२२२. थापनीय और उनका साहित्य : श्रीमती डॉ० कुसुम पटोरिया। वीर सेवा मन्दिर ट्रस्ट प्रकाशन। ई० सन् १९८८।

२२३. रत्नकरण्डश्रावकाचार : स्वामी समन्तभद्र। श्री मुनिसंघ साहित्य प्रकाशन समिति, सागर म० प्र०। ई० सन् १९९२।

— पद्यानुवाद : आचार्य श्री विद्यासागर जी

— हिन्दी अनुवाद : डॉ० (पं०) पन्नालाल जैन साहित्याचार्य।

२२४. रत्नमाला : शिवकोटि। 'सिद्धान्तसारादि संग्रह' में संगृहीत।

२२५. लब्धिसार (लब्धिसार-क्षणसासार) : नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती। आचार्य श्री शिव-सागर ग्रन्थमाला, शान्तिवीर नगर, श्री महावीर जी। वीर नि० सं० २५०९।

— सम्पादक : ब्र० पं० रतनचन्द्र मुख्तार सहारनपुर, उ० प्र०।

२२६. ललितविस्तरा : आचार्य श्री हरिभद्रसूरि।

— पञ्जिका टीका : श्री मुनिचन्द्र सूरीश्वर जी

— हिन्दी-विवेचना : पंन्यासप्रवर श्री भानुविजय जी गणिवर।

— भूमिकालेखक : श्री सम्पूर्णानन्द जी, राज्यपाल, राजस्थान।

— परिचयलेखक : प्रो० डॉ० पी० एल० वैद्य, वाडिया कालेज, पूना।

२२७. लाटीसंहिता : पं० राजमल्ल। श्रावकाचारसंग्रह (भाग ३)। सम्पादक : पं० हीरालाल जैन शास्त्री। जैनसंस्कृति संरक्षक संघ, सोलापुर। ई० सन् २००३।

२२८. लिङ्गपुराण : संस्कर्ता : आचार्य जगदीश शास्त्री। मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली। ई० सन् १९८०।

२२९. लिंगप्राभृत (लिंगापाहुड) : आचार्य कुन्दकुन्द।

२३०. वरांगचरित : जटासिंहनन्दी। भारतवर्षीय अनेकान्त विद्वत्पिषद्। ई० सन् १९९६।

२३१. वात्सल्यरत्नाकर (आचार्य श्री विमलसागर अभिनन्दन ग्रन्थ)—द्वितीय खण्ड। प्रकाशक : भारतवर्षीय अनेकान्त विद्वत्परिषद्, श्री दि० जैन बीसपंथी कोठी, मधुवन (शिखर जी)। ई० सन् १९९३।

२३२. वायुपुराण : हिन्दी साहित्य सम्मेलन प्रयाग (इलाहाबाद)। ई० सन् १९८७।

२३३. विद्वज्जनबोधक : पं० पन्नालाल जी संघी

२३४. विधि-मार्ग-प्रपा : खरतरागच्छालंकार श्री जिनप्रभसूरि। श्री महावीर स्वामी जैन देरासर ट्रस्ट, ८ विजय वल्लभ चौक, पायुधनी, मुंबई ४०० ००३। ई० सन् २००५।

— अनुवाद : साध्वी सौम्यगुणाश्री (विधिप्रभा)।

६३८ / जैनपरम्परा और यापनीयसंघ / खण्ड १

२३५. विविधदीक्षा-संस्कारविधि : आर्यिका शीतलमती जी। सम्पादिका- ब्र० मैनाबाई जैन, संघसंचालिका। आशीषप्रदाता-सिद्धान्तचक्रवर्ती आचार्य सन्मतिसागर जी। मुद्रक-शिवशक्ति प्रिण्टर्स, ९, नेहरू बाजार, होटल तारावाली गली, उदयपुर (राज०)।

— प्रकथन : डॉ. महेन्द्रकुमार जैन 'मनुज'। ५८४ म. गाँ. मार्ग, तुकोगंज, इन्दौर-४५२ ००१ (म० प्र०)। ई० सन् २००२।

२३६. विशेषावश्यकभाष्य (भाग २) : जिनभद्रगणि-क्षमाश्रमण। दिव्यदर्शन ट्रस्ट, ६८ गुलालवाड़ी, मुंबई ४०० ००४। वि० सं० २०३९।

— मलधारी हेमचन्द्रसूरिकृत वृत्ति

२३७. विष्णुपुराण : गीता प्रेस गोरखपुर। वि० सं० २०५८।

२३८. वीरवर्धमानचरित : श्री सकलकीर्ति। भारतीय ज्ञानपीठ, नयी दिल्ली। ई० सन् १९७४।

— सम्पादन-अनुवाद : पं० हीरालाल जैन सिद्धान्तशास्त्री।

२३९. वेदान्तसार : परमहंस परिव्राजकाचार्य सदानन्द योगीन्द्र। पीयूष प्रकाशन, इलाहाबाद। ई० सन् १९६८।

— तत्त्वपारिजात हिन्दीटीका : सन्तनारायण श्रीवास्तव्य।

२४०. वैदिक माइथॉलॉजी : ए० ए० मैकडॉनल (A.A. Macdonell)। हिन्दी अनुवादक : रामकुमार राय। चौखम्बा विद्याभवन वाराणसी। ई० सन् १९८४।

२४१. वैदिक साहित्य और संस्कृति : आचार्य बलदेव उपाध्याय। शारदा संस्थान, वाराणसी-५। ई० सन् १९९८।

२४२. वैराग्यशतक (भर्तृहरिशतक) : मनोज पब्लिकेशन्स, दिल्ली। ई० सन् २००२।

२४३. वैशेषिकसूत्रोपस्कार (वैशेषिकसूत्र-व्याख्या) : आचार्य शंकर मिश्र। चौखम्बा संस्कृत सीरिज आफिस, वाराणसी।

२४४. व्याकरण महाभाष्य (पस्पशाह्निक) : महर्षि पतञ्जलि। चौखम्बा संस्कृत सीरिज आफिस, वाराणसी।

२४५. व्याख्याप्रज्ञप्तिसूत्र (भगवतीसूत्र/तृतीयखण्ड/शतक ११-१९) : श्री आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर (राजस्थान)।

— अनुवादक-विवेचक-सम्पादक : श्री अमर मुनि जी एवं श्रीचन्द सुराणा 'सरस'।

२४६. शिवमहापुराण - प्रस्तावना : अवधविहारीलाल अवस्थी। गौरीशंकर प्रेस, मध्यमेश्वर, वाराणसी।

२४७. श्रमण भगवान् महावीर : पं० (मुनि) कल्याणविजय जी गणी। प्रकाशक : श्री

प्रयुक्त ग्रन्थों एवं शोधपत्रिकाओं की सूची / ६३९

क० वि० शास्त्र-संग्रह समिति, जालोर। वि० सं० १९९८,
ई० सन् १९४१।

२४८. श्रुतावतार : विबुधश्रीधर। 'सिद्धान्तसारादिसंग्रह' में संगृहीत।
२४९. श्रुतावतार : आचार्य इन्द्रनन्दी। भारतवर्षीय अनेकान्त विद्वत्परिषद्, सोनागिर (दतिया)
म० प्र०। ई० सन् १९९०।
२५०. श्वेताम्बरमत-सामीक्षा : पं० अजितकुमार शास्त्री। प्रकाशक : श्री दिगम्बर जैन
युवक संघ।
२५१. षट्खण्डागम—सम्पादिका : ब्र० पं० सुमतिबाई शहा। श्री श्रुतभण्डार व ग्रन्थ प्रकाशन
समिति, फलटण। ई० सन् १९६५।
२५२. षट्खण्डागम (द्वितीय संस्करण)—सम्पादिका : ब्र० पं० सुमतिबाई शहा। आ०
शान्तिसागर 'छाणी' स्मृति ग्रन्थमाला, बुढाना, मुजफ्फरनगर
(उ०प्र०)। ई० सन् २००५।
२५३. षट्खण्डागम (पुस्तक १-१६) : पुष्पदन्त एवं भूतबलि। जैन मंस्कृति संरक्षक संघ,
सोलापुर। पुस्तक १, २—ई० सन् १९९२, पु० ३—ई०
सन् १९९३, पु० ४—ई० १९९६, पु० ५—ई० १९८६,
पु० ६—ई० १९९३, पु० ७—ई० १९८६, पु० ८—ई० १९८७,
पु० ९—ई० १९९०, पु० १०, ११—ई० १९९२, पु० १२,
१३—ई० १९९३, पु० १४—ई० १९९४, पु० १५, १६—ई० १९९५।
— धवलाटीका : आचार्य वीरसेन।
— सम्पादकीय (पुस्तक १) : डॉ० हीरालाल जैन एवं डॉ० ए० एन० उपाध्ये।
— प्रस्तावना (पुस्तक १) : पं० फूलचन्द्र सिद्धान्तशास्त्री।
२५४. षट्खण्डागम-परिशीलन : पं० बालचन्द्र शास्त्री। भारतीय ज्ञानपीठ, नयी दिल्ली।
ई० सन् १९८७।
२५५. षट्पाहुड : आचार्य कुन्दकुन्द। प्रकाशिका : शान्ति देवी बड़जात्या, गौहाटी। ई०
सन् १९८९।
२५६. षड्दर्शनसमुच्चय : हरिभद्रसूरि। भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन। ई० सन् १९८९।
— तर्करहस्यदीपिका टीका : गुणरत्नसूरि।
— प्रस्तावना : पं० दलसुख मालवणिया।
२५७. संस्कृत साहित्य का अभिनव इतिहास : डॉ० राधावल्लभ त्रिपाठी। विश्वविद्यालय
प्रकाशन, वाराणसी। ई० सन् २००१।
२५८. संस्कृत साहित्य का इतिहास : बलदेव उपाध्याय। शारदा मंदिर वाराणसी। ई०
सन् १९६५।

६४० / जैनपरम्परा और यापनीयसंघ / खण्ड १

२५९. संस्कृत-हिन्दी कोश : वामन शिवराम आटे। मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली। ई० सन् १९६९।

२६०. संस्कृति के चार अध्याय : रामधारी सिंह दिनकर। लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद-१। ई० सन् १९९७।

२६१. समन्तभद्र ग्रन्थावली : स्वामी समन्तभद्र। वीर सेवा मंदिर ट्रस्ट प्रकाशन वाराणसी। ई० सन् १९८९।

१. आप्तमीमांसा (देवागम)

— अकलंकदेवकृत आप्तमीमांसाभाष्य।

— आचार्य वसुनन्दीकृत देवागमवृत्ति।

— पं० जुगलकिशोर मुख्तारकृत हिन्दीव्याख्या।

२. युक्त्यनुशासन।

३. स्वयम्भूस्तोत्र।

४. जिनशतक।

५. रत्नकरण्डक।

— अनुवादक : पं० जुगलकिशोर मुख्तार

२६२. समयसार : आचार्य कुन्दकुन्द। अहिंसा मंदिर प्रकाशन, १ दरियागंज, दिल्ली ७।

— आत्मख्याति व्याख्या : आचार्य अमृतचन्द्र सूरि।

— तात्पर्यवृत्ति : आचार्य जयसेन।

— हिन्दीटीका : पं० जयचन्द्र।

२६३. समावायांगसूत्र—प्रकाशक : सेठ माणिकलाल चुन्नीलाल, अहमदाबाद। ई० १९३८।

२६४. समाधितन्त्र : देवनन्दी, अपरनाम—पूज्यपादस्वामी। श्री वीरसेवा मंदिर, सरसावा (सहारनपुर)। ई० सन् १९३९।

२६५. सम्मइसुत्त (सन्मतिसूत्र, सन्मतितर्क) : आचार्य सिद्धसेन। ज्ञानोदय ग्रन्थ प्रकाशन समिति, नीमच (म० प्र०) ई० सन् १९७८।

— सम्पादक : देवेन्द्र कुमार शास्त्री, नीमच।

२६६. सर्वार्थसिद्धि (तत्त्वार्थसूत्र-वृत्ति) : पूज्यपाद स्वामी। भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, नयी दिल्ली। ई० सन् १९९५।

— सम्पादन-अनुवाद : सिद्धान्ताचार्य पं० फूलचन्द्र शास्त्री।

२६७. सर्वार्थसिद्धि : पूज्यपाद स्वामी। भारतवर्षीय अनेकान्त विद्वत्परिषद्। ई० सन् १९९५।

२६८. सागारधर्मांशुत : पं० आशाधर जी। प्रकाशक : मूलचन्द्र किशनदास कापड़िया, सूरत। ई० सन् १९४०।

- हिन्दी-टीकाकार : पं० देवकीनन्दन सिद्धान्तशास्त्री।
२६९. सिद्धहेमशब्दानुशासन (अष्टम अध्याय : प्राकृतव्याकरण) : 'कलिकालसर्वज्ञ' आचार्य हेमचन्द्र।
२७०. सिद्धान्तसमीक्षा (भाग ३)—प्रकाशक : हिन्दी ग्रन्थ रत्नाकर कार्यालय, बम्बई। ई० सन् १९४५।
२७१. सिद्धान्ताचार्य पं० कैलाशचन्द्र शास्त्री अभिनन्दन ग्रन्थ।
२७२. सिद्धान्ताचार्य पं० फूलचन्द्र शास्त्री अभिनन्दनग्रन्थ—प्रकाशक : सिद्धान्ताचार्य पं० फूलचन्द्र शास्त्री अभिनन्दनग्रन्थ प्रकाशन समिति, वाराणसी। ई० सन् १९८५।
२७३. सूत्रकृतांगसूत्र : (पंचम गणधर सुधर्मस्वामी-प्रणीत द्वितीय अंग)—प्रथम एवं द्वितीय भाग। प्रधान सम्पादक : श्री मिश्रीलाल जी महाराज 'मधुकर'। श्री आगमप्रकाशन समिति ब्यावर (राजस्थान)।
२७४. सूर्यप्रकाश-परीक्षा : पं० जुगलकिशोर मुख्तार। प्रकाशक : जौहरीमल जैन सराफ, दरीवाँकला, देहली। ई० सन् १९३४।
२७५. सौन्दरनन्द (महाकाव्य) : अश्वघोष। प्रकाशक : चौखम्बा संस्कृत सीरिज आफिस, वाराणसी।
२७६. स्त्रीनिर्वाण प्रकरण : ('शाकटायन व्याकरण' के साथ संलग्न। भारतीय ज्ञानपीठ। ई० सन् १९७१) : यापनीय-यतिग्रामाग्रणि-भदन्त-शाकटायनाचार्य, मूलनाम पाल्यकीर्ति (देखिए, पं० नाथूराम प्रेमी : 'शाकटायन और उनका शब्दानुशासन'/'जैन सिद्धान्त भास्कर'/ भाग १/ किरण १/ जून १९४२)।
२७७. स्थानांगसूत्र (पंचम गणधर सुधर्म स्वामी-प्रणीत तृतीय अंग) : आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर (राज०)।
- अनुवादक-विवेचक : पं० हीरालाल शास्त्री।
२७८. स्वामी सयन्तभद्र : पं० जुगलकिशोर मुख्तार। जैन ग्रन्थ रत्नाकर कार्यालय, हीराबाग, पो०-गिरगाँव, बम्बई। ई० सन् १९२५।
२७९. हरिवंशपुराण : आचार्य जिनसेन। भारतीय ज्ञानपीठ नयी दिल्ली। ई० सन् १९९८।
- सम्पादन-अनुवाद-प्रस्तावना : डॉ० पन्नालाल जैन साहित्याचार्य।
२८०. हर्षचरित : बाणभट्ट। चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी। ई० सन् १९९८।
- 'सङ्केत' संस्कृत व्याख्या : श्री शंकर कवि।
२८१. हूमड़ जैनसमाज का सांस्कृतिक इतिहास (भाग २)—सम्पादिका : श्रीमती कौशल्या

पंतग्या। प्रकाशक : श्री अखिल भारतीय हुमड़ जैन इतिहास
शोधसमिति, १, सुदर्शन सोसायटी, नारायणपुरा, अहमदाबाद।

English Books

1. Aspects of Jainology (Vol.III) : P.V. Research Institute, Varanasi.
—The Date of Kundakundācārya : M.A. Dhaky.
2. Gender And Salvation : Padmanabh S. Jaini , Munshiram Manoharlal
Publishers Pvt. Ltd., New Delhi, 1992 A.D.
3. Harappa And Jainism : T.N. Ramchandran, Published by Kundakunda
Bharti Prakashan, New Delhi, 1987 A.D.
—Introduction : Dr. Jyotindra Jain.
4. History of Jaina Monachism (From Inscriptions And Literature) : By
Shantaram Balchandra Deo. Deccan College Post-
graduate And Research Institute, Poona 1956 A.D.
5. Indian Philosophy (Vol. II) : S. Rādhākṛishṇan. Delhi Oxford
Univesity Press.
6. Pañchāstikāyasāra : Āchārya Kundakunda, Bhārtiya Jnānpīth Publi-
cation, 1975 A.D.
—English Commentary & Introduction : Prof. A. Chakravartī Nayanār.
7. Sanskrit–English Dictionary : M. Monier Williams, Motilal Banarsi-
das, Delhi, 1999 A.D.
8. The Hāthīgumphā Inscription of Khāravēla And the Bhabru Edict
of Aśoka : By Shashikant. D.K. Printworld (P) Ltd.,
New Delhi—110015. 1971 A.D.

शोध-पत्रिकाएँ

१. अनेकान्त (मासिक)—सम्पादक: पं० जुगलकिशोर मुख्तार, समन्तभद्राश्रम, करोलबाग,
दिल्ली।

वर्ष	किरण	मास	वीर नि० सं०	वि० सं०	ई० सन्
१	३	माघ	२४५६	१९८६	१९२९
१	४	फाल्गुन	"	"	"
१	५	चैत्र	"	१९८६	१९२९
१	६-७	वैशाख-ज्येष्ठ	"	१९८७	१९३०

प्रयुक्त ग्रन्थों एवं शोधपत्रिकाओं की सूची / ६४३

वर्ष	किरण	मास	वीर नि० सं०	वि० सं०	ई० सन्
१	८-९-१०	आषाढ़-श्रावण-भाद्रपद	"	"	"
१	११-१२	आश्विन-कार्तिक	"	"	"

अनेकान्त (मासिक) के निम्नलिखित अंकों का सम्पादन-स्थान : वीरसेवा मंदिर,
समन्तभद्राश्रम, सरसावा (जिला-सहारनपुर) उ० प्र०।

वर्ष	किरण	मास	वीर नि० सं०	वि० सं०	ई० सन्
२	३	पौष, जनवरी	२४६५	१९९५	१९३८
२	५	फाल्गुन, मार्च	"	"	१९३८
२	६	चैत्र, अप्रैल	"	१९९६	१९३९
२	९	आषाढ़, जुलाई	"	"	१९३९
२	१०	प्रथम श्रावण, अगस्त	"	"	१९३९
४	१	फरवरी	—	१९९८	१९४१
५	१०-११	कार्तिक-मार्गशीर्ष, नवम्बर-दिसम्बर	२४६९	१९९९	१९४२
५	१२	पौष, जनवरी	"	"	१९४३
६	१०-११	मई-जून	"	२००१	१९४४
६	१२	श्रावण शुक्ल, जुलाई	२४७०	२००१	१९४४
७	१-२	भाद्र०-आश्विन, अगस्त-सितम्बर	"	"	१९४४
७	३-४	कार्तिक-मार्गशीर्ष अक्टूबर-नवम्बर	२४७१	२००१	१९४४
७	५-६	पौष-माघ दिसम्बर-जनवरी	"	"	१९४४-४५
७	७-८	फाल्गुन-चैत्र, फर०-मार्च	२००१-२	"	१९४५
८	२	फरवरी	—	—	१९४६
८	३	—	—	—	—
८	४-५	—	—	—	—
८	१०-११	मार्च-अप्रैल	२४७३	२००४	१९४७
८	१२	आश्विन, अक्टूबर	२४७३	"	१९४७

(वर्ष ८ के मास-सम्बन्धी अनियमित उल्लेख के कारण का निर्देश इसी अंक
(अक्टूबर १९४७) के आवरण पृष्ठ २ पर किया गया है।)

६४४ / जैनपरम्परा और यापनीयसंघ / खण्ड १

वर्ष	किरण	मास	वीर नि० सं०	वि० सं०	ई० सन्
९	१	—	—	—	—
१४	६	माघ, जनवरी	२४८३	२०१३	१९५७
२८	१	महावीर निर्वाण विशेषांक	२५०१	२०३२	१९७५
४६	२	अप्रैल-जून	२५१८	२०५०	१९९३

२. **जिनभाषित** (मासिक) मई २००३—सम्पादक : प्रो० रतनचन्द्र जैन, भोपाल, म०प्र०।
प्रकाशक—सर्वोदय जैन विद्यापीठ, १/२०५, प्रोफेसर्स कॉलोनी, आगरा
(उ०प्र०)।

३. **जैन सिद्धान्त भास्कर** (भास्कर) मासिक

भाग	किरण	मास	ई० सन्
९	१	जून	१९४२
१०	२	जुलाई	१९४३
११	१	जून	१९४४
१३	२	—	—
२३	२	—	—

४. **जैनहितैषी** (मासिक)—सम्पादक और प्रकाशक : श्री नाथूराम प्रेमी।

भाग	किरण	मास	ई० सन्
६	७-८	वैशाख-ज्येष्ठ	२४३७
७	९	आषाढ	२४३७
७	१०-११	श्रावण-भाद्र	२४३७
८	२	मार्गशीर्ष	२४३८
११	१०-११	श्रावण-भाद्र	२४४१

५. **धर्ममंगल** (मासिक), १६ मई १९९७ - सम्पादिका : प्रा० सौ० लीलावती जैन।
४/५, भीकमचंद जैननगर, जलगाँव (महाराष्ट्र)।

६. **प्राकृतविद्या**, जनवरी-मार्च १९९६-सम्पादक : डॉ० सुदीप जैन।
(प्राकृत भवन), १८-बी, स्पेशल इन्स्टीट्यूशनल एरिया, नई दिल्ली-
११००६७।

७. **शोध** (साहित्य-संस्कृति-गवेषणा-प्रधान पत्रिका), अंक ५/१९८७-८८ ई०- सम्पादक
: डॉ० बनारसीप्रसाद भोजपुरी एवं डॉ० राजाराम जैन। नागरी प्रचारिणी
सभा आरा (भोजपुर, बिहार)। अंक १२-१३ (संयुक्तांक)/ ई० सन्
१९९९-२०००, २०००-२००१। सम्पादक : प्रो० (डॉ०) राजाराम जैन।

८. शोधादर्श—४८, नवम्बर २००२ ई०—प्रधान सम्पादक : श्री अजितप्रसाद जैन।
सहसम्पादक : श्री रमाकान्त जैन। प्रकाशक : तीर्थकर महावीर स्मृति
केन्द्र समिति, उ० प्र०, पारस सदन, आर्यनगर, लखनऊ २२६ ००४।
९. श्रमण (त्रैमासिक शोध पत्रिका—सम्पादक : प्रो० सागरमल जैन। पार्श्वनाथ विद्यापीठ
वाराणसी)।
- १. अक्टूबर-दिसम्बर १९९७ ई०।
 - २. जुलाई-दिसम्बर २००५ ई०।
 - ३. अप्रैल-जून २००६ ई०।

English Journals

1. Bombay University Journal, May 1933. (Yāpanīya Sangh, A Jaina Sect : Dr. A.N. Upadhye)
 2. The Indian Antiquary : A Journal of Oriental Research in Archaeology, History, Literature, Languages, Philosophy, Religion, Folklore etc.
 - 1. Vol. XIV, January 1885.
 - 2. Vol. XX, October 1891.
 - 3. Vol. XXI, March 1892.
-



प्रो० (डॉ०) रतनचन्द्र जैन

जन्म २ जुलाई १९३५ को, मध्यप्रदेश के लुहारी (सागर) नामक ग्राम में। पिता—स्व० पं० बालचन्द्र जी जैन एवं माता—स्व० श्रीमती अमोलप्रभा जी जैन।

प्रारम्भिक शिक्षा घर पर ही। पश्चात् श्री गणेश दिगम्बर जैन संस्कृत महाविद्यालय, सागर (म० प्र०) में संस्कृत, प्राकृत, हिन्दी, अँगरेजी तथा धर्मग्रन्थों का अध्ययन।

अनन्तर स्वाध्याय के द्वारा मैट्रिक से लेकर एम० ए० (संस्कृत) तक की परीक्षाएँ उत्तीर्ण। प्रावीण्यसूची में बी० ए० में दसवाँ स्थान और एम० ए० में प्रथम। 'जैनदर्शन में निश्चय और व्यवहारनय' विषय पर पी-एच० डी० उपाधि प्राप्त।

शा० टी० आर० एस० स्नातकोत्तर महाविद्यालय, रीवा (म० प्र०), शा० हमीदिया स्नातकोत्तर महाविद्यालय, भोपाल एवं बरकतउल्ला विश्वविद्यालय, भोपाल (म० प्र०) में स्नातकोत्तर कक्षाओं तक संस्कृत विषय का एवं भाषाविज्ञान की एम० फिल० कक्षा में शैलीविज्ञान का अध्यापन तथा पी-एच० डी० उपाधि के लिए शोधार्थियों का मार्गदर्शन।

परमपूज्य आचार्य श्री विद्यासागर जी के आदेश से उनके द्वारा संस्थापित प्रतिभामण्डल की ब्रह्मचारिणी बहनों को दो चातुर्मासों (सन् २००२ एवं २००३) में संस्कृत एवं सर्वार्थसिद्धिटीका का अध्यापन। आचार्यश्री की ही प्रेरणा से 'जैनपरम्परा और यापनीयसंघ' ग्रन्थ का लेखन। उनके ही आशीर्वाद से सन् २००१ से अद्यावधि 'जिनभाषित' मासिक पत्रिका का सम्पादन।

प्रकाशित ग्रन्थ : १. जैनदर्शन में निश्चय और व्यवहार नय : एक अनुशीलन, २. जैनपरम्परा और यापनीयसंघ (तीन खण्डों में)।

सम्प्रति भोपाल (म० प्र०) में निवास करते हुए 'जिनभाषित' के सम्पादन एवं श्री पार्श्वनाथ दि० जैन मन्दिर शाहपुरा, भोपाल में श्रावक-श्राविकाओं को धर्मग्रन्थों के अध्यापन में संलग्न।

